बृहदारण्यक-सम्बन्धभाष्य-वार्तिकम्

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
काशी



श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला – ३२



श्रीमत्सुरेश्वराचार्य-विरचित

बृहदारण्यक-सम्बन्धभाष्य-वार्तिक



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर

१०८ श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज के निर्देश से

व्याख्या सहित अनूदित



श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक
श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी ४६/६, मिश्र पोखरा
वाराणसी-२२१ ०१०

प्रथम संस्करण
भगवत्पादाब्द १२११
विक्रमाब्द २०५६
ईस्वी १६६६

मूल्य : २७०.०० (रुपये दो सौ सत्तर मात्र)

अक्षर संयोजन
जौहरी प्रोसेस प्रेस
जंगमवाड़ी–वाराणसी
मुद्रक
मानस टाइपसैटर
४६४८/१, २१ दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२
फोन : ३२८८६१६

ॐ

भूमिका

मोक्षप्रद तत्त्वज्ञान ऐसा निश्चय है जिसमें सन्देह को स्थान न हो। प्रत्यगात्माके बारे में होने से स्वानुभव ही इसमें सबसे बड़ा प्रतिबन्धक है पर वही सबसे पुष्ट सम्बल भी है : अविवेकदशा का अनुभव ही प्रमुख रुकावट है जो आत्मा को ब्रह्म नहीं समझने देता तथा विवेकपूर्वक स्वयं का अनुभव ही वह सहारा है जो शास्त्रोपदेश को सत्य स्वीकार करवाता है। निःसन्दिग्ध होने की प्रक्रिया के दो चरण हैं– श्रवण और मनन; एक में प्रमाण के संदर्भ में सन्देह हटाये जाते हैं तो दूसरे में प्रमेय के बारे में। श्रवणादि साधना हैं अतः साधककी अपेक्षा से इनमें भेद रहता है; प्रत्येक जिज्ञासु के अपने सन्देह होते हैं जिन्हे वह हटाये तब साधना है। दूसरों के सन्देह व उनके निवारण को समझना अपने संदेह मिटाने में उपयोगी हो सकता है लेकिन यदि वे शंका-समाधान दूसरों के ही बने रहे तो उसे साधना कहना नहीं बनता। आचार्य शंकर की प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने वेदान्तों का ऐसा व्याख्यान किया जिससे प्रायः सभी प्रकार के साधकों के संशय मिटे, वे अखण्ड निश्चय पर पहुँचे।

भाष्यकार को श्रवणक्षेत्र में पूर्वमीमांसा के और मननक्षेत्र में सांख्यवाद के विरोध का सामना करना पड़ा। दोनों ही दर्शनों को उनकी परिधियों में सम्मानित करते हुए भी आचार्य ने न केवल उनकी औपनिषद सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में अनधिकारचेष्टा को शास्त्र व युक्ति से विरुद्ध सिद्ध किया वरन् उनकी अनेक मूलभूत मान्यताओं का भी खोखलापन इतने हृदयग्राही ढंग से व्यक्त किया कि दोनों ही सिद्धान्त वेदान्तशास्त्र के अंग बनकर ही रह गये, स्वतंत्र दर्शनों के रूपमें उनके सम्प्रदाय प्रायः समाप्त हो गये। वेदविचार होने से मीमांसा को उपनिषत्-तात्पर्यनिर्णय में स्थान मिलना अनिवार्य है। साम्प्रदायिक दर्शन होने पर भी अनुयायियों की बौद्धिक कमज़ोरी से पूर्वमीमांसा में कई-एक ऐसी मान्यतायें प्रवेश कर गयीं थी जो शास्त्रविरुद्ध थीं। आचार्यों की अनेक अभिव्यक्तियाँ काव्यमय प्रक्रिया से होती हैं जिन्हें यदि सहृदयता से न समझें तो अनर्थक आग्रहों में फँसकर मूल सिद्धान्त से ही भटक जाते हैं। आचार्य शंकर से कुछ ही पूर्व कुमारिल भट्ट ने मीमांसा पर शोध किया था किंतु क्योंकि तब अधिक आवश्यकता थी कि बौद्धों के प्रति आदर हटकर वेदों पर श्रद्धा हो इसलिये भट्ट का मुख्य कार्यक्रम बौद्धमतों का खण्डन था जिसमें वे पूर्णतः सफल हुए। अतएव वे मीमांसा का यथेष्ट परिष्कार नहीं कर पाये और शांकरभाष्य पर वृत्ति लिखने की उनकी इच्छा (माधवीय शं. दिग्वि. ७.१०३) अधूरी ही रह गयी। भाष्यकार भी मीमांसा की वह एकांगिता दूर करने के लिये अपनी कृति पर उनसे (वहीं ७.६१) वार्तिक रचना कराना चाहते थे और यद्यपि भट्टपाद द्वारा नहीं तथापि उतने ही सुयोग्य उनके सच्छिष्य विश्वरूप – जिनके मंडन और उंवेक भी नाम हैं– द्वारा वह कार्य पूर्ण सन्तोषप्रद ढंग से सम्पन्न हुआ। वार्तिक से वेदान्त की किसी कमी को नहीं वरन् मीमांसा की ही कमी को पूरा करना था और यह बात वार्तिक देखने से स्पष्ट है। विश्वरूप शिष्य अवश्य कुमारिल के थे लेकिन जैसे भट्ट ने शांकर भाष्य का सहसा अनुमोदन किया ऐसे वे कर सकें इतनी तब तक उनमें प्रौढता नहीं थी जिसे समझते हुए भट्ट ने ही कहा (वहीं ७.११५) कि 'विश्वरूप निवृत्तिशास्त्र को आदर नहीं देता है, किसी भी उपाय से उसे वश में करें तभी भाष्यव्याख्यान का मनोरथ सिद्ध होगा।' दिग्विजय में (१३.६१) उल्लेख है कि नैयायिकादि शास्त्रों पर विश्वरूप ने प्रबन्ध रचना की थी। याज्ञवल्क्यस्मृति पर विश्वरूपाचार्यकृत बालक्रीडा नामक टीका अवश्य उपलब्ध है। ब्रह्मसिद्धि उनकी कृति नहीं है; ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र अन्य ही व्यक्ति थे। व्यासाचलकृत शंकरविजय (५.३४), गोविन्दनाथकृत शंकराचार्यचरित (५.२५), राजचूडामणिदीक्षितकृत शंकराभ्युदय (२.४०) आदि के अनुसार विश्वरूप मगध में रहते थे जबकि माधवीय शंकरदिग्विजय (८.१), लक्ष्मणसूरिकृत भगवत्पादाभ्युदय (५.१०५) आदि के अनुसार वे माहिष्मतीनिवासी थे।

भगवान् भाष्यकार ने अपने सब शिष्यों में सुरेश्वर को ही भाष्य पर वार्तिकरचना में समर्थ समझा, और किसी को नहीं, इतना ही नहीं, शारीरक भाष्य पर वार्तिक रचा जाये इस उद्देश्य से उन्होंने विश्वरूप को वेदान्ती बनाने का प्रयास किया था (माधवीय० १३.४०)। स्वयं सुरेश्वर भी शारीरकभाष्य पर वृत्ति लिखने को उत्सुक थे (वहीं १३.१)। किन्तु जब आचार्य ने उन्हें वार्तिक तैयार करने का निर्देश दिया तब कुछ शिष्यों ने शंका खड़ी कर दी : उनका कहना था कि वाद में पराजित होने से शिष्य बनने के कारण उनका हृदयपरिवर्तन हुआ यह निश्चित नहीं जिससे वे भाष्य की कर्मपरक योजना कर दें यह संभावना नकारी नहीं जा सकती। बहुतों का विरोध देखकर आचार्य ने सुरेश्वर को वार्तिकप्रयास से विरत किया और एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखने को कहा जिससे नैष्कर्म्यसिद्धि तैयार हुई जिसे स्वयं भाष्यकार ने 'अद्वैतसिद्धान्तमुकुटमणि' घोषित किया (लक्ष्मणसूरीकृत भग० ८.५५)। उस सद्ग्रन्थ से तो सुरेश्वर की कर्मश्रद्धा बची है

यह शंका मिटनी ही थी, उन्होंने स्वयं यह समझाया भी (माधवीय० १३.६०) कि वाद का प्रयोजन तत्त्वका निर्णय होता है अतः वाद से उन्हें जब निर्णय प्राप्त हुआ तब आत्मतत्त्व जानकर वैराग्यपूर्वकर ही उन्होंने संन्यास ग्रहण किया था, पराजयवश नहीं क्योंकि वाद विजिगीषुकथा होती ही नहीं। एक बार प्रतिबंधक आ चुका था तो आचार्य ने शारीरक भाष्य पर वार्तिक की आशा ही छोड़ दी और सुरेश्वर को **बृहदारण्यकोपनिषत्** एवं **तैत्तिरीयोपनिषत्** के भाष्यों पर वार्तिक रचने का निर्देश दिया यह प्रायः सभी दिग्विजयों में स्पष्ट है। उपनिषद्भाष्य पर सुरेश्वरकृत वार्तिक ही प्राचीनतम व्याख्या है और उसमें भाष्याशय के प्रकटीकरण से ही विद्वानों को भाष्यकी प्रसन्नता से ढकी गम्भीरता का अहसास हुआ।

सुरेश्वराचार्यकृत वार्तिक वेदान्तसाहित्य में– और संभवतः समस्त दर्शन साहित्य में– सबसे विशालकाय सद्ग्रन्थ है। भाष्य में उक्त, निहित एवं कदाचित् उपेक्षित भी वे सभी पहलू इसमें विस्तार से विचारित हैं जिन पर अद्वैतसिद्धान्त का दृष्टिकोण निर्धारित करना अपेक्षित हो सकता है। उपनिषद्विचार होने से ही मीमांसा की प्रधानता स्वाभाविक है और भाष्यकार की अभिलाषा पूरी होना अनिवार्य होने से बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक मीमांसा की निष्पक्ष समीक्षा ही कहा जाये तो अनुचित नहीं। मीमांसाप्रक्रियाओं का प्रभूत प्रयोग करते हुए पूर्वमीमांसा की ओर से वेदान्तसिद्धान्त पर किये आक्षेपों के सारिष्ठ समाधान इस ढंग से दिये गये हैं कि शांकर सम्प्रदाय का सही ज्ञान बिना वार्तिकाध्ययन के संभव नहीं रह गया है। मीमांसा का सहारा लेकर दर्शन रचने वाले समुच्चयवादियों की तो वार्तिक में धज्जियाँ ही नहीं उड़ा दीं वरन् आगे भी समुच्चयवाद का प्रयास हो इसके समस्त रास्ते ही बन्द कर दिये हैं। शारीरकभाष्य में अध्यासग्रन्थ की तरह सम्बन्धग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है जिसकी गम्भीरता व्यक्त करने के लिये वार्तिककार को ११४८ श्लोक आवश्यक पड़े! यद्यपि **सम्बन्धवार्तिक** को बृहदारण्यकभाष्य और वार्तिक की '**भूमिका**' ही कहा जा सकता है तथापि इसमें मीमांसा तथा समुच्चयवाद की शंकाओं का समाधान कर अद्वैत के मूलभूत सिद्धान्तों का ऐसा विस्पष्ट विश्लेषण है कि यह स्वयं एक ग्रन्थ के रूप में अध्ययन के योग्य है।

आचार्य आनन्दगिरि ने बृहदारण्यकवार्तिक पर **शास्त्रप्रकाशिका** नामक अन्वर्थनाम टीका लिखी है जिसका अनुसरण किये बिना वार्तिक समझना असंभव कहा जाये तो गलत नहीं होगा। वार्तिक प्राभाकर सम्प्रदाय की बहुत समीक्षा करता है और उस सम्प्रदायानुसार मीमांसापदार्थ जैसे शास्त्रप्रकाशिका से समझ आते हैं वैसे बृहती से भी नहीं यह विद्वानों का अनुभव है। वार्तिक के पूर्वापर सन्दर्भों के अद्भुत अनुसन्धान से टीकाकार ने इस दुरूह ग्रंथ को सुगम बनाने का सफल प्रयत्न किया है। बृहदारण्यकवार्तिक पर आनन्दपूर्ण मुनीन्द्र की **न्यायकल्पलतिका** भी उत्तम टीका है। ये दो ही मुद्रित व्याख्यान उपलब्ध हैं। सम्बन्धग्रंथ के श्लो० ३७४ तक नृसिंहप्रज्ञपुरीकृत **न्यायतत्त्वविवरण** नामक व्याख्या का अधूरा हस्तलेख भी ग्रंथागारोंमें उपलब्ध है। श्रीविद्यारण्य स्वामी का **वार्तिकसार** वार्तिक– या अद्वैत सिद्धान्त ही– समझने के लिये अनूठा ग्रन्थरत्न है और पण्डित **हरिहर कृपालु** ने उसकी विस्तृत व्याख्या कर हिंदी जानने वालों का महान् उपकार किया है। जापानी विद्वान् **शून हीनो** ने लगभग सारे बृहदारण्यक वार्तिक का व्याख्यान सहित अंग्रेजी अनुवाद उपस्थित कर एक महत्त्वपूर्ण व प्रशंसनीय प्रयास किया है। **वेंकटरमण अय्यर** ने काफी पहले ही सम्बंधवार्तिक का अनुवाद कर दिया था जिसमें व्याख्या न होने पर भी मूल का अर्थ व्यक्त किया है। वार्तिक मीमांसा की मर्यादाओं के अनुसार सुनियोजित प्रक्रिया से विचारों का विकास करता है जिससे इसकी युक्तियाँ और भाषा अत्यधिक शास्त्रीय हैं जो परम्परानुसार अध्ययन के बिना समझ नहीं ही आ सकती फिर भी जो साधक संस्कृत भाषा से कम परिचित होते हुए इस ग्रंथ का गुरुमुखसे अध्ययन करें उनकी सहायता के लिये इसका अनुवाद उपयोगी है। अभी केवल सम्बन्धवार्तिक का अनुवाद हुआ है पर हमें आशा है कि इसी तरह विस्तृत व्याख्या सहित सारे वार्तिक का अनुवाद उपलब्ध हो जायेगा। हिंदी व्याख्या में शास्त्रप्रकाशिका के समस्त विषयों का उल्लेख है तथा अन्य टीकाओं से अपेक्षित सन्दर्भ एकत्र किये गये हैं ताकि वार्तिक समझना संभव हो। वार्तिकाध्ययन अत्यन्त धैर्य का कार्य तो है ही! भगवान् उमारमण – रमारमण से प्रार्थना है कि वार्तिकादि सद्ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए सभी लोग कल्याण के भागी बनें।

भगवत्पादीय
महेशानन्दगिरि

श्रीशंकर मठ
आबू
विजयादशमी संवत् २०५५

सम्बंधवार्तिक विषय-सूची

सम्बन्धग्रन्थ में विचारित
पूर्वमीमांसा-प्रकरण

ॐ

श्रीसुरेश्वराचार्यकृत

श्रीबृहदारण्यकसम्बन्धभाष्यवार्तिक

का

व्याख्या सहित हिन्दी अनुवाद

**स्वाविद्याविभवप्रसूतविपुलद्वैतप्रपञ्चाहितस्पष्टभ्रान्तितिरोहितात्ममतयो यं भागशो मन्वते।
निर्भागं सकलाभिधानमननव्यापारदूरस्थितं वन्दे नन्दितविश्वमव्ययमजं भक्त्या तमेकं विभुम् ॥१॥**

अपनी अविद्यारूप सामर्थ्य से (या-अविद्या की सामर्थ्य से) उत्पन्न विस्तृत द्वैतसंसार के निमित्त से हुई सुदृढ भ्रान्ति से परमात्मा के अस्तित्व के विषय में कुण्ठित बुद्धि वाले जिस निरवयव, सब शब्दों व विचारों के अविषय, संसार को आनन्दित करने वाले, अव्यय, अजन्मा को भोक्ता आदि विभाग में बँटा ही मानते हैं उस एक विभु की मैं भक्ति से वन्दना करता हूँ ॥१॥

भगवान् भाष्यकार ने बृहदारण्यक उपनिषद् की विस्तृत व गम्भीर व्याख्या में समस्त औपनिषद रहस्य प्रकट कर दिये हैं। आचार्य श्री सुरेश्वर उसी भाष्य की समालोचनात्मक टीका लिखने को उद्यत हुए। इससे प्रत्यक्ष लाभ यह हुआ कि शारीरकभाष्य पर लेखनी न उठाने पर भी वेदान्तशास्त्र के सभी पदार्थों का विशद स्पष्टीकरण इस ग्रन्थ में उन्होंने कर दिया। ग्रन्थ रचना निर्विघ्न पूरी हो व ग्रन्थ का प्रचार आदि होता रहे–इसमें रुकावट डालने वाले संकटों की निवृत्ति के लिये मंगलाचरण करना चाहिये ऐसा शिष्ट पुरुषों के आचार से सिद्ध होता है। मंगलाचरण रुकावट हटा सकता है; कार्यसिद्धि तो लेखक की योग्यतादि सामग्री पर निर्भर करती है। शिष्यादि सीखें कि मंगलाचरण करना चाहिये, इसलिये उसे ग्रन्थ में श्लोकादिरूप में लिख दिया जाता है। श्रीसुरेश्वराचार्य ने परमेश्वर को नमस्कार करना रूप मंगल का आचरण कर उसे यहाँ श्लोक में निबद्ध किया है। स्पष्टतः यह ईश्वरनमस्कार ही प्रतीत होता है। पर इसमें समग्र बृहदारण्यकभाष्य का अर्थ संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया है। विस्तार से समझायी जाने वाली बात यदि पहले संक्षेप में बता दी जाये तो समझाना व समझना दोनों आसान हो जाते हैं।

'उस विभु की मैं भक्ति से वन्दना करता हूँ' यह मुख्य वाक्य है। 'उस' शब्द से सूचित किया कि परमात्मा सामान्य लोगों में व विचारकों में प्रसिद्ध है। सभी परमात्मा के विषय में कुछ जानते हैं। जो अन्य उपाय से जाना न जा सके उसे बताना शास्त्र का काम है। यदि परमात्मा को सभी जानते हैं तो शास्त्र उसे क्यों बतायेगा? इस प्रश्न का उत्तर है कि यद्यपि 'अत्यधिक ऐश्वर्य वाला परमात्मा है' यों सामान्यतः उसके बारे में लोगों को व विचारकों को पता है तथापि शास्त्र के उपदेश के विना यह किसी को पता नहीं चलता कि वही एकमात्र सद्रूप ज्ञानरूप व आनन्दरूप है। जगत् की उत्पत्ति और व्यवस्था देखकर ही लोग व विचारक ईश्वर को समझते हैं। लोग इतना ही समझ पाते हैं कि कोई है जो दुनिया बनाता व इसे चलाता है। विचारक कुछ तर्कों का प्रयोग कर उसके बारे में कुछेक और बातें समझ लेते हैं। पर क्योंकि लौकिक वस्तुओं की तरह वह प्रत्यक्ष नहीं इसलिये उसका सही स्वरूप न लोग और न अपनी बुद्धि से ही सोचने वाले विचारकों की समझ में आ पाता है। जो जिस प्रमाण का विषय है उसका सही ज्ञान उसी प्रमाण से संभव है। ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं यह तो सर्वानुभवसिद्ध है। जिसका कभी अनुमानातिरिक्त ज्ञान न हो उसके विषय में अनुमान की गति होती नहीं क्योंकि अनुमान को ज़रूरत पड़ती है अनुमेय व तत्सम्बद्ध किसी वस्तु के सम्बद्ध ज्ञान की और वह ज्ञान होना अनुमानभिन्न प्रमाण से ही चाहिये अन्यथा अनुमानपरम्परादि मानने से अनवस्थादि आपत्ति होगी। एवं च केवल अनुमान से ईश्वर सिद्ध नहीं होता, संभावित भले ही हो। इससे नित्यानुमेय व मानान्तरागम्य सभी पदार्थों का प्रत्याख्यान समझ लेना

चाहिये। उपमान की प्रवृत्ति भी मानान्तर के अनन्तर ही संभव है और अनुपलब्धि तो भाववस्तुविषयक होती नहीं। यदि ईश्वर अभावरूप मानें तो किसका और कौनसा अभाव है यह बताया जा नहीं सकता जिससे वह पक्ष ग़लत है। और उसे अलीक कहना बनता नहीं, कारण कि अलीक होता ही अप्रामाणिक है। वह वृत्तिमात्र का ही विषय नहीं–'अलीकं न वृत्तेर्विषयः' (ल.चं.पृ. २००)– तो प्रमाणवृत्ति का विषय क्योंकर होगा! अतः ईश्वर अलीक है– यह वचन प्रामाणिक नहीं हो सकता। इस तरह अन्य प्रमाणों का विषय वह नहीं, केवल शास्त्र का विषय है। शास्त्र ही उसका सही ज्ञान करा सकता है। जिस प्रकार क्या करना धर्म है व क्या करना पाप है इसे सही सही शास्त्र ही बता सकता है क्योंकि धर्माधर्म प्रमाणान्तर के विषय नहीं उसी प्रकार परमात्मा का सही प्रतिपादन शास्त्र ही कर सकता है। यद्यपि अध्यात्मशास्त्र में शब्द से अन्य प्रमाणों की गति भी कही गयी है 'न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायां किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासम्भवमिह प्रमाणम्' (ब्र.सू.भा. १.१.२) तथापि वह शब्दानुकूल प्रमाण की ही गति कही है 'तदर्थग्रहणदार्ढ्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवद् न निवार्यते' (वहीं)। यदि अनधिगतांश पर आग्रह हो तब तो परमात्मविषयक अनुमानादि को प्रमाण न भी कहें तो आपत्ति नहीं पर अबाध्य ज्ञानजनक को प्रमाण कहना भी सुसंगत होने से उनकी प्रामाणिकता इष्ट ही है। एवं च सामान्य विचार से सम्भावित तथा लोक–प्रसिद्ध होने पर भी परमात्मा शास्त्रगम्य है इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं। वही आराधनीयों में सर्वश्रेष्ठ है और उसी की यहाँ वन्दना की गयी है। भक्ति–श्रद्धायुक्त हो किया अभिवादन अभीष्ट फल दे पाता है अन्यथा नहीं, यह 'भक्ति से' कहकर सूचित किया।

कुछ विचारक अनुभूयमान भोक्ता–भोग्यवर्ग से अतिरिक्त इनके व्यवस्थापक प्रेरयिता को नहीं स्वीकारते अतः उस प्रेरयिता परमेश्वर को शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय नहीं मानते। किन्तु यह उनकी भूल है यह बताने के लिये 'अपनी अविद्या' इत्यादि वाक्यखण्ड आया है। आत्मसम्बद्ध होने से अविद्या अपनी है। वैसे 'स्व' शब्द यथासम्भव प्रत्यगात्मा का ही बोध कराता है। आत्मा से अविद्या का आविद्य आश्रयत्व व विषयत्व सम्बन्ध है। अतः अपने विषय में व स्वयं अपने में रहने वाली अविद्या ही स्वाविद्या है। क्योंकि हमें नहीं पता है इसलिये वह अविद्या हम में है और क्योंकि अपने ही बारे में नहीं पता है इसलिये वह हमारे विषय में ही है। वह अविद्या ही विभव अर्थात् सामर्थ्य है। अविद्या से अतिरिक्त कोई सामर्थ्य, शक्ति, आत्मा की नहीं है। आत्मविषयक भ्रान्ति–ग़लत ज्ञान–उस अविद्यारूप सामर्थ्य से ही होती है। भोक्ता व भोग्य इन दो हिस्सों में बँटा जो विस्तृत संसार उसके निमित्त से वह सुदृढ भ्रान्ति प्रतिष्ठित रहती है। इस भ्रान्ति का ही स्वरूप कुछ लोगों में है कि ईश्वर–प्रेरयिता–है ही नहीं। इस से उनकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है अतः परमात्मा के अस्तित्व के विषय में वे सही ज्ञान नहीं कर पाते। इसीलिये वे मानते हैं कि भोक्ता और भोग्य दो ही वर्ग हैं इनका प्रेरयिता कोई नहीं है। यह उनका भ्रममात्र है, प्रामाणिक निश्चय नहीं। वस्तुतः सभी जीव आत्मा को भिन्न समझने से भ्रान्त हैं। वे जडवर्ग से ही नहीं चेतन परमेश्वर और चेतन ही जीवों से स्वयं आत्मा को भिन्न मानते हैं, यही उनकी अविद्याजन्य द्वैतसंसारनिमित्तक स्पष्ट भ्रान्ति है जिससे प्रत्यगात्मा के विषयमें उनकी बुद्धि कुण्ठित रहती है और वे सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ आदि रूप में बँटे परमात्मा का ही चिन्तन कर पाते हैं।

'अपनी अविद्या की सामर्थ्य से' यह अर्थ समझें तो सामर्थ्य से उसकी विक्षेपशक्ति जाननी चाहिये। कार्य से ही शक्ति का अनुमान होता है। अविद्या के दो कार्य अनुभव में आते हैं–आवरण और विक्षेप। आवरण अर्थात् अधिष्ठान को ढाँक देना और विक्षेप अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है उसे वैसा प्रतीत करा देना। संक्षेपशारीरक में (१.२०) ये दोनों कृत्य कहे हैं 'आच्छाद्य विक्षिपति ··· अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगात्'। अतः आत्मा की शक्तिरूप अविद्या की ये दो शक्तियाँ माननी पड़ेंगी। यह नहीं कहना चाहिये कि यदि शक्ति की शक्ति मानने लगे तो द्वितीय शक्ति की पुनः तृतीय शक्ति उसकी चतुर्थ शक्ति इत्यादि रीति से अनवस्था होगी; क्योंकि शक्ति कार्यगम्य होने से विना कार्य के उसे माना नहीं जा सकता और आवरणादि कार्य की तरह आवरणशक्ति का कोई कार्यान्तर या विक्षेपशक्ति का कोई कार्यान्तर उपलब्ध है नहीं जो उन शक्तियों की पुनः किसी शक्ति का बोध कराये। इस विक्षेपशक्ति से स्थूल व सूक्ष्म व्यष्टि व समष्टि प्रपंच उद्भूत है। स्थूल व्यष्टि प्रपंच अर्थात् स्थूल शरीर से तादात्म्य कर स्वयं को क्रियावान् मानना और सूक्ष्म व्यष्टि प्रपंच अर्थात् सूक्ष्म

शरीर से तादात्म्य कर स्वयं को भोगादिमान् मानना जीवों के लिये स्वाभाविक है। इन भ्रान्तियों वाले जीव ही भ्रान्ति के कारणरूप अज्ञान से आवृत परमात्मा को जीव, जगत्, परमेश्वर-यों बँटा हुआ समझते हैं। यद्यपि ये ईश्वर को स्वीकारते हैं तथापि उसका वास्तविक स्वरूप पहचानते नहीं। सर्वज्ञात्ममुनि ने भी कहा है कि अपने अज्ञान से कल्पित जगत्, परमेश्वरत्व और जीवत्व से ब्रह्मभाव मानो कलुषित है 'स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा' (१.२ सं. शा.)। इस व्याख्या में अविद्यासे मूलाविद्यारूप अध्यास और विभव से उसकी दोनों शक्तियाँ दिखा दी हैं। 'उत्पन्न ··· भ्रान्ति से' यह वाक्यखण्ड विक्षेपशक्ति के कार्य का प्रदर्शक है। 'कुण्ठित बुद्धि वाले' कहकर आवरणशक्ति का कार्य बता दिया गया है।

श्रीमान् आनन्दपूर्णमुनीन्द्र का कहना है कि भ्रान्ति से बुद्धि का कुण्ठित होना मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है क्योंकि अधिष्ठान के विषय में बुद्धि कुण्ठित होने पर ही तो भ्रान्ति होती है। अत: वे ऐसी व्याख्या करते हैं-अपनी अविद्या की शक्ति से उत्पन्न विस्तृत द्वैतसंसार-विषयक प्रचुर व्यवहार के लिये आपादित स्पष्ट भ्रान्ति वाले वे ही हैं जो अज्ञान से आवृत हैं तथा वे ही परमात्मा को विभागों में बँटा मानते हैं। यह व्याख्या उचित ही है किन्तु भ्रान्ति से कुण्ठित मानने में दोष भी है नहीं। भ्रान्ति को निमित्त कहा है। प्रयोजन भी निमित्त होता ही है। 'फलमपीह हेतु:' ऐसा भट्टोजी ने 'हेतौ' (२.३.२३) सूत्र की व्याख्या में कहा है।

परमात्मा निरवयव है। 'निष्कलम्' (श्वे. ६.१९), 'अस्थूलम्' (बृ.३.८.८), 'अमूर्त:' (मुं.२.१.२), 'सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' (मुं. १.१.६), 'महान्तं विभुम्' (कठ.१.२.२१), 'अकायम्' (ई. ८) आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। सावयव वस्तुमात्र विनाशी होती है यह लोकसिद्ध नियम होने से परमेश्वर को सावयव मानने पर विनाशी भी मानना पड़ेगा जो कथमपि युक्त नहीं। इसीलिये वह परिणामी नहीं, बदलने वाला नहीं। सावयव दूध आदि वस्तु ही बदलती देखी गयी है निरवयव आकाशादि नहीं। देश काल और वस्तु कृत विभाग अर्थात् सीमा या परिच्छेद भी परमात्मा का नहीं। विभु अर्थात् व्यापक होने से देशकृत सीमा असंभव है। नित्य होने से कालकृत सीमा असंभव है और अद्वितीय होने से अर्थात् उससे भिन्न कुछ न होने से वस्तुकृत परिच्छेद भी असंभव है। अत: आत्मा को सभेद मानना अविद्या ही है। जीव और ब्रह्म को अनुमान से भी विभिन्न सिद्ध नहीं कर सकते। उनका परस्पर जो भेद अनुमेय होगा वह क्या वास्तविक है या प्रातिभासिक है? यदि वास्तविक कहो तो दोष यह है कि वास्तविक भेद ही पहले सिद्ध नहीं तो जीव-ब्रह्म के भेद को वास्तविक कैसे कहा जायेगा। और यदि प्रातिभासिक कहो तो कोई हानि नहीं। वास्तविक-अवास्तविक से अतिरिक्त भेदमात्र कहीं मिलता नहीं जो अनुमेय हो सके। यदि पहले वास्तविक भेद ही सिद्ध करने का प्रयास करें तो तर्क उसे सफल नहीं होने देता। अद्वैतरत्नरक्षणम् में आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने संश्लिष्ट विस्तृत विचार इस विषय में किया है। 'यह घट है' आदि सविकल्प ज्ञान भेद में प्रमाण नहीं हो सकता। इसमें घट-घटत्व का वैशिष्ट्य भासता है। भेद न घट है, न घटत्व और न वैशिष्ट्य। अत: वह बुद्धि भेद में क्यों प्रमाण होगी ? पुनश्च भिन्न वस्तुओं का ही परस्पर भेद संभव होने से व भिन्नत्व भेदरूप होने से भेदबुद्धि आत्माश्रयादि दोषों से ग्रस्त ही रहती है यह प्रसिद्ध ही है। किंच तादात्म्याभाव को भेद कहा जाता है। घट-पट का भेद मानने के लिये उनके तादात्म्य का भान अवश्य मानना होगा, तभी तादात्म्याभाव का अनुभव हो सकेगा। प्रतियोगिज्ञान अभावज्ञान का उपजीव्य होने से प्रबल होकर भेदबुद्धि का बाधक हो बैठेगा और भेद असिद्ध ही रहेगा। यदि घटतादात्म्य घट में ज्ञात कर उसका अभाव पट में जाना जाये तो प्रतीति-विरोध है क्योंकि भेद घट का दीखता है न कि उसके तादात्म्य का। भेदज्ञान की अभेदपराधीनता श्रीहर्ष ने भी बतायी है-

'अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखने क्षमा। तथा चाद्ये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसात्'॥

और वस्तुमात्रविषयक निर्विकल्पक ज्ञान भी भेदग्राहक नहीं। घट व घटत्व का विशकलित भान निर्विकल्पक ज्ञान है, उसमें भेदभान तो होता नहीं। भेदप्रतीति तो अनिर्वचनीयतया सिद्ध हो सकने से अनुभव की अन्यथाऽनुपपत्ति भी भेद को सिद्ध करने में अक्षम है। अभेदवादी लोकसिद्ध अर्थात् अनिर्वाच्य भेद की ही वास्तविकता का निषेध करता है। जीव-ब्रह्म के भेद का अनुमान करने के लिये हेतु यही दिया जा सकता है कि वे परस्पर विरुद्ध धर्मों वाले हैं। किन्तु यह हेतु

अप्रामाणिक है कारण कि श्रुति आत्मा को निर्धर्मक बताती है और सभी धर्म उपाधिसम्बद्ध ही मिलते हैं। यदि विरुद्ध धर्मों वाले प्रतीत होते हैं इतने से ही उनका वास्तविक भेद साधना चाहें तो बिम्ब-प्रतिबिम्बस्थल आड़े आयेगा क्योंकि वहाँ विरुद्ध धर्मों की प्रतीति तो है पर वास्तविक भेद है नहीं। अतः अनुमान से जीवेश्वरविभाग वस्तुतः सिद्ध हो नहीं सकता।

प्रपञ्चकल्पना का अधिष्ठानीभूत परमात्मा शब्दों व विचारों का विषय नहीं। यद्यपि औपनिषद है तथापि आत्मा को शब्द साक्षात् नहीं विषय करता, अनात्मा का ही निरास करता है; चक्षुरादि वृत्तियों की घटादिविषयक अज्ञाननिवर्तकता घटादिविषयकता प्रसिद्ध होने से उपनिषत् क्योंकि आत्मविषयक अज्ञान को निवृत्त करती हैं इसलिये आत्मविषयक कही जाती है और आत्मा औपनिषद कहा जाता है। क्योंकि वह शब्द व विचारों की पहुँच से परे है इसीलिये उसका यथार्थ बोध दुःसाध्य है। सभी प्रमाणों का अविषय रहते हुए स्वयम्प्रकाशमान वह तत्त्व अद्वितीय है क्योंकि जो खुद अप्रमेय है उसका भेद कैसे प्रमेय होगा? अप्रामाणिक भेद तो वास्तविक होता नहीं। वाणी व मन से अतीत होने के कारण ही ब्रह्म व प्रत्यगात्मा का अत्यन्त अभेद है: यह अतीतता परमात्मा का स्वरूप बतायी गयी है और यही अतीतता प्रत्यगात्मा में उपलब्ध है, अतः दोनों अभिन्न सिद्ध होते हैं। यदि प्रत्यगात्मा में उक्त अतीतता न हो तो घटादि की तरह वह आत्मा ही न हो सकेगा। अतः अतीतता स्वीकार्य है। शब्दों की अविषयता की तरह ही विचारों की अविषयता भी है। जो उस परमात्मतत्त्व को विचार की पकड़ में बाँधना चाहते हैं वह उसका कुछ न कुछ ग़लत रूप ही ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ कुछ चिंतक ईश्वर को अनुमानसिद्ध मानते हैं और अत एव जगत्कर्तारूप से अनुमित ईश्वर को वे जगद्रूप में उपस्थित अर्थात् जगत् का उपादान नहीं समझ पाते। इस मत के पोषण के लिये 'वह दस अंगुल ऊँचा रहा' (श्वे. ३.१४) आदि वचन भी वे समझ बैठते हैं। किन्तु होता यह इसीलिये है कि वे उस अगम्य को विचारगम्य बनाना चाहते हैं। उस परतत्त्व के विषय में अनुमान संभावना भले ही उपस्थापित करे, निश्चित प्रमा का उत्पादक नहीं। कल्पतरु में (पृ. ८८) बताया है कि कार्य से इतना पता चलता है कि उसका कुछ कारण है। किन्तु वह कारण एक ही है या उस कार्य के अनेक कारण हैं यह पता नहीं चल पाता। यदि एक ही कारण हो तभी वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हो सकता है। यह जो संशय है कि क्या ऐसा एक कारण संसार का है? वही जब लाघवनामक तर्क से सहायता पा जाता है तो संभावना कह दिया जाता है। किन्तु विचित्र रचनायें, जैसे किले महलादि, अनेक असर्वज्ञ कर्ताओं द्वारा रची देखी जाने से जगद्रचना करने वाला एक ही है यह निर्णय अनुमान से हो नहीं सकता। परिमलकार (पृ. ९२) तो कहते हैं कि कार्यलिंगक अनुमान सामान्यतः यह निर्धारण भी नहीं कर सकता कि जगत् का कोई कर्ता है! दान-क्रिया को सम्प्रदान की अपेक्षा है इतने मात्र से सभी क्रियाओं को तो सम्प्रदान अपेक्षित नहीं हो जाता। ऐसे ही घटादि को कर्ता की ज़रूरत होने पर भी अंकुर आदि को भी ज़रूरत हो यह नियम कैसे किया जा सकता है? और अंकुर को कोई कर्ता पैदा करता है ऐसा लोक में न दृष्ट है न प्रसिद्ध। अतः अप्रयोजकता की शंका दृढ है। हाँ, कार्यत्वरूप लिंग यह संभावना अवश्य उपस्थित कर सकता है कि कर्ता हो सकता है। किन्तु आगे वह एक है या अनेक इत्यादि विषय पर तो युक्ति संभावना भी नहीं बता सकती। अतः परमात्मतत्त्व विचार की पहुँच में बँधता नहीं। वेदान्तशास्त्र इसीलिये शास्त्रानुसारी उपपत्तियों का ही प्रयोग करता है, शुष्क तर्क का नहीं। वह तो न्यायशास्त्र का क्षेत्र है और उसका मुमुक्षु के लिये कुछ भी महत्त्व नहीं, बल्कि वह प्रतिबंधक ही है। मधुसूदनस्वामी ने सावधान किया है 'न्यायशास्त्रे तु विरोध्यर्थोपस्थापकत्वाद् मुमुक्षूणामनादेयमेव।... ये तु न्यायशास्त्र एवं युक्तिं संभावयन्ति ते शास्त्रान्तरवार्ताऽनभिज्ञाः कूपमण्डूकवदुपेक्षणीयाः' (अद्वैतरत्न-पृ. ९)। परमात्मविषयक अज्ञान मिटाने के लिये उपनिषद् ही पर्याप्त है। उपनिषद् में कही बात समझने के उद्देश्य से युक्ति का प्रयोग भी अपेक्षित है। पर ये दोनों वस्तुतः परमात्मा को विषय करें यह शक्य नहीं।

एक परमशिव ही सारे संसार को आनन्दित करता है। और इसीलिये वही प्राप्तव्य है, फलरूप है; उसी की प्राप्ति कराने में शास्त्र की सार्थकता है। यद्यपि कुछ वादी ईश्वर को आनन्दरूप नहीं मानते, आनन्द वाला भी नहीं मानते, तथापि उपनिषत् स्पष्ट ही उसे आनन्द कहती है (बृ. ३.९.२८) और वही सबको आनन्दित करने वाला है यह कहती है (तै. २.७)। इसीलिये अव्यवहार्य होते हुए भी परमात्मा पुरुषार्थरूप हैं। लोक में हमें जो सुख मिलता है वह पुरुषार्थ माना

ही जाता है और वह उस परमात्मसुख का लवलेशमात्र है, तो स्वयं उस सुख की पुरुषार्थता का क्या कहना! यद्यपि आत्मा दुःखी प्रतीत होता है क्योंकि अनुभव है 'मैं दुःखी', तथापि वह दुःख मनरूप उपाधि में ही है आत्मा में नहीं, वह तो उसका साक्षी है। ऐसे ही सुख का भी वह साक्षी ही हो सुखरूप न हो?–यह शंका उठ सकती है। परन्तु सर्वशेषी रूप से अत्यन्त प्रिय होने से आत्मा को सुखरूप तो मानना ही पड़ता है। और प्रत्यगात्मा की आनन्दरूपता उसे परमात्मा से अभिन्न सिद्ध कर देती है। शास्त्र परमेश्वर को आनन्द कहता है व परप्रेमास्पद होने से प्रत्यगात्मा आनन्द प्रमित होता है, यह दोनों का अभेद होने से ही संभव है। आनन्द महेश्वर का स्वरूप है, गुणादि नहीं, यह स्पष्ट करने के लिये मूल में 'एक' शब्द आया है। धनी दूसरों को धन देता है पर स्वयं धनरूप तो नहीं है; ऐसे ही दूसरों को सुख देने वाला स्वयं सुखरूप हो यह ज़रूरी नहीं–इत्यादि शंका उठ सकती थी जिसके समाधान के लिये 'एक' पद का प्रयोग है। परमेश्वर एक है, उसमें कोई भी भेद नहीं है; अतः उसमें गुणगुणिता संभव नहीं अर्थात् गुण से वह भिन्न बना रहे यह संभव नहीं। इसमें श्रुति ही प्रमाण है। उदाहरण की गवेषणा करें तो खाँड अथवा नमक अच्छा दृष्टान्त है। खाँड दूसरों को मिठास देती है पर स्वयं मिठासरूप है, मिठास वाली नहीं। नमक दूसरों को लुनाई देता है पर स्वयं तद्रूप है, लुनाई वाला नहीं। ऐसे ही परमेश्वर को समझना चाहिये। सभी भेदों से रहित परमात्मा की जो यहाँ वन्दना की गयी है वह भेद की कल्पना करके की गयी है यह ध्यान रखना चाहिये। 'एक' शब्द यह भी सूचित कर देता है कि प्रत्यगात्मा से परमात्मा भिन्न नहीं है। भेदविषयक सभी प्रमाणाभासों का मुखापिधान इस 'एक' पद से आचार्य ने कर दिया है। प्रत्यगात्मा की स्वतंत्र-परमात्मरूपता है इस तथ्य का दृढीकरण इस प्रयोग से होता है। ईश्वर स्वतंत्र है ही, तभी ईश्वर है। जीव आत्मा होने से स्वतंत्र मानना होगा, अन्यथा अनात्मा हो जायेगा। और स्वतंत्रता हेतु जीव व ईश्वर को अभिन्न सिद्ध कर देगा!

आत्मा अव्यय और अज है। स्वतः तो परमात्मा की उत्पत्ति व विनाश हो नहीं सकते क्योंकि यदि वे स्वतः हो जाते हों तो कहीं भी उत्पत्ति और विनाश करने वाले कारणों की अपेक्षा के बिना वस्तुएँ उत्पन्न व नष्ट होती रहें। पर ऐसा होता नहीं। चीज़ उत्पत्ति व विनाश के लिये कारण की ज़रूरत रखती है। किं च, यदि खुद से खुद की उत्पत्ति या नाश मानें तो असंभव दोष भी है। जो है वही उत्पन्न कर सकता है यह एक नियम है। जो जब है वह तभी पैदा नहीं होता, उससे पूर्व ही पैदा होता है– यह भी एक नियम है। खुद जब हो तभी वह पैदा कर सकेगा और तभी खुद की पैदाइश हो नहीं सकती! यों विरोध स्पष्ट है। ऐसे ही नाशमें समझना चाहिये। और किसी अन्य से परमात्मा का जन्म व नाश हो यह इसलिये संभव नहीं कि वह अकेला है, अन्य कोई है नहीं। जन्म व विनाश के निषेध से अन्य चारों विकारों का निषेध अर्थसिद्ध है। अतः नित्यकूटस्थ ही स्वतःसिद्ध है। लोक में 'सुख पैदा हुआ', 'सुख समाप्त हो गया' आदि अनुभवों से सुख जन्म-विनाशशील प्रतीत होता है। इससे सुखरूप परमात्मा भी जन्मादि वाला होगा–यह शंका संभव है। किन्तु वास्तविकता यह है कि सुख की उत्पत्ति आदि का अनुभव भी भ्रम ही है। वस्तुतः सुख उत्पन्न नहीं होता, उसका अनावरण उत्पन्न होता व नष्ट होता है जिससे सुख की उत्पत्ति आदि प्रतीत हो जाती है। अतः परमेश्वर के जन्मादि का प्रसंग नहीं। प्रत्यगात्मा भी आत्मा, सुखस्वरूप होने से जन्मादिहीन अतः परमात्मरूप है यह समझ लेना चाहिये।

परमात्मा को सीमित परिमाण वाला न समझ लिया जाये इसलिये उसे विभु अर्थात् व्यापक कहा। प्रत्यगात्मा भी व्यापक ही स्वीकार्य है। अणु हो तो सारे देह में व्याप्त न रह सकेगा और मध्यमपरिमाणी हो तो अनित्य होगा। फलतः उसे विभु ही होना पड़ेगा। शास्त्र तो उसे व्यापक कहता ही है। एवं च प्रत्यगात्मा-परमात्मा का अभेद अर्थसिद्ध है।

इस प्रकार प्रत्येक पद अत्यन्त सारभूत अर्थों का द्योतन करता है व सारी उपनिषत् का प्रतिपाद्य विषय अत्यंत संक्षेप में उपस्थापित कर देता है। वह अद्वितीय परमात्मा है तो ऐसा पर अज्ञानवश समझते हम उसे भोक्तादि रूप में विभक्त हैं, यही दुर्भाग्य है। जैसे एक ही पत्थर, मूर्त्ति में चरण व मस्तक रूप में बँटा समझा जाता है या एक ही रस्सी, साँप का फण व साँप की पूँछ रूप में बँटी समझी जाती है ऐसे एक ही महादेव जड व चेतन जगद् रूप में विभक्त समझा जा रहा है। और चमत्कार यह है कि समझने वाला वह खुद ही है! जब तक ग़लत समझ है तभी तक भेदभ्रम है, साध्यसाधकभाव है। वस्तुतः यह है नहीं। इसके रहते इसे हटाने के लिये शास्त्रोक्त प्रयास किये जाते हैं। अतः श्रद्धा-भक्ति युक्त अभिवन्दन

यां काण्वोपनिषच्छलेन सकलाम्नायार्थसंशोधिनीं सञ्चक्रुर्गुरवोऽनुवृत्तगुरवो वृत्तिं सतां शान्तये।
अर्थाविष्करणं कुतार्किककृताशङ्कासमुच्छित्तये तस्या न्यायसमाश्रितेन वचसा प्रक्रम्यते लेशतः ॥२॥

सुसंगत हो जाता है। यद्यपि कृतकृत्य आचार्य में भेदभ्रम न होने से वन्दनादि अपेक्षित नहीं तथापि शिष्यशिक्षार्थ अपेक्षित है ही। जीवन्मुक्त की अन्य चेष्टाओं की तरह इसे भी समझना चाहिये। एकजीववाद में वन्दनादि को गुरु के तुल्य योगक्षेम वाला जानना चाहिये।

प्रकृत श्लोक में 'एक विभु' कह कर बतायी जीव-ईश्वर की अभिन्नता ग्रंथ का विषय सूचित है। विषय का प्रतिपादक ग्रंथ होता ही है अतः संबंध सुबोध्य है। परमात्मा की आनन्दरूपता बताकर फल बोधित है तथा सकारण स्पष्ट-भ्रान्ति की निवृत्तिपूर्वक उस आनन्द का अभिलाषी अधिकारी अर्थसिद्ध है। इस प्रकार विषयादियुक्त होने से ग्रंथ आरंभ के योग्य सिद्ध कर दिया गया है ॥१॥

अपने गुरुओं की सेवा किये हुए हमारे गुरु जी ने काण्वशाखीय बृहदारण्यक उपनिषत् की व्याख्या के बहाने समस्त वेद के अर्थ का प्रतिपादन करने वाला जो भाष्य इसलिये लिखा कि सत्पुरुषों को शान्ति प्राप्त हो, युक्तियुक्त वचन द्वारा उसके अर्थ का थोड़ा प्रकाशन प्रारंभ किया जाता है ताकि कुतार्किकों की शङ्काओं का भली भाँति समाधान हो जाये ॥२॥

पूर्वश्लोक में बताया कि अपनी अविद्या से प्रत्यगात्मा में अनात्मसंसार कल्पित है। भेद वास्तविक नहीं है। आत्मा नित्य शुद्ध ज्ञान व मोक्षरूप है। इस श्लोक में यह बताते हैं कि वे क्या करने जा रहे हैं।

होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा के विशेष उपयोग में आने वाले श्रौतस्थल पृथक्-पृथक् एकत्र कर ऋग्, यजु, साम और अथर्व वेदों के नाम से प्रसिद्ध हैं। कर्मकाल में साक्षात् प्रयोग में आने वाले वचन मुख्यतः जिस भाग में होते हैं उसे उस वेद का मंत्रभाग व मन्त्रसम्बद्ध तथा अन्य जानकारी देने वाले वचन मुख्यतः जिस भाग में होते हैं उसे उस वेद का ब्राह्मणभाग कहा जाता है। परम्पराभेद से सभी वेदों की विभिन्न शाखायें होती हैं। शुक्लयजुर्वेद की काण्वशाखा प्रसिद्ध है। उसके ब्राह्मण भाग में-शतपथ ब्राह्मण में-'बृहदारण्यक' नामक उपनिषद् मिलती है। इस पर आचार्य श्रीशंकर ने विस्तृत भाष्य लिखा है। उस भाष्य की एक विशिष्ट व्याख्या आचार्य श्री सुरेश्वर प्रारंभ कर रहे हैं। व्याख्या की उचितता व्याख्येय की श्रेष्ठता पर निर्भर करती है अतः जिसकी व्याख्या करने जा रहे हैं उस भाष्य की दोषरहितता बताना संगत है।

स्वयं भगवान् भाष्यकार ने गीताभाष्य में (१३.२) कहा है कि संप्रदायसिद्ध अर्थ न जानने वाला व्यक्ति विद्वान् भी हो तो वैसे ही उपेक्षा के योग्य है जैसे कोई मूर्ख। अतः भाष्यकार की साम्प्रदायिकता बताने के लिये कहा कि उन्होंने अपने गुरुओं की सेवा कर संप्रदायसिद्ध विद्या प्राप्त की थी। स्वयं वे आप्ततम महापुरुष थे जिससे उनका वचन परम प्रमाण है यह सूचित करने के लिये आचार्य श्रीशंकर को 'गुरु' शब्द से कहा। क्योंकि आचार्य ने स्वयं कहा है कि 'यह वृत्ति आरंभ की जा रही है' इसलिये वार्तिककार ने श्लोक में वृत्तिशब्द का प्रयोग किया है जिसका अभिप्राय भाष्य से ही है। वह भाष्य निःशंक किन्तु अति गम्भीर है यह समझाने के लिये कहा कि यद्यपि लगता है वह केवल काण्वोपनिषद्-बृहदारण्यकोपनिषत्-की व्याख्या है तथापि आचार्य ने उस भाष्य में सारे ही वेद का रहस्य प्रकट कर दिया है। समग्र वेद का तात्पर्य जीव-ईश्वर की एकता में है। कर्मकाण्ड चित्तशुद्धि द्वारा उस एकता के संपादन का उपाय बताता है व ज्ञानकाण्ड स्पष्ट ही उसका प्रकाशन करता है। खुद वेद कहता है कि परमात्मा सब वेदों द्वारा प्रतिपाद्य है (कठ. १.२.१५)। भगवान् ने भी घोषित किया है कि सारे वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ (गी. १५.१५)। अतः भाष्यकार ने उचित ही किया है कि परमात्मोपदेशक बृहदारण्यक की व्याख्या करते हुए सारे ही वेद का विशुद्ध अर्थ सूत्रित कर दिया है। किन्तु इससे भाष्य में गंभीरता अधिक हो गयी है चाहे आपाततः वह सुबोध्य लगे। उस गांभीर्य को प्रकट करने वाला होने से सुरेश्वरव्याख्यान उपयुक्त है यह ध्वनित होता हैं। भाष्यकार की प्रवृत्ति करुणावश थी क्योंकि ब्रह्मविद्वरिष्ठ होने

से भूतों पर दया रूप दैवी संपत् उनमें मूर्तिमती थी। किन्तु जिसमें जिस वस्तु को पाने-सँभालने की योग्यता न हो उसे वह देना दयालु के लिये भी उचित नहीं होता। भाष्यकार ने इसलिये भाष्य उन अधिकारियों के लिये ही लिखा जो उसे सही तरह समझ सकते हैं इस अभिप्राय से 'सत्पुरुष' शब्द का निवेश है। विवेक, वैराग्य, शमादि और मुमुक्षा वाला होना ही सत्पुरुष होना है। इससे वार्तिक के अधिकारी को भी इंगित कर दिया। शांकरभाष्य का सम्यग्बोध होने पर सत्पुरुषों को शान्ति निश्चित मिलती है क्योंकि इसी उद्देश्य से सर्वज्ञ सर्वशक्ति आचार्य ने उसे रचा है। शान्ति का तात्पर्य है सकारण संसार का बाध और उससे अर्थसिद्ध परमानन्द का आविष्कार। यही मोक्ष है।

ऐसे भाष्य की व्याख्या आरंभ की जा रही है। व्याख्या को 'युक्तियुक्त वचन' कहा है। प्रथमतः तो भाष्य ही युक्तियों से भरा पड़ा है उन्हीं का विशदीकरण इस व्याख्या में होने से यह युक्तियुक्त है ही। कम समझदार अध्येता भाष्य का ग़लत अर्थ न समझ लें इसके लिये उन ग़लत अर्थों का निराकरण भी युक्तिपूर्वक इस में कर दिया है जिससे इसकी युक्तियुक्तता और भी बढ़ गयी है। निराकरण युक्तिपूर्वक इसलिये किया है कि यदि अन्यत्र भी कोई ग़लत अर्थ उपस्थित हो जाये तो इन्ही युक्तियों से उसका भी निराकरण कर लिया जाये। किंच वार्तिककार ने न्याय या युक्ति के भरोसे यहाँ कुछ नहीं कहा है, न्याय या युक्ति का सम्यग् आश्रय लिया है अर्थात् परंपरा व प्रमाण से अवगत तत्त्व के अनुकूल आवश्यक न्याय का ही प्रयोग किया है, तर्क का स्वच्छन्द ताण्डव नहीं होने दिया है। भाष्य की इस व्याख्या में वार्तिक के लक्षण उपलब्ध होते हैं। वार्तिक एक विशेष तरह की व्याख्या का नाम है। उसमें मूल में कही बात तो बतायी ही जाती है साथ ही मूल में न कही किन्तु उस संदर्भ में ज्ञातव्य अन्य बातें भी बतायी जाती हैं; मूल में जो विषय एक से अधिक बार आ गया हो उसका भी निर्देश इस व्याख्या में करना आवश्यक होता है। इतना ही नहीं, जो बात मूलकार ने इस प्रकार कही हो कि उसे समझना कठिन हो, उसे सरल ढंग से भी कह देना वार्तिककार का कर्तव्य है। आनन्दपूर्णमुनि मानते हैं, और यह प्रसिद्ध भी है, कि मूल में जो ग़लत बात हो उसका निर्देश कर सही तथ्य प्रकाशित करना वार्तिक का काम है। यद्यपि भाष्य में ग़लत तो कुछ है नहीं जिसका सुरेश्वराचार्य शोधन करें तथापि किसी दृष्टि से ग़लत लगने वाली बातों का उन्होंने यथास्थान निर्देश कर उस दृष्टि से जो सही व्याख्यान है उसे वहाँ बताकर यह लक्षण भी अपने ग्रंथ में सुरक्षित कर लिया है। ऐसे विशिष्ट व्याख्यान द्वारा भाष्य का अर्थ, उसका गांभीर्य प्रकट किया गया है। यद्यपि भाष्य की तरह वार्तिक का भी परम फल तो सत्पुरुषों को शान्तिप्राप्ति है तथापि गौण फल यह भी है कि इस में कुतार्किकों की शंकाओं का विस्तार से समाधान हो गया है। भाष्य में ही पर्याप्त शंका-समाधान है पर अन्य उपोद्बलक युक्तियाँ वार्तिक में दिखायी गयी हैं। किं च, केवल सत्पुरुषों की शान्ति के लिये प्रवृत्त भाष्यकार ने सत्तार्किकों की शंकाओं को ही महत्त्व दिया था किन्तु कुतार्किकों ने क्योंकि भाष्य पर धूलिप्रक्षेप का प्रयास किया व मन्दबुद्धि वाले अधिकारी उससे सशंक हो उठे इसलिये दयार्द्रचेता आचार्य को कुतार्किकों का मुख भी बंद करना आवश्यक हो गया। प्रमाण पर अनुग्रह करने के लिये प्रवृत्त छलादि दोष से रहित सत्तर्क होता है व इससे विलक्षण कुतर्क होता है। जो वादी श्रुति व उसके अनुग्राहक तर्क को छोड़कर अपनी बुद्धि से चाहे जैसे तर्क का सहारा लेकर वास्तविकता का निर्धारण करना चाहते हैं अतएव भेद को सत्य मान बैठते हैं वे ही कुतार्किक हैं। उनकी शंकाओं का यहाँ वार्तिक में समाधान तथा उनके मतों का तिलशः खण्डन उपलब्ध कराया जायेगा, यह भाव है।

गुरुकृति के संमुख निजकृति का महत्त्व काफी कम है क्योंकि उसकी गंभीरता का, प्रतिपाद्य अर्थों का, थोड़ा ही प्रकाशन संभव हो पाया है कारण की उसके समस्त अर्थों का प्रकाशन संभव ही नहीं-यह कहकर अपना विनय सूचित कर दिया है। साथ ही उपदेश दिया है कि हर छात्र को भाष्य के अन्यान्य गंभीर तात्पर्यों का अन्वेषण करना चाहिये।

कल्याण का उपाय बताने वाला एकमात्र परम प्रामाणिक ग्रंथ होने से उपनिषत् विचारणीय है इसमें किसी को संदेह नहीं। उसका अर्थद्योतन करने वाला भाष्य भी वैसा ही होने से विचारयोग्य है ही तथा उस भाष्य का रहस्योद्घाटक होने से वार्तिक अध्येतव्य है यह यहाँ दिखा दिया गया है। ॥२॥

ग्रन्थ का आरंभ करते समय अधिकारी आदि का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये, तभी अध्येता की ग्रंथ में प्रवृत्ति होती है। अधिकारी आदि वर्णित न हो तो विचारशील पाठक की ग्रंथाध्ययन में प्रवृत्ति नहीं होती। कुमारिल भट्ट ने भी श्लोकवार्तिक में (१.१७) कहा है कि उसी शास्त्र का श्रवण करने में श्रोता की प्रवृत्ति होती है जिसका प्रयोजन और सम्बन्ध ज्ञात हो, अतः शास्त्र के प्रारंभ में प्रयोजन और संबंध बता देना चाहिये। यद्यपि भाष्यकार ने भाष्यारंभ में अधिकारी कहा है कि 'यह ग्रंथ उनके लिये लिखा जा रहा है जो संसार से व्यावृत्ति अर्थात् छूटना चाहते हैं', और ग्रंथ का विषय भी प्रकट किया है 'कर्तृतादि अनर्थात्मक संसार के कारणभूत अज्ञान की निवृत्ति का साधन जो जीव-ईश्वर की एकता का ज्ञान उसकी प्राप्ति के लिये यह ग्रंथ रचा जा रहा है', तथापि फल न कहा होने से यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि अध्येता की प्रवृत्ति हो ही जायेगी। श्लोकवार्तिक में (१.१२) ही यह भी कहा है कि शास्त्र या कर्म का जब तक प्रयोजन अर्थात् फल न बताया जाये तब तक उसे कोई ग्रहण करता नहीं। अधिकार और विषय बताने वाले भाष्यखण्डों से ही फल भी समझना संगत नहीं क्योंकि यथासंभव वाक्य का एक ही अभिप्राय स्वीकार्य होता है। यह भी नहीं माना जा सकता कि अधिकारप्रदर्शन से अर्थात् फल का ज्ञान हो जाता है कि संसारव्यावृत्ति फल है; कारण कि जो बात जिस शब्द से अर्थात् निकलती है उसमें वह शब्द प्रमाण नहीं होता ऐसी मर्यादा है और बिना प्रमाण के आस्था होना संभव नहीं। ग्रंथ के नाम का विवरण करता हुआ जो भाष्यांश है वह तो नामनिर्वचन में ही गतार्थ होने से फलबोधक नहीं है। विषय को ही फल नहीं मान सकते क्योंकि उक्त ज्ञान स्वयं में किसी को अभिलषित होता नहीं। अतः फलकथन न होने से भाष्य व्याख्या के योग्य नहीं-यह शंका उपस्थित होती है। इसका समाधान है कि 'उपनिषत्' इस नाम की व्याख्या करने वाला भाष्यखंड फल का भी द्योतक होने से भाष्य में उक्त न्यूनता नहीं है। क्योंकि फलबोधन आवश्यक है इसलिये नाम का निर्वचन करने मात्र से वह भाष्य गतार्थ नहीं है, फल का ज्ञान कराता है। क्योंकि फल बताना प्रधान है इसलिये वार्तिककार पहले नामभाष्य का ही व्याख्यान इस प्रकार करते हैं कि फल का ज्ञान हो जाये। यद्यपि व्याख्येय ग्रंथ के क्रम से ही व्याख्या की जाती है तथापि पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम प्रबल माना गया होने से (पू.मी. ५.१.२) नामभाष्य का पहले व्याख्यान उचित है। किंच अधिकारी व विषय बताने वाले भाष्यखण्डों की विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है जब कि नामभाष्य का संक्षिप्त ही व्याख्यान पर्याप्त है अतः सूचीकटाहन्याय से भी इसका पूर्व वर्णन संगत है।

भाष्यकार का वाक्य है 'वह यह ब्रह्मविद्या उपनिषत् शब्द से कही जाती है क्योंकि जो लोग इसमें निष्ठा पा जाते हैं उनके संसरण को कारण सहित यह विद्या नष्ट कर देती है।'

इसका वर्णन वार्तिककार प्रथम श्लोक से करते हैं –

यहाँ एवं अन्यत्र, उपनिषत्-शब्दका अर्थ केवल ब्रह्मविद्या है क्योंकि इसमें आये शब्दों का अर्थ उसी में संगत होता है और इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग भी मिलता है।

'यहाँ' अर्थात् उक्त भाष्य में व 'अन्यत्र' अर्थात् अध्यात्म-विषयक अन्य ग्रंथों में। उपनिषत्-शब्द में 'उप' और 'नि' ये दो उपसर्ग हैं तथा क्विप्-प्रत्ययान्त सद्-धातु है। इन अवयवों का आगे जिस प्रकार अर्थ बताया जायेगा उससे स्पष्ट हो जायेगा कि ब्रह्मविद्या अर्थ मानने पर ही इनका प्रयोग संगत है। उपनिषत् शब्द का प्रयोग ब्रह्मविद्या के लिये कई जगह मिलता है, जैसे केनोपनिषत् में 'हे आचार्य! उपनिषत् सुनाइये।' (४.७)।

प्रश्न उठता है कि उपनिषत् शब्द तो वेद के कुछ हिस्सों का वाचक है, उस अर्थ को छोड़कर अपने अवयवों के अर्थ के अनुरोध से वह ब्रह्मविद्यारूप अर्थान्तर का वाचक कैसे हो जायेगा? वेद में मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषत् चार हिस्से प्रसिद्ध हैं अतः उपनिषत् केवल वेद के एक हिस्से का नाम होना चाहिये। उपनिषत् शब्द के उप-नि आदि अवयवों के आधार पर वह उस हिस्से को न कह कर ब्रह्मविद्या का ही वाचक है यह कैसे माना जा सकता है? अवयवार्थ से रूढार्थ प्रबल होता है यह सिद्धांत है। अतएव मीमांसा में माना गया है कि श्येनादि शब्द अपने रूढ अर्थ

अत्र चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः। तत्रैव चास्य सद्भावादभिधार्थस्य तत्कुतः ॥३॥

को छोड़े बिना ही अन्य अर्थ बता देते हैं। इसलिये उपनिषत् शब्द ब्रह्मविद्या का ही द्योतक कैसे? यह प्रश्न वार्तिककार उठाते हैं –

यह क्यों ? ॥३॥

अर्थात् उपनिषत् शब्द का उक्त अर्थ किस प्रकार है? ॥३॥

मीमांसा में श्येनादिशब्द पर जहाँ विचार किया है (१.४.५) वहाँ यह स्थापित हुआ है कि रूढार्थ ग्रहण करने की अपेक्षा तात्पर्यार्थ ग्रहण करना आवश्यक है। श्रुति में (षड्विंश. ४.२.१.२) विधान किया है कि शत्रुमारण के लिये श्येन यज्ञ किया जाये। श्येन का रूढ अर्थ बाजपक्षी है, 'शशादनः पत्री श्येनः' ऐसा अमरकोश में कहा है। अतः शंका होती है कि क्या यहाँ याग के लिये श्येनरूप गुण का विधान है अर्थात् क्या इस याग में श्येन की आहुति देना बताया जा रहा है? इसके समाधान के लिये उसी प्रसंग में आये अर्थवाद का विचार करना आवश्यक है। अर्थवाद में कहा है कि जैसे श्येन झपट्टा मार कर ग्रहण कर लेता है वैसे जिसे मारने के लिये श्येन याग किया जाता है उस द्वेषी दुष्मन पर झपट कर यह याग उसका ग्रहण कर लेता है। यहाँ श्येन को उपमान बना कर याग को उपमेय बनाया है। एक ही वस्तु उपमान-उपमेय दोनों हो यह संगत नहीं। अतः उपमानभूत पक्षी का गुण उपमेयभूत याग में बताया जा रहा है यही मानना उचित है। अतः अर्थवाद में 'यमभिचरति श्येनेन' कह कर श्येनपद यागार्थक है पक्ष्यर्थक नहीं। एवं च 'श्येनेन यजेत' इस विधि में भी वह कर्म का नाम ही है, गुणसमर्पक नहीं यह सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रसंग के तात्पर्य को प्रधानता देकर ही शब्द का अर्थ निर्णीत किया गया है। हाँ, रूढि का संपूर्ण त्याग भी इसलिये नहीं कि सादृश्य की उपस्थिति के लिये उसका उपयोग है। डित्थादि की तरह यह संकेतमात्र नहीं, किसी विशिष्ट अर्थ का ख्यापन करने वाला नाम है। इसी प्रकार उपनिषत् शब्द को भी चाहिये कि अपना रूढ अर्थ न छोड़े।

इस प्रश्न का उत्तर है कि उपनिषत्-शब्द की रूढि किसी पदार्थविशेष में है नहीं अतः यह श्येनादि शब्दों से विलक्षण है। अतः श्येनादि में जो न्याय लगता है वह यहाँ नहीं लगेगा। जो तो यह प्रसिद्धि है कि वेदभागविशेष उपनिषत् है वह उपचार के आधार पर है यह आगे (श्लो. ८) बताया जायेगा। अतः अवयवार्थ का ही प्रतिपादन संगत है।

यदि 'भवेदुपनिषद् धर्मे वेदान्ते विजने स्त्रियाम्' आदि मेदिनी व अन्य कोषों से उपनिषत्पद की समुदायशक्ति माननी आवश्यक हो तो भी यहाँ ब्रह्मविद्यार्थकता मानना न्यायसंगत कैसे है यह न्यायकल्पलतिका में आनन्दपूर्ण महाराज ने बताया है। छान्दोग्य में (१.९.१) आकाश को इस लोक की गति कहा है। इस वाक्य पर संदेह ब्रह्मसूत्र में (१.१.२२) उठा है कि यहाँ आकाश का क्या मतलब-क्या भूताकाश ही गति कहा जा रहा है या परमेश्वर के लिये आकाशशब्द का प्रयोग कर दिया है। निर्णय दिया है कि वाक्यशेष में कहा है कि सभी भूत आकाश से ही समुत्पन्न होते हैं, आकाश में लीन होते हैं। सभी भूतों की उत्पत्ति करना व स्वयं में उन्हे विलीन करना परमेश्वर का ही असाधारण कृत्य है। एवं च इस लिंग से निश्चित होता है कि यहाँ आकाशपद परमेश्वरपरक है, भूताकाशपरक नहीं, चाहे भूताकाश उसका रूढ अर्थ हो। एवं च लिंग के आधार पर आकाशपद रूढार्थ छोड़कर ब्रह्मबोधक माना गया है। इसी प्रकार शास्त्र के प्रारंभ में प्रयोजन बताना अत्यावश्यक होने से तथा उपनिषत् शब्द का ब्रह्मविद्या अर्थ लेने से प्रयोजनलाभ संभव होने से उसका रूढार्थ न ग्रहण कर अवयवार्थ ग्रहण करना न्यायसंगत है।

आचार्य श्रीशंकर ने नामभाष्य में कहा है 'क्योंकि 'उप' व 'नि' पूर्वक 'सद्' धातु का वह अर्थ होने के कारण'- अर्थात् उपनिषत् शब्द का अर्थ है सकारण संसरण निवृत्त करने वाली ब्रह्मविद्या, अतः उपनिषत् अपने में निष्ठा वालों का संसरण समूल नष्ट कर देती है।

इसी भाष्यवाक्य का चार श्लोकों द्वारा वार्तिककार व्याख्यान करते हैं –

उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचि समाप्यते। त्रिविधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम् ॥४॥
उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः। निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद्भवेत् ॥५॥
निहत्यानर्थमूलं स्वाविद्यां प्रत्यक्तया परम्। गमयत्यस्तसम्भेदमतो वोपनिषद्भवेत् ॥६॥

उप-उपसर्ग समीपता अर्थ में प्रसिद्ध है। समीपता प्रत्यगात्मा में समाप्त होती है। नि-शब्द भी सद्-धातु के तीनों प्रकार के अर्थों का विशेषण है ॥४॥

'उपसर्पति' आदि प्रयोगों में उप-उपसर्ग समीपतार्थक प्रसिद्ध है। समीपता अव्यवहितता को कहते हैं; दूरी न होने का ही नाम सामीप्य है। अतः समीपता की चरम सीमा स्वयं आत्मा है क्योंकि वही ऐसा है जिससे हमारी कुछ भी दूरी नहीं है। श्रुति ने भी कहा है 'आत्मा अन्तर वाला नहीं है, बाह्य नहीं है' (बृ. ४.५.१३)। अतः वही सबसे समीप है। इसलिये सभी व्यवधानों से रहित, किसी भी अंतराल व आवरण से रहित चैतन्य ही 'उप' इस उपसर्ग का लक्ष्यार्थ है।

'नि' शब्द का अर्थ है निश्चय। भाष्यटीका में आनन्दगिरि महाराज ने कहा है 'निशब्दश्च निश्चयार्थः'।

सद् अर्थात् 'षद्लृ' धातु के तीन अर्थ हैं-विशरण, गति व अवसादन। विशरण का अर्थ है शिथिलीकरण। गति प्राप्ति व ज्ञान दोनों को कहते हैं। अवसादन का अर्थ है नाश। षद्लृ धातु से क्विप् प्रत्यय कर्ता अर्थ में लगता है, धातु से पूर्व उपसर्ग हो (पा. ३.२.६१), चाहे न हो। अतः क्विबन्त सद् का अर्थ हुआ विशरण आदि करने वाला ॥४॥

उपनिषत् शब्द के अवयवों का उक्त अर्थ होने पर भी उपनिषत् शब्द ब्रह्मविद्यार्थक कैसे है यह स्पष्ट करने के लिये अगले तीन वार्तिक हैं। इस शब्द में दोनों उपसर्ग विशेषण तथा क्विबन्त धातु विशेष्य है। ये तीनों मिलकर विद्यारूप अर्थ ही प्रकट करते हैं।

हटा दिया है द्वैत जिस से ऐसे इस प्रत्यगात्मा को ब्रह्मरूप समझाकर क्योंकि यह अविद्या और उससे उत्पन्न प्रपंच को शिथिल कर देती है इसलिये उपनिषत् है ॥५॥

प्रत्यगात्मा हमें निकटतमरूपसे भास रहा है अतः उसके लिये 'इस' विशेषण दिया। अविवेकदशा में हम प्रत्यगात्मा को बहुतेरी अनात्म-वस्तुओं से एकमेक हुआ ही जानते हैं। विवेक द्वारा उन सब से पृथक् कर इसका शुद्ध रूप पहले जानना आवश्यक है तभी इसकी ब्रह्मरूपता समझ आ सकती है। उधर ब्रह्म भी हमें अभी सप्रपंच लगता है। उसके विषय में भी शास्त्रानुसारी विचार कर यह जान लेना अनिवार्य है कि वह निष्प्रपंच है। इस प्रकार त्वम्पदार्थ जीव और तत्पदार्थ ईश्वर के शुद्ध स्वरूप के अभेद का निश्चय यहाँ विवक्षित है। ब्रह्मविद्या यही कराती है और इससे वह संसार व उसके कारणरूप अज्ञान को ढीला कर देती है अर्थात् पूर्व में जैसे वे कष्टप्रद बनते थे अब उन्हे उस तरह कष्टप्रद नहीं बनने देती। बाधित अविद्या और संसार कष्ट देने में सक्षम नहीं रह जाते।

यहाँ 'हटा' से 'ब्रह्म' तक का वाक्यखण्ड उप-उपसर्ग का अर्थविस्तार है। 'समझा कर' यह नि-शब्द का अर्थ है और 'शिथिल कर देती है' यह धात्वर्थ है। यों अवयवार्थ विद्या में संगत है।

आनन्दपूर्ण मुनि ने श्लोक के अन्वय के विषय में यह प्रकाश डाला है कि यहाँ जीव को ब्रह्म से तथा ब्रह्म को जीव से अभिन्न कहा गया है। 'तत् त्वमेव त्वमेव तद्' आदि कैवल्य (१.१६) इस व्याख्या का बीज है। मुनिजी का वचन है 'इमं---ब्रह्म---उपनीय---ब्रह्म च इमम् ---उपनीय' ॥५॥

धातु के गति-अर्थ के आधार पर कहते हैं -

या वह इसलिये उपनिषद् है क्योंकि वह अनर्थ की मूलभूत आत्माऽविद्या को नष्ट कर निर्भेद परमात्मा को प्रत्यग्-रूप से प्राप्त कराती है ॥६॥

'या' से विकल्प नहीं समुच्चय ही विवक्षित है। यहाँ बताये तीनों अर्थ सुसंगत हैं, किसी को छोड़ना इष्ट नहीं। प्रमातृतादि अर्थात् कर्तृत्वभोकृत्वविषयक अहंकार ही अनर्थ है। इस अनर्थरूप अहंकार का मूल है अविद्या। उसके कारण

प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः। यतोऽवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषन्मता ॥७॥
यथोक्तविद्याबोधित्वाद् ग्रन्थोऽपि तदभेदतः। भवेदुपनिषन्नामा लाङ्गलं जीवनं यथा ॥८॥

ही यह निश्चय होता है कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ'। ब्रह्मविद्या उस अविद्या को नष्ट कर देती है। अविद्या नष्ट होने पर परमात्मा, जो वस्तुतः किसी भी भेद से असम्बद्ध है, प्रत्यग्रूप से अर्थात् साक्षाद् अपरोक्ष रूप से भासने लगता है, यही उसकी प्राप्ति है। निर्भेद परमात्मा ही प्रत्यक्तया प्राप्त हो सकता है, सभेद परमात्मा अर्थात् ईश्वर तो उपाधिविशेष से सम्बद्ध होने से जीव को प्रत्यक्तया नहीं प्राप्त हो सकता।

अविद्या का नाश निश्चयात्मक ही संभव है क्योंकि बाध ही यहाँ नाश है। अतः 'निर्भेद ⋯ प्रत्यग्रूप से' यह 'उप' का, 'अनर्थ ⋯ नष्ट कर' यह 'नि' का और 'प्राप्त कराती है' यह धातु का अर्थ है यह समझ लेना चाहिये ॥६॥

धातु के अवसादन अर्थ के आधार पर व्युत्पत्ति बताते हैं –

क्योंकि विद्या प्रवृत्ति के सभी हेतुओं का उनके मूल के निरास द्वारा नाश करती है इसलिये वह उपनिषद् मानी जाती है ॥७॥

शुभ अशुभ व मिश्रित प्रवृत्तियों के हेतु हैं राग, द्वेष आदि और उनका मूल तो अज्ञान ही है। विद्या अज्ञान का निरास करती है अतः वे रागादि नष्ट हों यह अर्थसिद्ध है। कारण नष्ट किये बिना जो कार्य का नाश होता है उससे यह निश्चित नहीं होता कि कार्य पुनः कभी नहीं होगा, किन्तु कारणनाश से जब कार्यनाश होता है तब उसका फिर कभी न होना सुनिश्चित हो जाता है। विद्या रागादि का ऐसा ही विनाश कर देती है। अज्ञान का निरास होने पर केवल प्रत्यगात्मा रह जाता है। यह द्योतित करने के लिये कि अविद्यानिवृत्ति के बाद आत्मातिरिक्त कुछ नहीं रहता, कहा जाता है कि अविद्यानिवृत्ति आत्मरूप है या कि प्रत्यङ्मात्ररूप से अज्ञान का निरास होता है। निवृत्ति अभावात्मक होने से तद्विलक्षण आत्मा या प्रत्यङ्मात्ररूप क्योंकर होगी? किन्तु वहाँ आत्मातिरिक्त अभाव भी नहीं है इस अत्यन्त अद्वैत को बताने के लिये वैसा कथन होता है।

इस व्याख्या में 'उप' का अर्थ बताया नहीं गया है किन्तु अर्थात् समझ लेना चाहिये। प्रत्यगात्मरूप अधिष्ठान का ज्ञान ही अज्ञान का बाधक होता है। 'मूल का निरास' 'नि' शब्द का अर्थ है क्योंकि वह पूर्वोक्त रीति से निश्चयरूप है। अथवा आनन्दगिरि स्वामी ने 'प्रत्यङ्मात्रया निरासद्वारा' यह व्याख्या कर 'उप' व 'नि' दोनों के अर्थ दिखा दिये हैं। क्योंकि अविद्या प्रयङ्मात्ररूप है अतएव निरस्त है जैसे रज्जुमात्ररूप सर्प निरस्त होता है। 'नाश करती है' यह धात्वर्थ तो स्पष्ट ही है।

तीन श्लोकों द्वारा उपनिषत् शब्द का सम्यग् व्याख्यान कर दिया गया है। कठभाष्य आदि में तथा उपदेशसहस्री (पद्य १.२६) आदि प्रकरणों में स्वयं आचार्यचरण ने इस विषय को व्यक्त किया है ॥७॥

प्रश्न होता है कि यदि उपनिषत् का अर्थ विद्या ही है तो ग्रंथ को क्यों उपनिषत् कहते हैं? लोक में ग्रंथ के लिये इस शब्द का प्रयोग होता ही है, जैसे कहते हैं 'हम उपनिषत् पढ़ रहे हैं'। इस के उत्तर में भाष्यकारने कहा है 'विद्या का उत्पादक होने से ग्रंथ भी उपनिषत् कहा जाता है।' इसी उत्तर को व्यक्त करते हैं –

यथोक्त विद्याका बोधक होने से ग्रंथ भी विद्या से अभिन्न माना जाकर उपनिषद् नाम वाला हो जाता है जैसे हल को जीवन कह दिया जाता है ॥८॥

अज्ञान का विशरण, परमात्मा की प्राप्ति और रागादि का विनाश करना विद्या का यथोक्त स्वरूप है। विद्या की उत्पत्ति ग्रंथ से अर्थात् शब्दराशि से होती है क्योंकि प्रमाणभूत शब्द के श्रवण से ही प्रमा उत्पन्न होती है। आचार्य ने बृहद्भाष्यमें (३.९.२६) कहा ही है 'उपनिषत्सु एव विज्ञेयो नान्यप्रमाणगम्यः'। कार्य व कारण में अभेद का उपचार–अर्थात् भेद जानते हुए भी एक शब्द का अन्यत्र प्रयोग–किया जाता है इसमें दृष्टान्त हल का है। खेतीहर का जीवन हल के सहारे ही चलता

अरण्याध्ययनाच्चैतदारण्यकमितीर्यते। बृहत्त्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम् ॥९॥
इत्यादिनामव्युत्पत्तिच्छद्मना प्रकृतोचितम्। सर्वोपनिषदामाह मुक्तिमात्रं प्रयोजनम् ॥१०॥

है अतः वह कह दिया करता है 'हल ही मेरा जीवन है'। जैसे यहाँ जीवनशब्द का अर्थ तो हल नहीं है पर जीवनोपयोगी होने से उसे जीवन कह दिया है वैसे उपनिषत् का अर्थ ग्रंथ न होने पर भी उपनिषत्के लिये अनिवार्य उपयोगिता वाला होने से ग्रन्थ उपनिषत् कह दिया जाता है। इस प्रकार व्याख्या करने पर उपनिषत् शब्द के विद्या और ग्रंथ रूप दो मुख्य अर्थ नहीं मानने पड़ते। यह सामान्यतः माना जाता है कि एक शब्द का एक ही अर्थ हो। ऐसा होने पर ही शब्द सुनकर तुरंत सही अर्थ की उपस्थिति होकर शाब्दबोध संभव होता है। यद्यपि बहुधा शब्दों के नानार्थ मानने ही पड़ते हैं तथापि यथासंभव उससे बचा जाता है। इसीलिये प्रकृत में उपनिषत् का एक ही अर्थ माना है ॥८॥

शंका होती है कि यदि ग्रंथ विद्या का जनक है तो उसका अध्ययन करने वाली सभी को ब्रह्मज्ञान हो क्यों नहीं जाता? इसका समाधान है कि जिन्होंने यथाविधि ग्रंथाक्षरों का अरण्य में ग्रहण किया है वे जब तत्पर होकर ग्रंथका श्रवणादि करते हैं तभी विद्या उत्पन्न होती है। जिन्होंने अक्षरग्रहण ठीक से नहीं किया या श्रवणादि में तत्पर नहीं हुए उन्हे ग्रंथ पढ़ने मात्र से ज्ञान नहीं होता। इस तथ्य की सूचना भाष्यकार ने इस वाक्य से दी है 'वह यह छह अध्यायों वाली ग्रंथरूप उपनिषद् अरण्य में पढ़ी-पढ़ायी जाने वाली होने से आरण्यक है।' जहाँ प्राकृत लोगों की भीड़-भाड़ न हो वह स्थान अरण्य कहा जाता है। प्रकृत ग्रंथ केवल उपनिषत् या केवल आरण्यकोपनिषत् नहीं कहा जाता, बृहदारण्यकोपनिषत् कहा जाता है। यह क्यों? इस पर भाष्य में कहा है 'परिमाण में बड़ा होने से यह ग्रंथ बृहदारण्यक है।' अन्य उपनिषद्ग्रंथों से इसमें अक्षराधिक्य तो है ही, साध्य-साधन का सर्वांगीण उपदेश होने से भी इसका बड़प्पन स्पष्ट है। यही विषय वार्तिक स्पष्ट करता है –

और क्योंकि अरण्य में इसका अध्ययन होता है इसलिये इसे–ग्रंथ को–'आरण्यक' ऐसा कहते हैं। ग्रंथ अर्थात् शब्दविस्तार में और अर्थ की दृष्टि से बड़ा होने के कारण यह बृहदारण्यक स्वीकारा गया है ॥९॥

'और' शब्द यह इंगित करने के लिये है कि सफल होने के लिये इतना ही ज़रूरी नहीं कि इसका अरण्य में अध्ययन हो बल्कि अध्ययनकाल में वेदव्रतादि नियमों का पालन किया जाये यह भी ज़रूरी है। ये नियम मनु आदि ने विस्तार से बताये हैं। ग्रंथ का शाब्दिक बड़प्पन तो स्पष्ट ही है। सबसे बड़ा जो ब्रह्म वही इसका अर्थ होने से आर्थिक बड़प्पन में भी कोई शंका नहीं की जा सकती। ज्ञान के उपायभूत अंतरंग व बहिरंग बहुतेरे साधन भी इसमें बताये होने से इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। ऐसे ग्रंथ का सही-सही ग्रहण व ब्रह्मनिष्ठ गुरु की संनिधि में श्रवणादि अशुद्ध मानस वाले को होना संभव नहीं अतः शुद्ध बुद्धि न होने से प्रायः अध्येताओं को ज्ञान नहीं होता, निर्मलान्तः वालों को तो हो ही जाता है यह अभिप्राय है ॥९॥

इस प्रकार आरंभ में ग्रन्थ के नाम की व्युत्पत्ति के बहाने भगवान् भाष्यकार ने प्रकृत शास्त्र के प्रारंभ के लिये उपयोगी प्रयोजन को व्यक्त कर दिया है। केवल इसी नहीं, सभी उपनिषदों का वही प्रयोजन है। और वह है– केवल मुक्ति ॥१०॥

शास्त्र का अध्ययन आरंभ तभी किया जाता है जब उसका प्रयोजन मालूम हो अतः उसे बताना उपयोगी है। वही भाष्यकार ने बताया है किन्तु नाम की व्युत्पत्ति द्वारा; सीधे ही नहीं कह दिया है कि अमुक प्रयोजन है। क्योंकि वे सकलाम्नायार्थसंशोधनी वृत्ति लिख रहे हैं इसलिये इस ढंग से प्रयोजन सूचित किया है कि समस्त वेदान्तों का प्रयोजन स्पष्ट हो जाये। इसलिये यह प्रक्रिया अपनायी। किंच समाख्या प्रमाण से यह भी दिखा दिया कि यह वेदभाग कर्मसम्बद्ध न होकर स्वतंत्र ही पुरुषार्थसाधक है। विद्या के सद्भावमात्र से सप्रयोजनता की सिद्धि होने से क्रिया की मोक्ष के प्रति साक्षात् कारणता की संभावना भी मिटा दी है तथा प्रत्यगात्मज्ञान को ही मोक्षफलक बताकर शास्त्रान्तरों का अनुपयोग घोषित कर दिया है। अतः भाष्यकार का प्रयास अत्यंत सारगर्भित है यह सुरेश्वराचार्य ने स्पष्ट किया ॥१०॥

मिथोविरोधसिद्ध्यर्थं कर्मज्ञानाधिकारिणोः। संसारव्याविवृत्सुभ्य इत्युक्तिं भाष्यकृज्जगौ ॥११॥

आचार्य श्रीशंकर ने ग्रंथ के नाम का निर्वचन कर फल बताया है तो यह अर्थसिद्ध है कि उस फल का अभिलाषी ही अधिकारी होगा तथापि उन्होंने 'जो संसार से व्यावृत्ति अर्थात् छूटना चाहते हैं' कहकर अधिकारी की सूचना दी है। इसमें भी एक विशेष अभिप्राय है यह वार्तिककार दिखाते है –

कर्माधिकारी व ज्ञानाधिकारी के आपसी भेद को सिद्ध करने के लिये भाष्यकार ने यह कहा है 'जो संसार से व्यावृत्ति अर्थात् छूटना चाहते हैं' ॥११॥

कर्म में वह अधिकारी है जो स्वर्गादि फलों की कामना वाला है व संसार के चक्र में रहना चाहता है। इस प्रकार के व्यक्ति के लिये भाष्यटीकामें स्वामी आनन्द गिरि ने कहा है कि वह नर होता हुआ भी वस्तुतः पशु ही है क्योंकि यथाकाम प्रवृत्ति पशु की तरह ही उसमें है। उनका वाक्य है 'कर्मकाण्डे हि स्वर्गादिकामः संसारपरवशो नरपशुरधिकारी।' इससे विपरीत है ज्ञानाधिकारी क्योंकि वह संसार चक्र में रहना नहीं चाहता, इसमें उपलभ्य किसी फल की उसे कामना नहीं। यदि कोई कामना है भी तो विवेक पूर्वक वह उसे समाप्त करने की कोशिश ही करता है। इसी प्रकार एक को अपने कर्तृभोक्तृत्व पर दृढ विश्वास है व दूसरे को नहीं, एक में शांति आदि हैं दूसरे में नहीं। इसलिये दोनों अधिकारी परस्पर विरुद्ध विशेषताओं वाले हैं। भोग व भोगनिवृत्ति रूप विरुद्ध फलों के कथन से यद्यपि अधिकारी की विलक्षणता अर्थसिद्ध है तथापि जिज्ञासु को प्रेरणा देने के लिये उसका स्पष्ट उल्लेख आवश्यक होता है। यद्यपि विवेक और शमादि भी अधिकारिविशेषण हैं तथापि आचार्य की दृष्टि में वैराग्य और मुमुक्षा ही प्रधान हैं। विवेकचूडामणि (श्लो. २९-३१) से भी यह बात स्पष्ट होती है। उपदेशसाहस्री का प्रयोजन भी आचार्य ने यों ही व्यक्त किया है –

'तस्मादज्ञानहानाय संसारविनिवृत्तये। ब्रह्मविद्याविधानाय प्रारब्धोपनिषत्त्वियम् ॥'

संक्षेपशारीरककारने भी उपदेश के योग्य शिष्य की विशेषता सूचित करते हुए संसारसागर के भय से व्याकुलता का उल्लेख किया है–

'तीर्थेन तं विविदिषन्तमनन्यभक्तं संसारसागरभयातुरचित्तवृत्तिम् ।
एकं मुमुक्षुमधिकारिणमात्मतत्त्वज्ञाने निरीक्ष्य गुरुराह दयाविधेयः' ॥ (१.९२) ॥

अर्थात् शास्त्रीय कर्मादि से जिसका मानस रागादिकालुष्य से कलंकित नहीं रह गया है, जो आत्मविषयक अनुभव पाने की उत्कट अभिलाषा रखता है, ईश्वर, गुरु व शास्त्र पर पूर्ण भक्ति वाला है, संसार के या संसाररूप भय से आकुल है और उससे छूटना चाहता है, वही आत्मतत्त्व का ज्ञान पाने का मुख्य अधिकारी है और उसे ही दयालु गुरु उपदेश देता है। इस प्रकार अधिकारिभाष्य यथास्थान आवश्यक ही है ॥११॥

शंका होती है कि जैसे कर्म शास्त्रीय है वैसे ज्ञान भी शास्त्रीय है तो शास्त्रीयता समान होने पर अधिकारी समान क्यों नही?

समाधान सरल ही है। शास्त्रीयता समान होने पर भी बहुत से कर्म समान अधिकारी वाले नहीं होते। उदाहरणार्थ बृहस्पतिसव एवं राजसूय दोनों शास्त्रीय यज्ञ हैं किन्तु प्रथम को करना केवल ब्राह्मण के ही अधिकार में है जब कि द्वितीय के अनुष्ठान का अधिकार केवल क्षत्रिय को है। अतः शास्त्रीयता की समानता अधिकारी की समानता का कारण नहीं बनती। अतएव शारीरकीय मीमांसा के प्रारंभ में भगवान् बादरायण ने 'अथ' शब्द से अधिकारी का निरूपण करना आवश्यक समझा। अर्थिता, जानकारी, सामर्थ्य आदि विशेषतायें तो सामान्य हैं जो किसी भी कार्य में अधिकार पाने के लिये चाहिये ही। उन विशेष गुणों का उल्लेख आवश्यक होता है जिनकी प्रकृत कार्य के लिये जरूरत हो व अन्य कार्यों के लिये नहीं। इसी दृष्टि से आचार्य ने सूत्रभाष्य में कह दिया है ' स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्' अर्थात् वेदाक्षरग्रहण तो आत्ममीमांसा के प्रति सामान्य कारण है, विशेष नहीं। उसकी अत्यन्त अपेक्षा हो ऐसा नहीं क्योंकि वह पुष्कल कारण नहीं है। अतएव सर्वज्ञगुरु ने बताया है कि विवेकादि वेदान्ताधिकारी के असाधारण विशेषण हैं –

त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः। जिज्ञासोरेव चैकात्म्यं त्रय्यन्तेष्वधिकारिता ॥१२॥

'अत्राभिधित्सितविशेषणपूगयुक्तोऽसाधारणस्त्वभिमतः पुरुषो निवृत्तौ'। (१.७१)।

प्रकृत अधिकारी की मुख्य असाधारणता दिखाते हैं –

वेदान्तों में केवल उसीका अधिकार है जिसने समस्त क्रियाओं का परित्याग कर दिया है, संसार को पूरी तरह छोड़ना चाहता है और एकात्मता का जिज्ञासु है ॥१२॥

यद्यपि भोक्तारूप से फल पर मिलकियत को अधिकार कहा जाता है, जैसा जैमिनीयन्यायमालाविस्तर में (६.१.१) कहा है 'फलभोक्तृतया स्वामित्वमधिकार:', तथापि फलप्राप्ति की योग्यता को ही अधिकार समझ लेना चाहिये। यद्यपि साधनानुष्ठान सभी कर सकते हैं तथापि उस अनुष्ठान का फल जिसे मिल सकता है वह उस साधन का अधिकारी है, जिसे नहीं मिल सकता वह अनधिकारी है। उदाहरणार्थ फ्रेञ्चभाषा में कही जा रही बात सुन तो सभी सकते हैं पर सुनने का फल जो अर्थबोध है वह उसे ही हो सकता है जिसे उस भाषा के पद-पदार्थ मालूम हैं, दूसरों को नहीं, अतः सुनने का अधिकारी वही माना जायेगा, दूसरे नहीं। इसी प्रकार वेदान्तों का श्रवण चाहे सभी कर लें, श्रवण का फल अप्रतिबद्ध बोध केवल उसे हो सकता है जिसमें वक्ष्यमाण विशेषतायें हैं, अन्यों को नहीं। अतः वही वेदान्त श्रवणादि में अधिकारी है। वेदान्तशब्द से जीवब्रह्मैक्य बताने वाले सभी ग्रंथ समझ लेने चाहिये। 'वेदान्तों में' अर्थात् उनके श्रवणादि में।

इस व पूर्व जन्मों में एकत्र किये पुण्यों से भगवत्कृपा के कारण जीव की बुद्धि में शुद्धि आती है। इस शुद्धि का स्पष्ट व्यावहारिक रूप भाष्यकार ने गीताव्याख्या में बता दिया है ' सत्त्वसंशुद्धिः–सत्त्वस्यान्तःकरणस्य संव्यवहारेषु परवञ्चन-माया-ऽनृतादिपरिवर्जनं, शुद्धभावेन व्यवहार इत्यर्थः।' (१६.१)। अर्थात् व्यवहार करते हुए दूसरे को ठगना, मन में कुछ रखते हुए बाहर कुछ और ही प्रकट करना, झूठ बोलना आदि न करना, इन दोषों से रहित मन से सद्व्यवहार करना, यही चित्त की शुद्धि है। किन्तु प्रकृत में केवल इतनी ही शुद्धि पर्याप्त नहीं, आवश्यक भले ही है। आचार्य श्रीसुरेश्वर ने ही नैष्कर्म्यसिद्धि में (१.४८) बताया है कि चित्त जब शुद्ध होता है तब न केवल राग-द्वेष से आकृष्ट नहीं होता, वह केवल आत्मा की ओर रुझान वाला भी हो जाता है। '— रागद्वेषात्मकेन—अनाकृष्यमाणं निर्धूताशेषकल्मषं प्रत्यङ्मात्रप्रवणं चित्तदर्पणम्'। किंच उसी प्रसंग में उन्होंने साधना के सोपानों का उल्लेख करते हुए कहा है कि नित्य नैमित्तिक कर्म के अनुष्ठान से पुण्य होता है, उस पुण्य के फलस्वरूप पूर्वोपचित पाप निवृत्त हो जाते हैं जिससे चित्त की शुद्धि होती है तब संसार के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है जिसका फल है वैराग्य। संसार से विरक्ति होने पर मोक्ष की इच्छा उत्कट हो जाती है अतः मोक्ष के उपाय ढूँढने में प्रवृत्ति होती है। उपाय का सही बोध हो जाने पर सभी कर्मों व उनके साधनों का परित्याग अनिवार्य है। तदनन्तर योगाभ्यास से चित्त आत्मा की ओर ही उन्मुख हो जाता है। तब श्रवणादि से अखण्डसाक्षात्कार हो अविद्यानिवृत्ति होने पर केवल निजात्मा में अवस्थितिरूप मोक्ष संभव है (१.५२ की अवतरणिका)। जिज्ञासासूत्रभामती में (पृ. ६२-६३) भी इसी क्रम का वर्णन सुन्दर शब्दों में दर्शनीय है। एवं च अनित्यादिस्वरूप संसार को नित्यादि न समझकर उसे अनित्यादि ही पहचानना, उससे विरक्त होना और प्रत्यगात्मा के अवबोध में अतिशय रुचि वाला होना–यहाँ तक की मनःस्थिति बनाना मन की शुद्धि का कार्य है। वह सक्षम शुद्धि ही प्रकृत में विवक्षित है। इसी शुद्धि का फल है कि मन विवेकशील होता है, साधनसम्पत्ति में परिगणित प्रथम साधन से युक्त होता है। यह विवेक वैराग्य का उत्पादक है। 'संसार को छोड़ने की इच्छा' में संसारपद इस लोक व परलोक के समस्त भोगों के लिये आया है। भोगमात्र का हमारे मन आदि से ही संबंध होता है। मनआदि में तादात्म्यवश ही हम भोगलिप्सु बनते हैं। जिसमें विवेक है वही समझता है कि मनआदि अनात्मा हैं अतः उनके उपयोग के भोग के लिये वही निश्चेष्ट हो सकता है। बाकी लोग तो केवल अधम भोग छोड़कर उत्तम भोग चाह सकते हैं। भोगमात्र का परित्याग विवेकी ही चाह सकता है। यह परित्याग होगा तो दृढ साक्षात्कार के अनन्तर, अतः कहा है 'बोधस्योपरतिः फलम्', किन्तु इसकी प्राप्ति की इच्छा वैराग्य है जो साधनसम्पत्ति में द्वितीय स्थान पर गिना गया है।

वैराग्य होने पर मुमुक्षु के लिये साधन सहित कर्म का त्याग आवश्यक है। भाष्यकारीय पन्था की यह विशेषता है। जिसमें कोई सांसारिक कामना है वह अनात्मा से आत्मदृष्टि हटाना नहीं चाहता यह निश्चित है अतः विद्या में अनधिकारी है। जिसे कोई सांसारिक कामना नहीं वह कर्म क्यों करेगा? मनु आदि ने स्पष्ट किया है कि जो कुछ भी कर्म किया जाता है वह कामना की ही अभिव्यक्ति है। अतः यदि चिकीर्षा–कर्म करने की इच्छा–है तो वह भोगेच्छा की द्योतिका है। यदि भोगेच्छा है भी तो उसे पूरा करने की ओर बढने से तो वह समाप्त होगी नहीं, इसलिये भी मुमुक्षु को कर्म छोड़ना चाहिये। भाष्यकार स्पष्ट निर्देश देते हैं कि विद्वान् ही नहीं मुमुक्षु को भी कर्म छोड़ना अनिवार्य है 'सहैव विदुषा तस्मात् कर्म हेयं मुमुक्षुणा' (उप.सा.पद्य. १.१५)। शमादि व श्रवणादि भी वस्तुतः कर्म नहीं हैं। मनआदि की स्वाभाविक बहिर्मुख प्रवृत्ति न होना ही शमादि है, अनात्मचिन्तन से उदासीन रहने के लिये ही श्रवणविधि है। यह बात संक्षेपशारीरक में (१.७४-७५) स्पष्ट की गयी है। अथवा, सर्वकर्मत्याग कहने पर मुमुक्षु के सन्दर्भ में सर्वपद का अर्थ शमादि व श्रवणादि से अन्य लौकिक-पारलौकिक क्रियाओं में संकुचित कर लेना चाहिये। यह पक्ष भी वहीं (श्लो. ८४) बताया गया है। वस्तुतः अखण्डज्ञान की प्राप्ति के अत्यन्त उपकारक एवं अनिवार्य कार्यों से अतिरिक्त सभी कार्यों का परित्याग विविदिषा-संन्यास है जो यहाँ विवक्षित है। श्रीवार्तिककार ने 'केवल उसी का' कहकर, अर्थात् 'त्यक्ताशेषक्रियस्यैव' यों एवकार लगाकर, यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि संन्यासी का ही वेदान्ताधिकार है अर्थात् वही मोक्षफलक ज्ञान पा सकता है। अन्य साधक यदि ज्ञान पा भी लेता है तो वह प्रतिबद्ध ही रहेगा, उत्पन्न होते ही मोक्ष का प्रयोजक नहीं होगा। आनन्दपूर्ण महाराज मानते हैं कि यह एवकार अयोगव्यवच्छेद के लिये है अर्थात् संन्यासी से अन्य का अधिकार नहीं है यह एवकार का तात्पर्य है। क्योंकि शास्त्रीय कर्म विधि से प्राप्त हैं इसलिये इनका त्याग भी वैध ढंग से होना उचित है। उदाहरणार्थ सोमयाग करते हुए यजमान नाखून आदि से खाज न करे बल्कि काले हरिण के सींग से करे ऐसा विधान है अतः यजमान को यागारम्भ में एक सींग दिया जाता है। दक्षिणा-समर्पणादि होने पर जब यज्ञ समाप्ति की ओर बढ़ता है तब उस सींग को विधिपूर्वक एक गड्ढे में डाला जाता है। क्योंकि विधिप्रयुक्त ग्रहण है इसलिये विधिप्रयुक्त ही उसका त्याग किया जाता है। यह प्रतिपत्ति-कर्म कहा जाता है। दृष्ट प्रयोजन वाला संस्कार प्रतिपत्तिशब्द का अर्थ है 'प्रतिपत्तिर्नाम संस्काररूपो दृष्टोऽर्थः' (जै.न्या.वि. ४.२.४)। संन्यास भी प्रतिपत्ति-कर्म है। इसका भी दृष्ट प्रयोजन है: सभी विक्षेपों से रहित रहकर श्रवणादि में तत्पर हुआ जा सके तभी श्रवण सफल होता है और यह कर्म करते हुए असंभव है। संन्यास किसी ऐसे कर्मविशेष में अधिकार नहीं देता है जिससे वह विद्यालाभ के विशेष योग्य हो। परिमलकार ने स्पष्ट करा है 'संन्यासिनो विद्यां प्रति प्राधान्ययोग्यं किमपि कर्मानङ्गीकृतम्' (पृ. ८७८)। शौचादि तो सर्वापेक्षान्याय से सफल हो जाते हैं। शमादि भी चित्त की एकाग्रतारूप दृष्टफल द्वारा विद्या के उपयोगी हैं। भाष्यकार ने निःसन्दिग्ध स्थिति बतायी है 'ब्रह्मज्ञानपरिपाकाङ्गत्वाच्च पारिव्राज्यस्य' (सूत्रभा. ३.४.२०)। इसका अर्थ भामती में व्यक्त कर दिया है 'ब्रह्मज्ञानस्य शब्दजनितस्य यः परीपाकः साक्षात्कारोऽपवर्गसाधनं तदङ्गतया पारिव्राज्यं विहितम्'। अतः मोक्षौपयिक साक्षात्कार का अंग संन्यास है। प्रतिपत्तिकर्म होने से इसमें नियमापूर्व होना संगत ही है। जिसे कोई कर्म शास्त्रतः प्राप्त नहीं है उसे वैध त्याग की अपेक्षा नहीं, स्वेच्छावश ही स्वरूपतः त्याग करने से वह संन्यासी हो जायेगा। यदि वैध प्राप्ति वाला अवैध त्याग करेगा तो नियमापूर्व न होने से त्यागकृत दोष चित्त को मलिन कर ज्ञानलाभ में प्रतिपक्षी बन सकता है। अतः यथाविधि सर्वकर्मत्यागी को ही यहाँ वेदान्ताधिकारी स्वीकारा गया है।

एकात्मता की जिज्ञासा भी अधिकारी के लिये अनिवार्य है। जिज्ञासा की महत्ता इसी से पता चलती है कि व्यासजी ने इसे ही कर्तव्य कह दिया है 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। एकात्मता से आत्मा-परमात्मा का अभेद कहा जा रहा है। यद्यपि विवेक से जिज्ञासा आक्षेपलभ्य है तथापि तुष्टि आदिवशाद् ज्ञानार्थ यत्न में शैथिल्य न हो इसलिये इसको पृथक् कह कर इसका महत्त्व व्यक्त किया जाता है। किंच यहाँ 'ऐकात्म्यमेव जिज्ञासोः' ऐसा अन्वय समझना चाहिये अर्थात् केवल एकात्मता का ही जिज्ञासु यहाँ अधिकारी है। अन्य सब जिज्ञासायें छोड़नी ही पड़ेंगी। उपनिषदों ने कथानकों में यह कई जगह दिखाया है कि शिष्य प्रश्न करता है तब गुरु उपदेश देता है। कहीं यदि शिष्य का प्रश्न नहीं है तो स्वयं ही ऋषियों

एतमेवेति च तथा प्रत्यग्याथात्म्यवित्तये। सर्वकर्मत्यजं प्राह श्रुतिर्विद्याधिकारिणम् ॥१३॥
प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः। ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्याग ईप्सन्तीतिश्रुतेर्बलात् ॥१४॥

ने प्रश्न उठाया है जैसे ऐतरेय में 'कोऽयमात्मेति' (३.१) या श्वेताश्वतर में 'किं कारणम्' (१.१)। आचार्य ने प्रकरणग्रंथों में भी इस रीति को स्थान दिया है जैसे चूडामणि में (श्लो.३७-४२) शिष्यप्रश्न है। बल्कि वहाँ शिष्य के लिये पूछने की विधि ही कर दी है 'पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः' (श्लो.३६)। ऐसे ही सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह में 'प्रष्टव्यं ज्ञेयमात्मनः' (श्लो. २५८)। वाक्यवृत्ति का आरंभ भी शिष्यप्रश्न से है। संक्षेपशारीरक में भी कहा है 'स परिपृच्छति कोऽहमसौ च कः' (१.९१)। यह सब जिज्ञासा की अनिवार्य उपयोगिता प्रकट करने के लिये ही है। मनमें भी जिज्ञासा होनी चाहिये और सद्गुरु के संमुख उसे प्रकट भी करना चाहिये। इस प्रकार संन्यास, वैराग्य और जिज्ञासा–ये तीन गुण वेदान्ताधिकारी के लिये असाधारण हैं, विशेष हैं ॥१२॥

ज्ञान के अधिकारी के विषय में औपनिषद प्रमाण प्रस्तुत करते हैं –

प्रत्यगात्मा की वास्तविकता के ज्ञान के अधिकारी की आवश्यकता अनुभव करती हुई श्रुति ने 'इस आत्मरूप लोक को ही चाहने वाले अतिविरक्त लोग कर्मसंन्यास कर देते हैं' कहकर विद्यामें सर्वकर्मत्यागी को ही अधिकारी कहा है ॥१३॥

यहाँ बृहदारण्यक का (४.४.२२) ही वाक्य सूचित है। श्रुति के 'प्रव्राजिनः' का भाष्य व तट्टीका के अनुसार वैराग्यातिशयशाली और 'प्रव्रजन्ति' का सर्वकर्मसंन्यास अर्थ है। शमदमादि का दर्शनशेषरूप से विधान (बृ.४.४.२३) भी ऐसे ही अधिकारी को आक्षिप्त करता है क्योंकि यदि कर्माधिकारी ही दर्शन कर सकता होता तो इन विलक्षण धर्मों का विधान अनुपपन्न हो जाता। श्रुति को अधिकारी की ज़रूरत इसलिये है कि यदि वह न हुआ तो विद्योपदेश व्यर्थ हो जायेगा। किंच व्यर्थोपदेश करने पर अप्रामाण्यादि की आपत्ति आ जायेगी।

शास्त्रार्थत्व-हेतु से एकाधिकारिता पूर्वपक्षी ने गत श्लोक में सिद्ध करनी चाही थी। उसी का यहाँ खण्डन है। शास्त्रीय होने से ही इसका अधिकारी भी शास्त्रसिद्ध होना पड़ेगा और विद्याऽधिकारी स्पष्ट बताया गया है इसलिये पूर्वपक्षी की शंका ग़लत है। आस्तिक होने से विधिगृहीत श्रुति को वह व्यर्थ भी नहीं मान सकता अतः अधिकारी उसे भी स्वीकारना ही होगा। श्रुत्युक्त अधिकारी का वह अन्य प्रमाणों से बाध कर नहीं सकता। इस प्रकार पूर्वोक्त अधिकारी शास्त्रसिद्ध स्वीकार्य है।

यदि कर्मत्यागी का ही वेदान्तज्ञान में अधिकार है तो शास्त्रों ने यह क्यों कह दिया है कि धर्म से सुख व ज्ञान प्राप्त होता है? पूर्व प्रदर्शित रीति से धर्म चित्त का शोधन कर आत्मज्ञान की ओर उन्मुख करता है अतः ज्ञान का हेतु कहा गया है यह उत्तर देते हैं –

वेदस्वाध्याय आदि धर्म प्रत्यगात्मा को जानने की इच्छा के प्रति कारण बनते हैं। ब्रह्म-ज्ञान के लिये तो कर्मों का त्याग करण पड़ता है। यह बात इस वेदवचन के आधार पर स्वीकार्य है जिसमें कहा है 'जो वैराग्यशील लोग इस आत्मरूप लोक को ही चाहते हैं वे सब कर्मों का संन्यास करते हैं' ॥१४॥

वेदस्वाध्याय आदि में यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्मों का परिगणन जानना चाहिये। सभी कर्म चित्तशुद्धि द्वारा जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं व जिज्ञासा के अनन्तर श्रवणादि से ज्ञान होता है। क्योंकि जिज्ञासा स्वयं में कोई फल नहीं इसलिये कर्मों का फल ज्ञान ही बताया जाता है पर कर्म साक्षात् ज्ञान के साधन नहीं हैं, परम्परा से उसके हेतु हैं। आकरों में (ब्र.सू.३.४.२५-२७) यह स्पष्ट किया गया है। श्रुति ने (बृ.४.४.२२) भी कहा है कि वेदस्वाध्याय आदि से जानने की इच्छा की जाती है 'विविदिषन्ति'। अतः स्वाध्यायादि कर्मों का साक्षात् फल जिज्ञासा ही माननी चाहिये। प्रत्ययार्थ वैयाकरणों द्वारा प्रधान माना जाता है। 'विविदिषन्ति' में सन्-प्रत्ययका अर्थ है इच्छा, वही प्रधान होगा अतः कर्म उसी से सम्बद्ध होंगे। यही सर्वज्ञगुरु का निर्णय है।

उक्ताधिकारविषयप्रतिपत्त्यर्थमीरितम्। संसारहेत्विति वचः स्फुटन्यायोपबृंहितम् ॥१५॥

'तस्मात् कर्म समस्तमेव तु भवेदिच्छाजनेः कारणम्' (३.३४०)। जैसे भूख लग जाने से चूर्णादि दवा सफल समझी जाती है वैसे जिज्ञासा हो जाने से कर्म को सफल जानना चाहिये। यद्यपि इच्छामात्र तो पूर्व में भी रहती है तथापि तीव्र इच्छा–ऐसी इच्छा जो अन्यत्र से मन हटाकर सर्वथा इसी ओर उसे लगा दे–सत्कर्मों का फल है। किन्तु क्योंकि इच्छा स्वयं फल नहीं व ज्ञानरूप फल से ही कर्म वस्तुतः सफल होंगे इसलिये जो कर्म विविदिषा उत्पन्न कर देते हैं वे ही विविदिषोत्पत्ति के अनन्तर ज्ञानप्राप्ति के साधनादि भी उपलब्ध करा देते हैं, जिज्ञासा होने के बाद साधनादि के लिये कर्मान्तर की अपेक्षा नहीं रह जाती यह चूर्णादि से यहाँ विशेष है। चूर्ण भोजन प्राप्त नहीं करायेगा किन्तु कर्म ज्ञान प्राप्त करायेगा यह तात्पर्य है। क्योंकि जिज्ञासाजनक कर्म ज्ञानलाभपर्यन्त सव्यापार होते हैं, कारण कि तभी उनकी सफलता है, इसीलिये जिज्ञासानन्तर नवीन कर्मों का सर्वथा त्याग सुसंगत हो जाता है।

मूल में 'ब्रह्मावाप्त्यै' पाठ है जिसका शब्दार्थ है ब्रह्म की प्राप्ति के लिये किन्तु ब्रह्म की प्राप्ति उसका ज्ञान ही है, उससे अतिरिक्त नहीं। आनन्दपूर्ण मुनि का पाठ है 'विद्यावाप्त्यै' अर्थाद् विद्या की प्राप्ति के लिये। यद्यपि ज्ञान में कारण श्रवणादि है तथापि कर्मसंन्यास की सहितता दृढ विद्या की उत्पत्ति के लिये आवश्यक है इसलिये कर्मत्याग ज्ञान के लिये कारण बनता है यह उचित ही है। संन्यास का उपयोग दिखाया ही जा चुका है।

बृहदारण्यक में ही कहा है कि आत्मप्राप्ति के इच्छुक कर्मत्याग करते हैं (४.४.२२)। 'इच्छन्तः प्रव्रजन्ति' यह काण्वपाठ है, 'ईप्सन्तः प्रव्रजन्ति' यह माध्यन्दिन पाठ है (४.४.२५)। अर्थ एक ही है। यहाँ 'प्रव्रजन्ति'– 'सब कर्मों का संन्यास करते हैं'–यह विधि है यह वहीं भाष्यादि में स्पष्ट है। एवं च स्वर्गकाम के लिये ज्योतिष्टोम की तरह आत्मकाम के लिये संन्यास वेदविहित होने से ज्ञानरूप आत्मप्राप्ति के प्रति उसकी कारणता निःसंदिग्ध है। यदि विधि न भी मानें तो अर्थापत्ति से संन्यास आत्मलाभ का हेतु सिद्ध होता ही है। जो जिसे चाहता है उसके साधन का ही अनुष्ठान करता है। आत्मा को चाहने वाले जब संन्यास का अनुष्ठान करते हैं तो निश्चित है कि संन्यास आत्मलाभ का साधन है। इस प्रकार 'धर्म से ज्ञान होता है' इस स्मृति की तथा 'ज्ञान के लिये संन्यास करे' इस श्रुति की व्यवस्था स्पष्ट हो जाती है। जहाँ भी ज्ञान के लिये संन्यास की अनिवार्यता कही जाती है वहाँ ज्ञान से मोक्षफलक अप्रतिबद्ध ज्ञान और संन्यास से सर्वकर्मत्यागात्मक परमहंस संन्यास विवक्षित होता है यह स्मरण रखना चाहिये ॥१४॥

श्रीशंकराचार्य ने ग्रंथका विषय कहते हुए व अर्थतः प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहा है 'कर्तृतादि अनर्थात्मक संसार के कारणभूत अज्ञान की निवृत्ति का साधन जो जीव-ईश्वर की एकता का ज्ञान उसकी प्राप्ति के लिये यह ग्रंथ रचा जा रहा है'। इस भाष्यपंक्ति का प्रयोजन बताते हैं –

'कर्तृतादि अनर्थात्मक संसार के कारणभूत' इत्यादि सद्युक्तिमण्डित वचन इसलिये है कि प्रतिज्ञात भाष्यारम्भ के लिये अपेक्षित विषय का ज्ञान हो जाये, जिस विषय में अधिकार बताया गया है उसका पता चल जाये तथा फल का कारण मालूम पड़ जाये ॥१५॥

वचन को सद्युक्ति से मंडित यह बताने के लिये कहा कि यदि पौरुषेय होने से उसके प्रामाण्य में शंका हो तो सद्युक्ति से अनुगृहीत होने के कारण वह हट जाये। युक्ति की सत्ता – अच्छाई – यही है कि वह ग़लत नहीं है, युक्ति का आभास नहीं सचमुच युक्ति ही है। युक्तियुक्त होने से ही भाष्य का छोटा सा शब्द इतने रहस्यों का ख्यापन कर देता है।

श्लोक के पूर्वार्द्ध का आनन्दगिरि स्वामी ने तीन तरह अर्थ किया है। तीनों विवक्षित मानकर अनूदित कर दिये हैं। भाष्यारंभार्थ विषयकथन की आवश्यकता पूर्व में दिखायी जा चुकी है। अनुबन्धोक्ति ग्रन्थादि में अनिवार्य मानी जाती है। तृतीय अर्थ के अनुसार समास में कारणतारूप सम्बन्ध षष्ठ्यर्थ जानना चाहिये ॥१५॥

कुछ विचारक उपनिषदों का तात्पर्य संपदादि उपासना के विधान में मानते हैं। जिस उपासना में आरोप्य प्रधान हो

ऐकात्म्यविषयान्नान्यो वेदान्तवचसां यतः। लभ्यते विषयः कश्चित्तद्धीस्तस्मात्तमोपनुत् ॥१६॥

व आलंबन को अविद्यमानसम कर दिया जाये वह सम्पद् उपासना कही जाती है। जिसमें आलम्बन ही प्रधान हो वह अध्यास उपासना कही जाती है। क्रियाविशेष के सम्बन्ध से की जाने वाली उपासना संवर्ग नाम से प्रसिद्ध है। उपासनाविधान में तात्पर्य मानने पर वेदान्तों का विषय जीव-ईश्वर की एकता रह नहीं जाता। फलतः एकता के ज्ञान में कोई प्रमाण नहीं मिलता क्योंकि शास्त्र ही उसमें इकलौता प्रमाण है यदि वही तात्पर्यान्तर वाला हो गया तो अद्वैत अप्रामाणिक होना ही है। अप्रामाणिक होने से अद्वैतज्ञान निष्फल होगा अतः वेदान्तविचार करना व्यर्थ है। ऐसा उन लोगों का मानना है। इसका निराकरण करते हैं –

क्योंकि वेदान्तवचनों का एकात्मतारूप विषय से अन्य कोई विषय मिलता नहीं इसलिये एकात्मता का ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है ॥१६॥

सन्दर्भ का तात्पर्य उपक्रमादि से निश्चित किया जाता है। जब वेदान्तप्रसंगों के उपक्रमादि देखते हैं तब वे स्पष्ट ही अद्वैत में तात्पर्य सिद्ध करते हैं। उदाहरणार्थ बृहदारण्यक के प्रथमाध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण देखें– 'आत्मा एव इदमग्र आसीत्' यों इदंशब्दित भेद का आत्मा से अद्वैत बताते हुए उपक्रम है तथा 'अहम्ब्रह्मास्मि' यों अहम्पदार्थ द्वारा निरूपित द्वैत का भी निषेध करते हुए उपसंहार है। मध्य में 'मदन्यद् नास्ति', 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीद्' आदि से एक परमात्मा का पुनःपुनः प्रतिपादन अर्थात् अभ्यास है। 'अन्योसावन्योहमस्मीति न स वेद' द्वारा भेदज्ञानी को अज्ञानी कहकर एकता की अपूर्वता दिखा दी है। 'स एव तदभवत्' से अद्वैत ज्ञान का फल कह दिया गया है। 'स वै नैव रेमे' आदि से, 'तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' से, 'स एष इह प्रविष्टः' से सृष्टि आदि अर्थवाद अभेदसाधनार्थ उपन्यस्त है तथा 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' से भेदज्ञान की निन्दारूप अर्थवाद व 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते' अभेदज्ञान की प्रशंसारूप अर्थवाद भी स्पष्ट है। 'मदन्यद् नास्ति' 'अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति' 'प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्' आदि उपपत्ति भी इस विषय में प्रदर्शित हैं। अतः अद्वैत में इस प्रसंग का तात्पर्य स्पष्ट है।

द्वितीयाध्याय में चतुर्थ ब्राह्मण में भी ये लिंग उपलब्ध हैं–'आत्मा वा अरे' कहकर अकेले ('वै') आत्मा से उपक्रम और 'सर्वमात्मैवाभूत्' कहकर आत्मामें ही उपसंहार है। 'आत्मनो वा अरे', 'इदं सर्वं यदयमात्मा' आदि अभ्यास है। 'अत्रैव मा भगवानमूमुहत्' द्वारा इस तत्त्व की अज्ञातता अर्थात् अपूर्वता कही है। 'इदं सर्वं विदितम्' से स्पष्टतः तथा 'येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्' से तात्पर्यतः फल दर्शाया है। 'ब्रह्म तं परादाद्,' 'अस्य महतो भूतस्य' आदि अर्थवाद तथा 'स दुन्दुभेः', 'स यथा सैन्धवखिल्यः' इत्यादि उपपत्ति आत्माद्वैत में स्पष्ट हैं।

तृतीयाध्याय में अनेकत्र अद्वितीय तत्त्व का उपदेश है। अष्टम ब्राह्मण में 'अस्थूलमनणु' आदि में यह और भी स्पष्ट है।

चतुर्थाध्याय के तृतीय-चतुर्थ ब्राह्मण का तात्पर्य भी एकात्मता में है। 'कतम आत्मा' से उपक्रम है व 'अयमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव' में उपसंहार है। 'न तु तद् द्वितीयमस्ति', 'सलिल एको द्रष्टा' आदि अभ्यासस्थल हैं। 'न तं पश्यति कश्चन' में अपूर्वता व्यक्त ही है। 'अनन्वागतं पुण्येन अनन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान् हृदयस्य भवति' द्वारा फल दिखाया गया है। 'एवं हैवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पयन्ते' तथा समूची आनन्दमीमांसा अर्थवाद है। 'द्वे एव स्थाने भवतः', 'प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति' आदि वाक्य व समग्र स्वयंज्योतिष्ट्व प्रकरण उपपत्ति है। एवं च प्रकृत उपनिषत् तात्पर्यतः ऐकात्म्य का प्रतिपादन ही कर रही है। ऐसे ही अन्य वेदान्तों को समझ लेना चाहिये। श्रुति निरपेक्ष प्रमाण है ही। जिसमें वह तात्पर्यवाली है उसके विषय में वह प्रमा अवश्य उत्पन्न करेगी ही। अतः उपासनाविधि में उनके तात्पर्य की कल्पना अनुपपन्न है। इसमें समन्वयाधिकरण प्रमाण है। प्रामाणिक होने से अद्वैतज्ञान अज्ञाननिवृत्ति द्वारा मोक्ष देने वाला होने से सफल है। फलतः उपनिषद्-विचार सार्थक है ॥१६॥

संसारकारणाविद्याध्वंसकृज्ज्ञानलब्धये। प्रारब्धेयं प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत्परा ॥१७॥
प्रत्यग्याथात्म्यधीरेव प्रत्यगज्ञानहानिकृत्। सा चाऽऽत्मोत्पत्तितो नान्यद् ध्वान्तध्वस्तावपेक्षते ॥१८॥

विद्या अविद्या को निवृत्त भले ही करे, संसार के कारण को तो निवृत्त करेगी नहीं अतः उक्त प्रकार से सफल नहीं हो सकती। संसार का कारण तो पुण्य-पाप हैं। और वे वास्तविक होने से ज्ञान-निवर्त्य नहीं हो सकते।–इस समस्या का समाधान करते हैं। साथ ही, 'यह वृत्ति आरम्भ की जा रही है। इस भाष्यवाक्य का अर्थ दिखाते हैं –

संसार की कारणभूत अविद्या का विनाश करने वाले ज्ञान की प्राप्ति के लिये यह परम वेदान्तोपनिषत् यत्नतः प्रारम्भ की गयी है ॥१७॥

संसार का कारण पुण्य-पाप नहीं अविद्या है क्योंकि अविद्या के बिना असंग आत्मा का पुण्य-पाप से सम्बंध ही संभव नहीं। जैसे रज्जु में सर्प तभी दीख सकता है जब रज्जु का अज्ञान हो, ऐसे असंग आत्मा का पुण्यादि से संग तभी हो सकता है जब आत्मा का अज्ञान हो। अतः अविद्या ही मूल कारण है संसरण का। क्योंकि आत्मा की एकता का अज्ञान ही अविद्या है इसलिये वह उसके ज्ञान से विनिवृत्त हो जाती है। अतः विद्या उक्तरीति से ही सफल है। यह स्मरण रखना चाहिये कि अविद्या का विनाश आत्मैक्य का अप्रतिबद्ध साक्षात्कार ही करता है, ज्ञानमात्र नहीं। विनाश भी यहाँ बाधरूप ही है। उसी साक्षात्कार की प्राप्ति के लिये यह ग्रंथात्मक उपनिषत् प्रारंभ की गयी है। केवल उपनिषत् कहने से पूर्वोक्त व्युत्पत्ति से विद्या का ग्रहण होता जबकि प्रसंगतः यहाँ ग्रंथ से अभिप्राय है अतः 'वेदान्त' यह विशेषण दिया। वेद के अन्त्यभाग में उपदिष्ट होने से तथा वेद का सिद्धान्तप्रतिपादक भाग होने से आत्मैक्यबोधक श्रुतिसन्दर्भ वेदान्त कहे जाते हैं। अतः वेदान्तोपनिषत् का ग्रंथरूप उपनिषद् अर्थ है। इसे 'परम' इसलिये कहा कि वाणी के अविषय का यह वाणी द्वारा ज्ञान करा देती है। शक्ति के अविषय को लक्षणा से विषय करना इसकी परमता है। किं च प्रायः परोक्ष व सखण्ड ज्ञान ही शब्द से प्राप्त होता है जब कि उपनिषत् से आत्मा का अपरोक्ष व अखण्ड ज्ञान हो जाता है, यह भी इसकी परमता है। यत्नतः का अभिप्राय है कि उपनिषत् का तात्पर्य उक्त ज्ञान कराने में है, उक्त ज्ञान के लिये ही वह यत्नशील है। अथवा, परम करुणामय महेश्वर ने यत्नतः वेदान्तों का उपदेश दिया यह अर्थ है। अथवा, प्रकृत वेदान्तोपनिषत् को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर प्रवृत्त भाष्यरूप वृत्ति श्रीशंकराचार्य द्वारा यत्नपूर्वक आरंभ की गयी है यह तात्पर्य है। बृहदारण्यक को श्रेष्ठ मानने से ही इसके व्याख्यान में सकल आम्नाय के विषय में शोध उपस्थित किया गया है ॥१७॥

ज्ञान-कर्म का समुच्चय पुरुषार्थसाधन है ऐसा मानने वालों का कहना है कि अविद्यानिवृत्ति करने के लिये आत्मज्ञान को कर्म की आवश्यकता होती है, कर्म की सहायता न मिलने पर उत्पन्न हुआ भी ज्ञान अविद्या को निवृत्त कर नहीं पाता। इस मान्यता का खण्डन बहुत विस्तार से वार्तिककार कई स्थलों पर करेंगे। अभी स्वसिद्धान्त बताते हुए इस बात का प्रत्याख्यान करते हैं –

प्रत्यगात्मा की वास्तविकता का ज्ञान ही प्रत्यगात्मा के अज्ञान का विनाशक है और अज्ञान का ध्वंस करने के लिये उसे स्वयं उत्पन्न होने से अतिरिक्त किसी की ज़रूरत नहीं ॥१८॥

अज्ञान का विरोधी न होने से कर्म अज्ञाननिवृत्ति के लिये ज्ञान को सहायता नहीं देता। जिस प्रकार शुक्ति की वास्तविकता का ज्ञान शुक्तिविषयक अज्ञान को हटाने के लिये किसी कर्म की आवश्यकता नहीं रखता उसी प्रकार आत्मज्ञान भी नहीं रखता। समुच्चय है भी असंभव–यह आगे समझाया जायेगा–इसलिये भी ज्ञान को कर्म की सहायता नहीं चाहिये। यज्ञादि कर्मों की सहायता न भी चाहिये हो, प्रसंख्यान अर्थात् ध्यान व आवृत्ति की अपेक्षा तो होगी ही–इस शंका का समाधान करने के लिये कहा कि निज उत्पत्ति से भिन्न और कुछ भी ज्ञान को अज्ञाननाश के लिये नहीं चाहिये। अज्ञान नष्ट हो इसके लिये इतना ही अपेक्षित है कि ज्ञान उत्पन्न हो जाये। जैसे यज्ञादि वैसे ही प्रसंख्यान भी नहीं चाहिये। जो तो एकदेशी मत में भावना की अपेक्षा है वह साक्षात्कार-उत्पत्ति के लिये है न कि उत्पन्न हुए साक्षात्कार को सहायता

साधनं चाधिकारी च कर्मविज्ञानकाण्डयोः। मिथो विरोधतः सिद्धावधुना तत्र चोद्यते ॥१९॥
नन्वभ्युदयवन्मुक्तिं गृह्णीमो विधिलक्षणाम्। कार्यं विना नाधिकारी नापीज्याफलसङ्गमः ॥२०॥
लभ्यते लौकिकोऽपीह किमङ्गाऽऽगमसंश्रयः। विधिलक्षणसिद्ध्यर्थं सन्ति वाक्यानि च श्रुतौ ॥२१॥
कुर्वीत क्रतुमित्यादिर्विधिरभ्युदये यथा। उपासीतेति च तथा मुक्तावपि समीक्ष्यते ॥२२॥

देने के लिये अतः प्रकृत से कोई विरोध नहीं। उस मत से मुख्य पक्ष का विरोध इतना ही है कि सिद्धान्त में शब्द प्रमाण होने से व आत्मा अपरोक्ष होने से शब्द से अपरोक्ष आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। किन्तु अपरोक्षज्ञान हो जाने पर अन्य-निरपेक्ष ही अविद्या की हानि के लिये पर्याप्त है–इसमें कोई मतभेद नहीं, अपरोक्ष होता कैसे है इसी में मतभेद है। भावना की ही तरह आवृत्ति भी अनपेक्षित है क्योंकि सभी प्रमाण आवृत्ति के विना ही उत्पत्तिमात्र से अज्ञाननिवर्तक देखे गये हैं। नैष्कर्म्यसिद्धि में भी कहा है –

'बलवद्धि प्रमाणोत्थसम्यग्ज्ञानं न बाध्यते। आकाङ्क्षते न चाप्यन्यद् बाधनं प्रति साधनम्' ॥१.३६॥
'स्वरूपलाभमात्रेण यत्त्वविद्यां निहन्ति नः। न तदङ्गं प्रधानं वा ज्ञानं स्यात् कर्मणः क्वचित्' ॥१.६४॥
'सकृत् प्रवृत्त्या मृद्नाति क्रियाकारकरूपभृत्। अज्ञानमागमज्ञानं साङ्गत्यं नास्त्यतोऽनयोः' ॥१.६५॥
एवं च समुच्चय को यहाँ कोई स्थान संभव नहीं ॥१८॥

विषय, अधिकारी व नाम, तीनों के प्रतिभादक भाष्यखण्डों का अर्थ संक्षेप में कहकर निगमन करते हैं –

कर्मकाण्ड व ज्ञानकाण्ड के साधन व अधिकारी आपस में विरुद्ध (विलक्षण) हैं यह सिद्ध हो चुकने पर अब साधन आदि के विषय में प्रश्न किया जाता है ॥१९॥

कर्मकाण्ड में पुरुषार्थ का उपाय कर्म कहा गया है जो अविवेक, राग आदि युक्त रहकर ही किया जा सकता है। विवेक करने पर तो क्रिया, कारकादि ही सिद्ध नहीं होने से कर्म संभव नहीं। ज्ञानकाण्ड का उद्घोष है कि पुरुषार्थ का उपाय विवेकलभ्य ज्ञान है। अतः दोनो काण्डों में बताये साधन परस्पर विरुद्ध हैं, एक के साथ दूसरे का अस्तित्व रह नहीं सकता। इन काण्डों के अधिकारियों का विरोध तो पूर्व में (श्लो. ११) दिखाया ही गया है। फल और विषय का विरोध भी यहाँ समझ लेना चाहिये। कर्मकाण्ड में भोग फल है व ज्ञानकाण्ड में भोगमात्र की निवृत्तिरूप आत्मस्थिति फलरूप से कही भर जाती है। वस्तुतः कोई फल ज्ञानमार्ग में स्वीकृत नहीं। विषय भी कर्मकाण्ड का धर्माधर्म है और ज्ञानकाण्ड का ऐकात्म्य। अतः हर प्रकार का विरोध इन काण्डों में है। इसी विषय का शोधन करने के लिये आगे शंका-समाधान बताये जायेंगे। यह अवश्य जान लेना चाहिये कि सिद्धान्त में कर्म व ज्ञान का क्रम स्वीकारा गया है अर्थात् पहले कर्म से मन शुद्ध कर ले तब कर्म छोड़ कर ज्ञान प्राप्त कर मुक्त होवे। कर्म का सब अधिकारियों के लिये निषेध नहीं, ज्ञानाधिकारी के लिये ही निषेध है। इसमें सर्वापेक्षाधिकरण (३.४.२६.६) प्रमाण है ॥१९॥

शास्त्रसिद्ध फल होने से स्वर्ग की तरह मोक्ष भी कर्मसाध्य होना चाहिये अतः ज्ञानकाण्ड व कर्मकाण्ड के प्रतिपाद्य साधन तथा अधिकारी में विरोध नहीं होना चाहिये यह शंका उठाते हैं–

लौकिक व पारलौकिक उन्नति की तरह मोक्ष को हम कर्मरूप साधन वाला ही समझते हैं। अरे! जब लौकिक विषयों में ही कार्य के विना अधिकारी नहीं मिलता तथा लौकिक साधनों का अपने फलों से सम्बन्ध कार्य के बिना अनुपलब्ध है तो वेदाश्रित साधन-साध्यसम्बन्ध कार्य की अपेक्षा रखेगा इसमें कहना ही क्या! किं च, मोक्ष कर्मरूप साधन वाला है इसकी सिद्धि के लिये श्रुति में वाक्य उपस्थित हैं। जैसे स्वर्गादि के लिये 'याग करे' आदि विधि मिलती है वैसे मुक्ति के लिये 'उपासना करे' ऐसी विधि देखी जाती है ॥२०-२२॥

यह शंकाग्रंथ है। अभ्युदयशब्द उन्नतिवाचक है तथापि प्रायः स्वर्गादि श्रेष्ठ लोकों के लिये इसका प्रयोग होता है। 'कार्य' शब्द का कुछ विशेष अर्थ है। शास्त्रीय विधि सुनकर श्रद्धालु को निश्चय होता है 'मुझे ऐसा करना चाहिये'। जब

नाभ्युदयस्य मुक्तेश्च साध्यासाध्ये ध्रुवाध्रुवे। वैलक्षण्यान्न युक्तेयं तुल्यसाधनता तयोः ॥२३॥

वह विहित क्रिया कर लेता है तो 'जो मुझे करना चाहिये था वह मैंने कर लिया' ऐसा उसे संतोष भी होता है। यद्यपि जिस फल के लिये वह कर्म विहित है व किया गया है वह फल कर्म पूरा होते ही तो मिल नहीं जाता, कुछ समय–और कभी तो बहुत समय–बाद ही मिलता है, तथापि प्रामाणिक साधन होने से मिलता वह फल उसी कर्म से है यह निश्चित है। क्रिया समाप्त हो चुकने से यह मान नहीं सकते कि वह विलम्ब से मिलने वाला फल क्रियाकलाप का कार्य है। अतः क्रियात्मक वैध कर्म का कोई व्यापार मानना आवश्यक है जो फलोत्पत्ति पर्यन्त स्थायी हो। इसी को अपूर्व, पुण्य व कार्य कहते हैं। पाप के लिये भी ऐसे ही समझ लेना चाहिये। संसार में अधिकारी को यही जिज्ञासा होती है 'मेरा क्या कर्तव्य है, मैं क्या करूँ?' अतः कार्य के विना अधिकारसिद्धि नहीं। ऐसे ही साधन का साध्य से सम्बन्ध किसी व्यापार के द्वारा ही होता है। व्यापार का अर्थ है–साधन से उत्पन्न होकर साध्य को उत्पन्न करने वाला। जैसे पूर्वोक्त कार्य; वह स्वयं विहित क्रियाकलाप से उत्पन्न होता है तथा यागादिरूप क्रिया के फलरूप से कहे साध्य को उत्पन्न करता है। जब यह लौकिक स्थिति है तो शास्त्र में भी यही स्वीकार्य होगी क्योंकि मीमांसा में यह स्थापित किया गया है कि लौकिक शब्दार्थ ही यथासंभव शास्त्र में प्रयुक्त हैं। जब लौकिक अधिकारी व फल कार्यसापेक्ष हैं तो शास्त्र में कहे भी ऐसे ही मानने उचित हैं। मुक्ति शास्त्रबोधित फल है। उसे कर्मसाध्य न मानने से, कार्यपेक्ष न मानने से उसकी शास्त्रबोधित फलरूपता ही न रहेगी। स्वर्ग की तरह मोक्ष फल है ही। स्वर्गेच्छुक के लिये की गयी यागविधि से स्वर्ग तथा नियोग अर्थात् कार्य दोनों साध्य रूप से उपस्थित होते हैं – 'मुझे स्वर्ग प्राप्त करना चाहिये व उसके लिये नियोग (पुण्य) अर्जित करना चाहिये'। स्वर्गादिफलक कर्म करने में पुरुष तभी समर्थ होता है जब ये दोनों उपस्थित हों। जिन कर्मोंका कोई फल नहीं और अनिवार्यरूप से विहित हैं उन्हे करने के लिये उसे इतना ही बोध चाहिये कि 'यह करना मेरा कर्तव्य है'। यह 'कर्तव्य' कार्य या नियोग ही है। अतः नित्य या काम्य चाहे जो विधि हो, नियोग की अपेक्षा तो रहती ही है। वेदोक्त जो यागों का अपने फलों से सम्बंध है वह कार्य के अधीन है। अतः वेदोक्त फल मोक्ष का जो कोई भी साधन हो उसे कार्य की तो अपेक्षा होगी ही। कार्यपेक्ष साधन कर्म ही होता है। इसलिये कर्म ही मोक्षसाधन है।

केवल उक्त तर्कवश ही यह सिद्ध नहीं होता, शास्त्रीय वचन भी इसके लिये उपलब्ध है। 'आत्मा की ही लोक की उपासना करे' (बृ.१.४.१५), 'प्रज्ञा करे' (बृ.४.४.२१) आदि विधिघटित श्रौत पद स्पष्ट हैं। प्रथम प्रसंग में 'न हास्य कर्म क्षीयते' से मोक्ष फल प्रतीत होता है। द्वितीय प्रसंग में भी 'अमृतास्ते भवन्ति' (४.४.१४) या 'नैनं पाप्मा तरति–ब्राह्मणो भवति' (४.४.२३) आदि से मोक्ष फल प्रतीत हो जाता है। विधि से ज्ञान तो हो नहीं सकता। महर्षि वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में (३.१.५०) कहा है 'यथा खल्वर्था भवन्ति, य एषां स्वो भावः स्वो धर्म इति तथाभूताः प्रमाणेन प्रतिपद्यन्त इति; तथाभूतविषयकं हि प्रमाणम्।' ज्ञान–प्रमा–विषयानुसारी होता है। विधि से ज्ञान उत्पन्न होता नहीं। ज्ञेय और ज्ञानसाधन का सम्बंध ही उसका उत्पादक है। क्योंकि उपासना या प्रज्ञा की विधि है इसलिये ये ज्ञानात्मक नहीं हो सकती, कर्मात्मक ध्यानादिरूप ही होंगी। कर्म के फलों में न्यूनाधिक्य होता ही है। मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ फल मान लेना चाहिये। अतः फल साधन व अधिकारी की दृष्टि से ज्ञानकाण्ड व कर्मकाण्ड में कोई भेद नहीं। यह शंकाग्रंथ का अभिप्राय है ॥२०–२२॥

उक्त पक्ष का निषेध करते हैं–

ऐसा नहीं है। स्वर्ग व मोक्ष समान साधन वाले हैं यह बात सही नहीं है क्योंकि उनमें साध्यत्व असाध्यत्व ध्रुवत्व अध्रुवत्व आदि विलक्षणतायें हैं ॥२३॥

श्लोक में 'साध्यासाध्यध्रुवाध्रुव-वैलक्षण्यात्' ऐसा पाठ है। आनन्दपूर्णमुनि ने स्पष्ट ही यह प्रतीक लिया है व आनन्दगिरि स्वामी का 'साध्यासाध्यादिवैलक्षण्यादित्यन्वयः' यह वचन भी इसी पाठ के अनुकूल है। 'साध्यासाध्ये ध्रुवाध्रुवे' पाठ में समाहार द्वन्द्व मानकर वैषयिक सप्तमी से अर्थ करना होगा। अर्थ तो एक ही निकलेगा। स्वर्ग में साध्यत्व, अध्रुवत्व आदि है जब कि मोक्ष में असाध्यत्व, ध्रुवत्व आदि है। ध्रुव से नित्य समझना चाहिये। मोक्ष स्वरूप होने से साध्य

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥२४॥

नहीं है इसका वर्णन विस्तार से आयेगा। अतएव वह नित्य है। एवं च शास्त्रीयफलत्व हेतु से किया अनुमान भी साध्यत्व तथा अनित्यत्व इन दो उपाधियों से ग्रस्त होकर अनुमानाभास रह जाता है। शास्त्रीयफलत्वरूप हेतु मोक्ष में है पर मोक्ष में साध्यत्व और अनित्यत्व नहीं है अतः साध्यत्वादि हेतु का अव्यापक है। अनुमेय (साध्य) है कर्मसाध्यत्व, उसमें साध्यत्व व अनित्यत्व रहेगा ही अतएव स्वर्ग में शास्त्रीयफलत्व भी है, कर्मसाध्यत्व भी है और साध्यत्वादि भी है। 'यो यद्व्यापकत्वे सति यदव्यापकः स तत्रोपाधिः' नियम है। (यः=आर्द्रेन्धनम्। यद्=साध्य=धूमव्यापकत्वे। यत् = साधन=वह्नि-अव्यापकः। सः-आर्द्रेन्धनम्। तत्र = तत्साध्यकतद्धेतौ = धूमसाध्यकवह्निहेतौ।) प्रकृत में भी अनुमानस्वरूप है 'मोक्ष कर्मसाध्य है, शास्त्रीय फल होने के कारण, जैसे स्वर्ग।' यहाँ साध्य है कर्मसाध्यत्व तथा साधन है शास्त्रीयफलत्व। अनित्यत्वादि साध्य के व्यापक हैं क्योंकि जहाँ कर्मसाध्यता होगी वहाँ अनित्यतादि अवश्य होंगे। किन्तु वे साधन अर्थात् शास्त्रीयफलता के अव्यापक हैं क्योंकि यह नियम नहीं कि जहाँ शास्त्रीयफलता होगी वहाँ अनित्यत्वादि होंगे, मोक्ष शास्त्रीय फल है पर उसमें वे नहीं हैं। अतः शास्त्रीयफलता रूप हेतु यदि कर्मसाध्यता के लिये दिया जाये तो सोपाधिक होने से हेत्वाभास ही होगा।

एवं च साधन व फल का भेद होने पर अधिकारिभेद तो अर्थसिद्ध है ॥२३॥

इतना ही नहीं, पूर्वपक्षी का अनुमान शास्त्र से बाधित भी है यह समझाते हैं –

कल्याण का उपाय ज्ञान अन्य है और स्वर्गादि प्रिय फलों का उपाय अन्य। विभिन्न फलों वाले ये दोनों किसी व्यक्ति से क्रमशः ही सम्बद्ध हो सकते हैं। इन दोनों में से जो कल्याणसाधन ज्ञान को ग्रहण करता है उसे यह फल मिलता है कि उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। जो तो प्रियलाभके साधन को चुनता है वह उस नित्य फल से च्युत ही रहता है ॥२४॥

यह कठोपनिषत् का (१.२.१) वाक्य अनुमान के बाध के लिये उपस्थापित है। अधिक अच्छी वस्तु श्रेय व अधिक प्रिय प्रेय कहाती है। विवेकी के लिये तो श्रेय ही प्रेय होता है पर मूढ लोगों की दृष्टि विपरीत है। इन दोनों को पृथक् समझने वाला कभी युगपत् इनके उपायों को अपना नहीं सकता अतः इनका चयन करने वालों को प्राप्य अलग-अलग फल बताये। श्रेय यहाँ ज्ञान ही है क्योंकि आगे विद्या-अविद्या शब्दों से ही भेद यमाचार्य ने दिखाया है 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता' (१.२.४) तथा धर्माधर्मादि से परे उसी परतत्त्व का उपदेश दिया है। ऐसे ही क्योंकि 'प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते' (१.२.२) से वस्तुलाभादि प्रेय-चयन का प्रयोजन कहा है व आगे वही अविद्या से परामृष्ट है इसलिये दोनों युगपत् एक अधिकारी से सम्बद्ध नहीं होते, क्रम से भले ही हों। इस मंत्र में साधन, फल व अधिकारी तीनों का द्वैविध्य दर्शाया है अतः काण्डद्वय के साधनादि का अभेद इस से बाधित है यह स्पष्ट है। बाधित लिंग को चार प्रकार का बताया गया है– १) धर्मिग्राहकमानबाधित–जब घट की व्यापकता का अनुमान करते हैं तो पक्षग्राहक प्रत्यक्ष बाध कर देता है। २) साध्यग्राहकमानबाधित –पुरुषास्थि की शुचिता का अनुमान करने चलें तो शुचिताग्राहक मान अर्थात् आगम बाध कर देता है। ३) हेतुग्राहकमानबाधित–यदि यह प्रयोग हो : जल उष्ण है क्योंकि पृथ्वीस्पर्श से भिन्न स्पर्श वाला है, जैसे तेज; तो पृथ्वी का अनुष्णाशीतस्पर्श है उससे भिन्न स्पर्श जल का है यह जानना होगा तभी हेतुग्रहण होगा। वह करने जायेंगे तो स्पर्श शीत मिलेगा। अतः हेतु बाधित हो जाता है। ४) साध्यप्रतियोगिग्राहकमानबाधित– जैसे प्रकृत में साध्य है काण्डद्वय के अधिकारी आदि का अभेद, उसका प्रतियोगी भेद, उसका ग्राहक मान प्रकृत कठवाक्य, उससे बाधित अभेद अतः हेतु सदोष हो गया ॥२४॥

वादी के मत में एक अन्य श्रुति का विरोध दिखाते हैं –

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥२५॥
नन्वभ्युदयवत्साध्या मुक्तिरप्राप्तरूपतः। मैवं साध्याऽपि नो मुक्तिर्न त्वभ्युदयवद्यतः ॥२६॥

ब्राह्मण को चाहिये कि कर्मों से प्राप्य फल की परीक्षा कर उनके अनित्यत्व का निश्चय करे और वैराग्य प्राप्त करे। कर्म से नित्य की प्राप्ति नहीं होती। नित्य जानने के लिये उसे वेदज्ञ ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास योग्य उपहार लेकर जाना चाहिये ॥२५॥

यह मुण्डकोपनिषत् का (१.२.१२) मंत्र है। पारलौकिक फल भी इहलौकिक फलों की तरह नश्वर हैं। फलमात्र से वैराग्य होना ज्ञानाधिकारी के लिये आवश्यक है। वह वैराग्य भी विवेकपूर्वक होना चाहिये अन्यथा सर्वविषयक व दृढ नहीं होगा और ज्ञानोत्पत्ति में अधिक सहायता न कर पायेगा। विचार का आधार श्रुति ने स्वयं बता दिया – कर्म जो दिलाता है वह अनित्य ही होता है। इसके अनुकूल अन्य युक्तियाँ अपने अनुभव के अनुसार समझ कर इस विषय में दृढ निश्चय कर लेना चाहिये। वेद व वेदार्थ समझकर ही यह सही निर्णय हो सकता है यह बताने के लिये ब्राह्मणशब्द है। वेदन व विविदिषा में त्रैवर्णिक का समान अधिकार है। 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ. ४.४.२२) पर भाष्य है 'अविशिष्टो ह्यधिकारः त्रयाणां वर्णानाम्'। वेदपूर्वक न करना हो तब तो मनुष्यमात्र का अधिकार है यह सिद्धान्त है। जब फल से वैराग्य हो गया तो उनके साधनभूत कर्मों से वैराग्य तो स्वाभाविक ही है। नित्यलाभ का उपाय केवल परमात्मज्ञान है यह शास्त्र तथा शिष्ट समाज से विज्ञेय ही है। उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु को सद्गुरु के निकट जाना चाहिये। 'जिसे आचार्य प्राप्त हो जाता है वही पुरुष ज्ञान पाता है' (छा. ६.१४.२) अदि शास्त्र से निर्णीत है कि अपनी बुद्धि से ग्रंथादि पढ़कर सफल ज्ञान नहीं होता, गुरु से ही प्राप्त होता है। 'राजा देवता व गुरु के संमुख खाली हाथ न जाये' इस नियम के अनुसार अपनी सामर्थ्य तथा गुरु के योग्य कोई उपहार लेकर उनके संमुख जाना चाहिये। यथाविधि वेद जिसने पढ़ा है वही गुरु होने लायक है, अन्य नहीं। वेदज्ञ भी यदि कर्मनिष्ठ हो तो परा विद्या का सफल उपदेष्टा हो नहीं सकता इसलिये उसे ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। श्रोत्रियत्व तो सरलता से पता लग जाता है। ब्रह्मनिष्ठा समझने के लिये सावधानी पूर्वक संनिकट रहने से व्यवहार व तत्तत्समय के उद्गारों का विचार करने से उत्पन्न एक श्रद्धात्मक निश्चय चाहिये। क्योंकि 'यह ब्रह्मनिष्ठ है' ऐसी प्रमा का कोई निश्चित सरल साधन नहीं इसीलिये कहा जाता है कि सद्गुरु की प्राप्ति पुण्यातिशयवश ही होती है। जिस पर हमें वह श्रद्धा है वह यदि सचमुच ब्रह्मनिष्ठ है तभी हमारा सौभाग्य है। कर्म की अनित्यफलता तथा नित्यलाभार्थ गुरु द्वारा उपदिष्ट ज्ञान का प्रतिपादन करता हुआ प्रकृत मुंडकमंत्र भी काण्डद्वय के विषयादिभेद में प्रमाण है ॥२५॥

पूर्वानुमान सोपाधिकता व आगमविरोध से खण्डित होने पर वादिपक्ष मोक्ष को साध्य सिद्ध करने के लिये प्रयोग करता है। यदि मोक्ष साध्य होगा तो नित्य नहीं ही रहेगा। एवं च दोनों उपाधियाँ समाप्त हो जायेंगी यह उसकी अभिसंधि है। पूर्वार्द्ध से प्रश्न व उत्तरार्द्ध से उत्तर देते हैं–

अप्राप्त स्वरूप वाली होने से क्या मुक्ति उसी प्रकार साध्य है जिस प्रकार स्वर्ग? हमारे द्वारा स्वीकृत मुक्ति इस तरह साध्य भी नहीं है क्योंकि वह स्वर्ग की तरह नहीं है ॥२६॥

मोक्ष प्राप्तस्वरूप हो नहीं सकता अन्यथा उसके लिये साधना अपेक्षित न हो, अतः वह अप्राप्तस्वरूप है – उसका स्वरूप ऐसा है कि वह अभी मिला हुआ हमें नहीं है। स्वर्ग तो ऐसा है ही। अतः जैसे स्वर्ग साध्य है – साधन के अनुष्ठान से लभ्य है, वैसे मोक्ष होना चाहिये। यह प्रश्न का तात्पर्य है।

सिद्धान्ती कहता है कि अन्य मतों की मुक्ति के विषय में यह दोष लगे यह संभव है पर हमारे मत में स्वीकृत मुक्ति में तो नहीं लगेगा। मुक्ति अभी अप्राप्त है–इसी आधार पर उसमें साध्यता की शंका है। वह अप्राप्ति अन्यों की तरह हम वास्तविक नहीं मानते। अतः हेतु स्वरूपासिद्ध है। यदि अप्राप्ति को भ्रान्तिरूप मानने से हेतु का सद्भाव कहें तो दृष्टान्त बिगड़ जाता है क्योंकि वहां वास्तविक अप्राप्ति है। उसे जो साध्य कहा जा रहा है वह भी किस तात्पर्य से? जो हो नहीं

स्वतो मुक्तान्तरायस्य तमसो विद्यया हतेः। तत्कैवल्यमतः साध्यमुपचारात्प्रचक्षते ॥२७॥
चिकित्सयेव सम्प्राप्यं स्वास्थ्यं रोगार्दितस्य तु। आत्माविद्याहतेर्बोधात्तत्कैवल्यमवाप्यते ॥२८॥

तथा साधनादि से प्रादुर्भूत हो जाये उसे प्रायः साध्य कहते हैं। ऐसा साध्य हमारा मोक्ष नहीं क्योंकि वह तो है ही, अब भी प्राप्त ही है। आत्मा का स्वरूप होने से वह किसी चेष्टा से प्राप्य माना नहीं जाता। भ्रम से ही मोक्ष अप्राप्त है ऐसा हम समझते हैं अतः साध्यशब्द का प्रसिद्ध अर्थ उसमें घटता नहीं। हाथ ही में पड़ी किन्तु भूली हुई चूड़ी जैसे साध्य नहीं होती क्योंकि उसकी वास्तविक अप्राप्ति नहीं, वैसे मोक्ष भी साध्य नहीं ॥२६॥

यदि साध्यशब्द से केवल 'मुझे मोक्ष प्राप्त नहीं है' इस भ्रम का नाश ही विवक्षित है, तब तो उसके लिये किसी अनुमान आदि आयास की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह तो हम मानते ही हैं। मोक्ष परमपुरुषार्थ रूप से प्राप्त करने योग्य शास्त्रों में कहा जाता है किन्तु वह प्रयोग गौण है यह बताते हैं–

अकारण ही सदा मुक्त व वस्तुतः अप्रतिबद्ध आत्मा के अज्ञान का विद्याद्वारा नाश होने से वह मोक्ष हो जाता है अतः उसे साध्य केवल उपचार से कहा जाता है ॥२७॥

जैसे आकाश पोलरूप क्यों है? यह प्रश्न व्यर्थ है क्योंकि आकाश किसी कारण से वैसा नहीं, स्वरूप से ही वैसा है, इसी तरह आत्मा किसी कारण से नहीं स्वरूप से ही मुक्त है। इस मुक्ति का कोई वास्तविक प्रतिबंधक भी नहीं क्योंकि 'नेह नाना' आदि श्रुतियाँ वास्तविक अनात्ममात्र का प्रतिषेध करती हैं। तथा स्वयं का स्वयं प्रतिबंध किया जा नहीं सकता। प्रतिबंध कहते हैं वस्तुविषयक उल्टे व्यवहार को अर्थात् वस्तु है तो इस योग्य कि उसके प्रति व्यवहार किया जाये 'वस्तु है, वस्तु का ज्ञान है'; किन्तु उसके प्रतिं होने यह व्यवहार लगे 'वस्तु नहीं है, उसका ज्ञान नहीं है'। यह व्यवहार उत्पन्न करना प्रतिबन्ध है व जिस कारण से यह हो वह प्रतिबंधक है। विद्यारण्यस्वामी ने यही लक्षण पंचदशी (१.१३) में लिखा है

'प्रतिबन्धोऽस्तिभातीतिव्यवहारार्हवस्तुनि। तन्निरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनमुच्यते'॥

मुक्त आत्मा है और उसका भान है यह व्यवहार होना चाहिये किन्तु हो नहीं रहा अतः उसका प्रतिबंध मानना होगा। किन्तु प्रतिबंध और इसीलिये प्रतिबंधक वास्तविक सिद्ध शास्त्र व युक्ति से होता नहीं अतः वह भी अवास्तविक भ्रमरूप ही निश्चित होता है। अज्ञान ही वह प्रतिबंध है। अज्ञान अनादि होने से प्रतिबंधक की अपेक्षा नहीं। यदि भानाभाव प्रतिबंध मानें तो भावरूप अज्ञान उसका कारण होने से प्रतिबंधक है। अज्ञान की आवरणसामर्थ्य से भानाभाव उपपन्न है। वह अज्ञान ज्ञान से बाधित हो जाता है क्योंकि भ्रमरूप है। जैसे भूली वस्तु के लिये भी कह देते हैं 'मिल गयी' चाहे थी वह हमेशा अपने पास, ऐसे मोक्ष को पुरुषार्थ या साध्य कह देते हैं चाहे वह स्वरूप होने से है सदा प्राप्त। स्वर्गविषयक अभानादि व्यवहार है व साधनपरिपाक होने पर वह निवृत्त हो जाता है– यह समानता मोक्ष में देखकर उसे साध्य कह भर देते हैं। वस्तुतः वह साध्य या प्राप्य नहीं है अतः वास्तविकपक्ष में साध्यत्व उपाधि सुस्थिर है व अवास्तविकपक्ष में सिद्धान्ताभिमति होने से वादिप्रयास व्यर्थ है ॥२७॥

पूर्वपक्षी कहता है कि क्योंकि उसे पाने की इच्छा होती है इसलिये मोक्ष वस्तुतः साध्य मानना चाहिये। उदाहरण तो स्वर्ग है ही। जिसे पाने की इच्छा होती है वह वस्तुतः साध्य अर्थात् अप्राप्त होकर प्राप्य हो यह नियम नहीं यह बताने के लिये कहते हैं–

जैसे रोगपीडित को चिकित्सा से स्वस्थता प्राप्तव्य होती है वैसे ज्ञान द्वारा आत्मा के अज्ञान की निवृत्ति होने से वह कैवल्य प्राप्त हो जाता है ॥२८॥

'वह कैवल्य' अर्थात् सिद्धान्ती को अभिमत मोक्ष। मुक्ति है बोद्धा (जानने वाले) आत्मा का स्वरूप, पर मानो अज्ञान के कारण छिपी हुई है। अविद्यानिवृत्ति से वह छिपना समाप्त हो जाने से कह भर दिया जाता है कि वह प्राप्तव्य है।

ब्रह्म वा इदमित्यादिर्ब्रह्मैवेति तथा श्रुतिः। सुषुप्तनरवच्छ्रुत्या बोध्योऽतोऽयं न कार्यते ॥२९॥
किमत्र विधिना कार्यमनृतन्त्रत्वहेतुतः। श्रुतोऽप्यनर्थकोऽत्र स्याद्विध्यर्थासम्भवत्वतः ॥३०॥

स्वस्थता कहते हैं स्वरूपतः अवस्थान को, वह स्वाभाविक ही है पर रोग से अभिभूत हो जाती है। औषधसेवन से रोग हटता है, इतने मात्र से कह दिया जाता है कि स्वस्थता प्राप्त हो गयी। अतः दवा से अलभ्य स्वस्थता जैसे लभ्य कह दी जाती है वैसे प्रकृत में है। स्वस्थता पाना तो रोगी चाहते ही हैं। इसलिये जिसे पाना चाहते हैं वह वस्तुतः अप्राप्त होकर प्राप्य हुआ करे यह नियम नहीं, स्वस्थता अप्राप्त हुए बिना ही प्राप्य होती है।

मूलश्लोक में एक 'तु' शब्द है। उसका अभिप्राय आनन्दपूर्ण महाराज ने इस अनुमान से बताया है– मुक्ति साध्य नहीं है क्योंकि आत्मा से अभिन्न है; जैसे आत्मा आत्मा से अभिन्न है व साध्य नहीं है बल्कि सिद्धस्वरूप है ॥२८॥

मोक्ष आत्मरूप से सदा प्राप्त है इसमें प्रमाण देते हैं –

'यह सब पहले ब्रह्म ही था' (बृ. ३.४.१०) तथा 'ब्रह्म ही रहता हुआ ब्रह्म को प्राप्त करता है' (बृ. ४.४.६) इत्यादि श्रुति मोक्ष को नित्यसिद्ध सूचित करती है। अतः जैसे सोया व्यक्ति पास वालों द्वारा जगाया जाता है, उससे कुछ कराया नहीं जाता, वैसे वह मुमुक्षु श्रुति द्वारा बोधित कराया जाता है, श्रुति इससे ध्यानादि नहीं कराती ॥२९॥

क्योंकि पहले परमेश्वर से पृथक् कुछ था नहीं और क्योंकि जो था नहीं वह बाद में भी हो नहीं सकता अन्यथा बालू से तेल या गधे का सींग भी हो जाया करें, इसलिये अब भी परमेश्वर से पृथक् कुछ न होने से मुक्ति इस समय भी उपस्थित है यह बताकर प्रथम श्रुति प्रकृतोपयोगिनी है। द्वितीय में तो स्पष्ट कहा है कि बना वह ब्रह्म ही रहता है फिर भी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इस श्रुति के व्याख्यान में भाष्यकार ने वेदान्त का निश्चित अर्थ यही बताया है कि हम ब्रह्म ही हैं। उसकी प्राप्ति केवल औपचारिक है–'सर्वदा समैकरसमद्वैतमविक्रियमजमजरममरममृतमभयमात्मतत्त्वं ब्रह्मैव स्म इत्येष सर्ववेदान्तनिश्चितोऽर्थः इत्येवं प्रतिपद्यामहे, तस्माद् ब्रह्माप्येतीत्युपचारमात्रम्।' अतः मोक्षको साध्य मानना श्रुतिविरुद्ध है। इससे वादिप्रयोग आगमबाधित निश्चित हुआ।

स्वरूपात्मक नित्य मोक्ष होने का फल है कि उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। जैसे सोया व्यक्ति देवदत्तादि तो है ही, वह 'बनने' के लिये उसे केवल जगना पड़ता है, कोई कर्म नहीं करना पड़ता और उसके निकटस्थ लोग उसे जगाते ही हैं उसे कुछ अन्य करने को नहीं कहते जिससे वह देवदत्तादि 'बने', वैसे नित्यमुक्त आत्मा को श्रुति केवल ज्ञान कराती है 'तू ब्रह्म है', ब्रह्म 'होने' के लिये न उसे कुछ करने की ज़रूरत है और न ही श्रुति उसे कुछ करने को कहती है जिससे वह मुक्त (=ब्रह्म) होवे। मोक्षप्रसंग में ही नहीं, श्रुति सर्वत्र ही ज्ञापन करती है, कारक कहीं नहीं बनती यह वेदान्तसिद्धान्त तो यहाँ सूचित है ही ॥२९॥

वादी को शंका होती है कि शास्त्र में 'प्रज्ञा करे' (बृ. ४.४.२१) इत्यादि विधि मिलती है जिससे लगता है कि जिसका विधान किया है उस धात्वर्थरूप क्रिया से मोक्ष साध्य होगा क्योंकि सर्वत्र विधिस्थल में यह स्थिति है; उदाहरणार्थ स्वर्गार्थ विधि मिलती है 'यज्ञ करे', तो विधीयमान यज्ञक्रिया से स्वर्ग साध्य होता है।

इसका समाधान यही है कि क्योंकि ज्ञान पुरुष के (ज्ञाता के) अधीन नहीं है इसलिये पुरुषाधीन (कर्ता के अधीन) कर्म की तरह विधिविषय नहीं हो सकता। –

ज्ञान के विषय में विधि का कोई कार्य नहीं क्योंकि ज्ञान पुरुष के परतंत्र नहीं होता। ज्ञान के लिये विधि सुनी भी जाये तो निरर्थक है क्योंकि ज्ञानविषयक विध्यर्थ असंभव है ॥३०॥

विधि का कार्य है अधिकारी को प्रवृत्त करना – काम में लगाना। अधिकारी वहीं प्रवृत्त हो सकता है जहाँ उसका स्वातन्त्र्य हो। ज्ञान विषयाधीन है। ज्ञाता उसे करने, न करने या अन्यथा करने में स्वतंत्र नहीं। इसलिये ज्ञान के लिये विधि का कार्य नहीं, प्रयोजन नहीं। जो तो कहीं विधिप्रत्ययघटित पद सुने जाते हैं जैसे 'पश्येत्' (माध्यं० बृ० ४.२.२८) वहाँ

यच्चास्यासति कर्तव्ये नाधिकारो निरूप्यते। तदप्यशेषतश्चोद्यमूर्ध्वमुन्मूलयिष्यते ॥३१॥
पर आहाऽऽत्मनःस्वास्थ्यं श्रेयो यद्यभिवाञ्छसि। कर्मभ्य एव तत्सिध्येच्छ्रुतत्वात्कर्मणः श्रुतौ ॥३२॥

या प्रत्ययार्थ बदलना पड़ता है या धात्वर्थ। मीमांसक भी असंभव स्थल में यही गति स्वीकारता है। 'कृष्णलं श्रपयेत्' – सोने के दानों को पकावे – इस विधि में स्वर्णकण का पकना असंभव होने से धातु का प्रसिद्ध अर्थ छोड़ कर 'गर्म करना' इतना ही अर्थ ग्रहण किया जाता है। ऐसे ही कहीं धात्वर्थ ज्ञान के हेतु विवेकादि साधन धातुबोध्य मानकर विधि उपपन्न की जाती है जैसे 'पश्येत्' स्थल में। वहाँ विद्यारण्यस्वामी का वचन है 'तथा च श्रमाद्यनुष्ठानमिह विधीयत इति विवक्षितमित्यर्थः'। ध्यान रहे माध्यन्दिन में 'शान्तः' की जगह 'श्रान्तः' कहा है जिसका अभिप्राय है संसारदुःख से खिन्न होकर बाह्येन्द्रियव्यापारों से उपरामता। इसके लिये दीपिकाकार ने वचन दिखाया है 'निवृत्तेन्द्रियलौल्यस्तु श्रान्तः शान्तश्च कथ्यते'। कहीं विध्यर्थ को बदल कर अर्ह (योग्य) अर्थ समझा जाता है जैसे 'द्रष्टव्य' (बृ.२.४.५) में दर्शनार्ह अर्थ है। इस विषय का यथास्थान विस्तार प्राप्त होगा। समन्वयभाष्य में भी इस पर काफी ऊहापोह है व निर्णय दिया है कि वैषयिक प्रवृत्ति रोकना ही द्रष्टव्यादि वाक्यों का उद्देश्य है: 'तद्विषयं लिङादयः श्रूयमाणा अपि अनियोज्यविषयत्वात् कुण्ठीभवन्ति, उपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यवत ...... स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः। .... विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति।' (पृ. १२९-३०)।

अनुष्ठेयता का कथन विधि कहा गया है। ज्ञान अनुष्ठेय न होने से उसकी अनुष्ठेयता का कथन संभव ही नहीं। अतः विधि का अर्थ असंभव है। यदि शाब्दी भावना विध्यर्थ हो तो भी ज्ञान के विषय में विध्यर्थ संभव नहीं। पुरुषप्रवृत्ति के अनुकूल शब्दनिष्ठ व्यापार शाब्दी भावना है और ज्ञान में पुरुषप्रवृत्ति संभव नहीं कारण कि वह पुरुषतन्त्र नहीं। यदि गुरुमतानुसार केवल कार्यता को विध्यर्थ कहें तब भी असंभवता तुल्य है क्योंकि कृतिसाध्यत्व ही कार्यत्व है व ज्ञान कृतिसाध्य है नहीं। अतः आचार्य ने ठीक ही कहा 'विध्यर्थासंभवत्वतः'। एवं च विधिप्रमाणकत्व या विधेयत्वरूप हेतु स्वरूपासिद्ध है यह भाव है ॥३०॥

पूर्व में (श्लो. २६) मुक्ति को स्वर्गवत् साध्य शंकित किया था। उसका संक्षेप से निराकरण हुआ। आत्मस्वरूप होने से उत्पाद्य, प्राप्य, संस्कार्य या विकार्य न होने के कारण मोक्ष क्रियाफल नहीं हो सकता क्योंकि क्रिया के ये चार ही फल होते हैं। अतः ज्ञानकाण्ड के साधन अधिकारी आदि कर्मकाण्ड से साधनादि से सर्वथा विलक्षण हैं।

वादी ने यह भी कहा था कि कार्य के बिना अधिकारी नहीं मिलता (श्लो. २०)। इस प्रश्न का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं –

और जो यह कहा था कि कर्तव्य के बिना अधिकारी का निरूपण नहीं किया जा सकता; उस कथन का भी आगे खण्डन किया जायेगा ॥३१॥

सम्बन्धग्रंथ में श्लो. २२८ आदि द्वारा यह खण्डन किया जायेगा। यहाँ तक संक्षेप में विषयादि सिद्ध कर ज्ञानकाण्ड का आरंभ योग्य है यह सूचित किया। अब किंचिद् विस्तार से कर्म की मोक्षोपायता की समालोचना होगी॥३१॥

शास्त्रने कर्म को पुरुषार्थ का हेतु बताया है व मुक्ति पुरुषार्थ है ही अतः वह कर्म से ही लभ्य होनी चाहिये; यह शंका उठाते हैं –

अन्य वादी कहता है– यदि तुम (वेदान्ती) आत्मा का अपने स्वरूप से अवस्थान ही मोक्ष मानते हो तो इसमें हमें विरोध नहीं किन्तु हमारा कहना यह है कि वह स्वरूपावस्थिति कर्म से ही सिद्ध होगी क्योंकि श्रुति में कर्म को पुरुषार्थसाधन बताया है ॥३२॥

पहले जो शंका कर रहा था वह मोक्ष को ही स्वर्गादिवत् प्राप्य मान रहा था जब कि यह मोक्ष को स्वास्थ्यरूप मान रहा है जैसा श्लो. २८ में समझाया है। इसलिये इसे 'अन्य' कहा। एवं च फलविषयक विवाद यहाँ नहीं है। साधन के

श्रुतौ स्मृतौ च विहितं कर्मैव श्रूयते यतः। न च कर्मातिरेकेण मुक्त्यभ्युदयसाधनम् ॥३३॥
यत्नतो न्यायतः किञ्चित्पश्यामो वेदचक्षुषा। निषेधविधिमात्रत्वाद्वेदार्थस्येह सर्वतः ॥३४॥

विषय में ही विचार है।

'जब तक जिये तब तक अग्निहोत्र करे' (वाराहश्रौतसूत्र १.१.१.८६) आदि कुछ विधियों ने ऐसे कर्मों का विधान कर दिया है जिनका फल कहीं बताया नहीं गया है। इधर मोक्षरूप फल तो शास्त्र ने कहा है पर उसका उपायभूत कोई कर्म कहा नहीं है। अतः उक्त कर्मों को फल चाहिये व मोक्षफल को साधनभूत कर्म चाहिये इसलिये इनका परस्पर सम्बंध समझ लेना चाहिये अर्थात् ये कर्म मोक्षरूप फल देते हैं यह शास्त्र का भाव है। लोक में भी यदि किसी के तो घोड़े मर जायें व दूसरे का रथ जल जाये तो दोनों व्यक्ति आपसी निर्णय यही करते हैं कि एक के रथ में दूसरे के घोड़े जोत कर कार्य निकाल लिया जाये। यही नीति प्रकृत में लगायी जा रही है। इस पूर्वपक्ष में एक तो निश्चित मान्यता है कि साधनता कर्म में ही हो सकती है, ज्ञान में नहीं ॥३२॥

क्योंकि श्रुति व स्मृति में कर्म ही कर्तव्यरूप से सुना जाता है इसलिये वही पुरुषार्थ का साधन है। तथा मुक्तिरूप अभ्युदय का कर्म से अतिरिक्त कोई साधन वेदरूप चक्षु से न्यायानुसार यत्न-पूर्वक भी हमें नहीं दीखता। इसमें कारण यह है कि व्यवहारक्षेत्र का सारा ही वेदार्थ केवल विधि, निषेध और तच्छेष रूप ही है ॥३३-३४॥

अपनी मान्यता के लिये वादी ने प्रमाण उपस्थापित किया है। श्रुति 'तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके' (मुं. १.२.१) इत्यादि समझनी चाहिये। स्मृति से 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' (गी. ३.८) आदि वाक्य जानने चाहिये। जो तो कहीं-कहीं शास्त्र ने ज्ञान को उपायरूप से कहा है वह किसी अन्य अभिप्राय से है यह आगे वादी ही स्पष्ट करेगा। अपने वैदिकत्व का ख्यापन करने के लिये स्वयं को वेदचक्षु वाला कह रहा है। नैष्कर्म्यसिद्धि में (१.१५) भी कहा है

'यत्नतो वीक्षमाणोऽपि विधिं ज्ञानस्य न क्वचित्। श्रुतौ स्मृतौ वा पश्यामि विश्वासो नान्यतोस्ति नः ॥'

तथा इसका वहाँ उत्तर भी सटीक है (१.८७)

'यत्तूक्तं 'यत्नतो वीक्षमाणोपि' इति, तत्रापि भवत एवापराधः। कस्माद्? यतः
परीक्ष्य लोकानित्याद्या आत्मज्ञानविधायिनीः। नैष्कर्म्यप्रवणाः साध्वीः श्रुतीः किं न शृणोषि ताः' ॥

'न्यायानुसार' में न्याय से उपक्रमादि या श्रुति-लिंगादि समझने चाहिये। उपक्रमादि तात्पर्यनिर्णायक होते हैं। इनका पूर्व में (श्लो. १६) परिचय दिया जा चुका है। 'कौन किसका अंग है' इसका निर्धारण करने के लिये श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या – ये छह प्रमाण मीमांसाशास्त्र के तृतीय अध्याय में प्रतिपादित हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप भाट्टदीपिका के अनुसार इस प्रकार है –

श्रुति – अंगता के दो घटक होते हैं, उद्देश्यता और कृतिकारकता। इन में से किसी एक का प्रधानतः वाचक शब्द श्रुति कहा जाता है। अन्यत्र इसे निरपेक्ष रव कहा गया है। उसका अभिप्राय भी उसी शब्द से है जो अपनी शक्ति से ही अंगता का बोध करा दे, अन्य की जिसे इस कार्य के लिये अपेक्षा न हो। उदाहरणार्थ 'व्रीहिभिर्यजेत' में तृतीयाश्रुति से व्रीहि की अंगता अभिहित होती है।

लिंग – उपस्थित पद या पदार्थ की वह योग्यता जो अंगता के उक्त घटकों के वाचक पदों की कल्पना करा दे, लिंग कही जाती है। कहा भी है 'सामर्थ्यं सर्वभावानां लिंगमित्यभिधीयते'। उदाहरणार्थ 'दामि' पद मंत्र को छेदन का शेष बताता है अथवा 'स्रुवेणावद्यति' आदि में स्रुवा द्रवपदार्थ के अवदान का शेष है यह स्रुव की योग्यता से पता चलता है।

वाक्य –श्रुत पदों की ऐसी संनिधि जो उक्त घटकीभूत पदार्थों में से किसी एक की कल्पना कराये वाक्य है। साध्यत्वादि की वाचक द्वितीयादि श्रुति न होने पर भी उन शब्दों का समभिव्याहार, साथ-साथ उच्चारण, जो वस्तुतः अंग-

ननु श्रुतौ पुरोक्तानि वाक्यानि बहुशो मया। अविधायित्वतस्तेषां न न्याय्यं भवतोदितम् ॥३५॥

अंगी के वाचक हों, वाक्य कहलाता है। इसमें 'पर्णमयी जुहूर्भवति' दृष्टान्त है क्योंकि यहाँ सहोच्चारण से ही पर्ण (=पलाश) काष्ठ जुहू (स्रुवे) का अंग निश्चित होता है।

प्रकरण – संनिहित व फलवान् पदार्थ इतिकर्तव्यतारूप से ऐसे पदार्थ की अपेक्षा करे जिसकी अंगता ज्ञात न हो– इसे (उक्त अपेक्षा को) प्रकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ – राजसूय में अनेक पशु इष्टि व सोम याग प्रधानरूप से विहित हैं। उन्ही में अभिषेचनीयनामक एक सोमयाग भी विहित है जिसकी संनिधि में जुआ खेलना आदि कहा गया है। इनका प्रयोजन बताया नहीं। उधर राजसूय को अपने अंगों की आकांक्षा है ही। राजसूय सफल भी है। उभयाकांक्षा प्रकरण होता ही है। उक्त लक्षण में भी देवनादि (जुआ आदि) की अंगता – वे किसके अंग हैं – ज्ञात नहीं और संनिहित फलवान् राजसूय को आकांक्षा है 'मैं कैसे किया जाऊँ ?' अतः दोनों का अंगांगिभाव प्रकरण से निर्णीत हो जाता है।

स्थान – ऐसे वाक्यार्थों की संनिधि जिनका निराकांक्ष या अव्यापारात्मक होने से इतिकर्तव्यतारूप से संबंध होना योग्य नहीं, स्थान नामक प्रमाण हैं। इसे क्रम भी कहते हैं। इसका उदाहरण प्रसिद्ध यही है कि जिस क्रम से इष्टियाँ विहित हैं उसी क्रम से याज्या–अनुवाक्या मंत्र पठित हैं अतः वे मंत्र क्रमशः एक–एक इष्टि के अंग क्रम या स्थानरूप प्रमाण से हो जाते हैं।

समाख्या – यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं। उदाहरणार्थ 'हौत्र' इस यौगिक नाम से ही याज्यादि का पाठ होता का कार्य सिद्ध होता है। ऐसे ही दोहन निर्वाप आदि आध्वर्यव समाख्या से अध्वर्युकर्म तथा औद्गात्र समाख्या से आज्यस्तोत्र आदि उद्गाता के कर्म निश्चित हो जाते हैं।

इन प्रमाणों से विचार करने पर वादी को ज्ञान मोक्ष का अंग, शेष, है यह नहीं मालूम चलता यह उसका कथन है। बौद्धादि आगम यद्यपि मोक्षोपाय का कथन करते हैं तथापि उन पर आस्तिक प्रकृत वादी को श्रद्धा नहीं अतः अपना वेदचक्षुष्ट्व कहा। वैदिकों को यह शोभा भी नहीं देता कि अलौकिक विषय में वेदभिन्न प्रमाण उपस्थित करें। वेद में ज्ञान की उपायता न दीखने में वादी कारण भी कहता है – वेद विधि–आदिरूप ही हैं। 'व्यवहार' से शास्त्रीय व्यवस्था को पारमार्थिक दृष्टि से वेदान्ती चाहे जैसा माने, व्यवहारदृष्टि से तो उसे स्थिर न्यायों से ही चलना होगा यह ध्वनित किया। किं च 'व्यवहारे भट्टन्यायः' प्रसिद्धि भी स्मरण दिलायी। वेद की विध्यादिरूपता मीमांसासंमत है। वे मानते हैं कि शास्त्र का प्रयोजन है कि हम उसके अनुसार क्रियायें करें अतः जो कुछ भी वेद में कहा है उसका किसी क्रिया से ही कोई न कोई सम्बन्ध है। जो वाक्य साक्षात् क्रियाविधायक हैं उनमें तो कोई संदेह ही नहीं; जो साक्षात् क्रियाबोधक नहीं उनका भी क्रिया से सम्बंध किसी तरह मान लेना चाहिये यह मीमांसा की प्रक्रिया है। इसलिये वेदार्थ क्रिया ही हुआ उससे अतिरिक्त ज्ञानादि नहीं। अतः जब ज्ञान वेदार्थ ही नहीं तो वेदोक्त साधन वह क्योंकर होगा–यह वादी की अभिसंधि है ॥३३–३४॥

सिद्धान्ती का शिष्य पूछता है कि हमने पूर्व में (श्लो. २५) वेदवाक्य बताये थे जो किसी क्रिया का विधान न कर वास्तविकता का बोध ही कराते थे तब आप कैसे कहते हैं कि वेदचक्षु से अन्य साधन आपको नहीं दीखता? यह प्रश्न और पूर्ववादी द्वारा दिया इसका उत्तर बताते हैं–

पूर्व में मैंने श्रुति में स्थित (वस्तुबोधक) वाक्य कई बार सुनाये हैं (तब आपका अदर्शनकथन कैसे?) क्योंकि वे वाक्य विधायक नहीं फलतः स्वार्थ में तात्पर्य वाले नहीं इसलिये उनके आधार पर आप सिद्धान्ती ने जो कहा वह युक्तियुक्त नहीं ॥३५॥

वादी अपना आग्रह दुहरा रहा है कि वेद कर्म को ही पुरुषार्थोपाय बताता है। अविधायक वाक्यों का तात्पर्य तो संनिहित विधि आदि में है अतः उनका जो शब्दार्थ निकलता है वह यदि ज्ञान की साधनता हो तो भी तात्पर्यविषयीभूत न होने से वह प्रामाणिक न होगी यह भाव है ॥३५॥

आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद्विधिनेति च सूत्रणात्। विधिशेषतया तेषामेकवाक्यत्वसम्भवे ॥३६॥
वचसामक्रियार्थानां वाक्यभेदप्रकल्पना। गुर्वी स्यान्ननु कैवल्यं फलं नित्यमिहेष्यते ॥३७॥

वस्तुबोधक वाक्यों द्वारा जो कहा जा रहा है उसमें यदि उन वाक्यों का तात्पर्य नहीं तो उनका तात्पर्य है क्या? इस प्रश्न का पूर्ववादी ही उत्तर देता है–

'आम्नाय क्रियारूप अर्थ वाला है' तथा 'विधि से' इत्यादि (जैमिनि द्वारा) सूत्रित होने के कारण उन साक्षात् क्रिया-अबोधक वचनों की विधि के अंगरूप से (विधि से) एकवाक्यता के संभव रहते उन्हे विधि की अपेक्षा पृथग् वाक्य मानने में गौरव होगा। प्रश्न होता है कि मोक्षशास्त्र में कैवल्यरूप फल नित्य माना जाता है (यह क्रियासाध्य मोक्ष में कैसे संगत होगा)? ॥३६-३७॥

'म्ना अभ्यासे' (भ्वा. प. अनि.) धातु से 'आ-म्नायते अभ्यस्यते' व्युत्पत्ति से कर्म में घञ् (३.३.१९) प्रत्यय कर आम्नाय शब्द सिद्ध होता है जिसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है जिसका पूरी तरह अभ्यास किया जाये, दुहराया जाये। किन्तु यह रूढ है वेद में, वेद को ही आम्नाय कहते हैं। महर्षि जैमिनि ने सूत्र में (१.२.१) कहा है– 'क्योंकि आम्नाय का अर्थ – प्रयोजन या प्रतिपाद्य विषय – क्रिया है इसलिये जो वाक्य उस अर्थ वाले नहीं वे निष्प्रयोजन हैं अतः किसी नित्य अर्थ के प्रतिपादक नहीं।' यद्यपि यह पूर्वपक्षसूत्र है तथापि आम्नाय की क्रियार्थता के विषय में मीमांसक का उक्त मत ही है। पूर्वपक्षता इतने में ही है कि यहाँ उन वाक्योंको अर्थहीन कहा है जब कि सिद्धांती उन्हे सार्थक सिद्ध करेगा। किन्तु सिद्ध करेगा उन्हे भी क्रियार्थ ही। इस सूत्र के अनन्तर अन्य भी कई हेतु दिये हैं उक्त प्रकार के वचनों के आनर्थक्य के लिये। तब सिद्धान्तसूत्र (१.२.७) आया है–'विधि से एकवाक्यता होने के कारण विधियों की स्तुतिरूप प्रयोजन वाले होने से वे वाक्य भी नित्य अर्थ के बोधक अतः प्रमाण हैं।' जब एक प्रसंग (सार्थक पदकदम्ब) से अन्य प्रसंग की कोई आकांक्षा समर्पित होती हो तो दोनों प्रसंग आपस में सम्बंध वाले माने जाते हैं व उनका सम्बंध एकवाक्यता कहाता है। न्यायकोष में गदाधरी का वचन दिखाया है 'तदुत्थाप्याकांक्षानिवर्तकत्व-तन्निवर्तनीयाकांक्षोत्थापकत्वान्यतरवत्त्वम् एकवाक्यत्वम्।' मीमांसकों ने भी वाक्य का स्वरूप बताया है। जैमिनि कहते हैं 'एक अर्थ वाला पदसमूह एकवाक्य होता है यदि उसका विभाजन करने पर उसके पद साकांक्ष न हो जायें' (२.१.४६)। यहाँ अर्थ से प्रयोजन विवक्षित है। अतः अनेक वाक्य भी एक प्रयोजन वाले हों व उनका आपसी सम्बंध न होने पर वे साकांक्ष हो जाते हों तो उन्हे आपस में सम्बद्ध ही समझा जाता है व सम्बंध होता है एकवाक्यता। प्रकृत में विधि को प्रशंसा की आकांक्षा है व भूताद्यर्थक वाक्यों को क्रिया की अतः दोनों की एकवाक्यता मानी जा रही है। क्रियाअबोधक वाक्य या भूतार्थक होंगे अर्थात् कोई वस्तु जैसी है वैसा उसे बताते होंगे यथा 'आग ठंड की दवा है', या अभूतार्थक होंगे अर्थात् चीज़ जैसी नहीं है वैसा कहेंगे यथा 'दिन में आग की लौ नहीं दीखती'। ऐसे वाक्य क्रिया का विधान न करने से अनर्थक अतः अप्रमाण होने से बचने के लिये किसी क्रिया से सम्बद्ध होने की आकांक्षा रखते हैं और उधर क्रियाविधायक विधि को उस क्रिया की प्रशंसा करने वाले वाक्यों की आकांक्षा रहती है जिस प्रशंसावश लोगों को उस क्रिया में रुचि हो। एवं च विधिवाक्य तथा क्रिया-अबोधक वाक्य – जिन्हे अर्थवाद कहते हैं – परस्पर साकांक्ष हैं अतः आपस में सम्बद्ध हैं। उनका अलग-अलग प्रकरण नहीं है। इस प्रकार विधिसम्बद्ध होने से वे वाक्य उस विधि से प्रोक्त क्रिया रूप प्रयोजन से सार्थक होकर प्रमाण हैं। यह मीमांसा का मत है। यद्यपि यहाँ स्पष्ट ही अपनी मान्यताओं के आधार पर व्यवस्था बनायी है – क्योंकि अर्थवाद की क्रियाकांक्षा और विधि की स्तुति-आकांक्षा में प्रमाण तो कोई दिया नहीं है व अनेकों विधियाँ बिना अर्थवाद वाली माननी पड़ती ही हैं – तथापि अपने आग्रह के अनुसार ही पूर्ववादी शास्त्र का तात्पर्य निकालना चाह रहा है अतः ऐसा प्रतिपादन कर रहा है।

जैसी वस्तु है वैसा उसे बताने वाले को सिद्धार्थ-बोधक कहा जाता है। वस्तु जैसी है वैसा उसे जाने बिना बताने पर स्पष्ट ही बात अप्रामाण्कि होगी अतः उसे जान कर ही कहा जाना उचित है व यदि जानकर वेद में कहा गया है तो

कथं नित्यं भवेत्तन्नो यदि स्यात्कर्मणः फलम्। कर्मोत्थं न यतः किञ्चिद् ध्रुवं जगति वीक्ष्यते ॥३८॥

वह वाक्य ही अप्रामाणिक हो जायेगा क्योंकि एक तो वह पौरुषेय तथा अनित्यार्थक होगा व दूसरा वह प्रमाणान्तर पर आधारित होगा अतः अनुवाद ही होगा। इसी अभिप्राय से मीमांसक वेद को कार्यपरक मानता है।

मीमांसा में एक नीति प्रसिद्ध है 'एकवाक्यता संभव होने पर भिन्न वाक्यता नहीं माननी चाहिये' (श्लोकवा. ४. श्लो.९)। अतः सिद्धार्थकवाक्यों की विधिवाक्यों से उक्तविधया एकवाक्यता सम्भव होने पर सिद्धार्थक वाक्यों का विधि से पृथक् ही प्रकरण मानकर कर्मातिरिक्त ज्ञान को पुरुषार्थ – साधन स्वीकारना अनुचित है। इसमें दो वस्तुओं को साधन मानने से गौरव है जब कि एकवाक्यता मानें तो एक ही साधन होने से लाघव है। वेदान्तवाक्य तो संनिधि आदि से किसी तरह भी किसी क्रिया की स्तुति आदि करते प्रतीत होते नहीं अतः उन्हे विधि से एकवाक्यता वाला कैसे मानें? इसका उत्तर विद्यासागर आनन्दपूर्ण मुनीन्द्र ने मीमांसक की ओर से दिया है 'कर्मापेक्षितकर्त्रादिप्रकाशनद्वारा तेषामपि विधिनैकवाक्यत्वम्' अर्थात् कर्म के लिये कर्ता की ज़रूरत है ही, उसकी वेदांत प्रशंसा करते हैं यह मानना चाहिये क्योंकि वे जीव को – कर्ता को – ब्रह्म कह डालते हैं! इस प्रकार कर्ता द्वारा विधि से सम्बंध उनका भी स्थापित हो जाता है।

भट्ट कुमारिल ने आत्मज्ञान को द्विविध फल वाला माना है। – 'आत्मज्ञानं हि संयोगपृथक्त्वात् क्रत्वर्थपुरुषार्थत्वेन ज्ञायते तेन विना परलोकफलेषु कर्मसु प्रवृत्तिनिवृत्त्यसंभवात्। तथा ...कामवादलोकवादवचनविशेषैः जिज्ञासामननसहितात्म-ज्ञानकेवलावबोधपर्यन्तस्पष्टात्मतत्त्वज्ञानविधानापेक्षितवाक्यान्तरोपात्तद्विविधाभ्युदयनिःश्रेयसरूपफलसम्बन्धः।'

और ज्ञान के साथ कर्म का साहचर्य स्वीकारते हैं–

'न च ज्ञानविधानेन कर्मसम्बंधवारणम्। प्रत्याश्रमवर्णनियतानि नित्यनैमित्तिककर्माण्यपि पूर्वकृतदुरितक्षयार्थम् अकरण-निमित्तानागतप्रत्यवायपरिहारार्थं च कर्तव्यानि। न च तेषां भिन्नप्रयोजनत्वाद् भिन्नमार्गत्वाच्च बाधविकल्पपरस्पराङ्गाङ्गिभावाः संभवन्ति।' (तं.वा. १.३.२७; पृ. २८८)।

वेदान्तों को विधि का शेष अर्थात् वैध कर्म करने के लिये वेदान्तज्ञान अपेक्षित है यह बात सह्य न होने से अध्यात्मवादी ने प्रश्न किया: क्रियासाध्य मोक्ष नित्य क्योंकर होगा? अतः नित्य मोक्ष उसी प्रकार कर्मसाध्य नहीं हो सकता जिस प्रकार नित्य आत्मा कर्मसाध्य नहीं है ॥३६-३७॥

हमारा वह मोक्ष यदि कर्म का फल होगा तो नित्य कैसे होगा? क्योंकि संसार में कर्म से उत्पन्न कुछ भी नित्य नहीं दीखता ॥३८॥

वादी कह सकता था कि कर्मफल होते हुए मोक्ष नित्य हो जाये, हानि क्या है? इस का ही यहाँ उत्तर दिया है। संसार में खेती आदि कर्मों के फल अनित्य ही दीखते हैं और मीमांसक ने ही लोकवेदाधिकरण में वेद को लोकानुसारी बताया है अतः कृतक – कृतिसाध्य – को अनित्य मानना ही होगा। किं च स्वयं वेद ने बताया है जैसे संसार में कर्म से प्राप्त भोग क्षीण हो जाते हैं वैसे ही पुण्य से प्राप्त भोग भी क्षीण हो जाया करते हैं 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छां. ८.१.६)। अतः श्रुति से भी कर्मफल अनित्य सिद्ध होता है। जो तो कहीं कह दिया है कि 'आत्मलोक के उपासक का कर्म क्षीण नहीं होता' (बृ. १.४.१५), वह भी उक्त युक्ति सहकृत उक्त श्रुति से बाधित होने के कारण उपासना की स्तुतिमात्र है न कि कर्मफल की अक्षयता में प्रमाण।

किं च क्रियाफल को नित्य कहें तो उदाहरण ध्वंस का ही देंगे। मोक्ष अभाव नहीं भावरूप है अतः ध्वंस की तरह अनन्त नहीं होगा। वस्तुतस्तु नित्य का अर्थ है अनादि-अनन्त। ध्वंस तो सादि है। मोक्ष भी कर्मफल होने से सादि ही होगा। अतः अनन्तता के विषय में चाहे मतभेद हो, सादिता तो पूर्वपक्षी को मान्य ही है। एवं च मोक्ष अनित्य ही उसके मत में संभव है यह समझ लेना चाहिये ॥३८॥

तत्साधनेन चावश्यं भवितव्यमतो भवेत्। पारिशेष्यादिह ज्ञानं वेदान्ते तत्प्रसिद्धितः ॥३९॥
नैवं क्रियाभ्य एवास्या मुक्तेः सिद्धत्वहेतुतः। कुतः क्रियाभ्यः सिद्धिश्चेच्छृणु तद्भण्यते यतः ॥४०॥

यदि नित्य है तब तो मोक्ष को कोई हेतु चाहिये ही नहीं, फिर ज्ञान का क्या प्रयोजन? इसका उत्तर है कि यद्यपि मुक्ति नित्य है तथापि आवृत है, प्रतिबद्ध है। उस आवरण की निवृत्ति के लिये ज्ञान की अपेक्षा इतने से ही कही जाती है कि ज्ञान मोक्ष का हेतु है। ज्ञान को मोक्ष का जनक नहीं ज्ञापक हेतु जानना चाहिये। 'ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति रूप मोक्ष होता है' आदि प्रयोगों में 'ज्ञान से' उसे ज्ञापकहेतु ही न्यायरत्नावली में भी ब्रह्मानन्द स्वामी ने बताया है –

'तत्र ज्ञानस्याऽजनकत्वेन ज्ञानेनेति तृतीयाऽनुपपत्तिरिति चेत्? न; तृतीयायाः प्रकृते ज्ञापकहेतुबोधकत्वात्। एतत्स-मानार्थकश्रुतयोपि एवं व्याख्येयाः।' (पृ. ५)।

इसी अभिप्राय से ज्ञान की साधनता की प्रतिज्ञा करते है –

मोक्ष का साधन अवश्य होना चाहिये। अतः पारिशेष्य से मोक्ष में ज्ञान ही हेतु है क्योंकि उपनिषदों में ज्ञान की मोक्ष के हेतुरूप से प्रसिद्धि है ॥३९॥

'मोक्ष का' से 'मोक्ष के अनावरण का' यह अर्थ समझना चाहिये। सत्कार्यवाद में तो घटादि का भी कारण उसका अनावरण ही करता है यह घटभाष्य के विचार में स्पष्ट होगा। अतः कारण का कृत्य अनावरण ही हो इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं। यद्यपि शंका हो सकती है कि अनावृत मोक्ष तो सादि हो गया तथापि 'सविशेषणे हि वर्तमानौ विधिनिषेधौ सति विशेष्यबाधे विशेषणमुपसंक्रामतः' न्याय से अनावरण ही सादि होता है। अननुभूयमान किन्तु शास्त्रमें परम पुरुषार्थरूप से उपदिष्ट होने से ही उसका साधन मानना आवश्यक है।

'पारिशेष्य' का अभिप्राय टीकाकारने यों स्पष्ट किया है– प्रकृत कार्य के लिये जितने साधन प्रसक्त हैं, संभव समझे जा सकते हैं, उनमें से जितने अनिषिद्ध रह जायें, निषेध होने से बच जायें, वे ही उस कार्य के साधन निश्चित होते हैं क्योंकि प्रसक्तों से अतिरिक्त तो साधन हो ही नहीं सकते और वे ही प्रसक्तों में बचे हैं जो निषिद्ध होने से छूट गये हैं। बचे हुए को परिशेष कहते ही हैं। प्रकृत में मोक्ष के साधनरूप से ज्ञान व कर्म प्रसक्त थे। उनमें कर्म की साधनता का निषेध हो जाने पर ज्ञान ही साधन निश्चित हो गया। यह कह नहीं सकते कि ज्ञान प्रसक्त नहीं है; क्योंकि 'ब्रह्म का जानकार ब्रह्म होता है' (मुं. ३.२.९) 'उसे जानकर मृत्यु से परे हो जाता है' (कै.१.९) आदि श्रुति से वह अवश्य प्रसक्त है। यह उपनिषदों में ज्ञान की प्रसिद्धि कहकर सूचित किया।

विद्यासागरी के अनुसार अंत में 'वेदान्तेषु प्रसिद्धितः' पाठ है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं ॥३९॥

पारिशेष्य का आधार है क्रिया का मोक्ष के प्रति साधन न होना। पूर्वपक्षी मोक्षसाधन कर्म को सिद्ध कर पारिशेष्य का प्रयोग सदोष बताता है–

(जैसी सिद्धान्ती ने कही) इस प्रकार की स्थिति नहीं है; कारण यह है कि यह मोक्ष क्रियाओं से ही सिद्ध हो जाता है। यदि पूछो 'क्रिया से इसकी सिद्धि कैसे होती है?' तो सुनो, हम बताते हैं ॥४०॥

यद्यपि क्रियालभ्य मोक्ष का पक्ष पूर्व में निराकृत है तथापि अन्य संभावनायें उठा कर उनका भी निराकरण करने के लिये उपक्रम है। प्रथम ऐकभविक मत से पूर्वपक्ष उठाकर उसकी परीक्षा करेंगे।

मूल में 'अस्या' की जगह विद्यासागरी में 'स्यात्' पाठ है। 'यतः' उत्तरान्वयी है। अथवा 'यतो भण्यतेऽतः शृणु' ऐसे यहीं उसे समझ लेना चाहिये। 'क्रियाभ्यः' के बाद 'कृताभ्योऽकृताभ्यश्च' इतना शेष जानना उचित है क्योंकि कुछ क्रियाओं के अननुष्ठान को भी मोक्ष के प्रति कारण कहा जायेगा ॥४०॥

निषिद्धकाम्ययोस्त्यागात्कर्मणोर्नित्यकर्मणः। करणात्प्रत्यवायस्य हतेर्भोगेन च क्षयात् ॥४१॥
शरीरारम्भकस्यैवं मुक्तिः सिद्धाऽन्तरात्मनः। विनाऽप्यैकात्म्यसम्बोधात्कर्मणैवोक्तवर्त्मना ॥४२॥
ननु चाऽऽत्मावबोधस्य निचाय्येति फलं श्रुतम्। ब्रह्म वेदेति च तथा नैवं तस्यार्थवादतः ॥४३॥

निषिद्ध तथा काम्य कर्मों को न करने से, नित्यकर्मों को करने के कारण प्रत्यवाय न रह जाने से तथा शरीर को उत्पन्न करने वाले कर्मों की भोग से समाप्ति हो जाने से अन्तरात्मा का मोक्ष सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार उक्त विधान से, आत्मा की अद्वितीयता के साक्षात्कार के बिना भी केवल कर्म से (क्योंकि मोक्ष सिद्ध है अतः मोक्ष की ज्ञानैकसाधनतापक्ष गलत है) ॥४१-४२॥

ऐकभविकमत यह है कि पूर्वजन्म में एकत्र किये सभी कर्म मिल कर इस जन्म के कारण बनते हैं। अर्थात् संचित कर्म नहीं हैं। फलतः इस जन्म में यदि ऐसा कर्म न हो जो जन्मान्तरकारी है, तो हेतु न होने से शरीर न होगा और यों आत्यंतिक देह-समाप्ति के कारण मोक्ष अयत्नलभ्य ही हो जायेगा क्योंकि देह ही बंधन का निमित्त है। दुःखानुभूति देह रहते ही होती है। अतः इस स्थिति के लिये वह उपाय सुझाता है – निषिद्ध कर्म न करो जिससे आगे भोगने योग्य कोई पाप न उत्पन्न हो; काम्य कर्म न करो जिससे वैसा कोई पुण्य न उत्पन्न हो; नित्यनैमित्तिक कर्म करते रहो जिससे प्रत्यवाय न हो; इतना करने से भाविभोग्य कर्म कोई नहीं होगा। इस शरीर को उत्पन्न करने वाला प्रारब्ध तो भोग देकर समाप्त हो ही जायेगा। बस, मृत्यु हुई और मोक्ष हुआ। जब अगले जन्म का कारणीभूत कर्म इकट्ठा ही हुआ नहीं तो जन्म होगा क्यों तथा जन्म नहीं होगा तो आत्मा अपने स्वरूपमात्र से बना रहेगा, यही मोक्ष है। अतः इस प्रक्रिया में आत्मज्ञान का कोई विनियोग नहीं, कर्मों के अनुसार ही मोक्ष हो जाता है। नित्यादि न करने से जो दोष लगता है वह प्रत्यवाय कहा जाता है। जिन कर्मों का कोई फल बताया नहीं पर अवश्य कर्तव्यरूप से कहे हैं वे नित्यशब्द से समझे जाते हैं। आचार्यों ने गीताभाष्यमें भी कहा है 'नित्यं शास्त्रोपदिष्टं यो यस्मिन् कर्मण्यधिकृतः फलाय चाश्रुतं तन्नियतं कर्म' (३.८)।

'बिना भी' का तात्पर्य है 'बिना ही'। अथवा वादी तुष्यतुन्याय से पक्षतः ज्ञानसाधनता का निराकरण न करते हुए कर्म की साधनता सिद्ध कर पारिशेष्य का निराकरण कर रहा है यह समझना चाहिये। 'अपि' और 'एव' को भिन्नक्रम लगा कर यह अन्वय है 'सम्बोधाद्विनैव कर्मणाऽपि'। एक बार पारिशेष्य का बल हटा तो वादी कर्म को क्लृप्तसाधन कह कर कल्प्यसाधन ज्ञान की साधनता में गौरवादि दिखायेगा और इस प्रकार अपना इष्ट सिद्ध कर लेगा।

प्रकृत पक्ष में मोक्ष को देह के असंबंध से नियत माना है, अतः ध्वंसवत् अनन्तत्व और स्वास्थ्यवत् स्वरूपमात्रत्व भी रक्षित हो जाता है। इससे पूर्व में (श्लो. ३२) वादीकृत अभ्युपगम यथावत् रह गया। 'उक्त विधान' से दिखाया कि सिद्धान्ती जो यह कहता है।–

'साध्यसाधनभावोऽयं वचनात् पारलौकिकः। नाश्रौषं मोक्षदं कर्म श्रुतेर्वक्त्रात् कथंचन'॥ नै.सि.१.२७॥

उसका कोई औचित्य नहीं, क्योंकि यहाँ बतायी प्रक्रिया में किसी कर्मविशेष को साधन नहीं कहा बल्कि भोक्तव्य कर्म के अभाव के संपादन को ही साधन कहा है जो तर्क से सिद्ध होने से श्रौत विधि की अपेक्षा नहीं रखता। जैसे ब्रह्महत्या न करने से ब्रह्महत्या का फल नहीं मिलता या ज्योतिष्टोम न करने से उसका फल नहीं मिलता ऐसा कोई वेदवाक्य न होने पर भी सिद्धान्ती को स्वीकार्य है, वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये ॥४१-४२॥

वेदान्तसिद्धान्ती की ओर से प्रश्न उठाया जाता है कि जब शास्त्र ज्ञान को मुखतः मोक्ष का हेतु कह रहा है तो उक्त तर्करीति से ज्ञान छोड़कर कर्म मोक्षोपाय क्यों माना जाये? श्रुतहानि व अश्रुतकल्पना रूप दोषद्वय कर्म से मोक्ष मानने पर होंगे। –

'जानकर' तथा 'परमात्मा को जानता है' इत्यादि स्थलों पर आत्मज्ञान का फल सुना गया है (तब उसे छोड़ कर्म की साधनता कैसे)? ऐसी बात नहीं है क्योंकि वे वचन अर्थवाद हैं ॥४३॥

फलोक्तेरर्थवादत्वं द्रव्यसंस्कारकर्मसु। सर्वत्र दर्शनाच्छास्त्रे पर्णमय्यां फलोक्तिवत् ॥४४॥

'आत्मा को जानकर मृत्यु के मुख (में पड़ने) से बच जाता है' (कठ.१.३.१५), 'जो उस परमात्मा को जानता है वह परमात्मा ही होता है' (मुं. ३.२.९)–इन श्रुतियों का संकेत हैं। आदिशब्द से 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति (श्वे. ३.८), 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः' (श्वे. १.११), 'एकत्वमनुपश्यतः' (ई. ७), 'प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते' (के, २.४.), 'परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते' (प्र. ४.१०), 'संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद' (मां. १२), 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै. २.१), 'स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्य···· अमृतः समभवत्' (ऐ. २.४.६), 'तरति शोकमात्मविद्' (छां. ७.३), 'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' (बृ.१.४.१०), 'विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' (३.४.५), 'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च' (गी. १५.२०) आदि सर्ववेदान्तप्रसिद्ध वाक्यों को समझ लेना चाहिये।

पूर्ववादी कहता है कि इन वाक्यों का तात्पर्य जैसा सिद्धान्ती समझता है वैसा है नहीं, कारण कि वे अर्थवाद होने से अपने यथाश्रुत अर्थ में प्रमाण नहीं हैं ॥४३॥

ज्ञान को मोक्ष का कारण बताती श्रुति उपलब्ध होते हुए भी अपने यथाश्रुत अर्थ में तात्पर्यहीन होने से उस विषय में प्रमाण नहीं यह बात कैसे है? इस शंका को हटाने के लिये वादी पूर्वमीमांसा में स्थित न्याय दिखाते हुए कहता है –

जैसे पर्णमयी के विषय में किया गया फलकथन (अर्थवाद है, उसी तरह) सर्वत्र द्रव्य, संस्कार व कर्म के विषय में किया फलकथन अर्थवाद होता है–यह शास्त्र में मर्यादा देखी गयी है अतः (आत्मज्ञान के विषय में किया फलकथन भी अर्थवाद ही है) ॥४४॥

मीमांसादर्शन में (४.३.१) विचार आया है: शास्त्र में कहीं द्रव्य को सफल बताया है, कहीं संस्कार को व कहीं कर्म को। क्या वे वचन फलबोधक हैं या केवल प्रशंसादि के लिये हैं– यह संशय होता है। लोक में 'जिसका पथ्य भोजन होता है वह नीरोग होता है' आदिवाक्य से पथ्यभोजन का फल नीरोगता है यह प्रामाणिक ज्ञान होता पाया जाता है अतः शास्त्र में भी जब कहा है 'जिसकी जुहू पर्णमयी (पलाशकाष्ठ से निर्मित) होती है वह अपनी निन्दा नहीं सुनता' (तै.सं. ३.५.७) तो पर्णता को ही सफल मानना उचित प्रतीत होता है–यह पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त है कि द्रव्यादि के साफल्य का प्रतिपादन अर्थवाद ही है। न्यायमालाविस्तर में 'वर्तमानत्वनिर्देशाद्' हेतु दिया है। अर्थात् यदि 'पर्णमयीं कुर्याद्'– पर्णमयी बनावे – आदि विधिघटित कथन होता तो फलोक्ति मानते। यहाँ तो 'होती है ···· नहीं सुनता' यों केवल वर्तमानार्थक लकार का प्रयोग है अतः पर्णमयता का पृथग् विधान न होने से उसके साफल्य का प्रश्न ही नहीं। विधिप्राप्त जुहू तो है जो क्रतु के लिये आवश्यक है। वाक्यप्रमाण से पर्णमयता जुहू से सम्बद्ध होकर क्रतु का उपकार ही करेगी, खुद कोई फल न दे पायेगी। क्रतु के लिये जो जुहू बनानी है वह पलाशकाष्ठ की बनेगी – इतना ही उक्त वाक्य का अर्थ हुआ। तब 'निंदा नहीं सुनता' आदि का क्या प्रयोजन? पर्णमयी जुहू बनाने में प्रेरणा ही प्रयोजन है। लौकिक स्थल में तो प्रमाणान्तर की विषयता होने से जब वचनव्यक्ति प्रमाणविरुद्ध बात न कहे तब यथाश्रुत में तात्पर्य रखकर द्रव्यादि को सफल बताये यह संगत है किन्तु शास्त्र को तो मानान्तर-अविषय बताना है अतः स्पष्ट ही कहना होगा।

पर्णमयी वाक्य द्रव्य में फलश्रुति का दृष्टान्त है। संस्कार में फलश्रुति है–'जो अंजन लगाता है वह दुष्मन की आँख का वर्जन करता है' (तै.सं. ६.१.१) तथा कर्म में फलश्रुति है 'जो प्रयाज व अनुयाज किये जाते हैं वह यज्ञ का बख़्तर बनाया जाता है' (तै.सं. २.६.१)। सर्वत्र ऐसे स्थलों में द्रव्यादि की क्रत्वर्थता का निश्चय किया गया है। क्रत्वर्थ का भाट्टदीपिका में स्वरूप यह कहा है 'स्वयंप्रार्थितभिन्नवृत्त्युद्देश्यतानिरूपितविधेयताकत्वम्'। अर्थात् जब विधेय का उद्देश्य वह होता है जो स्वयं हमारा प्रार्थित नहीं, केवल हमारे प्रार्थित की प्राप्ति में अनिवार्य है, तब उस विधेय को क्रत्वर्थ (यज्ञार्थ) कहा जाता है। माधवाचार्य ने कहा है 'क्रतुस्वरूपपौष्कल्यायैव यो विधीयते स क्रत्वर्थः' (४.१.२)। उदाहरण है प्रयाजादि। प्रयाजादि स्वयं कोई फल देते नहीं कि उन्हे करना पुरुष को रुचिकर हो। हाँ दर्शपूर्णमास क्रतु अवश्य उन से 'पुष्कल' बनता है अर्थात् फलोत्पादन में समर्थ बनता है। अतः प्रयाजादि क्रत्वर्थ हैं। इनसे भिन्न हैं पुरुषार्थ। उनका सीधा

आत्मनः कर्मशेषत्वात्तद्धियः कर्मशेषता। विधिं त्वयाऽनिच्छताऽपि ह्यभ्युपेयाऽर्थवादता ॥४५॥

लक्षण है 'पुरुषप्रीतये विधीयमानः'– जिसका विधान इसलिये हो कि उनसे पुरुष को कोई फल मिले। उन्हे न करने से क्रतु को कोई फर्क नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ स्वयं दर्शपूर्णमास पुरुषार्थ है क्योंकि उससे पुरुष को स्वर्ग मिलता है व उसे न करने से किसी क्रतु को कोई अतंर नहीं पड़ता तथा करने से भी किसी क्रतु में पौष्कल्य नहीं आता। भाट्टदीपिका ने नव्यों की रुचि के अनुसार इसी बात को यों कहा है–'स्वयंप्रार्थितवृत्त्युद्देश्यतानिरूपितविधेयताकत्वं पुरुषार्थत्वम्।' स्वयं प्रार्थित का अभिप्राय भी स्पष्ट किया है– 'शास्त्राधीनेष्टसाधनताज्ञानाऽजन्येच्छाविषयत्वम्' अर्थात् वह इच्छित वस्तु जिसे चाहने के लिये शास्त्र आवश्यक न हो।

निष्कर्ष यह हुआ कि जैसे उक्त स्थलों पर पर्णता आदि जुहू आदि के अंग होकर क्रत्वर्थ ही हुए, निंदा-अश्रवण आदि फल के दायक नहीं बन पाये वैसे प्रोक्षण आदि की तरह कर्मांग होने से आत्मज्ञान भी क्रत्वर्थ है, उसके विषय में किया फलवचन अर्थवाद ही है ॥४४॥

सिद्धान्ती शंका करता है कि पर्णता आदि कर्म से सम्बद्ध जुहू आदि द्वारा कर्म के अंग बन जाते हैं अतः उनमें कहा फल प्रशंसामात्र भले ही हो, आत्मज्ञान तो कर्मांग है नहीं क्योंकि उसे जुहू आदि की तरह कोई द्वार उपलब्ध नहीं है, अतः उसका फल यथावत् ही होना चाहिये। यह कह नहीं सकते कि बिना किसी द्वार के ही आत्मज्ञान क्रतुसे सम्बद्ध हो जायेगा क्योंकि जैसे पुरोडाशादि क्रतु के निर्वर्तक होने से द्वाराकांक्षी नहीं होते वैसे आत्मज्ञान क्रतुनिर्वर्तक है नहीं कि द्वार के विना ही कर्मांग बन जाये। अतः अन्यत्र संस्कारादि चाहे क्रत्वर्थ हों, आत्मज्ञान क्रत्वर्थ नहीं हो सकता, पुरुषार्थ ही होगा। इस शंका का निराकरण करने के लिये वादी कहता है –

क्योंकि आत्मा कर्म का अंग है इसलिये उसका ज्ञान भी कर्म का अंग ही है। विधि न मानते हुए भी तुम्हे (सिद्धान्ती को) फलश्रुति को अर्थवाद मानना ही पड़ेगा ॥४५॥

कर्ता-रूप आत्मा कर्म का अंग है। मीमांसक कर्म को ही प्रमुख मानता है अतः देवतादि की तरह कर्ता भी कर्म का अंग ही रहता है। आत्मज्ञान से उस आत्मा का संस्कार हो जाता है। एवंच जैसे प्रोक्षण व्रीहि द्वारा कर्मांग बनता है वैसे ज्ञान आत्मद्वारा कर्मांग हो जाता है। आगे आत्मा भी शरीरद्वारा ही यज्ञांग है। भट्टाचार्य ने आत्मवाद के आरंभ में कहा है।

'साक्षाद्यद्यपि संबन्धो नात्मनो यज्ञसाधनैः। तथापि लक्षणावृत्त्या शरीरद्वारको भवेत् ॥'

यज्ञसाधनवत् यज्ञ से भी तद्द्वारकता स्पष्ट ही है। आत्मज्ञान शास्त्रोक्त है; उसका कोई फल हो नहीं सकता क्योंकि ज्ञानमात्र का कहीं फल होता नहीं व पूर्वोक्तन्याय से ज्ञानका शास्त्रोक्त फल स्तुतिमात्र है; अतः उसे क्रत्वर्थ ही होना चाहिये। एवं च आत्मज्ञान करके आत्मा यज्ञों में प्रवृत्त हो – यह शास्त्राभिप्राय है।

प्रश्न उठ सकता है कि 'वायुर्वै' इत्यादि (तै.सं. २.१.१) प्रसिद्ध अर्थवाद किसी विधि के शेष (अंग) देखे गये हैं; आत्मज्ञान विधिशेष नहीं तो अर्थवाद क्यों? उत्तर है कि स्पष्ट विधिशेषता प्रतीत न होने से सिद्धान्ती उसे चाहे विधिशेष मानने की इच्छा न करे, उक्त प्रकार से ज्ञान की कर्मांगता अनिवार्य होने से उसे विधिशेष तो मानना ही होगा। अतः अर्थवादता सुस्थ है। 'अनिच्छता' से वादी ने कटाक्ष किया है कि सिद्धान्ती की इच्छामात्र है कि ज्ञान विधिशेष न हो, वस्तुतः वह विधिशेष है ही।

विद्यासागरी में शंका उठायी है कि विधेय द्रव्यादि की फलश्रुति अर्थवाद है यही जैमिनि ने निर्णीत किया है, ज्ञान विधेय है नहीं तो उसमें जैमिनि का न्याय कैसे प्रवृत्त होगा? इसका समाधान दिया है कि फलश्रुति की अर्थवादता के लिये इतना ही आवश्यक है कि जिसका फल बताया है वह परार्थ हो, अन्यशेष हो–'पारार्थ्यमात्रं प्रयोजकम्'। अतः विधेयता का होना-न होना अकिंचित्कर है। ज्ञान का पारार्थ्य इसलिये है कि वह गुण है। पूर्वमीमांसा के तृतीयाध्याय के आरंभ में (३.१.३) ही स्थिर कर दिया है कि द्रव्य गुण और संस्कार अवश्य ही याग के शेष होते हैं। पुरुष (कर्ता) की शेषता का भी उसी अधिकरण में निर्णय है। पुरुष सीधे ही क्रतु से सम्बद्ध हो जाता है, ज्ञान पुरुष के द्वारा। अतः उत्तरार्द्ध का

नैवं तद्धेतुतद्रूपविरोधादितरेतरम्। मुक्त्यभ्युदययोस्तस्मान्न सम्यग्भवतोदितम् ॥४६॥
स्वरूपेऽवस्थितिर्मुक्तिरात्मनो भवतोच्यते। काम्यादिवर्जनादिभ्यस्तस्याः सिद्धिश्च वर्ण्यते ॥४७॥
तत्राऽऽत्मा किं स्वरूपे प्राङ्न स्थितो येन तत्स्थितौ। हेतुं व्यपेक्षते यत्नात्स्वरूपं हि न तद्भवेत् ॥४८॥
स्वतोऽनवस्थितो यत्र हेतुना स्थाप्यते बलात्। अथावस्थित एवायं किमर्थं हेतुमार्गणम् ॥४९॥

अभिप्राय है कि विधि न हो तो भी ज्ञान को अन्यशेष होने से स्वयं अफल होना ही पड़ेगा जिससे ज्ञान का फल अर्थवाद ही रह जायेगा। वस्तुतः वादी तो विधि मानेगा ही ॥४५॥

ऐकभविक मत से जो यह सिद्ध किया गया कि मोक्ष कर्म से साध्य है उसका अब निराकरण करते है–

(जैसी तुमने कही है) ऐसी बात नहीं है। क्योंकि मोक्ष व स्वर्ग के हेतु व रूप का परस्पर विरोध है इसलिये उन दोनों के विषय में जो आपने कहा वह ठीक नहीं है ॥४६॥

मोक्ष का हेतु है विवेकपूर्वक तत्त्वसाक्षात्कार जबकि स्वर्ग का हेतु है अविवेकपूर्वक अनुष्ठित कर्म। इनका परस्पर विरोध चिर परिचित है। ईशभाष्य में कहा है 'ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम्?' (२)। विवेक से वैराग्यादि व अविवेक से रागादि भी समझ लेने चाहिये। इनका भी परस्पर विरोध स्पष्ट है। अतः अन्यतर के सेवन से दोनों फल मिलना असम्भव है। हेतु में विरोध का अर्थ है विरुद्धकार्यजनकत्व।

वादी के मत में तो मोक्ष का हेतु वही है जो स्वर्ग का हेतु है, अतः जब हेतु भिन्न ही नहीं तो विरुद्ध होने का प्रसंग ही नहीं। इसीलिये रूप-विरोध का उपन्यास किया। रूप अर्थात् नित्यत्व व अनित्यत्व। मोक्ष नित्य और स्वर्ग अनित्य है। विरुद्ध रूप वालों के हेतुओं का विरोध तो अर्थसिद्ध है। यद्यपि नित्य का हेतु कहना अनुचित है तथापि उसकी अभिव्यक्ति आदि का सहेतुक होना उचित होने से उसे ही यहाँ कहा समझना चाहिये। किन्तु अभिव्यक्ति नित्य न होने से उसके कारण में विरोध नहीं भी हो सकता है इसलिये मोक्षहेतु से मिथ्या अविद्या-निवृत्ति ही विवक्षित है क्योंकि तभी हेतुकथन और नित्यत्व का विरोधोपशमन संभव है। अथवा रूप से स्वरूप समझना चाहिये। मोक्ष बंधनिवृत्त्यात्मा है जब कि स्वर्ग बन्धात्मा ही है।

वस्तुतस्तु वादी ने मोक्ष का जो हेतु व जो स्वरूप माना है उनमें परस्पर विरोध होने से उसका कथन असंगत है। यह अर्थ अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है ॥४६॥

वादी के कथन की असंगतता बताने से सूचित किया कि उसका पक्ष विचारयोग्य नहीं। अन्य प्रकार से भी इस बात को स्पष्ट करने के लिये उसके मत का अनुवाद करते हैं–

आप स्वरूप में अवस्थिति को आत्मा की मुक्ति कहते हैं और साथ ही यह वर्णन करते हैं कि काम्य आदि कर्मों को न करने आदि से उसकी सिद्धि होती है ॥४७॥

पूर्व में (श्लो. ३२) वादी ने स्वास्थ्य को मोक्ष स्वीकार लिया था। पुनः (श्लो. ४२) उसे देह-असम्बन्ध-निबन्धन मानकर उसे व्यक्त किया था। काम्य आदि में आदि से निषिद्ध जानने चाहिये व न करने आदि में आदि से नित्यों को करना समझना चाहिये ॥४७॥

अब इस मत में दोष दिखाने के लिये विकल्प उठाते हैं –

इस विषय में यह बताओ कि क्या हेतु के अनुष्ठान से पूर्व आत्मा स्वरूप में स्थित नहीं है जिससे उसमें स्थित होने के लिये यत्नतः हेतु की अपेक्षा रखता है? स्वतः जहाँ स्थित न हो किन्तु हेतु के अनुष्ठान से जहाँ बलपूर्वक स्थापित किया जाये, वह स्वरूप ही नहीं होता।

यदि कहो कि (हेतु के अनुष्ठान से पहले भी) यह आत्मा स्वरूप में अवस्थित ही है, तब बताओ कि हेतु ढूँढते क्यों हो? ॥४८-४९॥

स्वरूपस्थिति का अर्थ है अविकृत रहना। काम्यादि से देहसम्बंधरूप विकार प्राप्त है जो हटे तो स्वरूपस्थिति हो। अतः देहसंबंधावस्था में स्वरूप में अनवस्थान मानना होगा। तब तो जिसे स्वरूप कहना चाह रहे हैं वह स्वरूप ही नहीं रह जायेगा क्योंकि आगन्तुक हो जायेगा। जैसे धर्म-अधर्म आत्मा के स्वरूप नहीं क्योंकि उसमें आगंतुक हैं ऐसी तुम्हारी मान्यता है, वैसे ही देहसम्बन्ध व तद्वियोग भी धर्म ही होंगे। अतः स्वास्थ्य को मोक्ष न मानकर धर्मविशेष के आधान को मोक्ष मानने का प्रसंग आने से प्रतिज्ञाभंग दोष होगा। यदि स्वरूप को ही परिवर्तनशील मानो तब तो अत एव वह अनित्यादि सिद्ध हो जायेगा। यह नहीं पूछ सकते कि दुग्ध आदि का मिष्ट आदि स्वरूप भी आता-जाता उपलब्ध होता है अतः मोक्ष का भी समान योगक्षेम है; कारण कि वहाँ भी सदा अपरिवर्तित सद् आदि ही स्वरूप मानना उचित है। और यदि पूर्व में ही स्वरूपस्थिति है तो नित्यकरण आदि हेतूपदेश अनर्थक है; साथ ही दृष्ट विरोध तो बैठा ही है।

अभाव को अधिकरणरूप मानने वाला होने से मीमांसक देहसम्बन्धराहित्य को आत्मरूप ही कहेगा अतः धर्माधान का प्रसंग नहीं-यह शंका भी अनुचित है। आत्मरूप होने पर यावदात्मभावी होने से देहसम्बन्ध ही अनुपपन्न होकर द्वितीय पक्ष से अविशेष हो जायेगा। किं च अधिकरणरूप का अभिप्राय भी क्या है? प्राभाकर तो अभाव को पदार्थ मानता ही नहीं। उसके यहाँ वह एक ज्ञानमात्र है। शालिकनाथ ने कहा है 'दृश्ये प्रतियोगिनि या तदेकविषया बुद्धिः सैव तस्य प्रतियोगिनोऽभाव इत्युच्यते' (प्रमाणपारायण; प्र.पंचिका पृ. २८७)। 'दृश्ये' से 'प्रसक्ततया ज्ञाते' समझना चाहिये 'तदेक' में तत् पद अधिकरणपरक है। अतः प्रसिद्ध है कि अधिकरणातिरिक्त अभाव प्रभाकर नहीं मानते। एवं च देहसम्बन्धराहित्य एक ज्ञानविशेष ही होगा तथा मोक्ष को देह-सम्बंधनिबंधन मानने का अर्थ ही होगा उसे ज्ञाननिबन्धन मानना। ज्ञान का उपाय प्रमाण हो सकते हैं कर्म नहीं यह लोक से निश्चित किया जा सकता है। किं च इस मत में 'भावानामवगतिर्द्विविधा' (पृ. २८६) कहकर पंचिकाकार ने सूचित कर दिया कि अधिकरण में दो प्रकार के ज्ञानों की विषयता रहती है जिससे आगन्तुकविषयता वाला होने से 'उपयन्नपयन्' न्याय से स्वास्थ्य भी विकारी होने लगेगा यह समझ लेना चाहिये। गुरुमत में मोक्ष का स्वरूप यही दिखाया है (तत्त्वालोक, प्र.पंचिका पृ.३३४) 'सांसारिकविविधदुःखोपरमरूपत्वान्मोक्षस्य।' इसी का प्रपंचन भी किया है 'आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धनो मोक्ष इति सिद्धम्' (पृ. ३४१)। वे आत्मज्ञान का समुच्चय मानते हैं यह वहीं विस्तार से बताया है। मतान्तर में अभाव को पदार्थ मानकर भी उसे अधिकरणस्वरूप माना जाता है। स्वरूपसम्बंध से अधिकरण में मानने पर भी स्वरूप ही सम्बन्ध होने से केवल शब्द का भेद रह जाता है। उस मत में भी अधिकरण की अभावरूपता आगन्तुक तो है ही अन्यथा प्रतियोगी के रहते भी अभाव रहने लगे। अतः पूर्वोक्त दोष तो है ही। साथ ही अधिकरण की भाव-अभावरूपता मानना यह व्याघात भी प्राप्त होता है। यदि अधिकरण ही किसी अपेक्षा से अभाव कहा जा रहा है तो या अभाव भावविशेष ही रह जाता है और या अभावज्ञान भ्रम हो जाता है क्योंकि पुरोवर्ती तो भाववस्तुमात्र है जबकि दीख वहाँ अभाव भी रहा है। 'भूतलं घटाभावः' यह बुद्धि भी प्रमा होने लगेगी! अन्य भी इस पक्ष में दोष विचार करने पर स्पष्ट होते है। सिद्धान्त में तो आवृत भाव हीं अभाव कहा जाता है। असत्त्वापादक आवरण वाला होना-यही घट का अभाव है। आवरण अज्ञानात्मक भाववस्तु ही है। जैसे अधर्मशब्द नञ्घटित होने पर भी ब्रह्महत्यादि भाव-अर्थ में ही रूढ है, 'अधर्म करता है' सुनकर भावात्मक ही बोध होता है, वैसे अज्ञान शब्द भी भावात्मक अज्ञान का ही वाचक है यह आकरों में व्यक्त है। 'घट नहीं है' इस बुद्धि का विषय आवृत घट ही है। 'असत्त्वापादक' में असत्त्वसे भी 'नास्तीति' व्यवहाररूप भाव ही जानना चाहिये। यह विषय प्रथमाध्यायके द्वितीय ब्राह्मण में विस्तार से स्पष्ट हो जायेगा। जो तो यह प्रसिद्ध है कि सिद्धान्त में अभाव अधिकरणरूप है उसका तात्पर्य इतना ही है कि अभाव को पदार्थ-विशेष मानने वालों के संमुख सिद्धान्ती कहता है कि अभावाधिकरण ही अभावव्यवहार में हेतु बन सकता है तो उसकी अपेक्षा उसे पदार्थान्तर नहीं मानना चाहिये। भाव-अभावनिरपेक्ष जो भूतलस्वरूप वही 'भूतले घटाभावः' व्यवहार का निर्वाह कर लेगा - यह सिद्धान्ती का अभिप्राय है। यह तत्त्वप्रदीपिका में (पृ. ४४६) स्फुट है। जब तो अध्यस्त का नाश या अभाव अधिष्ठानरूप कहा जाता है तब अध्यस्त का बाध विवक्षित होने से अधिष्ठान का प्रौढ प्रकाशन ही कहने का अभिप्राय होता है। इसे अविद्यानिवृत्ति की आत्मरूपता का भी स्पष्टीकरण

कैवल्येऽपि च तत्सक्तेरनिर्मोक्षः प्रसज्यते। अतो निषिद्धकाम्यादिवर्जनान्नाऽऽत्ममुक्तता ॥५०॥

समझ लेना चाहिये। इस प्रकार अभाव के विषय में सिद्धान्त की व्यवस्था संगत है। प्रकृत पूर्वपक्षी तो जिस भी तरह माने, मोक्ष की नित्यता की रक्षा कर नहीं सकता।

यदि द्वितीयपक्ष स्वीकारे तो साधनोपदेश की व्यर्थता स्पष्ट है। यद्यपि सिद्धान्ती से भी यही प्रश्न पूछा जा सकता है क्योंकि वह भी नित्य तथा सिद्ध मोक्षवादी है तथापि क्योंकि वह आवरण, उपायानुष्ठान और आवरणनिवृत्ति – सभी को मिथ्या मानता है इसलिये कोई अनुपपत्ति नहीं। अर्थात् उसका कहना है कि वास्तविकता यही है कि मोक्ष नित्य सिद्ध है; अब यदि किसी को प्रतीति है कि वह बद्ध है तो शास्त्र उस प्रतीति की निवृत्ति का उपाय बताता है; वह प्रतीति, वह उपाय व वह निवृत्ति वास्तव में है नहीं। 'प्रतीति नहीं है' का अर्थ है कि वास्तविक प्रतीति नहीं है। 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' आदि आचार्यवचन इसमें प्रमाण है। अतः सिद्धान्त में स्वास्थ्य सिद्ध होने पर भी हेतुमार्गण सूपपन्न है। यही उत्तर वादी नहीं दे पाता क्योंकि वह बंधन, निवृत्त्युपाय और निवृत्ति को वास्तविक मानता है। वास्तविक बंधन तो वास्तविक मोक्ष के साथ नहीं रह सकता। काल्पनिक बंधन व उसकी काल्पनिक निवृत्ति हो वास्तविक मोक्ष को सर्वथा अविकृत करते हुए उसके साथ रहे इसमें कोई असंगति नहीं ॥४८-४९॥

यदि कहो कि फल प्राप्त यद्यपि है ही तथापि जीव स्वभाववश ही पूर्वप्रदर्शित मोक्षोपायों का अनुष्ठान करता है – यह मानने पर ऐकभविक पक्ष में (तथा मीमांसकमत में) दोष नहीं रहता। तो ऐसा भी नहीं है। वस्तुतः यह वादी कुशावलम्बन से कर्म की अनिवार्यता बचाने मात्र का प्रयास कर रहा है, सिद्धान्तानुरूप नहीं बोल रहा। मोक्ष को सिद्ध मानना यह वादी को स्वीकार्य नहीं। तथा इससे समुच्चयसिद्धि भी नहीं हो पाती। अतएव विद्यासागरी में यहाँ वादी की यह शंका मानी है कि मोक्ष की उत्पत्ति के लिये चाहे हेतु का अनुष्ठान अपेक्षित नहीं हो, उसकी रक्षा के लिये तो होगा? सर्वथाऽपि मोक्षलाभ के अनन्तर कर्म की आवश्यकता पूर्वपक्षी को इष्ट है। इसका खण्डन करते हैं –

मोक्ष होने पर भी यदि कर्म में आसक्ति बनी रहती है तब तो यही मानना होगा कि मोक्ष हुआ ही नहीं। इसलिये निषिद्ध व काम्य आदि कर्मों को न करना आदि से आत्मा का मोक्ष नहीं होता ॥५०॥

वस्तु का स्वभाव तब तक रहता है जब तक वस्तु रहती है। यदि जीव स्वभावतः कर्म करता ही है इसलिये मुक्त भी कर्म करता ही है तब तो बंधन व मोक्ष में अन्तर क्या रहा? कर्म होगा तो फलभोग अवश्यंभावी है। यह नहीं कह सकते कि मोक्ष हो जाने से फलभोग नहीं होगा, केवल कर्म बना रहेगा; क्योंकि प्रथमतः तो नित्यमोक्ष अर्थात् सिद्धमोक्ष मानो तो सदा ही फलभोग न हो सकेगा व शास्त्रादि का विरोध होगा और दूसरी बात यह, कि ऐसा मोक्ष जहाँ कर्म तो करना पड़े पर फल न मिले, बंधन से भी बदतर होगा! कर्म क्लेशात्मक ही होता है अतः अत्यंत दुःखरूप मोक्ष मानना मीमांसक को ही शोभा देगा! किं च, शरीरादि से संबन्ध बना रहे तभी हेत्वनुष्ठान संभव है अतः मुक्त के लिये भी अनुष्ठान अवर्जनीय होने से देहसम्बन्ध आवश्यक होगा, फलतः देहाऽसम्बन्धनिबन्धन त्वदभिमत मोक्ष भी खपुष्पायमाण होगा। मोक्षरक्षार्थ कर्म की आवश्यकता का निराकरण भी इसी तरह कर दिया। यदि रक्षा का प्रकार ही मोक्षविरोधी है तो रक्षा हो कैसे सकती है? श्लोकस्थ 'च' से आनन्दपूर्ण मुनि यह सूचना पाते हैं कि अनादि भाववस्तु स्वपालनार्थ किसी की अपेक्षा नहीं रखती। भाववस्तु इसलिये कि अनादि अभाव अर्थात् प्रागभाव तो स्वपालनार्थ प्रतियोगि की अनुत्पत्ति आदि की अपेक्षा रख सकता है किन्तु आकाशादि भाव को कोई अपेक्षा नहीं होती। यदि अनावृत रहने के लिये अपेक्षा माने तो पूर्वोक्त दोष अर्थात् बन्धावस्था से अविशेष है ही। यह प्रश्न भी नहीं उठता कि वादी ने मोक्ष अभावात्मक माना था जिससे भाव कहना ठीक नहीं; क्योंकि वादी के मत में अभाव भी भावातिरिक्त नहीं है यह दिखाया जा चुका है। किं च ध्वंसरूप अभाव मानने पर तो रक्षक की नितराम् अनपेक्षा है।

इस प्रकार मोक्ष पहले से ही प्राप्त हो तो साधनों की व्यर्थता और प्राप्त नहीं है तो स्वाभाविक नहीं, अतः उभयथा भी वादी के कहे ढंग से स्वरूप में स्थिति रूप मोक्ष सिद्ध होता नहीं।

विषयाभ्यासजास्वास्थ्यनुत्त्यर्थमिति चेन्मतम्। स तु विषयसम्पर्कः कस्माद्भवति कारणात् ॥५१॥
अकस्माद्भवतः सक्तेर्मुक्तावप्यनिषेधतः। अनिर्मोक्षप्रसक्तिर्वस्तथा सति समापतेत् ॥५२॥
धर्माधर्मनिमित्तश्चेत्किं पुनर्धर्मपातके। अप्यसङ्गस्वभावस्य सम्पर्कं कुरुतो बलात् ॥५३॥

'काम्य आदि' में आदि से लौकिक बंधनकारी कर्म समझ लेने चाहिये। 'न करना आदि' में आदि से नित्यादि करना समझना चाहिये। द्वितीय आदिशब्द मूल में न होने पर भी निषिद्ध-काम्य-वर्जन को नित्यादि-अनुष्ठान का उपलक्षक मानना आवश्यक होने से अनुवाद में जोड़ दिया है ॥५०॥

यदि वादी कहे कि विषयसम्बन्ध से पुनः पुनः उत्पन्न पाप के शमन के लिये उपायानुष्ठान स्वीकार्य है, तो वह भी संगत नहीं यह बताते हैं –

यदि विषयों के भोग से उत्पन्न अस्वस्थता हटाने के लिये उपायानुष्ठान माना जाता है तो हम (सिद्धान्ती) पूछते हैं कि वह विषय-सम्बन्ध किस कारण से होता है? ॥५१॥

असंग आत्मा में पाप या रागादिजनक विषयसम्बन्ध या अकारण होगा या किसी कारण से। दोनों पक्षों में क्या दोष है यह आगे बताते हैं। पूर्वश्लोक में जो मोक्ष की रक्षा वाला पक्ष था उसका ही यह विस्तार है। भोगजन्य अस्वस्थता रागादि तथा धर्माधर्म एवं इनका फलभूत दुःखादि बंधन है। मीमांसक की मान्यता है 'भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्' (श्लो. वा. निरालं. ११८) तथा 'स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके, वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद् रूपं किंचित् कदाचन' (श्लो. वा. अभाव. १२)। अतः स्वस्थ आत्मा अस्वस्थ भी हो तो क्या आपत्ति होगी? एवं च अस्वास्थ्य हटाना उपायफल हो जायेगा व स्वास्थ्य नित्य भी रह जायेगा। विषय या पापादि से असम्बद्ध रूप से स्वास्थ्य एवं तत्सम्बद्ध रूप से अस्वास्थ्य जानना चाहिये। इस का खण्डन भी यहाँ समझ लेना चाहिये – यदि अस्वास्थ्य अकारण है तब तो मोक्षवेला में तथा उसके बाद भी होने लगेगा और सकारण है तो आगे कहे दोषों से यह पक्ष ग्रस्त होगा ही, यह एक और आपत्ति होगी कि अनादि नित्य आत्मा का अस्वास्थ्यात्मक स्वरूप सादि होने लगेगा! सदसद्रूप मानना ही कैसे अनर्गल है यह आकरों में व्यक्त है ही ॥५१॥

यदि विषयसम्बन्ध बिना कारण होता है तो आपको संमत मोक्ष में भी उसका निषेध संभव न होने से आपके लिये मोक्ष असंभव ही होगा ॥५२॥

आस्तिक होने से मीमांसक मोक्ष की असंभवता को इष्ट नहीं मान सकता। विद्वदनुभव तथा युक्तिसे सहकृत शास्त्र ही मोक्ष में प्रमाण है। युक्ति यही है कि बंधन देहादि के सम्बंध से ही अनुभूयमान है तथा देहादि आत्मा के व्यभिचारी हैं अतः आत्ममात्र ही मोक्ष है। यद्यपि उपाधिसामान्याभाव बद्धानुभवसिद्ध नहीं तथापि सब उपाधिविशेषों का अभाव तो सिद्ध ही हैं। कारणशरीर का भी समाधि में व्यतिरेक है यह पंचदशी के आरंभ मे ही स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि अज्ञानात्मा कारण शरीर का व्यतिरेक संभव नहीं तथापि उसका अज्ञान तो संभव व स्वीकार्य है ही। सृष्टिदृष्टि में अज्ञान स्वरूपसत् ही बंधन हो जाने से एवं दृष्टिसृष्टि पक्ष को अनादि विषयक न स्वीकारने से कोई दोष नहीं है। सरस्वती स्वामी ने कहा है 'अनाद्यतिरिक्तसृष्टिविषय एव दृष्टिसृष्टिस्वीकाराद्' (अ.सि.पृ.५३४)। अतः मोक्ष होता ही नहीं यह कहना नितान्त मूर्खता है ॥५२॥

आत्मा से विषयसम्पर्क निर्हेतुक मानने के दोष को उसे सहेतुक मानकर स्पष्ट करते हुए यदि वादी प्रत्यवस्थित होता है तो सकारणपक्ष में दोषप्रदर्शन करते हैं –

यदि कहो कि धर्म-अधर्म सम्बंध के निमित्त हैं तो बताओ क्या धर्म-अधर्म असंग स्वभाव वाले आत्मा का अनर्थ से बलात् सम्बन्ध कर सकते हैं? ॥५३॥

भल्लातकाङ्कवद्वस्त्रे न हि लोके स्फुरन्नपि। कुशलोऽपि कुलालः सन्नघटादिस्वभावकम् ॥५४॥
मृद्वद्व्योम घटीकुर्यान्मरुद्वाऽग्नेश्च शीतताम्। आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम् ॥५५॥

तात्पर्य है कि असंगस्वभाव वाले आत्मा को अनर्थ से सम्बद्ध करना धर्माधर्म की सामर्थ्य से बाहर है। स्वभाव अपरिवर्तनीय होता है। परिवर्तनीय वस्तु अनित्य तथा विकारी होती है। अतः आत्मा किसी हेतु से अनर्थयुक्त हो नहीं सकता। जैसे कार्य के विषय में परिणामवादी सत्कार्य स्वीकर्ता है वैसे सम्बन्ध के विषय में भी करता ही है। यदि जहाँ घटसंयोग नहीं है – असत् है – वहाँ वह उत्पन्न हो जाये तब तो असत्कार्यवाद की आपत्ति होगी ही। अतः आत्मा का यदि विषयों से कभी भी संसर्ग होता है तो उसे सदा ही संसर्गी मानना अनिवार्य है व ऐसा श्रुतिप्रामाण्यवादी मीमांसक के लिये मानना युक्त नहीं। यदि मान ले तो स्वास्थ्यरूप मोक्ष से हाथ धोना होगा ॥५३॥

इसी बात को उदाहरण-प्रत्युदाहरण पूर्वक व्यक्त करते हैं –

(साफ) कपड़े पर भिलावे के दाग की तरह (असंग आत्मा से विषयसम्बंध नहीं हो सकता)। लोक में यह देखा गया है कि बलवान् तथा बुद्धिमान् भी कुम्हार अघट आदि स्वभाव वाले आकाश को घटरूप में व्यवस्थित नहीं कर सकता जैसे वह मिट्टी को घटरूप में व्यवस्थित कर लेता है। अथवा वायु अग्नि को शीतल बनाती नहीं मिलती।

यदि आत्मा कर्ता-आदि रूप मानते हो, तब तो मोक्ष की इच्छा छोड़ दो (क्योंकि मोक्ष असंभव है) ॥५४-५५॥

धोबी आदि कपड़ों पर भिलावा नामक वस्तु से चिह्न लगाया करते हैं। क्योंकि कपड़ा विकारी वस्तु है इसीलिये वह बेदाग तथा दागी दोनों बन जाता है। आत्मा ऐसा तो है नहीं अतः असम्बद्ध व सम्बद्ध हो नहीं सकता। यहाँ वस्त्रनिष्ठ विकारिता अनित्यता आदि को सूचित करते हुए यह प्रयोग दिदर्शयिषित है– आत्मा, सकारण संसर्गी नहीं, अविकारी आदि होने से व्यतिरेकेण वस्त्र की तरह। टीका में 'वस्तुतः अकलङ्केपि' कहा है, वहाँ वस्तुतः का अर्थ है कि कलंक अनभिव्यक्त है, यह सत्कार्यता बताकर पूर्व में स्पष्ट है। अतः पुण्य-पाप विषयसंबंध तथा अनर्थ आत्मा में नहीं कर सकते।

जिसमे जो है नहीं वह उससे वस्तुतः हो ही नहीं सकता इसे दो दृष्टान्तों से बताया। मिट्टी का स्वभाव है कि वह घड़े के आकार को ग्रहण करती है इसीलिये मूर्ख कुम्हार भी मिट्टी से घड़ा बना लेता है। आकाश का स्वभाव वैसा न होने से कुशल भी कुम्हार उससे घड़ा नहीं बना पाता। 'अघट आदि स्वभाव' अर्थात् ऐसा स्वभाव कि वह घट नहीं हो सकता। ऐसे ही वायु सर्वत्र चाहे शीतलता ला दे, अशीतलस्वभाव आग में उसे नहीं ला पाती। अनवस्थित के आधान की असंभवता आद्य दृष्टांत में तथा अवस्थित का अनपनय द्वितीय में स्पष्ट है। धर्मादि भी चाहे और सब कुछ उत्पन्न करने में समर्थ हो, आत्मा से विषयादि का सम्बंध स्थापित कर नहीं सकते। सैकड़ों कारण मिलकर भी स्वभाव से विपरीत कार्य कर सकते हैं ऐसी कल्पना भी नहीं करनी चाहिये। यहाँ भी यह प्रयोग देख सकते हैं – आत्मा, सकारण संसर्गी नहीं है, तद्विपरीत स्वभाव वाला होने से, जो यत्स्वभाव होता है वह सकारण तद्विपरीत स्वभाव वाला नहीं होता, जैसे आकाशादि।

इस दोष से बचने के लिये वादी आत्मा को कर्ता अदि स्वभाव वाला मान सकता है व मानता भी है, आचार्य ने बताया ही है 'अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे' (ब्र. सू. भा. १.१.१)। बिन्दुग्रंथ में भी 'कर्ता भोक्ता जडो विभुरिति वैशेषिकतार्किकप्राभाकराः, जडो बोधात्मक इति भाट्टाः' (श्लो.१) कहा है। रत्नावली में स्पष्ट है कि कुमारिल का भी कर्तृत्वादि के विषय में मतभेद नहीं है 'तादृशमेव भाट्टमतम्' (पृ. ४९)। अंतर इतना ही है कि वे बोधात्मक भी उसे मानते हैं। इस मत में तो अनर्थसम्बंध धर्मादि से हो यह संगत ही है। तब उस संबंध को हटाने के लिये उपायानुष्ठान भी सार्थक हो जायेगा। किन्तु इस पक्ष में यह विकल्प उठता है कि (१) क्या कर्तृत्वादि और उनका कार्य आत्मा का स्वभाव है? (२) या कर्तृत्वादि-शक्ति उसका स्वभाव है? यदि कर्तृत्वादि व कार्य को स्वभाव मानो तो पुनः विकल्प

न हि स्वभावो भावानां व्यावर्त्येतौष्ण्यवद्रवेः। स्वभावाद्विनिवृत्तोऽर्थो निःस्वभावः खपुष्पवत् ॥५६॥
नाविनश्यन्यतो वह्निर्व्यावर्त्येतौष्ण्यतः क्वचित्। न च कर्त्राद्यनिर्मुक्तौ मुक्तिः सम्भाव्यतेऽन्यतः ॥५७॥
ननु कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यमेवाऽऽत्मसंसृतिः। न तु तच्छक्तिरित्येवं शक्तिमात्रतया स्थितौ ॥५८॥
सर्वानर्थविनिर्मुक्तेरुपपन्नाऽऽत्ममुक्तता। मैवं भेदे तथाऽभेदे दोषः स्याच्छक्तिकार्ययोः ॥५९॥

उठता है १') कि क्या उनका नाश होने पर आत्मा का मोक्ष होता है? १'') या उनके नाश के विना ही होता है? यदि कर्तृत्वादि स्वभाव है व उनका नाश अपेक्षित है, तब तो मोक्ष असंभव है क्योंकि स्वभाव नष्ट होता नहीं—यह अगले श्लोक में कहते हैं ॥५४-५५॥

वस्तुओं का स्वभाव उनसे निवृत्त नहीं होता जैसे सूर्य से गर्मी निवृत्त नहीं होती। जिसका स्वभाव निवृत्त हो जाये ऐसी वस्तु तो निःस्वभाव होगी गगनकुसुम की तरह अलीक होगी। इसीलिये (स्वभाव-हानिपक्ष संगत नहीं) ॥५६॥

प्रश्न होता है कि मणि-मंत्रादि के कारण स्वभावभूत भी उष्णता वह्नि से पृथग् होती देखी जाती है अतः नित्यकरणादि हेतु से स्वभावभूत भी कर्तृतादि आत्मा से विलग हो इसमें असंगति क्या है? स्वभावनिर्गम से आकाशकुसुमसमता तो वह्नि में नहीं आती। इस पर कहते हैं –

विनष्ट न होती वह्नि उष्णता से कभी निवृत्त नहीं होती। और कर्तृत्वादि बिना छूटे अन्य किसी तरह मोक्ष संभव नहीं है ॥५७॥

उष्णस्वभाव होने से औष्ण्यरहित वह्नि कल्पना का भी विषय नहीं हो सकती। मणि-मन्त्रादि से केवल उसकी दाहकशक्ति का प्रतिबन्ध होता है। यदि मणि आदि के संनिधान से उष्णता ही वह्नि को छोड़ दे तो मणि आदि हटने पर वही वह्नि दाहादि में समर्थ न हो पाये। और होती है। अतः स्वभावभूत उष्णता वह्नि को नहीं छोड़ती यह मानना होगा अन्यथा निःस्वभावता होने पर तुच्छता से बचा नहीं जा सकता। इसी तरह आत्मा का भी यदि कर्तृत्वादि स्वभाव हो और आत्मा से पृथक् हो जाये तो आत्मा निःस्वभाव होने लगेगा जो आत्मवादी को नेष्ट है। एवं च यह पक्ष असंगत है।

पूर्व में (श्लो. ५५ टीका) जो दूसरा (१'') पक्ष था कि कर्तृतादि आत्मस्वभाव हैं पर उनके नाश के विना ही मोक्ष हो जाता है; उसका निराकरण भी यहाँ कर दिया। कर्तृत्वादि ही तो अनर्थ है, वही निवृत्त नहीं हुए तो मोक्ष कैसा?

मूल में 'कर्त्राद्यनिर्मुक्तौ' में कर्तृपद भावप्रधान समझना चाहिये। आनन्दगिरि टीका में 'स्वभावादौष्ण्याद्व्यावर्तेत' के पूर्व 'न' शब्द होना चाहिये, अन्यथा संगति लगती नहीं ॥५७॥

इस प्रकार कर्तृतादि को स्वभाव मानने का पक्ष खण्डित होने पर यदि वादी पूर्वोक्त (श्लो. ५५ टीका) द्वितीय पक्ष (२) ले कि कर्तृत्वादि की शक्ति आत्मा का स्वभाव है, तो उसका भी निराकरण किया जा सकता है। अगले प्रश्नोत्तर इस विषय में हैं –

प्रश्न होता है कि कर्तृत्व, भोक्तृत्व व उनका कार्य ही आत्मा का संसरण है, उनकी शक्ति तो संसरण है नहीं। इस प्रकार स्थिति होने पर जब कर्तृत्वादिशक्ति केवल शक्तिरूप से रह जायेगी तब सब अनर्थों की निवृत्ति होने से (शक्तिस्वभावपक्ष में) आत्मा की मुक्तता संगत है?

उत्तर है कि इस तरह भी संगति नहीं बनती क्योंकि शक्ति तथा उसके कार्य में भेद मानो चाहे अभेद, दोष ही रहता है ॥५८-५९॥

कर्तृत्वादि के कार्य कृति व भोग समझने चाहिये। परंपरया तो सुख, दुःख, राग आदि सभी का ग्रहण हो सकता है। 'उनकी शक्ति' अर्थात् वह शक्ति जिससे कर्तृत्वादि का स्वरूपलाभ होता है। 'केवल शक्ति' अर्थात् अपने कार्यभूत

शक्तितत्कार्ययोर्यस्माद् व्यतिरेको न विद्यते। नियमासम्भवः प्रापद् व्यतिरेकस्तयोर्यदि ॥६०॥
कार्यकारणता न स्यात्स्वतो भेदेन सिद्धयोः। अभेदे च तयोरैक्यात्कार्यकारणता कुतः ॥६१॥

कर्तृत्वादि से रहित शक्तिमात्ररूप से रहनेवाली शक्ति। उस स्थिति में कर्तृत्वादि अनर्थ रह न जाने से संसरण प्रसंग के अभाव में मोक्ष में कोई कठिनाई नहीं यह पूर्वपक्षी का अभिमान है। उक्त प्रकारसे 'शक्तिमात्र' कुछ नहीं हो सकता इस अभिप्राय से इस मत का खण्डन करने के लिये वादी ने विकल्पपूर्वक सदोषता की प्रतिज्ञा की है ॥५८-५९॥

शक्तिरूप उपादान (अर्थात् कारण) एवं शक्यरूप उपादेय (अर्थात् कार्य) में भेद मानने पर होने वाले दोष को स्पष्ट करते हैं –

क्योंकि शक्ति व उसके कार्य में भेद दीखता नहीं (इसलिये उनमें भेद मानना अप्रामाणिक है)। यदि उनमें परस्पर भेद हो तो (इस शक्य की यही शक्ति है ऐसा) नियमन असंभव हो जायेगा ॥६०॥

कार्य से ही शक्ति का अनुमान होता है। कभी कार्य से सर्वथा असंस्पृष्ट 'केवल' शक्ति का ज्ञान होता नहीं। अतः जब इनकी स्वतंत्र उपलब्धि नहीं तो इन्हे परस्पर भिन्न क्यों माना जाये? मानने पर वह प्रमाणसिद्ध न होगा। नियमतः शक्यसम्बद्ध उपलब्धि शक्ति को उससे अभिन्न मानने को बाध्य करती है। शक्य की अनभिव्यक्तावस्था ही शक्ति समझनी चाहिये। भेद मानने पर दोष स्पष्ट है– जिनमें भेद होता है वे कार्य-कारण रूप से सम्बंध वाले होते नहीं यथा गाय और भैंसा। सिद्धान्त में तो एकमात्र अविद्या ही शक्ति है यह वर्णन स्वयं मूलकार करेंगे।

किं च शक्ति सविषय पदार्थ है। शक्य ही शक्ति का विषय समझा जाता है। अतः शक्य-असम्बद्ध या उससे अनिरूपित शक्तिमात्र केवल विकल्प ही है, कोई पदार्थ नहीं। विद्यासागरी में यह दोष दिखा दिया गया है। जैसे 'मुझे केवल इच्छा है' यह न अनुभव है व न यह कहने पर कोई प्रबोध होता है या जैसे 'अभाव है, यहाँ अभाव है' ऐसा स्वयं या शब्दादि से प्रमित नहीं होता, वैसे 'शक्ति है' भी कोई प्रमा नहीं है। अभावत्वेन उसका ज्ञान प्रतियोगी की आकांक्षापूर्ति के विना नहीं होता। अद्वैतरत्नरक्षण में कहा है 'अभावत्वेनाभावज्ञाने प्रतियोग्यपेक्षाऽवश्यंभाविनी' (पृ० १५)। अतः पूर्वपक्षी का यह कहना सर्वथा असंगत है कि कार्य से अनिरूपित शक्ति आत्मा में रह जायेगी। यद्यपि कार्य को उपलक्षक मानकर इस आपत् से बचने का प्रयास हो सकता है तथापि पूर्वप्रदर्शित दोष तो हैं ही। उपलक्ष्य-उपलक्षकभाव भी भेद रहते ही होता है अतः शक्तिं-कार्य का भेद होना पड़ेगा जिससे निदर्शित आपत् रहेगी ही। यह नहीं समझना चाहिये कि सिद्धान्त में उपलक्षण स्वीकार्य होने से भेद स्वीकृत हो गया क्योंकि उपलक्षण भी व्यावहारिक ही संमत होने से व्यावहारिक भेद की स्वीकृति निर्दुष्ट है ॥६०॥

यदि कहो कि गाय व घोड़ा कार्य-कारणभावसे आपस में सम्बद्ध नहीं इसलिये उनमें परस्पर नियम्य-नियामकभाव नहीं, शक्ति व कार्य (शक्य) तो उस प्रकार सम्बद्ध होने से उनमें नियमन – अर्थात् इस शक्ति का यह शक्य ऐसा प्रतिबन्ध – सम्भव होगा; तो वह भी कहना अनुचित है यह बताते हैं –

स्वतः वस्तुतः भिन्न रूप से स्थित पदार्थों में कार्य-कारणता नहीं हुआ करती। और यदि शक्ति व उसके कार्य में अभेद मानो तब कार्य-कारणता उनमें कैसे होगी? ॥६१॥

वस्तुतः भिन्न में कार्य-कारणभाव होने पर गाय व भैंस में भी उसके सद्भाव की आपत्ति है। अतः भेद मानने पर नियमन कथंचित् सिद्ध होता नहीं। पूर्व में (श्लो. ५९) कहा था कि शक्ति व शक्त का अभेद मानना भी इस पक्ष को संगत नहीं कर सकता। उसी दोष को यह व्यक्त कर दिया है। अभिन्न में कार्यकारणता हो तब तो वही घट उसी घट का (अर्थात् अपना ही) कारण होने लग जाये! ऐसा हो न सकने से शक्ति-शक्त का अभेद भी हो नहीं सकता ॥६१॥

नाकुर्वत्कारणं दृष्टं कार्यं चाक्रियमाणकम्। अथाभेदस्तयोरिष्टः कार्यध्वस्तौ प्रसज्यते ॥६२॥
तच्छक्तेरपि विध्वंसस्तयोरव्यतिरेकतः। शक्तिस्वरूपहाने च शक्तिमद्रूपनिह्नुतिः ॥६३॥
तयोरव्यतिरेकत्वात्स एवाऽऽयात्यनीप्सितः। निरात्मवादः पूर्वोक्तस्तस्मान्नैवं प्रकल्पयेत् ॥६४॥

वादी पूछता है कि शक्ति और शक्त की एकता होने से वस्तु की कार्यता व कारणता क्यों नहीं हो सकती? कारण या कार्य तो वस्तु हुआ करती है, मिट्टी कारण है तथा घट कार्य है; इस व्यवस्था में क्या अंतर आता है यदि शक्ति-शक्त का अभेद मानें?

श्री विद्यासागर के अनुसार यह भी यहाँ प्रश्न है: कारणता कहते हैं नियमतः पूर्व में होने को 'पूर्वसम्बन्धनियमः कारणत्वम्'; तथा कार्यता का अर्थ है नियमतः बाद में होना 'अपरसम्बन्धनियमः कार्यत्वम्'। यदि यह नियम निभ जाये तो भिन्न होने या अभिन्न होने से क्या अंतर आयेगा?

इस प्रश्न का उत्तर देकर अन्य भी विकल्प करते हुए आचार्य कहते हैं –

न करता हुआ कारण तथा न किया जाता हुआ कार्य देखा नहीं गया है, (अतः शक्ति-शक्तका अभेद कार्यकारणता का घातक होगा)।

किं च यदि शक्ति व उसके कार्य का अभेद स्वीकृत हो तो कार्य का नाश होने पर उसकी शक्ति का भी नाश होने लगेगा क्योंकि दोनों एक ही हैं। तथा शक्ति की स्वरूपतः समाप्ति होने पर शक्तिमान् का भी स्वरूपतः अभाव होने लगेगा कारण कि उनका भी अत्यन्त भेद है नहीं। ऐसी स्थिति में वही पूर्वोक्त अनिष्ट अनात्मवाद प्राप्त होता है। इसलिये यों कल्पना नहीं करनी चाहिये ॥६२-६४॥

अकेली वस्तु कारण या कार्य नहीं होती। कार्योत्पत्ति के अनुकूल कुछ करती हुई वस्तु ही कारण हुआ करती है तथा उस करने से जिसे किया जा रहा हो वही कार्य होता है। यही लोक में देखा गया है तथा युक्तियुक्त है। ऐसा न हो तब तो सभी वस्तुओं में परस्पर कार्यकारणता होने लगे। आचार्यचरण ने कहा ही है

'अकुर्वदिष्टं यदि वाऽस्य कारकं न किंचिदन्यद् ननु नास्त्यकारकम्।' (उप. सा. १९.२१)।

शक्ति तथा शक्त को कारण-कार्य मानें तो एक 'करता हुआ' होना पड़ेगा व दूसरा 'किया जाता हुआ' होना पड़ेगा। ये दोनों काम युगपत् एक में रह नहीं सकते क्योंकिं एक रहता है सिद्ध में व दूसरा साध्य में। 'करता हुआ' वही होगा जो विद्यमान है, 'किया' वही जायेगा जिसे विद्यमान होना है। पूर्वसम्बन्ध व अपरसम्बन्ध का भी यही तात्पर्य है। एवं च अभेद होने पर शक्ति-शक्त का कार्यकारणभाव सम्भव नहीं रह जाता। कारण वस्तु शक्ति वाली होगी और 'करती हुई' होगी यह निश्चित है। शक्त का स्वभाव 'करता हुआ' होना तो है नहीं, 'किया जाता हुआ' होना है, अतः कारण वस्तु शक्त वाली हो नहीं सकती। यदि शक्ति-शक्त का अभेद हो तो कारण शक्ति वाला होने के लिये शक्त वाला भी होना पड़ेगा, और क्योंकि यह असंभव है इसलिये शक्ति वाला भी रह नहीं पायेगा। फलतः शक्तिहीन को कारण मानना होगा जो बच्चों को भी हँसायेगा! और फिर जब शक्ति के बिना कारण से कार्य होना ही है तब शक्ति बेचारी की तपस्या किस लिये! अतः यह वाद सर्वथा असंगत है।

यहाँ यह नहीं पूछना चाहिये कि जब भेद-अभेद दोनों पक्ष संगत नहीं तो सिद्धान्ती क्या व्यवस्था देगा; कारण कि सिद्धान्त में कार्यकारणभाव मात्र भ्रमसिद्ध है, उसमें उपपत्ति है ही नहीं। बालरोचनन्याय से प्रारंभ में भेदाऽभेद मानकर यथाकथंचिद् व्यवस्था बनायी भी जा सकती है।

अभेदपक्ष में अन्य भी दोष मूलकार ने दिखाया है। कार्य उत्पन्न होकर जब नष्ट होवे तब शक्ति भी नष्ट होनी चाहिये, क्योंकि दोनों में भेद तो है नहीं। प्रथमतः ऐसा देखा नहीं जाता; देखा यह जाता है कि जितने कार्य करते जायें शक्ति बढ़ती

भले ही है, समाप्त नहीं होती, चाहे कार्य समाप्त होते रहें। यदि शक्ति-शक्त व्यक्तियों का ही सम्बंध हो और शक्तिव्यक्तियाँ नष्ट हो भी जाती हों एवं नवीन शक्तियाँ उत्पन्न होती हों- तो यद्यपि दृष्ट की उपपत्ति हो जायेगी तथापि शक्ति को उत्पन्न होने वाला मानना पड़ेगा जिससे अनेक आपत्तियाँ आयेंगी। पहले तो उसके कारण का निरूपण संभव नही; फिर किस में शक्ति उत्पन्न होती हैं, यह नियमन संभव न हो पायेगा। शक्तिरहित में ही शक्ति को उत्पन्न होना है। तब बालू में तैलशक्ति क्यों न उत्पन्न हो जाये? यदि स्वसदृश शक्ति का ध्वंस जिसमें हो वहीं शक्ति उपजती हो और यह प्रवाह अनादि हो तो अनुभव विरोध तो है ही क्योंकि ऐसा अनुभव होता नहीं कि 'मुझ में पूर्व शक्ति नष्ट होकर नयी शक्ति आयी है' बल्कि यही होता है कि 'मेरी पूर्व शक्ति ही बढ़ गयी, या घट गयी', साथ ही कपड़े को जलाने पर बनी राख में कपड़ा बनाने की शक्ति आने लगेगी क्योंकि उसमें शक्तिध्वंस मानना होगा – अन्य उसके लिये कोई स्थान ही नहीं है। मानने पर उससे कार्य होना आवश्यक होगा क्योंकि शक्ति कार्यानुमेय ही है। सदा प्रतिबंध स्वीकारें तब शक्ति अप्रमित हो जायेगी। यदि कहें राख ही मिट्टी बन कर कपास के पौधे में रुई बनकर, धागा बनकर, कपड़ा बन जायेगी अतः उसमें शक्ति मानने से क्यों झिझकना? तब तो हर वस्तु में अनन्त कार्यों की शक्तिं मानने की आपत् होने से नियम्यनियामकभाव की अन्यथानुपपत्ति से मानी गयी शक्ति निष्प्रयोजन हो जायेगी। अतः शक्तिनाश स्वीकार्य नहीं।

दूसरी बात यह है कि – शक्ति और शक्तिमान् में भी गाय व भैंस की तरह अत्यन्त भेद है नहीं। युक्तियाँ वे ही हैं जो शक्ति-शक्त-भेद की बाधिका हैं। मुख्य आधार यही है कि शक्तिमान् को छोड़कर शक्ति का स्वतंत्र अनुभव नहीं होता। जब दोनों का अभेद स्वीकार्य है तब शक्तिनाश से शक्तिमान् का नाश पूर्ववत् अर्थसिद्ध है ही। स्मरण रखना चाहिये कि प्रकृत प्रसङ्ग में वादी शक्तिमान् रूप से आत्मा की स्थिति मानकर कर्तृतादि संसार की हानि चाह रहा है अतः सिद्धान्ती का कहना है कि शक्ति न रहने पर शक्तिमान् नहीं रह सकता, फलतः वादी-अभिमत मुक्त की ही समाप्ति का प्रसंग है। सिद्धान्ती यह नहीं कह रहा है कि शक्ति नष्ट होने पर आत्मा नहीं रह सकता। यह तो अनुभव ही है कि 'मेरी अमुक शक्ति नष्ट हो गयी, मैं अभी भी विद्यमान हूँ।' शक्ति की उपलब्धि शक्तिमान् के अतिरिक्त न होने पर भी जो शक्ति के रहते शक्तिमान् था उसकी उपलब्धि तो शक्ति के विना हो ही रही है। हाँ इतना अवश्य है कि वह अब शक्तिमान् नहीं है। पूर्वपक्षी तो शक्तिमत्त्व (=शक्ति) को आत्मा का स्वरूप स्वीकारना चाहता था अतः यदि शक्तिमान् न रहा तो जो कुछ है वह उसका अभिमत आत्मा नहीं हो सकता। इसीलिये नैरात्म्यप्रसंग दिखाया गया है। यदि शक्तिमान् भी न रहता हुआ आत्मा वह स्वीकारे तब तो शक्ति को उपलक्षणमात्र मानेगा और सिद्धान्ती का अनुयायी ही बन जायेगा। एवं च परीक्ष्यमाण मत में ये दोष हैं –

१) कार्य से शक्ति अभिन्न हो तो कार्यनाश से शक्ति नष्ट हो जायेगी। फलतः यह नहीं मान सकेंगे कि मुक्तावस्था में कार्य नहीं रहता शक्ति रहती है।

२) शक्ति से कार्य का अभेद हो तो शक्ति के रहते कार्य रहेगा ही। फलतः मोक्ष में भी कर्तृतादि कार्य रहने लगेगा तथा मोक्ष ही असिद्ध हो जायेगा।

३) शक्ति आत्मा का स्वभाव है मानने पर कर्तृतादि भी स्वभाव ही मानने होंगे। फलतः जब तक आत्मा है तब तक उन्हे रहना होगा और मोक्ष संभव नहीं बनेगा।

४) शक्ति का भी नाश मानने पर शक्तिमान् का नाश अर्थसिद्ध होने से अनात्मता प्राप्त होगी तथा मुच्यमान के अभाव में मोक्ष असंभव होगा। किं च आत्मनाश में प्रवृत्ति न होने से मोक्ष की अपुरुषार्थता हो जायेगी।

इन हेतुओं से प्रकृत कल्पना रमणीय नहीं है। 'वही पूर्वोक्त' अर्थात् श्लो. ५६ में बताया हुआ। 'वही' से उसकी अनिष्टता के समस्त हेतुओं का परामर्श तथा 'पूर्वोक्त' से प्रकृतता का निर्देश है यह जानना चाहिये ॥६२-६४॥

पूर्वपक्षी जिसकी संभावना उठा सकता है ऐसे मतान्तर का भी निरास करते हैं–

मतं कार्यानभिव्यक्तिर्निमित्तासंभवाद्यदि। शक्तेरिति न तद्युक्तं शक्तितद्धेतुसंभवात् ॥६५॥
शक्तिरूपेण संबन्धो निमित्तानामपीष्यते। नैमित्तिकैरिति ततो वह्न्यौष्ण्यादिसमानता ॥६६॥
कार्यस्य शक्तितन्त्रत्वे सर्वदा कारणस्थितेः। कार्योत्पत्तिः सदैव स्यान्निदाघे घर्मवद्यतः ॥६७॥

अभिव्यक्ति के निमित्त न होने से शक्ति के कार्य की अनभिव्यक्ति यदि मोक्ष माना जाये तो वह भी युक्तियुक्त न होगा क्योंकि शक्ति तथा कार्य के निमित्त विद्यमान रहेंगे ॥६५॥

वादी शक्ति या शक्त का स्वरूपतः नाश मोक्ष है इस मत को छोड़कर कह सकता है कि शक्ति के कार्य का अभिव्यक्त न होना ही मोक्ष है। इस पक्ष में निरात्मकता का प्रसंग नहीं तथा शक्ति-शक्त से भेद या अभेद से उठने वाले विकल्पों को अवसर नहीं। केवल अनभिव्यक्ति तो सुषुप्ति आदि में भी होती ही है अतः मोक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाये इसलिये कहा कि अभिव्यक्ति जिन अदृष्ट आदि निमित्तों से होती है उन निमित्तों के भी न रहने पर जो अनभिव्यक्ति वह मोक्ष है। सुषुप्त्यादि में तो धर्मादि निमित्त रहते ही हैं अतः अतिव्याप्ति नहीं। उन निमित्तों को हटाने से ही ज्ञान की सार्थकता है। ज्ञान से उपासना समझनी चाहिये। एवं च कार्य की आत्यन्तिक अनभिव्यक्ति मोक्षपदार्थ स्थित हुआ। किन्तु सिद्धान्ती का कहना है कि शक्ति तथा अनभिव्यक्त कार्य के रहते मोक्ष माना नहीं जा सकता। शक्ति से या शक्त का उपादानकारण समझ सकते हैं या उपादानकारण में रहने वाली सामर्थ्य। सर्वथापि शक्ति के रहते उपादान तो उपस्थित है ही। निमित्त हैं धर्माधर्म, उनका नाश करने का कोई उपाय पूर्ववादी ने बताया नहीं अतः उनकी विद्यमानता भी निश्चित है। इस प्रकार संसारवेला में कार्य की अभिव्यक्ति में जो हेतु हैं वे मोक्ष में भी उपस्थित हो गये तो कार्य की आत्यंतिक अनभिव्यक्ति क्योंकर हो सकेगी? धर्माधर्म के विनाश के लिये यद्यपि ऐकभविकवादी ने तरीका बताया था तथापि वह अप्रामाणिक तो है ही, असंभव भी है क्योंकि जाने-अनजाने पाप-पुण्य हर किसी से हो ही जाते हैं जिन्हे भोगने के लिये जन्मान्तर अनिवार्य हो जायेगा। ॥६५॥

मोक्ष में कार्य व कारण अव्यक्त रूप से चाहे रहें, पर उनका आपस में सम्बन्ध न होने से मोक्षावस्थामें कार्य की अभिव्यक्ति नहीं होगी जिससे अनिर्मोक्षप्रसक्ति न होगी – वादी की इस संभावना को नकारने के लिये कहते हैं। –

कारणों का भी कार्यों से शक्तिरूप से सम्बन्ध (मोक्ष में) स्वीकार्य है। इसलिये आग की गर्मी आदि जैसी स्थिति है (जिससे मोक्ष संभव नहीं हो पाता।) ॥६६॥

'कारण' दोनों प्रकार के विवक्षित हैं– उपादान एवं निमित्त। धर्मादि को वादी ने ही पूर्वश्लोक में निमित्त बताया था। सिद्धान्ती ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि निमित्तभूत धर्मादि का अभाव कथमपि सिद्ध हो नहीं सका है। अतः मोक्ष में भी वे हैं ही। शक्तिरूप जो कुछ है – चाहे उसे कारण कहें या कारण में होने वाली सामर्थ्य – उससे उन निमित्तों का संबंध अवश्य है। साथ ही कार्यभूत जो कर्तृत्वादि कार्य उनसे भी धर्मादि का सम्बंध मानना होगा क्योंकि कर्तृतादि जिस आत्मा में अव्यक्तरूप से वादी को मोक्ष में स्वीकृत हैं उसी आत्मा में तो वह धर्मादि भी मानता है; एवं च सामानाधिकरण्य सम्बन्ध स्पष्ट है। और शक्ति भी तो आत्मा में ही है। इस प्रकार सबका संबन्ध ही है, असंबन्ध का कहाँ प्रसंग हे? तब कर्तृतादि की अभिव्यक्ति क्यों न होगी? और वे अभिव्यक्त हैं या हो सकते हैं तो मोक्ष कैसा? दृष्टान्त का तात्पर्य है कि जैसे अग्नि अप्रतिबद्ध हो तो गर्मी आदि का होना निश्चत है वैसे प्रकृत में सारी सामग्री के रहते आत्मा में कर्तृत्वादि भी निश्चित है ॥६६॥

आगे सिद्धान्ती विकल्प उठाता है कि क्या कर्तृत्वादि कार्य नियमतः तब होता है जब उसकी सम्पूर्ण कारणसामग्रा उपस्थित हो या समग्र कारण होने पर नहीं भी होता? यदि प्रथम पक्ष स्वीकार्य है तो यह वक्तव्य है –

यदि कार्य शक्ति के परतन्त्र है तो सदा कारण रहने पर सदा कार्य की उत्पत्ति होगी जैसे ग्रीष्म में गर्मी। क्योंकि ऐसा निश्चित है (इसलिये शक्ति-अवस्थिति पक्ष में मोक्ष असंभव है।) ॥६७॥

तथैव शक्त्यतन्त्रत्वेऽप्येष दोषो यतो भवेत्। सदा कार्यं न जायेत कारणासम्भवात्सदा ॥६८॥
निदाघे शीतवद्यस्मादतोऽसम्यगिदं वचः। निष्कारणस्य चोद्भूतौ कार्यजन्म सदा भवेत् ॥६९॥

'शक्ति' से सम्पूर्ण कारण समझने चाहिये। श्लो० ६५ में कहे प्रकार से मोक्ष में भी कारण सामग्री की विद्यमानता निश्चित है। अतः शक्तिशब्दित कारणसामग्री नित्य होने पर मोक्ष तो असंभव होगा ही, सुषुप्ति और प्रलय भी दुरुपपाद्य हो जायेंगे क्योंकि उन अवस्थाओं में भी कर्तृतादि कार्य का न होना आवश्यक हुआ करता है। कार्य का शक्ति अर्थात् कारणसामग्री के परतन्त्र होना यही है कि उसके होने पर नियमतः उपस्थित हो जाना। इस प्रकार मोक्ष में शक्ति की अवस्थिति और मोक्ष दोनों मानना नितान्त ग़लत है। कारण रहते कार्य होता ही है इसमें दृष्टान्त स्पष्ट ही है। यद्यपि घर्म व निदाघ का पर्यायरूप में भी प्रयोग प्रचलित है तथापि अमरसिंह ने निदाघ का परामर्श 'षडमी ऋतवः' से किया है अतः निदाघ ऋतु का वाचक है तथा घर्म से प्रस्वेद का हेतुभूत ताप समझा जाता है। जिसके कारण पसीना चू जाये, उसका क्षरण हो, वह घर्म है– 'जिघर्ति=क्षरति अनेन' ऐसी औणादिक (१.१४९) व्युत्पत्ति है ॥६७॥

पूर्वोक्त (श्लो० ६७) विकल्प की दूसरी कोटि है – समग्र कारणों की उपस्थिति में भी कार्य का नियमतः न निष्पन्न होना। इसका भी निषेध करते हैं –

इसी तरह, यदि कार्य शक्ति के परतन्त्र न हो तो भी क्योंकि मोक्ष की असंभवता रूप दोष अनिवार्य है (इसलिये वह पक्ष अनुचित है। कार्य को शक्ति से स्वतंत्र मानने पर) हमेशा ही कारण असंभव होने से कार्य कभी भी पैदा नहीं होना चाहिये ॥६८॥

शक्ति से पूर्ववत् कारणसामग्री समझनी चाहिये। जब कार्य को शक्ति के परतन्त्र रहना नहीं तो शक्ति भले ही रहे, कार्य क्योंकर उत्पन्न होने लगा? अतः कारण रहते कार्य होगा नहीं। फलतः कर्तृत्वादि कभी उपलब्ध ही नहीं होंगे तो उनकी निवृत्तिरूप मोक्ष का प्रसंग ही कहाँ है? यदि कर्तृतादि की अनुभूति की अन्यथा अनुपपत्ति से उन्हे अकारण उत्पन्न होने वाला मानें तो वे निश्चित मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे क्योंकि जिसके बारे में यही निश्चित किया जा सके 'यह क्यों हुआ पता नहीं' वह मिथ्या ही होता है। 'पता नहीं' अज्ञान का ही नाम है, उससे होने वाला मिथ्या होगा इसमें संशय क्या, और उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति ज्ञान से ही होनी संभव है अतः वादी की कल्पना सर्वथा असंगत है यह अभिप्राय है ॥६८॥

जो जिसके परतंत्र नहीं वह उसके रहते उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् कारण न रहते कार्य नहीं होता इसे सदृष्टान्त बताते हुए कहते हैं –

ग्रीष्म में ठण्ड की तरह (कर्तृत्वादि असंभव होंगे)। क्योंकि यही न्यायनिर्णीत है इसलिये कार्य शक्ति के परतन्त्र नहीं यह कहना ग़लत है। यदि बिना कारण ही उत्पत्ति होने लगे तो सदा ही कार्य का जन्म होवे! ॥६९॥

गर्मी की सामग्री के परतंत्र शीत नहीं है यह वस्तुस्थिति है और उस सामग्री के रहते शीत उत्पन्न भी नहीं होता यह भी वस्तुस्थिति है। पूर्ववादी के अनुसार शीत उत्पन्न होना चाहिये कारण कि जब कार्य उत्पन्न होता है तब उसके अनुसार सामग्री रूप में वही उपस्थिति होता है जिसके परतंत्र कार्य है नहीं। सामग्री से इतर तो कुछ बताया नहीं जा सकता जिसके परतंत्र कार्य हो। अतः ग्रीष्म में ठण्ड क्यों नहीं होती – इसका कोई उत्तर उसके पास नहीं। ऐसे ही मोक्षदशा में कर्तृतादि सामग्री न होने से कर्तृत्वादि जिसके परतंत्र नहीं वह स्थिति मौजूद रहेगी फलतः उन्हे उत्पन्न हो जाना पड़ेगा और मोक्ष असंभव सिद्ध होगा। इसलिये कारण न रहते कार्य का न होना उसे कारण के परतंत्र सिद्ध करता है। इस फलितार्थ को टीकाकार ने दिखाया है 'कर्तृत्वादेरपि यदधीनत्वं तदभावे कुतो जन्मेत्यर्थः' कहकर। वादी तो 'यदधीनत्व' नहीं मानता पर उसे मानना होगा यह अभिप्राय है। अतएव टीका की अवतरणिका भी संगत है। व्याख्याटीका का अर्थ है– गर्मी की सामग्री होने पर ठण्ड का कारण न होने से जैसे ठण्ड उत्पन्न नहीं होती वैसे, कर्तृतादि जिस सामग्री के अधीन हैं (अर्थात् अधीन माने जाने चाहिये) उसके न रहने पर उनका जन्म कैसे होगा? एवं च अधीन न मानना असंगत है। इस

कार्यता वा कुतोऽस्य स्यान्न चेत्कारणतन्त्रता । न च शक्यं प्रतिज्ञातुं जन्माऽऽरभ्याऽऽमृतेर्नृभिः ॥७०॥
निषिद्धकाम्यकर्मादिवर्जनं निपुणैरपि । सूक्ष्मापराधसंदृष्टेरतियत्नवतामपि ॥७१॥

प्रकार क्योंकि कार्य को कारणसामग्री के परतंत्र न मानना युक्तिसंगत नहीं है इसलिये उक्त विकल्प को स्वीकार किया जाना ग़लत है।

सिद्धान्ती ने यही समझाया कि जो कारण के परतंत्र नहीं होता वह उत्पन्न भी नहीं होता; जैसे आत्मा, वह किसी कारण के अधीन नहीं तो अजन्मा है। इस पर यदि कोई तर्क पूछे, अर्थात् कहे कि हेतु रहने पर भी साध्य न हो – कारण-परतंत्रता न होने पर भी उत्पत्ति हो जाये – क्या हानि है? तो उसे विपक्षबाधक तर्क समझा दिया कि वैसा होने पर कार्य सनातन हो जायेगा। कारण-परतंत्र न होते विद्यमान रहना अजन्मा आत्मा में ही देखा गया है जो नित्य है। अविद्या को भी यदि कारण-अपरतंत्र मान लें तो वह भी प्रायशः नित्य ही है। वस्तुतः, अकारण कादाचित्कता मानने पर स्पष्ट दोष यह आता है कि साधना व्यर्थ हो जाती है क्योंकि मोक्ष भी अकारण ही कादाचित्क स्वीकार्य होगा और वादी का सारा प्रयास व्यर्थ हो जायेगा। मोक्ष की असंभवता तो होगी ही, यह पूर्व में दिखा चुके हैं ॥६९॥

कर्तृतादि यदि शक्ति-परतंत्र न होंगे तो यह संभव नहीं कि वे कभी विद्यमान हों व कभी न हों। अतः उनकी निवृत्तिरूप मोक्ष न हो पायेगा यह बताते हैं–

यदि कर्तृतादि कारणपरतंत्र न हों तो उनकी कार्यरूपता कैसे हो सकेगी?

अर्थात् वे कार्य न होते हुए अनुभूयमान होने से नित्य होंगे अतः मोक्ष अनुपपन्न होगा। कार्य न होते हुए विद्यमान या सत्य होता है या मिथ्या। वादी कर्तृतादि को मिथ्या मानता नहीं और सत्य मानने पर नित्यता स्वाभाविक है क्योंकि सत्य नित्य वस्तु होती है यह आकरों में व्याख्यात है यह अभिप्राय है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि आत्मा की स्वरूपस्थितिरूप मोक्ष अथवा विषयों के भोग से उत्पन्न अस्वस्थता हटना रूप मोक्ष (श्लो० ५१) पूर्वपक्षी द्वारा प्रतिपादित साधन से लभ्य नहीं है।

अब आचार्य समझाना चाहते हैं कि वह उपाय स्वरूपतः ही असंभव है। इसके लिये पहले बताते हैं कि काम्यादि का परित्याग इत्यादि कोई यावज्जीवन कर सकेगा इसकी प्रतिज्ञा भी नहीं की जा सकती तो करने का प्रसंग कहाँ? –

किं च, कुशल लोग भी यह प्रतिज्ञा भी नहीं कर सकते कि पैदा होने से मरने तक वे निषिद्ध व काम्य कर्म नहीं ही करेंगे इत्यादि, क्योंकि अत्यन्त यत्नपूर्वक (धर्मादि का निर्धारण कर) व्यवहार करने वालों से भी सूक्ष्म अपराध होते देखे जाते हैं ॥७०-७१॥

'कुशल' (निपुण) से बताया कि वादी अधिकारिविशेषणों से जैसा भी व्यक्ति उपस्थित करे, ऐसी प्रतिज्ञा वह भी नहीं कर पायेगा। 'लोग' कह कर वादी का उपहास किया है कि मनुष्य तो प्रतिज्ञा नहीं कर सकते देवता करें तो भले ही करें! 'इत्यादि' से निषिद्ध व काम्य का दर्शन (उपासन) न करना, तथा नित्य-नैमित्तिक सांगोपांग यथाविधि अवश्य करना विवक्षित है। 'कुशल' से सूचित बात ही क्योंकि इत्यादि से स्पष्ट की है। इस विषय में तंत्रवार्तिक का (१.३.२ पृ.२०३) वाक्य दर्शनीय है 'सदाचारेषु हि दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः.... '। गीता में तो 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८.४८) कहकर विहितमात्रकारी का भी सदोषत्व अनिवार्य कर दिया है। जैसे लोक में कानून की गैरजानकारी से ग़लत काम जायज नहीं हो जाता वैसे धर्म अधर्म के विषय में भी मानना होगा अन्यथा निषेधशास्त्रमात्र को ध्वस्त कर देने पर सभी कल्मषमुक्त होने लगेंगे। अतः अज्ञानवश भी पाप संभव होने से तथा सर्वज्ञता दुर्लभ होने से चाहे जितना अनुसंधानपूर्वक काम करें, पाप होना कोई आश्चर्य नहीं। 'सूक्ष्म' अर्थात् छोटा। बड़े पाप तो प्रसिद्ध होने से उनसे कोशिश कर बचा भी जा सकता है पर छोटे पाप इतने अधिक हैं कि उनसे बचना सर्वथा संभव नहीं। अतः वादी ने जो यह कहा था कि निषिद्ध न करने से भावी पाप एकत्र न होंगे वह बात कट गयी और पाप होने से जन्म अवश्यंभावी है। बल्कि

संशयस्तु भवत्येव पक्षासिद्धिस्तु तावता। अथ चेन्मोक्ष्यते सोऽत्र यस्य सम्पत्स्यते तथा ॥७२॥
त्वदुक्तं नैतदेवं स्यादवक्तव्यत्वहेतुतः। निश्चितं साधनं वाच्यं ज्ञानं निःश्रेयसं प्रति ॥७३॥

पुण्य ही गल्ती से कम हुआ करते हैं, पाप तो गल्ती से काफी हो जाते हैं; अतः वादी का उपदेश मानने वालों को निःश्रेयस की तो संभावना ही नहीं, अभ्युदय से भी हाथ धोकर नरक की तैयारी करनी होगी यह भाव है। निषिद्ध की तरह काम्य भी कामवेगवशात् हो ही जायेंगे यह भी समझ लेना चाहिये ॥७०-७१॥

कहा जा सकता है कि देश-काल अनन्त है अतः पूर्वपक्षी को संमत उपाय के अनुष्ठान की प्रतिज्ञा कोई कर भी सकता होगा; सिद्धान्ती सब देशों के व सब कालों के सकल मुमुक्षुओं से तो परिचित है नहीं कि वह किसी प्रमाण के आधार पर कह सके कि कोई प्रतिज्ञा करने वाला नहीं हो सकता। कवियों ने भी उद्गार व्यक्त किये हैं जिनका आशय है कि पृथ्वी विस्तृत है और काल अनन्त है कोई न कोई तो मेरी बात समझने वाला भी होगा ही! इस पर सिद्धान्ती कहता है –

संशय तो हो ही जाता है और उतने से तुम्हारा पक्ष तो सिद्ध नहीं हो पाता।

यदि कहो कि अधिकारियों में जो कोई भी उक्त हेतु का सम्पादन कर लेगा वह मुक्त हो जायेगा ॥७२॥

सिद्धान्ती ने पूर्वत्र युक्ति से यह सिद्ध किया कि वादी-प्रोक्त उपाय का अनुष्ठान संभव नहीं। यद्यपि कोई अनुष्ठाता है, था या होगा ही नहीं इसमें कोई प्रमाण जुटा पाना कठिन है तथापि क्योंकि वादी के पास इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है कि उसके उपदिष्ट उपाय का अनुष्ठाता था, है या होगा ही, इसलिये जिज्ञासु को उस उपाय की संभवता में संशय तो होना अनिवार्य है। संशय रहते भी प्रवृत्ति होती देखी जाती है, जैसे 'स्थाणु है या पुरुष है' ऐसा संशय होने पर कौतूहलवश व्यक्ति उस ओर चल देता है, किन्तु ऐसा वहीं होता है जहाँ थोड़ा-सा प्रयास करना पड़े। जहाँ तो बहुत अधिक प्रयास है, जैसे तैर कर समुद्र में किसी स्थल पर पहुँचना, वहाँ जब तक निश्चित न हो कि तैर कर पहुँचा जा सकता है, कोई समुद्र में नहीं कूदता। वादी ने जो उपाय सुझाया है उसमें आयास तो भयंकर है ही, उक्तविधया अभ्युदय से भी चूक कर निरय की संभावना भी है। अतः संशयमात्र से प्रवृत्ति संभव न होने से वादी का पक्ष दृढ हो नहीं सकता।

वादी सूक्ष्मेक्षिका करता है कि संशय उसे ही होता है जिसे दो विरोधी ज्ञान हुए हों–'यह स्थाणु है' यह एक ज्ञान हुआ; फिर किसी हिलने डुलने आदि को देखकर दूसरा ज्ञान हुआ 'यह पुरुष है (अतः स्थाणु नहीं है)।' एक ही वस्तु स्थाणु हो भी और न भी हो, पुरुष हो, यह संभव न होने से द्रष्टा को संशयवृत्ति होती है 'यह स्थाणु है या नहीं?' अतः संशय होने से यह सिद्ध होता है कि किन्ही कारणों से 'स्थाणु है' यह ज्ञान तथा 'स्थाणु नहीं है' यह ज्ञान उसे हो चुका है। ऐसे ही मेरे उपाय का अनुष्ठान हो सकता है या नहीं ऐसा संशय तो होगा यह जब सिद्धान्ती ने मान लिया तब अर्थसिद्ध है कि 'अनुष्ठान हो सकता है' ऐसा ज्ञान भी उसने स्वीकार ही लिया। ऐसा नियम किया नहीं जा सकता कि कोई विषय संशय का विषय हर व्यक्ति को अवश्य बनता है। एवं च उपाय के विषय में 'हो सकता है' ऐसा ज्ञान जब स्वीकार्य है और संशय का नियम है नहीं तो कोई ऐसा अवश्य होना संभव है जो इतना ही समझे कि उसका अनुष्ठान हो सकता है। और वह फिर ऐसा करने में तत्पर हो जाये यह भी असंभव नहीं। तथा करते हुए वह आजन्म-आमृत्यु मेरे बताये तरीके से व्यवहार कर पाये यह भी संभव है। ऐसा जो होगा वह मुक्त हो जायेगा। हमें कोई अभी मिलता भले ही न हो, इतिहास आदि में भी चाहे न बताया हो, किन्तु उपाय की सत्यता तो मानी ही जा सकती है! ऐसी सर्वथा काल्पनिक परिस्थिति के सहारे वादी अपनी बात मनवाना चाहता है ॥७२॥

इस प्रकार भी उपायरक्षा नहीं होगी ऐसा सिद्धान्ती समझाता है –

तुम्हारे द्वारा प्रतिपादित साधन इस प्रकार भी संभव न होगा क्योंकि वह साधन अवश्य है यह कहा नहीं जा सकता। मोक्ष के लिये जो निश्चित साधन हो–जैसे ज्ञान–उसी का उपदेश दिया जा सकता है ॥७३॥

संशय किसी वस्तु का निश्चय कराने में समर्थ नहीं। विरुद्धकोटिक होने से वह उत्पन्न होते हुए ही अप्रमाण हुआ

करता है; उसकी विरुद्धकोटिकता ही उसके अप्रमाण हुए बिना संभव नहीं। जो तो संशय की उत्पत्ति की प्रक्रिया दिखाकर यह कहा था कि संशय के लिये प्रत्येक कोटि का ज्ञान आवश्यक है, वह भी सब संशयवृत्तियों का विचार किये बिना कहा था। संशयबोधक शब्दप्रयोग से जो संशयवृत्ति उत्पन्न होती है उसे पूर्व में प्रत्येककोटिक ज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं होती। 'या तो यह स्थाणु है और या पुरुष है। इत्यादि वाक्य सुनकर जो वाक्यार्थज्ञान होता है वह होता संशयरूप है पर उसके पूर्व श्रोता को 'यह स्थाणु है' ऐसा और 'यह स्थाणु नहीं है' ऐसा ज्ञान हुआ नहीं करता। शब्द तो ऐसी भी ज्ञानात्मक वृत्ति पैदा करने में समर्थ है जिसका विषय कोई सद्वस्तु है ही नहीं। भट्टवार्तिक (सूत्र २ श्लो० ६), योगसूत्र (१.९) आदि में यह बताया गया है। अतः वादीप्रोक्त उपाय, अत्यन्त असत् हो तो भी उसका ज्ञान शब्द करा ही सकता है। एतावता वह सत् तो नहीं हो जायेगा। इसलिये संशय के आधार पर स्वपक्षसिद्धि संभव नहीं।

यदि यह कहा जाये कि उक्त साधन इसीलिये कहीं अवश्य सिद्ध – निश्चित – है क्योंकि वह (अर्थात् उसकी सिद्धि) संशय की एक कोटि बनता है। 'स्थाणु है' यह अवश्य कहीं निश्चित होता है क्योंकि जहाँ वस्तुतः स्थाणु है वहाँ यही प्रमा होती है। और 'स्थाणु है' यह संशय की एक कोटि भी बनता है क्योंकि 'स्थाणु है या नहीं' यहाँ एक कोटि वह है ही। अतः संशय की एक कोटि होना इसमें हेतु हो सकता है कि वह विषय कहीं निश्चित हो।

तो ऐसा कहना किसी बुद्धिमान् को शोभा नहीं देता क्योंकि यह कहने का सार इतना ही है 'संशय का विषय होने से निश्चय का विषय है' और यह वाक्य ही विरुद्ध है, अपना ही विरोध कर रहा है। जैसे 'सत्यवादी होने से ही मिथ्याभाषी है' इत्यादि विरुद्ध कथन होता है ऐसा यह वाक्य भी है। तथा उक्त अनुमान तो इसी से निरस्त है कि शब्दजनित संशयविषय अत्यंत असत् भी संभव होने से संशय की एक कोटि बनना कहीं निश्चित होने का व्यभिचारी है। 'वन्ध्यापुत्र होता है या नहीं' वाक्य से ऐसा संशय हो ही सकता है व इसमें एक कोटि है वन्ध्यासुत का होना जो कहीं प्रमित नहीं। अतएव 'कहा ही नहीं जा सकता' ऐसा मूलकार ने बताया है।

दृष्टफलक उपाय बताते हुए संशयित उपाय भी बताया जाये तो सह्य है क्योंकि उसका कुछ हद तक अनुष्ठान करने की कोशिश की जा सकती है और असंभव या फलप्रद सर्वथा न लगने पर उसे छोड़ा जा सकता है। किन्तु वादी तो मरणपर्यन्त अपने उपाय का अनुष्ठान कराना चाहता है फलतः संशयित उपाय में प्रवृत्ति असंभव होना स्वाभाविक है।

यह प्रश्न नहीं उठाना चाहिये कि सिद्धान्ती प्रोक्त उपाय भी असंभव ही है। प्रथमतस्तु सिद्धान्ती वेदोक्त को उपाय कहता है अतः वह उपाय प्रमित है जबकि वादी ने किसी प्रमाण पर अपनी कल्पना आधारित की नहीं है, और कर सकता भी नहीं है। दूसरी बात पुराण, इतिहास आदि में उस उपाय के अनुष्ठाता व फलप्रापक प्रसिद्ध हैं तथा इदानींकाल में भी उपलब्ध होते हैं। तीसरी बात सिद्धान्ती अनुभूत दृष्टान्तों से युक्ति का प्रदर्शन भी करता है जिससे उसके उपाय में कोई अनुपपत्ति भी है नहीं कि उसे मानने में कोई कठिनाई हो। चौथी बात, सिद्धान्ती जीवन्मुक्तिरूप दृष्टफल का उपाय बता देता है जिसका कोई भी सत्यापन कर सकता है। सिद्धान्तोपदिष्ट उपाय तो जितना जितना अनुष्ठित किया जाये उतना उतना मोक्ष तो तत्काल सिद्ध होता जाता है। कवियों ने कहा है

'यस्मिन् वस्तुनि ममता मम तापस्तत्र तत्रैव । यत्रैवाहम् उदासे तत्र मुदाऽऽसे स्वभावसन्तुष्टः ॥

संक्षेपशारीरक में कहा है

'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते । निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥'(३.३६४) ॥

आचार्य ने भी त्याग की यह महत्ता बतायी है 'त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो यतः' (अपरोक्षा. १०६)। सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह के श्लोक भी देखने चाहिये

'यावद्यावच्च सद्बुद्धे स्वयं सन्त्यज्यतेऽखिलम्। तावत्तावत्परानन्दः परमात्मैव शिष्यते ॥९९९॥
यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते। असंकल्पेन शस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा ॥१००१॥

न तु यादृच्छिकी सिद्धिर्वक्तव्येह विपश्चिता। दैवगोचर एवैष न तु मानुषगोचरः ॥७४॥

सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।'

चूडामणि (श्लो० ४२२) में भी दृष्ट दुःखों से उद्विग्न न होना विद्या का उपस्थित फल कहा है। अतएव गुरुओं ने भोजन की उपमा दी है – प्रत्येक कवल खाने से कुछ तृप्ति मिलती है और कवलसंख्या बढ़ने के साथ तृप्ति बढ़ती है; ऐसे ही औपनिषद साधन का अनुष्ठान करते हुए ही मालूम चल जाता है कि हम मोक्ष की ओर बढ़ रहे हैं। अतः इस साधन को असंभव केवल वही कह सकता है जिसने अपना कल्याण न करने की ही ठान रखी हो ॥७३॥

शंका हो सकती है कि कुछेक नास्तिकादि मोक्ष के प्रति तपे पत्थर पर आरूढ़ रहना प्रभृति साधन बताते हैं जब कि वे साधन रूप से किसी प्रमाण से निश्चित होते नहीं; ऐसे ही वादी का कथन प्रमाण से अनिश्चित भी उपाय का बोधक हो तो क्या हानि है? इसका समाधान करते हुए कहते हैं –

निरतिशय फल की आकांक्षा वाले मुमुक्षु के प्रति विवेकी को अप्रामाणिक साधन का उपदेश नहीं देना चाहिये। तुम्हारे द्वारा बताया उपाय तो देवताओं का ही अनुष्ठेय हो सकता है, मनुष्यों का नहीं ॥७४॥

नास्तिकादि तो अविवेकी होने से अप्रामाणिक उपदेश दे दिया करते हैं अतः उनका अनुकरण अनुचित है यह अभिप्राय है। 'यादृच्छिकी' का व्याख्यान आनन्दगिरिस्वामी ने 'मानाद् ऋते' किया है। लोक में जब निश्चित ज्ञात कारण के बिना कार्य हो जाता है तो उसे यदृच्छा से हुआ कहा जाता है। अतः कुछ विद्वान् आँग्ल 'चांस्' (chance) शब्द को इसका पर्याय मानते हैं। वादी भी पूर्वपरीक्षानुसार निश्चित ज्ञात कारण बता पाया नहीं अतः उसके मत में यदृच्छया ही मोक्ष होने लगेगा यह तात्पर्य है। सिद्धिशब्द करणव्युत्पत्ति से साधनविषयक है। अथवा फलपरक मानकर यह अर्थ है 'बिना किसी निश्चित ज्ञात कारण के ही मोक्ष मिल जाता है ऐसा विवेकी को नहीं कहना चाहिये।' सर्वत्र कार्यकारणभाव मानते हुए मोक्ष के प्रसंग में ही उसे न मानना ही यहाँ अविवेकिता है। अतएव 'इह' (=मोक्षप्रसंगमें) की सार्थकता है।

वाद्युक्त उपाय की असंभवता के प्रतिपादन का निगमन करने के लिये उसकी देवैकानुष्ठेयता कही है। न्यायकल्पलतिका के अनुसार 'देवगोचर' पाठ है। शास्त्रप्रकाशिका में भी अगले श्लोक की अवतरणिका में 'देवमात्रगोचरत्वम्' कहा है। अतः मूल में 'देवगोचरः' ही पाठ होना उचित है। दैव-पाठ होने पर भी वही अर्थ है। देवशब्द से स्वार्थ में प्रज्ञाद्यण् (५.४.३८) है। यद्यपि प्रज्ञादि में देवताशब्द पठित है तथापि क्योंकि देवार्थक ही देवता शब्द है इसलिये उसे भी वहाँ पठितप्राय मान सकते हैं। अथवा यादृच्छिक होने पर सिद्धि दिलाना भाग्य का ही विषय है, मनुष्य के कार्यक्षेत्र से बाहर है – यह अर्थ समझ लेना चाहिये। इससे पूर्वार्द्ध में जो उपायोपदेश से मना किया था उसे उपपन्न कर दिया : क्योंकि मनुष्य के बलबूते का नहीं इसलिये मुमुक्षु को उपदेश देना व्यर्थ है ॥७४॥

पूर्वपक्षी अपने साधन की मनुष्य के प्रति उपदेष्टव्यता का ही निराकरण सहन न कर उस साधन की संभवता उपपन्न करने के लिये प्रयास करता है – सामान्य न्याय है कि आख्यात जब अपने अर्थ का ज्ञान कराता है तब अधिकारी की शक्ति उसमें सहायक बनती है। आख्यात कहते हैं क्रिया-विशेषों के विधायक शब्दों को जैसे 'कुर्याद्' करो इत्यादि। आशय यह है कि अनधिकारी यदि विहित क्रिया का अनुष्ठान कर ले तो भी वह न किये जैसा ही है क्योंकि फल होना नहीं। आचार्य श्रीरामाद्वय ने इस न्याय का यही आशय बताया है 'यथा प्रमाणाभासेन प्रतीतोप्यर्थोऽप्रतीत एव तथाऽधिकार्याभासेन कृतमप्यकृतमित्याशयः' (वेदान्तकौमुदीटीका पृ. २८१)। इसी आधार पर प्रसिद्धि है 'अधिकारिणि बोधजनकं शास्त्रम्'। मीमांसा में मनुष्याधिकारनिर्णय आदि अधिकारिसामर्थ्य के बल पर ही किया है। वादी का हृदय यह है कि आख्यात को सहायक चाहिये ही अतः 'काम्यादि छोड़ नित्यादि करो' ऐसी विधि के होने से ही पता चल जाता है कि इसकी सहायक अधिकारिसामर्थ्य अवश्य होगी। एवं च शाब्दी अर्थापत्ति से अधिकारसिद्धि का प्रयास है। कर्मादि में देवताओं का अनधिकार होने से जो सिद्धान्ती ने – हँसी में – कहा था कि वादी-प्रोक्त उपाय देवों द्वारा ही अनुष्ठेय हैं, वह निराकृत

सहकर्त्री भवेच्छक्तिरिति न्यायाद्भवेद्यदि। मनुष्यगोचरोऽपीति नाऽऽख्यातासंभवात्तथा ॥७५॥
मुक्त्यर्थी न हि काम्यादि वर्जयेदिति चोदना। अस्ति वेदे क्वचिद्येन शक्तेर्विध्येकदेशता ॥७६॥
काम्यादिवर्जनं त्वेतत्स्वमतिप्रभवं यतः। नातः शक्तेस्तदंशत्वं कथंचिदपि युज्यते ॥७७॥

है। फलतः मनुष्यों में ही कोई मानना होगा जिसमें उस विधि के अनुष्ठान की सामर्थ्य है। इस शंका को दिखा कर इसका निराकरण करते हैं –

'शक्ति सहकारी होती है' इस सिद्धान्त के अनुसार यदि उक्त उपाय को मनुष्यों के लिये संभव माना भी जाये तो भी इसकी उपायरूपता सिद्ध नहीं हो सकती क्यों वैसा कोई आख्यात है नहीं (जो अपने सहकारी शक्ति का आक्षेप करा पाये)। वेद में कहीं ऐसा विधान नहीं है 'मोक्ष चाहने वाला काम्य आदि का वर्जन करे' जिससे शक्ति विधिका अंश होवे ॥७५-७६॥

यदि विधि उपलब्ध हो तब तो उक्त सिद्धान्त से अन्यथाऽनुपपत्ति द्वारा शक्ति स्वीकारने की स्थिति बने। जब विधि है ही नहीं तब यह सिद्धान्त भी किसके सहायकरूप से शक्ति की सिद्धि करेगा? यथार्थ विधि ही शक्ति का आक्षेप कर सकती है। अप्रामाणिक वचन तो उक्त सिद्धान्त से शक्तिकल्पना की सामर्थ्य नहीं रखता। अनाप्तप्रोक्त विधि तो असंभव होने पर केवल उपेक्ष्य ही है। अतः श्रुति-स्मृति में ही ऐसी विधि मिलनी पड़ेगी और वह उपलब्ध होती नहीं। कर्ता की विहित का अनुष्ठान करने की सामर्थ्य विधि को अपना बोध कराने के लिये सहायक होने से विधि का अंश कही गयी है ॥७५७६॥

वादी कह सकता है कि श्रुति-स्मृति न सही, हमारे आचार्य का वचन तो ऐसा विधान करता ही है। कुमारिल भट्ट ने श्लोवार्तिक में (सम्बन्धाक्षेप. श्लो० ११०) कहा है 'मोक्ष-इच्छुक को चाहिये कि काम्य व निषिद्ध प्रवृत्तियाँ न करे तथा प्रत्यवाय हटाने की इच्छा से नित्य व नैमित्तिक कर्म करता रहे।' यही विधान कर्तृशक्ति का आक्षेप क्यों न करा लेगा? इसका सिद्धान्ती उत्तर देता है –

क्योंकि यह काम्य आदि का त्याग अपनी कल्पना से ही विहित है इसलिये कर्तृसामर्थ्य उसका (विधि का) अंश हो यह किसी तरह भी संगत नहीं ॥७७॥

यद्यपि मोक्ष दृष्टवस्तु है अतः उसका उपाय लौकिक प्रमाणों से जानकर बताया जा सकता है यह मानना आवश्यक हो सकता है तथापि वादी ने जो उपाय बताया है वह सारा ही अदृष्टसम्बंधी है। नित्यादि से प्रत्यवायनिवृत्ति स्पष्ट ही ऐसा विषय है जिसमें स्वमति की गति नहीं। सम्पूर्ण कर्म एक जन्म ही देते हैं (या एक जन्म के नित्यादि से क्षीण किये जा सकते हैं) यह भी अदृष्टसम्बंधी बात है। फिर उसने जो मोक्ष माना वह भी सर्वकर्मनिवृत्ति रूप होने से दृष्ट है नहीं। अतः वादी को अभिमत मोक्ष के लिये एवं उसके द्वारा उपदिष्ट उपाय के लिये केवल उसका वाक्य पर्याप्त नहीं, कोई न कोई श्रुति-स्मृति ही अपेक्षित है। मीमांसा में (१.३.१) स्मृतियों के प्रामाण्य का इसी आधार पर स्थापन किया है कि उनसे श्रुति की कल्पना हो जाती है। स्मृतियों के संदर्भ में स्वयं भट्टपाद ने तंत्रवार्तिक में कहा है 'तत्र यावद् धर्ममोक्षसम्बन्धि तद्वेदप्रभवं, यत्त्वर्थसुखविषयं तल्लोकव्यवहारपूर्वकमिति विवेक्तव्यम्।' (पृ. १६६)। कल्पसूत्राधिकरण में उन्होने पौरुषवचनों को सन्देह के घेरे में खड़ा कर दिया है 'न च पुंवचनं सर्वं सत्यत्वेनावगम्यते। वागिह श्रूयते यस्मात् प्रायादनृतवादिनी'॥ (पृ.२४२ तं.वा.)॥ अतः श्रौतविधि के विना चाहे जिस आख्यात से कर्तृशक्ति सिद्ध करना पूर्वपक्षी के लिये भी संभव नहीं है। अतः वक्ता आप्त होने पर भी उसका यह वचन निर्मूल होने से प्रमाण नहीं। वक्ता ने अपनी कल्पना से ही उपाय-उपेय की ऊहा कर ऐसा कह दिया है। अतः अंशरूप से कर्तृशक्ति सिद्ध करने में वह अक्षम है।

'किसी तरह' कहकर द्योतित किया कि यह तो तुम्हारे द्वारा उदाहृत वचन श्रुतिमूलक है नहीं कि उसमें स्थित आख्यात शक्तिकल्पक हो, यदि कहीं श्रुतिमूलक होता तो भी शक्तिकल्पक नहीं हो सकता था कारण कि असंभव की

विधि हो नहीं सकती। अतएव बाधाध्याय में निर्णय किया है कि असंभव होने से वस्त्र का पाक नहीं किया जाता 'वासो न पच्येत नहीदमन्नम्' (मीमांसानुक्रमणिका १०.३.३७)। प्रसंग यह है – प्रकृति में अन्वाहार्य दक्षिणा विहित है। अन्वाहार्य से अन्न समझना चाहिये। विकृतिरूप आग्रयण में वत्स (बछड़ा) और वस्त्र दक्षिणारूप में विहित हैं। प्रकृति में अन्वाहार्य के कुछेक संस्कारादि विहित हैं जिनका अतिदेश विकृति में होना निश्चित है क्योंकि संस्कारादि तो अन्वाहार्य दक्षिणा है इतने से ही विहित हैं और वत्सादि दक्षिणा तो हैं ही। अन्य संस्कारों सहित अन्वाहार्य का पाक भी विहित है। उसका अतिदेश हो या नहीं – इसका विचार करने पर वत्स का पाक करने से तो वह नष्ट हो जायेगा अतः उसका दक्षिणारूप में दिये जाने का विरोध होने से उसका पाक न किया जाये यह निश्चय किया 'वत्से न पाकः क्रियते विरोधात्' (मी. अनु. १०.३.३६)। फिर प्रश्न उठा कि वस्त्र तो नष्ट होगा नहीं तो क्या उसका पाक करना होगा? उत्तर दिया है कि एक तो पाक का विधान ओदन (भात) निष्पत्ति के लिये है व वस्त्र को हजार तरह पकाने पर भी वह भात बनेगा नहीं। दूसरी बात कही है कि वस्त्रका पाक किया जा भी नहीं सकता अतः वस्त्र के विषय में भी अतिदेशप्राप्त पाक का बाध होता है। न्यायमालाविस्तर में कहा है 'न च पाकः कर्तुं शक्यते। न ह्युष्णोदकसंयोगः पाक-शब्दार्थः; किन्तर्हि ? तण्डुलानां विक्लित्तिं जनयितुं कृतः पुरुषप्रयत्नः। न च वाससि विक्लित्तिः। तस्मादतिदिष्टः पाको बाध्यते।' (१०.३.९.३७)। एवं च असंभवविधान करते श्रौतवचन का भी बाध – या स्थलान्तर में अर्थान्तर कर विनियोग – होने पर वादी के वचन की क्या स्थिति है! अर्थान्तर का भी दृष्टान्त दशमाध्याय में ही (१०.२.३.१४) उपलब्ध है – प्रकृति में पुरोडाश का भक्षण विहित है वही कृष्णलचरु में विकृति में प्राप्त होना है। सुवर्णशकल को कृष्णल कहते हैं। उसका भक्षण संभव नहीं पर प्रत्यक्ष विहित है। अतः वहाँ भक्षण का अर्थ चूसना कर लिया जाता है–कृष्णलों में लगे घी को चूस लेने से ही भक्षणविधि का निर्वाह मान लिया जाता है। ऐसे ही यदि भट्टवचन को संभव करना ही हो तो उसका यही अर्थ मानना चाहिये कि मोक्षेच्छुक उक्त ढंग से आचार करे। उतने मात्र से उसे मोक्ष प्राप्त होगा ऐसा मान नहीं सकते। किन्तु ऐसी कल्पना भाट्टवचन के प्रसंग के प्रतिकूल ही होगी यह ध्यान रखना चाहिये। उन्होंने आत्मज्ञान से मोक्ष का निराकरण कर मोक्ष व उसके साधन का निरूपण किया है–'तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते' (श्लो० संबंध. १०६) तथा मोक्षार्थी क्या करे यह बताने के लिये ही 'मोक्षार्थी न प्रवर्तेत' (११०) आदि कहा है। अतः मूलकार ने उचित ही कहा है 'किसी तरह भी संगत नहीं।' ॥७७॥

स्मृति जैसे श्रुतिकल्पना करा कर प्रमाण रह जाती है वैसे ही भाट्टवचन क्यों न हो? इस प्रश्न के उत्तर के लिये पुनः मीमांसक का सिद्धान्त स्मरण कर लेना चाहिये। जैमिनि ने निर्णय किया है कि प्रत्यक्षश्रुति से विरुद्ध स्मृति अप्रमाण होती है। प्रत्यक्षश्रुति से विरोध न होने पर ही स्मृति से श्रुति की कल्पना की जाती है। जैसे श्रुति व लिंग में विरोध होने पर दुर्बल लिंग बाधित होता है ऐसे स्मृति भी बाधित हो जाती है। दुर्बलता श्रुत्यनुमानद्वारा प्रमाणत्वलाभ है। श्रुति को तो अनुमानादि किसी की आवश्यकता है नहीं। अतः जब तक स्मृति अनुमान करा कर प्रमाण हो पायेगी उसके पूर्व ही प्रत्यक्ष श्रुति उसका बाध कर देगी। यह प्रसंग भी तंत्रवार्तिक में स्पष्ट है (पृ. १७४-७५) –

'प्रमाणपदवीं यावद् नारोहत्येव हि स्मृतिः। बाध्यते तावदत्यन्तं श्रुत्यान्यनिरपेक्षया ॥
स्मृतेर्धर्मप्रमाणत्वं न तावत्स्वत इष्यते। तुल्यकक्षतया येन विकल्पपदवीं व्रजेत् ॥
पराधीनप्रमाणत्वाद् न प्रमाणपदे स्थिता। श्रुत्या बाधितमात्रासौ पुनर्नोज्जीवितुं क्षमा ॥'

तथा (पृ. १७७) –

'स्मार्तस्य बाधकःश्रौतो बलवत्वात्प्रतीयते। प्रत्यक्षे चानुमाने च प्रागेतद्ध्यवधारितम् ॥
श्रुतिलिङ्गे यथा चेष्टे व्यवस्थितबलाबले। संनिकृष्टविकृष्टार्थे तथैवेह श्रुतिस्मृती ॥'

अतः भाट्टवचन भी श्रुतिविरोधवश अप्रमाण हो जाने से स्मृतिन्याय से प्रामाण्यप्राप्ति कर नहीं सकता। 'आत्मा का अवगमन कर मृत्युविषयता से छूटता है' (कठ. ३.१५), 'अन्य मार्ग नहीं है' (पुरुषसूक्त), 'कर्म से नहीं' (कैवल्य.३) आदि

नित्यादिकरणान्नापि काम्यादेश्चापि वर्जनात्। श्रेयः सम्भाव्यते विद्यानिष्फलत्वप्रसङ्गतः ॥७८॥
काम्यात्स्वर्गादिकं मा भूदक्रियायां तदुद्भवम्। अर्थान्तरात्स्वभावाद्वा भवन्न नु निवार्यते ॥७९॥

सहस्रों वाक्यों का यहाँ विरोध स्पष्ट है। इतना ही नहीं, ज्ञान का शास्त्र में प्रतिपादन तभी संगत है जब उससे पुरुषार्थलाभ हो। दृष्ट कोई लाभ मिलता नहीं; अदृष्ट की कल्पना शास्त्राधीन है व मोक्षातिरिक्त फल ज्ञान का शास्त्र से सिद्ध होता नहीं। यदि ज्ञान के विना ही कर्म से – कुछ कर्म करने व कुछ न करने से – मोक्ष होने लगे तो विद्योपदेश निष्फल होने से अप्रामाणिक हो जायेगा। कर्म व ज्ञान का समुच्चय संभव है नहीं जो उसे अंगादिरूप से सफल होने का मौका मिले। विकल्प मानने का प्रसंग नहीं; एक तो वादी विकल्प मान रहा नहीं है, दूसरी बात यह है कि अकेला ज्ञान यदि बंधनिवर्तक होगा तो बंध बलात् मिथ्या सिद्ध होगा तथा वैसा होने पर वह कर्म से कथंचिदपि निवृत्त हो नहीं सकेगा। समस्त विद्याप्रसंगों को उपासना परक लगाया जा नहीं सकता। अतः अन्य उपपत्तियाँ छोड़ भी दें तो श्रौतवादी के लिये इतनी ही युक्ति पर्याप्त है कि क्योंकि शास्त्र ने सफल ज्ञान का उपदेश दिया है इसलिये कर्ममार्ग से मोक्ष संभव नहीं। यही बात कहते हैं –

नित्यादि कर्म करने से तथा काम्यादि कर्म न करने से भी मोक्ष संभव नहीं ही है क्योंकि यदि इस प्रकार उसे संभव मानें तो ज्ञान के निष्फल होने का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होगा ॥७८॥

नित्यादि में नैमित्तिकादि तथा काम्यादि में निषिद्ध का संग्रह है। विद्या निष्फल होने को वादी भी इष्ट नहीं मानता है। स्वाध्यायविधि से गृहीत होने के कारण वेदाध्ययन से फल होना चाहिये; वह यही है कि उसके अनुसार समझ कर आचरण करें व स्वर्गादि पायें। जो प्रसंग कुछ करने को कहते नहीं उनका भरसक तो वादी किसी तरह क्रियासंबंध स्थापित कर ही लेता है तथा उस सम्बद्ध क्रिया से स्वर्गादि प्राप्त होने के कारण उन भागों का अध्ययन सफल मान लेता है, किन्तु जिन प्रसंगों का चाहकर भी वह क्रियासम्बंध बता नहीं पाता उनकी सफलता का एकमात्र उपाय आचार्य बादरायण के अनुसार निश्चित हो जाता है। श्रुत्युक्त होने से ही वही फल मानना अकेला उपाय है। यदि निष्फल हो तो उसका अध्ययन व्यर्थ होगा। 'अर्थो धर्मः' यह मीमांसक का मानना है ही। अतः व्यर्थ होने पर अध्ययन धर्म नहीं रहेगा। फलतः उसका विधान अप्रामाणिक हो जायेगा। अदृष्टमात्र फल मानने का प्रयास करे तो शारीरकोक्त न्याय सहकृत श्रुति से सिद्ध दृष्टफल आड़े आता है क्योंकि वही यह मान चुका है कि दृष्टफल संभव होते अदृष्ट की कल्पना ग़लत है। एवं च इस सीधी सी युक्ति से वेद-प्रमाणवादी को ज्ञानैकसाधन मोक्ष स्वीकार्य है ॥७८॥

आगे सिद्धान्ती कहता है कि यदि मान भी लें कि कोई व्यक्ति संकल्पादिपूर्वक ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म तथा ब्रह्महत्यादि निषिद्ध कर्म यावज्जीवन नहीं करेगा, तो भी उतना मात्र मोक्ष के लिये पर्याप्त हेतु नहीं हो सकता –

काम्यकर्म न करने के कारण तथा निषिद्ध कर्म न करने के कारण भले ही स्वर्गादि एवं नरकादि की प्राप्ति न हों, अन्य सप्रयोजन आचरणों से या स्वाभाविक परिस्थितियों से प्राप्त होते हुए स्वर्गादि को रोका नहीं जा सकता ॥७९॥

मूलस्थ 'अक्रिया' शब्द में नञ् विरोधार्थक मानकर शास्त्रप्रकाशिका के अनुसार निषिद्धक्रिया अक्रिया का वाच्य है। कल्पलतिका में अक्रिया से 'न करना' यही अर्थ लिया गया है तथा निषिद्ध को काम्य से उपलक्षित कर लिया है क्योंकि स्वर्गादि के आदि से नरक का ग्रहण इष्ट है। एवं च – काम्यादिसे लभ्य उनके कार्यभूत स्वर्गादि काम्यादि न करने से भले ही न हों –यह प्रथमार्ध का अर्थ है। तात्पर्य उभयत्र समान है। आनन्दगिरीय व्याख्यान में 'तद्धेतुकर्मवर्जनाद्' व 'निषिद्धवर्जनाद्' ये शेष माने गये हैं। इसी गौरव से बचने के लिये तथा 'काम्यात्' व 'अक्रियायाम्' में विभिन्न विभक्तियों का एक वाक्य में एकार्थक प्रयोग अस्वरस देखकर संभवतः विद्यासागर का विकल्प है।

'अन्य सप्रयोजन आचरण' आगे (श्लो० ९२) स्पष्ट किये जायेंगे। स्वाभाविक परिस्थिति अर्थात् पुण्यदेश में निवास,

अन्यतो भवने मानं न चेदस्त्विह संशयः। एतावताऽपि पक्षस्ते प्रतिबद्धो न सिध्यति ॥८०॥
अथैतयोरिति तथा चोदनार्थातिलङ्घिनाम्। सुखदुःखादिसंदृष्टेर्न चाप्यस्तीह संशयः ॥८१॥

देवमंदिरशिखर का दर्शन, भगवन्नाम का उच्चारण आदि से भी यथायोग्य पुण्य-पाप शास्त्रबोधित हैं, उनसे बचना भी असंभव है। अतः ज्योतिष्टोमादि भले ही न करे छोटे मोटे पुण्यादि का प्रतिप्राप्ति हो जाना निश्चित होने से तथा 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' न्याय से उसके फलोपभोगार्थ देहग्रहण अनिवार्य होने से वादी के बताये ढंग से निःश्रेयस लाभ हो नहीं सकता ॥७९॥

वादी की ओर से यदि यह तर्क दिया जाये कि काम्यादिवर्जन पूर्वक नित्यादि के अनुष्ठाता को जन्मान्तर प्राप्त होता ही है इसमें कोई प्रमाण नहीं, अतः उक्त उपाय वाले को कैवल्यलाभ हो जाता है यह मान लेना चाहिये; तो सिद्धान्ती पहले यह मानकर उत्तर देता है कि उसे जन्मान्तर होता है इसमें प्रमाण नहीं –

अन्य हेतु से शरीरान्तर के होने में प्रमाण न हो तो भी इस विषय में संशय तो है ही; इतने से भी संशय-प्रतिरुद्ध तुम्हारा पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता ॥८०॥

'अन्य हेतु' अर्थात् पूर्वश्लोकोक्त कारण। संशयग्रस्त उपदेश मुमुक्षु के लिये व्यर्थ है यह पूर्वत्र (श्लो० ७२-७३) बताया जा चुका है। संशय हेतु तो स्पष्ट है– ऐकभविकवादी द्वारा, तथा भाट्ट द्वारा, प्रोक्त उपाय मोक्ष के लिये पर्याप्त है इसमें भी तो कोई प्रमाण नहीं है! अदृष्टसम्बद्ध साधन का अनुष्ठान निश्चय के परतंत्र होता है अतः संशय को अनुष्ठान का प्रतिबंधक समझा जाता है। श्रद्धा वाला ही अधिकारी होता है संशयालु नहीं और श्रद्धावान् को ही कर्म फलता भी है। पुष्पदन्ताचार्य ने भी कह दियां है 'ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः'। श्रद्धा निश्चयविशेष है। अप्रामाणिक निश्चय की सफलता काकतालीय ही हो सकती है अन्यथा पाखण्डमतमान्यता का प्रसंग दुर्वार होगा। कम से कम, श्रद्धा का विषय स्वरूपतः प्रामाणिक होना ही चाहिये, श्रद्धा चाहे प्रमाणजन्य न भी हो। वादिप्रोक्त मत तो स्वरूपतः ही अप्रामाणिक ही नहीं प्रमाणविरोधी भी है अतः वैसी यदि श्रद्धा हो भी जाये तो सफल हो नहीं सकती ॥८०॥

पूर्वश्लोक में यह मानकर कि वादिप्रोक्त उपाय के अनुष्ठाता का जन्मान्तर होता है इसमें प्रमाण नहीं, उसके मत का निरास संशयग्रस्तता दिखाकर किया था। अब यह दिखाते हुए कि उक्त अनुष्ठाता के जन्मान्तर में प्रमाण है, यह स्पष्ट करते हैं कि वादिप्रोक्त उपाय संशयविषय भी नहीं, स्पष्ट बाधित है–

एवं 'और इन दोनों में से' इत्यादि शास्त्रानुसार, उपदिष्ट मर्यादा का उल्लंघन करने वालों को सुख-दुःख आदि की प्राप्ति प्रमित होने से उक्त प्रसंग में संशय भी नहीं है ॥८१॥

छान्दोग्योपनिषत् में (५.१०.८) बताया है कि केवल कर्म करने वाले दक्षिण मार्ग से जाकर कर्मफल भोगकर जैसा उनका आचरण (कर्म) रहा होता है वैसी योनि में पुनः उत्पन्न हो जाते है। जो उपासना सहित कर्म करते हैं – चाहे वह अन्त्याश्रम विहित कर्म ही हो – वे उत्तरायण या देवयान से प्रयाण करते हैं तथा अमानव पुरुष उन्हे ब्रह्म प्राप्त करा देता है। और जो कर्म तथा उपासना नहीं करते वे इन दोनों रास्तों से महायात्रा कर नहीं पाते, बल्कि घास, कृमि आदि अति नीच योनियों में पुनः पुनः जन्मते मरते रहते हैं। शास्त्र का उपदेश है कि मुमुक्षु को परमेश्वर की अनन्य शरण लेकर जीवित रहते परमात्मज्ञान पा लेना चाहिये, बुभुक्षु मुमुक्षु बनने की कोशिश करे, न कर पाये तो यथासंभव सोपासन कर्म करे व उसमें भी असमर्थ हो तो केवल शुभ कर्म करे। ये ही शास्त्रोपदिष्ट मर्यादायें हैं। जैसे किसी भी शास्त्रोपदेश का उल्लंघन कष्टप्रद है वैसे इन मर्यादाओं का उल्लंघन भी कष्टप्रद ही है। कष्ट भी शास्त्र ने ही स्पष्ट कर दिया है – बार-बार नीच योनियों में जन्मना मरना। इस स्थिति को उक्त छान्दोग्य में 'तीसरी जगह' कहा है। ब्रह्मलोक व स्वर्ग की अपेक्षा यह तीसरी है। इसमें अत्यन्त कम तो सुख व बहुत अधिक दुःख एवं अज्ञान रहता है। 'सुख-दुःख आदि' से उनके दृष्ट साधन अन्नादि समझने चाहिये। वादिसंमत मुमुक्षु तो कर्म व उपासना का परित्यागी है, आत्मज्ञान से भीषण परहेज़ रखता है, अतः

नित्यस्याकरणे दोषस्तत्क्रियायां न यद्यपि। अन्यतोऽसौ स्वभावाद्वा न तु मानेन वार्यते ॥८२॥

वह तो इस तीसरे स्थान का ही अधिकारी होगा, मोक्ष का नहीं। उक्त छान्दोग्य वचन मुमुक्षु को विषय न करे यह भी संभव नहीं, कारण कि भगवान् बादरायण ने विद्या को सब कर्मों की अपेक्षा है (ब्र.सू. ३.४.२६) बताकर जो मुमुक्षु नहीं उसके लिये भी नित्य कर्म अवश्य कर्तव्य है (ब्र.सू. ३.४.३२) यह कहा है जिससे अर्थसिद्ध है कि मुमुक्षु के लिये तो वे अवश्य कर्तव्य हैं ही। अतः धर्मानुष्ठान में अधिकारी होने से मुमुक्षु यदि उनका त्याग करे तो शास्त्राज्ञा का उल्लंघन होगा ही। उत्तम विविदिषु का तो गुरुसेवादियुक्त श्रवणादि ही विहित आश्रम कर्म होने से कोई आपत्ति नहीं। यह प्रश्न नहीं करना चाहिये कि वादी को बादरायणवचन से कैसे चुप करायेंगे? – क्योंकि तब तो प्रतिप्रश्न उठ जायेगा – सिद्धान्ती को जैमिनिवचन से कैसे चुप करायेंगे? अतः जैसे वह सिद्धान्तमत में जैमिनिवचन का विरोध नहीं देख सकता तो सिद्धान्ती वैसी व्याख्या से उनके वचन व औपनिषद सिद्धान्त को समंजस बनाता है उसी प्रकार वादी का कर्तव्य है कि वह अपने मत को बादरायणवचन से अविरुद्ध रखे। जो लोग बादरायणादि महर्षियों को आप्त मानते हैं उनके परस्पर संवाद में ही यह मर्यादा है। अतः नास्तिक मान्यताओं की परीक्षा में उनके प्रवर्तकादि के वचन का अविरोध सिद्धान्ती स्वसिद्धान्त में दिखाने को बाध्य नहीं।

वादी कुशावलम्बन से नित्यकर्मवशात् मोक्ष मान नहीं सकता क्योंकि वह स्वयं उन्हे निष्फल मानता है। निष्फल होते हुए मोक्षफलक मानना व्याघात होगा। यदि उक्त बादरायणसिद्धान्त से मुमुक्षु कर्म अवश्य करे यह मानें तो भी वादिप्रोक्त अधिकारी नित्यानुष्ठाता होने से तृतीयस्थान क्यों पायेगा? इसका उत्तर यही है कि भ्रम-प्रमाद आदिवशाद् विहित का त्याग निश्चित होने से विहितत्यागप्रयुक्त अनिष्ट फल नहीं मिलेगा यह सिद्ध किया नहीं जा सकता अतः कुछ न कुछ अनिष्टोपार्जन अनिवार्य है। यह बात यद्यपि सभी कर्मकर्त्ताओं के लिये तुल्य है तथापि पुण्याधिक्य से वे सद्गति अवश्य पाते हैं, कुछ काल के लिये भले ही कष्टभागी बनना पड़े। जैसे नित्यादि का फल मोक्ष संभव नहीं वैसे ही वे तृतीयस्थान की प्राप्ति रोकेंगे यह भी असंभव है क्योंकि तब इसीसे साफल्य पाकर उनकी अफलता की प्रतिज्ञा की हानि होगी। किं च यदि कथंचित् दोषादिरहित कोई हो भी जाये तो मोक्ष क्योंकर पायेगा? मोक्ष का कोई हेतु तो संचित है नहीं। संसरणकारण कर्म भी किये नहीं। ऐसा आत्मा तो अतिचिन्त्य स्थिति वाला हो जायेगा। संसारसम्बन्धाभावमात्र की मोक्षरूपता पूर्वत्र परीक्षित है, उसके अनुसन्धान से ही यहाँ की अमोक्ष-असंसरण दशा जाननी चाहिये। वस्तुतः यह मान्यता कि प्रतिजीवन समस्त एकत्र कर्म भोग लिये जाते हैं, सर्वथा ग़लत है ऐसा आगे वर्णन आयेगा। अतः इस मान्यता पर आधारित सारी कल्पना निर्मूल है। निश्चय यही है कि जब तक परमात्मा-जीवात्मा के अद्वैत का अज्ञान है तब तक किसी भी तरह मोक्ष की आशा नहीं है। ॥८१॥

ऐकभविकमत न मानने वाले के लिये यह स्पष्ट तर्क है कि उक्त भाट्टरीति से एक जन्म में चाहे कर्मसंचय न हो, पूर्व अनन्त जन्मों में संचित अनन्त कर्म तो उपस्थित हैं ही, तब मुक्ति कैसे? नित्यादि पूर्वदुरितनिवर्तक हैं ऐसा कदाचित् कोई मानना चाहे तो भी पूर्वसुचरित का क्या होगा? अनादि जन्मप्रवाह में अर्जित कर्मजात का भोग पाना या नित्यादि से निबर्हण भी अनन्त जन्म लेगा ही। फलतः जन्मपरंपरा की समाप्ति असंभावित होकर मोक्ष को अलीक बना डालेगी।

जो तो यह पक्ष उपस्थित होता है कि देहान्तर का कोई निमित्त न होने से जन्मान्तर न होगा; उस पर सिद्धान्ती कहता है –

नित्यकर्म न करने से दोष होता है, उसे कर लेने पर नहीं, यद्यपि यह बात ठीक है तथापि कारणान्तर से या स्वभाव से होता दोष किसी प्रमाण से निषिद्ध नहीं होता। ॥८२॥

यद्यपि न करने मात्र से दोष व करना निष्फल सिद्धान्ती को अभिमत नहीं तथापि वादिमान्यतानुसार दोष देना उचित होने से वैसा मानकर वाद संगत है। ऐकभविकमत की असंभवता स्पष्ट करनी ही है अतः उसे सिद्धवत् मानकर कारणान्तर

नित्यादेः फलमिष्टं चेदुपात्तदुरितक्षयः। तथाऽप्यागामिदोषेष्वाशङ्का पूर्ववदुद्भवेत् ॥८३॥
अनभीष्टफलानां च दुरितत्वात् क्षयो भवेत्। न त्वाभ्युदयिकानां स्यादभीष्टत्वात् क्षयस्तव ॥८४॥

से जन्मान्तरीय कर्म समझ लेने चाहिये। अन्य मत में तो वे स्वीकृत ही होने से दोष स्फुट है। यद्वा 'यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु' (मनु.) न्याय से अन्यकृत कर्म प्राप्त हो सकते है; इत्यादि को कारणान्तर से समझ सकते हैं। स्वभाव पूर्व (७९) में व्याख्यात है। उस श्लोक में अर्थान्तर या स्वभाव से पुण्यप्राप्ति का निवारण असंभव कहा था, यहाँ पापप्राप्ति का निराकरण असभंव सिद्ध किया है, युक्ति आदि समान है। ॥८२॥

शंका की जा सकती है कि इस जन्म में किये नित्यादि कर्मों से जो धर्मविशेष उत्पन्न होता है वह पूर्वजन्मों में विहितकर्म न करने से प्राप्त पापसमूह का विनाश कर देता है अतः जन्मान्तरीय स्खलनादि मुक्ति पाने में विरोध नहीं कर सकते। ऐसा निश्चित हो तो इस जन्म में यथाविधि नित्यादि करना मोक्ष क्यों नहीं दे पायेगा? इस शंका को दिखाकर परिहार बताते हैं –

यदि पूर्व में एकत्र किये पाप का क्षय नित्यादि कर्म करने का फल स्वीकृत हो तो भी आगामी दोषों की शंका तो वैसे ही बनी रहेगी जैसे पूर्व में थी ॥८३॥

एकत्र किये पाप यहाँ वे ही विवक्षित हैं जिनकी प्राप्ति केवल इसलिये हुई है कि हमने नित्यादि का अनुष्ठान किया नहीं। ऐसे ही आगामी दोष भी वे ही यहाँ गिने गये हैं जो भविष्य में नित्यादि न करने से हो सकते हैं। यदि वे हुए तो भावि शरीरान्तर का ग्रहण अवश्य करा देंगे। एवं च जैसे पूर्व में (श्लो. ८०) संशयित होने से पक्षासिद्धि थी वैसे यहाँ भी है। अथवा जैसे पूर्व संचित दुरित से मोक्ष की असंभावना थी वैसे भावी संचित दुरितादि से भी बनी रहती है, यह अर्थ है ॥८३॥

प्रश्न होता है कि सिद्धान्ती ने जो यह कहा कि साधक भविष्य में नित्यादि न करे यह संभावना है (श्लो. ८३) वह क्या साधक के वर्तमान जन्म को लेकर कहा कि भावि जन्म को? वर्तमान में तो वह सावधानी पूर्वक नित्यादि करता ही रहेगा जिससे उक्त संभावना निरस्त हो जायेगी और पूर्वप्रदर्शित रीति से वर्तमान देह का पात होने पर मुक्ति अवश्य हो जाने से भावि शरीर ही नहीं होगा कि नित्यअकरण का प्रसंग उठे। यद्यपि इस प्रश्न का निराकरण यह हो सकता है कि वर्तमान जन्म में असावधानी नहीं होगी ऐसा निश्चय किया न जा सकने से सांशयिकता के रहते पक्षासिद्धि संगत है तथापि क्योंकि यह परिहार पूर्व नें (श्लो. ७१) सूचित किया जा चुका है इसलिये तथा पापसम्बद्धन्याय का पुण्य में संचार दिखाने के लिये आचार्य पूर्ववादी के पक्ष को अन्य प्रकार से असंभव बनाते हुए कहते हैं –

पाप होनें से जो अनिष्ट फल वाले कर्म हैं उनका क्षय हो जाये तो भी स्वर्गादि के हेतुभूत कर्मों का तो क्षय होगा नहीं क्योंकि वे इष्ट फल वाले हैं ॥८४॥

'धर्म से पाप हटता है' (महाना. २२.१) इस श्रुति से यदि पाप – जिसका फल कोई भोगना नहीं चाहता – सम्पूर्णतः समाप्त हो जाये तो भी पुण्यसमापन का क्या उपाय है? मोक्ष इष्ट है व पाप अनिष्टफलकतया अनिष्ट है अतः इनका विरोध है; पुण्य से मोक्ष का विरोध क्यों? जन्मग्राहक होने से पुण्य भी शरीर असंबन्धरूप मोक्ष का विरोधी हो तो भी पुण्य का निवारण पुण्य से कैसे होगा? विरोधी ही निवार्यनिवारक होते हैं। पाप का पुण्य से विरुद्धफलकत्वरूप विरोध है अतः वह पाप की भले ही निवृत्ति करे, पुण्य की करेगा नहीं। यदि विरोधी होने से पाप को पुण्यका निवर्तक माने तो क्या मुमुक्षु का पाप वैसा होगा या सभी का? प्रथम पक्ष वादी को संमत इसलिये नहीं कि वह काम्य व निषिद्ध में मुमुक्षु की अप्रवृत्ति कह चुका है। द्वितीय पक्ष उसे इसलिये नहीं मान्य है कि तब पाप किसी अनिष्ट का जनक रहेगा नहीं जिससे वह निषेधविषय हो यह संगत न होगा। यदि सुकृतक्षय ही अनिष्ट मानें तो भी किस सुकृत का कौन दुरित निवर्तक है यह नियम दुर्ज्ञेय होगा ही एवं अपने सुकृत ज्ञात भी होते हैं नहीं कि उन-उन की निवृत्त्यर्थ उस-उस पाप को किया जा सके।

सर्वेषां दुष्टता चेत्स्यान्न विधानाददुष्टता। नापि श्येनादितुल्यत्वं फलदोषेण दुष्टता ॥८५॥

पुण्य से पाप की निवृत्ति स्थल में तो पुण्य नित्यादिजन्य ही विवक्षित है व पाप नित्यादि-अकरणजन्य ही विवक्षित है अतः व्यवस्था वादी ने बना ली थी। पुण्यस्थल में वह संभव नहीं। इसलिये प्रारब्धांगभूत पुण्यों से पृथक् जो पूर्व में एकत्र पुण्य तथा भविष्य में संभाव्य पुण्य, उनसे शरीरान्तर अवश्य होगा व मोक्ष की असंभवता बनी रहेगी ॥८४॥

पूर्वपक्षी की एक सूक्ष्मेक्षिका दिखाकर उसका निराकरण करते हैं –

यदि सभी कर्म पाप माने जायें (तो क्या हानि है)? सब को ऐसा मान नहीं सकते क्योंकि विहित होने से सत्कर्म पाप नहीं हैं। विहित सत्कर्म श्येन आदि के समान भी नहीं है क्योंकि दोषरूप फल वाले होने से श्येनादि सत्कर्म नहीं जब कि विहित सत्कर्मों का फल दोषरूप नहीं है ॥८५॥

ब्रह्मसूत्रों में (४.१.१३-१४) ज्ञानी के पापों का उससे असम्बन्ध और विनाश बताकर उसी नीति से उसके पुण्यों का उससे असबन्ध कहा है। इस के आधार पर वादी कहता है कि मुमुक्षु को पुण्य भी शरीरग्राहक होने से अनिष्ट है अतः उसके लिये पाप ही है। यदि यों पुण्य भी पाप की श्रेणी में आ जाये तो पूर्वोक्त श्रुति से नित्यादिजन्य धर्म पापत्वसामान्य से पुण्य का भी अपनोदन कर लेगा – यह वादी का आशय है। योगियों ने भी माना है कि परिणाम, ताप व संस्कार के दुःखों के कारण तथा गुणों के (त्रिगुण के) वृत्त्यतिशयों का परस्पर विरोध होने से विवेकी के लिये सभी दुःख है (यो.सू. २.१५)। जब सभी दुःख है तो उनके सभी साधन पाप होंगे ही। वृत्त्यतिशय अर्थात् यद्यपि सुखभोग में सत्त्व प्रधान है तथापि जगन्मात्र में त्रैगुण्य होने से उपसर्जनीभूत रज भी रहेगा व तत्परिणाम स्वल्प दुःख भी रहेगा जिससे सभी सुख दुःखयुक्त ही होंगे।

सिद्धान्ती का अभिप्राय है कि पाप व पुण्य का नियामक विहितत्व व निषिद्धत्व को मानना आवश्यक है क्योंकि अन्य कोई संभव नहीं। अन्यथा मुमुक्षु के लिये ही नहीं सभी के लिये सब कर्म पाप ही हो जायेंगे। अनिष्टफलकत्व को पापत्व का नियामक मानने से अव्यवस्था अनिवार्य है क्योंकि किसे अनिष्ट व कब अनिष्ट – ये प्रश्न हमेशा अलग-अलग उत्तर पाते रहेंगे। इसी तरह अनेक व्यसनी लोग सदोष वस्तुओं को इष्ट मानते हैं तो उनकी प्राप्ति कराने वाले निषिद्ध कर्म भी पुण्य होने लग जायेंगे। एवं च धर्म केवल मनःकल्पित होने लगेगा जो वादी को भी स्वीकार्य नहीं है। विहित ही धर्म हो सकता है और उसे भोग कर ही नष्ट किया जा सकता है। हाँ, तत्त्वज्ञान में वह बल अवश्य है जो भोगे बिना पुण्यों को भी भस्मसात् कर देता है। जो तो कर्मनाशा नदी का स्पर्श आदि सत्कर्मनिवारक कहे हैं वे केवल स्पर्शनिषेध के अर्थवाद हैं। उन्हे यथाभूत नहीं माना जाता।

प्रश्न हो सकता है कि विहित होने मात्र से कर्म निर्दोष नहीं सिद्ध होता क्योंकि श्येनयाग विहित तो है पर हिंसारूप सदोष फलवाला होने से स्वयं भी निर्दोष कहा नहीं जा सकता। श्येन की तरह ही संदंश, एकत्रिक आदि अभिचार कर्म और भी हैं। इस प्रश्न का उत्तर है कि श्येन की सदोषता इतनी ही है कि उसका फल निषिद्ध वस्तु है। वार्तिक में कहा है–

'हिंसा हि फलमेतेषां भिन्ना तेभ्यः स्वरूपतः। सा हि प्राणवियोगात्मा श्येनस्तत्रासिवत् पृथक् ॥' सूत्र २ श्लो० २०५॥

इस प्रकार सोमादि याग तो निषिद्धफलक हैं नहीं। अतः वे श्येनादि के समान धर्म-अधर्म से विलक्षण नहीं बल्कि धर्म ही हैं। श्येनफल है शत्रुहिंसा और 'अध्वरातिरिक्त स्थल पर हिंसा नहीं करनी चाहिये' (छां० ८.१५.१) आदि वाक्यों से वह निषिद्ध है। शिष्ट पुरुष निषिद्ध से बचना चाहता है अतः उस फल का कामी न होगा। इसलिये श्येनविधि को शिष्ट अधिकारी उपलब्ध न होने से अशिष्ट ही अधिकारी से वह स्वरूपलाभ प्राप्त कर पायेगी। एवं च शिष्टों के लिये साधनरूप से श्येन का विधान नहीं है। मानने पर आपत्ति यही है कि शिष्ट अधिकारी असंभव है। इसी से शबर स्वामी ने कहा है 'नैव श्येनादयः कर्तव्या विज्ञायन्ते; यो हि हिंसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपाय इति हि तेषामुपदेशः।' (पृ० १९)। यहाँ 'कर्तव्याः' का अभिप्राय 'शिष्टों के प्रति कर्तव्य रूप से' ऐसा जानना उचित है। प्रयोजन या फल होने से ही श्येनसम्बद्ध

ऐकात्म्यज्ञानतश्चेत्स्याद् व्यर्था कर्मप्रधानता। प्रधानत्वं च विद्यायास्तमेतमिति दर्शितम् ॥८६॥

भी शत्रुहिंसा धर्म नहीं, क्योंकि उसका (शत्रुहिंसा का) विधान नहीं है। विधिसे पूर्व ही राग से शत्रुमारण की कामना प्राप्त है। शास्त्र अतएव उसे उद्देश्यकोटि में रखता है। स्वर्गादि कुछ फलविशेष शास्त्रमात्र समधिगम्य होने से अवान्तरतात्पर्य या देवताधिकरणन्याय से विधिविषय अर्थात् विधिप्रमाणक हो भी सकते हैं किन्तु श्येनविधि से शत्रुहिंसारूप फल प्रमित नहीं हो सकता कारण कि वह पूर्वज्ञात है। यही विषय भट्टवार्तिक में (चोदना. २६५-६) स्पष्ट किया है 'उद्देशाच्च' इत्यादि से। भावनाविधि कहते हैं आर्थीभावना के विधान को। वह विधान उसे ही विषय करता है जो अन्य हेतु से प्राप्त नहीं है। फल तो राग से ही प्राप्त है। अतः उसे छोड़कर विधान श्येनरूपसाधन तथा उसकी इतिकर्तव्यता – करने का ढंग – इतने को ही विषय करता है। इस प्रकार फलांश विधिप्रमाणक न होने से धर्म नहीं हो पाता। और स्वयं श्येन विहित होने पर भी धर्मलक्षण से युक्त भी नहीं हो पाता कारण कि जैमिनि ने धर्मलक्षण में 'अर्थ' का भी निवेश किया है। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (१.१.२)। विधिबोधित निःश्रेयसप्रयोजनक क्रिया धर्म शब्द का अर्थ है। शबराचार्य ने कहा है 'अर्थः श्रेयस्करः।… य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते' (पृ. १७)। श्रेयः शब्द का तात्पर्य केवल सुख से है क्योंकि उसी की व्याख्या में कुमारिल ने कहा है 'श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः' (सू.२.श्लो० १९१)। यद्यपि श्येन पुरुषप्रीति का उत्पादक है तथापि स्वफलभूत हिंसा के द्वारा प्रत्यवाय का भी हेतु बनने से परम्परया अनर्थता भी उसमें है। इसलिये चोदनालक्षण होते हुए भी 'अर्थ' न होने से वह धर्म नहीं कहा जा सकता। सर्वथा अनर्थता न होने पर ही धर्मता होती है। श्लोकवार्तिक में (२.२६८-९) स्पष्ट कहा है कि फलद्वारा भी जो कर्म अनर्थसम्बद्ध नहीं होता और इसलिये केवल प्रसन्नता का ही– पुण्यद्वारा सुख का ही – हेतु होता है, वही धर्म समझा जाये यह सिद्धान्ती को इष्ट है। श्येनसाध्यहिंसा व अग्निषोमीय हिंसा में महान् अंतर है। श्येनसाध्य तो अविहित व पुरुषार्थ है जब कि अग्निषोमीय विहित व क्रत्वर्थ है। इस प्रकार विहित वस्तु निर्दोष ही होती है यह निश्चित हुआ। जो सदोष हैं वे विहित ही नहीं सिद्ध हो पाये अतः विहित होने पर भी सदोष होने की संभावना निरस्त है। यद्यपि साधन व इतिकर्तव्यता विहित हैं तथापि निषिद्धफलकतया फलद्वारा निषेधसम्बन्ध होने से तथा शिष्टों के प्रति कर्तव्यरूप से कथित न होने से वह विहित नहीं यह समझा जा सकता है। एवं च सभी कर्म पाप नहीं हैं॥८५॥

यह स्थापित हो जाने पर कि वादिप्रोक्त उपाय का अनुपालन कथंचित् कर भी लिया जाये तो भी देहान्तरग्रहण के निमित्त का उपचय आवश्यक है, वादी समुच्चय के सहारे कर्म की मोक्षोपायता संरक्षित करने का प्रयास कर सकता है। सम्बन्धाक्षेप-परिहार प्रसंग में मोक्षोपायचिन्ता करते हुए भट्टाचार्य ने कह दिया है 'तत्र ज्ञातात्मतत्त्वानां भोगात् पूर्वक्रियाक्षये। उत्तरप्रचयाऽसत्त्वाद् देहो नोत्पद्यते पुनः' ॥१०८॥ यद्यपि वहाँ आत्मतत्त्वज्ञान इतना ही विवक्षित है कि वह देह से पृथक् व अनन्तादि है अतः तादृश ज्ञानी देहसम्बन्ध के प्रति विरक्त होगा, ब्रह्मात्मावबोध विवक्षित नहीं, तथापि उसके आधार पर कोई समुच्चयवादी अद्वैतज्ञान से भी समुच्चय मान ही सकता है। अथवा अन्य समुच्चयवादी प्रसिद्ध भी हैं। इस संभावना को व्यक्त कर इसका अपलाप करते हैं–

यदि अद्वैत आत्म-ज्ञान से सब कर्मों की निवृत्ति होने से मोक्ष होना मानो तो कर्मों की प्रधानता मानना व्यर्थ है ज़बकि विद्या की प्रधानता 'उस इस' आदि श्रुति द्वारा बता दी गयी है ॥८६॥

प्रधानता का अर्थ है साक्षाद् मोक्षहेतुता। तात्पर्य है कि उक्त मान्यता स्वीकारने पर कर्म का साक्षाद् उपयोग रह न जाने से समसमुच्चय संभव नहीं। ज्ञान तो साक्षात् कारण मोक्ष का है यह श्रुतिसिद्ध है। 'उस इस आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं' (बृ. ४.४.२२) आदि वाक्य में मोक्षफलक ज्ञान तथा उस ज्ञान की इच्छा का उपाय कर्म बताया गया है। 'उसे ही जानकर मृत्यु से परे हो जाता है' (पुरुषसूक्त) आदि श्रुति में ज्ञानमात्र को मोक्षोपाय कहा है। अथवा मूल में 'तम्' से 'तमेव विदित्वा' आदि पुरुषसूक्त कहकर कर्म की असाधनता की सिद्धि में 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ.४.४.२२) वाक्य उपस्थापित समझना चाहिये। मुमुक्षु के लिये कर्मसंन्यास के विधान की अन्यथानुपपत्ति से

तत उक्तेन मार्गेण कर्तृसंस्कारकारिणाम्। ऐकात्म्यज्ञानतात्पर्यं कर्मणामिति निश्चितम्॥८७॥

कर्म की मोक्षहेतुता खण्डित है यह अभिप्राय है।

शङ्का होती है कि उदाहृत वाक्य द्वारा सिद्धान्ती ने कर्म का विनियोग ज्ञान की इच्छा में बताया क्योंकि वह अनुपपन्न है कारण कि इच्छा पुरुष के पराधीन नहीं है, ज्ञान और विषय के पराधीन है। ज्ञान के विना इच्छा उत्पन्न होती नहीं और विषय के सौन्दर्यादि पर निर्भर करती है। अतएव विश्वनाथ न्यायपञ्चानन ने कहा है 'निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते' (श्लो० १४६)। यदि सिद्धान्ती कहे कि इच्छा उत्पन्न करने में न सही, इच्छित ज्ञान को उत्पन्न करने में तो कर्मों का उपयोग हो जायेगा, तो वह भी संगत नहीं क्योंकि ज्ञान भी पुरुषपराधीन होता नहीं। यह स्वयं भाष्यकार ने शारीरकीय व्यख्या में विस्तार से स्पष्ट किया है। एवं च यदि कर्म को मोक्षोपाय स्वीकारना हो तो सीधे ही वे मोक्षजनक हैं यही स्वीकारना पड़ेगा। कर्म को मोक्षोपाय सर्वापेक्षान्याय से सिद्धान्ती मानता है ही। अन्य उपाय न होने पर उन्हे साक्षात् कारण अर्थात् प्रधान ही मानना पड़ेगा।

इस शङ्का का समाधान करते हुए कर्म का अप्राधान्येन ही मोक्ष में उपयोग कैसे है यह स्पष्ट करते हैं –

इसलिये निश्चित होता है कि बताये ढंग से कर्ता का संस्कार करने वाले कर्मों का अद्वैत-आत्म-ज्ञान में पर्यवसान होता है ॥८७॥

'इसलिये' अर्थात् विद्याप्राधान्य श्रुतिसिद्ध होने के कारण। 'बताया ढंग' अर्थात् 'अथवा चाहे जो यज्ञ करे शुद्ध मन वाला ही होता है' (   ) आदि शास्त्र में बताये विधानानुसार। भगवान् भाष्यकार ने 'ढंग' को गीता विवरण में व्यक्त किया है 'अभ्युदयार्थोऽपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः… ईश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिवर्जितः, शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते।' (उपोद्घात)। अर्थात् स्वर्गादि फल देने वाले कर्म ही यदि फलाभिलाष छोड़कर भगवान् को अर्पण करने की नियत से किये जायें तो चित्त को वे शुद्ध करते हैं तथा शुद्ध चित्त वाला व्यक्ति ज्ञाननिष्ठा की योग्यता पाकर अप्रतिबद्ध ज्ञान पाने से मुक्त होता है अतः इस परंपरा से कर्म मोक्षौपयिक हो जाते हैं। मधुसूदनस्वामी ने भी स्पष्ट किया है (गीतागूढा. ५.७) कि भगवदर्पण व फलेच्छा-रहित किया शास्त्रीयकर्म ही योग है जो अन्तःकरण को रजोगुण व तमोगुण से रहित बनाता है जिससे शरीर व इन्द्रियों पर नियंत्रण रखा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति को तत्त्वज्ञान अवश्य होता है। आश्रमकर्माधिकरण में 'सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात्' (३.४.३४) सूत्र से भी यही निर्णय व्यक्त किया गया है। मीमांसा में प्रसंग उठा है कि 'दध्ना जुहोति' तथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इन विधियों में कहा दधिपदार्थ एक ही है या विभिन्न है? उत्तर दिया है कि दधिपदार्थ एक ही है, कामनायुक्त हो उसकी आहुति उक्त फल देती है व कामनारहित हो उसकी आहुति फल नहीं देती। यही संयोगपृथक्त्वन्याय कहा जाता है (जै.सू. ४.३.५)। संयोग शब्द वाक्य का वाचक है। पृथक्त्व का अर्थ है द्विरूपता या भेद। वासुदेवदीक्षित ने कहा है 'संयुज्यते पदार्थः पदार्थान्तरेण विशिष्टो बोध्यते यत्र स संयोगो वाक्यम्, तस्य पृथक्त्वं द्विरूपत्वम्' (कुतूहल. पृ. ६८१)। तात्पर्य है कि विभिन्न वाक्यों के कारण एक वस्तु भी विभिन्न प्रयोजन वाली हो जाती है। अतः भामती में कहा है 'इह तु विविदिषायां विधिश्रुतिः, न यज्ञादौ। तानि तु सिद्धान्येवानूद्यन्त इत्यैककर्म्यात् संयोगपृथक्त्वं सिद्धम्' (३.४.३४)। अतः फलेच्छा छोड़ भगवदर्पणबुद्धि से किये शास्त्रीय कर्म कर्ता की बुद्धिशुद्धिरूप संस्कृति कर देते हैं। शुद्ध बुद्धि में अद्वैतबोध हो जाता है जो मोक्ष का हेतु है। अतः कर्म ही उक्त संस्कार द्वारा ज्ञान में पर्यवसन्न होकर मोक्ष के कारण बन जाते हैं। इसमें प्रबल प्रमाण 'यज्ञेन' (बृ.४.४.२२) आदि श्रुति में प्रयुक्त तृतीया विभक्ति है। आनन्दगिरि स्वामी ने सूत्रभाष्य की टीका में (३.४.२६) यह विषय स्पष्ट किया है '… इच्छायां साक्षादन्वयाऽयोगात् तत्फले ज्ञाने यज्ञाद्यन्वयसिद्धेः 'यज्ञेन' इति करणश्रुत्या च तेषाम् इष्यमाणापरोक्षधीसाधनत्वदृष्टेः, ज्ञानस्य च मानायत्ततया साक्षाद् यज्ञाद्यसाधनत्वेऽपि तेषां चित्तशुद्ध्या प्रत्यक्प्रवणतामुत्पाद्य अपरोक्षज्ञाने पर्यवसानात्; पारम्पर्येऽपि 'पचति काष्ठैः' इतिवत् करणविभक्तिसंभवात्… '। जिज्ञासासूत्र भामती व तट्टीकाओं में अन्य विस्तार देखा जा सकता है। इस समग्र शास्त्रार्थ को मन

तेन निःसारतां बुद्ध्वा कर्मणां वेदतत्त्ववित्। ऐकात्म्यज्ञानमन्वेति तपोमुषितकल्मषः ॥८८॥

में रख ही आचार्य ने 'निश्चितम्' कहा है ॥८७॥

यदि कर्म कर्तृसंस्कारद्वारा तत्त्वाधिगम में हेतु बनते हैं तो क्योंकि दृष्टफल वाला होने से ज्ञानलाभ का प्रयास मोक्षपर्यन्त यावज्जीवन करना आवश्यक है इसलिये ज्ञानोत्पादक कर्म भी मोक्षपर्यन्त यावज्जीवन अनुष्ठेय होंगे, अतः विविदिषाकालिक संन्यास कर्तव्यरूप से सिद्ध न हो पायेगा। इस समस्या का समाधान देते हुए कहते हैं –

ऐसा वेदज्ञ जिसने नित्यादि के अनुष्ठान से चित्त का कालुष्य मिटा दिया है, श्रुतिप्रोक्त विचार से कर्मों की निःसारता का निश्चय कर अद्वैतज्ञान से ही सम्बन्ध रखता है ॥८८॥

'वेदज्ञ' अर्थात् वेदाक्षरों को जिसने यथाविधि ग्रहण किया है तथा जिसे वेदार्थ का आपातज्ञान है। आपातता का स्वरूप 'सिद्धान्ततत्त्व' नामक प्रकरण में अनन्तदेव ने स्पष्ट किया है 'ननु केयमापातता (ज्ञानस्य)? वेदान्तजन्यज्ञानस्य निःसामान्यविशेषब्रह्मावधारणरूपस्याऽपि संशयाऽविरोधितैव' (पृ. २४)। अर्थात् वेदान्तप्रोक्त अद्वैत विषयक ऐसा बोध जो अद्वैतविषयक समस्त संशयों को निवृत्त कर नहीं पाता, आपातज्ञान कहलाता है। इस असामर्थ्य के हेतुओं पर विस्तृत चर्चा आचार्य मधुसूदन ने संक्षेपशारीरकटीका में तीसरे अध्याय की भूमिका में की है। प्रकृत में तो इतना विशिष्ट ज्ञान न भी मानें, इतना भी काफी है कि सामान्य निरुक्त, व्याकरण, तर्क आदि संस्कारों से युक्त हो वेदवाक्यों का यथाश्रुत अर्थ समझ में आया हो। नित्यादि का पूर्वश्लोकोक्त विधान से अनुष्ठान तपआत्मक है व चित्तगत रागादिकालुष्य का निवर्तक है। श्रुतिप्रोक्त विचार है जैसे 'मोक्ष कर्म से नहीं मिलता' (मु० १.२.१२) 'रूपादि ज्ञानों को जो जानता है, उन ज्ञानों के बिना भी बचा रहता है' (कठ० २.१.३), 'जैसे यहाँ (कर्मादि क्षयिष्णुफलक हैं) वैसे अन्यत्र भी' (कठ० २.४.११), 'थोड़े भी भेद से भय होता है' (तै.२.७), 'मैनें अच्छा क्यों नहीं किया, बुरा क्यों किया – ऐसा उसे परिताप नहीं होता' (तै० २.९) 'ये सब अच्छे लोक पाते हैं, ब्रह्म में संस्थित व्यक्ति अमरता पाता है' (छा० २.१३), 'वित्त से अमरता की आशा भी नहीं है, जैसे बहुत सामान वालों का जीवन होता है वैसे ही वित्त से तेरा जीवन होगा' (बृ. १.४.२), 'इस आत्मा को समझकर ब्राह्मण एषणायें छोड़कर भिक्षोपलक्षित आचरण करते हैं' (बृ. ३.५.१), 'जब इसके मन में रहने वाली सारी क़ामनायें समाप्त हो जाती हैं तब मनुष्य अमर हो जाता है' (बृ. ४.४.७), 'केवल इस आत्मा को चाहने वाले प्रव्रज्या करते हैं' (बृ. ४.४.२२), 'मोक्ष का अन्य उपाय नहीं है' (श्वे. ३.८), 'बिना क्रतु वाला उसे देखता है' (श्वे. ३.२०), 'कर्म प्रजा या धन से नहीं, त्याग से अवश्य कुछ लोगों ने अमरता पायी है' (कै० १.२) इत्यादि। 'निःसारता' का तात्पर्य उनकी केवल अनित्य फल देने की सामर्थ्य से है। इस विचारपूर्वक निश्चय का फल होता है कर्मों पर श्रद्धा हटना जिससे व्यक्ति कर्मत्याग कर मोक्ष के साक्षाद् उपायभूत ज्ञान के लिये श्रवणादि में तत्परता से लग जाता है। 'अद्वैत ज्ञान' अर्थात् उसके साधन। यहाँ गीता-प्रोक्त (१३.७-११) ज्ञान भी समझ लेने चाहिये। इस प्रकार विविदिषोपहारमुख से मोक्षहेतुक होने के कारण विविदिषाकालिक संन्यास सूपपन्न है। कर्म यदि साक्षात् मोक्ष के हेतु स्वीकारे जायें तभी यावत्फललाभ उनका अनुष्ठान आवश्यक हो सकता है किन्तु जब वे वैराग्यादि उत्पन्न कर उपकार करने वाले माने जाते हैं तब उनका वैराग्यादिलाभ पर्यन्त ही अनुष्ठान आवश्यक है, फललाभ पर्यन्त नहीं। इसलिये जिसे वैराग्य उत्पन्न हो चुका उसे कर्मों से कोई प्रयोजन नहीं। फलतः वह कर्मसंन्यास ही करेगा। जो साधन तो साक्षात् ही ज्ञान के हेतु हैं उनका अनुष्ठान ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त मुमुक्षु करता रहे यही उचित है। ब्रह्मसूत्र में (४.१.१) निर्णय किया है

'आवर्त्या दर्शनान्तास्ते तण्डुलान्तावघातवत् । दृष्टेऽत्र सम्भवत्यर्थे नादृष्टं कल्प्यते बुधैः' ॥ न्यायमाला ॥

अर्थात् अप्रतिबद्ध साक्षात्कार के प्रयोजक श्रवणादि का तादृश साक्षात्कार पर्यन्त पुनःपुनः अनुष्ठान वैसे ही करना चाहिये जैसे तण्डुलनिष्पत्ति प्रयोजन वाले अवघात का तब तक आवर्तन किया जाता है जब तक व्रीहि से तण्डुल निष्पन्न हो न जाये। श्रवणादि का ज्ञानरूप दृष्ट फल संभव रहते विद्वानों द्वारा अदृष्ट फल स्वीकारा नहीं जाता कि उनका सकृद् अनुष्ठान

यस्तु जन्मान्तराभ्यासात्क्षपिताशेषकामनः। आदावेवाधिकारी स पुनः कर्म न वीक्षते ॥८९॥

पर्याप्त हो। अदृष्टफलक प्रयाजादि तो सकृत् ही करना पर्याप्त होता है परन्तु दृष्टफलक कर्म फलोपलम्भ पर्यन्त दुहराये जाते हैं। एवं च कर्म का फल मोक्ष मानते हुए भी मोक्षपर्यन्त कर्मानुष्ठान आवश्यक सिद्ध नहीं होता, बल्कि कर्मजन्य वैराग्य से कर्मत्याग ही ज्ञानोपायानुष्ठान से समुच्चित होता है यह स्पष्ट है ॥८८॥

शङ्का हो सकती है कि संन्यासात्मक क्रम अर्थात् व्यवधान या परम्परा होने पर कर्म की मोक्षोपायता संभव होने पर भी ब्रह्मचारी के लिये प्रायः श्रौत कर्म विहित न होने से 'ब्रह्मचर्य से ही संन्यास लेवे' (जाबाल. ३) आदि श्रुति दृढसाक्षात्कारोपयोगी संन्यास का विधान कैसे कर रही है? यदि ब्रह्मचारी के लिये कर्म होते तो वे उन्हे अनुष्ठित कर चित्तशोधन कर फिर उनका परित्यागरूप संन्यास करता; जब उसके लिये कर्म ही नहीं तो कैसे तो उसे वैराग्यात्मक चित्तशुद्धि प्राप्त होगी और किसका वह त्याग करेगा? इसका समाधान करने के लिये कहते हैं –

जो तो पूर्वजन्मों में बहुतायत से नित्यादि का अनुष्ठान करने के कारण इस जन्म में कर्म किये बिना ही निष्काम होता है वह ब्रह्मचर्याश्रम में ही संन्यास का अधिकारी हो जाता है। वह फिर कर्म को अपने हित का उपाय नहीं समझता ॥८९॥

शारीरकशास्त्र में (३.४.५१) स्थापित किया है कि यज्ञादि से श्रवणादि पर्यन्त जो विद्यासाधन हैं वे जिस जन्म में अनुष्ठित किये जायें उस जन्म में भी विद्यारूप फल उत्पन्न कर सकते हैं और यदि कोई प्रतिबंधक हो तो जन्मान्तर में भी सफल हो सकते हैं। अतः पूर्वजन्मों में अनुष्ठित कर्मों के फलस्वरूप उत्तर किसी जन्म में वह व्यक्ति प्रारंभ में ही शुद्ध चित्त वाला अर्थात् ऐहिक-आमुष्मिक फलों व साधनों से विरक्त हो सकता है। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मचर्य से ही संन्यास लेवे यह श्रुति का स्पष्टार्थ है। इस तरह, कर्म न होने से शुद्धि संभव नहीं – इस प्रश्न का उत्तर हो गया। यह जो प्रश्न था कि कर्म हों तो संन्यास हो; उसका उत्तर है कि वह कर्म प्रारंभ न करे यही यहाँ संन्यास का अर्थ है। कर्माभाव ही रहे यही आवश्यक है, वह ध्वंस ही हो ऐसा तो कोई नियम नहीं। वस्तुतः मूलकार ने 'आदावेव' कहा है अर्थात् प्रारंभ में ही। शंकानुसारी उत्तर स्पष्ट करने के लिये टीकाकार ने आदिशव्द से प्रथमाश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम विवक्षित माना है। किन्तु मूलकार समग्रश्रुति को ध्यान में रखे हुए हैं अतः प्रथमाश्रम से भी पूर्व वैराग्यवश कर्म-अनारंभरूप संन्यास यहाँ समझ लेना चाहिये। श्रुति में 'अव्रती वा व्रती वा स्नातको वा उत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्' (जाबाल. ३) कहा है। यहाँ व्रती से ब्रह्मचारी व अव्रती से वह विवक्षित है जिसने अभी ब्रह्मचारिव्रत भी नहीं लिया है। प्रकृत में ब्रह्मलोकादिफलक आश्रमविशेष विधित्सित नहीं, केवल ज्ञानमात्र प्रयोजन वाले श्रवणादि का अंगभूत कर्मत्यागात्मक विविदिषासंन्यास विधित्सित है। अतः शिखादि के वैध त्यागादि इतिकर्तव्यता के बिना भी इस संन्यास की सिद्धि सुलभ है। इसीलिये इसमें विरक्तिमात्र अधिकार प्रयोजक है, वर्ण, लिंग आदि नहीं। श्रौतज्ञानाभ्यास के लिये वर्ण, लिंग आदि के अनुरूप वेदाक्षर ग्रहण कर वेदार्थ-वेदान्तार्थ-विचार संभव होने पर भी अश्रौत ज्ञानाभ्यास के लिये वे सब अनपेक्षित हैं। अश्रौत अर्थात् श्रुत्यनुसारी आचार्यवचनादि। यथार्थ विषयक होने से उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध होने से साधनसम्पन्न के लिये वे ही दृढापरोक्ष के लिये पर्याप्त हैं। उन वचनों का भी मूल श्रुति होने से औपनिषदत्वादि साम्प्रदायिक मर्यादाओं की सुरक्षा बनी रहती है। बोधाभ्यास व उसकी अन्यथानुपपत्तिसिद्ध देहरक्षादि करते रहना, अन्य लौकिक पारलौकिक व्यापारों को न करना यही यहाँ संन्यास है। इसमें भिक्षादि अर्थसिद्ध हैं, वैध नहीं; विधि है भी तो परिसंख्यारूप ही है। क्योंकि विरक्त के लिये यह विहित है इसलिये लोकप्राप्त्यादि इसका फल नहीं। हाँ पूर्वाभ्यासादि गीतोक्त (६.४४) न्यायानुसार संन्यासयुक्त जन्म में यदि मोक्षलाभ न हुआ तो उत्तर जन्मों में पुनः मोक्षानुकूल प्रवृत्ति होगी और इस प्रकार 'अनेकजन्मसंसिद्ध' (गी. ६.४५) व्यक्ति मुक्त अवश्य होगा। इस गीताश्लोक की व्याख्या में कुछेक आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि 'बहूनां जन्मनामन्ते' (गी. ७.१९) आदि वचनों के अनुरोध से कपिंजलाधिकरणन्याय से अधिकाधिक तीन जन्मों की समाप्ति पर तत्पर अधिकारी को मोक्ष उपलब्ध हो जाता है यह स्वीकारना चाहिये।

विरक्तस्य तु जिज्ञासोर्मानान्नान्यव्यपेक्षणम्। कर्मापेक्षा हि साध्येऽर्थे सिद्धेऽर्थे तदनर्थकम् ॥९०॥
वामदेवस्य मैत्रेय्या गार्ग्याश्चैव समञ्जसम्। दर्शनं ब्रह्मचर्यादेस्तथा प्राव्राज्यशासनात् ॥९१॥

प्रथमाश्रम में कृतसंन्यास भी कालान्तर में सश्रद्ध कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति कर लेगा, जैसे बचपन में विषयभोगों में निस्पृह को भी यौवन में भोगेच्छा हो जाती है, फलतः मोक्षपर्यन्त संन्यासनिष्ठा सिद्ध नहीं होती – इस संभावना को हटाने के लिये ही 'फिर कर्म को' इत्यादि कहा गया है। यहाँ अधिकारित्व ही हेतु है यह समझना चाहिये। उत्तर श्लोक में यह स्पष्ट है ॥८९॥

मोक्ष या ज्ञान के अधिकारी को कर्म में कभी श्रद्धा क्यों नहीं हो सकती यह समझाते हैं –

वैराग्यवान् जिज्ञासु को तो वेदान्तप्रमाण से अन्य किसी की आवश्यकता नहीं। साध्य वस्तु के लिये कर्म चाहिये होता है, सिद्ध वस्तु के लिये कर्म व्यर्थ होता है ॥९०॥

विवेकलभ्य होने से वैराग्य दृढ व स्थायी होता है अतः काल, परिस्थिति आदि के परिवर्तन से उसमें शिथिलतादि नहीं आती। 'तो' कहकर स्पष्ट किया कि यह बात इस जन्म में कर्मकर जिन्होंने वैराग्य पाया है उनके लिये भी समान है। चाहे जब के कर्मादि से हो वैराग्य है तो फिर कर्मफल में स्पृहा सम्भव नहीं। किं च 'तु' से अनधिकारी अर्थात् विवेकजन्य विरक्ति से रहित के लिये ही कर्मश्रद्धा संभव है यह भी संकेत कर दिया। विवेक का अस्तित्व जिज्ञासुशब्द से व्यक्त किया है। प्रकृत में अद्वैततत्त्व की जिज्ञासा विवक्षित है व वह कृतविवेक को ही संभव है क्योंकि शुद्ध पदार्थ के सामान्य बोध के बिना जिज्ञासा संगत नहीं। यद्यपि 'कुछ है' इत्यादि बोधमात्र से जिज्ञासा उपपन्न हो सकती है तथापि अधिकारप्रयोजक जिज्ञासा का नित्य-अनित्यरूप विषय निर्धारित है अतः यहाँ 'कुछ है' इतना मात्र विविक्षित नहीं। वैराग्य व जिज्ञासा कह कर शमादि व मुमुक्षा भी उपलक्षित कर दिये। एवं च पूर्वश्लोक में कहा 'अधिकारी' पद ही हेतुतया व्याख्यात हो गया। अधिकारी को मोक्ष के लिये शास्त्रप्रमाण से भिन्न कोई साधन चाहिये नहीं। अथवा शमाद्युपबृंहित श्रवणाद्यतिरिक्त उसे कुछ नहीं चाहिये यह शास्त्रप्रमाण से सिद्ध है – यह वाक्यार्थ है। 'शमः कारणम्' (गी. ६.३) आदि शास्त्र समझना चाहिये।

जिसे साधा जाये – चतुर्विध क्रियाफलों से सम्बद्ध किया जाये, उसे साध्य कहते हैं। जो ऐसा नहीं, उस विद्यमान वस्तु को सिद्ध कहते हैं। अतः साध्य ही कर्मापेक्ष हो सकता है। आग्नेयादि सफल यागों को फलप्रद बनने के लिये प्रयाजादि कर्म अपेक्षित हैं क्योंकि आग्नेयादि का फल प्राप्य होने से साध्य है। यदि ज्ञान का भी साध्य फल होता तो वह भी मोक्षप्रद बनने के लिये साकांक्ष होता। मोक्ष तो सिद्ध वस्तु है, नित्य विद्यमान तथा क्रियाफलों से असम्बद्ध है। अतः ज्ञानको किसी अन्य की अपेक्षा होना संभव नहीं। रज्जुज्ञान अन्यनिरपेक्ष ही सर्पबाध में सक्षम है। सर्पबाध-उपलक्षित आत्मा हो, इसके लिये सर्पबाधसे भिन्न कुछ नहीं चाहिये। ऐसे ही प्रकृत में समझना चाहिये ॥९०॥

जिस प्रकार दर्शपूर्णमास यागों की स्वरूपनिष्पत्ति के लिये ही प्रोक्षण आदि की ज़रूरत है, यागों से फलप्राप्ति के लिये नहीं, उसी प्रकार ज्ञान हो सके इसके लिये आवश्यक चित्तशुद्धि प्रदान करना ही कर्मों का प्रयोजन है, ज्ञान से फल मिले इसके लिये कर्मों की कोई आवश्यकता नहीं। इस विषय में श्रुतार्थापत्ति प्रमाण है अर्थात् वेद ने कुछ ऐसा कहा है जो कर्म को मोक्ष के लिये अनावश्यक माने बिना कहना ही संगत नहीं होता। साथ ही, ज्ञान के लिये ज़रूरी शुद्धि ज्ञानलाभ वाले जन्म में किये कर्मों का ही फल हो ऐसा नहीं, पूर्व में किये कर्मों का भी वह फल हो सकता है। इतना ही नहीं, कर्मरहित व्यक्तियों को ज्ञान से मोक्ष बताकर श्रुति ने संन्यासयुक्त ज्ञान को ही फल के लिये पर्याप्त कह दिया है। गार्हस्थ्य में प्रवेश किये बिना भी संन्यास लिया जाये यह विधान भी कर्म की अनावश्यकता के बिना उपपन्न नहीं। अतः कहते हैं –

(कर्म की अपेक्षा न होने से ही) वामदेव, मैत्रेयी और गार्गी को तत्त्वज्ञान होना संगत है। ब्रह्मचर्य से संन्यास ग्रहण करने की विधि से भी (कर्म की अनावश्यकता स्पष्ट है) ॥९१॥

इष्टापूर्तादिहेतूनामानन्त्यात्स्वर्गसिद्धये । हेत्वन्तरासम्भवोऽतो दुर्ज्ञानः सम्भवाद्भवेत् ॥९२॥

ऐतरेयोपनिषत् में (२.५) बताया है कि वामदेव को गर्भ में ही ज्ञान हो गया था। बृहदारण्यक में (१.४.१०) भी वामदेव ने अपना सर्वात्मभाव प्रकट किया है। अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी को अमरता की उपायभूत विद्या बताने की प्रतिज्ञा कर याज्ञवल्क्य महर्षि ने विस्तार से उपदेश दिया (बृ० २.४) जिससे मैत्रेयी को भी तत्त्वज्ञान हुआ। याज्ञवल्क्य की ब्रह्मिष्ठता का परीक्षण कर सत्यापन करने वाली गार्गी के तत्त्वज्ञान में तो संशय ही कहाँ (बृ० ३.८)। इन तीनों ने उसी जन्म में कर्मानुष्ठान किया हो यह संभव नहीं। वामदेव तो गर्भ में ही थे अतः सर्वथा असंभव है कि वे कर्म कर सकें। गार्गी के कर्म का भी कहीं कथन नहीं। मैत्रेयी ने यद्यपि पति का अंग होकर कुछ कर्म किये हों यह संभव है तथापि स्वतंत्र होकर नहीं ही कर सकती थी। अतः पूर्वजन्म में किये कर्म ही शुद्धिरूप परंपरा से ज्ञान के हेतु बने यही स्वीकारना पड़ेगा। ऋषियों ने कहा भी है कि जब तक अवश्य कर्तव्य सत्कर्म जन्मान्तरों में न कर लिये जायें तब तक ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त नहीं होती। गीता में (६.४५) भी अनेक जन्मों के प्रयास से परमात्मप्राप्ति कही ही है। अतः क्योंकि जिस जन्म में ज्ञान हुआ उसमें कर्म करना बहुतों में नहीं मिलता इसलिये यह नहीं मान सकते कि ज्ञान से फल होने में कर्मों का कोई उपकार है। अदृष्टद्वारक उपकार कोई माने तो भी समुच्चय सिद्ध नहीं होगा। जाबालोपनिषत् में जनक को याज्ञवल्क्य ने बताया है कि 'वैराग्य होते ही संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। ब्रह्मचर्य से ही प्रव्रज्या करे' इत्यादि। अतः ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों से विरक्त हो कर्मत्यागरूप संन्यास का विधान ज्ञाननिष्ठा के उपायरूप से बहुत्र किया गया है। वह भी तभी संगत है जब कर्म की अपेक्षा किये बिना अकेला ज्ञान ही अपना फल दे सके। इस प्रकार वामदेवादि में सफल ज्ञान रूप श्रौत लिंग की एवं संन्यास विधि की, दोनों की अन्यथा अनुपपत्ति से कर्मसमुच्चय निरस्त होता है ॥९१॥

अब तक यह बताया कि पूर्वपक्षी द्वारा कहे उपाय से मोक्ष संभव नहीं। 'अन्य सप्रयोजन आचरणों से या स्वाभाविक परिस्थितियों से' (श्लो० ७९) इत्यादि स्थल पर जन्मान्तरीय कर्म अवश्य हैं जो मोक्ष न होने देकर पुनर्जन्म देंगे, यह कहा था। पूर्वपक्षी यदि अपने उपाय की सहायता के लिये अद्वैतज्ञान माने, तो वह अकेला ही मोक्ष दे देगा, नित्याचरणादि उपाय व्यर्थ होंगे जिससे पूर्वपक्ष का अभिमत सिद्ध न होगा। कर्म का प्रयोजन तो मोक्षसाधन ज्ञानोपयोगी शुद्धि देने में है अतः वे दूर से उपकारक हैं यह समझा चुके हैं। पूर्व में जो 'अन्य सप्रयोजन आचरण' कहे थे उन्हे अब स्पष्ट करते हैं। किं च यदि कोई कहे 'समस्त संचित कर्म निवृत्त न हों, क्या हानि है?' तो उसे भी समझाते हैं –

स्वर्गप्राप्ति के लिये इष्ट, पूर्त आदि असंख्य हेतु हैं जो देहान्तर की प्राप्ति के प्रति कारणरूप से उपस्थित हैं। अतः यह नहीं समझा जा सकता कि काम्य व निषिद्ध न करने वाले के जन्मान्तर में कोई हेतु सम्भव नहीं ॥९२॥

इष्ट से श्रौतकर्म, पूर्त से स्मार्त कर्म और आदिपद से दत्त कर्म कहे हैं। अत्रिसंहिता (४३) में बताया है कि अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदों का अनुपालन (अर्थात् ब्रह्मयज्ञ), अतिथि-सत्कार, और वैश्वदेव (अर्थात् प्रतिदिन भोजन को परमेश्वरार्पण करना), इन्हे इष्ट कहते हैं। बावड़ी, कुआ, तालाब आदि बनाना, देवमंदिर बनाना, अन्नदान करना और बाग-बगीचा बनाना, इन्हे पूर्त कहते हैं। शरणागत की रक्षा, प्राणियों की अहिंसा तथा यज्ञातिरिक्त दान, इन्हे दत्त कहते हैं। पूर्व जन्मों में ये कर्म किये हों यह सुसम्भव है। इनमें बहुतेरे हो सकते हैं जिन्होंने इस जन्म में फल न दिया हो। यह सब सम्भव इसलिये है कि ये कर्म अनंत हैं कारण कि अनंत जन्मों में ये किये गये हैं। अतः इस एक जन्म में भले ही मुमुक्षु काम्य व निषिद्ध सर्वथा न करे और नित्यनैमित्तिक पूरी तरह करता रहे, फिर भी आगे अन्य देह में स्वर्गादि का उपभोग कराने वाले कर्म तो रह ही जायेंगे। इसलिये पूर्वपक्षी के उपाय का अनुसरण व्यर्थ ही है और निश्चित फल वाला न होने से उसका अनुसरण अनुचित भी है ॥९२॥

जिस प्रकार पूर्वार्जित काम्य अनेक कर्म बचे रहते हैं जो जन्मान्तर में हेतु बनते हैं उसी प्रकार प्रतिषिद्ध कर्म भी अनेक रहते हैं जिनसे पुनर्जन्म होगा ही यह भी स्पष्ट करते हैं–

एवं निषिद्धवाक्येषु यथोक्तं न्यायमादिशेत्। नित्यकर्मवचःस्वेवं नातो मुक्तिविनिश्चयः ॥९३॥
अनेकजन्मोपात्तस्य पुण्यापुण्यस्य कर्मणः। अनन्तदेहहेतोश्च विप्रघातस्य संभवात् ॥९४॥

इसी तरह पूर्वोक्त युक्ति निषिद्ध कर्मों के विषय में भी समझ लेनी चाहिये। ऐसे ही नित्य-नैमित्तिक कर्मों में हुई जन्मान्तरीय चूक से हुए प्रत्यवाय के बचे रहने का भी निषेध किया नहीं जा सकता। इसलिये वादी के मत में स्वीकृत उपाय से मुक्ति होगी यह निश्चय असंभव है ॥९३॥

अनन्त पूर्व जन्मों में एकत्र किये अनंत ही पाप हैं जो सभी एक जन्म में किये नित्यादि से निराकृत हो नहीं सकते क्योंकि इसमें प्रमाण व तर्क दोनों नहीं। अतः इस जन्म में निषिद्ध न करने पर भी संचित पापों से नरक-प्राप्ति हो जायेगी। आगे नारकीय योनि नहीं होगी ऐसे निश्चय का कोई उपाय नहीं। किं च इस जन्म में भले ही नित्य-नैमित्तिक कर्म सर्वथा सही निभा ले पर जन्मान्तरों में भी उनका सम्पूर्ण निर्वाह हुआ था ऐसा निश्चय कैसे और यदि भावी जन्म में भी मुमुक्षु रहे तो भी वहाँ नित्य-नैमित्तिक का सम्यक् अनुष्ठान होता ही रहेगा यह निश्चय कैसे? फलतः पापनिवृत्ति रूप जो नित्यादि का कार्य है वह पूरा होगा नहीं, प्रत्यवाय रह ही जायेगा जो जन्मांतर का हेतु होगा। इसलिये पूर्वपक्ष में मोक्षोपाय असिद्ध है ॥९३॥

पूर्व में (श्लो. ४१-४२) वादी ने पक्ष रखा था कि अर्जित कर्म एक ही जन्म के हेतु बनते हैं अतः एक जन्म में काम्यादि न कर नित्यादि करें तो आगे जन्मप्राप्ति का कारण न होने से मोक्ष निश्चित है। मोक्षस्वरूप तथा सर्वथा काम्यादिवर्जन व नित्यादि का सम्यग् अनुष्ठान असंभव होना बताकर उस मत का निराकरण अब तक किया। अब बताते हैं कि अर्जित कर्म एक ही जन्म दे सकते हैं यही बात ग़लत है–

अनेक जन्मों में एकत्र किये पुण्यकर्म व पापकर्म अनन्त शरीरों के हेतु रूप से विद्यमान हैं तथा अनेक शरीरों में फलीभूत होने वाले ब्रह्महत्या आदि पाप सम्भव हैं जिससे यह मान नहीं सकते कि पूर्वकर्म एक ही जन्म में भोग लिये जाते हैं ॥९४॥

अनादि संसार में अर्जित कर्म-समूह नाना शरीरों में फल देगा क्योंकि कर्मों का स्वरूप ही ऐसा है कि सब इकट्ठे फल दे नहीं सकते। एक दिन में ही ऐसा पुण्य हो जाता है जिससे स्वर्ग मिलना है और ऐसा पाप हो जाता है जिससे नरक मिलना है। अब दोनों कर्म एक ही शरीर में कैसे फल देंगे? अतः कर्म अनंत होने से उनसे प्राप्य जन्म भी अनंत होंगे यही मानना युक्तियुक्त है। इतना ही नहीं, शास्त्र ने कई कर्मों का फल नाना योनियों में भोगना पड़ता है यह बताया है। उदाहरणार्थ मनुस्मृति में (१२.५५) कहा है कि ब्रह्महत्यारा क्रमशः कुत्ता, सुअर, गधा, ऊँट, गाय, बकरा, भेड़, हिरण, पक्षी, चण्डाल और पुल्कस (एक प्रतिलोम संकर जाति) की योनियाँ प्राप्त करता है। अतः कर्म एक जन्म में भोगे जा सकते हैं यह मनोरथमात्र है। यह कल्पना करना कि 'अविरुद्ध-फलक कर्म तो सभी मिलकर एक देह के प्रति कारण बनते हैं और यदि विरुद्धफलक या नानादेहफलक कर्म अर्जित किये हैं तो मरणकाल में अभिव्यक्त होकर वे भावी जन्म में इकट्ठे ही अनेक शरीर प्राप्त करा देते हैं'; तो असंगत है क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं। ऐकभविक वाद यदि प्रमाणसिद्ध हो तब ऐसी कल्पना का आधार होता। जब वही शास्त्रोक्त नहीं तो यह कल्पना केवल मनगढ़न्त है।

श्रीमद् नृसिंहपुरी नामक महात्मा द्वारा रचित एक वार्तिकटीका का प्रारंभिक अंश उपलब्ध होता है। उनके अनुसार मूल में 'अनन्तदेहहेतोः' की जगह 'अनेकदेहहेतोः' पाठ है। विप्रघात को अनेकदेहहेतु ही कहना अधिक संगत भी है। आनन्दगिरि टीका में 'प्रायेणाभिव्यक्तानाम्' की जगह 'प्रायणेऽभिव्यक्तानाम्' पाठ मिले तो अच्छा है ॥९४॥

अनन्त जन्मों में अर्जित ऐसे कर्म जिन्होंने अभी तक फल नहीं दिया व इस जन्म में भी फल नहीं देंगे, विद्यमान हैं यह बात शास्त्र से प्रमाणित करते हैं –

ततः शेषेण वचनात्तथा तद्य इहेत्यतः। अनारब्धफलेहानां गम्यते संस्थितिस्ततः ॥९५॥
फलं नित्यस्य नापीह दुरितक्षयमात्रकम्। फलान्तरश्रुतेः साक्षात्तद्यथाऽऽम्रस्मृतेस्तथा ॥९६॥
आम्रे निमित इत्यादि ह्यापस्तम्बस्मृतेर्वचः। फलवत्त्वं समाचष्टे नित्यानामपि कर्मणाम् ॥९७॥

'उससे बचे हुए द्वारा' तथा 'अनुशयवान् लोगों में जो यहाँ' इत्यादि शास्त्रवचनों से इस जन्म में फल न देने वाले कर्मों का बचा होना निश्चित होता है। अतः ऐकभविकत्व न होने से पूर्वपक्षी का उपाय मोक्षप्रद नहीं ॥९५॥

गौतम का (१.२.२७) वचन है कि अपने वर्णाश्रमधर्म पर निष्ठा रखने वाले लोग मरने के बाद कर्मफल का अनुभव करते हैं और उससे अर्थात् अनुभव करने से बचे हुए कर्मों द्वारा विशिष्ट देश में, जाति में, कुल में जन्म प्राप्त कर विशिष्ट रूप, आयु, विद्या, आचार, धन, सुख और मेधा वाले होते हैं। जो स्वधर्म पर निष्ठा नहीं रखते वे विनष्ट होते अर्थात् दुर्गति पाते हैं। छान्दोग्य उपनिषत् (५.१०.७) के अनुसार परलोक से लौटने वाले जीव अपने कर्म के आधार पर ही रमणीय या कपूय (निकृष्ट) योनि प्राप्त करते हैं। परलोक में उपभोग्य से अतिरिक्त कर्म को अनुशय कहते हैं। जिनका आचरण अच्छा रहा अर्थात् परलोक जाने से पूर्व मानव देहों में जिन्होंने सत्कर्म किये वे लोग लौटने पर अच्छी योनियाँ पाते हैं व जिनका आचरण बुरा रहा वे उन पापकर्मों से निकृष्ट योनियाँ पाते हैं। इन वचनों से निश्चय हो जाता है कि कर्म एक से अधिक जन्मों के हेतु बनते हैं। फलतः वादी का पक्ष असिद्ध है ॥९५॥

पूर्वपक्षी का मानना है कि नित्य-नैमित्तिक कर्मों का इतना ही प्रयोजन है कि उन्हे न करने से होने वाला प्रत्यवाय न हो, अतः मुमुक्षु उन्हे करता रहे तो उनके फलस्वरूप भावी देह नहीं मिलेगा। इस मान्यता को ध्वस्त करते हैं –

शास्त्रानुसार नित्यकर्म का फल अधिकारी के पूर्वपाप का क्षय ही हो ऐसा नहीं क्योंकि स्वयं श्रुति ने अन्य फल बताया है तथा 'जैसे आम' आदि स्मृति भी अन्य फल समझाती है ॥९६॥

नित्य-नैमित्तिक न करने से तो प्रत्यवायवश संसरण निश्चित ही है, उन्हे करने से भी संसरण होगा ही क्योंकि श्रुति ने बताया है कि नित्यादि के अनुष्ठान के फलस्वरूप पितृलोक की प्राप्ति होती है (बृ. ३.५.१९)। यद्यपि 'धर्म से पाप की निवृत्ति' भी कही है तथापि दोनों फल स्वीकारने में कोई दोष नहीं, अतः मूल में 'दुरितक्षयमात्रकम्' यों मात्र-शब्द है। स्मृति स्वयं अगले श्लोक में बता रहे हैं ॥९६॥

उक्त स्मृति का परामर्श कर निष्कर्ष निकालते हैं–

'आम रोपने पर' इत्यादि आपस्तम्ब-स्मृति का वचन बताता है कि नित्य कर्म भी फल देते हैं ॥९७॥

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में (१.७.२०.३) कहा है कि जैसे फल के लिये आम रोपने पर छाया और सुगन्ध भी हो ही जाते हैं ऐसे धर्म का आचरण करने वाले को अर्थ भी मिल जाते हैं, हाँ क्योंकि उसका उद्देश्य केवल धर्म है इसलिये अर्थ न भी मिलें तो कोई नुकसान नहीं कारण कि धर्माचरण से धर्म तो हो ही जाता है। इस वचन से स्पष्ट है कि नित्यादि करने से फल होता ही है। 'नित्य कर्म भी' इस 'भी' से नैमित्तिक कर्मों का संग्रह है तथा दृष्टांत रूप से काम्य कर्मों की ओर संकेत है। स्मृति का ऐसा अर्थ पूर्वोक्त श्रुति के अनुरोध से संगत है।

इस प्रकार 'अन्य हेतु से' इत्यादि श्लोक (८०) में उठे प्रश्न का निर्णय हो गया कि जन्मान्तरीय काम्य, निषिद्ध और नित्य तीनों तरह के कर्मों से भावी देह का मिलना निश्चित है ॥९७॥

श्रुति-स्मृति से नित्यादि कर्मों का फल होना निश्चित है अतः प्रकृत में यह आया –

पूर्वोक्त (श्लो० ८०) संशय के प्रति अप्रामाणिकत्वरूप हेतु बता ही चुके हैं। नित्यादि से फल होता है यह तो निश्चित है अतः पूर्वोक्त उपाय से मोक्ष असंभव है यह निर्णय ही हो जाता है ॥९७$\frac{१}{२}$॥

पहले (श्लो. ८०) कहा था कि निश्चय होने पर ही साधनानुष्ठान संभव है और निष्प्रमाण पक्ष का निश्चय कराने

उक्तमेव तु संशीताविियं त्वत्र विनिश्चितिः। कार्यमारभते शक्तिर्यत्किञ्चेह व्यवस्थिता ॥९८॥
यस्मादसति कार्येऽसौ शक्तिरेव न सिध्यति। कार्यकारणयोः सिद्धिरन्योन्याव्यतिरेकतः ॥९९॥
कर्तृभोक्तृस्वरूपेऽतो ह्यभ्युपेतेऽन्तरात्मनि। न मुक्त्याशाऽस्ति पूर्वोक्तन्यायमार्गसमाश्रयात् ॥१००॥

वाला कोई हेतु दीखता नहीं। कर्मसाफल्य के विचार से यह और दृढ़ हो गया कि कर्म से मोक्ष होगा नहीं। अतः वादी की बात में पहले संशय ही था, अब वह ग़लत है यह निश्चय हो गया, यह भाव है ॥९७½॥

यह भी प्रश्न होता है कि वादी द्वारा कहे साधन करने की जिसमें शक्ति है वही अनुष्ठान कर मुक्त होगा क्योंकि जिसमें शक्ति ही नहीं वह तो अनुष्ठान कर नहीं पायेगा। शक्ति है मानने पर भी आपत्ति है यह बताते हैं –

आत्मा में स्थित शक्ति जिस किसी कार्य को उत्पन्न करती ही है ॥९८॥

शक्ति वाला द्रव्य जब तक रहता है तब तक शक्ति भी रहती है यह कह चुके हैं। मोक्ष में आत्मा रहेगा ही अतः उसकी कर्मशक्ति भी रहेगी और शक्ति रहने पर कर्म करेगा ही फलतः मोक्ष सिद्ध न होगा। जैसे साधन करने की शक्ति है वैसे आत्मा में कर्ता होने की शक्ति भी है। वह भी मोक्ष में कर्तापन उत्पन्न करेगी। पुनरपि मोक्ष सिद्ध न होगा। वस्तुतः श्लोक ५५ से ७७ तक के प्रसंग का ही यहाँ उपसंहार किया जा रहा है। किं च 'न्यायतत्त्वविवरण' नामक टीका में श्रीनृसिंहपुरी जी यह भी ध्वनित करते हैं कि मनुष्य जब काम्य व प्रतिषिद्ध कर्म करने में शक्त है तो यह हो कैसे सकता है कि पूर्वपक्षी के द्वारा उपदिष्ट उपाय का अनुष्ठान हो? काम्यादि को करने की शक्ति उससे काम्यादि भी करा ही लेगी। इस प्रकार नित्यकर्म की सफलता के निर्णय से पूर्वपक्ष का निरास हुआ और काम्यादिशक्ति के निर्णय से भी उसका निरास हुआ। अतः उनकी योजना से श्लोक ९८ का अर्थ है: संशय होने पर पक्ष की असिद्धिरूप दोष तो कह ही चुके (श्लो. ८० में)। तुम्हारे साधनों के बारे में यह और कहना है कि नित्यों की सफलता निश्चित है तथा काम्यादि का अनुष्ठान निश्चित है। फलतः तुम्हारे साधन का स्वरूपलाभ ही असंभव है। अर्थात् यह सम्बंध है: संशीतौ तु दूषणम् उक्तमेव। अत्र=संशयविषये तु इयम्=नित्यादिकर्मणां फलवत्त्वप्रतिपादकानन्तरोक्ता श्रुतिः, विनिश्चितिः=निर्णयकारणम्। शक्तिः कार्यमारभत इति च काम्यप्रतिषिद्धवर्जनानुपपत्तौ निर्णयकारणम्। इस ढंग से श्लोक अधिक स्पष्ट हो जाता है ॥९८॥

शक्ति कार्य को उत्पन्न करती ही है यह मानने में कारण बताते हैं –

क्योंकि कार्य न होने पर वह शक्ति ही सिद्ध नहीं होती। एक-दूसरे के न रहने पर कार्य व कारण सिद्ध नहीं होते ॥९९॥

शक्ति तो कार्य से ही मालूम पड़ती है अतः मोक्ष में यदि कार्य न हो तो स्वयं शक्ति सिद्ध न होगी व पूर्वोक्त नियमानुसार आत्मा ही सिद्ध न हो पायेगा! इसलिये शक्तिवादी को मोक्ष में भी शक्ति व उसका कार्य दोनों मानने पड़ेंगे। यह कह नहीं सकते कि कार्य उत्पन्न न करते हुए कारण बना रहे क्योंकि कार्य और कारण की सिद्धि एक-दूसरे के अधीन है। दोनों में यदि एक भी न हो तो दूसरा भी सिद्ध होगा नहीं। कार्य न हो तो यही मानना पड़ेगा कि कारण भी नहीं है और यह मानना वादी को भी इष्ट नहीं। किं च कार्य व कारण का अभेद स्वीकारें तब तो कारणरूप शक्ति विद्यमान मानने से कार्य की विद्यमानता स्वतः मान ली जायेगी। इसलिये शक्तिवादी मीमांसक के मत में मोक्ष असंभव है॥९९॥

कर्मकाण्डी आत्मा में कर्तृत्व आदि की शक्ति मानता है जिससे उसे यह बलात् मानना पड़ेगा कि शक्ति के कार्य अर्थात् कर्तृत्वादि प्रवाहरूप से आत्मा में बने रहते हैं। फलतः एक बार प्रत्यगात्मा को कर्ता-भोक्ता मान लिया तो मोक्ष चाहना व्यर्थ है यह बताते हुए उपसंहार करते हैं –

अतः प्रत्यगात्मा को कर्तृस्वरूप और भोक्तृस्वरूप मान लेने पर मोक्ष की आशा नहीं रह जाती क्योंकि पूर्वोक्त नीति का ही सहारा लेना पड़ता है ॥१००॥

सापराधत्वतो मुक्तिः संदिग्धैव प्रसज्यते। द्विजातीनां, खरादेस्तु त्वदुक्त्या स्यादसंशयात् ॥१०१॥
ननूक्तं कर्मशेषत्वमात्मनो यागकर्तृता। नैतदेवं यतो नैतत्कर्माङ्गं ज्ञानमिष्यते ॥१०२॥
कर्तृत्वमात्मनः सिद्धं यतोऽन्यत्रापि यागतः। निःशेषकर्मकारित्वात्तस्मादुक्तमपेशलम् ॥१०३॥

पूर्वोक्त न्याय अर्थात् श्लोक ५५ आदि में समझायी व्यवस्था। यहाँ भोक्तृस्वरूप मानने पर भी मोक्षाशा नहीं यह कहकर कटाक्ष से सांख्यवाद का भी निरास कर दिया है ॥१००॥

मीमांसक मत की हास्यास्पदता व्यक्त करते हैं यदि ऐकभविकत्व स्वीकारा जाये –

द्विजों से अपराध होना सहज होने से उनका मोक्ष तो संदिग्ध ही रहेगा जबकि तुम्हारे कथनानुसार गधे आदि को मोक्ष मिलना निश्चित है! ॥१०१॥

द्विज अर्थात् त्रैवर्णिक कर्म करने के अधिकारी हैं। वे वादीप्रोक्त मोक्षोपाय करने में लगें तो भी प्रमादादि से कुछ ग़लती हो ही सकती है जिससे हुआ पाप जन्मांतर दे देगा। अतः द्विजों का मोक्ष अनिश्चित है। गधे आदि तो कर्म में अधिकारी नहीं, उनके लिये कोई कर्तव्य नहीं। एक जन्म में ही सब कर्म भोग लिये जाते हैं यह मानो तो गधा-योनि में ही उसके सब पूर्वार्जित कर्म समाप्त हो जायेंगे व अनधिकारी होने से गधा रहते उससे कोई पुण्य-पाप हो सकेगा नहीं, फलतः मरते ही वह अवश्य मुक्त होगा! कर्म से मोक्ष मानते तो मनुष्य ही मुक्त होते पर कर्माभाव से मोक्ष माना अतः गधे ही मुक्त होंगे। कर्म से मानने पर तारतम्य आदि दोष आते हैं यह स्पष्ट ही है ॥१०१॥

इस प्रकार मीमांसक को स्वीकृत मोक्षसाधन का निराकरण करने से सिद्धान्ती द्वारा प्रतिज्ञात ज्ञान ही मोक्षोपाय सिद्ध होता है। अतः कर्मकाण्ड व ज्ञानकाण्ड के अधिकारी, फल आदि का भेद निश्चित हो गया। अब आत्मज्ञान भी कर्मांग है इस संभावना को हटाते हैं –

आत्मा यागों का कर्त्ता है अतः आत्मज्ञान कर्मशेष है यह पहले (श्लो० ४५) कहा जा चुका है। वह ज्ञान मोक्षफलक कैसे?

इस प्रकार किया कथन समुचित नहीं है क्योंकि इस ज्ञान को कर्मांग माना नहीं जाता ॥१०२॥

वादी अपने पूर्वोक्त कथन से ज्ञान की निष्फलता स्मरण करा रहा है। सिद्धांती उसे उत्तर देने के लिये तथा उपनिषत्सिद्ध आत्मज्ञान की अकर्मांगता में उदाहरण देने के लिये पहले लौकिक आत्मज्ञान कर्मांग नहीं यह सिद्ध कर रहा है। वादी ने आत्मज्ञान को कर्मांग कहा। लौकिक आत्मज्ञान कर्मांग है यह नहीं कहा जा सकता, इतना ही अभी तक सिद्धांती ने बताया। इसमें हेतु अगले श्लोक में कहेगा। 'इस ज्ञान को' अर्थात् लौकिक आत्मज्ञान को, सर्वलोक प्रसिद्ध आत्मा के ज्ञान को ॥१०२॥

वादी ने कहा था कि आत्मा यागकर्ता है अतः आत्मज्ञान आत्मा द्वारा कर्मांग होगा। इस पक्ष का निराकरण सिद्धांती करता है –

क्योंकि सभी कर्म करने वाला होने से याग से अन्यत्र भी आत्मा की कर्तृता सिद्ध है इसलिये वादी का कथन ग़लत है ॥१०३॥

व्यवहारसिद्ध आत्मपदार्थ केवल याग ही तो करता नहीं, लौकिक कर्म भी करता है अतः लौकिक आत्मा जैसे यागकर्ता है ऐसे अन्य गमन भोजन आदि का कर्ता भी है। इसलिये जैसे जुहू आदि का क्रतु से (याग से) अव्यभिचरित अर्थात् निश्चित सम्बन्ध है क्योंकि क्रतु से अन्यत्र उसका कोई उपयोग नहीं, केवल क्रतु में उपयोग है, ऐसे लौकिक आत्मा का नहीं। जो केवल क्रतुसम्बद्ध हो व क्रतु का उपकारक हो वही क्रतु का अंग माना जाता है। लौकिक आत्मा केवल

न ह्यात्मज्ञानविरहात्कर्म कर्तुं न शक्यते। पर्णज्ञानमृते यद्वज्जुहूर्लातुं न शक्यते ॥१०४॥
देहान्तराभिसम्बन्धी न त्वात्माऽस्तीत्यजानतः। विवेकिनो न युक्तेयं प्रवृत्तिः पारलौकिकी ॥१०५॥

क्रतुसम्बद्ध है नहीं। अतः वह क्रतु का अंग भी नहीं है। अतएव उसका ज्ञान क्रतु का अंग हो यह और अधिक अंसभव है क्योंकि ज्ञान को तो आत्मा द्वारा ही अंग बनना था। इस प्रकार लौकिक आत्मज्ञान कर्मांग है यह बात सर्वथा ग़लत है ॥१०३॥

यदि कहो लौकिक न सही, वैदिक आत्मज्ञान कर्मांग है, तो प्रश्न होता है: क्या भूख आदि रहित शुद्ध आत्मा का ज्ञान कर्मांग है? या केवल स्थूल शरीर से अतिरिक्त आत्मा का ज्ञान कर्मांग है? शुद्ध आत्मा के ज्ञान को कर्मांग कहना असंगत है यह बताते हैं –

ऐसा नहीं है कि शुद्ध आत्मा का ज्ञान न होने से कर्म न किया जा सके जैसे पलाश के ज्ञान के विना जुहू नहीं लायी जा सकती ॥१०४॥

शुद्ध आत्मा अर्थात् भूख आदि व ब्राह्मण क्षत्रिय आदि भेदों से रहित असांसारिक वेदान्तवेद्य वास्तविक तत्त्व। उसका ज्ञान तो कर्तृत्व आदि का बाधक होने से कर्म का विरोधी ही है, अंग कैसे होगा? पलाश का ज्ञान तो जुहू के लिये काष्ठ लाने के लिये अनिवार्य है अतः पलाशज्ञान को क्रत्वंग मानने में विरोध नहीं। शुद्धात्मा का ज्ञान किसी भी तरह कर्मांग नहीं हो सकता ॥१०४॥

सिद्धान्ती ने लौकिकात्मा को कर्म का अंग नहीं माना वह ठीक है क्योंकि लौकिकदृष्ट्या तो देहादिरूप ही आत्मा मानकर काम चल सकता है। लेकिन परलोक में मिलने वाले फल के लिये जो धर्माचरणरूप प्रवृत्ति है वह देहादिसे विलक्षण आत्मा जाने बिना संभव नहीं। उपनिषदों से उसी आत्मा का पता चलता है। क्योंकि वैसा आत्मा क्रत्वितर में अनुपयुक्त होते हुए क्रतु में उपयुक्त होने से अव्यभिचरित क्रतुसम्बन्धवश क्रत्वंग है इसलिये वैसा आत्मा अपने व्यापक का अर्थात् शेषी का उपस्थापक होगा जैसे पर्णमयता जुहूद्वारा क्रतु का उपस्थापक होती है। अतः देहभिन्न आत्मा का ज्ञान कर्मांग मानना चाहिये। कथंचित् यदि पूर्वोक्त शुद्धात्मा का ज्ञान जिसका बोध कराता है वह क्रतु में उपयुक्त न हो तो भी शास्त्रबोधित ज्ञान होने से उसे भी कर्मांग तो मानना ही चाहिये। देहेतर आत्मा भी साक्षात् व अर्थापत्ति से वेदोक्त है और कर्मांग है। इससे निश्चित होता है कि वेदोक्त आत्मज्ञान कर्मांग होता है। उपनिषदों में कहा आत्मज्ञान भी वेदोक्त होने से कर्मांग होना चाहिये। हाँ इतना अंतर भले ही हो कि देहेतर आत्मा का ज्ञान दृष्टोपकार वाला है और औपनिषद आत्मज्ञान अदृष्टोपकार वाला माना जायेगा क्योंकि क्रतुशेष आत्मा को विषय न करने से वह दृष्टोपकारक नहीं है। अथवा उपासना का शेष हो जायेगा। मीमांसकैकदेशी शुद्धात्मा को तो स्वीकार लेते हैं पर उसके ज्ञान को कर्मशेष ही वे भी मानते हैं। अतः देहातिरिक्त आत्मा से विलक्षण आत्मा उपनिषदों से भले ही मालूम पड़े, होगा वह क्रत्वंग (उपासनांग) ही यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय है। इस बात को वही व्यक्त करता है –

सोच समझकर प्रवृत्ति करने वाला जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि आत्मा इस स्थूलशरीर की अपेक्षा अन्य शरीर से भी सम्बन्ध रखने वाला है, वह व्यक्ति परलोक में फल देने वाली शास्त्रोक्त प्रवृत्ति करे यह उपपन्न नहीं। अतः देहातिरिक्त आत्मा का ज्ञान क्रत्वंग मानना चाहिये ॥१०५॥

शास्त्रीय कर्म मरणान्तर फल देंगे अतः शरीर छोड़कर देवादि अन्य शरीरों वाला मेरा आत्मा होगा तभी स्वर्गादि फल भोगेगा। इसलिये देहभिन्न व अन्य देह से सम्बंध कर सकने वाला आत्मा है यह जानकर ही शास्त्रीय प्रवृत्ति संगत है। इससे सिद्ध होता है कि देहेतर आत्मा का ज्ञान कर्म का ही अंग है, स्वतंत्र फल वाला नहीं। अतः आत्मज्ञान मोक्षोपाय नहीं।

एवं तर्हि न कर्माङ्गं कर्तुश्चेष्टैकहेतुतः। फलार्थिवन्न च ज्ञानं क्रियाङ्गत्वेन चोदितम् ॥१०६॥
नन्वेवमपि सिद्धः स्यात्प्रवेशः सर्वकर्मसु। आत्मज्ञानस्य सामर्थ्यान्न नाम विधिसंश्रयात् ॥१०७॥

मूल में 'न त्वात्मा' के स्थान पर 'नन्वात्मा' पाठ तिरुपति संस्करण में है जो अधिक उपयुक्त है। 'न तु' ही पाठ हो तो 'तु नास्ति इति =एवं प्रकारेण, अजानतः=व्यतिरिक्तात्मविषयकाऽज्ञानवतः' ऐसे अर्थ जानना चाहिये ॥१०५॥

सिद्धान्ती का मत है कि देहातिरिक्त आत्मा का ज्ञान शास्त्रीय प्रवृत्ति के लिये भले ही चाहिये हो, इतने से वह ज्ञान कर्मांग नहीं हो सकता क्योंकि फलार्थिता को प्रवृत्ति के लिये आवश्यक मानते हुए भी मीमांसक उसे कर्मांग नहीं मानता। शास्त्रीय प्रवृत्तिविशेष के हेतुभूत पर्णमयताज्ञान को चाहे क्रत्वंग माना जाये, शास्त्रीय प्रवृत्तिमात्र के हेतुभूत आत्मज्ञान को क्रत्वंग मानना असंगत ही होगा क्योंकि शास्त्रीय प्रवृत्तिमात्र की हेतुभूत फलार्थिता को क्रत्वंग नहीं माना जाता। अतएव वेदोक्त ज्ञान होने से कर्मांगता का प्रसंग हट गया क्योंकि वहाँ दिया दृष्टान्त ही असिद्ध हो गया, व्यतिरिक्त आत्मा का ज्ञान भी कर्मांग नहीं बन पाया। शुद्धात्मज्ञान का उपासनांगत्व या अदृष्टद्वारा उपकार तो शास्त्रीय वचन के बिना अस्वीकार्य है और शास्त्रवचन इस विषय में है नहीं यह कह चुके हैं एवं विस्तार से आगे कहेंगे भी। अतः देहातिरिक्त आत्मा को कर्ता मानकर उसका ज्ञान क्रत्वंग नहीं क्योंकि वह शास्त्रीय प्रवृत्तिसामान्य का कारण है तथा यदि उसे अकर्ता माने तो भी पूर्वोक्त (श्लो. १०४) रीति से उसका ज्ञान क्रत्वंग नहीं। यह बात सिद्धांती स्पष्ट करता है –

इस प्रकार भी आत्मज्ञान कर्म का अंग नहीं होगा क्योंकि वह कर्ता की सभी (शास्त्रीय) चेष्टाओं का हेतु बनता है जैसे फलार्थिता। आत्मज्ञान कर्म के अंगरूप से कहीं विहित भी नहीं है ॥१०६॥

'इस प्रकार' अर्थात् देहान्य आत्मा के ज्ञान की आवश्यकता दिखाकर कहा गया। मूलमें चेष्टाशब्द से प्रकरणानुसार शास्त्रीय प्रवृत्ति ही समझनी चाहिये। अथवा बाल-स्थविर देहों का भेद प्रत्यक्ष मानकर अध्ययन धनार्जन आदि प्रवृत्ति भी देहातिरिक्त आत्मा माने बिना संभव नहीं इस अभिप्राय से ग्रन्थ सुसंगत है। मूल में 'फलार्थिवत्' में फलार्थी शब्द भावप्रधान है। फल की चाहना करने वाले रागी को फलार्थी कहते हैं। राग सब प्रवृत्तियों में साधारण कारण है अतः कर्मांग नहीं। 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वत्' कहकर यद्यपि जैमिनि ने (३.१.३) फलार्थी को भी शेष माना है तथापि वह असंगत है यह व्यक्त करने के लिये वार्तिक में 'फलार्थिवत्' कहा है। फलार्थी पुरुष कर्मांग नहीं यहं मीमांसा में बादरि महर्षि का मत बताया है। उसे अभ्युपगत कर आचार्य ने दृष्टांत दिया है। आत्मा के कर्तृत्व के ज्ञान की तरह उसके भोक्तृत्व का ज्ञान भी सभी प्रवृत्तियों का हेतु है अतः कर्मांग नहीं। अग्न्याधान यद्यपि क्रतु की निष्पत्ति में कारण पड़ता है तथापि क्रतु का अंग नहीं यह पूर्वपक्षी को स्वीकृत है। मीमांसा में (३.६.५) विचार किया है कि आधानरूप संस्कार आहवनीयादि अग्नियाँ उत्पन्न कर क्रतु की तरह स्वतंत्र ही रहता है, क्रतु का अंग नहीं बनता। आधान से संपादित अग्नियाँ स्वतंत्र ही रहते हुए शास्त्रवाक्यवशात् क्रतु में विनियुक्त हो जाती हैं। इसी तरह आत्मा को देहभिन्न जानना भी आवश्यक भले ही हो, अंग नहीं होगा। किं च अंगांगिभाव शास्त्रीय है अतः आत्मज्ञान को कर्मांग बताने वाले वचन के बिना उसे कर्मांग नहीं मान सकते। जो तो कहीं कहा है कि 'जानकार यज्ञ करता है' उसका अभिप्राय है याग के हेतुभूत द्रव्य-देवतादिज्ञान वाला व्यक्ति यज्ञ करता है न कि आत्मज्ञानी क्योंकि वह वाक्य कर्म के प्रकरण में है, आत्मा के नहीं। इससे शुद्धात्मविषयक उपासना मानने का भी निषेध हो गया क्योंकि ऐसी विधि भी उपलब्ध नहीं। अतएव शुद्धात्मज्ञान का अदृष्टोपकार भी माना नहीं जा सकता। फलतः शास्त्रीय आत्मज्ञान स्वतंत्र ही मोक्षरूप पुरुषार्थ का साधक है ॥१०६॥

वादी पुनः पूर्वोक्त (१०५) रीति से शंका करता है –

इस तरह विधि के सहारे न होने पर भी पूर्वोक्त (१०५) अनुपपत्ति के आधार पर आत्मज्ञान का सभी कर्मों में अंगरूप से प्रवेश सिद्ध हो जायेगा ॥१०७॥

नैतदेवमविज्ञाततत्त्वस्यैवेह कर्मसु। अनात्मार्थविशिष्टस्य ह्यधिकारित्वहेतुतः ॥१०८॥
स्वरूप आत्मनः स्थानमाहुर्निःश्रेयसं बुधाः। ततोऽन्येनाभिसंबन्ध आत्मनोऽज्ञानहेतुकः ॥१०९॥
आगन्त्वनात्मरूपं तत्स्वसंवित्त्यैव गम्यताम् ॥

श्रुतिप्रमाण न होने से अर्थापत्ति को प्रमाणरूप से वादी ने उपस्थित किया है। पहले वह वैदिक आत्मज्ञान को अंग बता रहा था। अब अन्यथानुपपत्तिवशाद् वह केवल कर्मोपयोगी आत्मा के ज्ञान को अंग सिद्ध करेगा और फिर वह ज्ञान कैसे हो इसे बताने वाली उपनिषत् है यह कहेगा। अतः औपनिषद आत्मज्ञान कर्मांग आत्मा को विषय कर सफल होगा न कि मोक्ष देने से यह उसका अभिमान है। यद्यपि आधान की तरह उपकारकतारूप प्रवेश ही सिद्ध होगा तथापि वादी का अभिप्राय है कि वेदविहित ज्ञान होने से वह अंग हो जायेगा जैसे पत्नी द्वारा देखा घी आहुतियोग्य होता है तो पत्नी का घी को देखनारूप ज्ञान क्रत्वंग ही होता है। आधान तो ज्ञान नहीं, यह तात्पर्य है। अथवा, अवेक्षित आज्य अंग है और अवेक्षितत्व की अन्यथानुपपत्ति से प्राप्त अवेक्षण भी अंग है; ऐसे क्रतूपयोगी आत्मा अंग है व उसका तादृश लाभ ज्ञान के बिना न होने से ज्ञान भी अंग माना जायेगा, यह अभिप्राय है ॥१०७॥

सिद्धान्ती प्रश्न करता है कि तुमने यह कहा कि देहभिन्न आत्मा का ज्ञान कर्म का अंग है पर यह बताओ कि वह ज्ञान क्या ब्राह्मणत्वादि-विशिष्ट आत्मा को विषय करता है या केवल आत्मा को? यदि कहो कि विशिष्ट आत्मा को विषय करने वाला ज्ञान कर्मांग है तो हमें आपत्ति नहीं क्योंकि विशिष्ट आत्मा कल्पित है अतः उसे विषय करने वाला ज्ञान औपनिषद आत्मज्ञान नहीं है। एवं च वह भले ही कर्मांग हो, हम जिसे मोक्षहेतु कह रहे हैं वह कर्मांग सिद्ध नहीं होता। फलतः अर्थान्तरनामक दोष पूर्वपक्षी के सिर पड़ेगा। और केवल आत्मा को विषय करने वाले को यदि कर्मांग ज्ञान कहो तो बाध ही होगा कारण कि वैसे आत्मा के ज्ञान से कर्म में प्रवृत्ति होती नहीं। यही बात स्पष्ट की जाती है –

अनात्मपदार्थ से विशिष्ट व्यक्ति, जिसने आत्मतत्त्व का अनुभव प्राप्त नहीं किया है वही लोक में कर्म का अधिकारी होता है। इसलिये तुम्हारे कथनानुसार आत्मज्ञान कर्मांग सिद्ध नहीं होता ॥१०८॥

शरीरादि अनात्मपदार्थों से विशिष्ट अर्थात् उनसे स्वयं को सीमित जानने वाले में ही कर्म की सामर्थ्य होगी, फल की इच्छा होगी व 'मेरे लिये यह कर्तव्य है, मुझे यह करने से रोका नहीं गया है' ऐसी बुद्धि होगी, अतः वही कर्म के लिये अधिकारी माना जा सकता है। स्वयं को सीमित जानना अज्ञानवश ही संभव है यह आगे बतायेंगे। इसलिये आत्मा की वास्तविकता को न जानने वाला ही कर्म कर सकता है। जो अज्ञानी नहीं, अनात्मपदार्थों से स्वयं को विशिष्ट नहीं समझता वह मुक्त की तरह कर्माधिकारी नहीं। इसलिये विशिष्टात्मा को विषय करने वाला ज्ञान ही कर्मांग कहा जा सकता है, शुद्धात्मा को विषय करने वाला नहीं ॥१०८॥

वादी यह न कह सके कि आत्मा स्वरूप से ही कर्माधिकारी है, विशिष्ट होने से नहीं, इस प्रयोजन से आत्मस्वरूप का प्रदर्शन करते हुए इसे न जानकर होने वाले मिथ्याभिमानों से ही अधिकार होता है यह बताना प्रारंभ करते हैं –

विद्वान् लोग कहते हैं कि स्वरूप से ही अवस्थित रहना आत्मा की मोक्षावस्था है। अविद्या से भिन्न वस्तुओं से जो आत्मा का सम्बन्ध होता है उसमें अविद्या हेतु बनती है। अनात्मा से निरूपित अहंकारात्मक स्वरूप आगमापायी है वह स्वरूप आत्मरूप ज्ञान से ही प्रकाश्य है ॥१०९ $\frac{1}{2}$॥

नित्य मोक्ष मानने से स्वरूपभूतता को ही मोक्ष स्वीकारा जा सकता है। उसकी अप्राप्ति केवल उसे न जानना रूप अज्ञान संभव है। तत्त्वज्ञान से अज्ञान बाधित होने पर मोक्षप्राप्ति का व्यवहार है। इसलिये मोक्ष का प्रयोजक आत्मज्ञान कर्म का अंग हो नहीं सकता। मुक्त को कर्म करना पड़ता है यह तो वादी भी नहीं मानेगा!

कोई सूक्ष्मेक्षिका करे कि ज्ञान को अविद्यानिवृत्ति द्वारा मोक्ष का उपाय भले ही मानो, विशिष्टात्मा का हमें जो अनुभव है वह अज्ञानकृत नहीं किन्तु गौण है, अतः अविद्या हटने पर भी इसे हटने की जरूरत नहीं, फलतः अविद्यानिवृत्ति होने पर भी विशिष्टात्मा के अनुभव से कर्माधिकार बना रहेगा, कर्म प्रवृत्ति बनी रहेगी जिससे या तो ज्ञान

नातोऽवाप्तपुमर्थस्य स्वरूपावस्थितस्य तु ॥११०॥ कर्तृभोक्त्रादिरूपत्वं प्रत्यगज्ञानतोऽन्यतः ।

की मोक्षोपायता खण्डित मानो और या विशिष्ट आत्मा की दुःखनिवृत्तिरूप मुक्ति के लिये कर्म को उपाय स्वीकारो। इस प्रकार क्योंकि दुःख विशिष्ट में ही है अतः उसी की निवृत्ति मोक्ष है, इसलिये सिद्धान्ती द्वारा कल्पित मोक्ष व तदुपायप्रदर्शन अर्थान्तरदोष से ग्रस्त है। यदि सिद्धान्ती पूछे कि अनात्मा का आत्मा से संबंध कैसे? तो उत्तर है जैसे अविद्या का आत्मा से सम्बन्ध सिद्धान्ती को स्वीकृत है वैसे अनात्मा का भी मान लेना चाहिये।

इस संभावना के निराकरणार्थ आचार्य ने कहा कि अविद्या से अन्य वस्तु का आत्मा से संबंध अविद्यानिबंधन ही है। यहाँ वस्तु शब्द देहादि व उनके धर्मादि सब का संग्राहक समझना चाहिये। अविद्या से होने वाला अर्थात् मिथ्या होगा, न कि गौण। अतः अविद्या हटते ही हट जायेगा। फलतः विशिष्टात्मा का अबाधित अनुभव न रहने से कर्माधिकार व कर्मप्रवृत्ति न होने से मोक्ष ही होगा, कर्म न रहेगा न उसका कोई प्रयोजन ही होगा। इसलिये सिद्धान्तप्रोक्त मोक्ष ही मोक्ष है व ज्ञान ही उसका अकेला उपाय है।

अविद्या से आत्मा का सम्बन्ध स्वयं अविद्या ही है। सर्वज्ञचरणों ने भेद को उदाहरण बनाकर स्पष्ट किया है कि मोह (=अज्ञान) व कार्य दोनों का धारण अकेला मोह (=अज्ञान) कर लेता है। अतः अविद्यारूप होने से अविद्यासम्बंध को अविद्याप्रयुक्त न मानना संगत है। यदि 'अज्ञोहम्' आदि विशिष्टानुभूति की अन्यथानुपपत्ति से कोई संबन्ध माना जायेगा तो वह भी अविद्याप्रयुक्त ही माना जायेगा। उभयथा ही वादी का दृष्टांत सिद्ध नहीं होता। किं च अविद्या की तरह अविद्यासम्बंध अनादि है अतः उसे कोई प्रयोजक न चाहिये हो यह संगत है, किन्तु अन्य अनात्मा से संबंध तो सादि हैं अतः कारणापेक्ष ही हो सकते हैं। इसलिये अनात्मसम्बन्धों को आगमापायी कहा। इससे यह भी सिद्ध कर दिया कि वे अविद्या से होते हैं क्योंकि कार्य जो भी होगा वह अविद्या से होगा यह रज्जुकल्पित सर्प में गृहीत नियम है। इतना ही नहीं, अहंकाररूप आत्मानात्मसम्बन्ध का ज्ञान हमें होता है जो इसमें प्रमाण है कि वह साक्षिरूप हमारे द्वारा प्रकाश्य है। प्रकाशन के लिये हमारा उससे कोई सम्बंध चाहिये, अन्यथा हममें सर्वज्ञतापत्ति होगी, वह सम्बन्ध अविद्या ही संभव है कारण कि असंग व उदासीन आत्मा का वास्तव सम्बंध न हो सकता है, न प्रमित है तथा मोक्षवादी के लिये अमान्य भी है। इसलिये अनात्मा व उसका आत्मा से सम्बन्ध दोनों अविद्याधीन ही हैं ॥१०९ $\frac{१}{२}$॥

अनात्मा व अनात्मसम्बन्ध आज्ञानिक हैं इसका फल यह निकला –

अतः स्वरूप से अवस्थित व नित्यमुक्त आत्मा प्रत्यक्तत्त्व के अज्ञान से ही कर्ता-भोक्ता आदि रूप को प्राप्त होता है, अन्य किसी कारण से नहीं ॥११० $\frac{१}{२}$॥

आत्मा कूटस्थ अर्थात् अपरिवर्तनीय आनंद है अतः वह है वस्तुतः सदा मुक्त। फिर भी प्रत्यक् को अर्थात् स्वयं अपने को सही न जानने से अनात्मा से ख़ुद को संवलित मानकर करने व भोगने वाला स्वयं को समझ रहा है। अज्ञान से अन्य और कोई कारण इस ग़लतफ़हमी का नहीं है। अतः अज्ञाननिवर्तक ज्ञान ही मोक्ष के लिये पर्याप्त है।

न्यायतत्त्वविवरणकार श्रीनृसिंहपुरी ने 'तु' शब्द एवकारार्थक बताया है: 'तुशब्दोऽवधारणे, कर्तृभोक्त्रादिरूपत्वं प्रत्यगज्ञानादन्यतो न भवत्येवेति।' विद्यासागर ने तु-शब्द से कर्तृत्वादि के दृश्यत्व से उनके मिथ्यात्व की सूचना मानी है। यह बात आनंदगिरि स्वामी ने साक्षिभास्यता से गतार्थ कर दी है। आनन्दपूर्ण जी ने साक्षिभास्यता से यह समझा है कि जड वस्तु न स्वतः सिद्ध है न परतः सिद्ध है अतः अध्यस्त है। किन्तु परतः भी असिद्धि क्लेश से ही समझी जा सकती है अतः शास्त्रप्रकाशिकाकार की व्याख्या ही अधिक स्वरस है ॥११० $\frac{१}{२}$॥

अधिकार जिन कारणों से होता है वे स्पष्टतः अनात्मा हैं यह व्यक्त कर अध्यासवश ही आत्मा कर्तादि बन सकता है यह सूचित करते हैं –

कर्म तत्फलभोगश्च बाह्यानि करणानि च ॥१११॥
ततोऽपि बाह्यो देहश्च जातिस्तत्समवायिनी। जरामरणजन्मानि देहाधिकरणानि च ॥११२॥
दारपुत्रधनादीनि देहबाह्यानि यानि च। कर्माधिकारहेतूनि स्वतोऽस्यानधिकारिणः ॥११३॥

स्वतः अनधिकारी इस आत्मा को कर्म में अधिकार इन हेतुओं से प्राप्त होता है: कर्म, उनके फलों का भोग, आभ्यन्तर करण, बाह्य करण, उनसे भी बहिर्भूत स्थूल देह, उससे सम्बद्ध जाति, देह में होने वाले जरा मरण व जन्म और देह से भी बाह्य पत्नी, पुत्र, धनादि ॥१११-११३॥

चेतन होने से कर्मसामर्थ्य स्वरस है जिससे आत्मा कर्ताभोक्ता होने के लिये अज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता – इस शंका को हटाने के लिये आत्मा को 'स्वतः अनधिकारी' कहा। इसमें असंगतादि को हेतु बताने के लिये 'इस' कहा क्योंकि प्रकरण केवलात्मा का चल रहा है, विशिष्ट का नहीं। 'स्वतो ह्यनधिकारिणः' यह न्यायकल्पलतिका का पाठ है। उसमें हिशब्द से यह बात स्पष्ट है। स्वतः अनधिकारी होने से उपाधिवश ही अधिकारी हो सकता है अतः उपाधियों का निदर्शन यहाँ किया है।

बृहदारण्यक में (४.४.५) बताया है कि पुण्य करने के शील वाला व्यक्ति पुण्य करता है व पाप करने के शील वाला पाप करता है। अतः पूर्वकृत पुण्यादि कर्म वासना या संस्कार द्वारा अनन्तरभावी कर्म में प्रवर्तक होने से अधिकार में हेतु है। नृसिंहपुरीय विवरण में तो कहा है कि अध्ययन आदि कर्म यहाँ अधिकार-हेतु बताये जा रहे हैं। क्योंकि यहाँ गिनाये हर पदार्थ प्रत्येक कर्म में हेतु हों यह विवक्षित नहीं, अन्यथा जरा-मरण-जन्म से अतिरिक्त यावज्जीवादिशास्त्रविहित जीवनमात्र निमित्तक नित्यादि कर्म के अधिकार का संग्रह न हो पायेगा, इसलिये अध्ययनादि कर्म में कर्म यदि हेतु न भी बने तो दोष नहीं। फलोपभोग इसलिये हेतु है कि कर्म के प्रति राग कारण है और वह उपभुक्तविषयक ही संभव है। अतः कर्म से प्राप्त फल का भोग कर उसमें रागवश ही पुनः कर्म में प्रवृत्ति हो जाती है। नित्यकर्म भी वस्तुतः काम्य ही हैं यह भाष्य में व्यक्त है। श्लोकस्थ चकार से अंतःकरण गृहीत है। हवि देते समय मन से देवता का ध्यान करने का विधान होने से मन के बिना कर्म संभव नहीं। अभिक्रमण, आहुतिप्रक्षेप आदि के लिये कर्मेंद्रियाँ और आज्यावेक्षणादि के लिये ज्ञानेन्द्रियाँ ज़रूरी हैं। किं च अंधे, लंगड़े आदि गार्हस्थ्य-पालन न करें ऐसा वचन भी है। गृहस्थ ही कर्म कर सकता है। शरीर की उपयोगिता स्पष्ट ही है। ब्राह्मणादि जाति के प्रातिस्विक कर्म विहित होने से जाति भी हेतु है। वानप्रस्थधर्मों के अनुष्ठान में जरा हेतु पड़ती है, अन्त्येष्टि आदि में मरण हेतु है व जातकर्मादि में जन्म हेतु है। अथवा प्रतिवर्ष वर्धापनविधि आदि से जन्मदिन संबंधी कृत्यों में जन्म तथा जीवितश्राद्ध आदि में मरण हेतु समझना चाहिये। देह से अन्य भी हेतु हैं। जिसकी पत्नी जीवित हो, पुत्र पैदा हो चुका हो ऐसा धनी ही अग्न्याधान करे ऐसा शास्त्र में कहा है। चरु पुरोडाशादि सभी उपकरणों का संग्रह मूलस्थ चकार से या आदिपद से कर लेना चाहिये। यद्यपि भार्यादि में अहमभिमान मिथ्या नहीं है तथापि उनमें ममाभिमान तो मिथ्या है और वही यहाँ अधिकारहेतु कहा जा रहा है। ममत्वरूप मिथ्याभिमान का ही एक विशेषरूप स्वामित्व है व उसके कारण ही 'मैं सपत्नीक हूँ, धनी हूँ' आदि अभिमान होता है जो कर्माधिकार का हेतु है। मूल का 'कर्माधिकारहेतूनि' पद बहुव्रीहि है, 'हेतुत्वं येषां तानि', अतः शाब्दिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं है। अर्थ तो 'कर्माधिकारहेतवः' ही समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार अनात्मवर्ग आत्मा के कर्माधिकार में कारण बनता है जिससे उसे स्वरूपतः कर्माधिकारी नहीं कह सकते यह श्लोक १०९ से प्रारंभ कर यहाँ तक स्पष्ट किया ॥१११-११३॥

प्रश्न होता है कि जैसे वह्नि उष्णस्पर्श वाली है तो वायु के सम्बन्ध से अनुष्ण नहीं हो जाती ऐसे अनधिकारी आत्मा उपाधि-सम्बंध से भी अनधिकारी ही रहना चाहिये, अधिकारी कैसे बन जाता है? इसका उत्तर देते हैं –

अभिन्नस्याऽऽत्मनो मोहाद्भेदकानीति मन्वते। विशेषणं स्वरूपं वा नान्योन्यस्य स्वतो यतः ॥११४॥
लोके दृष्टं विनाऽविद्यां मोहाद् दृष्टं तु सर्वतः। चोरोऽसौ मामभिप्रैतीत्येवं चोरविशेषणम् ॥११५॥
स्थाणुं सम्भावयत्यज्ञो न तु दृष्टं तमो विना। नन्वविद्यामृतेऽप्यन्यद्दृष्टमन्यविशेषणम् ॥११६॥
औपगवो नृपहयस्तथा श्येनचिदादयः ॥

कर्माधिकार के उक्त हेतु मोह के कारण अद्वितीय आत्मा को ऐसे सभेदस्वरूप वाला प्रतीत करा देते हैं कि वह स्वयं को अधिकारी मान लेता है व विभिन्न वादी भी उसे ऐसा मानते हैं। एक वस्तु अन्य वस्तु का स्वतः न विशेषण होती है, न स्वरूप। यह इससे निश्चित है कि लोक में अविद्या के बिना विशेषणता नहीं देखी जाती है, मोहवश तो सर्वत्र दीखती है। स्थाणु को न जानने वाला 'वह चोर मेरी ओर आ रहा है' इस प्रकार चोररूप विशेषण से स्थाणु को सम्बद्ध समझता है। बिना अज्ञान के तो विशेष्य-विशेषणभाव उपलब्ध नहीं होता ॥११४-११५ $\frac{1}{2}$॥

यहाँ मोह व अज्ञान पर्याय हैं। वास्तव में वह्नि भले ठण्डी न हो पर भ्रम से ऐसा होना भी मुमकिन ही है, 'गर्म जल' आदि अनुभव तो स्पष्ट ही भ्रमवश वह्निसम्बंध से शीतस्पर्श जल को उष्ण सिद्ध कर रहे हैं। ऐसे ही सभी को लगता है 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' और प्रायः वादी लोग भी आत्मा को ऐसा ही मानते हैं। वह्नि के दृष्टांत से जो यह ध्वनित किया कि आत्मा अन्यसम्बन्धवश भी कर्तादि नहीं हो सकता वह घटदृष्टांत से निरस्त हो जाता है: स्वयं अप्रकाशमान घट दीपक से प्रकाशमान होता है इसमें क्या अनुपपत्ति है? यदि 'नान्यदन्यद् भवेद् यस्मात्' (उप.सा. १५) न्याय से शंका हो तो समाधान यही है कि भ्रम से अन्योन्यात्मकता व अन्योन्यधर्मकता संभव व अनुभूत है। मोहवश होने से वास्तविक अकर्तृता से प्रतीयमान कर्तृतादि का विरोध भी नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि पूर्वोक्त अधिकारहेतु स्वयं आत्मा को सभेदस्वरूप क्यों नहीं बनाते, मोह की क्या आवश्यकता? इसके उत्तर के लिये बताया कि स्वतः अर्थात् मोह के बिना भिन्न वस्तुओं का न विशेष्यविशेषणभाव होता है न एकस्वरूपत्व। चैत्र व मैत्र विभिन्न पुरुष हों तो न परस्पर विशेषणादि हुआ करते हैं न एक-दूसरे के स्वरूप। ऐसे ही आत्मा से भिन्न होने से उक्त अधिकारहेतु आत्मा के विशेषणादि न बन सकने के कारण उसे स्वयं सभेदस्वरूप नहीं बना सकते। मोह से ही एक वस्तु दूसरे का विशेषण होती है यह शुक्तिरजतस्थल में स्पष्ट है। वहाँ पुरोवर्ती तो शुक्ति है, उसका विशेषण उससे सर्वथा भिन्न रजतपदार्थ है। स्थाणु में चोर के दृष्टान्त से भी यही स्पष्ट किया है। स्थाणु की वास्तविकता से परिचित व्यक्ति उसे चोर से विशेषित नहीं करता, अपरिचित ही करता है अतः अज्ञान से ही विशेषित किया जा सकता है यह मालूम पड़ जाता है।

विशेषण बनने के लिये स्वरूप में प्रवेश करना पड़ता है इसलिये मूल में 'स्वरूपं वा' कहा और इसी से उक्त बात में हेतु भी सूचित कर दिया। क्योंकि अन्य का स्वरूप कोई बन नहीं सकता इसीलिये विशेषण भी बन नहीं सकता। स्वरूप इसलिये नहीं बन सकता कि वह यावत्पदार्थस्थायी होता है: जब तक घट है तब तक उसका स्वरूप रहेगा। अतः कादाचित्क वस्तु स्वरूप नहीं होगी ॥११४-११५ $\frac{1}{2}$॥

अज्ञान से ही विशेषणविशेष्यभाव होता है इस पर वादी शंका करता है –

अविद्या के बिना भी अन्य वस्तु को अन्य का विशेषण देखा जाता है जैसे औपगव, नृपहय, श्येनचित् आदि में ॥११६ $\frac{1}{2}$॥

'उपगु' नामक व्यक्ति का पुत्र 'औपगव' कहलाता है। औपगव शब्द में 'उपगु' प्रकृति है व 'अण्' प्रत्यय है। उपगु का अर्थ कोई पुरुषविशेष है और अण् का यहाँ अर्थ है अपत्य (पुत्र)। यहाँ उपगु विशेषण है व अपत्य विशेष्य है। उपगुसम्बंध से ही अपत्य इतर अपत्यों से व्यावृत्त है। यह विशेषणविशेष्यभाव अविद्या से हुआ दीखता नहीं, अबाधित है। नृपहय का अर्थ है राजा का घोड़ा। यहाँ भी अज्ञानरूप प्रयोजक के बिना ही नृप विशेषण और हय विशेष्य है। श्येनपक्षी

नैतदेवं यतस्तत्र नैवं प्रत्यक्तयेष्यते। अन्येनान्यस्य सम्बन्धः कृशोऽहमितिवत्क्वचित् ॥११७॥
उपग्वादिर्हि पित्रादिः प्रकृत्यर्थो विशेषणम्। भिन्नस्यौपगवापत्यप्रत्ययार्थस्य गम्यते ॥११८॥
नैवं कर्त्रादिदेहान्ताञ्ज्ञात्यादीन्देहगांस्तथा। व्यतिरेकतया कश्चिद्विशिनष्टीह मानवः ॥११९॥

के आकार का कुण्ड बनाने वाला श्येनचित् कहा जाता है। श्येनाकारचयन व चयनकर्ता का विशेष्यविशेषणभाव अविद्यावश हो ऐसा नहीं। 'दण्डी' में भी दण्ड व पुरुष का विशेष्यत्वादि अविद्या के बिना ही है। इसलिये सिद्धान्ती की प्रतिज्ञा ग़लत है। उसने जो नियम बनाया कि शुक्तिरजतस्थल की तरह सर्वत्र विशेषणता आज्ञानिक होती है वह नियम ऊपर-दर्शित स्थलों पर व्यभिचरित है ॥११६½॥

उक्त शंका के समाधान में सिद्धान्ती स्पष्ट करता है कि उसका तात्पर्य सभी विशेषण-विशेष्यभावों को आज्ञानिक कहना नहीं किन्तु जहाँ तादात्म्येन विशेषणता होती है वहाँ बिना अविद्या के नहीं होती यह नियम बताने में है। वादी ने जो दृष्टांत दिये वे अत्यंत भिन्न वस्तुओं के विशेष्यविशेषणभाव को दिखाते हैं जबकि बात चल रही है आत्मा से अभेदेन दीखने वाले देहादि की विशेषणता की। अतः उसके दृष्टांत सिद्धान्ती के अभिप्रेत तात्पर्य से उक्त नियम के व्यभिचारस्थल नहीं हैं यह स्पष्ट करते हैं –

ऐसी बात नहीं है क्योंकि जैसे 'मैं पतला हूँ' में पतलापन मैं-से एक हुआ दीखता है ऐसे तुम्हारे दृष्टान्तों में अन्य का अन्य से सम्बन्ध नहीं, एक वस्तु दूसरे से अभिन्न हुई नहीं दीखती ॥११७॥

पतलापन अपने से (= मैं-से) अलग हुआ नहीं दीखता, एक हुआ ही दीखता है, अनुभूत होता है। वह पतलापन मैं का विशेषण है। ऐसी विशेषणता अज्ञान से होती है यह सिद्धांती का कहना है। वादी ने जो दृष्टांत दिये उनमें तो विशेषण व विशेष्य भिन्न ही बने रहते हैं। विशेष्य से जिनका भेद न दीखे ऐसे विशेषण दृष्टांत में नहीं हैं। विशेष्य व विशेषण विभिन्न ही बने रहे और उनका सम्बन्धविशेष ही विशेषणता हो गयी। इसलिये सिद्धांती के अभिप्राय का विरोध इन दृष्टांतों से संभव नहीं ॥११७॥

यदि पूर्वपक्षी आग्रह करे कि उसके द्वारा प्रदर्शित विशेष्यविशेषणभाव भी 'मैं पतला हूँ' आदि के समान ही है तो उसे स्पष्ट कर उक्त बात ही समझाते हैं –

उपगु आदि प्रकृतिभाग के अर्थभूत पिता आदि अपने से भिन्न जो औपगवशब्दगत-अपत्यबोधकप्रत्ययके अर्थ पुत्रादि हैं, उनके विशेषण समझे जाते हैं ॥११८॥

पूर्वश्लोक में प्रकृति-प्रत्यय का विशेषण-विशेष्यभाव बता चुके हैं। 'तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन' न्याय से प्रत्ययार्थ की विशेष्यता संगत है। इस श्लोक में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि वादिप्रोक्त उदाहरण में विशेषण व विशेष्य विभिन्न ही हैं। औपगव सुनकर उपगु और पुत्र दोनों पृथक् उपस्थित होते हैं और उनका संबंध भी प्रतीत होता है। पुत्ररूप विशेष्य से अभेदेन पितारूप विशेषण की प्रतीति नहीं होती। नृपहय आदि में भी जो शब्द हैं वे पर्याय तो हैं नहीं अतः दोनों शब्द नृप व हय पदार्थों को भिन्न-भिन्न ही उपस्थित करते हैं, हय से अभेदेन नृप की उपस्थिति नहीं होती। श्येनचित् शब्द से भी जिसका चयन किया गया और जिसने चयन किया उनका भान अलग-अलग ही होता है। दण्डी स्थल पर तो दण्ड और देवव्रत आदि व्यक्ति का भेद प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार इन दृष्टान्तों में अविद्या के बिना विशेषणता होवे तो कोई हानि नहीं पर इनके आधार पर जहाँ अभेदेन विशेषणता होती हो वहाँ भी आज्ञानिक नहीं यह सिद्ध नहीं हो जाता ॥११८॥

प्रकृत जो देहादि आत्मविशेषण हैं वे उपगु आदि की तरह विशेष्य से सर्वथा भिन्न बने रहते हों ऐसा नहीं, यह स्पष्ट करते हैं –

अविद्यादशा में कोई मानव अहंकार से देह पर्यन्त पदार्थों को तथा देह में होने वाले जाति-आदि को अपने से सर्वथा भिन्न मानते हुए अपना विशेषण वैसे नहीं समझता जैसे उपगु आदि को पुत्रादि का विशेषण समझता है ॥११९॥

यत आत्मतयैवैतैर्विशिनष्ट्यविशेषणम्। करोम्यन्धो द्विजो बालो दग्धश्छिन्नोऽहमित्यपि ॥१२०॥
नाविद्यामन्तरेणैषां विशेषणविशेष्यता। इयमेवाऽऽत्मनो ज्ञेया कर्माधिकृतिकारणम् ॥१२१॥

धर्मादि में व्यापृत, 'देहातिरिक्त आत्मा है' ऐसा मानने वाला व्यक्ति भी उत्कट विवेक न होने तक देह को स्वयं से वैसा भिन्न नहीं समझता जैसे उपगु को उसके पुत्र से भिन्न समझता है। ऐसे ही देहगत ब्राह्मणत्वादि व शुक्लत्वादि के बारे में जाऩना चाहिये। यह अनुभूत बात अगले श्लोक में कहेंगे। देवदत्त नाम है शरीर का। 'मैं देवदत्त' यह समानाधिकरणबुद्धि होती है। इस बुद्धिसे भी सिद्ध होता है कि शरीर आत्मा से भेदेन दृष्ट नहीं है।

मूलस्थ कर्तृपद से अंतःकरण समझना चाहिये यह विद्यासागर का अभिप्राय है। किन्तु प्रसंग चल रहा है अभेदाध्यास का। 'मैं मन' ऐसा अनुभव होता नहीं। अतः शास्त्रप्रकाशिकाकार ने कर्ता से अहंकार ही कहा गया स्वीकारा है। 'मानवः' कहकर इस अनुभव की सार्वजनीनता व्यक्त की है ॥११९॥

उक्त बात में अनुभव ही प्रमाण है यह दिखाते हैं –

'मैं कर रहा हूँ', 'मैं अन्धा हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं बालक हूँ', 'मैं जल गया, कट गया' तथा ऐसे ही अन्य अनुभवों में सभी लोग स्वतः निर्विशेष आत्मा को इन देहादि से अभेदेन विशिष्ट समझते हैं अतः यह विशेषणता अविद्या से ही है यही स्वीकार्य है ॥१२०॥

क्रिया शरीर में होती है, व्यापक होने से आत्मा में नहीं। फिर भी हम समझते हैं 'मैं चला'। यह तभी संभव है जब शरीर को मैं रूप से जाना हो, उसे अपने से अभिन्न कर अपना विशेषण समझा हो। ऐसे ही 'मैं अंधा' में इन्द्रियों की विशेषणता तथा 'मैं ब्राह्मण' आदि में देहधर्मों की विशेषणता है। बालक से मन की अप्रौढता समझें तो अंतःकरण का संग्रह संभव है। यहाँ विशेषणता है यह स्पष्ट करने के लिये याद दिलाया कि आत्मा स्वतः निर्विशेष है। तात्पर्य है कि क्योंकि अहंकारादि अनात्मपदार्थ आत्मा से सर्वथा भिन्न न रहते हुए ही आत्मा के विशेषण बनते हैं इसलिये यह मानना पड़ेगा कि उनका आत्मा से भेद न समझने पर ही उनकी ऐसी विशेषणता है। अर्थात् आत्मतत्त्व का अज्ञान होने से ही आत्मा–अनात्मा का अन्योन्याध्यास है।

पुरीजी के अनुसार वादी कह सकता है कि 'मैं दुबला' आदि में भी विशेषणभूत दुबलापन वैसे ही मुझ से अलग प्रतीत है जैसे पुत्र से पिता, अतः सामानाधिकरण्य अर्थात् अभेदव्यवहार गौण ही है, मिथ्या नहीं। इसका निराकरण प्रकृत वार्तिक में सिद्धांती ने किया है। दुबलापन आदि भेदेन प्रतीत नहीं होता यह अभिप्राय श्लोकोक्त अनुभवों से व्यक्त किया है। यद्यपि कदाचित् 'मेरा शरीर' आदि भी अनुभव हैं तथापि भेदेन *ही* प्रतीति नहीं होती यह तात्पर्य है। उपगु आदि की तो भेदेन *ही* प्रतीति होती है। ॥१२०॥

इस प्रकार अहंकारादि आत्मा के विशेषण आत्माऽज्ञान से ही हैं यह स्पष्ट कर फलितार्थ बताते हैं –

जिससे ये ब्राह्मणादि लोग बृहस्पतिसव आदि के अधिकारी बनते हैं वह अहंकारादि की यही विशेषणविशेष्यता है जो अविद्या के बिना संभव नहीं और इसे ही आत्मा को कर्म में अधिकार दिलाने वाला समझना चाहिये ॥१२१$\frac{1}{2}$॥

जैसे स्थाणु से भेदेन न जाना हुआ पुरुष ही स्थाणु का विशेषण बनता है वैसे ही आत्मा से भेदेन ही न जाने हुए अहंकारादि आत्मा के विशेषण बनते हैं और तभी आत्मा अपने अद्वितीय स्वरूप की बजाय स्वयं को अतिपरिच्छिन्न समझ कर कर्म में अधिकारी बन जाता है। इसलिये आत्मतत्त्व के अज्ञान वाला ही कर्माधिकारी हो सकता है, ज्ञानी नहीं। अधिकार का अर्थ है मालिक रूप से सम्बद्ध होना। 'मैंने यह कर्म किया' इस प्रकार कर्म का स्वयं को मालिक समझना और 'इसका फल मैं भोगूँगा' इस प्रकार फल का स्वयं को मालिक प्रमित करना, दोनों यहाँ विवक्षित हैं। स्वयं को ब्राह्मणादि मानने पर ही शास्त्रीय कर्म में 'यह मेरे लिये विहित है' ऐसा समझकर प्रवृत्ति होगी। ब्राह्मण के लिये करने को

अधिक्रियन्ते येनैते बृहस्पतिसवादिषु। अतोऽनवगतैकात्म्यकर्माधिकृतिहेतुतः ॥१२२॥
श्रुत्यादिमानप्रमितप्रत्यग्याथात्म्यनिष्ठितम्। सर्वकर्मसमुच्छेदि ज्ञानं वेदान्तमानजम् ॥१२३॥

कहा कर्म क्षत्रियादि को फल नहीं देगा अतः क्षत्रियादि उसे अपने लिये विहित नहीं समझते, उसमें अपना अधिकार नहीं मानते अतः उसमें प्रवृत्त नहीं होते। यदि ब्राह्मणत्वादि अभिमान अधिकारकारण न होता तो सभी का सब कर्मों में अधिकार होता एवं शास्त्र को ब्राह्मणादि के पृथक्-पृथक् कर्तव्य न बताने पड़ते। शास्त्र ने ब्राह्मणादि के लिये अलग-अलग कार्यों का निर्देश देकर स्पष्ट कर दिया कि उक्त अभेदाध्यासरूप विशेषणता कर्माधिकार में हेतु है। अध्यास तो अविद्या से ही होगा अतः अज्ञ ही अधिकारी है ॥१२१ १/२॥

इस विचार से यह निष्कर्ष निकला –

जिसे एकात्मता का ज्ञान नहीं ऐसे अज्ञानी को ही कर्म में अधिकार होने के कारण शुद्धात्मा का ज्ञान कर्मांग नहीं हो सकता ॥१२२॥

एकात्मता अर्थात् आत्मा की अद्वितीयता। इससे यह भी बता दिया कि अज्ञानी कर्माधिकारी है अतः ज्ञान का अधिकारी उससे विपरीत कर्मानधिकारी संन्यासी ही होगा। श्री आनंदगिरि जी ने 'न शुद्धात्मज्ञानस्य तदंगता' इतना यहीं जोड़कर वार्तिकवाक्य को पूरा किया ऐसा प्रतीत होता है। न्यायकल्पलतिकाकार ने श्लोक १२५ के 'न प्रवर्तकम्' से अन्वय किया है। अर्थ में कोई अंतर नहीं ॥१२२॥

शुद्धात्मा का ज्ञान क्यों कर्मांग नहीं इसे स्पष्ट करते हैं –

श्रुति आदि प्रमाणों से प्रमित जो प्रत्यगात्मा की वास्तविकता, उसे विषय करने वाला वेदान्तवाक्यों से उत्पन्न ज्ञान सभी कर्मों का पूरी तरह उच्छेद (समापन) कर देता है अतःकर्मांग नहीं है ॥१२३॥

'श्रुति आदि' के आदिपद से गीतादि स्मृति, महाभारतादि इतिहास, वायु आदि पुराण, विद्वानों के अनुभव, अनुमान, अर्थापत्ति आदि सभी प्रमाणों का संग्रह कर लेना चाहिये। अथवा मीमांसा में अंगता में प्रमाण माने गये लिंगादि को आदिपद से समझना चाहिये। 'अद्वैतम्' (मां० ७) आदि श्रुति है। 'नेह नाना' (बृ. ४.४.१७) 'सर्वमात्मैव' (बृ. ३.४.१४) आदि लिंग अद्वैतात्मसाधक हैं। 'आत्मा... एक एव' (बृ. १.४.१७), 'सदेव... अद्वितीयम्' (छा. ६.२) आदि वाक्य हैं। 'अनन्तं ब्रह्म' (तै. २.१) में प्रकरण से अद्वैत सिद्ध है क्योंकि अनन्तपद विशेष्याकांक्ष व ब्रह्मपद विशेषणाकांक्ष होकर अभेदेन सम्बद्ध होते हैं। व ब्रह्मशब्दोक्त विभुत्व से अतिरिक्त त्रिविधपरिच्छेदराहित्यरूप अनन्तत्व अर्थात् अद्वैत का बोध होता है। ऐतरेयक में 'कतरः स आत्मा' (३.१) से दो आत्मतत्त्वों का विचार प्रारंभ कर प्रवेशक्रम से पहले साधनात्मा का चिंतन कर तब प्रज्ञानात्मा का विचार किया जो प्रज्ञान प्रतिष्ठारूप होने से अद्वितीय है; अतः स्थान प्रमाण से प्रवेश करने वाले आत्मा की अद्वैतता स्पष्ट है। 'तद् ब्रह्म अद्वयम्' (कै. १.१९) आदि में अद्वयसमाख्या से भी यही व्यक्त किया है। इन्ही प्रमाणों से कर्मशेषता आत्मा की नहीं है यह भी सिद्ध होता है। 'अकर्ता' (श्वे. १.९) श्रुति है। 'अपाणिपादः' (कै. २.२) इत्यादि लिंग हैं। 'मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति' (कै. १२) आदि वाक्य अज्ञ का ही कर्म सिद्ध कर विज्ञ का अकर्म ही सिद्ध करते हैं अतः विज्ञविज्ञात आत्मा कर्मांग नहीं। 'एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कर्मणा कनीयान् एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति' (कौ. ३.९) आदि में 'एषः' पद ऐसे पदार्थ की आकांक्षा रखता है जिसका साधु-असाधु कर्म से सम्बंध न हो तथा 'प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा' (कौ. ३.२) में प्रतिज्ञात आत्मा भी ऐसे ही पदार्थ के साकांक्ष है क्योंकि उसके अर्थवाद में (३.१) कर्म का असंबंध ही बताया है अतः प्रकरणवश प्रत्यगात्मा का कर्म से सम्बंध न होना निश्चित है। ईशावास्य में पहले आत्मतत्त्व का और फिर कर्म करने वाले जिजीविषु अर्थात् अज्ञ का उपस्थापन कर आठवें मंत्र तक आत्मा को बताया और उसके बाद कर्म करने को कहा अतः स्थानप्रमाण से अज्ञ ही कर्माधिकारी है आत्मा तो चौथे से आठवे मंत्र तक प्रतिपादित ही है। 'अक्रतुम्' (श्वे. ३.२०)

तन्मूलाज्ञानघातित्वाज्ज्ञानस्येह प्रसिद्धितः ॥१२४॥
न तु प्रवर्तकं तस्मान्नार्थवादत्वसम्भवः। फलोक्तेः पर्णमय्यां तु युज्यते कर्मशेषतः ॥१२५॥

आदि नाम से भी यही सिद्ध होता है। इस प्रकार श्रुतिआदि प्रमाणषट्क से आत्मा की यथार्थता क्रिया से असंस्पृष्ट अद्वितीयता ही है। यही उपनिषद्वाक्यों से समझ आती है। आनन्दपूर्णमुनीन्द्र ने 'श्रुति आदि' को श्रवण-मनन-निदिध्यासन परक समझाया है। किन्तु मननादि को प्रमाण प्रायः न कहा जाने से 'श्रुत्यादिमान' यह वार्तिकवचन क्लेश से व्याख्येय हो जाता है। अतः शास्त्रप्रकाशिका का अर्थ ही ऋजु है।

सर्वथापि औपनिषद बोध से विज्ञेय आत्मा सब दुःखों से अस्पृष्ट, निरतिशय व एकरस आनन्दरूप है। वह ज्ञान तो सब कर्मों का समापक है, कर्मांग नहीं। श्रुति ने (मुं. २.२.८) स्पष्ट कहा है कि परमात्मज्ञान हो जाने पर कर्म क्षीण हो जाते है। भगवान् भी कहते हैं (गी. ४.३७) कि ज्ञानरूप आग सब कर्मों को भस्म कर देती है। इस विषय में विस्तार तो उपनिषद्व्याख्या में स्वयं ग्रन्थकार करेंगे ॥१२३॥

शंका होती है कि जैसे प्रकाश का अंधेरे से विरोध है ऐसे ज्ञान का अज्ञान से ही विरोध है, कर्म से नहीं, तो ज्ञान से सब कर्मों का उच्छेद कैसे? इसका समाधान करते हैं –

कर्मों के मूलभूत अज्ञान का समापक है इसलिये अर्थात् कर्मनिवर्तक हो जाता है। ज्ञान अज्ञान हटाता है यह लोक में प्रसिद्ध ही है ॥१२४॥

बता चुके हैं कि अज्ञान ही कर्तृता आदि के अभिमान संभव कर कर्मों में कारण बनता है। ज्ञान साक्षात् अज्ञान को हटाकर अज्ञान से होने वाले कर्मों को हटा देता है। अँधेरे में होने वाले गर्तपात को जैसे प्रकाश रोक लेता है वैसे समझना चाहिये।

आगे प्रश्न हो सकता है कि आत्मज्ञान क्या उत्पन्न होने के बाद अज्ञान हटाता है या उत्पन्न बिना हुए ही? उत्पन्न हुए बिना तो हटाना मान नहीं सकते अन्यथा सभी का अज्ञान निवृत्त ही हो चुकना चाहिये। उत्पन्न होकर हटाता है – यह भी संगत नहीं। जब वह अविद्या के रहते उत्पन्न हो गया तो निश्चित है कि उसका अविद्या से विरोध नहीं, अन्यथा विरोध होने पर उत्पन्न ही न होता। यदि क्षणभर वह अविद्या के साथ रह सकता है तो दीर्घ काल भी रह जाये तो क्या हानि है? इस प्रश्नमाला के निरासार्थ कहा कि ज्ञान से अज्ञान हटना लोकसिद्ध है। अथवा मूल के 'इह' का अर्थ है 'शास्त्र में'; शास्त्रमें भी ज्ञान से अज्ञान हटना प्रसिद्ध है 'एतद् यो वेद ''' सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति' (मु. २.१.१०)। ज्ञान उत्पन्न होने पर बिना किसी विलम्ब के अज्ञान निवृत्त होता है यह लोक में व शास्त्र में प्रसिद्ध है तथा प्रकाश से अँधेरा हटने में ऐसा ही दीखता भी है अतः ये प्रश्न व्यर्थ हैं यह अभिप्राय है। वस्तुतः जैसे घटध्वंसाधिकरणक्षण में घटानधिकरणत्व का नियम ही मानकर तार्किक संतोष करता है वैसे तत्त्वज्ञानाधिकरणक्षण में अविद्याधिकरणक्षणपूर्वत्वानधिकरणत्व का नियम मानकर ही प्रकृत समस्या का भी समाधान समझना चाहिये ऐसा स्वामी ब्रह्मानन्द जी स्पष्ट किया है ॥१२४॥

ज्ञान अज्ञान को हटाता है यह समझाने का उपयोग बताते हैं –

ज्ञान कर्म में प्रवृत्त करने वाला नहीं ही है। इसलिये ज्ञान का जो फल बताया गया है वह उसकी स्तुति के लिये नहीं। जुहू की पर्णमयता के विषयमें तो फलोक्ति केवल अर्थवाद होना संगत है क्योंकि वह कर्म का अंग है ॥१२५॥

ज्ञान जब सभी कर्मों में प्रवृत्ति के मूल निमित्त अज्ञान का निवारण कर देता है तब वह कर्म में प्रवृत्त करने वाला हो यह संभव नहीं। मूल के 'तु' का 'एव' अर्थ विद्यासागरी में है। इसलिये केवल आत्मा का ज्ञान कर्म का अंग नहीं और इसीलिये इसका फल यथाश्रुत ही है, प्रशंसार्थ नहीं है। इससे वादी के प्रश्न का (श्लो. ४४-४५) उत्तर हो गया : वह

यत्त्वचोदि त्वयाऽपीयमभ्युपेयाऽर्थवादता। अनिच्छताऽपि विध्यर्थमत्र प्रतिविधीयते ॥१२६॥
इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः। यथाश्रुतार्थवादित्वान्न त्वभूतार्थवादता ॥१२७॥
इज्येते स्वर्गलोकाय दर्शादर्शौ यथा तथा। न त्वभूतार्थवादित्वं पापश्लोकाश्रुतेर्यथा ॥१२८॥

ज्ञानफल को अर्थवाद मान रहा था पर्णमयता के दृष्टान्त से। सिद्धांती ने कह दिया कि पर्णमयता जुहू द्वारा कर्म से सम्बद्ध होती है अतः कर्म के फल से ही उसका साफल्य संभव होने से पृथक् बताया फल अर्थवाद हो यह संभव है। 'निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' (कठ. ३.१५) आदि ज्ञानफलों को ऐसा मान नहीं सकते क्योंकि ज्ञान कर्म से असम्बद्ध होने के कारण कर्मफल से सफल नहीं हो पाता ॥१२५॥

यद्यपि ज्ञान की कर्मांगता का निरास हो चुका तथापि वादी के समग्र प्रश्न का उत्तर देने के लिये उसकी बात का अनुवाद कर कहते हैं –

जो तो यह कहा था (श्लो० ४५) 'ज्ञान को विधिशेष न मानने पर भी तुम्हे भी उसके फल की अर्थवादता माननी ही होगी।' उसका अब उत्तर देते हैं ॥१२६॥

वादी ने कहा था कि मैं तो ज्ञानफल को ज्ञानस्तुति मानता ही हूँ, तुम्हे भी वैसा मानना होगा क्योंकि आत्मा कर्मशेष है। इसका एक ढंग से निराकरण कर दिया कि आत्मा कर्मशेष नहीं है। अब अलग ढंग से वादी की बात की आलोचना करेंगे ॥१२६॥

सिद्धान्ती पूछता है कि क्या पूर्वपक्षी ज्ञान का फल अर्थवाद है इतना ही कहना चाहता है, या यह कि वह अवास्तविक अर्थवाद है? इनमें पहला विकल्प सिद्धान्ती को स्वीकृत होने से सिद्धसाधन है व दूसरा अप्रामाणिक है। यही बात व्यक्त करते हैं –

क्योंकि वेदवचनों का तात्पर्य ब्रह्मात्मत्व में है इसलिये फलोक्ति को अर्थवाद हम भी मानते हैं किन्तु श्रुतिप्रमाण से निश्चित किये अर्थ का ही कथन करने वाले होने से फलवचन अविद्यमान अर्थ के बोधक नहीं हैं ॥१२७॥

अर्थवाद का त्रैविध्य आगे (श्लो. ५६७) विस्तार से स्पष्ट होगा। उपनिषदों में महावाक्य ही प्रधान है क्योंकि जीव-ब्रह्म के अभेद को विषय करते हुए वही सफल है। उसकी संनिधि में बताया सभी कुछ उसका अंग है क्योंकि उस सब का प्रयोजन है अधिकारी को महावाक्य के श्रवणादि में प्रवृत्त करना। इसलिये फलोक्ति अर्थवाद है इतना मानना संगत है। पर वह किसी ऐसे अर्थ का वाद अर्थात् कथन नहीं है जो अर्थ प्रामाणिक न हो। ब्रह्म-ज्ञान से ब्रह्मरूपता का होना व ब्रह्म का आनंदैकघन होना वेदवाक्यों से प्रमित है। फलवचन भी ज्ञान से परमात्मभाव से अवस्थिति ही कहते हैं अतः प्रामाणिक वस्तु के बोधक हैं। ॥१२७॥

प्रश्न होगा कि यथाभूत बात कहने वाला वचन अर्थवाद क्यों है, यदि सत्यबोधक वाक्य को अर्थवाद माने तब तो सिद्धान्ती विधिवाक्यों को भी अर्थवाद कहने लगेगा क्योंकि वह उन्हे भी 'यह तुम्हारे इष्ट का साधन है' ऐसी सत्य बात का ही बोधक मानता है? उत्तर है कि वस्तुद्योतक बात भी अर्थवाद हो इसमें कोई विरोध नहीं क्योंकि अन्यशेषत्व ही अर्थवादता में प्रयोजक है। विधि तो अन्यशेष न होकर प्रधान है अतः उसे अर्थवाद कहना अनावश्यक है। वस्तुतस्तु समग्र वेद का तात्पर्य अद्वैतबोधन में होने से कर्मविधियाँ भी महावाक्य की ही शेष हैं अतः अर्थवाद ही हैं यह हमें स्वीकार है। फलवचन विधिशेष होने से अर्थवाद स्वीकारने पड़ते हैं जब कि वे फल का यथार्थ बोधन ही करते हैं, प्रशंसामात्र नहीं। इसी उदाहरण से अपनी बात स्पष्ट करते हैं –

जैसे 'स्वर्गलोक के लिये दर्श-पूर्णमास यज्ञ किये जाते हैं' यह वस्तुबोधक अर्थवाद है वैसे ही ज्ञानफलबोधक वचन हैं। 'अपकीर्ति नहीं सुनता' की तरह अवास्तविक बात का कथन तो ज्ञानफलबोधक वचन नहीं करते ॥१२८॥

कुतः प्राप्तं फलमिति प्रत्यक्षं ह्यात्मधीफलम्। यतोऽवगम्यते तेन ज्ञानं कर्म न ढौकते ॥१२९॥

स्वर्गरूप फल के लिये दर्श-पूर्णमास का विधान है। फलकथन विधिशेष होने से अर्थवाद है पर जो फल होगा उसी का कथन है अतः भूतार्थवाद ही है। ऐसे ही 'ब्रह्म का जानकार ब्रह्म होता है' आदि ज्ञानफल के बोधक वाक्य भी हैं। यह अर्थ है। पर्णमयी-वाक्य में अपकीर्ति न सुनना रूप फल बताया प्रतीत होता है किन्तु वह फल है नहीं, केवल पर्णमयी जुहू बनाने में प्रेरित करने के लिये कहा भर गया है; फल तो यज्ञ से ही है यह मीमांसक मानता है यह पहले (श्लो. ४४) कह चुके हैं। वैसे ज्ञानफलका कथन नहीं है क्योंकि एक तो ज्ञानका फल अनुभवसिद्ध है व दूसरी बात, जैसे पर्णमयता की सफलता में अविहितत्वादि दोष हैं ऐसे ज्ञान के साफल्य में कोई दोष नहीं है।

'तो' शब्द का अभिप्राय कल्पलतिका में बताया है: मीमांसक यह नहीं कह सकता कि जो जो अर्थवाद होता है वह फलबोधक नहीं होता। ऐसा कहे तो उसका रात्रिसत्रन्याय खण्डित होगा जिसमें माना है कि यदि कर्म का फल न बताया हो तो स्वर्ग को फल मानने की अपेक्षा कर्म के अर्थवाद में कहे फल को ही वास्तविक मान लेना चाहिये। अतः कहीं-कहीं आर्थवादिक फलों को मीमांसक स्वीकारता है तो ज्ञानफल का कथन अर्थवाद होने पर भी वास्तविक स्वीकार सकता है। यदि किसी प्रमाण का विरोध हो तो भले ही अर्थवाद को अभूतवाचक माना जाये। प्रकृत में ऐसा है नहीं ॥१२८॥

वादी पूछता है कि दर्शपूर्णमास के स्वर्गरूप फल का कथन करने वाला अर्थवादवाक्य इसलिये भूतार्थबोधक है कि दर्शपूर्णमास के विधायक वाक्य से मालूम पड़ चुका है कि उन यज्ञों का फल स्वर्ग है, ऐसे ज्ञानफल के बोधक वाक्य किस प्रमाण से प्रमित फल का अनुवाद कर रहे हैं? यह प्रश्न दिखाकर उत्तर देते हैं –

फल किस प्रमाण से ज्ञात हुआ? आत्मज्ञान का फल प्रत्यक्ष ही है। क्योंकि ज्ञानका फल विद्वानों को अनुभव में आता है इसलिये ज्ञान का कर्म से सम्बन्ध नहीं ॥१२९॥

ब्रह्मसूत्र में (३.२.२४) प्रत्यक्षशब्द श्रुतिपरक है। अतः यहाँ वार्तिक में भी 'प्रत्यक्ष ही है' अर्थात् श्रुतिसिद्ध ही है। इसमें पुरुषार्थाधिकरण (ब्र.सू. ३.४.१) प्रमाण जानना चाहिये। श्रुतियाँ अर्थवाद कोटि में आ जाने से अनर्थवादरूप वचन बताना चाहिये – यह शंका नहीं कर सकते। अक्रियाशेष आत्मा का प्रतिपादन ही उसके ज्ञान को सफल बता रहा है। किंच जैसे दर्शादि विधि के शेषभूत दो वचन हैं, स्वर्गकामवचन और स्वर्गायादि-वचन। इनमें एक को फलबोधक मानकर दूसरा अर्थवाद स्वीकारा है। ऐसे ही 'सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति' (छा. ८.७.१), 'आत्मनः... विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्' (बृ. २.४.५). 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' (बृ. ४.४.२५) आदि किन्हीं वाक्यों को फल में प्रमाण मानकर वाक्यांतरों को अनुवादक मान लेना चाहिये।

अथवा ब्रह्मवेत्ताओं को प्रत्यक्षसिद्ध जो फल है उसी का श्रुतियाँ अनुवाद करती हैं यह 'प्रत्यक्ष' शब्द से कहा है। अर्थात् विद्वत्प्रत्यक्ष को फल-प्रापक प्रमाण बताया। फलश्रुतियाँ अनुवादक हैं ऐसा मानकर फल में अनुभवरूप प्रमाण प्रत्यक्षशब्द से कहा है। अथवा वेद में ही जो विद्वत्प्रत्यक्ष प्रदर्शित है उसे प्रमाण बताने में तात्पर्य है। वामदेव ने ज्ञान से सारे बंधन तोड़ डाले (ऐ. ४.५), भृगु ने आनंदरूपता पायी (तै. ३.६), जनक अभय हुआ (बृ. ४.२.४) आदि प्रत्यक्षों का शास्त्र में वर्णन है। उन्ही के अभिप्राय से अनुवादत्व है।

पूर्व में (श्लो० १२३ आदि) बताये कारण से भी ज्ञान कर्मांग नहीं यह सूचित किया 'क्योंकि' इत्यादि से। इससे अर्थापत्तिप्रमाण भी ज्ञानफल में ध्वनित कर दिया। शास्त्रीय ज्ञान कर्मांग न हो तो स्वाध्यायगृहीत वेद से लभ्य होने के कारण स्वयं ही सफल होना पड़ेगा, यह अर्थ है। दृष्टफल संभव रहते मीमांसक भी अदृष्ट की कल्पना कर नहीं सकता अतः ज्ञान का दृष्ट फल स्पष्ट कर दिया। फलवान् कर्म जैसे किसी का अंग नहीं ऐसे फलवान् ज्ञान भी स्वप्रधान ही है। ॥१२९॥

प्रवृत्तेः प्रतिकूलत्वान्मुक्तिं प्रति विरोधतः। मुमुक्षोरधिकारोऽतो निवृत्तौ सर्वकर्मणाम् ॥१३०॥
प्रवृत्तिहेतुप्रध्वस्तेर्न प्रवृत्तौ कथंचन। नाभिप्रेतपुरप्राप्तिसमर्थं सुगमं शिवम् ॥१३१॥
वारिपथ्यदनोपेतं सर्वानर्थविवर्जितम्। प्राप्तं मार्गं समुत्सृज्य तद्विरुद्धेन वर्त्मना ॥
यियासति सुधीः कश्चिद्यथा भ्रान्तोऽध्वगस्तथा ॥१३२॥

अब तक सिद्ध किया कि केवल आत्मा का ज्ञान मोक्ष का हेतु है और कर्म स्वर्गादि के हेतु हैं। इस प्रकार मोक्ष और स्वर्ग के साधन अलग-अलग व्यवस्थित होने से यह अर्थसिद्ध ही है कि दोनों साधनों को अपनाने वाले अधिकारी भी अलग-अलग ही होंगे। अतः पूर्व में (श्लो० १२) प्रतिज्ञात अधिकारी ब्रह्मकाण्ड का तथा कामुक द्विजाति कर्मकाण्ड का अधिकारी है यह निश्चित हो जाता है। अधिकारिभेद को ही अन्य युक्ति से सिद्ध करते हैं –

कर्म क्योंकि मुमुक्षु की प्रवृत्ति के प्रतिकूल हैं और मोक्ष का विरोध करते हैं इसलिये सभी कर्मों के त्याग में ही मोक्षेच्छुक का अधिकार है ॥१३०॥

मुमुक्षु की प्रवृत्ति होगी श्रवणादि के बार-बार अभ्यास में। 'मैं कर्ता हूँ' आदि अभिमान से किये जाने वाले कर्म उस प्रवृत्ति में बाधक होते हैं। अतः मुमुक्षु उन्हे करना चाहे यह नामुमकिन है। श्रवणादि भी तो कर्तृता बोध से ही होते हैं? ठीक है, किन्तु करते हुए उनमें अकर्तृत्व के ही संस्कार पड़ते हैं अतः वे प्रतिकूल नहीं। इतना ही नहीं स्वर्गादि फल देकर बंधन में डालने वाले होने से भी कर्म मोक्ष के परिपन्थी ही हैं। इसलिये मुमुक्षु का कर्म में नहीं बल्कि उनके त्याग में ही अधिकार है। कर्म छोड़कर ज्ञान के उद्देश्य से श्रवणादि करे यही मोक्ष चाहने वाले का कर्तव्य है ॥१३०॥

यह बताया कि जैसे यदि कोई कहीं जा रहा है तो वह जाने के साधन ही अपनायेगा, उससे अतिरिक्त या उसके विरोधी साधन नहीं अपनायेगा, ऐसे ही मुमुक्षु संन्यासपूर्वक श्रवणादि ही स्वीकारेगा, कर्म नहीं। अब यह बात स्पष्ट करते हैं कि कर्म में प्रवृत्ति के हेतुभूत रागादि न होने से भी मुमुक्षु कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। इससे यह संभावना भी नहीं रह जाती कि वह कर्म करते हुए ही बीच-बीच में श्रवणादि भी कर ले, क्योंकि जब ज्ञान व कर्म के फल स्वतंत्र हैं तो साथ-साथ अनुष्ठान की न ज़रूरत है और न ही संभव है कारण कि दोनों के अधिकारी सर्वथा विलक्षण हैं –

प्रवृत्ति के हेतु समाप्त हो चुकने से मुमुक्षु का कर्मप्रवृत्ति में किसी तरह अधिकार नहीं है। गन्तव्य नगर तक पहँचाने में समर्थ, सुगम, निरापत्, जल और पाथेय जिसमें उपलब्ध हों, सभी अनर्थों से रहित, उपस्थित रास्ते को छोड़कर कोई बुद्धिमान् उससे विरुद्ध रास्ते से नहीं जाना चाहता जैसे भ्रान्त पथिक चाह लेता है ॥१३१-१३२॥

यद्यपि सब कामनायें तो ज्ञान से हटेंगी, मुमुक्षु में कामनायें हैं, तथापि मुमुक्षा को प्रधान कर वह उसकी विरोधी कामनाओं को यत्नपूर्वक निरुद्ध रखता है अतः कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। किं च विवेकपूर्वक विरक्त होने से वह कामना, काम्य व उसके साधन में दोषदर्शी होने से प्रवृत्त नहीं हो पाता। वस्तुतस्तु प्रवृत्तिहेतुशब्द से यहाँ अपने कर्तृत्वभोक्तृत्व में श्रद्धा कही गयी है क्योंकि वह होने पर ही प्रवृत्ति संभव है। विवेकी को वह श्रद्धा न रह जाने से वह कर्म में अधिकारी नहीं रह जाता।

ज्ञान हो जाने पर पूर्वसंस्कारों से कर्मप्रवृत्ति हो जाये तब भी ज्ञान व कर्म के अधिकारी अत्यंत भिन्न नहीं सिद्ध होंगे व मुमुक्षुदशा में भी कर्म कर्तव्य हो जायेंगे। अतः वह भी संभव नहीं इसे मार्ग के दृष्टांत से बता रहे हैं। जीवन्मुक्त में दीखने वाले कर्म तो कर्माभास हैं, कर्म नहीं यह याद रखना चाहिये। मार्ग में अनर्थ होते हैं जैसे अधिक आँधी आना, वर्षा व ओले पड़ना, भूस्खलन हो जाना आदि। 'उपस्थित' अर्थात् उसे ढूँढने कहीं दूर न जाना पड़े। भ्रांत बटोही तो सही रास्ता छोड़कर ग़लत रास्ते चल ही पड़ता है ॥१३१-१३२॥

जैसे बुद्धिमान् यात्री ग़लत रास्ता नहीं अपनाता ऐसे ही जानकार मुमुक्षु तथा जिसने ज्ञान पा लिया है दोनों ही कर्मानुष्ठान के शिकंजे में फँसते नहीं यह बताते हैं –

तथाऽविद्योत्थकर्त्रादिधर्मशून्यमविक्रियम्। अक्रियाकारकं ज्ञात्वा निःशेषपुरुषार्थदम् ॥१३३॥
आत्मप्रत्ययमागम्यमात्मानं देवमञ्जसा। तत्स्थितौ च फलेऽभीष्टे नित्ये साधनवर्जिते ॥१३४॥
तद्विरुद्धफले बाह्यसाधनेऽनेककारके। कथं कर्मणि सर्वज्ञो मनो दध्याद्धसन्नपि ॥१३५॥

इसी तरह नित्य व साधनरहित फल अभीष्ट होने पर अविद्या से उत्पन्न कर्तृत्व आदि धर्मों से रहित, विक्रियावर्जित, क्रिया व कारकों से असम्बद्ध, समस्त पुरुषार्थदायक, स्वप्रकाश, आत्मस्वरूप देव को साक्षात् जानकर और उसमें स्थित होने पर सर्वज्ञ व्यक्ति उससे विपरीत फल वाले, बाह्यसाधनसापेक्ष, अनेक कारकों से निष्पाद्य, कर्म में हँसते हुए भी मन कैसे लगा सकता है? ॥१३३-१३५॥

ज्ञान अनात्मसम्बन्ध का निवर्तक होने से पूर्वोक्त (श्लो. १११-११३) कर्माधिकारहेतुओं को रहने नहीं देता अतः ज्ञानी कर्म नहीं कर सकता। असंग होने से आत्मा का उक्त हेतुओं से स्वतः संबन्ध संभव नहीं और सम्बन्ध बनाने वाली अविद्या ज्ञान से निवृत्त हो चुकी है। अनात्मसम्बंध के बिना आत्मा में परिस्पन्द या परिणाम रूप दोनों तरह की क्रिया संभव नहीं क्योंकि वह व्यापक और निरवयव है जैसे आकाश। अविकार्य होने से कर्म का संस्कार-विकारात्मक प्रभाव भी उस पर नहीं पड़ सकता। ज्ञान से स्वरूपनिष्ठ स्वयं अनवच्छिन्न अनंत आनंद है, उसके ही आनंद के मानो हिस्से का उपजीवन कर अन्य वस्तुएँ सुख देती हैं अतः पुरुषों द्वारा प्रार्थित सुख का दायक वही है। इसलिये अभ्युदय अर्थात् सुख के लिये वह कर्म करे यह संगत नहीं। उसे हेयोपादेयबुद्धि है नहीं कि कर्म से इष्ट की प्राप्ति या अनिष्ट का निवारण करना हो। परमात्मा को पाने के लिये वह कर्म करे यह इसलिये नहीं हो सकता कि परमात्मा स्वप्रकाश होने से अविद्यानिवृत्ति होने पर प्राप्त ही है। इसके लिये कर्म की ज़रूरत ही नहीं। ज्ञानस्वरूप पाने के लिये भी कर्म नहीं चाहिये क्योंकि वह अपना निजी रूप होने से सदा मिला ही हुआ है। अपरिच्छिन्न आनन्दरूप परमात्मदेव का ज्ञान स्वयं पुरुषार्थ है अतः ज्ञान की पुरुषार्थता सिद्ध करने के लिये भी कर्म का विनियोग नहीं है। परमेश्वर का अद्वैतज्ञान होता ही अपरोक्ष है, साक्षात् है, अतः साक्षात्कार के लिये कर्म व्यर्थ है। यदि शंका हो कि जिज्ञासासूत्र में भगवान् भाष्यकार ने कहा है 'ज्ञान रूप प्रमाण से ब्रह्म का अवगम करना इष्ट है क्योंकि संसार के बीजभूत अविद्यादि अनर्थ का निःशेष समापन ब्रह्म के अवगम से होता है इसलिये वही पुरुषार्थ है', अतः ज्ञान अलग है व अवगम रूप साक्षात्कार अलग है; तो इसके परिहार में समझ लेना चाहिये कि वहाँ अभिप्राय है कि शब्द से परोक्ष ज्ञान होने पर अपरोक्ष ज्ञान करना इष्ट है अथवा शब्द से यदि अपरोक्ष ही हुआ हो तो अप्रतिबद्ध अपरोक्ष इष्ट है, यह विवरण में स्पष्ट किया है कि भाष्य में ये दोनों तात्पर्य हैं। अतः साक्षात्कार के लिये भी कर्म का प्रयोजन नहीं क्योंकि शब्दजनित अद्वैतज्ञान के संस्कारों के आधिक्य से या असम्भावना-विपरीत-भावना के निवारण से ही उक्त साक्षात्कार या दृढ अपरोक्ष हो सकता है, कर्म से नहीं।

अविद्या जब विद्या से हट गयी तब आत्मा स्वरूपस्थित है, यही अपवर्ग है, अतः अपवर्गप्राप्ति के लिये भी कर्म नहीं चाहिये। आत्मरूप से ही स्थित रहने से अतिरिक्त अपवर्ग है नहीं। इससे प्राप्तिरूप कर्मफल की भी अविषयता स्पष्ट कर दी। नित्य व एकरूप यह अपवर्ग न बना रहे या बढ़ जाये यह संभव न होने से इसे बनाये रखने या बढ़ाने के लिये भी कर्म की संभावना नहीं। नित्य कहकर उत्पाद्यत्वरूप कर्मफल की अविषयता बता दी। अभीष्ट फल को साधनरहित इसलिये कहा कि वह नित्य है अतः कर्मरूप साधनों की ज़रूरत नहीं।

ऐसे मोक्ष से विपरीत बंधनरूप फल कर्म से होता है। मुमुक्षु के लिये वह फल ही नहीं व मुक्त के लिये सुतरां नहीं, अतः दोनों कर्म करें यह असंभव है। बाह्य पूर्वोक्त कर्महेतुओं से ही कर्म हो सकता है, विद्वान् के लिये वे सब समूल बाधित हैं अतः वह कर्म कर ही नहीं सकता। कर्म को अनेक कारकों से निष्पाद्य कह कर स्पष्ट किया कि ज्ञानाधिकारी विरक्त होने से धन, पशु आदि से रहित होगा अतः कर्म कर ही न पायेगा। सर्वज्ञ कहकर विद्वान् की कर्मप्रवृत्ति असंभव है यह स्पष्ट किया क्योंकि अविवेकी ही कामना से प्रेरित हो स्वयं को कर्ता आदि मानकर प्रवृत्ति करता है, सर्वज्ञ विवेकी

सम्यग्धीमृदिताशेषध्वान्तस्य च न पूर्ववत्। अज्ञानादि पुनः कर्तुं शक्यतेऽकारकत्वतः ॥१३६॥
श्रुत्यादिमानप्रमितयाथात्म्यज्ञानतत्फलः। प्रतिकूलत्वतो विद्वान्यतः कर्मसु नेहते ॥१३७॥
अतोऽज्ञस्यैव निःशेषमुमुक्षुप्रजिहासितः। कर्त्राद्यनात्मधर्मस्य कर्माधिकृतिरात्मनः ॥१३८॥

होने से ऐसा कर नहीं सकता। 'हँसते हुए भी' अर्थात् क्रीडा या मनोविनोद के लिये भी ज्ञानी कर्म करेगा नहीं क्योंकि एक तो वह आसकाम अर्थात् स्पृहाहीन है और दूसरी बात कि उसने सम्पूर्ण अनात्मा का बाध कर डाला है। इस प्रकार सिद्ध किया कि मुमुक्षु और ज्ञानी दोनों की कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। उनका अधिकार संन्यास में ही है।

श्लोक १३४ में 'आत्मप्रत्ययमागम्यम्' का अर्थ है: आत्मा ही ज्ञान है व उसी प्रमाण से वह भासता है। तात्पर्य है कि स्वप्रकाश है। विद्यासागरी का पाठ है 'आत्मप्रत्ययमागम्यं चात्मानम्'। वहाँ, आत्मा ही है प्रत्यय जिसका वह हुआ 'आत्मप्रत्ययम्' अर्थात् स्वप्रकाश। फिर शब्द है 'आगम्यम्' जिसका अर्थ है आगमयोग्य अर्थात् शास्त्र से ही समझा जा सकने वाला। 'च' का अर्थ उन्होंने कहा है 'परामर्शसिद्धस्वानुभवगम्यम्' अर्थात् सुषुप्ति की स्मृति से सिद्ध स्वानुभवरूप से समझा जा सकने वाला। ॥१३३-१३५॥

कोई पूछे कि तत्त्वज्ञान से अज्ञानध्वंस होने पर भी पुनः कोई और अज्ञान आ जायेगा जो कारकसम्बंध स्थापित कर विद्वान् को भी कर्माधिकारी बना देगा; तो उसे समझाते हैं –

सम्यग्ज्ञान से अज्ञान को जिसने पूरी तरह समाप्त कर लिया है उसे पहले की तरह पुनः अज्ञानादि नहीं हो सकते क्योंकि उन्हे उत्पन्न या उससे सम्बद्ध करने वाला कोई कारण नहीं है ॥१३६॥

'पूरी तरह' इसलिये कहा कि अदृढ ज्ञान से अभिभूत हुआ अज्ञान तो पुनः कार्यकारी हो जाता है। जब उसका बाध निश्चित हो जाये तब फिर उसकी संभावना नहीं। 'पहले की तरह' इसलिये कि जीवन्मुक्ति में लेशरूप से अनुवृत्ति मानी ही गयी है। एक तो अज्ञान अनादि है अतः उसके जन्म का ही प्रसंग नहीं तो पुनर्जन्म का प्रसंग कहाँ ? दूसरी बात है कि उसे उत्पन्न करे कौन? आत्मा तो कूटस्थ अर्थात् अपरिणामी होने से उसका उत्पादक नहीं हो सकता। आत्मा से अन्य सब बाधित हो चुके हैं अतः हैं ही नहीं तो उत्पन्न करें कैसे? अतः अज्ञान का पुनः होना असंभव है। यदि अनेक अज्ञान मानें तो जीव को हुए ज्ञान से उसका अज्ञान नष्ट होने पर भी अन्य अज्ञान बच जायेंगे जिनसे यह पुनः सम्बद्ध हो सकता है–इस संभावना का भी यहीं निराकरण हो गया। कौन सम्बद्ध करेगा? आत्मा तो उक्त हेतु से सम्बद्ध नहीं करेगा। अन्य जीवों के अज्ञान असम्बद्ध होने से ही इसे स्वयं से संबद्ध नहीं करेंगे अन्यथा तत्त्वज्ञान के पूर्व भी देवदत्त के अज्ञान से विद्वान् यज्ञदत्त भी मूर्ख बन जाये! किं च अज्ञान की तरह अज्ञानसम्बंध भी अनादि होने से कार्य नहीं है। अतः ज्ञानी को कर्माधिकार की प्राप्ति का प्रसंग नहीं। बाधितानुवृत्ति से जो उसकी प्रवृत्ति दीखती है वह कर्माभास ही है ॥१३६॥

क्योंकि आत्मवेत्ता को कर्म में अधिकार नहीं इसलिये जिस वैराग्यवान् ने यथाविधि सभी कर्मों का त्याग कर दिया वही मोक्ष पा सकता है। इससे विपरीत अनात्मा में आत्मबुद्धि वाला रागादिमान् कर्मों से फललाभ ले सकता है। यही व्यक्त करते हैं –

श्रुति आदि प्रमाण से प्रमित आत्मयाथार्थ्य के ज्ञान का फल पा चुका विद्वान् कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि उसकी कर्मप्रवृत्ति समस्त युक्तियों व प्रमाणों के प्रतिकूल है। इसलिये उस अज्ञानी आत्मा का ही कर्म में अधिकार है जिसमें वे कर्तृत्वादि अनात्मधर्म हैं जिन्हे मुमुक्षु पूरी तरह छोड़ना चाहते हैं ॥१३७-१३८॥

यहाँ विद्वान् से विरक्त विविदिषु की भी उपलक्षणा है। विद्वान् को यथार्थ ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार हो चुका है और विविदिषु चेष्टापूर्वक कर्तृत्वाभिमान छोड़ रहा है एवं उसे विश्वासात्मक निश्चय है कि वह कर्ता नहीं है। अतः कर्तृत्वाभिमानी अज्ञानी ही प्रवृत्त हो सकता है। 'प्रतिकूलत्वतः' से पूर्वोक्त (श्लो. १३५) वैपरीत्य भी समझ सकते हैं। कर्माधिकार केवल अज्ञान में नहीं क्योंकि वह जड है और केवल आत्मा में नहीं क्योंकि वह कोई कर्म कर सकता नहीं,

विद्यात्ममोहतत्कार्यविरोधाच्च परस्परम्। रोगादिवदनर्थत्वात्कर्त्रादिः प्रजिहासितः ॥१३९॥
जिहासितुः स्वभावोऽसावित्युक्तिः शिशुवक्तृका। कर्त्रादिश्चेत्स्वभावः स्यात्प्रत्यक्षाऽकर्तृरूपिणः ॥१४०॥
प्रत्यक्षादिविरोधः स्यादनिर्मोक्षस्तथैव च ॥

अतः अज्ञानी आत्मा को ही कर्माधिकार है। किन्तु केवल अज्ञान के रहते कर्माधिकार नहीं अन्यथा सुषुप्त व्यक्ति को या प्रलय में भी अधिकार होने लगेगा। कर्तृबुद्धि आदि विक्षेपकाल में ही कर्माधिकार है। 'पूरी तरह' अर्थात् व्यक्तरूप से एवं अव्यक्त अर्थात् अविद्यारूप से। मुमुक्षु चाहता है कि ये कर्तृत्वादि धर्म मुझमें न तो व्यक्त रहें और न इनका बीजभूत अज्ञान ही रहे। 'अनात्मधर्म' अर्थात् अनात्मरूप धर्म अथवा अनात्मा जो अहंकार उसके धर्म।

विद्यासागर तथा नृसिंहयति के पाठ में 'निःशेषमुमुक्षुप्रजिहासितकर्त्राद्यनात्मधर्मस्य' ऐसा समस्त पद है जिसका विग्रह है 'निःशेषतया मुमुक्षुभिः प्रजिहासितोऽसौ कर्त्रादिः अनात्मधर्मः यस्य' (न्या.क.)। यही पाठ सुगम है। शास्त्रप्रकाशिकाकार का यह पाठ नहीं था ऐसा भी कहने का कोई हेतु नहीं है। मुद्रित पाठ में भी अर्थ यही है। 'कर्त्रादि' इस समासैकदेश से 'जिहासितः' का अन्वय है। अथवा 'जिहासितः' को 'कर्माधिकृतिः' से सम्बद्ध समझना चाहिये व इसके लिये धर्मपद का अध्याहार कर लेना चाहियेः 'कर्माधिकृतिरज्ञस्य निःशेषमुमुक्षुप्रजिहासितो धर्मः'।

'मुमुक्षु कहकर द्योतित किया कि जब मोक्ष चाहने वाला ही अनात्मधर्मों को व कर्माधिकार को छोड़ना चाहता है तो मुक्त उसे ग्रहण करना चाहे इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते! इसलिये जीवन्मुक्त को देहादि का भान होने पर भी उसमें तादात्म्याध्यास न होने से कर्माधिकार नहीं। यह भी सूचित हुआ कि जिसे दृढ अभिमान है उस अज्ञ को कर्म करना ही चाहिये ॥१३७-१३८॥

विद्वान् के लिये कर्तृत्वादि हेय क्यों हैं यह बताते हैं –

विद्या और आत्माऽज्ञान का आपस में स्वरूपतः और कार्यतः विरोध है अतः विद्वान् के लिये कर्तृत्वादि हेय हैं। रोगादि की तरह अनर्थ होने से मुमुक्षु के लिये भी कर्तृत्वादि हेय हैं ॥१३९॥

विद्या अखण्डधीस्वरूप है और अविद्या आवरणस्वरूप है। विद्या का कार्य मोक्ष है और अविद्या का बंधन। अतः इनका आपसी विरोध है। विद्वान् में विद्या है अतः अविद्या न रह सकने से कर्तृत्वादि हेय हैं, रह नहीं सकते। मुमुक्षु में विद्या तो नहीं फिर भी उसे कर्तृत्वादि रोगादि की तरह अनिष्ट लगते हैं अतः उसके लिये भी हेय हैं।

कल्पलताकार यह मानकर कि विद्वान् तो कर्तृत्वादि छोड़ ही चुका अतः उसके लिये इन्हे हेय कहना व्यर्थ है, पूरे श्लोक से यही समझाते हैं कि ये मुमुक्षु के लिये क्यों हेय हैं। इसमें पूर्वोक्त मार्गदृष्टान्त को अनुगुण जानना चाहिये।

न्यायतत्त्वविवरणकार ने विद्या, आत्मा, मोह और उसका कार्य, इन के आपसी विरोध को हेयता में कारण बताया है अर्थात् विद्या और आत्मा को तो मुमुक्षु पाना चाहते हैं जबकि मोह व उसका कार्य दोनों अनर्थ हैं अतः इन्हे छोड़ना चाहते हैं: 'विद्या तद्विषयात्मा च प्रेप्सितौ, तद्विरोधाद् मोहनः तत्कार्यं च अनर्थः, तेन कर्त्रादिः प्रजिहासितः।' अतः इन्होंने भी मुमुक्षुसम्बंधी ही योजना की है। अवतरणिका में ऐसा कहा भी है। किन्तु श्री आनन्दगिरिस्वामी श्लोक १३५-१३६ से चल रहे विद्वत्प्रसंग को छोड़ना नहीं चाहते। जिहासितत्वोक्ति तो भूतपूर्वगति से भी संभव है तथा समुच्चयवादी की दृष्टि से प्राप्ति मानकर निषेध-परक हो सकती है यह विचार करना चाहिये ॥१३९॥

कोई पूछ सकता है कि कर्तृत्वादि आत्मा का स्वरूप हैं अतः वह इन्हे छोड़ना चाहे यह संगत नहीं और यदि चाहे तो भी छोड़ पाये यह संभव नहीं। इसका उत्तर देते हैं –

'कर्तृत्वादि को छोड़ना चाहने वाले आत्मा का स्वभाव कर्तृत्वादि है' यह तो कोई बच्चा ही बोल सकता है! जो प्रत्यक्ष ही अकर्तृरूप है उस आत्मा का यदि स्वभाव कर्तृत्वादि हो तो प्रत्यक्ष आदि का विरोध होगा और मोक्ष भी संभव नहीं रहेगा ॥१४० $\frac{१}{२}$॥

अस्तु काममनिर्मोक्षो विक्रियावत्त्वतो दृशेः ॥१४१॥
अग्निवत्फलभोक्तृत्वान्नो चेदाकाशकल्पता। इति चेन्नाऽऽत्मनो ध्रौव्याद्विक्रियानुपपत्तितः ॥१४२॥

पूर्व में (श्लो० ५५ आदि में) कर्तृत्वादि की आत्मस्वरूपता का शंकासमाधान था, यहाँ उनकी आत्मधर्मता की शंका का समाधान है, अतः पुनरुक्ति नहीं। वादी कह सकता है कि क्योंकि कर्तृत्वादि आत्मा में प्रतीत होते हैं इसलिये वे उसके स्वभाव अर्थात् स्वरसतः उसी में होने वाले धर्म हैं, होवें चाहे किसी कारण-समवधान से। इसका निराकरण करने के लिये प्रत्यक्षविरोध ही दिखाया। अज्ञानी को कर्तृत्वादि प्रतीयमान हैं तो विद्वान् को उनका राहित्य प्रतीयमान है। विद्वान् का प्रत्यक्ष तो प्रामाणिक और विचारसहकृत होने से अधिक श्रद्धेय है। न भी हो तो तुल्यबल है ही अतः वादी के कथन का विरोध कर ही देगा। अन्य किसी प्रमाण से ही निर्णय करना पड़ेगा। शास्त्र आत्मा को केवल ज्ञानमात्रस्वरूप व परिपूर्ण कहा रहा है अतः उसमें कर्तृत्व नहीं। मुखतः भी उसमें कर्तृत्व न होना शास्त्र से सिद्ध है। कर्तृत्वादि ज्ञेय होने से साक्षी के धर्म नहीं ऐसा अनुमान भी सिद्ध कर देता है। मोक्षान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति भी प्रमाण है। यदि आत्मा कर्तृत्वादिस्वरूप या तद्धर्मक है और मोक्ष में कर्तृत्वादि नहीं रहते तो तादृश आत्मा ही नहीं रहने से मोक्ष किसका? और यदि कर्तृत्वादि रह ही गये तो मोक्ष कैसा? इसलिये कर्तृत्वादि को आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं मान सकते। यदि कहें कि अनात्मसम्बंध से आत्मा में कर्तृत्वादि होते हैं तथा मोक्ष में अनात्मसम्बंध न होने से वे नहीं होते, आत्मा बना रहता है; तो प्रश्न होगा कि अनात्मसम्बंध और कर्तृत्वादि तथा उनका सम्बंध सत्य है या असत्य? सत्य होने पर निवृत्ति संभव नहीं और असत्य होने पर सिद्धान्त का ही अनुसरण है ॥१४० $\frac{१}{२}$॥

आस्तिक तथा बौद्ध-जैन दार्शनिक मोक्षवादी हैं अतः मोक्ष की अनुपपत्ति को प्रक्रिया या सिद्धान्त में दोष मानते हैं। किन्तु लोकायत आदि मोक्ष मानते ही नहीं अतः अनिर्मोक्षप्रसंग उनके लिये कोई दोष नहीं। ऐसा ही कोई वादी शंका करता है –

(कर्तृत्वादि आत्मधर्म हैं,) मोक्ष असम्भव भले ही हो; क्योंकि द्रष्टा आत्मा आग की तरह विकारी है कारण कि वह फल भोगता है। यदि फल भोगने वाला न हो तो वह आकाश की तरह असत् ही हो जायेगा ॥१४१ $\frac{१}{२}$॥

जैसे आग की जलाना, पकाना आदि विक्रियायें हैं ऐसे जन्मादि विकार आत्मा के हैं। यह नहीं कह सकते कि जन्मादि देह के ही विकार हैं आत्मा के नहीं, क्योंकि देह से अन्य आत्मा नाम की कोई वस्तु है नहीं। यदि किसी तरह देहातिरिक्त आत्मा मान्य भी हो तो भी विकारी ही होगा कारण कि उसे भोक्ता तो मानना ही पड़ेगा। आत्मविषयक अतिसूक्ष्म विचार करने वाले कापिलों ने भी आत्मा को भोक्ता माना है। भोग होने के लिये विकार आवश्यक है। यह प्रश्नभाष्य में आचार्यों ने ऊहापोह से सिद्ध किया है। आत्मा को भोक्ता न मानें तो भोग्यभाक् अर्थात् भोग्यों का उपभोग करने वाला कौन होगा? जिसे भोक्ता मानेंगे वही आत्मा है, अभोक्ता तो घट की तरह अनात्मा होगा। देह को आत्मा मानकर अभोक्ता कहें तब प्रत्यक्षसिद्ध होने से कम से कम घट की तरह सद्वस्तु तो होगा पर यदि देहातिरिक्त आत्मा मानें और उसे कर्ता-भोक्ता न मानें तब तो वह असद्वस्तु ही होगा क्योंकि उसमें कोई प्रमाण न होगा! जैसे मूर्ताभाव का ही नाम दार्शनिकों ने आकाश रख दिया है, आकाश कोई सद्वस्तु तो है नहीं, यही हम लोकायतिक मानते हैं, ऐसे ही आत्मा कोई सद्वस्तु न होगी यदि वह भोक्ता नहीं है। इसलिये कर्तृत्वादि वास्तविक हैं व आत्मा में ही हैं अतः संन्यास, ज्ञान आदि व्यर्थ हैं, यह वादी का अभिप्राय है ॥१४१ $\frac{१}{२}$॥

अविक्रिय आत्मा की सिद्धि से वादी की युक्तियाँ निर्मूल हो जायेंगी यह विचार कर उक्त शंका का समाधान करते हैं –

ऐसा नहीं है। क्योंकि आत्मा नित्य है इसलिये उसमें विक्रया होना संगत नहीं ॥१४२॥

घटादि में यह नियम देखा गया है कि विकारिता अनित्यता से व्याप्त है अर्थात् जहाँ-जहाँ विकारिता होगी वहाँ

मूर्तामूर्तत्वहीनस्य प्रतीचो विक्रिया कुतः । प्रमायोगो हि भोक्तृत्वं प्रमा चैवाऽऽत्मनः सदा ॥१४३॥

अनित्यता अवश्य होगी। विकारी परमाणु भी अनित्य ही हैं यही हमें स्वीकृत है। किन्तु आत्मा नित्य है यह अभी बताये जाने वाले हेतुओं से सिद्ध हो जायेगा। अतः वह विकारी नहीं। जैसे वह्नि न होने पर धूम संभव नहीं ऐसे ही अनित्यता न होने पर विकारिता संभव नहीं ॥१४२॥

मूर्त व अमूर्त (बृ० २.३) जो भूत व भूतकार्य प्रपंच है उसी में विक्रिया – बदलाव – देखी गयी है। आत्मा तो विकारी प्रपंच का साक्षी है अतः उससे अन्य ही है। इसलिये आत्मा में विक्रिया नहीं हो सकती यह स्पष्ट करते हैं –

मूर्तत्व व अमूर्तत्व से रहित प्रत्यगात्मा में विक्रिया कैसे होगी? प्रमा-सम्बन्ध ही भोक्तृता है और आत्मा की प्रमारूपता सदा है ॥१४३॥

वादी सभी सद्वस्तुओं को घट की तरह विकारी मानना चाहे तो सिद्धान्ती उसे बताता है कि मूर्तामूर्त अर्थात् जड वस्तु ही विकारी होती है यही घटादि में देखा गया है अतः जड न होने से आत्मा विकारी नहीं। भगवान् ने भी विकार को क्षेत्रधर्म कहा है (१३.३)। मूर्त व अमूर्त न होने से ही आत्मा का नित्यत्व भी सिद्ध हो जाता है। नित्य होने का फल है कि आत्मा विक्रियावान् नहीं। प्रत्यगात्मा कहकर स्पष्ट किया कि सभी भावों की व अभावों की सिद्धि उसी से होती है अतः उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। अतः नित्य भाव ही है, अलीक नहीं।

जो यह शंका थी कि अविकारी होने पर अभोक्ता अतएव असद्रूपता ही आत्मा की होगी, उसके समाधानार्थ बताया कि प्रमासम्बन्ध ही भोक्तृता है। सुखादि का अनुभव और सुखादि के हेतुभूत विषयों का अनुभव, यही भोग है। आत्मा से इस भोग का सम्बंध ही आत्मा का भोक्तृत्व है। यहाँ प्रमाशब्द यथार्थज्ञानपरक नहीं भोगरूप प्रकृष्ट ज्ञानपरक है। वह ज्ञान भ्रम भी हो सकता है। उस भोग का आत्मा से सम्बंध आत्मा के विकृत हुए बिना तादात्म्याध्यास से संभव है। मूलकार ने ही नैष्कर्म्यसिद्धि में (२-६३) कहा है नि जैसे चलती नाव में बैठा व्यक्ति तट के वृक्षों में गति कल्पित कर लेता है ऐसे ही विकारशून्य आत्मा में अहम्बुद्धिरूप भ्रान्ति के कारण भोक्तृता आ जाती है। यहाँ चौथे अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में श्लो १२२६-३३, १४५७-६३, १५८३-८५ आदि में आत्मा के भोग का और भी स्पष्टीकरण किया जायेगा। स्वप्रकाश होने से बिना किसी की अपेक्षा से स्वरूपानुभव बना रहता है। विषयाकार वृत्ति से अवच्छिन्न हो आत्मा विषयों को जान लेता है। सांख्यमत में भोग सत्य होने से कादाचित्क ज्ञानरूप आत्मा विकारी होना पड़ता है जबकि वैदिकसिद्धान्त में भोग मिथ्या होने से आत्मा अविकारी रहता है, कादाचित्क ज्ञानरूप भोग उस पर कल्पित हो जाता है। तथा अहंकाराध्यास से आत्मा भी उससे संसर्गेण अध्यस्त हो जाता है। अतः लोकायतिक का प्रश्न कापिलों को कष्ट दे सकता है शांकरों को नहीं। आत्मा की प्रमारूपता में प्रमाशब्द अविलोप्य दृष्टिपरक है यह जानना चाहिये। यही प्रमा उपाधिवश भोगरूप प्रमा होती है अतः सर्वथा भिन्नार्थकता भी नहीं ॥१४३॥

जिसका प्रागभावादि होता है वही अग्नि आदि विक्रिया वाले देखे जाते हैं। आत्मा के प्रागभावादि हैं नहीं अतः यह विकारी भी नहीं हो सकता यह बताते हैं –

वायु, अग्नि आदि की तरह आत्मा विकारवान् नहीं हो सकता क्योंकि इसके प्रागभावादि होना संभव नहीं ॥१४३$\frac{१}{२}$॥

आत्मा के प्रागभावादि असंभव इसलिये कि उनमें प्रमाण नहीं। आत्मा उन्हे जान नहीं सकता क्योंकि स्व और स्वके प्रागभावादि एक समय में हो नहीं सकते कि आत्मा को उनका साक्षात्कार होवे। एक आत्मा के प्रागभावादि दूसरे आत्मा को साक्षात् होवें यह भी संभव नहीं क्योंकि अनेकात्मा हैं नहीं। आत्मा के प्रागभावादि का अनुमान भी किया नहीं जा सकता। यदि कथंचित् कोशिश भी करें तो यह सत्प्रतिपक्ष जागरूक है: विमत (भूतादि) काल, आत्मसत्ता वाला ही है, काल होने से, जैसे संमत (वर्तमानादि) काल। इसलिये आत्मा के प्रागभावादि न होने से यह अविक्रिय है। इसी हेतु से आत्मा नित्य है यह भी यहाँ बता दिया ॥१४३$\frac{१}{२}$॥

वाय्वग्निवद्विकारो न प्रागभावाद्यसंभवात्। अग्न्यादीनां तु सांशत्वाद्बलवद्भिस्तदिन्धनैः ॥१४४॥
अभिभूतस्वरूपाणां काष्ठनिर्मथनादिना। युक्तैवाऽऽविष्कृतिर्नित्यं तेषां कार्यात्मकत्वतः ॥१४५॥
न त्वात्मनो निरंशत्वान्मुख्यौ सम्भवतः क्वचित्। आविर्भावतिरोभावौ स्वतः सिद्धेश्च कारणात् ॥१४६॥
अभ्युपेताऽप्यभिव्यक्तिर्नाभिव्यङ्ग्यस्य विक्रिया। यथा तथाऽनभिव्यक्तिः सर्वेषामपि वादिनाम् ॥१४७॥

पुनः शंका होती है कि सुषुप्ति में अपहतपाप्मत्वादि आत्मस्वरूप का आविर्भाव होता है और जाग्रद् आदि में उसका तिरोभाव रहता है अतः आविर्भाव-तिरोभाव वाली आग आदि की तरह आत्मा विकारी क्यों नहीं? इसका समाधान करते हैं –

सदा कार्यात्मक होने से अग्नि आदि सांश हैं इसलिये उनके सक्षम ईंधन आदि से वे अभिभूत स्वरूप वाले हो जाते हैं और काठ रगड़ने आदि से उनका आविर्भाव हो जाता है यह ठीक ही है। किन्तु निरंश होने से आत्मा के वास्तविक आविर्भाव-तिरोभाव हों यह कभी संभव नहीं। आत्मा की सिद्धि स्वतः होने के कारण भी उसके स्वाभाविक आविर्भाव-तिरोभाव नहीं हो सकते ॥१४४-१४६॥

आग कार्य है अतः सावयव है, जैसे घट। उनके ईधन आदि भी सावयव ही हैं। वे सक्षम हैं अर्थात् आग को स्वयं में अभिभूतरूप से रख लेते हैं। काठ आदि ईधन को रगड़ने से, पंखा आदि करने से वह अग्नि प्रकट हो जाती है। आग के आविर्भाव-तिरोभाव के कारण वह विकारी हो ऐसा नहीं, वह तो सांश होने से विकारी है। अतः आत्मा चाहे आविर्भावादि वाला हो, सांश न होने से विकारी नहीं है। वस्तुतस्तु आत्मा आविर्भावादि वाला है भी नहीं। आत्मा के आविर्भावादि क्या कल्पित विवक्षित हैं या अकल्पित? यदि कहो कि कल्पित ही विवक्षित हैं, तो क्या उनसे कल्पित विक्रियावत्त्व कहना चाहते तो या अकल्पित? यदि कहो कि कल्पित आविर्भावादि से कल्पित सविकारता कह रहे हो तब तो वह हमें भी स्वीकृत होने से सिद्धसाधन दोष तुम्हे लगेगा। यदि कहो कि कल्पित आविर्भाव आदि से अकल्पित सविकारता कह रहे हो तो तुम्हारा कथन निराधार है क्योंकि कल्पित आविर्भावादि तो गंधर्वनगरादि में भी हैं पर उनमें अकल्पित (सत्य) विकारिता नहीं है, अतः कल्पित आविर्भावादि से अकल्पित सविकारता कही नहीं जा सकती। अब यदि आत्मा में अकल्पित आविर्भावादि हैं यह कहो तो ग़लत होगा क्योंकि अकल्पित आविर्भावादि तो सांश वस्तु के ही होते हैं जब कि आत्मा निरंश है। कोई कहे कि निरंश के भी आविर्भाव की सामग्री न होने तक वह तिरोहित रह सकता व उसके बाद आविर्भूत हो सकता है, अतः आत्मा के सत्य आविर्भावादि क्यों न हों? इसका उत्तर देने के लिये बताया कि उक्त प्रक्रिया भी जड में ही संभव है, नित्य आविर्भूत स्वयम्प्रकाश में नहीं। जो तो शास्त्र में आविर्भाव कहा है वह आज्ञानिक तिरोभाव की अपेक्षा से है यह जान लेना चाहिये।

पुरी जी ने बताया है: आत्मा के आविर्भावादि क्या आत्मा के एकदेश में होते हैं या सर्वात्मना? यदि एकदेश में मानो तो आत्मा के निरंशत्व का विरोध और सर्वात्मना मानो तो तिरोभावदशा में स्वरूप का ही अभाव होने लगेगा जो पूर्वोक्त विधि से निःसाक्षिक होगा।

आत्मा के आविर्भावादि स्वतः होते हैं या किसी अन्य के अधीन हैं? स्वतः नहीं हो सकते क्योंकि वह अविलुप्त नित्य प्रकाशरूप है। यदि अन्यतः होते हैं तब उस अन्य के ही आविर्भावादि सिद्ध होंगे, आत्मा के नहीं। अतः अंतःकरण के आविर्भावादि को ही आत्मा के आविर्भावादि मान लेते हैं। अजातशत्रुसंवाद में यह और स्पष्ट हो जायेगा ॥१४४-१४६॥

शंका होती है कि आविर्भावादि भले ही आत्मा में कोई अन्य विकार न कर पायें, पर क्या वे खुद ही एक विक्रिया नहीं हैं? इसके समाधानार्थ कहते हैं –

यदि अभिव्यक्ति (आविर्भाव) मान भी ली जाये तो वह अभिव्यंग्य की विक्रिया नहीं है और ऐसे ही अनभिव्यक्ति (=तिरोभाव) अनभिव्यंग्य की विक्रिया नहीं है। यह बात सभी वादी मानते हैं ॥१४७॥

अतोऽनभ्युपगच्छद्भिर्मुक्तौ कर्त्रादिरात्मनः। अविद्याकल्पितो ज्ञेयो न ह्यसौ परमार्थतः ॥१४८॥

वस्तुतस्तु अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति दोनों सत्य हों तो नित्य होंगे और एक आत्मा में उनका साथ-साथ रहना असंभव होगा क्योंकि इकट्ठे ही आत्मा अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त दोनों होवे यह सचमुच में संभव नहीं। यदि सत्य होने पर भी ये क्रमशः हुआ करें तो भी स्वप्रकाश आत्मा का तिरोभाव संभव नहीं फलतः आविर्भाव भी नहीं क्योंकि वह तिरोभाव-सापेक्ष है। कथंचित् उन्हे मान लें तो भी उनसे आत्मा विकारी क्योंकर होगा? कोई भी वादी अभिव्यक्ति आदि से जो अभिव्यक्त हुआ उसमें विकार नहीं मानता। आविर्भावादि को या ज्ञान-अज्ञान मान सकते हैं या जन्म-नाश। घट का आविर्भाव उसका ज्ञात होना है व तिरोभाव अज्ञात होना है। ऐसा हो तो आविर्भाव से ज्ञाता में भले ही कोई विकार मानें, घट में तो कोई विकार होगा नहीं। यदि जन्मादिरूप मानें तब भी आरंभवाद में सत्तासम्बन्ध को आविर्भाव कहेंगे व ध्वंस को तिरोभाव। विकार तो सत्तासम्बंध के बाद होंगे, सत्तासम्बंध स्वयं विकार नहीं हो सकता क्योंकि उससे पूर्व विक्रियमाण है ही नहीं। ऐसे ही ध्वंस भी घट का विकार नहीं। घट तो द्रव्य है, ध्वंस अभाव है। घट ध्वंसरूप हो नहीं सकता क्योंकि पदार्थसांकर्य होता नहीं। अतः ध्वंसनामक अभाव की उत्पत्ति होने से भी घट में कोई विकार नहीं आयेगा, तिरोभूत हो जायेगा। अतः आरंभवाद में आविर्भावादि विक्रियारूप या स्वयं विक्रिया के पर्याप्त हेतु नहीं हैं। परिणामवाद में तो घट के आविर्भावादि से विकार होना है मिट्टी में, अतः घट में विकार का प्रसंग नहीं। विवर्तवाद में यद्यपि जन्म-नाश विकाररूप हैं तथापि वे अकल्पित नहीं हैं और वह वाद सिद्धान्ती का है जिसमें आत्मा के जन्मादि होते नहीं। इसलिये आचार्य ने इस विषय में सब वादियों की एकवाक्यता बतायी है।

न्यायतत्त्वविवरण में दो अनुमानप्रयोगों से यह बात स्पष्ट की है: विमत आत्मा, अभिव्यक्तिविक्रिया वाला नहीं है, अभिव्यंग्य होने से, कुआ खोदने से अभिव्यंग्य आकाश की तरह। ऐसे ही वह अनभिव्यक्तिविक्रिया वाला नहीं है, अनभिव्यंग्य होने से, आकाश की ही तरह। मिट्टी आदि से पाट देने पर कूपाकाश अनभिव्यक्त हो ही जाता है। इसमें अनुकूल तर्क है – आत्मा यदि विक्रिया वाला होता तो चमड़े आदि की तरह अनित्य भी होगा।

इस प्रकार आत्मा के आविर्भावादि हैं नहीं और यदि हों तो भी उनसे आत्मा विकारी नहीं है ॥१४७॥

आत्मा निर्विकार सिद्ध होने पर लोकायतिक का पक्ष ध्वस्त हो गया। 'संघातातिरिक्त मैं हूँ' ऐसे अबाधित अनुभव को भ्रम तो साहसमात्र से ही कह सकते हैं। वह मैं उक्त विचार से नित्य तथा अविकारी सिद्ध होता है। अतः प्रतीयमान कर्तृत्व-भोक्तृत्व को आविद्यक ही मानना पड़ेगा तथा अविद्यानिवृत्ति से मोक्ष भी मानना ही पड़ेगा। यही बात समझाते हैं –

इसलिये मुक्त आत्मा में कर्तृधर्मादि विकार न स्वीकारने वालों को जान लेना चाहिये कि वे अविद्या से कल्पित ही हैं, वस्तुतः नहीं हैं ॥१४८॥

लोकायतिक को भी निर्विशेष मोक्ष स्वीकार करा चुके हैं, अतः यहाँ सभी वादियों के प्रति उक्ति है। जो तो रागवशात् मोक्ष में भी कर्तृत्वादि मानते हैं वे अध्यात्मचर्चा में भाग लेने योग्य ही नहीं क्योंकि स्वर्ग से ही उन्हे प्रयोजन है अतः वे कर्मकाण्ड के ही अंतर्भूत हैं यह अभिप्राय है। षड् दर्शनों में तो इतना तुच्छ मोक्ष किसी ने नहीं माना है!

कर्तृत्वादि कादाचित्क एवं प्रकाश्यतया जड होने से रज्जुसर्पादि की तरह कल्पित ही हैं। प्रतीतिदशा में भी वस्तुतः हैं नहीं।

यद्यपि कर्तृत्वादिप्रतीति संसारदशा में बाधित नहीं तथा उस प्रतीति में हेतुभूत कोई दोष भी समझ आता नहीं तथापि पूर्वोक्त विवेक से ही यह स्वीकारना पड़ता है कि कर्तृत्वादि आत्मा में काल्पनिक है। पारमार्थिक अपरिवर्तनीय ज्ञानरूप आत्मा में कर्तृत्वादि आगंतुक धर्म असंभव हैं। अनात्मा भी कर्ता हो नहीं सकता क्योंकि पत्थरादि में कर्तृत्व मिलता नहीं। अतः देहादि में आत्माध्यासरूप अहंकारादि के आरोप से ही कर्तृत्वादि उपपन्न है। जैसे जपाकुसुम की संनिधि में ही होने

कर्त्राद्यात्मस्वभावस्य प्रात्यक्ष्यान्न तदात्मनि ॥१४९॥
मात्रादिबोधकं मानं प्रत्यगात्मनि साक्षिणि। न व्यापारयितुं शक्यं वह्निं दग्धुमिवोल्मुकम् ॥१५०॥

वाली स्फटिक-लालिमा वास्तविक नहीं हैं। यह मूल के 'हि' शब्द से पुरी जीने व्यक्त किया है।

श्रीमदानन्दपूर्ण का कहना है कि कर्तृत्वादि ज्ञान से निवर्त्य भले ही हों, मानना उन्हे अकल्पित ही चाहिये, निवृत्ति उनकी वैसे ही ज्ञान कर देगा जैसे वह अपने प्रागभाव की कर देता है – इस संभावना का 'नाहि' से निषेध किया गया है। ज्ञान स्वप्रागभाव की निवृत्तिरूप है, न कि उसका निवर्तक। अतः दृष्टान्त असिद्ध है यह तात्पर्य है ॥१४८॥

प्रश्न उठता है कि ज्ञान की तरह कर्तृत्वादि को आत्मधर्म ही मानना चाहिये, आज्ञानिक नहीं; आत्मा में कर्तृत्वादि होने से बंधन और कर्तृत्वादि न रह जाने से मोक्ष, यह व्यवस्था संगत है। इसका उत्तर है –

वह कर्तृत्वादि आत्मनिष्ठ धर्म नहीं है क्योंकि आत्मा के स्वभावभूत ज्ञान से दृश्य है ॥१४९॥

कर्तृत्वादि यदि दृश्य है तो जैसे आत्मदृश्य घट आत्मधर्म नहीं ऐसे वह भी न होगा और यदि आत्मदृश्य नहीं तो उसमें कोई प्रमाण ही न होने से वह तुच्छ होगा।

विद्यासागर एवं श्रीनृसिंहपुरी ने 'कर्त्राद्यात्मस्वभावस्य' यह एक पद माना हैः आत्मा के स्वभाव रूप से अज्ञानियों द्वारा माना गया होने से कर्तृत्वादि ही आत्मस्वभाव है। यह क्योंकि प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य है इसलिये वस्त्रादि की तरह आत्मधर्म नहीं। उभयथा भी अर्थ एक ही है।

किन्तु पुरी जी ने पूर्वश्लोक से अन्वय माना है। उनकी योजना है कर्त्राद्यात्मस्वभावस्य प्रात्यक्ष्याद् असौ अविद्याकल्पितः, न परमार्थतः। इस पर शंका हुई कि प्रात्यक्ष्य (=प्रत्यक्षता) से अविद्याकल्पितत्व की सिद्धि कैसे, आत्मा में भी प्रात्यक्ष्य है? तब कहा 'न तदात्मनि'– स्वयंप्रकाश होने से दृश्यत्वरूप प्रात्यक्ष्य आत्मा में नहीं है। अतः कर्तृत्वादि की कल्पितता सुस्थ है। यह सम्बन्ध भी मनोरम ही है। ॥१४९॥

कर्तृत्वादि की कल्पितता में यह भी हेतु है कि आत्मा में कर्तृत्वादि हैं इसमे कोई प्रमाण नहीं। 'मैं कर्ता' आदि जो प्रत्यक्ष है वह प्रमाण नहीं हो सकता कारण कि यह विवेचनीय है कि वह किसे विषय करता है, प्रमाता आदि को या उनके साक्षी को? यदि प्रमातादि को विषय करे तब आत्मा में कर्तृत्वादि सिद्ध नहीं कर पायेगा, प्रमाता आदि में ही करेगा। यदि कहो कि साक्षी को विषय करता है तो वह कहना ग़लत होगा। यही विषय स्पष्ट करते हैं –

जैसे वह्नि को जला डालने के लिये मशाल को व्यापृत नहीं करा सकते वैसे ही प्रमाता आदि को विषय करने वाले अनुभव को प्रत्यगात्मरूप साक्षी को विषय करने के लिये व्यापृत नहीं करा सकते ॥१५०॥

सिद्धान्ती साक्षी में कर्तृत्वादि का निषेध कर रहा है, प्रमाता में नहीं। अतः प्रमाता को विषय करता अनुभव सिद्धान्ती की बात का विरोध नहीं करता। 'मैं कर्ता' अनुभव को प्रमातृविषयक मानना पड़ेगा क्योंकि जैसे 'मैं दण्डी' अनुभव अहंकार से अवच्छिन्न देहादि को ही विषय करता है वैसे ही 'मैं कर्ता' भी करता है। विज्ञानमय की उपाधियों में अभिमान के बिना यह अनुभव कभी होता नहीं।

किं च 'मैं कर्ता' आदि प्रत्यक्ष का कर्ता निर्विकार साक्षी तो संभव नहीं। पारिशेष्यात् प्रमाता को ही इसका कर्ता मानना होगा। वह प्रमाता स्वयं साक्षी का विषय है, प्रकाश्य है। अतः जैसे आग से जलने वाली मशाल आग को जला नहीं सकती ऐसे साक्षी के विषयभूत प्रमाता को होने वाला प्रत्यक्ष साक्षी को विषय करे यह संभव नहीं। प्रमाण स्वभावतः ही पराग्बोधक होते हैं। यदि वे प्रत्यग्बोधक हों तो उनका साक्षी कौन हो? अनवस्थाभय से अनेक साक्षी अस्वीकार्य होंगे अतः उन्हे निःसाक्षिक मानना पड़ेगा जिससे वे नहीं हैं यही सिद्ध होगा।

अथवा 'मात्रादिबोधकम्' में मातृपद प्रमातृपरक नहीं, प्रमातृत्वपरक है, एवं च 'आदि' पद से कर्तृत्वादि का ग्रहण

साक्षिसाक्ष्याभिसम्बन्धः प्रमात्रादौ यथा तथा। साक्षिवस्तुनि नैव स्यात्केवलानुभवात्मनि ॥१५१॥
परार्थसंहतानात्मभोग्यकर्त्रादिबोधिना। विरोधात्तद्विरुद्धोऽर्थः प्रत्ययेनेक्ष्यते कथम् ॥१५२॥

है। कर्तृत्वादिविषयक ज्ञान किसे होता है? आत्मा को ही होता है यह कहना होगा। ज्ञान जिस आश्रय में होता है उससे भिन्न को ही विषय करता है अन्यथा कर्तृकर्मविरोध होगा। कई आत्मा तो हैं नहीं कि कर्तृत्वादिविषयक आत्माश्रित ज्ञान किसी अन्य आत्मा को विषय कर ले। इसलिये वह अनात्मा को ही विषय कर पायेगा। और कर्तृत्वादि को अनात्मधर्म ही सिद्ध कर पायेगा। यह उल्मुकादि दृष्टांत का तात्पर्य कल्पलतिका में व्यक्त किया है ॥१५०॥

पूर्वपक्षी की शंका है: प्रमाता आदि का साक्षी क्या द्रष्टा अर्थात् ग्राहक है, या नहीं है? यदि कहो है तो जैसे ग्राहक प्रमाता साक्षिवेद्य है वैसे ही ग्राहक होने से प्रमाता आदि के साक्षी को भी साक्षिवेद्य होना पड़ेगा और इस प्रकार साक्षिप्रत्यक्ष से ही साक्षी में कर्तृत्वादि सिद्ध हो जायेगा। पूर्व में सिद्धान्ती ने कहा था कि निर्विकार साक्षी 'मैं कर्ता' आदि प्रत्यक्ष का कर्ता नहीं हो सकता, किन्तु यहाँ बतायी युक्ति से वह कथन ग़लत सिद्ध हुआ। यदि कहें कि साक्षी द्रष्टा अर्थात् ग्राहक नहीं है तब वह घटादि की तरह जड होने से साक्षी ही नहीं रह जायेगा। इस शंका के समाधानार्थ कहते हैं –

प्रमाता आदि में साक्ष्यता और चिदात्मा में साक्षिता, इस प्रकार इनका साक्षिसाक्ष्यभाव सम्बन्ध जैसे उपपन्न है वैसे केवल अनुभवात्मक साक्षिरूप वस्तु में यह सम्भव नहीं है ॥१५१॥

प्रमाता आदि जड हैं अतः नियमतः उन्हे किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा रहती है जिसके लिये वे साक्षी के दृश्य बने रहते हैं। साक्षी तो चेतन है, अनावृत चिद्रूप प्रकाश उसका स्वरूप है। अतः उसे किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं, उसका कोई अन्य साक्षी नहीं। कर्तृकर्मविरोध होने से साक्षी स्वयं का साक्ष्य नहीं। साक्षी से भिन्न को यदि साक्षी का साक्षी मानें तो वह द्वितीय साक्षी जड होगा कि चेतन? यदि जड हो तो साक्षी न होगा। यदि चेतन हो तो प्रथम साक्षी से अभिन्न ही होगा क्योंकि चेतन एक ही है। इसलिये पूर्वपक्षी का जो यह अनुमान अभिप्रेत था: साक्षी, ग्राह्य है, ग्राहक होने से, प्रमाता की तरह; उसमें जडत्व उपाधि है। प्रमाता में जडत्व होने से ग्राह्यत्व है अतः साक्षी में जडत्व न होने से ग्राहकत्व रहने पर भी ग्राह्यत्व नहीं आ सकता। जहाँ ग्राह्यत्व है वहाँ जडत्व है ही और जहाँ ग्राहकत्व है वहाँ जडत्व हो यह नियम नहीं क्योंकि साक्षी में ग्राहकत्व है, जडत्व नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि जैसे आदित्य प्रकाशयिता ही है प्रकाश्य नहीं वैसे चिदात्मा साक्षी द्रष्टा ही है, दृश्य नहीं। इसलिये साक्षिप्रत्यक्ष से साक्षी में कर्तृत्व कहना अनर्गल है ॥१५१॥

यदि प्रश्न हो कि: जो प्रमात्रादि का ग्राहक है उसी से आत्मा भी ग्राह्य है क्योंकि आत्मा प्रमात्रादि से विलक्षण है ही नहीं, जैसे प्रमात्रादि स्वयं से विलक्षण नहीं हैं; अतः प्रमात्रादि में कर्तृत्वबोधक प्रमाण से ही आत्मा में कर्तृत्वादि क्यों न सिद्ध हो जायें? तो उत्तर देते हैं –

अन्यशेष, मिल कर कार्य करने वाला, जड, भोग्य तथा कर्ता आदि रूप प्रमाता का बोध कराने वाला ज्ञान उससे विरुद्ध आत्मा रूप पदार्थ का ज्ञान नहीं करा सकता क्योंकि अनात्मविषयक प्रमाण की आत्मवियक प्रवृत्ति मानना ग़लत है ॥१५२॥

प्रमाता व साक्षी का अभेद मानकर प्रश्न था। उनका भेद सिद्ध कर देने से उत्तर स्पष्ट हो जाता है। साक्षी क्योंकि प्रमाता से विलक्षण है इसलिये प्रमातृग्राहक से ग्राह्य नहीं है। एवं च प्रमातृगत कर्तृत्वादि का बोधक प्रमाण साक्षी में उनका बोध करा नहीं सकता। घट को विषय करता प्रमाण घट से विपरीत लक्षण वाले पट को विषय करे ऐसा नहीं होता। यद्यपि समूहालम्बन ज्ञान के विशेष्य परस्पर विलक्षण होते हैं तथापि उस ज्ञान में हर विशेष्य में प्रतीयमान प्रकार भी परस्पर विलक्षण ही होते हैं अतः घटविषयक ज्ञान भले ही पट को विषय करे लेकिन घट के धर्म पट में नहीं भासेंगे। मात्रादिविषयक प्रमाण तो समूहालंबन है भी नहीं क्योंकि दो विशेष्य उसमें प्रतीत होते नहीं। मान भी लें तो प्रमातृधर्म साक्षी में नहीं भास सकते। वैसा होने पर प्रमाण नहीं भ्रम ही होगा जैसे रंग व रजत के विषय में 'ये रजतखण्ड पड़े हैं' यह भ्रम ही है।

इच्छाद्वेषादिरप्येवं नाऽऽत्मनो धर्म इष्यताम्। कामः संकल्प इत्येवं मनोधर्मत्वसंश्रवात् ॥१५३॥

यह नहीं कह सकते कि प्रमात्रादि का साक्षी प्रमात्रादि से विलक्षण नहीं, क्योंकि वैलक्षण्य प्रमाणसिद्ध है। वैलक्षण्य-बोध के लिये ही प्रमाता के अनेक विशेषण श्लोक में कहे हैं।

प्रमाता अन्यशेष है जबकि साक्षी अन्यशेष नहीं। अतः साक्षी का प्रमातृभेद इस प्रयोग से सिद्ध है: साक्षी, प्रमात्रादि से विलक्षण है, अपरार्थ होने से अर्थात् अन्यशेष न होने से, जो जो अपरार्थ नहीं होता वह प्रमात्रादि से विलक्षण नहीं होता जैसे स्वयं प्रमात्रादि। यदि व्यतिरेकी का प्रयोग न करना हो तो प्रमात्रादि को पक्ष बनाकर कह सकते हैं: प्रमात्रादि, साक्षी से विलक्षण हैं, अन्यशेष होने से, घट की तरह। प्रमात्रादि यदि साक्षिभिन्न होंगे तो साक्षी भी प्रमात्रादिसे भिन्न होगा ही। इस प्रकार प्रश्न करने वाले ने जो यह कहा था कि साक्षी प्रमात्रादि से विलक्षण है ही नहीं, वह बात कट गयी।

प्रमाता में अपरार्थता नहीं है, परार्थता ही है, यह स्पष्ट करने के लिये बताया कि वह मिल कर कार्य करने वाला है। मिलकर कार्य करने वाले को ही संहत कहते हैं। जैसे दीवाल, छत, खम्भे आदि मिलकर घर का धारण करते हैं और परार्थ हैं ऐसे सभी संघात परार्थ ही होते हैं। यह न्याय सांख्यवादी भी काम में लेता है। इतना ही नहीं प्रमाता अनात्मा अर्थात् जड है जबकि साक्षी चेतन है, आत्मा है। इससे भी दोनों की विलक्षणता है। प्रमाता की जडता उसकी संहतता से ही निश्चित हो गयी। साक्षी पूर्वोक्त (श्लो. १४३) रीति से भोक्ता अर्थात् नित्य दृष्टि रूप है जबकि प्रमाता भोग्य अर्थात् दृश्य है। प्रमाता कर्ता है और साक्षी अकर्ता, अतः भी इनका वैलक्षण्य निश्चित है। प्रमाता भी साक्षी की तरह अकर्ता है यह नहीं कह सकते क्योंकि 'मैं कर्ता' यह अनुभव जागरूक है। इस प्रकार इनमें विपरीतता सिद्ध होने पर स्पष्ट है कि पराक् अर्थात् दृश्य को विषय करने वाला प्रमाण प्रत्यक् को अर्थात् द्रष्टा को विषय करे यह कैसे संभव होगा? इसलिये वादी के प्रश्न का सम्यग् निराकरण हो गया ॥१५२॥

नैयायिक लोग कहा करते हैं: इच्छादि विशेषगुण हैं क्योंकि वे ऐसे गुण हैं जिनका एक ही इंद्रिय से (मन से) ग्रहंण होता है, जिन गुणों का एक ही इंद्रिय से ग्रहण हो वे विशेषगुण होते हैं, जैसे रूप। इस प्रकार विशेषगुणता सिद्ध हो जाने पर पृथ्व्यादि में वे मिलते नहीं तथा जड होने से उनमें रह सकते नहीं अतः जिसमें ये इच्छादि नौ विशेषगुण रहते हैं वही आत्मा है। इसलिये आत्मा को अविद्या के बिना ही इच्छादि का आधार मानना पड़ेगा। इससे आत्मा वास्तविक कर्ता सिद्ध होता है। इस कल्पना का विध्वंस करते हैं –

इसी प्रकार इच्छा द्वेष आदि भी आत्मा के धर्म हैं ऐसा मत मानिये क्योंकि 'कामना, संकल्प' (बृ. १.५.३) इत्यादि वाक्य में यह सुना गया है कि वे मन के धर्म हैं ॥१५३॥

'इसी प्रकार' अर्थात् प्रमाण न होने से। जब आत्मा में प्रत्यक्ष की अगति बता दी तब उसके धर्मों का भी प्रत्यक्ष न हो सकना अर्थसिद्ध है। गौतमानुयायियों की तरह हम गुण-गुणी का पार्थक्य तो मानते नहीं कि जैसे आकाश अप्रत्यक्ष ही रहता है पर उसके गुण शब्द का प्रत्यक्ष हो जाता है ऐसे आत्मा अप्रत्यक्ष रहे और उसके गुणों का प्रत्यक्ष हो जाये। हमारे मत में तो गुणी ही गुणरूप से भी प्रतीत होता है। शब्दात्मना आकाश का प्रत्यक्ष हमें स्वीकार है। अतः आत्मप्रत्यक्षनिराकरण से आत्मगुणप्रत्यक्षनिराकरण हो गया। जो तो शास्त्र स्वर्गादीच्छुक के लिये कर्मविधान करता है वह अध्यास वाले आत्मा के अभिप्राय से ही करता है। कर्म क्योंकि देहादि में तादात्म्यके बिना हो नहीं सकता इसलिये कर्मविधि से एकवाक्यतापन्न इच्छादिमत्त्व भी तादात्म्य वाले का ही शास्त्र कह रहा है, केवल आत्मा का नहीं। अतः प्रत्यक्ष व शास्त्र ये दो ही नवीन ज्ञान कराने वाले प्रमाण हैं व इनसे आत्मा के धर्म इच्छा आदि हैं यह सिद्ध नहीं होता। बल्कि शास्त्र स्पष्ट ही आत्मा को इच्छादि से रहित बताता है।

अब रहा अनुमान। अतः उसका विश्लेषण करते हैं: नैयायिक ने इच्छादि को अनुमान से आत्मधर्म सिद्ध किया यह मानकर कि वे एक इंद्रिय से ग्राह्य गुण हैं अर्थात् वे गुण हैं इतना उसने सिद्धवत् कह दिया। किन्तु जब इच्छादि का आश्रय ही अभी तक सिद्ध नहीं हुआ तब उन्हे गुण अर्थात् द्रव्याश्रित कहा कैसे? रूपादि को गुण क्यों कहते हैं? उपदेश के सहारे

जिस प्रकार प्रत्यक्ष से ही रत्नों का रत्नत्व गृहीत होता है उसी प्रकार उपदेशसहकृत प्रत्यक्ष से ही गुणत्व भी मालूम पड़ता है, यह तार्किकों की मान्यता है। अतः श्रीधरभट्ट ने न्यायकंदली में यही कहकर गुणों को सिद्धवत् मान लिया है (पृ. २२७ सं. सं. वि.)। लक्षण करते हुए भी उसे पारिभाषिक रूप से ही प्रकट किया जाता है 'गुणत्वं नाम सामान्यविशेषः' (किरणाव.)। सामान्य ही जब सर्वसंमत नहीं तो उसके सहारे गुण कैसे समझाया जा सकता है। अतः गुणकिरणावली में ही कहा है '... रत्नतत्त्वमिव गुणत्वम् उपदेशापेक्षेण चक्षुरादिना प्रत्यक्षत एव प्रतीयत इति तु स्वशिष्यव्यामोहनमात्रम्, निमित्तमन्तरेण उपदेशस्य आगममात्रत्वात्।' रत्न की मूल्यवत्ता समझने के लिये उपदेश चाहिये किन्तु वह मूल्यवत्ता रत्ननिष्ठ कोई धर्म नहीं है बल्कि लोगों की बुद्धि में होने वाला ही धर्म है। अतएव जिसे पूर्वीय समाज किसी कीमत वाला नहीं समझता वही पत्थर पाश्चात्य समाज बेशकीमती मानता है, खरीदता भी है। पत्थरगत वैशिष्ट्य होता तो सर्वत्र एकरूप रहता। ऐसे ही यदि गुणों को उपदेश से समझना है तो वे पदार्थनिष्ठ कोई प्रत्यक्षधर्म नहीं सिद्ध होंगे, एक मान्यताविशेष ही सिद्ध होंगे। इच्छादि की आत्मधर्मता में क्या प्रमाण? इसका उत्तर 'इच्छामीति' अनुभव ही बतायेंगे और इसकी व्यवस्था वेदांती ने स्पष्ट कर ही दी है। न्यायवार्तिक में प्रश्न किया कि ज्ञान गुण क्यों है? उत्तर यही दिया कि क्योंकि वह अनित्य होते हुए अचाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है इसलिये गुण है: 'अनित्यत्वे सति अचाक्षुषप्रत्यक्षत्वाद् गुणभावः' (३.२.१८)। जैसे रस अनित्य व कभी भी चाक्षुष न होकर प्रत्यक्ष होता है और गुण है, वैसे ही इच्छादि हैं यह अर्थ है। एवं च प्रत्यक्ष को ही प्रमाण कहा है। किन्तु गुणप्रत्यक्ष से गुणिभिन्न गुणपदार्थ सिद्ध नहीं होता बल्कि लाघवानुगृहीत अभेदप्रत्यक्ष से गुण का गुणी से अभेद ही स्वीकार्य होता है। 'कपड़े का शुक्ल रूप' आदि भेदानुभव से ही तार्किक कपड़े से भिन्न शुक्लरूप गुण मानता है किन्तु 'शुक्ल पट' (सफेद कपड़ा) इत्यादि अभेदानुभव आड़े आकर गुण को भिन्न नहीं सिद्ध होने देता। 'कपड़े का' यह षष्ठी तो 'राहु का सिर' की तरह औपचारिक है। इतना ही नहीं 'पट का शुक्ल रूप' इस अनुभव को 'पट का शुक्लत्व, पट की शुक्लिमा' इत्यादि अनुभव से किसी तरह भिन्न नहीं कह सकते। 'पट का शुक्लत्व' अनुभव की व्यवस्था वैशेषिक भी यही बनाता है कि शुक्ल गुण में स्थित शुक्लत्व ही पट में प्रतीत हो रहा है। तब 'पट का शुक्ल' का भी यही अर्थ मानना पड़ेगा कि पटगत शुक्लत्व ही 'शुक्ल' इस तरह प्रतीत हो रहा है। जैसे 'पट का शुक्लत्व' में शुक्लत्वशब्द शुक्ल के अभिप्राय से वैशेषिक मानता है वैसे 'पट का शुक्ल' में शुक्लशब्द शुक्लत्वसामान्य के अभिप्राय से क्यों नहीं मान सकता? यदि 'शुक्ल पट' स्थल में शुक्लशब्द से द्रव्य में लक्षणा मानता है तब 'पट का शुक्ल' स्थल पर सामान्य में लक्षणा मानने में क्या आपत्ति है? गुण मानने पर गुण व सम्बंध दो पदार्थ मानने पड़ते हैं अतः गौरव भी है। अतः पृथक् गुण प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं कह सकते। यह परिमल में (२.२.१७) अच्छी तरह समझाया गया है। रघुनाथ शिरोमणि ने रूपादि चौबीस में रहने वाली प्रत्यक्षसिद्ध गुणत्व जाति मानी ही नहीं है क्योंकि अतीन्द्रिय रूपादि प्रत्यक्ष न होने से तद्गत जाति प्रत्यक्ष नहीं स्वीकारी जा सकती (पदार्थतत्त्व. पृ. ४२)। इससे तर्कदीपिका में किया 'गुणत्वरूपजातिमान् गुणः' लक्षण भी निरस्त हो जाता है। फलतः वादी ने जो इच्छादि को विशेष गुण सिद्ध किया था वह निराधार हो गया क्योंकि उसका हेतु स्वरूपासिद्ध निकला।

किं च गुण जड हैं अतः उनकी सिद्धि स्वतः हो नहीं सकती। जब अन्य से सिद्धि होनी है तब वह अन्य भी यदि जड हो तो पुनः सिद्धि संभव नहीं अतः आत्मा से ही उनकी सिद्धि माननी पड़ेगी। एवं च आत्मा के दृश्य होने पर रूपादि कि तरह इच्छादि भी आत्मधर्म नहीं हो सकते। ऐसे ही कर्तृत्वादि को भी समझना चाहिये।

इतना ही नहीं, शास्त्र स्पष्ट ही कहता है 'कामना, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा, भय आदि सब मन ही हैं (बृ. १.५.३)। गीता में भी 'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि क्षेत्र हैं' (१३.६) ऐसा बताया है। 'तद्गुणसारत्वात्' (२.३.२९), 'यथा च तक्षोभयथा' (२.३.४०) आदि में भगवान् बादरायण ने भी इसे विस्पष्ट कर दिया है। अतः वार्तिककार ने 'संश्रवात्' कहकर स्पष्ट किया कि अप्रामाणिक गुणों की कल्पना न कर उपनिषदों के श्रवण से आत्मस्वरूपका निर्धारण ही मुमुक्षु का कर्तव्य है ॥१५३॥

स्वपरोभयहेतुत्वे ह्यनिर्मोक्षप्रसङ्गतः। सम्यङ्निरूपणे चैषामविद्याकार्यतैव हि ॥१५४॥

शास्त्रोक्त अर्थ ही युक्त्याधारित है यह समझाने के लिये इच्छादि के कारण की अनिर्वाच्यता से इनका मिथ्यात्व व्यक्त करते हैं –

इच्छादि का कारण ये खुद हों, या कोई और हो, या ये खुद व कोई और दोनों मिलकर हों, हर हालत में मोक्ष सम्भव नहीं रहेगा। अतः इनका सही निरूपण करें तो ये अविद्या के ही कार्य निश्चित होते हैं। ॥१५४॥

इच्छादि को कार्य अर्थात् सादि मानना ही होगा क्योंकि यदि अकार्य होंगे तो अनादि भावरूप होने से नित्य होंगे जिससे मोक्ष की आशा ही मिट जायेगी। अनुभव से भी ये सादि ही हैं। जब कार्य माना तब प्रश्न होगा कि इनका कोई कारण है या नहीं? यदि कोई कारण न हो तो कार्यरूप इच्छादि होंगे ही नहीं अतः बन्धन होना ही नहीं चाहिये। यदि बिना कारण के इन्हे मानो तब हमेशा होंगे ही जिससे मोक्ष संभव न होगा। यद्यपि कारण के बिना कार्य होने का प्रसंग ही नहीं तथापि तात्पर्य है कि इनका कोई आगन्तुक कारण नहीं है, नित्य कारण ही है। अतः सदा होने की प्राप्ति संगत है। सर्वथापि इन्हे सकारणक ही मानना पड़ेगा। तब प्रश्न होता है कि इनका कारण कौन है? क्या ये स्वयं अपना कारण हैं, या कोई और इनका कारण है, या दोनों मिलकर हैं?

इच्छादि स्वयं अपना कारण हैं यह असंगत बात है, कोई भी खुद का कारण होता नहीं अन्यथा आत्माश्रय दोष होगा। यदि इच्छाव्यक्तियाँ अनन्त मानकर पूर्व इच्छा को पर इच्छा का कारण माने तो अनवस्था दोष होगा। अविद्या की अनादिता तो शास्त्र, अनुभव और अनुमान से सिद्ध है। इच्छा को प्रवाह-अनादि मानना केवल अंधपरंपरा होगी। यदि कहें कि अनुत्पन्न इच्छा ही अपना कारण है तब तो मोक्ष में भी इच्छा अनुत्पन्न होने से वहाँ भी इच्छा पैदा होने लगेगी व मोक्ष ही सिद्ध न होगा। इच्छा के प्रागभाव को कारण मानें, तो अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती अतः वह कथन ग़लत होगा।

अतः मानें कि इच्छादि से अन्य ही कोई उनका हेतु है तो प्रश्न है कि वह अनुभव में आता है या नहीं? नहीं आता कहो तब तो अप्रामाणिक होने से निर्हेतुकतापक्ष ही हो जायेगा। यदि कहो कि आता है तो बताओ कि वह आगन्तुक है या नित्य? यदि आगन्तुक है तो उसके आगमन का क्या हेतु तथा वह पुनः आगंतुक है तो उसके आगमन का क्या हेतु, इस प्रकार अनवस्था होगी। यदि इच्छा के हेतु को नित्य मानो तो इच्छा भी हमेशा होगी व मोक्ष न होगा। वैशेषिकों ने अनागत सुख को अथवा स्मृति को इच्छा का कारण कहा है 'सा चात्ममनसोः संयोगात् सुखाद्यपेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद् वा उत्पद्यते।' (प्रशस्त. पृ. ६३४ सं.सं.वि.)। अनागत सुख को कारण मानना अभाव से भावोत्पत्ति मानना होगा जो सब प्रमाणों से विरुद्ध है। स्मृति की तरह कुछ लोग बलवदनिष्टाननुबन्धी इष्टसाधनताज्ञान को कारण मानते हैं। पर यह संभव नहीं। स्मृति भी ज्ञान विशेष ही है। तार्किक मत में जिस मनःसंयोग से ज्ञान होगा उससे विलक्षण ही मनःसंयोग से इच्छा होगी। अतः संयोग-विभाग के क्षणों के अनुसार देखें तो इच्छा के उत्पत्ति-काल में ज्ञान ध्वस्त हो चुकेगा जिससे कारण-कार्य का सामानाधिकरण्य न हो पाने से इच्छा उत्पन्न ही न होगी। यदि संस्कार को कारण मानें तो सदा ही इच्छा होती रहेगी जो अनुभवविरुद्ध है। इसी प्रकार मनःसंयोग को कारण मानना ग़लत है। मनःसंयोग से आत्मा में इच्छा उत्पन्न हो तो देह से बाहर भी आत्मा में इच्छादि होने चाहिये, आत्मा निरवयव व्यापक है ऐसा तार्किक भी मानता है। किं च निरवयव पदार्थों का संयोग हो भी नहीं सकता! कथंचित् आत्मा में इच्छादि गुण हों तो उन्हे यावद्द्रव्यभावी (जब तक द्रव्य है तब तक रहने वाला) होना पड़ेगा क्योंकि परमाणुगत रूपादि व आत्मगत संख्यादि यावद्द्रव्यभावी देखे गये हैं। एवं च इच्छादि से अन्य कोई हेतु उनका हो यह भी पक्ष क्षोदक्षम नहीं है।

यदि इच्छा और उनसे अन्य कुछ दोनों को हेतु मानना चाहें तो प्रश्न होगा कि वह अन्य जड है या चेतन? जड है तो इच्छादि को उत्पन्न करना उसका स्वभाव है या उसका ऐसा स्वभाव नहीं है? यदि स्वभाव हो तब तो वह सदा इन्हे उत्पन्न करता रहेगा और मोक्ष असंभव होगा। यदि ऐसा स्वभाव नहीं है तो कभी भी इच्छा आदि को वह उत्पन्न नहीं कर

इच्छादीनां स्वहेतुत्वेऽनर्थं कुर्यात्कथं स्वयम्। आत्मा जानन्यथा शत्रोरात्मनोऽतो न युज्यते ॥१५५॥
तथा परनिमित्तत्वेऽनर्थस्यापरिहारतः। नैकान्तिकफलत्वं स्याद्रोगादिपरिहारवत् ॥१५६॥

पायेगा क्योंकि भट्टकुमारिल ने बताया है कि स्वतः न होने वाली शक्ति अन्य द्वारा भी की नहीं जा सकती (श्लो. वा. चोदनासूत्र श्लो. ४७)। यदि वह दूसरा चेतन है तो क्या आपत् होगी यह अगले श्लोक से बतायेंगे। किं च इच्छा व अन्य दोनों को हेतु मानने पर दोनों की अकेली हेतुता में दिये दोष भी इकट्ठे प्राप्त हो ही जायेंगे।

इस लिये कारण का निर्वचन संभव न होने से इच्छादि को अविद्यामय स्वीकारना ही बुद्धिमत्ता है। इन्हे आत्मा से अत्यंत भिन्न भी नहीं मान सकते अन्यथा गधे व कुत्ते की तरह धर्म-धर्मिभाव सिद्ध न होगा। ऐसे ही अत्यंत अभिन्न भी नहीं मान सकते अन्यथा जैसे घट घटका धर्म नहीं होता ऐसे ये आत्मा के धर्म न होंगे। भिन्नाभिन्न तो मानना है ही असंगत क्योंकि भिन्नत्व व अभिन्नत्व विरुद्ध धर्म हैं, एकत्र रह नहीं सकते। इच्छादि अनुभवसिद्ध हैं अतः यह कहना बेमानी है कि वे शशशृंग की तरह हैं ही नहीं। फलतः जैसे नभ की नीलिमा विचार से सिद्ध नहीं होती पर दीखती है इसलिये अविद्याकल्पित है ऐसे इच्छादि भी अविद्याकल्पित ही स्वीकारने योग्य हैं ॥१५४॥

पूर्वश्लोक के विचार में एक विकल्प उठा था कि इच्छादि का हेतु केवल इच्छादि या केवल कुछ अन्य नहीं बल्कि दोनों मिलकर हैं। उसी में यह प्रश्न उठा था कि वह 'कुछ अन्य' क्या चेतन है या जड? जड मानने पर क्या दोष है यह बताया जा चुका। अब उसे चेतन मानने पर क्या दोष है यह बताना है। प्रश्न होता है कि वह चेतन जीव है या ईश्वर है या दोनों है? जीवपक्ष में दोष सूचित करते हैं –

इच्छादि का कारण यदि स्वयं हम जीव हों तो यह दोष है : जानकार आत्मा जैसे शत्रु का अनर्थ किया जाता है वैसे स्वयं अपना अनर्थ कैसे करेगा? अतः यह पक्ष युक्तियुक्त नहीं ॥१५५॥

जीव को कारण मानो तो क्या वह इच्छादि की अनर्थता (दुःखप्रदता) समझता है या नहीं? यदि समझता है तो अपने लिये अनर्थ एकत्र करे यह संभव नहीं। समझदार व्यक्ति जैसे वैरी की हानि का प्रयास करता है वैसे अपनी हानि का नहीं। यदि कहो कि जीव बिना समझे करता है तब तो बात बिल्कुल ठीक है। 'न समझना' यही अज्ञान है। अज्ञान से आत्मा इच्छा करता है यही यदि अभिप्राय है तब हम सिद्धांतियों को इष्ट है। अतः अज्ञान से इच्छादि का जन्म सिद्ध हुआ जीव से नहीं ॥१५५॥

इच्छादि से सहकृत द्वितीय कारण चेतन जीव संभव नहीं तो ईश्वर होगा – इस संभावना को दूर करते हैं –

ऐसे ही यदि इच्छादि का निमित्त परमेश्वर हो तो रोगादि की निवृत्ति की तरह अनर्थनिवृत्ति भी नित्य रहने वाला फल न होगा ॥१५६॥

परमेश्वर को इच्छादि अनर्थ का हेतु मानो तो वह खुद के लिये तो उन्हे करेगा नहीं क्योंकि सर्वज्ञ व सर्वशक्ति होकर स्वयं को अनर्थ से युक्त करना संगत नहीं। अतः अपने से भिन्न में ही इच्छादि उत्पन्न करेगा। तब जैसे संसारियों में उत्पन्न करता है ऐसे मुक्त जीवों में भी कर देगा जिससे इच्छादिनिवृत्तिरूप मोक्ष हमेशा रहने वाला नहीं हो सकेगा। वादी मुक्त को ईश्वराभिन्न तो मानता नहीं कि ईश्वर उसे अनर्थयुक्त न करे। यदि कहें कि मोक्षोपाय से प्रतिबद्ध होने के कारण ईश्वर मुक्त में इच्छादि उत्पन्न नहीं करेगा क्योंकि सर्वज्ञ होने से उसे मालूम है कि उनमें उन्हे उत्पन्न नहीं होना है, तो यह कथन भी संभव नहीं। मोक्ष का उपाय चाहे ज्ञान हो या कर्म, मोक्ष होने के बाद उपाय को रहना है नहीं जो वह इच्छादि का प्रतिबंध कर सके। जब प्रतिबंध न होगा तो ईश्वर इच्छादि कर ही देगा। अतः अनर्थहानि कुछ समय ही रहेगी जैसे रोगहानि कुछ ही देर रह पाती है, पुनः निमित्तवश रोग आ जाते हैं। इसलिये परमेश्वर को इच्छादि का कारण मानना उचित नहीं ॥१५६॥

आत्मा को क्रियादि के लिये निरुपाय बताया है तथा श्रुति ने स्पष्ट ही कहा है कि आत्मा का कोई कार्य होता नहीं

करणैः संहतिं चर्ते परिहारः कुतो दृशेः। तथोभयनिमित्तत्वे नैकान्तिकफलोदयः ॥१५७॥
पराभिप्रायानियमान्नैव स्यान्मोक्षनिश्चितिः। निर्हेत्वविद्याक्लृप्तौ तु दोषः कश्चिन्न विद्यते ॥१५८॥

(श्वे. ६.९) अतः चेतन को कारण मानना ही असंगत है। अतएव यह भी नहीं कह सकते कि परमेश्वर द्वारा उत्पन्न की जाती इच्छा को मुक्तात्मा स्वयं हटा लेगा। इसे ही व्यक्त करते हैं –

करणों से मिले बिना ज्ञानरूप आत्मा अनर्थपरिहार कैसे करेगा? ऐसे ही जीव-ईश्वर दोनों हेतु हों तो भी नित्य मोक्षरूप-फल संभव न होगा ॥१५७॥

मुक्तात्मा का करणसम्बन्ध रहता नहीं यह सब मोक्षवादियों को मान्य है। बिना करण के आत्मा कुछ कर सकता नहीं यह भी सभी को स्वीकार्य है। 'ज्ञानरूप आत्मा' यह औपनिषद तथा कापिल मत से एवं खद्योतन्याय से आत्मा को ज्ञानरूप मान लेने वाले भाट्टमत से कह दिया है। मतान्तर में 'दृशेः' से जातज्ञान समझना चाहिये अर्थात् जिस आत्मा में तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो चुका है वह करणों के बिना कैसे करेगा? अथवा 'अदृशेः' छेद हैः मनःसम्बन्ध न रहने से जिसमें ज्ञान ही नहीं हो रहा ऐसा जडप्राय मुक्तात्मा अनर्थपरिहार कैसे करेगा? यह भाव है। इतना ही नहीं, परमेश्वर तो मायावी है, मुक्त का माया पर कोई नियंत्रण नहीं, अतः परमेश्वर द्वारा किया जाता अनर्थ मुक्त अपने बल से निवृत्त कर नहीं सकता। यहाँ भी माया से पराभिमत ईश्वरशक्ति को उपलक्षणया समझ लेना चाहिये।

इच्छादि का हेतु न अकेला जीव है, न ईश्वर, दोनों मिलकर हेतु हैं; मुक्तिदशा में जीव इच्छादि की उत्पत्ति के अनुकूल नहीं रहता अतः उनका जन्म नहीं होता, इस मान्यता में क्यां दोष है? यही दोष है कि ईश्वर की स्वतंत्रता भूलकर यह मत बनाया गया है। स्वतंत्र होने से वह जीव को (मुक्त को) इच्छादि की उत्पत्ति के अनुकूल बनाकर उन्हे उत्पन्न कर ही सकता है जिससे मोक्ष की अनित्यता बर्करार है ॥१५७॥

कोई कह सकता है कि ईश्वर का संकल्प ही है कि मुक्त को इच्छादि न होवें, अतः बद्ध जीवों में इच्छोत्पत्ति का कारण ईश्वर को मानने में कोई आपत्ति नहीं। इसका निरास करते हैं –

दूसरा क्या चाहता है इसका नियमन हम कर नहीं सकते अतः ईश्वरेच्छानुसार इच्छादि की अनुत्पत्ति मानो तो मोक्ष में उनका न होना निश्चित नहीं हो सकता। इच्छादि अनादि अविद्या से सम्पन्न होते हैं यह स्वीकार लो तो कोई भी दोष नहीं है ॥१५८॥

ईश्वर का उक्तविध संकल्प है यह निर्णय कैसे किया? दूसरे जीव की ही इच्छा नहीं जान सकते तो ईश्वरेच्छा जानने का प्रसंग ही कहाँ? मुक्तत्वेन अभिमत जिस किसी पुरुष में इच्छा की अनुत्पत्ति से अनुमान करो, यह भी संभव नहीं क्योंकि वह इतना ही बतायेगा कि उतने काल तक ईश्वर की वैसी इच्छा रही, यह कैसे बतायेगा कि नित्य ही वैसी इच्छा रहेगी? अतः मूलकार ने 'पराभिप्रायाभानेन मैवम्' न कह कर 'पराभिप्रायाऽनियमात्' ही कहा। ऐसे ही 'मोक्ष होगा ही नहीं' नहीं कहा, अनिश्चय ही कहा। वादी को उपाय व उपेय का निश्चित प्रतिपादन करना चाहिये, संदिग्ध बात तो लौकिक लोग करते हैं। यदि कहो कि शास्त्र से ईश्वर का ऐसा संकल्प ज्ञापित हुआ, तब तो शास्त्र से आत्मा की इच्छादिरहितता भी समझ लेनी चाहिये, उस शास्त्रवचन में अश्रद्धा क्यों? यदि अनिच्छत्वादि प्रदिपादक शास्त्र अन्यार्थ मानो तो ईश्वर के तादृश संकल्प के ज्ञापक शास्त्र को सुतरां अन्यार्थ बताया जा सकता है। इसलिये सभी कार्यों के होने व न होने के प्रति भगवान् की मर्ज़ी कारण है – इस आगोपवनिता प्रसिद्ध बात के सहारे इच्छादि वास्तव में आत्मधर्म हैं यह सिद्ध करने की आशा मत रखो, यह भाव है।

उक्त युक्तिचर्चा सिद्धान्त की प्रक्रिया को दूषित नहीं कर पाती क्योंकि स्पष्ट श्रुति तथा मोक्षान्यथानुपपत्ति व सौषुसादि अनुभव से निरिच्छ आत्मा प्रकाशमान होने पर एवं 'माया से मोहित आत्मा सब करता है' (कै. १२), 'अहंकार से मोह में पड़ा ही 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है' (गी. ३.२७) आदि शास्त्र से बोधित एवं युत्तयनुसारी कल्पित कर्तृत्वादि से सिद्धान्त सुव्यवस्थित है ॥१५८॥

तद्वर्जनस्य संसिद्धेः प्रसिद्धोपायसंश्रयात् ।
परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता। संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥१५९॥

आविद्यक इच्छादि मोक्ष में नहीं होंगे यह निश्चय कैसे? इसका उत्तर है –

स्वयम्प्रकाशरूप से प्रसिद्ध आत्मा के सहारे से मोक्षमें अविद्या का न होना निश्चित है अतः कारण न होने से कार्यभूत इच्छादि का न होना असंदिग्ध है ॥१५८ १/२॥

ज्ञान अज्ञान का नाशक है यह बात लोक-शास्त्र सर्वत्र प्रसिद्ध है। 'सिद्धं तु निवर्तकत्वात्' कहकर कात्यायन ने भी बताया है कि अज्ञान की निवृत्ति करने वाला होने से वेद प्रमाण है। मोक्ष में अज्ञान नहीं रहता क्योंकि मोक्षहेतुभूत तत्त्वज्ञान उसे निवृत्त कर चुकता है।

प्रश्न होता है: अविद्या-निवृत्ति किससे होती है, अविद्या से, उसके कार्य से, प्रत्यगात्मा से या किसी अन्य हेतु से? अविद्या से अविद्यानिवृत्ति हो नहीं सकती क्योंकि कोई अपना समापन नहीं करता। अविद्याकार्य से अविद्या की निवृत्ति भी मान नहीं सकते क्योंकि ऐसा नहीं होता कि घट अपने कारण मिट्टी को निवृत्त करे। प्रत्यगात्मा में तो अविद्या अनादि काल से उपलब्ध है अतः वह भी निवर्तक हो नहीं सकता। अन्य कोई हेतु बताया नहीं जा सकता। अतः सिद्धांत में भी अविद्यानिवृत्ति संभव न होने से अनिर्मोक्षतापत्ति क्यों नहीं?

इसी का उत्तर दिया कि स्वप्रकाश आत्मा के सहारे से अविद्या की निवृत्ति होती है। साधनचतुष्टय से संपन्न अधिकारी अन्वय-व्यतिरेक से पदार्थबोध प्राप्त कर जब एकाग्रता पूर्वक श्रवण करता है तब उसके मन में अखण्डाकार वृत्ति उत्पन्न होती है जिसमें अभिव्यक्त द्रष्टारूप आत्मा अपनी अविद्या व उसके कार्य को समाप्त कर स्वरूपमात्र में स्थित हो जाता है। जैसे बाँस रगड़ने से प्रकट आग बाँस को जलाकर खुद भी शांत हो जाती है वैसे अविद्याभूमि में ही उत्पन्न अखण्डज्ञान अविद्या को समाप्त कर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। अनादि होने से अविद्या की पुनरुत्पत्ति का प्रसंग नहीं। यद्यपि आत्माकारवृत्ति में आत्मा की अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं है तथापि वृत्तिमात्र ही आत्माभिव्यंजक होने से उसमें भी अभिव्यक्ति हो जाती है यह पंचदश्यादि में प्रतिपादित है । जैसे सूर्यकांत घास को नहीं जलाता बल्कि उस पर आरूढ सूर्य ही जलाता है ऐसे अकेली वृत्ति अज्ञाननिवारण नहीं करती उसमें अभिव्यक्त चिदात्मा ही करता है यही वार्तिककार का अभिप्राय है। अतः अविद्यानिवर्तक उक्त वृत्ति वाला प्रत्यगात्मा उपपन्न है। एवं च सिद्धांत में अनिर्मोक्षतापत्ति नहीं ॥१५८ १/२॥

शंका होती है कि अविद्यानिवृत्ति आत्मरूप है अतः आत्मा को अविद्यानिवृत्ति का उपाय नहीं कह सकते क्योंकि उपाय व उपेय भिन्न-भिन्न होने चाहिये। समाधान है कि एक ही आत्मा अविद्याविरोधीरूप से उपाय है और अविद्यानिवृत्तिरूप से उपेय अर्थात् फल है। वृत्तिविशेष से उपहित हुआ उपाय तथा सर्वथा अनुपहित फल है। यही बात स्पष्ट करते हैं –

अनात्मपदार्थरूप प्रमेयों को विषय करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणो में जो फलरूप से मानी गयी संवित् है वही यहाँ वेदान्तोक्तिरूप प्रमाण का प्रमेय है, तात्पर्यगम्य अर्थ है ॥१५९॥

प्रसिद्ध ही है कि अंतःकरण की विविध वृत्तियों से अवच्छिन्न एक आत्मा प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय होता है यह वेदांत मर्यादा है। विवरण में कहा है 'अन्तःकरणावच्छिन्नतया प्रमाता, विषयावच्छिन्नतया फलम्' (पृ. २०१ M.R.I.)। वहीं नित्य की फलरूपता कैसे – यह शंका कर अखण्डानन्द जी ने बताया है 'वृत्तिसंसृष्टविषयाभिव्यक्तचैतन्यस्य विषयानुभवत्वम्, ततश्च फलत्वव्यपदेश उचितः।' यही बात यहाँ वार्तिक में बतायी है। निरावृत चित् ही फल है। सभी प्रमाणों में फल वही है। वेदान्तों का प्रमेय वही चित् है। प्रमाणान्तरों का प्रमेय अवच्छिन्न चित् है जो निरावृत होने पर फल बनती है, वेदांतों का प्रमेय अनवच्छिन्न चित् है, यह अंतर है। 'यहाँ' अर्थात् अद्वैत सिद्धान्त में। इस प्रकार वाक्य से जन्य वृत्ति में व्यास

अप्रामाण्यप्रसक्तिश्च स्यादितोऽन्यार्थकल्पने। वेदान्तानामतस्तस्मान्नान्यमर्थं प्रकल्पयेत् ॥१६०॥

चेतन अज्ञान का निवर्तक होने से वेदांतसिद्धान्त की प्रक्रिया से अज्ञान की हानि संभव है व अज्ञान न रहने पर इच्छादि न रहना अनिवार्य है अतः नित्य मोक्ष सुसंगत है ॥१५९॥

वेदान्तवचन को अखण्ड संवित् में प्रमाण बताया। कुछ वादी वेदान्तों को उपासनापरक मानते हैं तथा कुछ उन्हे सद्वितीय परमेश्वर का प्रतिपादक मानते हैं किन्तु उपक्रमादि लिंगों से अनुगृहीत अद्वैतश्रुतियों की प्रामाणिकता उक्त दोनों मतों में रह नहीं जाती अतः वे मत हेय हैं। किं च प्रत्यक्षादि प्रमाण अनात्मपदार्थों को विषय करते हैं यह कहने पर प्रमाणसिद्ध अनात्मा से द्वैतप्रसक्ति हो जाती है व द्वैत रहते भय होगा ही अतः मोक्ष असंभव है। इसलिये प्रत्यक्षादि को अनात्मविषयक प्रमाण नहीं मान सकते। इन दोनों बातों को व्यक्त करते हैं –

इससे अन्य अर्थ की कल्पना करने पर वेदान्त प्रमाण नहीं रहेंगे इसलिये इंससे अन्य अर्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये ॥१६०॥

वेदांतों का अर्थ अखण्ड ब्रह्म ही स्वीकारना होगा अन्यथा वे प्रमाण न हो पायेंगे। अतः इससे अन्य उपासनादि अर्थ वेदांतों का है यह मानना ग़लत है।

अद्वितीय ज्ञान से अन्य अनात्मविषय प्रत्यक्ष आदि के प्रमेय हैं यह भी कल्पना नहीं करनी चाहिये अन्यथा अद्वैतबोधक वेदांत प्रमाण न रहेंगे कारण कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होने पर अनात्मा अबाध्य होने लगेगा। अतः इस अद्वैत से अन्य कोई अर्थ अर्थात् विषय प्रत्यक्षादि का है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये। जो उन्हे अनात्मप्रमेयों को विषय करने वाला कहा था उसका इतना ही अभिप्राय था कि प्रत्यक्षादि की विषयता का अवच्छेदक अनात्मा है। उपाधियुक्त परमात्मा प्रत्यक्षादि का विषय है। जैसे 'दण्डी को भोजन दो' का अभिप्राय यह नहीं कि दण्ड को भोजन दिया जाये बल्कि यही है कि दण्डधारी देवदत्त को भोजन दिया जाये, ऐसे 'अनात्मविषयक' का मतलब है अनात्मावच्छिन्न आत्मविषयक। अबाध्य आत्मा ही प्रमेय संभव होने से पूर्वश्लोक में 'परागर्थावच्छिन्नः प्रमेयो येषाम्' ऐसा समास विवक्षित जानना चाहिये। जैसे कल्पित भी लोहितिमा स्फटिकव्यावृत्ति में सक्षम है ऐसे कल्पित परागर्थ आत्मा का अवच्छेद कर लेते हैं। एवं च अनात्मवस्तुयें प्रमाणसिद्ध न होने से द्वैतापत्ति नहीं अतः मोक्ष सुस्थिर है। ऐसी क्लिष्ट कल्पना में हेतु क्या? वेदान्तों के प्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति ही हेतु है। किं च, स्वप्रकाश आत्मरूप ज्ञान से अन्य ज्ञान में कोई प्रमाण नहीं। अनात्मा को प्रमेय होने के लिये उसी ज्ञान से सम्बद्ध होना पड़ेगा। कोई भी सच्चा सम्बन्ध आत्मा-अनात्मा का संभव नहीं अतः बलात् यही मानना पड़ेगा कि अनात्मा का आत्मा से यही संबंध है कि वह आत्मा पर कल्पित है। इसलिये अनात्मा का प्रमेय होना संभव नहीं क्योंकि कल्पित को प्रमेय नहीं मान सकते अन्यथा अबाध्य होने से वह कल्पित न रहेगा। अतः ज्ञान-ज्ञेयव्यवहारान्यथानुपपत्ति भी इसमें प्रमाण है कि अनात्मा कभी प्रमित नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, प्रमेयत्वेन अभिमत अनात्मा नियमतः विद्यमान और ज्ञायमान होता है। अनुगत होने से सत् और चित् के विशेषणरूप से ही अनात्माकी उपस्थिति माननी पड़ेगी। अनात्मविशिष्ट सदादि का अनुभव अनात्मानुभवपूर्वक मान नहीं सकते क्योंकि सदादिरहित अनात्ममात्र का अनुभव होता नहीं। अतः कल्पित हुए बिना यह संभव भी नहीं कि अनात्मा का सच्चिद्विशेषणतया अनुभव हो। विशिष्टज्ञान को विशेषणज्ञान पूर्वक होना पड़े यह नियम रज्जुसर्पादिज्ञानों में व्यभिचरित है। अनात्मा स्वरूपसत् तो प्रत्यक्षादि की प्रमेयता का अवच्छेदक हो नहीं सकता क्योंकि कभी भी आत्ममात्ररूप प्रमेय का प्रत्यक्षादि से ज्ञान होता नहीं, अतः ज्ञायमान अनात्मा ही अवच्छेदक है। अज्ञायमान अनात्मा अप्रामाणिक है। अतः ज्ञातैकसत् होने से अनात्मा की कल्पितता स्पष्ट है। आत्मा तो नित्य भासमान होने से सद्रूप है। जैसे आकाश में जलादि रहने पर भी 'घट में जल है' ऐसा व्यवहार ही प्रचलित है ऐसे घटादि अनात्मा प्रमेय हैं यह व्यवहार प्रचलित है। वस्तुदृष्टि से तो वार्तिकोक्त संवित् से भिन्न कुछ प्रमेय नहीं यही निश्चय है ॥१६०॥

नन्वेवमपि मानत्वव्याघातः स्यात्क्रियाविधेः । वेदान्तेष्वप्यनाश्वासस्तथा च प्रसजेद् ध्रुवम् ॥१६१॥
नैतदेवं यतोऽशेषमानानामपि मानता। आ परात्मावबोधात्स्यात्तत्र सर्वसमाप्तितः ॥१६२॥

वेदान्त प्रमाणभाव से अद्वितीय अनुभवात्मा को विषय करते हैं इसे सहन न करता हुआ कर्मकाण्डी पूछता है –

उक्त ढंग से वेदांतप्रामाण्य की रक्षा की कोशिश करने पर भी क्रियाविधियों की प्रामाणिकता का विरोध होगा और तब उन्ही की तरह वैदिक होने से वेदांतों में भी निश्चित रूप से अविश्वास हो जायेगा ॥१६१॥

कर्मकाण्ड तो कारकादि भेदों के सहारे टिका है। भेद यदि पूर्वोक्त प्रकार से असत् है तो कर्मकाण्ड कैसे रह सकेगा? किंच रज्जुसर्पतुल्य स्वर्ग, पशु, पुत्र आदि के लिये महान् वेद उपाय-प्रतिपादन करे यह भी युक्त नहीं; लोक में भी कोई आप्त पुरुष शुक्तरूप्य की प्राप्ति के लिये किसी महान् पौरुष का विधान नहीं करता। अतः अद्वैत सत्य होता तो ज्ञानकाण्ड ही होना चाहिये था, कर्मकाण्ड होता ही नहीं। इसलिये जैसे वेदांतान्यथानुपपत्ति भेद को असिद्ध करती है वैसे कर्मकाण्डान्यथानुपपत्ति उसे सिद्ध करती है। इतना ही नहीं, भेद की असिद्धि तो कर्म-भाग की अप्रामाणिकता से समग्र वेद को शंकित प्रमाण बनाकर स्वयं वेदांतों को निश्चित प्रमाण नहीं रहने देगी जबकि भेद को सिद्ध मानने पर लौकिक व शास्त्रीय सब व्यवस्थायें उपपन्न होंगी। वेदांतों को तो उपासनापरक या भिन्न ईश्वरद्योतक या अन्य प्रकार से आर्थवादिक मान कर समझा जा सकता है। अतः जैसे कुल के हित में हो तो एक व्यक्ति को त्याग दिया जाता है वैसे कर्मकाण्ड व लोकप्रमाणों के उपकार के लिये एक वेदांतों को तिलांजलि दे देनी चाहिये ॥१६१॥

सिद्धान्ती समझाता है कि प्रामाण्य दो तरह का होता है:

तत्त्वावेदक और व्यावहारिक। वेदांतों का प्रामाण्य तत्त्वावेदक है तथा कर्मकाण्डादि बाकी सबका व्यावहारिक, अतः कोई विरोध नहीं। जैसे बच्चों को शिक्षा देने के लिये प्रारंभ में द्रव्य को ही संख्या बताया जाता है या 'इ के स्थान पर य् होता है' इस प्रकार शब्द को अनित्य बताया जाता है, अथवा गुडूची आदि दवा पिलाने के लिये 'शिखा बढ़ेगी, पी ले' इत्यादि कहा जाता है, इसी तरह कृपालु वेद ने तत्त्वज्ञान के अधिकार की प्राप्ति के लिये कर्म का विधान कर दिया है। भेदबुद्धि सहज है, उसी में रहते हुए पशुतुल्य न बनकर शास्त्रीयमार्ग पर चलने से बुद्धि शुद्ध होगी तब वेदान्त वचनों से अभेद भास जायेगा यह श्रुति का अभिप्राय है। अतः भेद का विधान कहीं नहीं, केवल अनुवाद है जबकि अभेद का विधान है। अतः भेद में शास्त्र का प्रामाण्य असंभव है। क्रिया-विधि तो कल्पित भेद से ही उपपन्न है। लोक में भी ऐसा होता है कि जो बात कोई केवल बताने से नहीं मानता उसे उस कार्य को करने दिया जाता है व तब उसे वही निश्चय होता है जो पूर्व में उपदिष्ट हुआ था। जैसे 'गार्हस्थ्य दुःखदायी है' ऐसा कोई भी बता सकता है पर उसमें सुख है ऐसे आग्रह वाला यह तब तक मानता नहीं जब तक गृहस्थ बनकर दुःखभोग कर नहीं लेता। इसलिये माता-पिता यह जानते हुए भी कि गार्हस्थ्य में सुख नहीं है केवल कल्पित है, पुत्र को गृहस्थ बनने की प्रेरणा देते हैं। ऐसे ही शास्त्र यह जानकर भी कि कर्म से प्राप्य स्वर्गादि अफल हैं (तुच्छ हैं), स्वभावतः कर्माग्रही द्विजों को कर्मों में लगा देता है। इस प्रकार अद्वैत से कर्मविधियों की सार्थकता में कमी नहीं आती अतः शास्त्र में शंका को स्थान नहीं। लौकिक प्रमाणों की भेद-अविषयता पूर्वश्लोकों में स्पष्ट की जा चुकी है, अतः उनके उपकारार्थ भी उपनिषत् के प्रामाण्य का त्याग अनुचित है। इतना ही नहीं, जिन नीतिकारोंने कुल के हित में व्यक्ति का त्याग बताया है उन्ही ने आत्मा के लिये पूरी पृथ्वी का त्याग भी कहा है। अतः आत्मतत्त्व में निष्ठा के लिये यदि किसी का प्रामाण्य छोड़ना पड़े तो भी कोई दोष नहीं। वस्तुतः जैसे उत्सर्ग अपवाद अपने-अपने क्षेत्र में व्यवस्थित होते हैं वैसे वेदांत व अन्य प्रमाण भी पारमार्थिक और व्यावहारिक क्षेत्रों में व्यवस्थित ही हैं। इसी विषय को आचार्य कहते हैं –

ऐसा नहीं है क्योंकि सभी प्रमाणों की प्रमाणता परमात्मा के साक्षात्कार तक ही है कारण कि परमात्मज्ञान होने पर प्रमातृत्वादि कार्यों समेत अज्ञान समाप्त हो चुकता है ॥१६२॥

नातोऽवतारो मानानामैकात्म्येनैव संक्षयात्। श्येनादिविधिबाधः स्यादहिंसाविधिना यथा ॥१६३॥

परमेश्वर से आत्मा का अर्थात् अपना अभेद न भासने तक सभी प्रमाणों के अनुसार व्यवहार होवे इसमें वेदांतों का कोई विरोध नहीं। अभेदनिष्ठा हो जाने पर प्रमाता-प्रमाण आदि भेद रह ही नहीं जाता, पूर्वोक्त (श्लो. १५९) प्रमेय ही अकेला रहता है अतः तब प्रमाणों से व्यवहार की संभावना नहीं जिसका वेदांत विरोध करें। अतः कर्मकाण्डी को भय खाने की जरूरत नहीं, यह भाव है।

यदि तत्त्वनिष्ठा हो चुकने पर प्रमाणमात्र रहते नहीं तो वेदान्त भी नहीं रहेंगे अतः उन्हे भी व्यावहारिक प्रमाण कहना चाहिये, व्यावहारिक से पृथक् कर तत्त्वावेदक क्यों कहा? यह ठीक है कि तत्त्वज्ञान के बाद वेदान्त प्रमाण भी रहते नहीं किंतु क्योंकि वे परमार्थ वस्तु की प्रमिति के जनक हैं इसलिये वे तत्त्वावेदक हैं, अन्य प्रमाण जिस वस्तु की प्रमिति को पैदा करते हैं वह सोपाधिक होने से व्यावहारिक है अतः अन्य प्रमाण तत्त्वावेदक नहीं हैं। वेदान्त प्रमाण स्वयं पारमार्थिक है ऐसा अभिप्राय नहीं। भगवान् भाष्यकार ने गीताभाष्य में कहा है 'प्रमातृत्वं आत्मनो निवर्तयत्यन्त्यं प्रमाणं, निवर्तयदेव चाऽप्रमाणीभवति, स्वप्नकालप्रमाणमिव प्रबोधे' (२.६९) ॥१६२॥

तत्त्ववेत्ता शरीर धारण किये रहता है अन्यथा ब्रह्मविद्या का सम्प्रदाय ही न रहे। अतः ज्ञानानन्तर द्वैतदर्शन रहता है और शरीरपात तक प्रमाणों से ही व्यवहार चलता है। तब कैसे कह दिया कि ज्ञान हो जाने पर सकार्य अज्ञान निवृत्त हो जाता है? इसका उत्तर देते हैं –

तत्त्वनिष्ठा के बाद प्रमाण प्रवृत्त नहीं होते क्योंकि तब प्रत्यङ्मात्र रह जाने से अविद्या समेत प्रमाण क्षीण हो चुकते हैं। जैसे अहिंसाविधि से श्येनादिविधि का बाध हो जाता है ऐसे महावाक्य द्वारा हुए ज्ञान से कर्मकाण्ड का बाध हो जाता है ॥१६३॥

ज्ञान से अज्ञान का बाध हो जाता है। अज्ञान के ही संस्थानविशेष सारे जड पदार्थ हैं अतः वे भी बाधित हो जाते हैं। प्रमाण भी इंद्रियों की या चित्त की वृत्तिविशेष है अथवा शब्दादिरूप कोई भौतिक वस्तु है, अतः ये भी अविद्यापरिणाम होने से बाधित हो जायें यही उचित है। विद्वान् की व्यवहारोपपत्ति तो बाधितानुवृत्ति से हो जाती है। जली रस्सी भी रस्सी-सी लगती है। ऐसे ही प्रतिभासमात्रशरीर शरीरादि से उपदेशादि की व्यवस्था हो जाती है। मुख्य पक्ष एकजीववाद होने से विद्वान् का व्यवहार न भी मानना हो तो सिद्धान्ती को आपत्ति नहीं। हर हालत में 'स्मृतिरपि ····· विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसम्बन्धं दर्शयति' (१.१.४) आदि सूत्रभाष्योक्ति से ज्ञाननिष्ठा के बाद प्रमाणादि की सत्यता सिद्धान्ती को अस्वीकृत है।

शंका होती है कि 'न मानयोर्विरोधोऽस्ति' यह उदयानाचार्य ने नियम बताया है अतः कोई प्रमाण किसी अन्य प्रमाण का बाध नहीं किया करता। स्वयं सुरेश्वराचार्यों ने कहा है 'प्रमाणानां सतां न विरोधः, श्रोत्रादीनामिव, भिन्नविषयत्वात्' (नै.सि. ३.८५)। अतः प्रमाण होने से ऐक्यज्ञान भी कर्मविधिरूप प्रमाणों का बाध नहीं कर सकता। इसके समाधानार्थ श्येनादिविधि का बाध मूल में उदाहरणरूप से बताया है। द्वेषाविष्ट चित्त वाले के लिये श्येन का विधान् करके भी शास्त्र ने अहिंसाविधि द्वारा बता दिया कि निषिद्धफलक होने से श्येनादि पुरुषार्थ न होने से धर्म नहीं हैं। भट्टवार्तिक में कहा है कि जो कर्म फलतः भी अनर्थ से सम्बद्ध न हो वही धर्म है (श्लो. २.२६८)। इसलिये शाबर भाष्य में स्पष्ट किया है कि श्येनादि कर्तव्यरूप से विहित नहीं, जो हिंसा करने पर उतारू हो उसके लिये उपायमात्र बताया गया है (पृ. २२ आ.आ.)। श्येनवाक्य से यह बुद्धि संभव है कि 'अभिचारकामी मेरे लिये श्येन धर्म है' किन्तु अहिंसाविधि से बुद्धि होगी 'अभिचारकामना का त्याग मेरे लिये धर्म है'; एवं च उक्त कामना हटने पर श्येन की धर्मता का बाध होगा। श्लोकवार्तिककार ने श्येनादिको स्वरूपतः धर्माधर्म से विलक्षण माना है, उनमें अधर्मता को औपचारिक माना है (२.२६६)। अतः उनमें धर्मबुद्धि भ्रम है इसलिये अहिंसावाक्य से निवृत्त होती है- यह शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि उन्हीने यह पक्ष भी रखा है कि केवलाभ्युदयनिमित्तता को धर्मलक्षण में न मानकर यदि विधिगम्य सुखहेतु को धर्म कहें

कर्माण्यतो विधीयन्तेऽविद्यावन्तं नरं प्रति। न तु विध्वस्तसकलकर्महेतुं द्विजं प्रति ॥१६४॥

तो श्येन भी धर्म ही है (२.२७१), अतः श्येन में धर्मत्वबुद्धि भ्रम ही है यह नहीं कह सकते। जैसे तात्पर्य-विशेष से धर्मत्व-अधर्मत्व व्यवस्थित है वैसे प्रकृत में भी व्यावहारिक और तात्त्विक भेद से प्रामाण्य व्यवस्थित है यह भाव है।

इतना ही नहीं, विध्यादि पहले प्रवृत्त हैं और तत्त्वज्ञान विध्यादि से कर्मकर शुद्ध चित्त में ही होने वाला है अतः बाद में प्रवृत्त है। जैमिनि ने नियम किया है कि प्रमाणों में पूर्वापरभाव हो तो पूर्वप्रमाण दुर्बल होता है और प्रबल से उसका बाध हो जाता है (पू.मी. ६.५.५४)। प्रकृतियाग में कुश का प्रयोग होता है। जब विकृतियाग के अंगों को इकट्ठा करने लगते हैं तो एक सामान्य नियम है कि विकृतियाग को प्रकृतियाग की तरह करना चाहिये। अतः विकृतियाग में भी कुश की प्राप्ति शास्त्र से ही होती है, प्रामाणिक है। विकृतियाग में कुश की जगह शर का प्रयोग करने का विधान किया गया है। शर का प्रयोग किस काम में करें, यह जानने के लिये कुश के काम को समझना पड़ेगा क्योंकि वे काम ही शर से करने हैं। अतः कुश की प्राप्ति ज़रूरी भी है और पहले भी होगी क्योंकि एक तो सामान्य शास्त्र से प्राप्त है और दूसरी बात कि उसके कार्यों को उद्देश्य कर ही शर का (सरकण्डे का) विधान किया है। वहाँ शरविधि से कुश का बाध होता है। इसी तरह ऋत्विक् लोग एक-दूसरे के कच्छ को पकड़कर बहिष्पवमान में यज्ञशाला से बाहर निकलते हैं। यदि किन्हीं ऋत्विकों से कच्छ छूट जाये तो प्रायश्चित्त का विधान है। यदि उद्गाता से कच्छ छूटता है तो उस कर्म को बिना दक्षिणा पूरा कर पुनः यज्ञ करना पड़ता है जिसमें वह दक्षिणा देनी पड़ती है जो पहले देनी थी। यह ताण्ड्यमहाब्राह्मण में (६.७.१४) विधान है। यदि प्रतिहर्ता नामक ऋत्विक् से कच्छ छूटे तो सर्वस्व दक्षिणा प्रायश्चित्त है। प्रश्न होता है कि यदि प्रतिहर्ता से छूट जाये और फिर उद्गाता से तो क्या किया जाये? उत्तर है कि बाद में होने वाला दोष है उद्गाता से छूटना, उसके निमित्त से प्रायश्चित्त है अदक्षिण याग। प्रतिहर्ता से छूटना पूर्वका दोष है जिसके निमित्त से प्रायश्चित है सर्वस्वदक्षिणा वाला याग। दोनों करना संभव नहीं। ऐसे में बाद वाला निमित्त प्रबल माना जायेगा और सर्वस्वदक्षिणयाग का बाध होगा। एवं च प्रामाणिक क्रियायें भी विधिप्रमाण से बाधित होती रहती हैं यह अपने तंत्र में मानता हुआ मीमांसक ज्ञानविधि से बाधित होने को न स्वीकारे यह असंगत है यह अभिप्राय है ॥१६३॥

जिसे निश्चय है 'मैं ब्राह्मणादि हूँ' इत्यादि, उसी के लिये कर्मों का विधान है अतः ज्ञान से ऐसा निश्चय न हटने तक कर्मविधियाँ मानी जायें यह सिद्धान्ती को भी इष्ट है। उक्त निश्चय हट जाने पर विधिकी विषयता नहीं रहती यह अभिप्राय है। वैदिक होने पर भी अध्यासवान् अधिकारी को विषय करने वाला होने से कर्मभाग तत्त्वावेदक प्रमाण नहीं, सर्वतः विरक्त अधिकारी को विषय करने वाला होने से ज्ञानभाग तत्त्वावेदक है। यही कहते हैं –

अविद्या वाले नर के लिये ही कर्मों का विधान किया जाता है न कि ऐसे द्विज के लिये जिसने सभी कर्मों के हेतुओं का विध्वंस कर दिया हो ॥१६४॥

अविद्या से कार्याविद्या समझनी चाहिये। नर से अधिकारी विवक्षित है। शास्त्र में मनुष्य का अधिकार होने से नर कह दिया। शास्त्र ब्राह्मण्यादि अभिमानों का कहीं विधान नहीं करता। जिन्हे वे अभिमान हैं उन्हे उन अभिमानों के अनुसार कर्तव्याकर्तव्य बता देता है। अतः अभिमानी को ही शास्त्र से ऐसा मालूम पड़ता है 'यह विधान मेरे लिये है,' जिसे अभिमान नहीं उसे ऐसा लग नहीं सकता। क्षत्रियादि को वाजपेयविधि सुनकर 'मुझे कुछ करने को कहा जा रहा है' ऐसा नहीं लगता क्योंकि उनमें ब्राह्मणत्वाभिमान नहीं। कर्म के हेतु पहले (श्लो. १११-११३) बता चुके हैं। उन सबका मूल है अविद्या। अविद्या समेत सब कारणों का विध्वंस अर्थात् बाध हो चुकने पर मुक्त को कभी 'यह मुझे कर्तव्य बताया जा रहा है' अथवा 'यह कार्य मैं करूँ' ऐसा लगता ही नहीं। अतः उसके लिये कोई विधि हो ही नहीं सकती। ऐसे मुक्त को द्विज भी इसीलिये कहा कि ज्ञान से पूर्व उसे द्विजत्वाभिमान था। ज्ञानानन्तर उसे वह भी अभिमान नहीं है। अथवा द्विज से ब्राह्मण समझकर वक्ष्यमाण (बृ. ३.५) ढंग से मुक्त को द्विज अर्थात् ब्राह्मण कहा है। उसे कभी अपने कर्तृत्व की संभावना

सर्वकर्मनिरासेऽतो ह्यधिकारो विवेकिनः। यथोक्तन्यायतः सिद्धो न तु कर्मसु कर्हिचित् ॥१६५॥
कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते। शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यापृतिस्तथा ॥१६६॥

न होने से उसके लिये कोई कर्म विहित नहीं। जिस तरह कोई बुद्धिमान् अंधे को देखने के लिये नियुक्त नहीं करता, लंगड़े को आज्ञा नहीं देता 'दौड़ो,' उसी प्रकार पाणि-पाद आदि सब उपाधियों से स्वयं को सदा अतीत जानने वाले को शास्त्र कोई आज्ञा नहीं देता।

वादी कहना चाहता है कि विधिभाग एवं प्रत्यक्षादि तत्त्वावेदक हैं, प्रमाण होने से, वेदांतों की तरह। किंतु यहाँ हेतुभूत प्रमाण का क्या अर्थ है? उसका अर्थ तत्त्वावेदक नहीं कह सकते क्योंकि तब साध्य व हेतु एक ही होने लगेगा जिससे अनुमान ही व्यर्थ हो जायेगा। यदि प्रमाण का अर्थ है व्यवहार का अंग होना तो हेतु व्यभिचारी होगा क्योंकि स्वप्रबोध आदि व्यवहार के अंग हैं पर तत्त्वावेदक नहीं। अज्ञातज्ञापकत्व को भी प्रमाणत्व नहीं कह सकते क्योंकि तब सभी प्रमाणों में आत्मविषयकता ही रहेगी यह कह चुके हैं (श्लो. १५९-१६०)। अबाधित ज्ञानजनकत्व कहें तो हेतु असिद्ध होगा क्योंकि अखण्डज्ञान से बाकी ज्ञान बाधित हो ही जाते हैं, ज्ञान के विषयका बाध ही ज्ञान का बाध कहा जाता है। तद्वति तत्प्रकारक ज्ञान को भी प्रमा नहीं कह सकते क्योंकि अनिर्वचनीयख्याति में 'अयं सर्पः' आदि भ्रमों में अतिव्याति होगी। इसलिये वादी का मनोरथ सिद्ध हो नहीं सकता ॥१६४॥

शंका होती है कि ब्रह्मवेत्ता के लिये न सही, विविदिषु के लिये तो कर्मविधि है ही और वेदांत भी विविदिषु के लिये ही बोधक है, अतः तुल्य होने से कर्मविधि को भी तत्त्वावेदक क्यों न माना जाये? इसका समाधान करते हैं –

पूर्वोक्त विचार से यही सिद्ध हुआ कि विवेकी का अधिकार सब कर्मों के त्याग में है, कर्मों में कभी नहीं ॥१६५॥

मोक्ष कर्मसाध्य हो तो सातिशय, अनित्यादि होगा अतः मुमुक्षु कर्म का आदर कर नहीं सकता। वह तो साधनसम्पत्ति इकट्ठी कर संन्यासपूर्वक श्रवणादि में ही तत्पर हो सकता है। जैसे उत्तर की ओर जाने वाले को दक्षिण का मार्ग सुनने से 'यह मार्ग मेरे लिये है' ऐसा नहीं लगता ऐसे मोक्ष चाहने वाले को बंधक कर्म अपने लिये कर्तव्य नहीं लगते। उन्हे वह अपना इष्टोपाय नहीं समझ पाता। अतः कर्म में वह अधिकारी बन नहीं सकता। बल्कि पूर्व में (श्लो. १३०) कर्म मोक्ष के प्रतिकूल बताये जा चुके हैं अतः जैसे अतिपीडित रोगी अपने रोग के वर्धक पदार्थ से बहुत दूर रहता है ऐसे मुमुक्षु कर्मप्रवृत्ति से बचता ही रहेगा। एवं च विविदिषुविषयकत्वरूप साम्य न होने से विधियों में तत्त्वावेदकता का प्रसंग ही नहीं है ॥१६५॥

विवेक-वैराग्य वाले को भी तत्त्वनिष्ठा होने से पूर्व कर्मत्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि भगवान् ने कहा है कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्म छोड़ने नहीं चाहिये, करते ही रहना चाहिये, (गी. १८.३); तब यह कैसे कहा कि विविदिषु को कर्माधिकार नहीं? भगवद्वचनों की एकवाक्यता का विचार किये बिना ही यह प्रश्न उठा है ऐसा समझते हुए उत्तर देते हैं –

कारकों का व्यवहार अर्थात् कर्म चलता रहने पर आत्मरूप शुद्ध वस्तु समझ में नहीं आती। विवेक से शुद्ध वस्तु समझ लेने पर कारकों का व्यापार कर्तव्य नहीं लगता ॥१६६॥

कर्ता करण आदि कारकों से किया व्यवहार ही कर्म है। उसमें लगा रहे तो व्यक्ति को आत्मजिज्ञासा ही असंभव है। जिज्ञासार्थ ही यदि कर्म किये हों तो कथंचित् जिज्ञासा उत्पन्न हो भी जाये तो बुद्धि कर्म में लगी होने से आत्मा का ज्ञान सर्वथा असंभव है। अतः विवेक होने से पूर्व ही कर्म करने चाहिये, तदनन्तर नहीं। यहाँ विवेक का अर्थ यह दृढ निश्चयमात्र है कि प्रपंच सत्य नहीं है और मैं अकर्ता-अभोक्ता परमात्मा हूँ। यह निश्चय विचारपूर्वक व शास्त्रश्रद्धा से संभव है। विवेक होने पर कर्मत्याग ही संगत है। भगवान् ने भी अतः कर्म व कर्मत्याग की क्रमिक कारणता कही है (६.३)। यज्ञादि की कर्तव्यता का वचन तो केवल नित्यकर्म की स्तुति के लिये है। अत एव ब्रह्मप्राप्ति के उपाय बताते हुए कहा

कारकाकारकधियोर्नैकदैकत्र वस्तुनि। विरोधात्सम्भवोऽस्तीह प्रकाशतमसोरिव ॥१६७॥

कि सब कर्मों को अपने चित्त से भी निकाल कर बुद्धियोग का सहारा लेना चाहिये (१८.५७)। विवेक से 'मैं कर्ता हूँ, कर्मफल प्राप्त कर सकता हूँ' यह अभिमान ढीला पड़ जाता है अतः कर्माधिकार संभव नहीं। जैसे किसी अफसर को यह प्रामाणिक सूचना मिल जाये कि उसके निलम्बन के आदेश मुख्यालय से चल चुके हैं तो आदेश मिलने तक यद्यपि उसमें अफसरी का अभिमान बना रहता है तथापि बहुत ढीला हो जाता है और अपने कनिष्ठ व्यक्ति के सहारे ही वह कार्य चलाता है क्योंकि उसी पर कार्यभार छोड़कर जाना है ऐसा उसे निश्चय है। ऐसे ही शास्त्र पर श्रद्धापूर्वक किये अन्वय-व्यतिरेक से इतना निश्चय भर हो जाये कि वस्तुतः मैं कर्ता-भोक्ता नहीं और प्रपंच सत्य नहीं, भले ही उपाधि से असम्बद्ध अपने स्वरूप का साक्षात्कार न बना रहे, तो व्यक्ति कर्म में प्रवृत्ति नहीं कर सकता। अध्यास से बलात् जितना कराया जाता है उसे भी वह अधिष्ठानादि पाँच से (गी. १८.१४) होता हुआ समझने की कोशिश करता है क्योंकि जानता है कि जीवन्मुक्तिदशा में इन्ही पर कार्यभार छोड़ना है। अतः जीवननिर्वाह के कार्य तथा स्वानुभवानुसार अन्य भी जो 'मेरा कर्तव्य है' ऐसे उपस्थित हो जाते हैं उन्हे करने पर भी वह कर्माधिकारी नहीं क्योंकि उपस्थित होने पर भी उसे भीतर से पता रहता है कि वास्तविकता कुछ और है। विधि से कर्मों का ग्रहण किया होने से दृढापरोक्ष के पहले यों ही उन्हे छोड़े तो बुद्धि में खटकता रहता है अतः कृपाकर शास्त्र ने कर्मों के वैध त्याग.का विधान कर दिया। जैसे ही विवेक का उन्मेष हो, यथाविधि कर्मत्याग कर देने से मन पर कोई बोझ नहीं रह जाता और त्वमर्थ के साक्षात्कार पूर्वक अखण्डार्थबोध के लिये प्रयास निर्बाध हो सकता है। अतएव संन्यास को दृष्टोपकारक मानना ही मुख्य पक्ष है। यद्यपि ज्ञानलाभ तक गुरुशुश्रूषा, श्रवण, शौच, शिवार्चन, ध्यान, जप, योग आदि का अनुष्ठान आज्ञानुसार करना आवश्यक है तथापि वह सब अकर्तृत्वबोध के अनुकूल और निवृत्तिप्रधान है, कर्मतुल्य नहीं है। यदि किसी उत्कट विवेकी को आश्रमोचित व्यवहार भी कर्म की तरह अकर्तृ-बुद्धि बनाये रखने में बाधक लगें तो वह उन्हे भी छोड़े ही यही सिद्धांत है। आचार्यों ने बताया है कि जैसे वरविघात के लिये कन्या नहीं ब्याही जाती वैसे श्रवणादि के अभ्यास का विधान इसलिये नहीं कि अकर्तृबुद्धि हटाकर कर्तव्यरूप से अभ्यास किया जाये, बल्कि इसीलिये है कि कर्तृबुद्धि बनने पर उसे हटाने के लिये अभ्यास किया जाये। सर्वथापि प्रवृत्ति तो चाहे दृष्टफलक हो या अदृष्ट फलक, हेय ही है ॥१६६॥

विवेकी को यह ज्ञान है कि आत्मा कर्तृकारक नहीं है व अनात्मपदार्थ जो करणादि कारक है वे सत्य नहीं हैं। यदि उसे कर्माधिकार मानो तो यह स्वीकारना होगा कि उसे आत्मा कर्ता भी लगता है और दधि आदि सत्य भी लगते हैं। 'लगते हैं' अर्थात् निश्चित रूप से प्रतीत होते हैं, विपरीत निश्चय से ग्रस्त हुए नहीं। विपरीत निश्चय साक्षात्काररूप न होने से बाध नहीं हुआ पर शास्त्र व विवेकं से निश्चय है सही। ऐसी प्रतीति तो कर्म में प्रवृत्ति होने देगी नहीं, अतः यहाँ कर्माधिकार में प्रयोजक बनने वाला 'लगना' निश्चय रूप प्रतीति है। अब प्रश्न होता है कि क्या दोनों निश्चय – कर्त्ता हूँ व कारक हैं तथा अकर्ता हूँ व कारक असत्य हैं ये बुद्धियाँ – साथ-साथ होते हैं कि क्रम से होते हैं? साथ-साथ तो हो नहीं सकते यह कहते हैं –

जैसे लोक में एक ही वस्तु में एक ही समय, एक ही जगह प्रौढ प्रकाश और गाढान्धकार दोनों नहीं हो सकते, ऐसे ही कारकबुद्धि और अकारकबुद्धि दोनों एक आत्मवस्तु में इकट्ठे नहीं हो सकती क्योंकि परस्पर विरुद्ध हैं ॥१६७॥

अविरुद्ध निश्चय तो कथंचित् युगपत् एकत्र अवस्थित हो भी जायें, परस्पर विरोधी निश्चय रहें यह असंभव है। किसी एक निश्चय में दार्ढ्यरूप बल अधिक हो तो वह दूसरे को काट देगा और तुल्य बल वाले दोनों हों तो संशय का स्वरूप हो जायेगा।

पूर्ववार्तिक में शुद्धवस्तु का दर्शन और कारकव्यवहार का विरोध कहा था। उसमें हेतु क्या – यह बताने के लिये शुद्ध का ज्ञान कारक व्यवहार के व्यापकीभूत कारकज्ञान का विरोधी है, यह इस वार्तिक में कहा है अतः पुनरुक्ति की

अविरोधः क्रमेण स्यात्स्थितिगत्योरिवेति चेत्। नाऽऽत्मज्ञानस्य कूटस्थवस्तुतन्त्रत्वहेतुतः ॥१६८॥
नौष्ण्यात्मको मितो वह्निः क्रमशोऽक्रमशोऽथ वा। वस्तुतः शीतततामेति कर्तृतन्त्रं तथा भवेत् ॥१६९॥

शंका नहीं उठ सकती। जो लोग पूर्व श्लोक में कारकव्यवहारपद से कर्त्राद्यभिमान समझते हैं उनके मत में पुनरुक्ति संभव है अतः वे प्रकृत श्लोक से ज्ञान-कर्मसमुच्चय के निवारण को व्यक्त करते हैं। किन्तु पुरी जी शास्त्रप्रकाशिका का ही अनुसरण करते हैं ॥१६७॥

कारक व अकारक बुद्धियाँ साथ-साथ संभव नहीं यह कहा। यदि उन्हे क्रमशः मानें तो क्या पहले कारकबुद्धि बाद में अकारकबुद्धि यह क्रम है या पहले अकारकबुद्धि और बाद में कारकबुद्धि यह क्रम है? प्रथम क्रम तो सिद्धान्ती को स्वीकृत ही है। द्वितीय क्रम संभव नहीं। यही बताते हैं –

यदि कहो कि रुके रहने और चलने की तरह क्रम से दोनों बुद्धियों का अविरोध होगा; तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि अकारक बुद्धि अविकारी ब्रह्म को विषय करती है ॥१६८॥

जैसे रज्जु ज्ञान के अनन्तर सर्पज्ञान नहीं माना जाता वैसे वास्तविक अकारक परमात्मा के ज्ञान के बाद आत्मा के कर्तृत्वादि का ज्ञान मानना भी संगत नहीं। अकारकबुद्धि जाति आदि का अभिमान भंग कर देती है अतः जाति आदि के निमित्त से होने वाले कर्मों में प्रवृत्ति दूरनिरस्त है। पूर्व में कर्तृत्वानुभव है व बाद में अकर्तृत्व की प्रमा, यही क्रम संभव है। पूर्व में भी कर्तृत्व है ऐसा नहीं क्योंकि आत्मा हमेशा अकर्ता ही है। सर्प का रज्जु से न क्रमशः अविरोध है न युगपत्, सर्पज्ञान का भले ही क्रमशः अविरोध हो जाये। विवर्तवाद में सर्प का युगपत् ही अविरोध है यह नहीं कहना चाहिये क्योंकि विवर्तवाद में वस्तुतः सर्प तुच्छ ही है ॥१६८॥

जो कहते हैं कि अकारकबुद्धि के बाद कारकबुद्धि संभव है उनसे सिद्धान्ती पूछता है: अकारक आत्मा की प्रमा होने के बाद कारकबुद्धि जिस कारकत्व को जानती है वह कल्पित है या अकल्पित? कल्पित है ऐसा कह नहीं सकते क्योंकि कल्पित कारकता के अधीन होने वाला कर्माधिकार भी कल्पित होने लगेगा जो पूर्वपक्षी को इष्ट नहीं। अतः कहना होगा कि अकल्पित कारकत्व ही जाना जाता है। यह कहना गलत है यह बताते हैं –

प्रमाण से ज्ञात गर्मस्वरूप वाली वह्नि क्रम से या बिना क्रम के वस्तुतः ठण्डे स्वरूप वाली नहीं हो सकती। कर्ता के अधीन होने वाली क्रिया ही की, न की और अन्य प्रकार से की जा सकती है ॥१६९॥

जब ज्ञान से पूर्व भी जाना जाता कर्तृत्वादि अकल्पित नहीं तो ज्ञान के अनन्तर अकल्पित कारकत्व कैसे जाना जायेगा! क्रिया में यह संभव है कि कोई काम करें, न करें या अलग ढंग से करें क्योंकि क्रिया में करने वाला स्वतंत्र है। इसमें शास्त्रीय दृष्टांत है षोडशी ग्रहण व अग्रहण का। सामगान सहित मंत्र पढ़ने को स्तोत्र कहते हैं। ज्योतिष्टोम याग की जिस स्तोत्र से समाप्ति हो, अर्थात् जिस स्तोत्र के अनंतर कोई और स्तोत्र न आये, तो ज्योतिष्टोम उस स्तोत्रनामक संस्था वाला कहा जाता है। मुख्य रूप से चार स्तोत्रों से ज्योतिष्टोम का समापन संभव है अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र। यदि ज्योतिष्टोम का अंतिम स्तोत्र अग्निष्टोम है तो क्रतु को अग्निष्टोमसंस्थाक ज्योतिष्टोम कहेंगे इत्यादि। ताण्ड्यमहाब्राह्मण में दो वाक्य हैं: एक कहता है कि अतिरात्रसंस्थाक ज्योतिष्टोम में षोडशीनामक ग्रह का ग्रहण करना चाहिये और दूसरा कहता है कि नहीं करना चाहिये। मीमांसादर्शन में (१०.८.६) निर्णय किया है कि दोनों वाक्यों के प्रामाण्य से शास्त्र का अभिप्राय विकल्प बताने में है कि उक्त ग्रह का ग्रहण करे या न करे, दोनों हालतों में अतिरात्र संपन्न हो सकता है। अथवा तैत्तिरीय ब्राह्मण में (३.८.१६.४) कहा है कि सूर्योदय होने के बाद होम करे और वहीं यह भी कहा है कि सूर्योदय न हुआ हो तभी होम कर ले। यहाँ भी विकल्प ही अभिप्रेत है। क्रिया होने के कारण यह संभव है कि षोडशिग्रहण और षोडशी का अग्रहण दोनों परस्पर विरुद्ध कार्य वस्तुतः किये जा सकें। किन्तु ज्ञान में यह असंभव है। वस्तु ऐसी है, ऐसी नहीं है, दोनों बातें सही नहीं हो सकती। एक ही चीज परमार्थतः स्थाणु भी हो और पुरुष भी यह

भेदाभेदात्मकत्वाच्चेदेकस्यापीह वस्तुनः। अविरोधो न तन्न्याय्यं त्वदुक्तार्थविरोधतः ॥१७०॥
नानेकस्यैकता न्याय्या तथैकस्याप्यनेकता। वस्तुतन्त्रत्वतो बुद्धेर्न चेदेवं मृषा मतिः ॥१७१॥

असंभव है। यह बात जन्मादिसूत्र के भाष्य में आचार्यों ने विस्तार से स्पष्ट की है। आत्मा वास्तविक है अतः कर्ता व अकर्ता दोनों वह सचमुच हो यह संभव नहीं। इसलिये तत्त्वज्ञान के बाद अकल्पित कारत्व का ज्ञान होता है यह पक्ष निरस्त हुआ ॥१६९॥

कुछ विचारक भेदाभेदवाद का समर्थन करते हैं। जैसे एक ही जल समुद्ररूप से अभिन्न है, फेन तरंग आदि रूप से भिन्न है, ऐसे ही ब्रह्म भिन्न व अभिन्न दोनों हो सकता है। ऐसा मानने पर प्रत्यक्षादि प्रमाण, कर्मशास्त्र और अद्वैतज्ञान सब का तालमेल बैठ जाता है। ब्रह्म को परिणामी मान लेना चाहिये किंतु परिणत होने (बदलने) पर भी 'वह ब्रह्म है' यह ज्ञान कभी बाधित नहीं होता अतः है ब्रह्म नित्य ही। स्वभाव से अकारक होने पर भी अपने परिणामों द्वारा वह कारक भी है। अतः दोनों बुद्धियों को स्थान मिल जाता है। इस शंका को उठाकर समाधान करते हैं –

शास्त्र में बतायी आत्मवस्तु भेदाभेदात्मक है अतः दोनों बुद्धियाँ बिना विरोध के रह सकती हैं? यह बात युक्तिसंगत नहीं क्योंकि तुम्हारी बात का अर्थ परस्पर विरुद्ध है ॥१७०॥

एक वस्तु तत्त्वतः कारक व अकारक हो यह बात युक्ति के अनुकूल नहीं है। इस बात को मूल उपनिषत् की व्याख्या में बारम्बार वार्तिककार स्पष्ट करेंगे। वादी का कथन कि भिन्न ही अभिन्न है सर्वथा असंगत है। जो तो समुद्र व तरंगादि का दृष्टांत है वह भी इसीलिये संगत है कि तरंगादि जल में कल्पित हैं ॥१७०॥

एक वस्तु का भिन्नत्व और अभिन्नत्व दोनों वास्तविक हों तो विरोध है, अवास्तविक हों तो विरोध नहीं यह स्पष्ट करते हैं –

अनेक की एकता और एक की अनेकता दोनों होना असंगत है क्योंकि एकता व अनेकता की साधक बुद्धियाँ वस्तु के अधीन हैं। यदि भिन्नाभिन्नत्व-बुद्धि मिथ्या हो तो कोई दोष नहीं ॥१७१॥

एक के विषय में यदि दो ज्ञान होते हैं 'यह भिन्न है' एवं 'यह अभिन्न है' तो दोनों में किसी को भी प्रमा होने के लिये दूसरे ज्ञान के विषय का उपमर्दन करना ही पड़ेगा। भाव और अभाव की तरह परस्पर विरुद्ध विषयों वाले ज्ञान एक ही को विषय करते हुए प्रमा हों ऐसा कहीं देखा नहीं जाता। यदि वस्तु में सचमुच भिन्नत्व है तब भेदबुद्धि प्रमा है क्योंकि यथाविषय है। प्रमा ज्ञान पदार्थ के अधीन होता है, यही उसका प्रमात्व है कि वह पदार्थ का ज्ञान है किंतु वैसा नहीं जैसा पदार्थ नहीं है। पदार्थ भिन्न नहीं हो तो उसका भिन्नत्वेन ज्ञान प्रमा न होगा। यदि वस्तु भिन्न है और उसको विषय करती भेदबुद्धि प्रमा है तो अभेदबुद्धि होगी ही नहीं, कम से कम प्रमा तो नहीं हो सकेगी। वस्तु सचमुच अभिन्न हो तो परिस्थिति ठीक इसके विपरीत हो जायेगी। क्रिया में विकल्प होते हैं पर विषयाधीन ज्ञान में नहीं, अतः दोनो बुद्धियों को विकल्प से प्रमा मान लें यह भी कर नहीं सकते। अन्यथा 'यह चाँदी है' व 'यह चाँदी नहीं है' इन दो बुद्धियों को भी विकल्प से प्रमा मानना होगा। इसलिये वस्तु की भेदाभेदरूपता मानना ग़लत है।

'यह भिन्न और अभिन्न है' ऐसा मिथ्या ज्ञान होता हो तो सिद्धान्ती को कोई आपत् नहीं। मिथ्या ज्ञान हो तभी ऐसा ज्ञान संभव है, अन्यथा यों विरुद्ध ज्ञान हो ही नहीं सकता है। भिन्नाभिन्नत्वज्ञान भले ही स्पष्ट न हो, स्वप्न में अनेक ऐसे ज्ञान होते हैं जिनके विषय अत्यंत विरुद्ध होते हैं, अतः मिथ्या ज्ञान मानने से सिद्धांत में हानि नहीं।

अथवा 'न चेदेवम्' का अर्थ है कि यदि बुद्धि विषयाधीन (विषयानुसारी) न हो तो वह भ्रमरूप होगी। अथवा न्यायतत्त्वविवरण के अनुसार 'एवं चेद् मृषा मतिर्न स्यात्' ऐसा सम्बंध भी है। तात्पर्य है कि यदि भेदाभेदज्ञान का विकल्प से या समुच्चय से प्रामाण्य हो जाये तो कोई ज्ञान मिथ्या नहीं रह जायेगा क्योंकि 'यह चाँदी है', 'यह चाँदी नहीं है' इत्यादि ज्ञान भी उसी तरह प्रमा होने लग जायेंगे। कल्पलता की योजना में भेदज्ञान व अभेदज्ञान दोनों यदि प्रमा हैं तो क्या

यथा चास्य विरुद्धत्वं तथोदर्के प्रवक्ष्यते। ऐकात्म्यस्यैव मेयत्वं तस्यैवाप्रतिबोधतः ॥१७२॥
वस्तूनीह प्रमीयन्ते व्यावृत्तानि परस्परम्। अभावेन प्रमाणेन तेनोक्तं ते विरुध्यते ॥१७३॥

दोष होगा यह तीन चरणों से कहकर यदि दोनों अप्रमा हैं तो क्या दोष है यह अंतिम चरण से बताया कि तब वस्तु न भिन्न होगी न अभिन्न, अतः शून्य ही होगी। अतः 'एवं मतिर्मृषा चेद्, न एव स्यात्' यह सम्बंध है; 'न' से शून्य कहा है। इस योजना में 'भिन्नाभिन्नम्' ऐसी असंभावित बुद्धि की कल्पना नहीं करनी पड़ती। सर्वथापि तात्पर्य है कि सचमुच वस्तु को भिन्न और अभिन्न दोनों नहीं मान सकते है ॥१७१॥

आत्मा एकरस है, भेदाभेदात्मक नहीं यह प्रथमाध्याय की समाप्ति में (पृ० ५७०-५७५ M.R.I.) तथा अन्यत्र बताया जायेगा यह सूचित करते हैं –

जैसे कि यह पक्ष विरोधोपहत है वैसा आगे समझाया जायेगा ॥१७१$\frac{१}{२}$॥

सम्बन्धग्रंथ के लिये इस प्रसंग में इतना ही विचार पर्याप्त होने से भाविग्रंथ का निर्देश है। भेदाभेदवादी के मत में उपनिषद्विचार जरूरी है अतः वह आरंभ पर आक्षेप नहीं करता। इसलिये उसका मतनिरास उपनिषद्विवेचन में ही संगत है। यहाँ तो प्रसंगवश कर्मविधि की वास्तविक अप्रमाणता समझाने के लिये उक्त मत का खण्डन कर दिया, यह भाव है ॥१७१$\frac{१}{२}$॥

भेद व अभेद दोनों होना विरुद्ध है तो भेद ही सत्य और अभेद काल्पनिक क्यों न हो जाये? दूर से देखने पर 'एक पेड़ है' ऐसा दीखता है जबकि वस्तुतः निकट खड़े दो तीन पेड़ होते हैं। ऐसे ही नानात्व तात्त्विक तथा एकता अविद्या से है यही क्यों न माना जाये? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं –

क्योंकि एकरस आत्मस्वरूप का ही अज्ञान है इसलिये वही प्रमेय है, वास्तविक है ॥१७२॥

परमात्मा का अज्ञान है। अज्ञातज्ञापक ही प्रमाण होता है। अतः परमात्मा ही प्रमाण के समझ आ सकता है। नानात्वरूप प्रपंच का अज्ञान संभव नहीं अतः अज्ञात न होने से वह प्रमाण का विषय हो नहीं सकता। प्रमाविषय ही वास्तविक होता है। अतः अद्वैत ही वास्तविक और द्वैत उस पर आरोपित है यही मानना पड़ेगा। आगे (१.४.७; ३१० प्रभृति) इस विषय को स्पष्ट करेंगे। अनात्मा जड होने से उसमें अज्ञान का न प्रयोजन है, न सिद्धि। प्रमाण रहने न रहने से ही अनात्मा के ग्रहण व अग्रहण की व्यवस्था बन जाती है। अनात्मा में आश्रित या तद्विषयक अज्ञान से कोई फल नहीं जिसकी उपपत्ति के लिये उसमें अज्ञान स्वीकारा जाये। अनात्मा जड है, स्वयं अप्रबोधरूप है, अज्ञानरूप है। अज्ञान को अज्ञान क्या विषय करे? यदि ज्ञानरूप से जड सिद्ध होता तो भले ही अज्ञान उसे विषय करता। जड तो अज्ञानरूप से ही सिद्ध है। अतः ज्ञानरूप चेतन का और उसीको अज्ञान संभव है। ज्ञान से उसी में अज्ञान की निवृत्ति भी होनी है। अज्ञानकी अपेक्षा के बिना चेतन स्वयं सिद्ध है। इसलिये चेतन का ही अज्ञान होने से वही प्रमेय हो सकता है अतः सत्य है, अचेतन भेद की प्रमा संभव न होने से वही असत्य है। इस प्रकार भेद-अभेद में किसे सत्य मानें इसकी विनिगमना स्पष्ट कर दी ॥१७२॥

प्रश्न है कि एकात्मता क्या प्रत्यक्षादि से प्रमित होती है, या आगम से, या दोनों से? प्रत्यक्षादि से तो भेद दीख ही रहा है अतः वह एकात्मता में प्रमाण नहीं। प्रत्यक्षादि से विरुद्ध बात शास्त्र भी कह सकता नहीं क्योंकि प्रमाणों में विरोध होता नहीं। अतः दोनों से एकात्मता नहीं प्रमित होती। यही प्रश्न श्लोक में उपस्थित करते हैं –

व्यवहारभूमि में अभावपर्यन्त सभी प्रमाणों से वस्तुएँ परस्पर भिन्न-भिन्न ही प्रमित होती है अतः तुम सिद्धान्ती द्वारा कही बात (कि एकात्मता ही एकमात्र प्रमेय है) विरुद्ध है ॥१७३॥

मूल में 'वस्तूनि' पाठ ही होना चाहिये (M.R.I. में वस्तुनीह अपमुद्रण है)। टीका में 'अभावेन तदन्येन' छपा है।

भेदे वा यदि वाऽभेदे संसृतेर्ब्रह्मणा सह। ब्रह्मणोऽब्रह्मता तद्वद्विद्यानर्थक्यसांशते ॥१७४॥
ब्रह्माविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम्। निरविद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते ॥१७५॥

आनन्दाश्रम संस्करण में 'तदन्तेन' पाठभेद दिखाया है। विद्यासागरी में 'अभावेनेति उपलक्षणं प्रत्यक्षादीनाम्' कहा है। अतः सभी प्रमाणों को संगृहीत कर लेना चाहिये। प्रत्यक्षादि विरुद्ध बातें जहाँ वेद में आयी हैं वहाँ उनका प्रत्यक्षादि के अनुकूल ही अर्थ किया गया है। यह श्लोक ५६७ की व्याख्या में सोदाहरण बताया जायेगा। अतः भेद प्रत्यक्षादिसिद्ध रहते शास्त्र इससे विरुद्ध अभेद का प्रतिपादक माना जाये यह बात स्वीकृत मर्यादा के विरुद्ध है यह तात्पर्य है ॥१७३॥

किंच सिद्धान्ती ने कहा (श्लो १७२) कि प्रपंच अज्ञात नहीं अतः प्रमेय नहीं, वह आत्मा पर आरोपित है। इस पर भी प्रश्न होता है कि प्रपंच का ब्रह्म से भेद है या अभेद? दोनों ही मानना सदोष होगा –

संसार का ब्रह्म से भेद हो चाहे अभेद, दोनों हालतों में दोष है। भेद है तो ब्रह्म की अब्रह्मता हो जायेगी। यदि अभेद है तो ब्रह्मविद्या निष्फल होगी या ब्रह्म की सांशता होगी ॥१७४॥

ब्रह्म व्यापक को कहते हैं। संसार उससे अन्य हो तो वस्तुपरिच्छेद होने से ब्रह्म अव्यापक होगा अतः उसकी अब्रह्मता होगी। अभेद पक्ष में भी दो ढंग संभव हैं : प्रपंच का ब्रह्म से अभेद है; अथवा ब्रह्म का प्रपंच से अभेद है। यहाँ भेद सहिष्णु अभेद विवक्षित होने से उपपत्ति जाननी चाहिये। यदि प्रपंच का ब्रह्म से अभेद मानें तो विद्या से जैसे ब्रह्म निवृत्त नहीं होगा वैसे संसार भी न हो पायेगा अतः विद्यानिष्फलता दोष है। यदि ब्रह्म संसार से अभिन्न है तो सांश संसार से अभिन्न होने के कारण वह भी सांश होगा, यह दोष है। ये सब दोष सिद्धांती के प्रति पूर्वपक्षी ने दिये हैं। यद्यपि सिद्धांती ने आविद्य व आरोपित कह कर इन विकल्पों को स्थान नहीं दिया था तथापि वादी मिथ्यात्व के विस्मरण से प्रश्न कर रहा है ॥१७४॥

सिद्धान्ती उक्त प्रश्न पर यही कहेगा : संसार ब्रह्म से भिन्न है अतः तत्त्वज्ञान की विफलता नहीं। किंतु इससे ब्रह्म में वस्तुकृत परिच्छिन्नता नहीं आती क्योंकि संसार अविद्यामय होने से वास्तविक नहीं। जैसे सर्प से रज्जु में सद्वितीयता नहीं आती वैसे संसार से महेश्वर में भी नहीं आती।

इस सिद्धान्ताभिप्राय पर प्रश्न उठता है: अविद्या क्या ब्रह्म का आश्रयण करती है, या जीव का, या किसी का आश्रयण न करने वाली वह स्वतंत्र वस्तु है? तीनों पक्षों में दोष है, यह पूर्ववादी कहता है –

यदि ब्रह्म को अविद्या वाला मानते हो तो यह तुम सिद्धान्ती के पक्ष में एक बड़ा दोष है। ब्रह्मरूप होने से अविद्यारहित जीव में अविद्या मानना भी महान् दोष है। यदि अविद्या को स्वतंत्र वस्तु मानो तो ब्रह्मज्ञान निष्प्रयोजन होगा ॥१७५॥

ज्ञान ही जिसका स्वभाव है, शास्त्रों में जिसे सर्वज्ञ कहा है, उस ब्रह्म को अविद्यावान् कहने में सिद्धांती को लज्जा आनी चाहिये। जीव को ब्रह्म से अभिन्न मानने वाला सिद्धान्ती जीव में अविद्या है यह भी कहे तो अनुचित है क्योंकि तब ब्रह्म को ही अज्ञानी कहेगा जो गर्हणीय है। और अगर किसी पर आश्रित नहीं ऐसी स्वतंत्र चीज अज्ञान है तो वह वैसे ही ज्ञाननिवर्त्य न होगी जैसे ब्रह्म और इस प्रकार तत्त्वज्ञान अविद्यानिवर्तक न होकर सिद्धांती के मत में निष्प्रयोजन हो जायेगा। ब्रह्म में अविद्या मानने को बड़ा दोष कहा है क्योंकि इस मान्यता से बहुतेरी अनुपपत्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। यह बात श्रीनृसिंहपुरी ने इस श्लोक का विवरण करते हुए विस्तार से व्यक्त की है।

श्लोक १७३ से १७५ तक आक्षेपग्रंथ है जिसमें आत्माद्वैत का प्रत्यक्षादि से विरोध दिखाकर और अविद्या से व्यवस्था बनना अशक्य बताकर एकात्मतावाद को अयुक्त सिद्ध किया है। फलतः पूर्वकथित भेदाभेदवाद ही श्रेयान् निश्चित होता है जिससे सभी प्रमाण सार्थक बने रहते हैं। अतः तत्त्ववेत्ता को भी कारकबुद्धि (कर्ता हूँ ऐसा अकंप निश्चय) और

नाविद्याऽस्येत्यविद्यायामेवाऽऽसित्वा प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥१७६॥

अकारकबुद्धि (व्यापक परमात्मा हूँ ऐसा दृढ निश्चय) दोनों रहेंगी जिससे वह कर्मप्रवृत्ति भी करेगा। विद्वान् भी कर्म करेगा तो विविदिषु करेगा ही इसमें कहना ही क्या? इसलिये कर्मकाण्ड व ज्ञानकाण्ड के विलक्षण अधिकारी नहीं हैं। यहाँ तक शंकालु का व्यंग्य है ॥१७५॥

परमब्रह्म में अविद्या स्वीकार्य नहीं – इतने पर ही वादी ने सारा युक्तिप्रासाद खड़ा किया है। अतः नींव से ही उसका ध्वंस करने के लिये सिद्धांती उक्त आक्षेपग्रंथ का परिहार करता है –

तुम्हारा आक्षेप गलत है। अविद्या में रहकर ही 'ब्रह्म की अविद्या है' ऐसी कल्पना की जाती है। ब्रह्म की दृष्टि से तो यह अविद्या किसी तरह युक्त नहीं है ॥१७६॥

अद्वितीयात्मा ही अकेला प्रमेय है यह कह भी चुके हैं व आगे भी बतायेंगे। इसलिये आक्षेप ग़लत है। संसार को लेकर जो भेद-अभेद के विकल्प उठाये थे वे इसलिये गलत हैं कि अनिर्वचनीय अविद्या और उसके कार्य के बारे में ऐसे विकल्प उठाये ही नहीं जा सकते, भेद व अभेद से अविद्या का निर्वचन हो तो वह अविद्या ही न रह जाये। अतः जैसे नपुंसक के विषय में 'यह पुरुष है या स्त्री?' ऐसा प्रश्न करने वाला स्वयं को ही मूर्ख सिद्ध करता है वैसे अविद्या व संसार के विषय में भेदादि का प्रश्न करने वाला भी।

रहा यह आक्षेप कि विद्यारूप स्वभाव वाले सर्वज्ञ ब्रह्म में अविद्या कैसे? इसका स्पष्टीकरण किये देते हैं। प्रकाश-स्वभाव, सर्वप्रकाशक सूर्य में उल्लूकल्पित अँधेरा रहे तो क्या कोई आपत्ति है? ऐसे ही हमें अपनी आनंदरूपता नहीं भास रही, यही अज्ञान है जिसे हम विद्यारूप सर्वज्ञ प्रत्यगात्मा पर कल्पित किये हुए हैं, इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? सूर्य को स्वयं में अँधेरा नहीं लगता, ऐसे ही ब्रह्मदृष्टि से अविद्या भी नहीं है। तो क्या हम से अलग कोई ब्रह्म है जिसकी दृष्टि से अविद्या नहीं है? शास्त्रोपदिष्ट नित्य व्यापक परमानंदघन जिसे समझो वही ब्रह्म है। यदि स्वयं को वैसा समझो तो अविद्या नहीं है। यदि समझो कि शास्त्रोपदिष्ट कोई हम से भिन्न है तो जिसे भिन्न मान रहे हो उसी की दृष्टि समझ लो।

अविद्या कोई स्वतंत्र सत्ता-स्फुरत्ता वाली वस्तु नहीं है क्योंकि उसका स्वरूप ही ऐसा है कि वह किसी चेतन पर रहती है। 'मैं नहीं जानता' यही अविद्या का प्रकाशन है, किसी न किसी 'मुझे' ही अज्ञान होता है। अतः स्वतंत्र कहने पर वह अविद्या ही न हो पायेगी। जीव को भी अविद्या का अश्रय कहना संगत नहीं क्योंकि जीव से यदि ब्रह्म ही विवक्षित है तो ब्रह्म को ही आश्रय कहना चाहिये। जीव कहने से कोई प्रयोजन नहीं। यदि ब्रह्म से अतिरिक्त जीव को आश्रय कह रहे हैं तो वह स्वयं अविद्याकल्पित होने से उसका आश्रय हो नहीं सकता। अतः अविद्या का ब्रह्म से ही संबंध मानना पड़ेगा। इससे ब्रह्म में सद्वयता या ब्रह्म की सर्वज्ञता का विरोध इसलिये नहीं कि अविद्या सचमुच तो है नहीं। वास्तविक ज्ञानरूप परमात्मा का अवास्तविक अज्ञान से सम्बन्ध रहना कोई व्याघात नहीं। बल्कि प्रसिद्ध सर्वज्ञता यही है कि सब विषयों का ज्ञान हो, इसके लिये सब विषय चाहिये जिन्हें उपस्थित करने वाली होने से अविद्या तो सर्वज्ञता को संगत बना रही है। यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म की सर्वज्ञता सर्वविषयकज्ञातृता नहीं है कारण कि महर्षि बादरायण ने ब्रह्म को वेद का भी कारण कहा है जिससे आचार्यों ने बताया है कि जैसे अष्टाध्यायी आदि से अधिकविषयक ज्ञान वाले ही पाणिनि आदि स्वीकार्य हैं ऐसे वेदोक्त से भी अधिक जानने वाले होने से परमेश्वर सर्वज्ञ हैं। अतः अज्ञान सर्वज्ञता की संगति के लिये आवश्यक है। अतएव सर्वज्ञ होने से वह अविद्याश्रय स्वीकार्य है।

कोई दुस्तार्किक कह सकता है: ब्रह्म और अविद्यासंबंध यह एक जोड़ा है। ब्रह्म सत्य है। अतः यह नियम निकलता है कि उक्त जोड़े में जो होता है वह सत्य होता है। इसलिये अविद्या सम्बंध भी सत्य मानना चाहिये। किन्तु यह अनुमान सोपाधिक हेतु वाला होने से आभास ही है। उपाधि है तत्त्वज्ञान से अबाध्यता। ब्रह्म तत्त्वज्ञान से अबाध्य है, अविद्यासंबंध अबाध्य नहीं बाध्य ही है। अतः जैसे गीला ईधन न होने से धुआ नहीं होता ऐसे तत्त्वज्ञान-अबाध्य न होने

से अविद्यासंबंध में सत्यता भी नहीं होगी। इतना ही नहीं, उक्त जोड़े में अविद्या से ब्रह्म का सम्बंध वही है जो ब्रह्म से अविद्या का सम्बंध। ब्रह्म शास्त्र में असंग कहा गया है। अतः ब्रह्म का सम्बन्ध असत्य होना निश्चित है। अविद्या का सम्बंध क्योंकि ब्रह्म के सम्बंध से अन्य नहीं इसलिये जब ब्रह्मका सम्बंध असत्य है तो अविद्या का सम्बंध कैसे सत्य होगा? ब्रह्म की असंगता से ब्रह्मसम्बंध असत्य सिद्ध होने पर यह अनुमान हो ही जायेगा कि : अविद्या और ब्रह्म का सम्बंध एक जोड़ा है जिसमें ब्रह्म का सम्बंध असत्य है, जिससे नियम निकलता है कि उक्त जोड़े में जो होता है वह असत्य होता है। अतः अविद्या भी असत्य हो जायेगी। किंच पूर्ववादी यह मानता है कि सिद्धान्ती को अभिमत अविद्या अतात्त्विक है क्योंकि वादी के अनुसार ब्रह्माश्रित भावरूप अनादि अनिर्वचनीय अविद्या कोई वस्तु है नहीं। इसलिये यह भी कह सकते हैं कि अविद्या और ब्रह्मसंबन्ध के जोड़े में जो अविद्या है उसे जब वादी अतात्त्विक कह रहा है तब यही नियम क्यों नहीं समझता कि उक्त जोड़े में जो होता है वह अतात्त्विक होता है अतः ब्रह्मका अविद्या से सम्बंध अतात्त्विक है।

इस प्रकार सोपाधिक व सत्प्रतिपक्षित होने से तार्किक की उक्ति अनुमानाभास ही है। पुरी जी ने पूर्व श्लोक में जो शंकायें उठायी हैं उन सबका इस श्लोक की व्याख्या में क्रमशः समाधान कर दिया है ॥१७६॥

दुस्तार्किक पूछता है : किस प्रकार का ज्ञान अविद्या को हटाता है? यह कह नहीं सकते कि आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान अविद्या का बाधक है, क्योंकि अभी सिद्धांती यही सिद्ध कर आया है कि ब्रह्म का स्वरूप तो अपने पर अविद्या को स्थान दिये हुए है, अतः उसका साधक ही है। किंच यदि वह बाधक होता तो अविद्या नित्य बाधित होती क्योंकि स्वरूपज्ञान नित्य है। इसलिये यही कहोगे कि प्रमाणज्ञान अविद्या को हटाता है। किंतु यह कथन गलत होगा क्योंकि शास्त्रादि प्रमाणों से अविद्या सिद्ध होती है यह विवरणाचार्यादि ने कह दिया है; जो प्रमाणसिद्ध होता है वह प्रमाण से बाध्य नहीं होता जैसे तुम सिद्धांती के ही मत में ब्रह्म प्रमाणसिद्ध है तो प्रमाणबाध्य नहीं। इसलिये हमारे अनुमान में जो तुम सिद्धांती ने उपाधि बतायी वह बैठती नहीं। उक्त जोड़े का घटक होते हुए यदि प्रमाणबाध्य होवे तब उपाधि साधन की (हेतु की) अव्यापक होकर हेतु को दुष्ट करे। किंतु जब अविद्या प्रामाणिक होने से प्रमाणबाध्य नहीं तो उपाधि हेतु की अव्यापक है ही नहीं। एवं च वह उपाधि ही नहीं है। सिद्धान्ती उपाधि का यही प्रयोग करेगा कि पक्ष में उपाध्यभाव होने से साध्याभाव का अनुमान करेगा। हम दुस्तार्किकों के अनुमान में पक्ष है 'अविद्या ब्रह्म का सम्बंध', साध्य है 'तात्त्विकता' हेतु है 'ब्रह्म व अविद्यासम्बन्ध के जोड़े का घटक होना', दृष्टांत है 'ब्रह्म'। यदि अविद्या-ब्रह्म का सम्बन्ध प्रमाणबाध्य हो तब कथंचित् सिद्धांती अपनी बात आगे बढ़ाये। किंतु वह प्रमाणबाध्य है नहीं अतः सिद्धांती के अतात्त्विकत्वसाधक प्रयोग में स्वरूपासिद्धि दोष होगा। अविद्या स्वतंत्र न होने से जब वह प्रमाणसिद्ध है तब क्वचिदाश्रित ही प्रमाणसिद्ध होगी जिससे अविद्या-ब्रह्मसम्बंध प्रमित ही मानना पड़ेगा। इसलिये हम दुस्तार्किकों का प्रयोग समुचित है।

सिद्धान्ती उत्तर देता है: हमारे आचार्यवचनों को ग़लत समझकर ही तुमने अपने प्रयोग को सही घोषित किया है अतः तुम्हारा प्रयोग गलत ही है। अविद्या को प्रामाणिक कहने में विवरणाचार्यादि का अभिप्राय नहीं। उनका इनता ही अभिप्राय है कि प्रमाणों से यह निश्चित होता है कि अविद्या अभावरूप नहीं है। अविद्या तो साक्षिभास्य है और साक्षी का प्रकाश प्रमाण नहीं है क्योंकि वह तो चित् का प्रकाश है जो प्रमाण और अप्रमाण में एक-सा है। साक्षी जैसे सुखादि जानता है ऐसे ही सर्पादि जानता है अतः साक्षिज्ञान को प्रमाण कहना असंगत है। अतः हमारे आचार्यों ने स्पष्ट भी किया है कि अज्ञान साक्षी द्वारा वेद्य है, प्रमाणों से केवल यह दिखाया जा रहा है कि वह अभावरूप नहीं है। अतः वह प्रमाण का विषय नहीं, उसकी कोई विशेषता ही प्रमाण का विषय है। जैसे अप्रत्यक्ष आकाश का गुण प्रत्यक्ष हो जाता है ऐसा तुम दुस्तार्किक मानते हो वैसे अप्रमित अविद्या का अभाववैलक्षण्य प्रमित होता है यह समझ लो। इष्टसिद्धि, न्यायरत्नदीपावली आदि में बहुत विस्तार से इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है। एवं च तुम्हारा हेतु अविद्या में रहता है जबकि उसमें हमारी दी हुई उपाधि नहीं रहती (तत्त्वज्ञान-अपोह्यत्व ही रहता है) जिससे सिद्ध होता है कि उपाधि साधनव्यापक नहीं है। ब्रह्म ही तात्त्विक और ज्ञानानपोह्य है अतः साध्यव्यापकता स्पष्ट है। इसलिये उपाधि ठीक ही है। फलतः तुम्हारा हेतु सदोष ही

यतोऽनुभवतोऽविद्या ब्रह्मास्मीत्यनुभूतिवत्। अतो मानोत्थविज्ञानध्वस्ता साऽप्येत्यथाऽऽत्मताम् ॥१७७॥
ब्रह्मण्यविदितेऽबोधान्नाविद्येत्युपपद्यते। नितरां चापि विज्ञाते मृषाधीर्नास्त्यबाधिता ॥१७८॥

है। अत एव हम जब उपाध्यभावहेतुक अतात्त्विकत्वसाध्यक प्रयोग करेंगे तब स्वरूपासिद्धि का प्रसंग नहीं होगा क्योंकि तत्त्वज्ञान-अनपोह्यत्वरूप उपाधि का अभाव अर्थात् तदपोह्यत्व तुम्हारे पक्ष में है ही कारण कि जब अविद्या ही अप्रामाणिक है तब उसका सम्बंध अप्रामाणिक होगा ही। अप्रामाणिक सर्प का प्रामाणिक सम्बंध नहीं होता। यह नहीं कह सकते कि अप्रामाणिक अविद्या की अभावव्यावृत्ति प्रामाणिक हो सकती है तो उसका सम्बंध प्रामाणिक क्यों न हो जाये? सम्बन्ध में कोई प्रमाण हो तो उसे प्रामाणिक कह सकते हैं जैसे अभावव्यावृत्ति में प्रमाण है अतः उसे वैसा माना। किन्तु उक्त सम्बंध में प्रमाण है नहीं। बल्कि मोक्षान्यथानुपपत्तिसहकृत श्रुति असम्बंध में ही प्रमाण है। यही प्रसंग उदाहरण समेत व्यक्त करते हैं –

क्योंकि महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान की तरह अविद्या अनुभव से सिद्ध है इसलिये प्रमाण से उत्पन्न अखण्डानुभव से समाप्त हुई वह भी आत्मरूप को प्राप्त होती है ॥१७७॥

महावाक्य के श्रवण से हुआ संशयादिरहित अखण्डबोध ही ब्रह्मानुभव कहा जाता है। उत्पन्न होने वाला यह बोध बुद्धिवृत्तिरूप ही है। यह वृत्ति स्वयं जड होने से खुद सिद्ध नहीं होती, प्रकाशमान नहीं होती। किसी प्रमाण से भी इस अनुभव की सिद्धि हो नहीं सकती। यदि प्रमाण से इस अखण्डधी की सिद्धि माने तो वह प्रमाण किससे सिद्ध होगा? अतः अनवस्था दोष होगा। अन्य प्रमितियाँ तो कथंचित् सफल प्रयास आदि के संवाद से सिद्ध हो भी जावें, ब्रह्मप्रमिति तो वैसे भी सिद्ध होगी नहीं अतः उसे ही दृष्टान्त बनाया। अतः ब्रह्म का स्वभावभूत जो चिद्रूप प्रकाश है उसी से अखण्डधी की सिद्धि है। ऐसे ही अज्ञान की भी है। एवं च प्रमाणसिद्ध न होने से उसका बाध संगत है। अविद्या ही बाध्य अतः अतात्त्विक है तो उसका आत्मा से सम्बन्ध तो बाध्य व अतात्त्विक है ही इसमें क्या कहना! अज्ञानध्वंस भी परमात्मा से अन्य नहीं है अन्यथा उसी से सद्वयता की आपत्ति होगी। अज्ञानध्वंस से पूर्व ब्रह्म ही अज्ञान का काल्पनिक आश्रय है व ध्वंस होने पर वही उसका ध्वंस है। कल्पित वस्तु का नाश अधिष्ठानमात्ररूप होता है यही सर्वत्र देखा गया है और व्यास जी ने भी बताया है (सूत सं. ४.२ पृ. ३३३)। ब्रह्मसूत्रों में भी (४.२.११) सब कलायें ब्रह्म से अविभज्य हो जाती हैं यह निर्णीत है। इसलिये अविद्यानिवृत्ति से सद्वयता नहीं होती। यद्यपि क्वचिद् अविद्यानिवृत्ति को ब्रह्मरूप न कहकर पंचमप्रकार का कहा है तथापि वह समझाने का तरीका ही है। जैसे घटध्वंस मृद्रूप होने पर भी घटकाल में मिट्टी ही उसका आश्रय होती है ऐसे ही अविद्याध्वंस ब्रह्मरूप होने पर भी ब्रह्म का अविद्याश्रय होना उपपन्न है ॥१७७॥

अविद्या वास्तविक न होने से ही उसका सम्बंध भी वास्तविक नहीं है। अज्ञानसहित उसके सम्बंध की अवास्तविकता इसलिये है कि इन दोनों का साधक कोई प्रमाण नहीं, यह कहते हैं –

ब्रह्म अज्ञात होने पर उस पर अविद्या है यह प्रमित होना असंगत है और ब्रह्म ज्ञात होने पर तो उस पर अविद्या है यह प्रमित होना और भी असंगत है। अतः मिथ्या अज्ञान को अबाधित अर्थात् वास्तविक नहीं कह सकते ॥१७८॥

आत्मा का अज्ञानसम्बन्ध सच्चा कहने वाले को बताना होगा कि कब यह प्रमा होती है कि आत्मा का अज्ञानसम्बंध है: क्या ब्रह्म अज्ञात रहते होती है या ज्ञात रहते? ब्रह्म अज्ञात रहते तो हो नहीं सकती क्योंकि आश्रय की जानकारी के बिना आश्रित की जानकारी होना असंगत है। आकाशादि भी अनुमानादि से ज्ञात होने पर ही उनमें आश्रित शब्द है ऐसी प्रमा संभव है, केवल शब्दप्रत्यक्ष अकेला ही यह नहीं बता सकता कि शब्द आकाशाश्रित है। ऐसे ही अविद्या स्वयं प्रमाणसिद्ध मानो तो भी उसका आत्मसम्बंध तो आत्मज्ञान के बिना होगा नहीं। स्वयं भी अविद्या प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकती यह तो पूर्व में कह ही आये हैं।

यदि कहा जाय कि आत्मा का ज्ञान होते मालूम चलता है कि उसका अज्ञानसम्बंध है तो यह और अधिक अटपटा

अविद्यावानविद्यां तां न निरूपयितुं क्षमः। वस्तुवृत्तमतोऽपेक्ष्य नाविद्येति निरूप्यते ॥१७९॥

होगा। आत्मज्ञान से तो अज्ञान व उसका सम्बंध ध्वस्त हो चुकता है, तब उसकी प्रमाण से सिद्धि कैसे? ध्वस्त अज्ञान के या अज्ञानाभाव के बिना आत्मा का प्रमित होना ही उपपन्न नहीं हो सकता इसलिये यह पक्ष अधिक असंगत है।

यद्यपि लौकिक भ्रमस्थलों पर आधारांश की प्रमा भी मानी जा सकती है जिससे यह शंका हो सकती है कि अधिष्ठान की प्रमा होने पर भी उस पर अज्ञान रहना असंभव नहीं; तथापि निरंश चिन्मात्र की प्रमा होने पर ब्रह्म ज्ञात व अज्ञात दोनों होवे यह असंभव ही है; हाँ, स्वयं-प्रकाशमान चेतन अज्ञात है यह कहा जा सकता है, किन्तु तब आत्मा को प्रमित नहीं मान सकते। मूल मे 'विज्ञाते' से 'प्रमिते' समझना चाहिये। 'मृषाधीः' से सविलास महामोह कहा गया है। लोक में भी अज्ञाततया साक्षिचैतन्य का विषय होता हुआ पदार्थ ही अधिष्ठान होता है, न कि ज्ञाततया। आधार तो अधिष्ठान है नहीं। भ्रम में अध्यस्त का ही परिस्फुरण माना गया है। आधारांश भी संसर्गतः अध्यस्त ही होता है। इसलिये आचार्यों ने प्रत्यगात्मा को 'प्रसिद्ध' और 'मानो अस्मत्प्रत्यय का विषय' ऐसा जो कहा है उसका अभिप्राय भी स्वंप्रकाश से है। यद्यपि अधिष्ठान का सर्वथा अज्ञान होने पर भी भ्रम संभव नहीं तथापि उसकी आंशिक प्रमा की भी आवश्यकता भ्रम के लिये नहीं, केवल सर्वथा अज्ञातता न होने की ही जरूरत है। रज्ज्वादि में इदन्तया जानकारी होने से सर्वथा अज्ञातता नहीं है और प्रत्यगात्मा में स्वप्रकाशता होने से, यह बात पृथक् है। अतएव प्रमित-अप्रमित से विलक्षण जो सिद्धस्वरूप वस्तु है उसी की प्रमा होती है व उसी की अविद्या होती है यह मानना संगत है। इसीलिये अविद्या और उसके सम्बंध को प्रमित करने की आशा सर्वथा व्यर्थ है। अविद्या सविषयक वस्तु है तथा आश्रित होकर ही भासती है; विषय व आश्रय के उल्लेख के बिना कभी भासती नहीं। मूलाविद्या का आश्रय और विषय एक आत्मा ही है। अतः आत्मोल्लेख के बिना अविद्या नहीं प्रतीत होती। किंच सर्वत्र प्रमाणप्रागभाव से समनियत ही अविद्या है अतः प्रमाणकालिक या प्रमाणोत्तरवर्ती नहीं हो सकती। अविद्याश्रय में अविद्याविषय की प्रमा होने पर उसी आश्रय में उसी विषय की अविद्या रहती नहीं अतः स्वयं अप्रमित रहती है। सविशेषविषयक अविद्या भले ही स्वविषयक प्रमिति से समानाधिकरण हो जाये, निर्विशेषविषयक का वैसा होना संभव नहीं। घट की तरह स्वतंत्र न होने से आश्रय-विषय को विषय न करने वाले प्रमाण का विषय वह होती नहीं। भावरूप होने पर भी संयोगादि की तरह अकेले उसकी प्रमा न हो सकना संगत है। संयोग में भी गुणत्व तो तादृश ज्ञान का प्रतिबंधक नहीं क्योंकि आश्रयज्ञान के बिना शब्दादि गुणों का ज्ञान होता ही है अतः वहाँ भी सापेक्षत्व ही हेतु है जो अविद्या में भी तुल्य है। अतः अविद्या व तत्संबंध प्रमाणसिद्ध नहीं हैं ॥१७८॥

अविद्या व ब्रह्म का सच्चा सम्बन्ध स्वीकारने वाले से यह भी पूछा जाता है कि ब्रह्म में अविद्या व उसके सम्बन्ध की प्रमिति किसे होती है : अविद्वान् (अविद्यावान्) को, या विद्वान् (निरविद्य) को? दोनों ही विकल्प संगत नहीं होते यह कहते हैं –

अविद्या वाला उस अविद्या का निरूपण करने में सक्षम नहीं है। वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से भी निरूपण होता नहीं। इसलिये अविद्या स्वयं किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है ॥१७९॥

अविद्या वाले को प्रमा होने पर अविद्या रह नहीं सकती यह पूर्वश्लोक में कह चुके हैं अतः वह अविद्या का प्रामाणिक निरूपण कर नहीं सकता। अविद्या रहते उसमें प्रमाण नहीं होगा और प्रमाण हो जाये तो वह अविद्या वाला नहीं रहेगा। अतः अविद्वान् को अविद्या-तत्संबंध की प्रमिति नहीं मान सकते। विद्वान् को भी वह प्रमिति नहीं मान सकते क्योंकि प्रथमतः तो विद्वद्दशा में अविद्या है नहीं कि उसे प्रमित किया जाये और दूसरी बात यह कि विद्वान् वह वस्तुमात्र है जिसमें प्रमाता और प्रमाण बाधित हैं अर्थात् वस्तु से पृथक् प्रमाता-प्रमाण हैं नहीं जो अविद्या की प्रमिति हो सके। एवं च विषय और साधन न होने से विद्वान् अविद्या का प्रामाणिक निरूपण कर नहीं सकता। 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ. ४.३.२३), 'तत्केन कं पश्येत्' (बृ. ४.५.१५) इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। फलतः

वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृतिर्न हि युज्यते। अविद्या च न वस्त्विष्टं मानाघातासहिष्णुतः ॥१८०॥
अविद्याया अविद्यात्व इदमेव तु लक्षणम्। मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥१८१॥

अविद्या-तत्संबंध प्रामाणिक नहीं, केवल साक्षी से सिद्ध है ॥१७९॥

अविद्या अप्रामाणिक है क्योंकि इसके विषय में न प्रमाण संभव है न प्रमाता, यह बता चुके। अब अनुमान से भी पता चलता है कि वह प्रामाणिक नहीं यह स्पष्ट करने के लिये व्याप्ति दिखाते हैं –

वस्तु से अतिरिक्त को विषय कर प्रमाणों का व्यापार संगत नहीं है। प्रमाणों का आघात सहन करने वाली न होने से अविद्या को वस्तु नहीं माना जाता ॥१८०॥

नियम यह है : जो वस्तु नहीं होता वह प्रमाण से विषय किया जाने योग्य भी नहीं होता, जैसे खरगोश का सींग। अतः ज्ञान से बाध्य होने के कारण क्योंकि अविद्या वस्तु नहीं है इसलिये वह प्रमाण से विषय की जाने योग्य भी नहीं है यह निर्णय उचित है। यहाँ अविद्या वस्तु नहीं यह बात बाध्यत्वादि हेतु से पृथक् समझकर फिर अवस्तुत्व को हेतु बनाकर अप्रामाणिकत्व सिद्ध कर लेना चाहिये। प्रमाणों से सद्-असत्त्वादि प्रकार से निरूपित न हो पाना यहाँ उनका आघात न सहना है। आत्मा भी यद्यपि प्रमाणों से किसी 'प्रकार' से निरूपित नहीं तथापि बिना 'प्रकार' के तो निरूपित है। अविद्या तो वैसे भी निरूपित नहीं, यह तात्पर्य है।

विद्यासागरी में पूर्वश्लोक की योजना अविद्या पारमार्थिक नहीं यह बताने में थी। शंका थी कि ब्रह्म और अविद्या के संबंध का आश्रय ब्रह्म जब सत्य है तो दूसरा आश्रय अविद्या भी सत्य क्यों नहीं? उत्तर था कि निरूपण किया जाने योग्य सत्य होता है, ब्रह्म वैसा होने से सत्य है, अविद्या वैसी नहीं अतः सत्य भी नहीं। उसी शंका को एक प्रत्यनुमान से प्रतिरुद्ध करने के लिये प्रकृत श्लोक है। यहाँ यह प्रयोग विवक्षित है: अज्ञान मिथ्या है, क्योंकि अप्रामाणिक है जैसे अवस्तुरूप शुक्तिरजत। इस पर पुनः प्रश्नकर्ता अनुमान करता है: अविद्या वस्तु है, जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में अनुगत होने से, ब्रह्म की तरह। अर्थात् सिद्धान्ती के अनुमान का अप्रामाणिकत्व हेतु अवस्तुत्वरूप उपाधि से ग्रस्त है। तब सिद्धान्ती ने अविद्या की अवस्तुता बताने के लिये 'मानाघातासहिष्णुतः' से प्रमाणसम्बन्ध की योग्यता को उपाधि कहा अर्थात् प्रश्नकर्ता के अनुमान का अवस्थात्रयानुगतत्व हेतु प्रमाणसम्बन्धयोग्यत्व उपाधि ग्रस्त है क्योंकि प्रमाणसम्बन्ध के अयोग्य अवस्तु होता है जैसे नृशृंग, यह अनुमान निर्दुष्ट है! ध्यान रखना चाहिये कि अप्रामाणिकत्व और प्रमाणसम्बन्धाऽयोग्यत्व ये विभिन्न धर्म हैं, अन्यथा उक्त अनुमान प्रक्रिया अटपटी हो जायेगी। किन्तु श्रीआनन्दगिरि स्वामी ने अविद्या प्रमाण से सिद्ध होने के अयोग्य है इतना ही अभिप्राय स्वीकारा है ॥१८०॥

अविद्या की प्रमाणतः निरूपणीयता न होना ही उपपादित करते हैं –

अविद्या के अविद्यात्व में यही तो असाधारण (विशेष) लक्षण स्वीकारा जाता है कि उसमें प्रमाणों का आघात सहने की सामर्थ्य नहीं है ॥१८१॥

नित्य अनुभव रूप साक्षी से सिद्ध अर्थात् प्रकाशित अविद्या और उससे कल्पित सारा संसार ब्रह्मरूप प्रत्यागात्मा में भासता है। 'अविद्यात्व में' अर्थात् उसका अवच्छेदक; प्रमाण से अनिरूपणीयता वाले में ही अविद्यात्व रहता है यह अर्थ है। केवल अविद्या का लक्षण न कहकर अविद्यात्व का ग्रहण कर लेने से स्पष्ट किया कि प्रमाण से असिद्ध कार्यप्रपंच भी अविद्यात्व वाला ही है, अविद्या ही है। इस प्रकार भेदाभेदवादी ने श्लोक १७३-१७५ तक जो शंकायें उठायी थीं उनका मूल था अज्ञान की सत्यता, उसका निराकरण करने से सभी शंकायें समाहित हो गयीं अतः उसने जो ये विकल्प किये थे कि संसार परमात्मा से भिन्न है या नहीं इत्यादि उनका अवसर ही नहीं है क्योंकि अनिर्वाच्य अविद्या के बारे में ऐसे विकल्प उठाये जा नहीं सकते जैसे सर्प रज्जु से भिन्न है या नहीं आदि प्रश्न उठाये नहीं जा सकते ॥१८१॥

'अविद्या प्रामाणिक नहीं' सुनकर भेदाभेदवादी को हिम्मत होती है यह कहने की कि सिद्धांती को प्रमाण से

त्वत्पक्षे [illegible]ल्प्यं स्यात्सर्वं मानविरोधि च। कल्प्याऽविद्यैव मत्पक्षे सा चानुभवसंश्रया ॥१८२॥

असिद्ध अविद्या माननी पड़ती है और वह संसार की हेतु है यह मानना पड़ता है अतः दो अप्रामाणिक कल्पनाये हैं जबकि भेदाभेदवाद [illegible]वल भेदाभेद मानना पड़ता है अतः भेदाभेद प्रामाणिक न भी हो तो भी जब दोनों मतों में कल्पना करनी ही है तब [illegible] कल्पना वाला भेदाभेद ही क्यों न मान्य हो? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये कहते हैं –

तुम भेदाभेदवादी के पक्ष में बहुतेरी कल्पनायें आवश्यक हैं और सभी प्रमाणों का विरोध करने वाली हैं जबकि मुझ सिद्धान्ती के पक्ष में एक अविद्या की ही कल्पना आवश्यक है और वह भी अनुभवसिद्ध है ॥१८२॥

भेदाभेद पक्ष में : १) जगद् व ब्रह्म का भेदाभेद; २) सत्य व अनादि बन्धन की निवृत्ति; ३) मोक्ष कर्म का फल है; ४) कर्मफल होता हुआ मोक्ष नित्य है; इस प्रकार अनेक कल्पनायें हैं। अतः उसी पक्ष में गौरव है। यद्यपि तन्त्रवार्तिक में (२.१ सू. ५) बताया है कि प्रामाणिक होने पर अधिक की कल्पना उचित है, प्रमाण के बिना शतांश की भी कल्पना अनुचित है तथापि क्योंकि वादी की सभी कल्पनायें प्रमाणविरुद्ध हैं और सिद्धांती की कल्पना किसी प्रमाण का विरोध नहीं करती बल्कि प्रमाणों का उपपादन ही करती है इसलिये प्रमाणसिद्ध न होने पर भी सिद्धांती की कल्पना ही श्रेयस्कर है।

वादी की प्रथम कल्पना में भाव व अभाव को समानाधिकरण मानना है जो सब प्रमाणों से विरुद्ध है। द्वितीय कल्पना में सत्य व अनादि संसार बंधन की समाप्ति मानी है जिसका इस अनुमान से विरोध है : जो सत्य व अनादि होता है वह समाप्त नहीं होता जैसे परमात्मा या अन्य वादियों को स्वीकृत आकाशादि। तीसरी कल्पना का श्रुतियों से विरोध है क्योंकि वे स्पष्ट घोषणा करती हैं कि मोक्ष केवल ज्ञान का फल है और कर्म से प्राप्त नहीं होता। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (श्वे. ३.९), 'न कर्मणा' (महाना. १०.५) तथा 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' (गी. १३.१२), 'चेतसा सर्वकर्माणि संन्यस्य ·····-मत्प्रसादात्तरिष्यसि' (गी०. १८.५७-५९) इत्यादि श्रुति-स्मृति इसमें प्रमाण हैं। चौथी कल्पना भी 'नास्त्यकृतः कृतेन' (मुं. १.२.१२) आदि शास्त्र और इस व्याप्ति के विरुद्ध है कि जो कुछ किया जाता अर्थात् कर्म का फल होता है वह अनित्य होता है। इस प्रकार वादी की समस्त कल्पनायें अप्रामाणिक ही नहीं, प्रमाणविरुद्ध हैं अतः हेय हैं।

शंका होगी कि सिद्धांत में भी तो बहुत कल्पनायें हैं : १) अविद्या; २) वह अनादि है; ३) वही बंधन करती है; ४) ज्ञान से उसका बाध होता है; इस प्रकार अनेक बातें मान्य हैं अतः लाघव कहाँ? समाधान है कि अविद्या ही कल्पनीय है, बाकी बातें तो शास्त्रसिद्ध हैं, कल्पनीय नहीं, अतः लाघव ही है। अविद्या भी कल्पनामात्र नहीं बल्कि सभी को अनुभव से सिद्ध है। सभी जानते हैं 'मैं अपनी ब्रह्मरूपता नहीं जानता'। जो द्वैती प्रत्यगात्मा को ब्रह्म नहीं मानते उन्हे भी यह तो अनुभव है ही कि 'मैं ब्रह्म हूँ ऐसा नहीं जानता', अतः अज्ञान तो नास्तिकपर्यंत सब को सिद्ध है। प्रमाणसिद्ध न होना ही उसकी कल्पनीयता है। बल्कि 'गूढोत्मा न प्रकाशते' (कठ. १.३.१२), 'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' (बृ. १.२) आदि अज्ञानानुवादक शास्त्रों की उपपत्ति ही अविद्या से होती है। अन्य बातें तो प्रमाणसिद्ध हैं : अविद्या को अनादि माया बताया है (मां.का. १.१६) तथा भगवान् ने प्रकृति शब्दित अविद्या को अनादि कहा है (गी. १३.१९)। ऋग्वेद में (८.७.१७) सृष्टिव्याकरण से पूर्व मूर्तामूर्तादि का न होना कहकर बताया कि तब तम था जिससे यह सब ढका था; यह भी अविद्या के आधार पर ही संगत है। ऐसे ही अनुस्मृति में (१.५) भी बताया है। श्वेताश्वतर में (४.९-१०) अविद्यारूप माया का मालिक महेश्वर ही सबका उत्पादक बताया गया है। शांतिपर्व में (३३९.४५) भी भगवान् ने कहा है कि जो दीखता है वह मायारूप उत्पत्ति ही है। अतः शास्त्रीय वचनों का उपपादन करने वाली कल्पना ही श्रेयस्कर है। जैसे प्रामाणिक भी अदृष्ट 'कल्पनीय' कहे जाते हैं ऐसे अविद्या कल्पनीय होने पर भी प्रामाणिक क्यों न हो? प्रामाणिक होने पर वह बाध्य न हो सकने से उसे प्रामाणिक कहना ग़लत है। हाँ वह प्रमाण विरोधी नहीं है जबकि वादिकल्पना मानविरोधी है। 'मायापरिमोहितात्मा' (कै. १.१२), 'अनीशया शोचति' (श्वे. ४.७), 'अविद्यायामन्तरे ····· दन्द्रम्यमाणाः' (कठ. २.५), 'मूढा··· जरामृत्यु पुनरेवापि यन्ति' (मुं. १.२.८), 'नात्मवित्··· शोचामि' (छां. ७.३), 'न स वेद यथा पशुरेवं

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्या सह कार्येण नाऽऽसीदस्ति भविष्यति ॥१८३॥
अतः प्रमाणतोऽशक्याऽविद्याऽस्येति निरीक्षितुम्। कीदृशी वा कुतो वाऽसावनुभूत्येकरूपतः ॥१८४॥

स' (बृ. १.४.१०), 'अविदित्वा'''अन्तवदेव'''कृपणः' (बृ. ३.८.१०)', 'गुणसंमूढाः सज्जन्ते' (गी. ३.२९), 'अज्ञः''' विनश्यति' (गी. ४.४०) 'न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते' (गी. ९.२४) आदि श्रुति स्मृति अविद्या की बन्धकता में प्रमाण हैं। 'फिर अंत में सारी माया निवृत्त हो जाती है' (श्वे. १.१०) 'जो केवल मुझे ही प्रपन्न होते हैं वे इस माया को तर जाते हैं' (गी. ७.१४) 'महादेव को जानकर सब पाश समाप्त हो जाते हैं' (श्वे. १.११) 'को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई. ७), 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' (के. २.१२), 'देवं मत्त्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (कठ. २.१२), 'परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः'''अस्तं गच्छन्ति'''सः'''अमृतो भवति' (प्र. ६.५), 'यो वेद'''अविद्याग्रन्थिं विकिरति' (मुं. २.१.१०), 'यदा'''एतस्मिन्'''प्रतिष्ठां विन्दते''' सोऽभयं गतः' (तै. २.७), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'''तद्विदः' (बृ. ३.२.८) 'विद्वान्'''स्वाराज्यं''' पर्येति' (कौ. ४.२०), 'य एवं वेत्ति'''न स भूयोभिजायते' (गी. १३.२६) आदि प्रमाणों से अज्ञान की ज्ञानबाध्यता भी निश्चित है। अतः सिद्धान्तपक्ष में वस्तुतः कुछ भी कल्पित नहीं है, यदि प्रमाण से असिद्ध को कल्पित कहें तो केवल अविद्या कल्पित है, बाकी सब तो प्रमित ही है। अतः प्रमाण-अविरुद्ध व लघुभूत होने से भगवान् भाष्यकार का उपदेश ही ग्राह्य है, यह तात्पर्य है ॥१८२॥

अविद्या व उसका कार्य अध्यस्त ही है, इसका निष्कर्ष यह निकलता है -

'वह तू है' आदि महावाक्यों से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान के जन्ममात्र से कार्य सहित अविद्या न थी, न है, न होगी ॥१८३॥

अर्थात् तत्त्वज्ञान से उसका त्रैकालिक अभाव भास जाता है। जैसे रज्जुज्ञान होने पर सर्प न था, न है, न होगा यह भासता है, वैसे ही जानना चाहिये। 'जन्ममात्र से' द्वारा स्पष्ट किया कि तत्त्वज्ञान को अविद्याहानि के लिये कोई व्यापार नहीं चाहिये ॥१८३॥

कोई शंका करे: मुक्तिकाल में भी अविद्यादि रहेंगे क्योंकि वह भी काल है, जो काल होता है उसमें अविद्यादि रहते हैं, जैसे तत्त्वज्ञान से पूर्व का काल। तो इसके समाधानार्थ कहते हैं -

मुक्त को भी अज्ञान रहता है, यह बात प्रमाण से निश्चित नहीं की जा सकती क्योंकि महावाक्यजन्य तत्त्वज्ञान निर्णीत कर देता है कि उसकी सत्ता कभी भी नहीं है। इसलिये 'अविद्या का क्या स्वरूप है?', 'ब्रह्म में क्यों है?', इत्यादि जिज्ञासा की शांति के लिये प्रमाण नहीं ढूढने चाहिये। उसका अनुभव है यही उसका स्वरूप है और उसके प्रातीतिक सद्भाव का साधक है ॥१८४॥

वादी के अनुमान में बाध-नामक हेत्वाभास है क्योंकि अविद्यादि वाला होने पर काल मोक्षकाल ही नहीं रहेगा! अविद्या प्रमित न होने पर भी आत्मसम्बद्ध रूप से उसे प्रमाणनिरूपित किया जा सकता होगा- इस संभावना को हटाने के लिये कहा कि उसके स्वरूप आदि की प्रमिति की आशा ही छोड़ देनी चाहिये। वह प्रतिभासमात्र शरीर है, इतना ही उसका स्वरूप है। एवं च अविद्या प्रमित न होने से आत्मा ही अज्ञात व प्रमित होता है यही स्वीकार्य है।

यहाँ 'अतः' से पूर्ववाक्योक्त को हेतु बनाकर श्लोकार्ध तक एक वाक्य है। फिर 'अनुभूत्येकरूपतः असौ कीदृशी कुतो वा इति प्रमाणतो निरीक्षितुमशक्या' यह कुछ पदों की आवृत्ति से अन्य वाक्य है। अथवा दोनों हेतुओं से 'असौ कीदृशी, अस्य कुतो वा' यों एक ही वाक्य समझना चाहिये। बोधसौकर्य के लिये वाक्यद्वयपक्ष है।

न्यायकल्पलतिका में इस वार्तिक का अवतरण व योजना अन्यथा है : वादी प्रयोग करता है- एकात्मताज्ञान संसार के उपादानभूत अज्ञान को निवृत्त नहीं करता है क्योंकि ज्ञान है, जैसे घटज्ञान। इसका उत्तर श्लोक से दिया- 'इस

देवताद्रव्यकर्त्रादि ननु वस्त्वस्तु नाद्वयम्। सर्वलोकप्रसिद्धत्वादद्वयस्याप्यसिद्धितः ॥१८५॥
नैतत्साधु प्रमाणानां सर्वलोकाभिधं न हि। प्रमाणमस्ति यत्प्राणाद्भवानेवं प्रभाषते ॥१८६॥
अभिमानश्च यत्रायं सर्वलोकस्य गम्यते। प्रत्यक्षोऽर्थोऽयमित्येवं मिथ्यात्वं तस्य चोदितम् ॥१८७॥

महावाक्यरूप प्रमाण से ध्वस्त हो चुकने से आत्ममात्ररूप से विद्यमान होने के कारण यह नहीं कह सकते कि आत्मा की अविद्या है, वह कैसी है या क्यों है।' तात्पर्य है कि वादी के प्रयोग में 'एकात्मता को विषय न करना' उपाधि है। क्योंकि एकात्मताज्ञान की संसारोपादानाज्ञाननिवर्तकता प्रामाणिक है इसलिये पक्षमात्र व्यावर्तकत्व को दोष नहीं कह सकते। इसमें 'अनुभूत्येकरूपतः' का अर्थ है 'क्योंकि वह केवल अनुभवरूप (आत्मरूप) हो चुकी है' अर्थात् आत्मातिरेकेण नहीं रह गयी है।

इस प्रकार एक आत्मा ही मेय है, महावाक्य ही प्रमाण है, अन्य कुछ न मेय है न उनमें कोई प्रमाण है यह निर्णय हुआ ॥१८४॥

पूर्व दो श्लोकों में द्वैत की अध्यस्तता और परब्रह्म की अद्वितीयता बतायी। उस में लोकप्रसिद्धि के विरोध की शंका होती है –

सभी लोगों में प्रसिद्ध होने से देवता, द्रव्य, कर्ता आदि वास्तविक होवें, अद्वैत वास्तविक न होवे (यही क्यों न माना जाये)? अद्वैत की सिद्धि भी नहीं है ॥१८५॥

श्रीभाष्यकार ने कहा है 'लोकप्रसिद्धिरपि न सति संभवे निरालम्बनाऽध्यवसातुं युक्ता' (सूत्रभा. १.३.८.३३), अतः प्रत्यक्षादिरूप लोकप्रसिद्धि से यहाँ शंका की जा रही है यह समझाने के लिये कि प्रत्यक्षादि तो काल्पनिक के ग्रहण से ही उपपन्न हैं। द्वैतादिवादियों ने अध्यक्षादिविरोध का बहुत अरण्यरोदन किया है जिसका आचार्यों ने विस्तृत निराकरण वार्तिकादिदर्शितरीति से कर दिया है। अद्वैत लोकप्रसिद्ध नहीं है। 'भी' से कहा कि इससे विपरीत द्वैत ही प्रसिद्ध है ॥१८५॥

सिद्धान्ती प्रश्न उठाता है कि 'सर्वलोकप्रसिद्धि' क्या प्रत्यक्षादि से भिन्न है या इन्ही के अंतर्गत है? भिन्न तो है नहीं यह कहते हैं –

यह बात ठीक नहीं क्योंकि प्रमाणों में 'सर्वलोक' नामक कोई प्रमाण है नहीं जिसके बल पर आप ऐसा कह सकें ॥१८६॥

'सभी लोगों' में तत्त्वज्ञ की गणना करेंगे कि नहीं? यदि करें तो यह कह नहीं सकते कि सभी द्वैत को सत्य मानते हैं क्योंकि तत्त्वज्ञ ऐसा नहीं मानते। यदि न करें तो 'सभी' कहना कैसे संगत हो? बहुतों की बात मान्य हो यह नियम नहीं, विवरण में कहा है 'न च महाजनपरिग्रहः प्रमाणपक्षपाती' (पृ. ५५४ MRI); वाचस्पति मिश्र भी कहते हैं 'न चैकस्य प्रतिभानेऽनाश्वास इति युक्तम्। न हि बहूनामप्यज्ञानां, विज्ञानां वाऽऽशयदोषवतां प्रतिभाने युक्त आश्वासः।' (भामती १.१.३)। अतः 'सभी' का निरूपण करना संभव नहीं। किं च प्रसिद्धि कोई प्रमाण है भी नहीं। अतः लोकप्रसिद्धि को भी सूत्रभाष्य में 'संभव होने पर निराधार नहीं मानना चाहिये' इतना ही कहा है, उसका प्रत्यक्षादि आधार ही माना है। प्रमाण तो वह आधार होगा, प्रसिद्धि नहीं। केवल प्रसिद्धि से मानने लगें तो निःश्रेयस की जगह अनर्थं ही मिलेगा : 'अविचार्य यत्किंचित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत अनर्थं चेयात्' (सूत्रभा. १.१.१) ॥१८६॥

यदि सर्वलोकप्रसिद्धि को प्रत्यक्षादि के अन्तर्गत ही मानें तो भी औपनिषद सिद्धान्त का विरोध संभव नहीं यह बताते हैं –

और जिस जगत् के विषय में सब लोगों का यह अभिमान उपलब्ध होता है कि अमुक पदार्थ प्रत्यक्ष है, अमुक पदार्थ आनुमानिक है इत्यादि, वह जगत् मिथ्या है यह बता चुके हैं ॥१८७॥

प्रत्यक्षं च यथाऽऽसन्नं परोक्षाद्वस्तुनो मतम्। सर्वप्रत्यक्तमस्तद्वद्बोधो वाक्योत्थ आत्मनि ॥१८८॥

संसार परमात्मा की यथार्थता के महावाक्योत्थ निर्विचिकित्स दृढ निश्चय से बाध्य होने के कारण मिथ्या है। यह बात श्लोक १५४ आदि में कह आये हैं, आगे भी कहेंगे, श्रुति में (छां. ६.१.४) भी समझायी है। इसलिये संसार को विषय करने वाले प्रत्यक्षादि के अंतर्गत यदि 'सर्वलोकप्रसिद्धि' है तो वह द्रव्य-देवतादि की सत्यता का ख्यापन नहीं करेगा। आरंभणाधिकरण में (२.१.६.१४) भाष्यकार ने शंका उठायी है: एकता को ही आत्यंतिक मानने पर नानात्व होगा ही नहीं तो प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण निर्विषय होने से व्याहत होंगे? इसका उन्हीने समाधान दिया है: जैसे जग जाने से पहले स्वप्न-व्यवहार सच होते हैं ऐसे ब्रह्मात्मता के विज्ञान से पूर्व सब व्यवहारों की सत्यता संगत है। उक्त आचार्यवचन से प्रत्यक्षादि के द्वैत की वास्तविकता अपारमार्थिक ही है। अत: प्रत्यक्षादि के अंतर्भूत प्रसिद्धि से भी पारमार्थिक सत्यता क्योंकर सिद्ध होगी? ॥१८७॥

शंकालु शास्त्र से भेदभ्रमका बाध न हो इसके प्रयास में एक अनुमान करता है : श्रुतिजन्य आत्मज्ञान, प्रत्यक्ष का बाध नहीं कर सकता क्योंकि आत्मज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है, जो स्वयं प्रत्यक्ष नहीं होता वह प्रत्यक्ष का बाध नहीं करता, जैसे प्रत्यक्षसिद्ध का बाध अनुमान नहीं कर पाता। बन्धन प्रत्यक्षसिद्ध है अत: शास्त्र से उत्पन्न ज्ञान उसका निवारण कर नहीं सकता।

आत्मज्ञान की अप्रत्यक्षता को हेतु बनाया है अत: सिद्धांती उसी की परीक्षा करता है : अप्रत्यक्षता से क्या यह विवक्षित है कि वह १) संनिहित (= निकटस्थ) विषय का बोधक नहीं है, या २) अपरोक्ष वस्तु का बोधक नहीं है, या ३) आत्मज्ञान में अपरोक्षता नहीं है या ४) उसमें निरपेक्षता नहीं है?

यदि कहो कि आत्मधी संनिहितबोधक नहीं तो गलत होगा यह कहते हैं –

जैसे अनुमेयादि परोक्ष वस्तुओं की अपेक्षा प्रत्यक्ष का विषय संनिहित माना जाता है ऐसे आत्मविषयक महावाक्योत्पन्न ज्ञान का विषय सबसे अधिक प्रत्यक् है, निःसीम संनिहित है ॥१८८॥

प्रारंभ में (श्लो. ४) ही आत्मा की सर्वाधिक समीपता का वर्णन कर चुके हैं। एवं च यदि संनिहितबोधकता होने पर प्रत्यक्षबाधकता की सामर्थ्य मान्य है तो आत्मज्ञान में ही वह सामर्थ्य है, और कोई प्रत्यक्ष उससे अधिक संनिहित का बोधक न होने से इसका बाधक संभव नहीं।

आनन्दपूर्ण मुनीन्द्र यहाँ अद्वैत के प्रामाण्य की सुरक्षा की व्यवस्था वार्तिककार कर रहे हैं ऐसा समझते हैं। उनके अनुसार शंकालु का प्रयोग है : अद्वैत, प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि अद्वैतविषयक जो आगमजन्य परोक्षज्ञान है वह भेदविषयक प्रत्यक्ष से बाधित होने से अप्रमाण है। इस पर सिद्धांती पूछता है : अद्वैतज्ञान की अप्रमाणता क्या १) मिथ्यात्व है, या २) सापेक्षता है, या ३) अनुवादरूपता है? प्रथम विकल्प प्रकृत वार्तिक में निरस्त किया 'सर्वप्रत्यक्तम' कहकर। बाध्यत्व ही मिथ्यात्व है, ज्ञान का स्वरूपत: मिथ्यात्व संभव नहीं क्योंकि स्वरूपत: उसका बाध होता नहीं, 'सर्पज्ञान नहीं हुआ था' ऐसा नहीं माना जाता। अत: विषयबाध का ही ज्ञानमें उपचार होने से बाध्यविषयकत्व ही ज्ञानमिथ्यात्व संभव है। आत्मा प्रत्यक्तम है अत: अबाध्य है फलत: तद्विषयक ज्ञान प्रमाण ही होगा, अप्रमाण नहीं। यह अर्थ है। अगले श्लोक से सापेक्षता का निराकरण है और उससे अगले श्लोक से अनुवादरूपता का निषेध है। इस प्रकार आत्मज्ञान को अप्रमाण नहीं कह सकते यह तात्पर्य है।

न्यायतत्त्वविवरण में प्रकृत श्लोक तो शास्त्रप्रकाशिकानुसार ही नियोजित है। अगले श्लोक में आगम को प्रत्यक्ष से इसलिये बलवान् बताया है कि प्रत्यक्षस्फुरण उस आत्मानुभव के अधीन है जो आगम से गम्य है, अत: प्रत्यक्ष ही बाध्य है। तीसरे (१९०) श्लोक में यह कहा है कि प्रत्यक्ष की सत्ता तो आत्मा के अधीन है जबकि आत्मा की सत्ता प्रत्यक्ष के अधीन नहीं है अत: विषयप्राबल्य से आगम प्रत्यक्ष से प्रबल है, उसका बाधक है ॥१८८॥

आत्मानुभवमाश्रित्य प्रत्यक्षादि प्रसिध्यति। अनुभूतेः स्वतःसिद्धेः काऽपेक्षा ह्यात्मसिद्धये ॥१८९॥

अपरोक्षवस्तु का बोधक न होने से आत्मज्ञान अप्रत्यक्ष है यह भी असंगत है यह कहते हैं –

आत्मा के स्वरूपभूत अनुभव के सहारे ही प्रत्यक्षादि की सिद्धि होती है। अनुभूतिरूप आत्मा तो स्वतः सिद्ध है, उसे अपनी सिद्धि के लिये किसी की जरूरत नहीं ॥१८९॥

इतरानपेक्ष सिद्धिरूपता से आत्मा की अपरोक्षता कह कर उक्त विकल्प खंडित किया। प्रत्यक्षादि वृत्तिविशेष जड होने से स्वतः सिद्ध नहीं और प्रमाण होने से प्रमाणसिद्ध नहीं क्योंकि प्रमाण भी यदि प्रमाणसिद्ध होवे तो अनवस्था दोष होगा। न ही प्रत्यक्षादि असिद्ध है ऐसा कह सकते हैं क्योंकि खुद सिद्ध हुए बिना विषय को कैसे सिद्ध करेंगे? खुद न दीखने वाला प्रकाश क्या घटादि को प्रकाशित कर सकता है? इससे 'अज्ञायमान इन्द्रियाँ प्रत्यक्षप्रमाण हैं' इस प्रवाद की भी तुच्छता समझ लेनी चाहिये! अतः प्रत्यक्षादि को आत्मरूप अनुभव से ही प्रकाशमान मानना होगा। आत्मरूप ज्ञान को स्वयं में लेकर ही प्रमाण विषयों को प्रकाशित करते हैं। 'वागेवास्या एकमंगमदूढम्' 'प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यादि कौषीतकी में यह प्रसंग बहुत स्पष्ट है। स्वयं आत्मानुभव किसी अन्य से सिद्ध नहीं है। प्रथमतस्तु सर्वप्रकाशक होने से वह किसी से प्रकाश्य हो नहीं सकता क्योंकि उससे भिन्न सभी उससे प्रकाशित हैं। दूसरी बात यह है कि शास्त्र उसे स्वतः सिद्ध कहता है 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्?' (बृ. २.४.१४), 'अदृष्टो द्रष्टा' (बृ. ३.७.२३), 'अदृष्टं द्रष्टृ' (बृ. ३.८.११), 'आत्मैवास्य ज्योतिः' (बृ. ४.३.६) इत्यादि। किंच आत्मा को अन्यतः सिद्ध मानने पर अनवस्था होगी। प्रत्यक्षादि को स्वतःसिद्ध मानने में उनकी जडता विरुद्ध पड़ती है। अनित्यादि होने से उनकी जडता स्फुट है। एवं च प्रत्यगात्मा अपरोक्षवस्तु है अतः तद्बोधक होने से शास्त्रीय आत्मधी को अप्रत्यक्ष नहीं कह सकते ॥१८९॥

तीसरा विकल्प था कि आत्मज्ञान में अपरोक्षता नहीं है। उसका निरास करते हैं –

प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षता भी स्वतः नहीं, आत्मरूप अनुभव के सम्बन्ध से ही है (तो आत्मज्ञान में प्रत्यक्षता क्यों न होगी?) ॥१८९ $\frac{१}{२}$॥

प्रत्यक्षता व अपरोक्षता का एक ही अर्थ है। सदा अपरोक्षरूप आत्मानुभव के सम्बंध से ही प्रत्यक्ष में अपरोक्षता आती है। प्रत्यक्ष से अतिरिक्त ज्ञानों की भी अपरोक्षता इसी प्रकार है। अपरोक्षविषयक ज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्यविशेष प्रत्यक्षप्रमाण में है, यह बात अलग है। आत्मा का सम्बन्ध तादात्म्यरूप ही जानना चाहिये। प्रकृत में तो यह अभिप्राय है कि जैसे प्रत्यक्ष को अपरोक्षत्वलाभ आत्मा से हो जाता है वैसे ही आत्मविषयक वाक्योत्थज्ञान को भी हो सकता है। अतः उसमें अपरोक्षता का निषेध संगत नहीं।

अथवा यहाँ यह विचार है : पदार्थ की अपरोक्षता क्या है? अभिव्यक्त चेतन से अभिन्नता ही पदार्थ की अपरोक्षता है। 'साक्षादपरोक्षाद्' आदि श्रुति से जीवाभिन्न ब्रह्म में यह अपरोक्षता स्वाभाविक है जबकि घटादि में इसलिये है कि अपरोक्ष चेतन पर उनका तादात्म्येन अध्यास है। ज्ञान की अपरोक्षता क्या है? अपरोक्ष पदार्थ के व्यवहार के अनुकूल ज्ञान होना – यही ज्ञान की अपरोक्षता है। यह सुखादिप्रकाशक साक्षिचैतन्य में व घटादि प्रकाशक चाक्षुषादि में उपस्थित ही है। अंतर इतना है कि साक्षी में अपरोक्षता व्यवहारानुकूलज्ञानरूपता स्वाभाविक है जबकि चाक्षुषादि वृत्तियों में इसलिये है कि तत्तद् अभिव्यक्त चेतन से उनका अभेदाध्यास है अर्थात् अपरोक्षार्थव्यवहारानुकूल ज्ञानरूप तो है अभिव्यक्त चेतन लेकिन उससे चाक्षुषादि वृत्ति विविक्त नहीं, अभिन्न होकर स्थित है अतः वृत्ति में भी अध्यासोपाधि से अपरोक्षता है। अपरोक्षता नामक कोई जाति नहीं क्योंकि एक आत्मरूप अपरोक्ष व्यक्ति से सारी व्यवस्था उपपन्न है। यह सारा प्रसंग अप्पयदीक्षित ने परिमल में (पृ. ५५) स्पष्ट किया है। अतः चाक्षुषादि में जो प्रत्यक्षत्व है वही आगमजन्य आत्मधी में होने से आत्मज्ञान की प्रत्यक्षता में शंका नहीं की जा सकती यह प्रकृत वार्तिक का अभिप्राय है ॥१८९ $\frac{१}{२}$॥

आत्मानुभवपूर्वत्वात्प्रत्यक्षत्वस्य न स्वतः। आत्मैकगम्यमैकात्म्यं वेदान्तेष्ववगम्यते ॥१९०॥
यच्चाप्युक्तं श्रुतिस्मृत्योः क्रियाया एव सिद्धितः। अतः क्रियातिरेकेण नास्त्यन्यन्मुक्तिसाधनम् ॥१९१॥

आत्मज्ञान में निरपेक्षता न होने से अप्रत्यक्षता है यह अंतिम विकल्प था। उसका भी प्रतिषेध करते हैं –

वेदान्तों के निमित्त से एकात्मता की जो समझ होती है वह खुद ही समझ ली जाती है (अतः निरपेक्षता है ही) ॥१९०॥

मीमांसादर्शन के दूसरे सूत्र की व्याख्या में भट्टकुमारिल आदि ने स्थापित किया है कि ज्ञान में प्रामाण्य ज्ञानहेतु से अन्य किसी के कारण नहीं आता। अतः अद्वैतबोधक वेदांतों से प्राप्त आत्मज्ञान भी किसी की अपेक्षा से प्रमाण नहीं यही कहना उचित है। 'समझ' अर्थात् ज्ञान 'खुद समझ ली जाती है' अर्थात् उसे समझने के लिये आत्मातिरिक्त कुछ नहीं चाहिये। एवं च घटप्रमा की निरपेक्षता होने पर आत्मज्ञान की निरपेक्षता को मना नहीं कर सकते। इस योजना में 'आत्मैकगम्यं' यह क्रियाविशेषण है 'अवगम्यते' क्रिया का। अतः टीकानुसार आत्मज्ञान की निरपेक्षता अर्थात् स्वतः प्रमाणता इस श्लोकार्ध में व्यक्त है। निरपेक्षज्ञानजनक वेदांत भी इसीलिये निरपेक्ष ही हैं। किं च वेदों को निरपेक्ष प्रमाण मानने पर वेदांत भी वैसे ही होंगे अतः उनसे लभ्य आत्मधी सापेक्ष क्योंकर होगी? जैमिनि ने अनपेक्षता में बादरायण की संमति कही ही है। कुछ तार्किक पदज्ञान को करण मानते हैं पदार्थोपस्थिति को व्यापार मानते हैं और वाक्यर्थज्ञानरूप शाब्दबोध को फल मानते हैं। किन्तु वेदान्त में शास्त्र प्रमाण है अतः शब्द ही प्रमाण है, करण है, उसका ज्ञान व्यापार होकर वाक्यर्थधी फल है। पदार्थोपस्थिति तो आसत्तिरूप सहकारी कारण है। शब्दरूप प्रमाण भी निरपेक्ष ही है यह मीमांसा में व्यक्त कर दिया गया है। अतः निरपेक्षप्रमाणजन्य होने से भी आत्मज्ञान निरपेक्ष है ॥१९०॥

उपनिषद् से जन्य अद्वैतज्ञान स्वतः प्रमाण है, किसी प्रमाण से विरुद्ध नहीं और द्वैतानुभव के बाद विचारपूर्वक होता है अतः अविचारित प्रत्यक्षादि से अधिक बलवान् होने के कारण द्वैतविषयक प्रत्यक्षादि का बाध कर लेता है। इसलिये प्रपंच अज्ञान का कार्य है अतः केवल ज्ञान से निवृत्त हो सकता है। फलतः ज्ञान मोक्षका कारण है। विवेक वैराग्यादि साधनों से संपन्न व्यक्ति को ही मोक्षप्रद ज्ञाननिष्ठा होती है अतः वैसा व्यक्ति ही अधिकारी है। संसार के अंतर्गत उन्नति पाने का उपाय है कर्मानुष्ठान तथा आत्मा-अनात्मा का विवेक न करने वाला रागवान् ही कर्माधिकारी है। इस प्रकार ज्ञानकाण्ड व कर्मकाण्ड साधन, अधिकारी, फल आदि की दृष्टि से विभिन्न हैं यह स्पष्ट किया। अतः कर्मवादी की शंकायें समाहित हो चुकी हैं। फिर भी पूर्व में जो कुछेक ऐसे प्रश्न उठाये गये थे जिनका अर्थतः उत्तर दिया जाने पर भी स्पष्टतः उत्तर नहीं दिया था उन प्रश्नों को पुनः याद दिलाकर उनके उत्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। यद्यपि इन प्रश्नों का उत्तर न देने से भी प्रकरणार्थ में कोई न्यूनता नहीं है तथापि क्योंकि ये उठाये जा चुके हैं इसलिये इनका सिलसिलेवार उत्तर देना ही उचित है।

श्लोक ३२ में कहा था 'श्रुति में कर्म को पुरुषार्थसाधन बताया है', उसका पहले अनुवाद करते हैं –

और जो यह कहा था कि क्योंकि श्रुति-स्मृति से क्रिया ही सिद्ध है इसलिये क्रिया से अतिरिक्त और कुछ मोक्ष का साधन नहीं है – (इसका अब उत्तर देंगे) ॥१९१॥

'क्रिया ही सिद्ध है' अर्थात् ज्ञान सिद्ध नहीं। अतः समुच्चय को भी स्थान नहीं ॥१९१॥

उक्त मत में प्रश्न होता है कि कर्म क्या सीधे ही मोक्ष का हेतु है या चित्तशुद्धि व ज्ञानप्राप्ति द्वारा मोक्षहेतु है? सीधे ही उसे मोक्ष का कारण कह नहीं सकते क्योंकि ऐसा बताने वाला कोई शास्त्रवचन है नहीं। जो तो गीता में कहा है कि जनकादि ने कर्म से ही संसिद्धि पायी (३.२०) उसका अर्थ है कि कर्म से ज्ञानप्राप्ति की योग्यता मिलती है, क्योंकि आगे स्वयं भगवान् ने बताया है कि कर्मों से संसिद्धि मिलती है (१८.४५) और संन्यास से परमनैष्कर्म्यसिद्धि मिलती है (१८.४९) जिसे पाकर ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष हो जाता है। यदि कर्म से प्राप्य संसिद्धि को मोक्षरूप माने तो 'कर्म से अमरता

केन चोक्तं क्रिया मुक्तेः साधनत्वं न गच्छति । तमेतमिति नाश्रौषीः संस्कारा इति च स्मृतिम् ॥१९२॥
यद्यप्यैकात्म्यधीः साक्षाच्छ्रुतिस्मृत्योर्न चोद्यते । तथाऽप्यसौ न तद्बाह्या ताभ्यामेवाऽऽत्मबोधनात् ॥१९३॥

नहीं मिलती' (कैव. २) आदि साक्षात् श्रुतियों का विरोध भी होगा। इसलिये कर्म से सीधे ही मोक्ष की संभावना नहीं।

यदि कहें कि चित्तशुद्धि-ज्ञानप्राप्ति के द्वारा कर्म मोक्षहेतु है तो यह सिद्धान्त में स्वीकार्य ही है अतः सिद्धसाधन है यह कहते हैं –

यह कहा किसने कि कर्म मोक्ष के साधन नहीं हैं! क्या तुमने 'उस इस' आदि श्रुति और 'संस्कार' आदि स्मृति नहीं सुनी! ॥१९२॥

भगवान् भाष्यकार के संप्रदाय में यह मान्य है कि धर्मानुष्ठान से 'क्रमशः' मोक्ष हो जाता है। नैष्कर्म्यसिद्धि में (१.५१-५२) तथा भामती में (पृ. ६२-६३) यह बात समान ढंग से स्पष्ट की है। विवरण में (पृ. ४०८-४१७) समझाया है कि चित्तशुद्धि की इच्छा से अनासक्तिपूर्वक नित्यनैमित्तिक कर्म करने से चित्त में एक संस्कारविशेष हो जाता है और तब यदि श्रवणादि ज्ञानसाधन सम्पन्न न हो पायें तो अभ्युदय की प्राप्ति होती है। अगर 'उस इस आत्मा को जानने के लिये ब्राह्मण यज्ञ दानादि करे' (बृ. ४.४.२२) इत्यादि विधि से ब्रह्मानुभव की कामना से सभी कर्मों का अनुष्ठान किया जाये तो विविदिषाद्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इस विधि से किये कर्म ज्ञानसाधनों को सम्पन्न अवश्य करा कर ज्ञानप्राप्ति करा ही देते हैं। संस्कार प्राप्ति वाले क्रम में ज्ञानलाभ के लिये साधन संपन्न हो भी सकते हैं, नहीं भी। विविदिषा वाले क्रम में साधन संपन्न होंगे ही, यह अंतर है। साधन एक ही जन्म में संपन्न हो यह आवश्यक नहीं। अतएव पूर्व जन्म में विविदिषाद्वारा ज्ञानोत्पादक कर्म कर चुका व्यक्ति अनन्तर जन्म में प्रारंभ में ही संन्यासी हो सकता है। इसी आशय से श्रीआनन्दगिरि स्वामी ने यहाँ कहा कि विविदिषाद्वारा अथवा संस्कारद्वारा कर्म को मुक्ति का हेतु माना जाता है।

'संस्कार' आदि स्मृति से गौतमधर्मसूत्र के वाक्य (१.८.१४-२१) समझने चाहिये। ये वाक्य शास्त्रप्रकाशिका में प्रदर्शित हैं। इनमें गर्भाधानादि संस्कार, अध्ययनव्रत, पंच महायज्ञ, श्राद्ध तथा नानाविध श्रौत कर्मों की गणना है। इनसे अतिरिक्त गौतम महर्षि ने आठ आत्मगुण भी बताये हैं ज़ो ज्ञानाधिकार दिलाते हैं : दया, कुशलता, सज्जनादि में दोषदृष्टि न करना (अनसूया), शौच, अत्यधिक क्रियाशीलता से इतना श्रांत न होना कि साधनाभ्यास न हो सके (अनायास), मंगल आचारादि रखना, कंजूसी न करना और विषयों की अभिलाषा न रखना। ऐसे ही 'योगिनः कर्म कुर्वंति' (गी. ५.११), 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च' (मनु. २.२८), 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' (शांति प. २०४.८), 'कषाये कर्मभिः पक्वे' (सूत्रभाष्ये. ३.४.२६) इत्यादि अन्य भी स्मृतियाँ समझ लेनी चाहिये ॥१९२॥

'क्योंकि श्रुति व स्मृति में कर्म ही कर्तव्यरूप से सुना जाता है' (श्लो. ३३)– इस शंका को याद दिलाकर इसका समाधान करते हैं –

यद्यपि श्रुति-स्मृति में एकात्मताज्ञान की साक्षाद् विधि नहीं की गयी है तथापि यह ज्ञान वेदबाह्य नहीं है क्योंकि श्रुति-स्मृति द्वारा ही आत्मस्वरूप समझाया गया है ॥१९३॥

ज्ञान पुरुषतंत्र न होने से विधेय नहीं है अतः शास्त्र में ज्ञान के लिये विधि नहीं यह बात तो ठीक है। फिर भी शास्त्रोक्त होने से आत्मज्ञान वैसे ही अवैदिक नहीं जैसे कर्मज्ञान। अतः ज्ञान मोक्षहेतु है। लोक में तो 'उधर देखो' आदि स्थलों पर ज्ञान के उपायभूत क्रियाओं के विधान को ही ज्ञान का विधान कहते हैं। ऐसे तो शास्त्र में ज्ञानोपाय शमादि व श्रवणादि सभी विहित हैं ही। इतना ही नहीं 'आत्मा ही जानने योग्य है' (बृ. २.४.५) ऐसा स्पष्ट कथन भी उपलब्ध होता है तथा आत्मज्ञान न करने की निन्दा भी सुनी जाती है 'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' (केन. १३), 'इह चेदशकद् बोद्धुं.....शरीरत्वाय कल्पते' (कठ. ६.४), 'अक्षरं गार्ग्यविदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः' (बृ. ३.८.१०) आदि।

इसलिये कर्तव्यरूप से न सुना जाना इस कारण से है कि यह कर्तव्य है नहीं, न कि इससे कि यह मोक्षहेतु नहीं है ॥१९३॥

यच्च न ज्ञाप्यते वेदे वस्त्वित्येतदचूचुदः। तच्चापहस्तितं चोद्यं वक्ष्यते च निराकृतिः ॥१९४॥
विधावसति वाक्यस्य यच्चावोचोऽप्रमाणताम्। स्फुटन्यायोक्तिभिस्तच्च यत्नात्परिहरिष्यति ॥१९५॥
यच्चोक्तं न पुमर्थोऽस्ति वस्तुमात्रावबोधनात्। आख्यानप्रचुरा यस्मात्त्रय्यन्ता इह लक्षिताः ॥१९६॥
रामो राजा बभूवेति न ह्येतावत्प्रबोधतः। सम्भाव्यते पुमर्थोऽतो विध्यर्थविरहात्क्वचित् ॥१९७॥
परार्थतैव सर्वत्र ज्ञानस्येहोपलक्ष्यते। ज्ञात्वाऽनुष्ठानवचनाद्विद्वान्यजत इत्यपि ॥१९८॥

श्लोक ३३ में ही यह भी कहा था कि मोक्ष के लिये कर्मातिरिक्त कोई साधन शास्त्रोक्त नहीं है। मीमांसाचार्य ने बताया है कि जहाँ द्रव्यादि भूत और यागादि भव्य का समुच्चारण हो वहाँ भूत का उपदेश भव्य के लिये होता है (शाबर. ३.४.४०)। जिसे किया जाना है वह भव्य कहाता है तथा जो किया नहीं जाना, बल्कि उपस्थित है उसे भूत कहते हैं। इसी आधार पर मीमांसक आत्मा क्योंकि भूत है इसलिये उसे यदि शास्त्र ने बताया है तो भव्य के लिये ही बताया होगा, ऐसा मानता है। उसके मत में सारा वेद कार्यपरक है। इस शंकाका स्मरण दिलाकर समाधान याद दिलाते हैं –

और जो यह कहा था कि वेद में वस्तु नहीं समझायी गयी है उसका निरास किया जा चुका है और आगे भी करेंगे ॥१९४॥

श्लोक १२३ आदि में निरास कर चुके हैं। यद्यपि अधिक विस्तार वहाँ नहीं किया तथापि 'सारा ही यह' इत्यादि भाष्यवाक्य के विवरण में श्लोक ५५२ आदि में विस्तार से वेद की कार्यैकपरता का खंडन हो जायेगा। वेदांतसिद्धांत में समन्वयसूत्र और सर्वापेक्षाधिकरण से यह स्वीकृत है कि भव्य का ही उपदेश भूत के लिये है, न कि मीमांसक की तरह इससे विपरीत। यह सर्वज्ञाचार्य ने व्यक्त किया है ॥१९४॥

'सारा ही वेदार्थ विधि, निषेध और तच्छेष रूप ही है' यह जो श्लोक ३४ में कहा था उसे दुहराकर उसके खण्डन की प्रतिज्ञा करते हैं –

तथा जो यह कहा था कि विधि न होने पर वाक्य प्रमाण नहीं होता, उसका भी स्पष्ट युक्तियों से निराकरण करेंगे ॥१९५॥

यद्यपि अद्वैत में श्रुतितात्पर्य दिखाकर श्लोक १२७ आदि द्वारा वादी के उक्त कथन का खण्डन हो चुका है तथापि आगे नाना तर्कों से उसका तिलशः निराकरण करेंगे ॥१९५॥

श्लोक ३६ में कही शंका का तीन श्लोकों से अनुवाद करते हैं –

और तुमने यह भी कहा था : वस्तुमात्र के ज्ञान से कोई पुरुषार्थ नहीं होता। क्योंकि शास्त्र में वेदांतभाग में कहानियाँ ही अधिक सुनी जाती हैं और 'राम राजा हुए थे' इतनामात्र जानने से जैसे किसी पुरुषार्थसिद्धि की संभावना नहीं वैसे ही वेदान्तोक्त अर्थ जानने से नहीं होगी, इसलिये विधिविषय के बिना कहीं प्रामाण्य नहीं। शास्त्र में सर्वत्र ज्ञान अन्यशेष ही बताया गया है। 'जानकर कर्म करे' 'जानकार यज्ञ करता है' इत्यादि स्पष्ट वचन भी मिलते हैं ॥१९६-१९८॥

वस्तुमात्र का ज्ञान न स्वयं फल है, न उससे कोई फल है। स्वाध्यायविधिगृहीत वेद निष्फल होगा नहीं। अतः आत्मज्ञान में वेद का तात्पर्य हो सकता नहीं। वस्तुमात्रज्ञापक वाक्य सुखादि फल नहीं दे सकते इसमें दृष्टान्त है 'राम राजा हुए थे'; इस वाक्य का अर्थ जानकर क्या पुरुषार्थ होगा? उपनिषदों में किस्से कहानियाँ भरे पड़े हैं। केन (खंड ३), कठ (१-३), प्रश्न, मुंडक (१.१-४), तैत्तिरीय (वल्ली ३), ऐतरेय (खंड १), कौषीतकि, मैत्रायणी आदि में तथा छांदोग्य व बृहदारण्यक में प्रायः हर बात के लिये कोई न कोई कथानक है ही। अतः उपनिषदें स्वार्थसमर्पण करें तो निष्फल होने से प्रमाण न होंगी। यद्यपि कर्मज्ञान कर्मेच्छा द्वारा कर्मप्रवृत्ति में हेतु बनकर सफल है तथापि अकर्तृप्रभृतिस्वरूप आत्मा का

उक्तोऽत्र परिहारः प्रागूर्ध्वं चापि प्रवक्ष्यते। विद्याफलस्य प्रात्यक्ष्याददितिहेतुसमाश्रयात् ॥१९९॥
ननु निर्धूतशोकादि फलं यच्छ्रूयते श्रुतौ। आत्मस्तुतिरसौ तस्मात्त्वन्मनोरथकल्पितम् ॥२००॥

ज्ञान वैसा भी नहीं हो पायेगा। यदि कर्त्रादिबोधकता मानी जाये तब कथंचित् स्वार्थपरकता स्वीकारी भी जा सकती है क्योंकि अवांतरतात्पर्यरूप से उसे मानना संभव है। किंतु अकर्ता का बोध तो सर्वथा बेकार है। एवं च जो वाक्य विधिपरक नहीं हैं, कुछ करने को नहीं कहते, वे अकेले ही निष्फल अतः अप्रमाण होते हैं अतः वेदांतों के प्रामाण्य की सुरक्षा के लिये उन्हे विधिपरक ही मानना अनिवार्य है। विधि का विषय है नियोग (=कार्य), उसके बिना वाक्य पुरुषार्थ में उपयोगी होता नहीं। उपनिषदें यदि सफल व प्रमाण मानना चाहो तो उनसे भी कोई नियोग ही समझना पड़ेगा। उनके श्रवण से अधिकारी को यही समझ आना जरूरी होगा 'मैं ऐसा करूँ'। शास्त्र में जहाँ कोई ज्ञान बताया है वह ज्ञान किसी कर्म का अंग ही है। उदाहरणार्थ दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में कहा है कि 'यजमानपत्नी द्वारा देखा हुआ घी आज्य होता है'; देखना ज्ञानविशेष है, उससे घी में संस्कारविशेष हो जाता है और वह घी आहुति आदि के योग्य होता है। केवल घी देखने का कोई फल नहीं। ऐसे ही आत्मा को जानने मात्र का कोई फल नहीं है, उसे जानने से आत्मा में संस्कारविशेष हो जाता है और ऐसा आत्मा कर्म करके सद्गति पाता है। शास्त्र में कह भी दिया है कि जानकर ही कर्म करे, अतः निश्चित, है कि वेदांतों का तात्पर्य कर्म में ही है, केवल आत्मा को बताने में नहीं ॥१९६-१९८॥

इस शंका का समाधान ज्ञानकाण्ड के साधन, अधिकारी आदि कर्मकाण्ड के साधनादि से विलक्षण हैं यह सिद्ध कर बताया जा चुका है यह बताते हैं –

विद्या का फल प्रत्यक्ष है इस हेतु के बल पर उक्त शंका का समाधान कर चुके हैं व आगे भी करेंगे ॥१९९॥

औपनिषद दर्शन का सबसे प्रबल बल है उसका अनुभव। भगवान् भाष्यकार तथा अन्य आचार्य अपने दृढापरोक्ष के आधार पर ही सभी संभव तर्क काटते चले जाते हैं। अतः सिद्धांती को किसी युक्ति से भय हो नहीं सकता। श्लोक १२९ में विद्वान् की अनुभूति और श्रुति दोनों के सहारे स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मज्ञान सारे अनर्थ का समापक है और निरतिशय आनंद का अभिव्यंजक है। अतः ज्ञान खुद ही सफल है तो उसे अन्यशेष होना पड़े यही ग़लत है। फलवान् की संगति में आया अफल भले ही उसका शेष बने, जो किसी की संगति में नहीं और स्वयं सफल है वह किसी का शेष होवे ऐसा तो जैमिनि आदि भी कह नहीं सकते। श्लोक २७१ आदि में और भी युक्तियाँ बतायी जायेंगी। यद्यपि अनुभवसिद्ध है तथापि आचार्य श्रौत प्रमाणों व युक्तियों द्वारा ही उपनिषदर्थ का निरूपण करते हैं। स्वानुभव अपने लिये व अपने शिष्यों के लिये निर्णायक हो सकता है, जिसे वह अनुभव नहीं ऐसे वादी के लिये नहीं। किंच अनुभव व्यभिचारी भी देखा गया है, सर्प का भी अनुभव होता ही है, अतः श्रुति को ही आधार बनाना संगत है ॥१९९॥

'आत्मज्ञानी शोकसागर से तर जाता है' (छां. ७.१) आदि वाक्य ज्ञानफल बताते हैं। ऐसे वाक्यों पर वादी शंका करता है –

श्रुति में ज्ञान का जो शोकनिवृत्ति आदि फल सुना जाता है वह आत्मा की प्रशंसा है, (फल नहीं), अतः तुम्हे जो जीवन्मुक्ति का अनुभव है वह तुम्हारा मनोरथरूप कल्पना ही है ॥२००॥

कर्माधिकारी आत्मा की स्तुति वेदांतों में की है 'अरे! यह आत्मा बहुत श्रेष्ठ क्योंकि इसकी जानकारी ही शोकादि नष्ट कर देती है' इत्यादि। यह फलवचन नहीं है। कारण यह कि वेदांतों का श्रवणादि कर चुके लोगों में भी सुख-दुःख-मोहादि पूर्ववत् ही मिलते हैं। यदि वेदांतोक्त आत्मा का ज्ञान ही शोकहानि में पर्याप्त होता तो ऐसा न मिलता। अतः निश्चित है कि केवल ज्ञान से कुछ होता नहीं। जो तो सिद्धांती अपने अनुभव का प्रदर्शन करता है वह केवल उसकी दृढ कल्पना है। कामुकको भावना से कामिनी का 'साक्षात्कार' हो जाता है, उसे वह व्यावहारिक ही दीखती है जबकि है प्रातिभासिक। ऐसे ही सिद्धांती 'मैं ब्रह्म हूँ' आदि बार बार सोचता है, बस इसी से उसे यह भ्रम हो जाता है कि वही नित्य

अत्रोच्यते ह्यभिप्रेतं गम्यमानं प्रमाणतः ॥२०१॥
फलं तत्संपरित्यज्य कस्माल्लक्षणया स्तुतिम्। अश्रुतामनभिप्रेतां कल्पयस्यबुधो यथा ॥२०२॥

शुद्ध मुक्त आनंदघन वस्तु है! पागल स्वयं को राजा मानकर बड़ा प्रसन्न बना रहता है तो क्यो उसे सचमुच राजा स्वीकार लिया जाये?

विद्यासागर का पाठ 'तन्मनोरथकल्पितम्' है। अर्थ है कि सिद्धांती ने जो प्रत्यक्षता को हेतु कहा था वह केवल मनोरथ है, प्रत्यक्षता होती नहीं, क्योंकि ऐसा फल कहीं दीखता नहीं। तात्पर्य एक ही है ॥२००॥

सिद्धान्ती पूछता है: 'तरति शोकम्' आदि वाक्य फल बोधन परक क्यों नहीं है? क्या शोकहानि अभीष्ट न होने से उसे फल नहीं मान सकते, या उक्त वाक्य से शोकहानि समझ नहीं आती इसलिये उसे फलोक्ति नहीं मान सकते, अथवा किसी अन्य प्रमाण से वह फल प्रमित नहीं होता इसलिये उसे फल मानने में संकोच है? तीनों ही नहीं कह सकते यह बताते हैं –

उक्त पूर्वपक्ष पर कहते हैं : प्रमाण से समझा जाता अभीष्ट जो शोकहानिरूप फल उसे छोड़ कर तुम एक मूर्ख की तरह ऐसी स्तुति की कल्पना क्यों कर रहे हो जो वाक्य में सुनी नहीं जा रही, अभीष्ट भी नहीं और जिसके लिये लक्षणा करनी पड़ रही है? ॥२०१-२०२॥

'प्रमाण से' द्वारा बताया कि वैसे तो एक प्रमाण का विषय प्रमाणान्तर के संवाद की अपेक्षा रखता नहीं कि अन्य प्रमाण से फल की प्रमिति चाहिये हो, पर प्रकृत में तो तत्त्वनिष्ठ का अबाध्य अनुभव रूप प्रमाण है भी जो उस फल को प्रमित कर रहा है। 'समझा जाता' से कहा कि वाक्य सुनते ही यह मालूम पड़ जाता है कि यह फलोक्ति है। प्रकरणानुसार भी यह फलकथन ही सिद्ध होता है। 'अभीष्ट' से कहा कि शोकहानि सभी को इष्ट भी है अतः उसका फल होना उचित ही है। कामिनीसाक्षात्कार भ्रम है तो क्या तुम्हे जो आँखों से अपनी पत्नी दीखती है वह भी भ्रम मानते हो? जैसे तुम्हारी आँखें प्रमाण हैं वैसे हमारी उपनिषदें प्रमाण हैं! अगर खुद को राजा मानने से पागलतुल्यता है तो तुम खुद को वेदज्ञ माने बैठे हो तो क्या पागल ही हो? तुमने वेदाक्षर जाने हैं, हमने वेदार्थ जाना है, इतनी विशेषता है!

यह भी बताओ कि फलवचन को अर्थवाद मानकर इस वाक्य को आत्मा की स्तुति में तात्पर्य वाला कह क्यों रहे हो: १) क्या वाक्य से सीधे ही स्तुति समझ आ रही है इसलिये; या २) स्तुति अभीप्सित है इसलिये; या ३) किसी अन्य प्रमाण से स्तुति सिद्ध है इसलिये?

प्रथम पक्ष अग्राह्य है क्योंकि सीधे तो स्तुति सुनायी दे नहीं रही, लक्षणा से तुम उसकी कल्पना कर रहे हो। श्रुति से सीधे ही समझ आते और विद्वानों के अनुभवरूप से प्रकाशमान फल को छोड़कर विना किसी अनुपपत्ति के तुम लक्षणा का परिश्रम करते हुए अपनी अविचारशीलता ही प्रकट कर रहे हो। जहाँ स्तुतिवाचक कोई शब्द हो जैसे 'प्राणं स्तुवन्ति' (प्रश्न० २.४) आदि, वहाँ स्तुति मानना ठीक है। उसके बिना मनमाने ढंग से स्तुति स्वीकारना बुद्धिमानी नहीं। यह भी कह नहीं सकते कि स्तुति अभीप्सित है क्योंकि वह न सुखप्राप्तिरूप है, न दुःखहानिरूप और न इनका साधनरूप। लोक में स्तुति यद्यपि प्रसन्न कर देती है तथापि वेदांत तो आत्मा को निठल्ला, कुछ भोगने में असमर्थ आदि कह रहे हैं, इन्हे स्तुति कौन मानेगा और इससे कौन खुश होगा? अतः द्वितीय पक्ष गलत है। तीसरा भी अमान्य है क्योंकि शोकादिनाश आत्मस्तुति है यह किसी प्रमाण से मालूम चलता नहीं। अतः बिना आधार फलवाक्य को स्तुति मानने वाले तुम मूर्ख ही हो!

वादी को गैरसमझ कहने का अभिप्राय है कि अनुभवारूढ प्रक्रिया रहने दो तो भी उसकी अपनी प्रक्रिया से ही यहाँ स्तुतिपरकता सिद्ध नहीं होगी। अभिप्रेत होने से विश्वजिन्न्याय से शोकहानि फल है तथा गम्यमान होने से आर्थवादिक होने पर भी रात्रिसत्रन्याय से वह फल ही है। इतना ही नहीं अदृष्टद्वारकता असिद्ध होने से दृष्ट का अपलाप साहसमात्र ही

न चास्त्येकविषयत्वं प्रत्यक्षवचसोर्यतः।· श्रुत्यैव परिहारोक्तेः स्वप्नादिस्थानसंचरात् ॥२०३॥
बहुशोऽसङ्गवचसा निःसङ्गत्वं ब्रुवाणया। मनोराज्यसमं मन्ये सर्वमेतत्त्वयोदितम् ॥२०४॥
न प्रत्येमि यतः साक्षात्प्रत्यक्षं ज्ञानतः फलम्।

है: चित्रायाग से पशु मिलने पर तो शंका हो भी सकती है कि वह चित्रा से मिला या अन्य ही हेतु से मिला, क्योंकि कालव्यवधानादि है, अदृष्टद्वारकता है; किंतु जैसे आँख से घट दीखे तो कोई शंका नहीं होती ऐसे प्रमाणवृत्ति से निवृत्ताविद्य आत्मा में शंका होगी कैसे? अतः विद्वदनुभव को मनोरथ मानना प्रमाणविरोध के कारण संभव नहीं। अतएव आचार्य श्रुतिप्रमाण पर अत्यधिक बल देते हैं, अनुभव को विचार का आधार नहीं बनाते। इस प्रकार वेद जो कह रहा है उसे छोड़ना और जो कह नहीं रहा उसकी कल्पना करना, इन दो दोषों के कारण फलवचन आत्मस्तुति के तात्पर्य से नहीं आया है यह निश्चित हुआ ॥२०१-२०२॥

वादी कहता है कि 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रत्यक्ष से आत्मा का शोक प्रमित होने से उक्त वाक्य को फलोक्ति न मानकर स्तुति मानना चाहिये।

इस पर सिद्धान्ती विकल्प करता है : प्रत्यक्ष और श्रुति क्या एक ही वस्तु को विषय कर रहे हैं इसलिये इनका विरोध है अथवा विभिन्नविषयक हैं इसलिये विरोध है? विभिन्नविषयक होने पर तो विरोध मानना ग़लत होगा क्योंकि तब तो प्रायः सर्वत्र विरोध मानना पड़ेगा : चक्षु से रूप दीखता है, शब्द नहीं, वह श्रोत्र से सुनायी देता है; कमरे में रूप का प्रत्यक्ष और शब्द का प्रत्यक्ष हो तो दोनों का परस्पर विरोध मानना पड़ेगा। अतः विरोध के लिये एकविषयकता ही कहनी होगी। और वह बनती नहीं यह कहते हैं –

और प्रत्यक्ष व शास्त्रवचन एक ही को विषय नहीं कर रहे क्योंकि कई बार असंग बताने से आत्मा की संगरहितता बताती हुई श्रुति द्वारा स्वप्न आदि अवस्थाओं में जाना-आना कहकर एकविषयता की शंका का समाधान कर दिया गया है ॥२०३$\frac{१}{२}$॥

'कई बार' से अभ्यासरूप तात्पर्यलिंग दिखाया अर्थात् निःसंगता-प्रतिपादन में शास्त्र का अभिप्राय है। बृ. ३.९.२६, ४.३.१५, ४.२.४, ४.४.२२, ४.५.१५ आदि स्थलों पर असंगता बारम्बार कही गयी है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने बताया है कि जैसे कोई बड़ा मच्छ नदी के दोनों किनारों पर घूमता है अतः दोनों किनारों से पृथक् ही रहता है ऐसे ही आत्मा तीनों अवस्थाओं में घूमता है अतः तीनों अवस्थाओं से, इनके धर्मों से व इनके अभिमानियों से वह विलक्षण ही है! अवस्थादि तो आने-जाने वाले हैं, आत्मा स्थायी है क्योंकि उन सबके होने-न होने का वही साक्षी है। वही सनातन है, आनन्द है, विज्ञानरूप है, प्रत्यक् है। इसलिये आत्मा को दुःख नहीं हो सकता क्योंकि दुःख तो अवस्थासम्बन्ध के अधीन है: 'मैं दुःखी' यह अनुभव ऐसे ही मैं को विषय करता है जो किसी अवस्था वाला हो। अतः अस्मत्पदार्थ में दुःखाधिकरणता का अवच्छेदक है अवस्थावत्त्व। जब आत्मा के अवस्थावत्त्व का निराकरण कर दिया तब यह स्पष्ट हो गया कि 'मैं दुःखी' का 'मैं' वह आत्मवस्तु नहीं है जिसे शास्त्र शोकरहित कह रहा है। इसलिये 'मैं दुःखी' यह विशिष्टविषयक है व शास्त्र है केवल स्वरूपविषयक। फलतः दोनों विभिन्न विषयक होने से कोई विरोध ही नहीं कि आन्यार्थता की कल्पना करें।

जो तो यह अनुमान है : आत्मा, कर्तृत्वादि धर्मों वाला है, 'मैं'-बुद्धि का विषय होने से, जैसे मन; इसमें पहले तो स्वरूपासिद्धिदोष है क्योंकि आत्मा तो केवल कहने को अस्मत्प्रत्ययविषय है, सचमुच नहीं। और यदि मान भी लें तो 'कदाचिद् अस्मद्बुद्धिविषयत्व' अथवा 'आगमापायित्व' उपाधि है। अतः अनुमान व्यर्थ है ॥२०३$\frac{१}{२}$॥

उक्तरीति से शोकहानिबोधक वाक्य फलवचन ही सिद्ध हुआ। अब वादी की शंका के समाधानार्थ उसका अनुवाद करते हैं –

तुम सिद्धान्ती द्वारा कहा यह सब मनोराज्य की तरह ही है ऐसा मैं पूर्वपक्षी मानता हूँ क्योंकि ज्ञान से कोई फल मुझे साक्षात् प्रत्यक्ष होता नहीं ॥२०४$\frac{१}{२}$॥

श्रुतादपि न चेद्वाक्याज्जायेत फलवन्मतिः। आशङ्क्येत तदैवैतद्यदेतद्भवतोदितम् ॥२०५॥

'यह सब' अर्थात् परमात्मा एकरस ज्ञान-सुखरूप है, उस पर कर्तृत्वादि अध्यस्त है, परमात्मज्ञान से कर्तृत्वादि का सकारण समापन हो जाता है तथा तत्त्वज्ञानी को परमात्मा का प्रत्यक्ष होने से इस विषय में निश्चय होना चाहिये। ये सभी बातें कल्पनारूप ही हैं। उपलब्धि के योग्य वस्तु यदि उपलब्धि की सामग्री रहते उपलब्ध न हो तो यह निश्चय होता है कि वह वस्तु उपस्थित नहीं है। ऐसे ही मुझ पूर्वपक्षी ने आपकी बात का श्रवण किया फिर भी दुःखी, कर्ता, भोक्ता आदि यथापूर्व हूँ, इसलिये मैं निश्चय कर सकता हूँ कि केवल ज्ञान होने से कोई फल नहीं होता। इतना ही नहीं जिन्हें ज्ञानी माना जाता है ऐसे लोगों को भी सुखी-दुःखी देखा जाता है अतः ज्ञानफल कर्तृत्वादि की निवृत्ति कैसे मानें? जो तो 'बाधितानुवृत्ति' के सहारे सिद्ध का भोगादि माना जाता है वह अप्रामाणिक है, मनगढ़न्त व्यवस्था है।

अथवा श्लोकों की ऐसी योजना है :'ज्ञानतः फलं साक्षात्प्रत्यक्षं न प्रत्येमि [इति] एतत्सर्वं त्वया (=पूर्ववादिना) उदितं मनोराज्यसमं मन्ये (अहं सिद्धान्ती) यतः श्रुतादपीत्यादि'। तात्पर्य है कि वादी ने जो जीवन्मुक्ति के अनुभव को मनोरथरूप कल्पना कहा था (श्लो. २००) उस पर आचार्य कह रहे हैं कि जैसे अनिष्ट परिस्थिति आने पर मानसिक असंतुलन वाले व्यक्ति यह दृढ कल्पना कर लेते हैं कि वह परिस्थिति है ही नहीं, ऐसे ही वादी भी जीवन्मोक्ष को नकारने का प्रयास कर रहा है। सिद्धान्ती के अनुभव को मनोराज्य कहने के लिये वादी के पास कोई प्रमाण नहीं था, जबकि सिद्धान्ती जब वादी की बात को मनोराज्य कह रहा है तो श्रौत आधार पर कह रहा है यह विशेषता है। वादीने केवल लौकिकानुभव पर अपना मत आधृत किया था। वह अनुभव तो विशिष्टविषयक है यह पूर्व डेढ़ श्लोक में कह चुके। अतः उसके मत को मनोराज्य कहना उचित है। अत एव शब्दचयन से व्यंग्य भी है कि साक्षात् प्रत्यक्ष भी जो फल है उसे 'न प्रत्येमि' कहना केवल मनोराज्य ही हो सकता है! यह ध्यान देने योग्य है कि वादी ने तो 'त्वन्मनोरथकल्पितम्' कहा था जबकि सिद्धांती केवल मनोराज्य के समान ही कह रहा है। सिद्धांती का तात्पर्य है कि वादी का अनुभव मिथ्या है इतनें में तो मनोराज्यसम है पर मनोराज्य की तरह वादी चाहकर वैसा कर नहीं रहा। इस योजना में इतिपद का अध्याहार यदि क्लेश दे तो ऐसे भी समझ सकते हैं:'सर्वमेतत्त्वयोदितं मनोराज्यसमं मन्ये (अहं सिद्धान्ती), न प्रत्येमि (= न श्रद्दधामि), यतः' इत्यादि। किंतु टीकाकारों ने 'ब्रुवाणया' तक सिद्धांती का वचन, उसके बाद 'फलम्' तक पूर्वपक्ष का अनुवाद और तब 'श्रुताद्' से सिद्धांती का उत्तर माना है ॥२०४$\frac{१}{२}$॥

अनुवाद किये पूर्वपक्ष का निषेध करते हैं कि विद्या का फल प्रत्यक्ष है, यह केवल मनोरथ नहीं है –

श्रवण किये वाक्य से भी यदि सफल ज्ञान न होता तब आपके द्वारा कही गयी यह शंका उठ भी सकती थी (लेकिन हो जाता है इसलिये शंका उठ ही नहीं सकती!) ॥२०५॥

अधिकारी को शास्त्र ज्ञान कराता है यह सर्वसंमत है। साधनचतुष्टयसम्पन्न तथा पदार्थशोधन किये व्यक्ति को यदि महावाक्य से अद्वैतज्ञान न होता और ज्ञान से अनर्थनिवृत्ति न होती तब तो यह शंका हो सकती थी कि क्या शास्त्र ज्ञान को सफल कह रहा है या नहीं। किंतु जब अधिकारी को ज्ञान व फल हो रहा है तब यह शंका किस आधार पर की जाये? वाजपेयवाक्य से गैरब्राह्मण को 'यह वाक्य मुझे कोई कर्तव्य बता रहा है' ऐसा बोध न होने से जैसे तुम मीमांसक उस वाक्य को ही अप्रामाणिक नहीं मान बैठते वैसे ही अविवेकी, कामुक, अंतर्बाह्य इन्द्रियों के वशीभूत, गृहस्थ, असहनशील, विक्षिप्तमति, अश्रद्धालु तथा निर्विशेष मोक्ष के लिये अनुत्सुक तुम पूर्वपक्षी को वाक्य से ज्ञान व उसका फल न होने पर भी हम शास्त्र के तात्पर्य में शंका नहीं कर सकते, यह भाव है। उपलब्धि के योग्य वस्तु उपलब्ध हो ही रही है अतः उसके न होने का प्रसंग ही नहीं। जैसे यदि अंधा कहे कि रूप है नहीं क्योंकि मुझे नहीं दीखता तो उसकी बात उपेक्षणीय है ऐसे ही वादी की बात भी है क्योंकि वाक्यीय बोध के योग्य वह है नहीं। जो तो बाधितानुवृत्ति को मनगढ़न्त बताया था वह भी शास्त्र के अनभ्यास से ही क्योंकि 'जैसे साँप की केचुली' (बृ. ४.४.७), 'स मोदते मोदनीयं हि

नित्यमुक्तत्वविज्ञानं वाक्याद्भवति नान्यतः। वाक्यार्थस्यापि विज्ञानं पदार्थस्मृतिपूर्वकम् ॥२०६॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थः स्मर्यते ध्रुवम्। एवं निर्दुःखमात्मानमक्रियं प्रतिपद्यते ॥२०७॥
सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः प्रमा स्फुटतरा भवेत्। दशमस्त्वमसीत्यस्माद्यथैवं प्रत्यगात्मनि ॥२०८॥

लब्ध्वा' (कठ. २.१३), 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठ. ५.१), 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' (कठ. ६.१४), 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' (मुं. ३.१.४), 'इमाल्ँलोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसञ्चरन् एतत् साम गायन्नास्ते' (तै. ३.१०), 'न लोम च नामीयत' (कौ. ३.१), 'विद्वांस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोद्य कश्चनाश्रुतम्' (छां. ६.४.५), 'एवं विजानन्⋯सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छां. ७.२५.२), 'तावदेव चिरम्' (छा. ६.१४.२) आदि श्रुतियाँ ही जीवन्मुक्ति में प्रमाण हैं। 'मत्त्वा न सज्जते' (गी. ३.२८) 'अकर्म यः पश्येत्' (४.१८), 'पश्यञ्शृण्वन्' (५.८) 'सर्वथा वर्तमानोपि' (६.३१), 'समं पश्यन्⋯न हिनस्ति' (१३.२८) आदि भगवद्वचन स्पष्ट करते हैं कि बाधित की भी अनुवृत्ति होती है। लोक में भी सोपाधिक भ्रमस्थल पर बाधित लालिमा की अनुवृत्ति सर्वलोक प्रसिद्ध है। अतः उसे मनगढ़न्त कहना अविचार से ही संभव है।

यद्यपि 'यं भावं दर्शयेद्यस्य' (गौ. का. २.२९) न्याय से मुक्तानुभव आदि को भी अपारमार्थिक कहा जा सकता है और 'न वै मुक्तः' (गौ. का. २.३२) स्वीकारने वाले अजात सिद्धान्ती के लिये वह अनिष्ट भी नहीं है तथापि व्यावहारिक प्रातिभासिक का भेद करने पर वादी की कल्पना श्रुतिबाधित होने से प्रातिभासिक है जबकि सिद्धान्ती की भी भले ही कल्पना हो, श्रुतिबोधित होने से व्यावहारिक है, यह अंतर है। प्रामाणिक विचारसहिष्णु को ही लोक में सत्य कहते हैं अतः सिद्धांत की स्थापना सत्य ही ठहरती है। एवं च अपारमार्थिकत्व सामान्य से सिद्धांत को पूर्वपक्षों की कोटि में रखें तब तो रोटी की जगह पत्थर खाने पड़ेंगे, पानी की जगह आग प्यास बुझायेगी! यदि साफल्य को निर्णायक माने तो भी भगवान् भगवत्पादीय दर्शन ही सत्य है ॥२०५॥

आत्मस्वरूप केवल उपनिषत्समधिगम्य है इसलिये यह आशा नहीं करनी चाहिये कि शास्त्रातिरिक्त किसी उपाय से उसका प्रत्यक्ष हो जायेगा। जैसे सुनिश्चित ढंग से किया ज्योतिष्टोमादि ही स्वर्ग दिलाता है ऐसे शास्त्रोक्त रीति से किया साधनानुष्ठान ही तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करता है। मुख्यतः साधनसंपन्न हो एकाग्रता पूर्वक विचार करते हुए गुरुमुख से श्रवण करना ही रीति है। अन्य आवश्यक अंग भी शास्त्रों में बताये हैं जो सब श्रवण की इतिकर्तव्यता रूप से संग्राह्य हैं। जैसे लौकिक शब्दार्थ के ज्ञाता को ही लौकिक वाक्यार्थ का अनुभव संभव है वैसे महावाक्य के अर्थ के अनुभव के लिये महावाक्य में आये शब्दों के अर्थों का ज्ञान अनिवार्य है। यह हुए बिना वाक्यार्थज्ञान नहीं होता। वादी को श्रवण से ज्ञान नहीं हुआ उसमें यही हेतु है यह समझाने के लिये भगवत्पूज्यपादों के तीन श्लोक (उप. सा. १८.१९०-१९२) स्वयं वार्तिककार उद्धृत करते हैं –

आत्मा की सदातन मुक्तता का दृढ साक्षात्कार महावाक्य से ही होता है, अन्य किसी कारण से नहीं। वाक्य के अर्थ का अनुभव भी तभी होता है जब पहले वाक्यान्तर्गत शब्दों के तात्पर्यार्थ उपस्थित हों। अन्वय-व्यतिरेक से ही महावाक्यान्तर्गत शब्दों के अभिप्रेत अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से मालूम पड़ता है कि दुःखरहित, क्रियारहित आत्मा वाक्यीय पदों का अर्थ है। तब 'सत् ही' इत्यादि वाक्यों से अतिस्पष्ट अखण्डप्रमा होती है। जैसे 'तू दसवा है' वाक्य से 'मैं दसवा हूँ' ऐसा अपरोक्ष साक्षात्कार होता है ऐसे ही महावाक्य से प्रत्यगात्मा के बारे में अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है ॥२०६-२०८॥

इन वचनों से आचार्यों ने स्पष्ट किया कि क्यों सभी अध्येताओं को आत्मबोध नहीं हो जाता। प्रसिद्ध महावाक्य है तत्त्वमसि। उसमें आये पद हैं तत् और त्वम् जिनका अर्थ समझना जरूरी है क्योंकि असि (=है) का अर्थ तो असंदिग्ध ही है। तत्-पद से कारण ब्रह्म बताया है व त्वं-पद से जीव। दोनों का अभेद असंभव है अतः वाक्यार्थभूत अभेद के उपयुक्त अर्थ को समझना होगा। तत्पदार्थ शास्त्रीय ही है अतः उसका वाक्यान्वययोग्य अर्थ भी शास्त्र से ही समझ आ

जाता है। त्वम्पदार्थ प्रत्यक्ष है अतः उसका वाक्यान्वययोग्य अर्थात् तात्पर्यविषयीभूत अर्थ केवल शास्त्रगम्य नहीं है, उसका प्रत्यक्ष अपेक्षित है। जिसे हम 'मैं' समझ रहे हैं उसी में कुछ हिस्सा है जो वाक्यान्वययोग्य है। अन्वय अर्थात् अनुगत का विचार और व्यतिरेक अर्थात् व्यावृत्ति का विचार, इस द्विविध विचार से ही मैं का वह अर्थ भासेगा जो तत्पदार्थ से अभिन्न होवे यह संभव है। मैं अपरोक्ष वस्तु है अतः उस अन्वययोग्य मैं का भी अपरोक्ष ही चाहिये। जैसे देवदत्त की जानकारी वाले भी अंधे को यदि अंगुली से निर्देश कर कहें 'वह देवदत्त है' तो उसे देवदत्त का अपरोक्ष नहीं होगा ऐसे ही तात्पर्यविषय त्वम्पदार्थ के अपरोक्ष से रहित को महावाक्य से अखण्डापरोक्ष नहीं होगा। यद्यपि भीड़ में खड़ा देवदत्त चक्षुष्मान् को दीखता है तथापि क्योंकि उसको अलग से नहीं जानता इसलिये 'सामने देवदत्त है' सुनकर चक्षुष्मान् को भी 'मैंने देवदत्त का प्रत्यक्ष किया' ऐसा अनुभव नहीं हो पाता; ऐसे ही तात्पर्यविषय त्वमर्थ को यद्यपि उपाधियों से एकमेक कर जान रहे हैं तथापि मात्र उसे नहीं जानते इसलिये वाक्यार्थज्ञान नहीं हो पाता। जैसे 'लाल पगड़ी वाला देवदत्त है' सुनकर चक्षुष्मान् भीड़ के उन लोगों को छोड़ता जाता है जो लाल पगड़ी वाले नहीं, तब 'देवदत्त को प्रत्यक्ष देखा' यह समझता है और यह अनुभव करता है 'प्रत्यक्ष तो पहले भी देख ही रहा था!', इसी प्रकार तत्त्वमसि सुनकर तत् से अभेद के अयोग्य त्वमर्थों को छोड़कर (व्यतिरेक), उसके योग्य त्वमर्थ को ग्रहण कर (अन्वय) साधक को अद्वैतप्रत्यक्ष हो जाता है। अन्वययोग्य पद-अर्थों को ही शुद्ध पदार्थ कहा जाता है और शुद्ध पदार्थ के बोध को ही पदार्थ का शोधन कहते हैं। शोधित पदार्थ के ज्ञान से रहित को सुनकर भी वाक्यार्थ ज्ञान नहीं होगा।

'पदार्थस्मृतिपूर्वकम्' में स्मृतिपद उपस्थितिपरक है, वह स्मृतिरूप हो या स्मृतिसमान हो इसमें यहाँ आग्रह नहीं। 'पदार्थः स्मर्यते' में स्मर्यते का अर्थ विविक्त ज्ञान है। 'ध्रुवा स्मृतिः' (छां. ७.२६.२) आदि में स्मृतिपद ज्ञानार्थक प्रसिद्ध ही है। प्रकृत में ज्ञायते न कहकर स्मर्यते कहने का तात्पर्य है कि वाक्यश्रवणकाल में ज्ञान अपेक्षित है। केवल समाहितावस्था में एक-आध बार शुद्ध वस्तु का भान होना मात्र वाक्यार्थज्ञान के लिये पर्याप्त नहीं। पुनः पुनः उसके ज्ञान से संस्कार दृढ करने पड़ेंगे ताकि वाक्यश्रवण होने पर वही अर्थ उपस्थित हो। 'निर्दुःखम्' से शोधित त्वमर्थ तथा 'अक्रियम्' से शोधित तदर्थ कहा है यह विद्यासागरीय में स्पष्ट किया है।

केवल पदार्थज्ञान मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं। पदार्थज्ञान तो अन्वय-व्यतिरेक से होगा और वे दोनों प्रमाण हैं नहीं। अतः प्रमा के लिये वाक्य ही साधन है। किं च शुद्ध त्वमर्थ का ही अपरोक्ष वाक्य के विना होगा, इससे भेदभ्रम का बाध संभव नहीं। जिसने यह सुन रखा हो कि 'कुन्ति का एक पुत्र है जो न जाने कहाँ है' उस व्यक्ति को इतना निश्चय हो भी जाये कि 'मैं राधेय नहीं हूँ' फिर भी यह भ्रम कैसे दूर होगा कि 'मुझ से भिन्न ही कोई कौन्तेय है'? इसके लिये तो उसे यह कहा ही जाना पड़ेगा कि 'तू ही कौन्तेय है'। ऐसे ही मुझ से भिन्न जगत् व ईश्वर है ऐसा हम मान रहे हैं। यदि उपाधिभिन्न खुद का ज्ञान पक्का हो जाये तो भी जगत् व ईश्वर को भिन्न समझने में कोई रुकावट नहीं व दूसरा रहते हम भयभीत ही होंगे, मोक्ष कहाँ? वस्तुतस्तु अद्वैतविषयक अज्ञान से बंधन है अतः अखण्डज्ञान से ही मोक्ष होगा। यही उचित है।

'सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः' का अर्थ है 'सदेव' यह है आदि अर्थात् उपक्रम में जिसके ऐसे तत्त्वमसि वाक्य। छांदोग्य में 'सदेव' से आरंभ किये प्रकरण में नौ बार तत्त्वमसि वाक्य आये हैं। अथवा 'सदेव' का 'तत्त्वमसि' के 'असि' से सम्बंध है क्योंकि तत्पद से 'सदेव' से कहा परमात्मा ही परामृष्ट है। अतः 'सदेव' अर्थात् 'सदेवासि' इत्यादि सब महावाक्य। इस वाक्य के बारे में शंका होती है कि यह भी वाक्य होने से विधिवाक्य की तरह केवल वस्तु के विषय में प्रमाण नहीं। किन्तु विकल्प होगा कि इस वाक्य की अप्रमाणता का रूप क्या है:

१) क्या यह वाक्य प्रमा को उत्पन्न नहीं करता, या २) यह वाक्य सदोष सामग्री है, या ३) इसके विषय को कोई और प्रमाण विषय कर चुका है, या ४) यह अपरोक्ष ज्ञान का जनक नहीं है? इनमें प्रथम पक्ष अस्वीकार्य है क्योंकि यह प्रमा उत्पन्न करता ही है। यदि कहो कि वाक्य होने से वस्तुमात्र में प्रमाण नहीं तो भी ठीक नहीं क्योंकि 'तू दसवा है'

अमात्वाशङ्काऽसद्भावान्मान्तरैश्चाविरोधतः। वक्ष्यत्येतच्च यत्नेन लोकसिद्धोपपत्तिभिः ॥२०९॥
चतुष्यान्मानिरासेन साक्षाज्ज्ञानफलं ततः ॥२१०॥
नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमाद्यथा। न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥२११॥
अपविद्धद्वयोऽप्येवं तत्त्वमित्यादिना विना। वेत्ति नैकलमात्मानं प्रत्यङ्मोहाप्रबोधतः ॥२१२॥

यह वाक्य ही है और वस्तुमात्र में प्रमाण है। 'प्रकृष्ट प्रकाश वाला चंद्र है' आदि वाक्य भी वस्तुमात्र में प्रमाण प्रसिद्ध ही हैं ॥२०६-२०८॥

साहस्रीवचनों का उद्धरण पूरा कर अब वाक्य की अप्रमाणता के बाकी विकल्पों का निराकरण करते हैं –

वैदिक महावाक्य में अप्रमाणता की शंका नहीं है और इसके अर्थ का अन्य प्रमाणों से विरोध नहीं है, इसलिये यह प्रमाण ही है। यह बात लोकसिद्ध युक्तियों से प्रयत्नपूर्वक आगे बतायेंगे ॥२०९॥

सदोष सामग्रीरूपता वाक्य में नहीं क्योंकि यह वैदिक वाक्य है। अपौरुषेय वाक्य की सदोषता की कल्पना भी संभव नहीं। अतः द्वितीय विकल्प हट गया। अन्य प्रमाण विशिष्टविषयक ही है, स्वरूपविषयक नहीं इसलिये तृतीय विकल्प भी निवृत्त हो गया। वाक्य भी अपरोक्ष ज्ञान देता है यह 'दसवा तू है' आदि से दिखा चुके हैं, आगे भी भाष्य में (पृ. ८१) तथा वार्तिक में इसे स्पष्ट करेंगे। जैसा प्रमेय होता है वैसा ज्ञान उत्पन्न करना प्रमाण का काम है अतः परोक्ष वस्तु का परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान कराने वाला ही प्रमाण हो सकता है। विषय की अपरोक्षता तो प्रमाता से अभिन्नता ही है जबकि ब्रह्म स्वभाव से ही अपरोक्ष है। इसलिये परमात्मा की प्रमिति कराने वाला वाक्य उसका अपरोक्ष ही ज्ञान करा सकता है। परोक्ष ज्ञान कराये तो वह प्रमाण ही रह नहीं जायेगा। अतः जो लोग शब्द से अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं मानते उन्हे भाष्य व वार्तिक की परम्परा से बहिष्कृत ही समझना चाहिये। जो भाष्यकार ने मन को करण कह दिया है वह इसलिये कि वृत्ति का उपादान होने से संस्कृत मन की असाधारण कारणता मान्य है। प्रमाण तो उन्हें शास्त्र ही स्वीकृत है। अतएव उनके दोनों शिष्यों ने यही स्वीकारा है कि शब्द से अपरोक्ष होता है ॥२०९॥

'आगे बतायेंगे' यह कहा, उसी का दिङ्मात्र निर्देश कर देते हैं –

चार अंश मिलकर प्रमा पैदा करते हैं इस मत के निरास द्वारा स्पष्ट करेंगे कि वाक्य से ही साक्षात् ज्ञान रूप फल होता है ॥२१०॥

कुछ वादी शब्द, युक्ति, प्रसंख्यान और आत्मा ये चार अंश मिलकर आत्मसाक्षात्कार पैदा करते हैं ऐसा मानते हैं। श्लोक ८१० आदि में इस मत का खण्डन करेंगे ॥२१०॥

प्रश्न होता है: अपरोक्ष-संविद्-रूप होने से आत्मा को अज्ञात नहीं कह सकते और अज्ञात हुए बिना वह प्रमाण का विषय नहीं माना जा सकता, अतः वह वेदरूप प्रमाण से सिद्ध कैसे? इसके उत्तर के लिये पूर्वोक्त 'दसवा तू है' वाले दृष्टान्त का ही विस्तार करते हैं –

जैसे वस्तुतः दसवा बालक अपने से अन्य नौ लोगों को देखते हुए भी क्योंकि नौ को गिनने में ही अपनी बुद्धि लगाये रखता है इसलिये भ्रमवश यह नहीं समझता कि 'मैं ही दसवा हूँ'; ऐसे ही वस्तुतः अद्वितीय आत्मा भी प्रत्यगात्मसम्बन्धी अप्रबोधरूप मोह के कारण तत्त्वमस्यादि वाक्य के बिना 'मैं ही एकमात्र हूँ' यह नहीं समझ पाता है ॥२११-२१२॥

दसवा बालक खुद को देवदत्तादि भले ही जानता हो, 'मैं दसवा हूँ' यह नहीं जानता जब तक कोई कह नहीं देता 'तू दसवा है'। 'भ्रमवश' अर्थात् 'मैं दसवा हूँ' इस तत्त्व के ज्ञान के प्रतिबंधक अज्ञान के कारण। आत्मा भी है भले ही अद्वितीय और हम लोग आत्मा को ही किसी न किसी रूप में चाहे जानते ही रहते हैं। फिर भी वाक्य के बिना 'मैं ही

बुभुत्सोच्छेदिनैवास्य सदसीत्यादिना दृढा। प्रतीचि प्रतिपत्तिः स्यात्प्रत्यगज्ञानबाधया ॥२१३॥
निःशेषकर्मसंन्यासो वाक्यार्थज्ञानजन्मने। तस्याऽऽरादुपकारित्वात्सहायत्वाय कल्प्यते ॥२१४॥

अद्वितीय हूँ, सारा द्वैत है ही नहीं' यह ज्ञान नहीं हो सकता। अविद्यादशा में सामान्य अर्थात् चेतनरूप से अपरोक्ष है पर विशेष अर्थात् भूमरूप से अज्ञातता है अतः आत्मा प्रमेय है। बन्ध व मोक्ष में एक-सी रहने से चेतनता ही यहाँ सामान्य है और मोक्ष में ही व्यक्त होने से भूमरूपता ही विशेष है।

मोह को प्रत्यगात्मसम्बंधी कहा क्योंकि प्रत्यगात्मा पर आश्रित रहकर उसे ही विषय करने वाला अज्ञान है। जैसे काई पानी पर आश्रित रहकर उसे ही ढाँकती है वैसे यहाँ भी है। सही ज्ञान न होने से यह मोह कहा जाता है व तत्त्वविद्या से निरसनीय है अतः अप्रबोध कहा जाता है। खुद जानकारी रूप भी आत्मा ऐसे अज्ञान से अज्ञात है। सर्वत्र अज्ञान का विषय होना ही अज्ञात होना है और यह विषयता प्रत्यगात्मा में मान्य है क्योंकि 'मैं ब्रह्म हूँ यह नहीं जानता' ऐसा सब को लगता ही है। अज्ञान जगद्रूप भ्रम का परिणामी उपादान है अतः कोई अभाव पदार्थ नहीं है कि किसी को विषय न कर सके। इसलिये अभावविलक्षण जो अज्ञान उसका विषय हुआ आत्मा अज्ञात अतः प्रमेय है अतः वाक्य की तद्विषयक प्रमाणता संगत है।

यदि 'प्रत्यङ्मोहाप्रबाधतः' पाठ हो तो अर्थ स्पष्ट है कि प्रत्यगात्मसम्बन्धी मोह क्योंकि बाधित नहीं हो चुका है इसलिये आत्मा अपने अद्वितीय स्वरूप को साक्षात् नहीं जान पाता ॥२११-२१२॥

शब्द से वह समझाया जाता है जिसे समझने की इच्छा हो, आत्मा तो हमेशा अपरोक्ष है, उसे समझना कोई चाहे यह संगत नहीं, अतः वह शब्द से समझा जाने योग्य कैसे? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं –

आत्मा को समझने की इच्छा पूरी करने वाले 'तू सद्ब्रह्म है' इत्यादि वाक्य द्वारा ही प्रत्यक्सम्बन्धी अज्ञान के बाध से आत्मा के बारे में दृढ बोध होता है ॥२१३॥

यद्यपि आत्मा स्वप्रकाश है तथापि व्याकरण, निरुक्त आदि समेत वेद पढ़ने पर अथवा कहीं सत्संगादि में आत्मा के पूर्वोक्त विशेष रूप का आपात ज्ञान होता है जिससे आत्मा भी जिज्ञास्य हो जाता है। आपात अर्थात् विचारादि के बिना 'जैसा मुझे प्रत्यक्ष है इससे कुछ विलक्षण आत्मा बताया गया है' ऐसा ज्ञान। संशय का विरोध न कर पाने वाला ज्ञान भी आपात ही कहा जाता है ऐसा अनन्तदेव ने सिद्धान्ततत्त्व नामक लघुकाय वेदान्त प्रकरण में सूचित किया है। एवं च आत्मा जिज्ञास्य होने से शब्द द्वारा बोध्य है, बल्कि वार्तिककार ने स्पष्ट किया कि शब्द से ही बोध्य है। दृढ अर्थात् अबाधित तथा निःसंदिग्ध। शंका हो सकती है कि वाक्य यदि अज्ञात आत्मा को विषय करे तो अज्ञान भी वाक्य का विषय होगा जैसे दण्डधारी का आनयन करने पर दण्ड का भी आनयन हो जाता है, और तब अज्ञान भी प्रमित होने से सत्य हो जायेगा। इसके समाधानार्थ कहा 'अज्ञान के बाध से'। आत्मा का विशेषण न होकर अज्ञान उसका उपलक्षण ही है और उसके बाध से उपलक्षित आत्मा वाक्यजन्य ज्ञान में भासता है अतः अज्ञान का प्रमेय होना संभव नहीं। वस्तुतः सर्वत्र यही रीति है, घटप्रमा का विषय भी अज्ञात घट हो तो घटाज्ञान को भी घटप्रमा का विषय मानने का प्रसंग आ जायेगा। अतः वहाँ भी अज्ञाननिवृत्ति से उपलक्षित घट (या तदवच्छिन्न चेतन) ही प्रमेय है। अथवा अज्ञात घट को ज्ञानविषय मानने में व्याघात है और ज्ञात घट को ज्ञानविषय मानने में अनवस्थादि अतः घटमात्र को ज्ञानविषय मानते हैं, ऐसे ही आत्ममात्र को वाक्यजन्यज्ञान का विषय मानना चाहिये जिससे उक्त शंका का अवसर नहीं है ॥२१३॥

'वाक्य द्वारा ही बोध होता है' सुनकर वादी को शंका हो सकती है कि तब जो पहले (श्लो. १४) संन्यास की ज्ञानोपायता प्रतिज्ञात की थी उसे यहाँ छोड़ दिया; अतः कृपा कर आचार्य स्पष्ट करते है –

समस्त कर्मों का त्याग वाक्यार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति के लिये श्रवणादि का निकट से सहायक बनता है ॥२१४॥

त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्। त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम् ॥२१५॥
शान्तो दान्त इति तथा सर्वत्यागपुरःसरम्। उपायमात्मविज्ञाने श्रुतिरेवाब्रवीत्स्वयम् ॥२१६॥

निरंतर श्रवणादि का मौका देना संन्यास का दृष्ट उपकार है तथा नित्यादि कर्म न करने पर भी प्रत्यवाय न होने देना अदृष्ट उपकार है। 'निकट से' अर्थात् ज्ञानकाल तक (और उसके बाद भी) बना रहने वाला। कर्म 'दूर से' सहायक बनते हैं क्योंकि ज्ञानकाल तक वे बने नहीं रहते, प्रत्यक्प्रावण्य होते ही छूट जाते हैं। शमादि अंतरंग साधनों में संन्यास भी है।

वार्तिक के 'तस्य' से श्रवणादि उपाय समझने चाहिये। श्रीनृसिंहपुरी जी बताते हैं कि प्रकरण वाक्य का चल रहा है अतः 'तस्य' से वाक्य को ही समझना चाहिये। उसे संन्यास-समेत श्रवणादि सहायता देते हैं जिससे वह ज्ञान करा देता है। श्रवणादि का सहकार उन्ही के अनुसार ऐसा हैः

१) 'श्रवणं शब्दशक्तिनिर्धारणावसानैदंपर्यविपर्ययविनाशि' अर्थात् शास्त्र के तात्पर्य की विपरीत-समझ को श्रवण हटाता है।

२) 'मननं बाधाभावपरीक्षा सा बाधबुद्धिं निरुणद्धि' अर्थात् शास्त्रतात्पर्य बाध के योग्य नहीं यह निर्णय मनन से हो जाता है।

३) 'एकालम्बनप्रत्ययाम्रेडनं ध्यानं तच्छिनत्ति विक्षेपं भिनत्ति अतद्वासनाः' अर्थात् एक-विषयक धीवृत्ति का पुनः पुनः बनते रहना ध्यान है जो विक्षेप समाप्त करता है और आत्मा से भिन्न वासनाओं को क्षीण करता है।

४) 'वेदान्ताः स्वात्मानं साक्षाद् बोधयन्ति' अर्थात् औपनिषद महावाक्य आत्मा का साक्षात्कार कराते हैं।

इस प्रकार ज्ञान कराने वाला तो वाक्य ही है पर श्रवणादि की सहायता से। इससे वाक्य में सापेक्षता आ गयी यह शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि श्रवणादि केवल प्रतिबंधों को हटाना रूप सहायता करते हैं। ज्ञान के लिये यदि वाक्य को सहायता चाहिये होती तब सापेक्षता का प्रश्न उठता। संन्यास के उपकार का स्वरूप पुरी जी ने व्यक्त नहीं किया है, उक्त दृष्टादृष्ट रूप उपकार ही समझ लेना चाहिये। इस विषय को सर्वज्ञमुनि ने (सं. शा. ३.३४०) स्पष्ट कहा हैः

'वेदान्तवाक्यमिह कारणमात्मबोधे हेत्वन्तराणि परिपन्थिनिबर्हणानि ।
यज्ञादिकानि दुरितं क्षपयन्ति बुद्धेः तत्त्वंपदार्थविषयं तम उत्तराणि ॥'

हेत्वन्तरों में यज्ञादि व श्रवणादि दोनों का ग्रहण रामतीर्थस्वामी ने बताया है। अतः प्रकृत वार्तिक में 'तस्य' से वाक्य समझना ही बेहतर है ॥२१४॥

संन्यास अंतरंग उपाय है इसमें प्रमाणरूप से वचन उदाहृत करते हैं –

सभी में उत्तम मोक्षसाधन त्याग ही है क्योंकि छोड़ने वाले द्वारा ही छोड़ने वाले का प्रत्यगात्मरूप परम पद जाना जा सकता है ॥२१५॥

'मोक्षसाधन' में मोक्षपद जिससे मोक्ष होता है उस ज्ञान का वाचक है अतः तात्पर्य ज्ञानसाधन से है। संन्यास की उत्तमता यही है कि वह अंतरंग है, निकट से उपकारक है। यह केवल वाचनिक ही नहीं यौक्तिक भी है क्योंकि कर्म करते हुए स्वयं को भोक्ता मानने वाला अपने को क्रियासम्बंधों से अस्पृष्ट समझ सकता नहीं। इसलिये सब प्रवृत्तियाँ छोड़ने वाला ही अपना पारमार्थिक स्वरूप समझे यही संभव है ॥२१५॥

कर्मों को छोड़ना ज्ञान में हेतु बनता है यह आगे (बृ. ४.४.२३) आने वाले वचनों से भी सिद्ध है यह बताते हैं –

स्वयं श्रुति ने ही 'शम-दमवाला व्यक्ति सब का त्याग कर आत्मज्ञान के उपाय का अनुष्ठान करे' ऐसा विधान किया है ॥२१६॥

उपनिषत् में वाक्य आयेगा जिसमें स्पष्ट है कि इंद्रियों को और मन को नियंत्रित कर सर्वकर्मसंन्यासी शीतोष्णादि

प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम्। तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥२१७॥
मुक्तेश्च बिभ्यतो देवा मोहेनापिदधुर्नरान्। ततस्ते कर्मसूद्युक्ताः प्रावर्तन्ताविचक्षणाः ॥२१८॥

के परिहारादि की ओर मन लगाये बिना श्रद्धा से एकाग्रतापूर्वक आत्मज्ञान के उपायभूत श्रवणादि करे। वहाँ आया उपरतपद संन्यासी का वाचक है। अतः नित्यादि कर्मों को त्याग चुका व्यक्ति आत्मदर्शन करे यह कहने से श्रुति ने ज्ञान के लिये संन्यास उपाय है यह घोषित कर दिया। लोक में भी ज्ञान की विधि ज्ञानोपायानुष्ठानपरक ही होती है अतः शास्त्र में भी 'आत्मा को जाने' का मतलब जानने के उपाय श्रवणादि करे यही है। अग्निरूप देवता, अष्टाकपालरूप द्रव्य, अमावास्या आदि गुण सभी बताता हुआ 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति' (तै. सं. २.६.३.३) वाक्य कर्मस्वरूप का बोधक होने से जैसे उत्पत्तिविधि माना जाता है ऐसे ही शमादि गुण बताता हुआ यह वाक्य श्रवण का विधान कर रहा है। अतः यह श्रवण की उत्पत्तिविधि है। विशिष्टविधि में अर्थतः विशेषण भी विहित होता है जैसे 'सोमेन यजेत' में यागरूप विशिष्ट और सोमरूप विशेषण दोनों का विधान है। इसलिये शमादि की भी इसे उत्पत्तिविधि कहा जा सकता है। श्रोतव्यवाक्य में श्रवणादि की उत्पत्ति मानी जाये तो 'शान्तः' आदि को गुणविधि मानना चाहिये। वाक्यांतरप्राप्त श्रवण में शमादि अनेक गुणों के विधान से वाक्यभेद होगा अतः उत्पत्ति-विधि मानना ही संगत है। वैराग्यादि अंग और श्रवणादि कार्य बताने वाले 'विदित्वा मुनिर्भवति', 'भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ. ४.४.२२), 'तिष्ठासेत्' (बृ. ३.५) आदि वाक्यों को संन्यासविधायक बहुत ऊहापोह से भाष्य में और वार्तिक में सिद्ध करेंगे। अतएव 'शान्तः' आदि वाक्य शमादि का प्रापक नहीं उनकी साधनता बताता है यह वार्तिककार स्वीकारेंगे (पृ० १२६३) फिर भी नित्यकर्मादिविधियों से संन्यासी नियोज्य नहीं इस प्रयोजन से 'उपरतः' की विधिरूपता स्वीकारेंगे। अतः 'उपरतः' विधि है ही तो इसे संन्यास की उत्पत्तिविधि मानने में कोई विरोध संभव नहीं। यदि 'पश्येत्' के अनुरोध से व शमादि गुणसाहित्य के अनुरोध से इसे श्रवणविधि मानें तो श्रोतव्यादिवाक्य की क्या गति है? जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह उत्पत्तिविधि है, इससे विहित कर्म में 'दध्ना जुहोति', 'पयसा जुहोति' आदि वाक्य गुणों का विधान करते हैं इसी तरह 'पश्येत्' से ज्ञानोपायमात्रकी उत्पत्ति होकर श्रोतव्यादि वाक्य उसी के गुणों का विधान कर देंगे। किं च अंग और प्रधान का सम्बंध बताने वाली विनियोग विधि होती है। यहाँ उपरति का आत्मज्ञानोपाय से सम्बन्ध सुना जा रहा है क्योंकि 'पश्येत्' के प्रत्ययस्थ आख्यातांश से उक्त भावना अन्यथानुपपत्ति से जिस कर्ता का आक्षेप करती है उसमें दर्शनोपायका कर्तृत्व आने से पहले उपरति हो चुकनी चाहिये यह 'भूत्वा' के प्रत्यय से समझ आता है। अतः यहाँ संन्यास की विनियोगिविधि भी मान्य है। इसलिये वाक्य का सहकार करने के लिये संन्यास विहित होने से स्वीकृत है यह भाव है ॥२१६॥

इसी बात को वाक्यान्तर से स्पष्ट करते हैं –

प्रवृत्ति कर्म का कारण है और ज्ञान का कारण संन्यास है। इसलिये बुद्धिमान् को चाहिये कि इसी जन्म में ज्ञान को लक्ष्य कर सर्वसंन्यास करे ॥२१७॥

प्रकृत स्मृति मे कर्म को योगपद से कहा है क्योंकि वह कर्ता को फल से युक्त कर देता है। प्रवृत्ति कहते हैं रागादि से जो चेष्टायें की जाती हैं उन्हे। सभी कर्म कामना से होते हैं। ज्ञान इससे विपरीत है जिसके लिये वैराग्यपूर्वक ससाधन कर्मों का त्याग अपेक्षित है ॥२१७॥

मोक्षोपाय त्याग है तो सभी त्याग क्यों नहीं कर देते? इसका उत्तर देते हैं –

मुक्ति से डरते हुए देवताओं ने लोगों को मोह से ढाँक दिया अतः गैरसमझ वे लोग तत्परता से कर्मों में प्रवृत्त हो गये ॥२१८॥

बृहदारण्यक में ही कहा है कि भेदबुद्धि वाला जीव देवताओं के लिये जानवर की तरह है (बृ. १.४.१०)। मनुष्य

अतः संन्यस्य कर्माणि सर्वाण्यात्मावबोधतः। हत्वाऽविद्यां धियैवेयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२१९॥

यदि ज्ञान से मुक्त हो जाये तो देवताओं के जानवरों में अर्थात् जानवर की तरह उनके लिये कर्म करते रहने वालों में कमी आ जायेगी। अतः देवताओं को यह अच्छा नहीं लगता कि मनुष्य आत्मा को जानें। इसलिये वे डरते हैं कि कहीं मनुष्य को वास्तविकता पता लग न जाये। अतः 'मैं कर्ता हूँ' इत्यादि मोह से मनुष्यों की बुद्धि मलिन कर रखी है। इसी से सांसारिक फलों के लिये ही विवेकशून्य हो मनुष्य चेष्टायें करते हैं, पारिव्राज्यपूर्वक ज्ञानाभ्यास नहीं करते। मोह को देवों ने किया यह अर्थवाद है उसे छोड़ने में प्रोत्साहित करने के लिये। बृहदारण्यकवाक्य तो स्पष्ट ही भेदधी की निंदा में आया है ॥२१८॥

देवताओं को अभीष्ट है कि मनुष्य कर्मतत्पर रहें तो कर्म ही निःश्रेयसहेतु होंगे, ऐसी शंका हटाते हैं –

इसलिये सभी कर्मों को त्याग कर आत्मज्ञान से अविद्या समाप्त कर ज्ञान से ही विष्णु के उस परम पद को प्राप्त करना चाहिये ॥२१९॥

कर्मप्रवृत्ति निःश्रेयसप्रद नहीं बल्कि देवताओं की माया के कारण देवताओं की स्वार्थपूर्ति के लिये है। अतः कर्मोपासना से देवों को तुष्ट कर विवेकी को शीघ्र ही कर्ममार्ग छोड़ देना चाहिये। संन्यास स्वयं कोई फल नहीं देगा। ब्रह्मलोकादिफलक संन्यास का यहाँ प्रसंग नहीं है। यहाँ तो विविदिषासंन्यास की विधि है। अतः संन्यास के बाद विवेकनिष्ठ हो श्रवणादि में ही तत्पर होना आवश्यक है। श्रवणादि सही ढंग से पूरे होंगे तब आत्मसाक्षात्कार हो जायेगा जिससे सारे अनर्थों की जड़ अविद्या बाधित हो चुकेगी। प्रारब्धरूप उपाधि के रहते शरीर व अविद्यालेश मरणपर्यन्त बने रहेंगे जिन्हे विद्वान् अनुमोदित करते हुए प्रकाशित करता रहेगा। प्रारब्धसमाप्ति पर प्रतिबन्धरहित होने से ज्ञान प्रतिभास को भी निवृत्त कर लेगा। तब वही ज्ञान विष्णु का परम पदस्वरूप है, निःसीम सच्चिदानन्द है। टीकानुसार 'आत्मावबोध' जीवन्मुक्तिप्रयोजक ज्ञान है और 'धिया' पदगत धी विदेहकैवल्यप्रयोजक ज्ञान है। यद्यपि विदेहकैवल्य में प्रारब्धसमाप्ति ही प्रयोजक प्रसिद्ध है और अविद्यालेश भी ज्ञाननिवर्त्य मानना ज़रूरी नहीं बताया गया है तथापि विदेहताकालीन अविद्यास्तमय को मुख्य मोक्ष मानकर वैसे अस्तमय को चरमतत्त्वज्ञान से स्वीकारा जाना भी संगत ही है। लघुचंद्रिका के प्रारंभ में ही कहा है: 'अविद्याया अस्तमयः संस्कारादिकार्यरूपेणाप्यनवस्थानम्।... विदेहताकालीनोऽस्तमय एव मुख्यो मोक्षः। ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मापि विदेहताकालीनएव ..... तदुपलक्षितस्यैव मोहनिवृत्तित्वम्।' एवं च शास्त्रप्रकाशिकाकार का कथन सुबोध है।

विद्यासागर ऐसी समस्यामय योजना से बचते हुए 'आत्मावबोध' का अर्थ ही वैराग्य समझते हैं: 'आत्मावबुद्ध्यते येन स आत्मावबोधो वैराग्यम्।' वैराग्य से संन्यास करके धी अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार से अविद्यानिवृत्ति कर विष्णु के परम पद को जाये – यह अर्थ है। भाव यह है कि बिना वैराग्य किया संन्यास ज्ञानोपयोगी नहीं हो पायेगा। यह अर्थ भी संगत है।

मूलकार ने (या श्रुति ने) 'धियैवेयात्' से मोक्ष ज्ञान से ही होता है यह स्पष्ट घोषित कर दिया ॥२१९॥

भास्करादि प्राचीन व्याख्याकारों ने संन्यासविधायक वचनों को अप्रामाणिक मानने की कोशिश की है क्योंकि बहुतेरी संन्यासश्रुतियाँ अधीयमान शाखाओं में उपलब्ध नहीं हैं। इस समस्या पर न्यायरत्नदीपावलि में (पृ. ३१२-३३५) बहुत विस्तार से आनन्दानुभवमुनि ने चर्चा की है। प्रकटार्थविवरण में (पृ. ९५४) अनुभूतिस्वरूपाचार्य का कहना है कि शाबरभाष्यादि में भी अनेक श्रुतियाँ हैं जो इस समय पढ़ी जाने वाली शाखाओं में उपलब्ध नहीं हैं। ऐसे ही ये संन्यासश्रुतियाँ हैं। सब लोग सभी शाखाओं के जानकार तो हो नहीं सकते। अतः शिष्टों ने जिन्हे श्रुति माना है उन्हे श्रुति मानकर चलना चाहिये। व्यासादि ने संन्यास प्रसंगों में वे सब बातें कह दी हैं जो आचार्यों द्वारा उद्धृत श्रुतियों में हैं। अतः स्मृति के आधार पर भी ये श्रुतियाँ श्रद्धेय ही हैं। इतना ही नहीं, उपलब्ध श्रुतियों से भी कर्मत्यागरूप संन्यास ज्ञानोपाय

इति भाल्लविशाखायां श्रुतिवाक्यमधीयते। सर्वकर्मनिरासेन तस्मादात्मधियो जनिः ॥२२०॥
सत्यानृते इति तथा सर्वसंन्यासपूर्वकम्। आत्मनोऽन्वेषणं साक्षादापस्तम्बोऽब्रवीन्मुनिः ॥२२१॥

सिद्ध हो ही रहा है अतः शंका का कोई स्थान नहीं। इसलिये 'घण्टिकास्थानों में' अर्थात् विशिष्ट पुण्यक्षेत्रों में आजकल पठन-पाठन में न होने पर भी इन वचनों को स्वीकारना पड़ेगा यह सूचित करते हैं –

यह श्रुतिवचन भाल्लविशाखा में पढ़ा जाता है। क्योंकि श्रुति-स्मृति से सिद्ध है कि संन्यास ज्ञानहेतु है इसलिये सभी कर्मों को त्यागने पर ही आत्मज्ञान उत्पन्न होता है ॥२२०॥

भाल्लविशाखा का उल्लेख महाभाष्य में (४.२.१०४) में भी है। शाट्यायनि (३.३.२५), जाबाल (३.४.२०) आदि शाखाओं का उल्लेख शारीरकभाष्य में भी मिलता है जो अध्ययन-परंपरा में अब नहीं हैं। वार्तिककार ने 'अधीयते' कहा है। यदि भास्कर को आचार्यों का समकालिक मानें और उसे इन शाखाओं की अनुपलब्धि से उस समय इनका अध्ययन न मानें तो 'स्म' ऐसा शेष समझना चाहिये। समग्रशाखा सुरक्षित न होने पर भी ये वचन संन्यासी-परंपरा में गुरुओं द्वारा शिष्यों को बताये जाते रहे जिससे आचार्यों को ये अनवच्छिन्न परंपरा से प्राप्त होने के कारण वे इन्हे 'अधीयते' ही कहते हैं। किन्तु इससे आनन्दतीर्थ की कल्पित शाखाओं को मान्यता देने का प्रसंग नहीं। ये वचन तो केवल अद्वैताचार्यों ने नहीं कहे अन्यों ने भी ग्रहण किये हैं, स्मृतियाँ ऐसी मिल रही हैं जिनका मूल ये श्रुतियाँ हो यह संभव लग रहा है और मुख्य बात यह कि उपलब्ध श्रुतियों से इनका कोई विरोध नहीं बल्कि उपोद्बलन ही है। आनन्दतीर्थ के उदाहृत वचन तो केवल उसी द्वारा संगृहीत हैं तथा उपलब्ध श्रुतियों से बाधित हैं। अतः वे तो केवल उसी की कल्पना हैं, प्रतारणार्थ ही उन्हे श्रुति कह दिया है।

वार्तिक में 'इति श्रुतिवाक्यम्' यों एकवचन के अनुरोध से 'मुक्तेश्च' से 'पदम्' तक का श्लोकद्वयात्मक वाक्य भाल्लविशाखा का उद्धरण है ऐसा मानना उचित है ॥२२०॥

अन्य स्मृतिवचन से भी ज्ञान का साधन संन्यास है यह सिद्ध करते हैं –

सच-झूठ को छोड़कर और सब का संन्यास कर आत्मा का अन्वेषण करना चाहिये यह आपस्तम्ब मुनि ने स्पष्ट कहा है ॥२२१॥

सच-झूठ अर्थात् इन्हे बोलने-न बोलने के नियम। स्वभावतः ही सच बोले, झूठ न बोले, पर विधिवश इनके लिये स्वयं को बाध्य न माने। आपस्तम्बवचन में (आ.ध. २.९.२१.१३) सच-झूठ से अतिरिक्त सुख-दुःख, वेद और इह-परलोक का परित्याग भी कहा है। सुखादि का परित्याग अर्थात् सुखहेतुओं का संचय न करे और दुःखहेतुओं को दूर करने का आग्रह न करे, उन्हे दूर करने में तत्पर न हो जाये। तात्पर्य है कि प्रारब्ध पर निश्चय रखकर तितिक्षु होवे। वेद से वेदाध्ययन समझना चाहिये। उपनिषदों की आवृत्ति करे, बाकी वेदभाग के पाठ में न लगे। इहलोक का त्याग अर्थात् पुत्रोत्पत्ति और उसका शेषभूत विवाह न करे। अन्य भी वे लौकिक कर्म न करे जो इहलोक में ही यश आदि फल देने वाले हैं। स्वसाधनाभ्यास में लगे, यदि उतने से ऐहिक अभ्युदय होता है तो प्रारब्धप्राप्त मानकर गर्वादि न करे। परलोक का त्याग अर्थात् उपासना व कर्म न करे। कथंचित् ज्ञानप्राप्ति में असमर्थ हो तो दहरविद्यादि उपासनायें अथवा अन्य निर्विशेष उपासनायें ही करे। इस प्रकार संन्यास का ही वर्णन निश्चित होता है। कल्पलता में वार्तिकस्थ तथा-शब्द से आपस्तम्ब का ही वचनान्तर संगृहीत है 'अध्यात्मिकान् योगाननुतिष्ठेद् न्यायसंहितान् अनैश्चारिकान्', 'आत्मलाभाद् न परं विद्यते' (आ.ध. १.८.२२.१-२) इत्यादि। अध्यात्मिक अर्थात् आध्यात्मिक, आदिवृद्धि न होना आर्ष है। योग अर्थात् चित्तैकाग्र्य के हेतुभूत अक्रोधादि। न्यायसंहित अर्थात् क्रोधादि के विजय से उपपन्न; क्रोधादि पर विजय होने पर ही अक्रोधादि का अभ्यास होगा। अनैश्चारिक अर्थात् चित्तविक्षेपरूप निश्चार (मनोवृत्ति का बहिर्गमन) के विरोधी।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२२२॥

वार्तिक में 'साक्षात्' कहा है अर्थात् आपस्तम्बवचन में मुखतः यह बात मिल रही है, लक्षणादि के सहारे नहीं और स्मृतिकार की श्रद्धेयता को सूचित करने के लिये उन्हे मुनि कहा है। आपस्तम्ब का ही वचन ग्रहण करने का तात्पर्य यह है कि भास्करादि ने आपस्तम्बोक्ति से ही संन्यास के निराकरण का प्रयास किया है। आपस्तम्ब ने बताया है कि कुछ लोग गृहस्थ को ऊर्ध्वरेतस्कों से निकृष्ट मानते हैं किन्तु त्रैविद्यवृद्ध तो ऊर्ध्वरेतस्कों के आचारों को वेदविरुद्ध होने से अनाचार ही मानते हैं। गृहस्थ से अन्य आश्रमों की प्रशंसा करने से भी बड़ा पाप लगता है। वेदवचन और युक्ति से उन्होंने अपनी बात समर्पित की है। यह द्वितीय पटल का प्रसंग है। अतः वादियों को बताया कि आपस्तम्ब के वचन से भी संन्यास सिद्ध है। जो तो आपस्तम्ब की संन्यासनिंदा है उसका तात्पर्य है कि साक्षात्कार के बिना और साक्षात्कार के उपायों में तत्पर हुए बिना केवल लिंगधारण ग़लत है। यह सारा प्रसंग न्यायरत्नदीपावलि (पृ. ३२२) तथा अप्पयदीक्षित के मध्वमतविध्वंसन नामक मध्वतन्त्रमुखमर्दनव्याख्यान में (पृ. ९७-१००) विस्तार से विचारित है ॥२२१॥

प्रश्न होता है कि भगवान् श्री कृष्ण ने अठारहवे अध्याय में प्रारंभ में ही स्पष्ट कहा है कि काम्य कर्म और फलाभिलाष को छोड़ना उचित है पर नित्यादि कर्म करने ही चाहिये, छोड़ने नहीं चाहिये (१८.२-७)। अतः सर्वकर्मसंन्यास ज्ञानोपाय कैसे हो सकेगा? उत्तर है कि भगवद्वचनों की एकवाक्यता का विचार न करने से ही शंका उठी है। अतः श्रुति सुनाकर संन्यास की साधनता समर्थित करते हैं –

जो व्यक्ति निषिद्धाचार से विरत न हो, कामप्रेरणा से कर्मतत्पर हो, यथाविधि नित्यादि कर्म छोड़ न चुका हो और या विषयासक्त चित्त वाला हो, वह आत्मैकत्वप्रज्ञा नहीं पा सकता अतः प्रज्ञामात्रलभ्य नित्यमुक्त स्वरूप की प्राप्ति की आशा ही कहाँ? ॥२२२॥

यह कठोपनिषत् का (२.२४) वचन है। भाष्यकार ने अशांत से इन्द्रियचांचल्यवश अनुपरत, असमाहित से विक्षिप्तमना, और अशांतमानस से एकाग्रता के फल के प्रति स्पृहयालु होने से व्यापारयुक्त मन वाला प्रज्ञा न होने से आत्मलाभ नहीं कर पाता ऐसा समझाया है। इंद्रियचांचल्य कर्मात्मक ही होगा, विक्षिप्तमना विधिश्रुतियों से स्वयं को नियुक्त समझता रहेगा अतः कर्मत्याग नहीं कर सकेगा और एकाग्रता से सिद्धियाँ पाने की इच्छा वाला विषयासक्त होगा ऐसा समझकर प्रकृतोपयोगी अर्थ यहाँ टीकाकारों ने किया है अतः भाष्यानुसारी ही विवरण है। श्रुति में 'वा' कहकर स्पष्ट किया कि इनमें एक भी दोष हो तो ज्ञान नहीं हो सकता। जो पापाचरण व इंद्रियचांचल्य छोड़कर समाहितचेतस्क है और समाधिफल की आकांक्षा से भी व्याकुल नहीं है, वही श्रवणाधिकारी है। ऐसा व्यक्ति यदि आचार्य से उपनिषत्का श्रवण करे तो प्रज्ञा प्राप्त कर लेगा। यदि ऐसा अधिकार पाये बिना श्रवण करे तो भी ज्ञानरूप फल नहीं पा सकता। यद्यपि ज्ञान में विषयपारतन्त्र्य है तथापि ज्ञानकारणों की विकलता ज्ञान होने नहीं देती या ग़लत ज्ञान करा देती है। अतः विषय और शास्त्ररूप करण भले ही निर्दुष्ट हो, वृत्तिरूप ज्ञान जिसका परिणाम है वह मन जब तक सदोष है तब तक कारण सामग्री न होने से ज्ञान नहीं होगा। अतः करण तो शास्त्र ही है पर सहायकदोष से कार्य का प्रतिबंध है। बृहदारण्यक में ही आर्तभागप्रश्न के (३.२.१३) उत्तर में श्रुति ने कर्म को फलप्रद कहा तो भाष्यकार ने स्पष्ट किया कि कालादि की सहायता वाला कर्म ही फल देता है, सबमें प्रधान होने से कर्म ही प्रशंसनीय है, वह अकेला फलप्रद हो ऐसा नहीं। यह बात वार्तिक में (पृ. ७६५) और स्पष्ट की गयी है। अतः सहकारी का समवधान कार्य के लिये चाहिये। भगवान् पद्मपाद ने भी घोषित किया है '... कारणस्य सहकारिसव्यपेक्षस्य जनकत्वाद् ...।... अथ नापेक्षा हेतूनां सहकारिणीति ब्रूयात्? दर्शनेन बाध्येत। दृष्टं हि सहकार्यपेक्षत्वं हेतूनाम्' (पृ. २२८)। इसलिये प्रकृत में भी संन्यासादि सहकारियों की कमी से निष्ठापर्यवसित ज्ञान न हो पाये यह सुसंगत है। आनन्दगिरिस्वामी का अभिप्राय तो है कि इन सहकारियों के बिना श्रवण ही हो नहीं पायेगा तो ज्ञान की संभावना नहीं। यदि ज्ञानमात्रमें सर्वाश्रमियों का अधिकार मानें तो टीकोक्त श्रवणाद्यनधिकार

वेदानुवचनादीनां विनियोगोक्तियत्नतः। भिन्नाधिकारितालिङ्गं कर्मविज्ञानकाण्डयोः ॥२२३॥

में श्रवण पद ज्ञाननिष्ठाजनक श्रवणपरक समझना चाहिये। श्रवण मात्र में ग़ैरसंन्यासी का अधिकार नहीं यह तात्पर्य नहीं। अतएव संक्षेपशारीरक में (३.३५८) कहा है –

'वानप्रस्थगृहस्थनैष्ठिकजनैरन्यैश्च वर्णाश्रमैः कर्मव्यध्वनिषेवितं भवति वै जन्मान्तरे पाचकम् ।
विद्यायाः श्रवणादिलक्षणमिदं न ह्येतदेषां क्वचित् शास्त्रेण प्रतिषिद्धमीक्षितमिदं शूद्रस्य दृष्टं यथा' ॥

अतः श्रवण तो सम्पन्न हो ही सकता है पर मोक्षफलक ज्ञान उत्पन्न करने के लिये जो सहकारी चाहिये वे इस जन्म में या जन्मांतर में एकत्र होने से ज्ञान व मोक्ष हो जायेगा, यह भाव है। प्रकृत श्रुति में कर्मनिष्ठ को ज्ञान से मोक्ष नहीं होगा कहकर स्पष्ट किया कि ज्ञान से मोक्ष सर्वकर्मसंन्यासी ही पा सकता है।

जो तो भगवद्गीता का विरोध कहा था वह नासमझी से ही था क्योंकि भगवान् का अभिप्रय चित्तशुद्धि के हेतुभूत नित्यादि के अनुष्ठान की स्तुति करने में है। अन्यथा 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्' (१३.११), 'सर्वारंभपरित्यागी' (१२.१६), 'शुभाशुभपरित्यागी' (१२.१७), 'अनिकेतः' (१२.१९), 'कथयन्तश्च मां नित्यम्' (१०.९), 'नित्याभियुक्तानाम्' (९.२२) 'नित्ययुक्तस्य योगिनः' (८.१४), 'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः' (८.११) 'युञ्जन्नेवं सदा' (६.२८), 'विनियम्य समन्ततः' (६.२४), 'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' (६.१४), 'एकाकी··· अपरिग्रहः' (६.१०), 'सर्वसंकल्पसंन्यासी' (६.४), 'आरुरुक्षोः··· कर्म, योगारूढस्य····· शमः' (६.३), 'यतीनां यतचेतसाम्', (५.२६), 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' (५.१३), 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' (४.४१), 'कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः' (२.५८), 'जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते' (२.५०), 'अवरं कर्म' (२.४९), 'संन्यासेनाधिगच्छति' (१८.४९), 'विषयांस्त्यक्त्वा' (१८.५१), 'ध्यानयोगपरो नित्यम् वैराग्यं समुपाश्रितः' (१८.५२) 'सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य' (१८.५७), 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' (१८.६६) इत्यादि समस्त गीता में कहे वचनों का विरोध हो जायेगा। अतः 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये' (५.११) इत्यादि भगवद्वचनानुसार 'संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते' (१८.७) का अर्थ समझना अनिवार्य होने से प्रकृत प्रसंग में बताया संन्यासोपायत्व श्रीकृष्ण के वचन से भी सुसिद्ध है ॥२२२॥

कर्मकाण्डी प्रश्न करता है: विविदिषावाक्य से (बृ. ४.४.२२) कर्मों का ज्ञानहेतु रूपसे विनियोग है अतः कर्मों में जो अधिकारी है उसे ही ज्ञानाधिकारी मानना होगा न कि कर्मत्यागी को। इसमें गोदोहनन्याय अनुकूल रहेगा। वाराहश्रौतसूत्र में (१.२.४.५) कहा है 'चमसेनापः प्रणयति, कांस्येन ब्रह्मवर्चसकामस्य, गोदोहनेन पशुकामस्य, मृण्मयेन प्रतिष्ठाकामस्य, आयसेन अभिचरतः'। दर्शपूर्णमास का प्रकरण है। जलप्रणयन के लिये चमस का विधान किया। फिर तत्तत् कामना की पूर्ति के लिये तत्तद् बर्तनों से जलप्रणयन करे ऐसा कहा। गायों को जिस बर्तन मे दुहते हैं वह गोदोहन कहलाता है। पशु चाहने वाला उस बर्तने से अप्प्रणयन करे यह बताया। दर्शपूर्णमास में जो अधिकारी है उसे ही पशुकामना होने पर गोदोहन से प्रणयन का अधिकार है यह निर्णीत है। ऐसे ही कर्माधिकारी को ही विविदिषावाक्य ज्ञानफलार्थ कर्म करने को कह रहा है। जैसे दृष्टांत में प्रणयन पदार्थ का त्याग नहीं ऐसे यहाँ कर्मों का त्याग संभव नहीं। एवं च कर्मी ही ज्ञान पायेगा। तब यह कैसे कहा कि संन्यासी ज्ञान प्राप्त करता है?

इस प्रकार ज्ञानकाण्ड का अधिकारी कर्मकाण्डाधिकारी से विलक्षण नहीं यह प्राप्त होने पर उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं –

वेदानुवचनादि का ज्ञान में विनियोग बताने का प्रयत्न ही इस बात का सूचक है कि कर्मकाण्ड और विज्ञानकाण्ड के अधिकारी विभिन्न होते हैं ॥२२३॥

विविदिषावाक्य का तात्पर्य ज्ञानोपायरूप से कर्मों का विनियोग बताने में है। कर्म प्रधान हैं, न कि गोदोहन की तरह

ज्ञानोत्पत्त्यादिकाल्लिङ्गाद्यतस्तद्धेतुमात्रकम्। गम्यते न विशेषोऽतः कर्मैवेति न गम्यते ॥२२४॥

गुण। अतः यहाँ संयोगपृथक्त्वन्याय से ज्ञानमें विनियोग है जिससे कर्माधिकारी का ज्ञानाधिकार नहीं। बल्कि अलग विनियोग ही यह बताता है कि दोनों काण्डों के अधिकारी विलक्षण हैं। वादी ने जो उदाहरण दिया उससे प्रकृत में भिन्नता है: दर्शादि में अधिकारी का जलप्रणयन में अधिकार है लेकिन दर्शपूर्णमास का तो प्रणयन में विनियोग नहीं है ऐसे ही यदि कर्म में अधिकारी का ज्ञान में अधिकार होता तो कर्मों का ज्ञान में विनियोग न होता। कर्म हैं ज्ञान में विनियुक्त। अतः उदाहरण संगत नहीं। वादी उदाहरण को उलट कर कह सकता है: जलप्रणयन में अधिकारी दर्शादि में अधिकारी है और जलप्रणयन का दर्शादि में विनियोग भी है, ऐसे ही कर्माधिकारी का ज्ञानाधिकार होवे और कर्मों का ज्ञान में विनियोग भी होवे, क्या आपत्ति है? उत्तर है कि प्रणयन का तो दर्शादि के फलसे अतिरिक्त फल है नहीं अतः विनियोग होना उचित है पर कर्मों का तो ज्ञानफल से पृथक् स्वर्गादि फल है ही अतः विनियोग होने की आवश्यकता नहीं है। एक ही साधन यदि दो साध्यों के उद्देश्य से विनियुक्त होता है तो संयोग अर्थात् फल से सम्बंध बताने वाला वाक्य पृथक् ही स्वीकार्य होता है यह मीमांसादर्शन में (४.३.३.५) निर्धारित किया है। इसी न्याय से 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि' (३.४.८.३२) अधिकरण में बादरायण महर्षि ने कर्मों का ज्ञान में विनियोग स्थापित किया है। कर्म वे ही हैं किन्तु 'संयोग' के भेद से वे विद्यारूप फल देने वाले हो जाते हैं। विविदिषावाक्य कर्मों का विधान नहीं करता, यज्ञादि कर्मों का अनुवाद है और उनका केवल विनियोग बताया जा रहा है। विनियोगभेद से यह विशेषता होती है कि जो विविदिषु है उसे विविदिषावाक्य से यह पता चलता है कि 'यह मेरा कर्तव्य है', स्वर्गकामादिवाक्य से वे ही कर्म उसे अपना कर्तव्य लगते नहीं। अतः स्वर्गकामवाक्य का नियोज्य अलग है और विविदिषावाक्य का नियोज्य अलग है। शालिकनाथ ने कहा है 'नियोज्यभेदेनावश्यं साध्यभूतस्यैश्वर्यलक्षणस्याधिकारस्य भेदः' (प्र.पं.पृ. २६४)। अतः दोनों वाक्य भिन्न अधिकारियों को विषय कर रहे हैं। फलतः ज्ञानकाण्ड व कर्मकाण्ड के अधिकारी पृथक् ही हैं। गोदोहनवाक्य तो दर्शाधिकारी को विषय करता है पर विविदिषावाक्य स्वर्गकामादिविधि के विषयभूत अधिकारी को विषय नहीं करता अतः पूर्वपक्ष असंगत है यह भाव है ॥२२३॥

पुनः प्रश्न होता है: ज्ञानकारणरूप से कर्मों का विनियोग है तो कर्मत्याग कैसे ज्ञानहेतु होगा, एक ही वस्तु का भाव और अभाव दोनों एक ही फल के हेतु कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर देते हैं –

ज्ञानोत्पत्ति आदि बताने वाले चिह्नों से क्योंकि इतना ही पता चलता है कि कर्म ज्ञान के प्रति कारण है, न कि यह कि वह ज्ञानका विशेष कारण है अर्थात् वही कारण है ॥२२४॥

'धर्म से सुख और ज्ञान होते हैं' यह शास्त्रोक्ति कर्म को ज्ञानोत्पादक बताती है। विविदिषावाक्य से कर्म विविदिषा के हेतु हैं यह प्रतीत होता है। पूर्वोक्त (श्लो. १९२) संस्कारस्मृति कर्म को संस्कार करने वाला कहती है। 'अनुपहत मन वाला ही होता है', 'मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं' (गी. १८.५) आदि से कर्म मनःशोधक समझ आते हैं। सभी वाक्यों की पर्यालोचना से यह मालूम पड़ता है कि ज्ञान के प्रति कर्म कारण बनते हैं पर कर्म ही कारण बनते हैं यह नहीं पता चलता बल्कि कर्मत्याग को ज्ञानहेतु बताने वाली श्रुति के अनुरोध से कर्म ही कारण है यह पता चल भी नहीं सकता। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि कर्म शुद्धि-द्वारा ज्ञान के हेतु हैं जबकि श्रवणादि की इतिकर्तव्यता में आने से संन्यास ज्ञान का साक्षात् हेतु है। इस प्रकार कर्म और कर्मत्याग दोनों की शास्त्रोक्त हेतुता उपपन्न है।

सर्वज्ञमुनि ने स्पष्ट किया है कि ज्ञानोत्पत्ति में जिनका दृष्ट द्वारा उपकार नहीं है वे बहिरंग साधन हैं और उनका विविदिषावाक्य से संग्रह है। जो शास्त्रविहित साधन ज्ञान के प्रति दृष्टद्वारा उपकार करते हैं उन्हे व्यंजक, संनिपत्योपकारक या अन्तरंगसाधन कहते हैं। 'शान्तः' इत्यादि वाक्य में (बृ. ४.४.२३) इनका संग्रह है। 'शमदमाद्युपेतः स्यात्' (३.४.६.२७) इत्यादि सूत्र के भाष्य में आचार्यों ने स्वयं ही अंतरंग व बहिरंग का यह भेद स्पष्ट किया है ॥२२४॥

मुण्डोऽपरिग्रहोऽसङ्गो बहिरन्तःशुचिः सदा । ब्रह्मभूयाय भवति परिव्राडिति च श्रुतिः ॥२२५॥
इत्यादिश्रुतिवाक्यानि स्मृतिभिः सह कोटिशः । ज्ञानाय विदधत्युच्चैः संन्यासं सर्वकर्मणाम् ॥२२६॥

कर्म का ज्ञान में विनियोग बताने वाले वचन और संन्यास को ज्ञान-साधन बताने वाले वचन सिद्ध करते हैं कि कर्म और कर्मत्याग दोनों ज्ञान के उपाय हैं। जैसे दूरदेशस्थ प्रासाद में पहुँचने के लिये अश्वारोहण और उससे अवतरण दोनों उपाय बनते हैं ऐसे प्रकृत में भी है। कर्मत्याग की ज्ञानकारणता स्पष्ट करने के लिये अन्य श्रुतिवचन उदाहृत करते हैं-

मुण्डन किया हुआ, अपरिग्रही, आसक्तिहीन, हमेशा बाहरी-भीतरी सफाई रखने वाला परिव्राजक ब्रह्मभाव के लिये पर्याप्त होता है, यह भी श्रुति ने कहा है ॥२२५॥

अथर्ववेदीय जाबालोपनिषत् में बताया है कि परिग्रह व द्रोह से रहित, शौचसम्पन्न, बिगड़े रंग के वस्त्र वाला, सिर मुण्डाया, भिक्षाश्रित परिव्राजक ब्रह्मरूप होने योग्य है। ब्रह्मोपनिषत् (२) में भी शिखा-सूत्र का त्याग विहित है। वस्तुओं का स्वरूपतः त्याग अपरिग्रही से और उनके प्रति कामनादि का त्याग आसक्तिहीन से कहा। कर्मविधियों के शिकंजे से छूटा यति स्वच्छंद आचार वाला न हो जाये इसलिये हर तरह की सफायी वाला उसे बताया। काम क्रोधादि मन से हटाना भीतरी सफाई है और मिट्टी-पानी आदि से देह, वस्त्र आदि साफ रखना बाहरी सफाई है। सब कुछ छोड़कर जाने वाले को परिव्राजक कहते हैं। विविदिषु संन्यासी को चाहिये कि ज्ञानोपयोगिमात्र से अतिरिक्त कुछ लिये बिना सांसारिक वातावरण से चला जाये और गुरुसंनिधि में श्रवणादितत्पर होवे। तभी वह साक्षात्कार के योग्य होगा। मुण्डन का अर्थ है शिखाहीन होना। शिखा-सूत्र हट जाने पर कर्माधिकार निवृत्त हो जाता है। चाहने पर भी कोई कर्म न किया जा सकता है और कथंचित् कर लिया जाये तो फल नहीं हो सकता क्योंकि अधिकारी को ही फल मिलता है। 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' (गी० १८.४७) न्याय से गुरुशुश्रूषापूर्वक शमाद्युपबृंहित श्रवणादि करना ही इसके कल्याण का एकमात्र उपाय है। सर्वथा असमर्थ हो तो प्रणवजप में तत्पर रहना चाहिये। ब्रह्मसंस्थ अमरता पाता है यह छान्दोग्य में कहा है। इस पर विचार करते हुए प्रकटार्थ विवरण में (पृ० ९४९) कहा है कि प्रकरणानुरोध से ब्रह्मसंस्थपद में ब्रह्मशब्द से प्रणव विवक्षित है। अतः ब्रह्मसंस्थ अर्थात् ॐ में ही सम्यग्रूप से स्थित रहने वाला अर्थात् ओंकार के अभिधेय परमात्मा का ध्यान करे, प्रणव का जप करे और स्नान, आचमन आदि भी प्रणव से ही करे, अन्य मंत्रादि से नहीं। यही ब्रह्मनिष्ठता है जो गृहस्थादि नहीं कर सकते क्योंकि गायत्री आदि के जप के परित्याग से वे पतित हो जाते हैं। परिमल में (पृ० ८७८) शंका उठायी है कि प्रणवोपासना अमृतफलक कैसे, अमृत तो केवल ज्ञानप्राप्य बताया है? समाधान दिया है कि ब्रह्मसंस्थत्व से वही प्रणवोपासना विधित्सित है जो प्रश्नोपनिषत् में 'यः पुनरेतत् त्रिमात्रेण' (५.५) आदि से बतायी है। उसके अनुष्ठानपरिपाक से ब्रह्मलोक में तत्त्वसाक्षात्कार प्राप्त होकर आत्यन्तिक अमरता मिलती है। एवं च श्रवणादिपरायण या प्रणवनिष्ठ होना ही विविदिषु संन्यासी का कर्तव्य है। इन्हे छोड़कर केवल भ्रमणादि में रत होना उसका धर्म नहीं। अतः ग्रामादिमें तीन रात से अधिक न रहना आदि भी उक्त उपाय के अविरुद्ध होने पर ही उसका कार्य है अन्यथा नहीं क्योंकि न्याय है 'न प्रधानाद् गुणः', गौण वस्तु प्रधान का भक्षण करने वाली नहीं होती। विभिन्न शाखाओं में संन्यास की उत्पत्ति-विधियाँ तत्तत् शाखा के अध्येताओं के लिये हैं अतः सभी अधिकारियों के लिये संन्यास विहित है ॥२२५॥

पूर्वप्रदर्शित शास्त्रवचन विविदिषायुक्त अधिकारी द्वारा अनुष्ठेय संन्यास को बताते हैं यह कहकर इस अवांतर प्रकरण को पूरा करते हैं-

इस प्रकार स्मृतिवचनों समेत श्रुतियों के करोड़ों वाक्य उच्च स्वर से विधान करते हैं कि ज्ञान के लिये सभी कर्मों का संन्यास करना चाहिये ॥२२६॥

'उच्च स्वर' अर्थात् तात्पर्यतः। संन्यास की उत्पत्तिविधि बता दी जा चुकी है। 'उपरतः ··· पश्येत्' (बृ० ४.४.२३) में विनियोगविधि भी बता दी। अंग और प्रधान का सम्बंध बताने वाली को विनियोगविधि कहते हैं। श्रुतिलिंगादि छह प्रमाण

यच्चाभाणि विना कार्यं नाधिकारो निरूप्यते। दोषोऽयमपि नैव स्याज्ज्ञानोपाये यथोदिते ॥२२७॥

इसके सहकारी होते हैं। संन्यास अंग है दर्शनोपाय श्रवण का अतः वाक्य प्रमाण से 'उपरतः पश्येत्' में विनियोगविधि है। अधिकारविधि को प्रधानविधि भी कहते हैं। फलस्वामिता का बोध कराने वाली प्रधानविधि होती है। करने वाले के विशेषणरूप से सुने धर्म एवं सामर्थ्यादि से युक्त अपर्युदस्त अधिकारी माना जाता है जिसे अनुष्ठान से फल मिलेगा। अनधिकारी को अनुष्ठान करने पर भी फल मिलेगा नहीं। 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४.४.२२), 'विदित्वा ..... भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० ३.५), 'विरजेत् ..... प्रव्रजेत्' (जा० ३) आदि अधिकारविधियाँ बताती हैं कि केवल आत्मरूप मोक्ष का इच्छुक, विवेकी और विरक्त संन्यासाधिकारी है। सामार्थ्यादि तो विशेषणरूप से श्रुत होना आवश्यक है नहीं अतः उसे समझ ही लेना चाहिये। इतना मतभेद है कि क्षत्रिय-वैश्य संन्यास से पर्युदस्त हैं ऐसा मानें तो उन्हे विवेकादि होने पर भी संन्यासाधिकार नहीं और यदि उन्हे पर्युदस्त न मानें तो अधिकार रहेगा। यह स्वयं वार्तिक में स्पष्ट किया जायेगा। स्त्री स्वतंत्र रूप से श्रौत विधियों का विषय नहीं और शूद्र के लिये अध्ययनादि का निषेध होने से अंगी श्रवण में अनधिकारी होने से अंग संन्यास में अधिकार नहीं अतः वे दोनों श्रौत विविदिषा संन्यास में अनधिकारी हैं। चौथी है प्रयोगविधि जिसका लक्षण है अनुष्ठान की शीघ्रता का बोध कराना 'प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः'। तात्पर्य है कि अंगवाक्यों की प्रधानवाक्य से (अधिकारविधि से) एकवाक्यता करने पर जो वाक्य सांग प्रयोग का संपूर्ण बोध कराता है वह प्रयोगविधि कहा जाता है। उक्त तीनों विधियों को एक वाक्य बनाने से ही यह विधि उपलब्ध हो जाती है, कोई पृथक् वचन यह नहीं होती। इसलिये 'आत्ममात्ररूप मोक्ष का इच्छुक विवेक-वैराग्य संपन्न व्यक्ति मोक्षोपाय ज्ञान के उद्देश्य से सर्वसंन्यास करे' यह प्रयोगविधि है। अतः चारों प्रकार की विधियाँ संन्यासप्रसंग में यहाँ आचार्य ने स्पष्ट करने के लिये ही नाना श्रुति-स्मृति वाक्यों को संकलित किया है ॥२२६॥

मुक्तिहेतु ज्ञान चाहने वाले मुमुक्षु के लिये श्रुति-स्मृति में संन्यास विहित है यह बताकर कर्मकाण्ड से भिन्न ही साधनादि ज्ञानकाण्ड में हैं यह कह दिया। पूर्व में (श्लो० ३१) कहा था कि कर्तव्य के बिना भी अधिकारनिरूपण को संभव बतायेंगे। वही प्रसंग याद दिलाकर निरूपण करते हैं-

और जो यह कहा था कि कर्तव्य के बिना अधिकार का निर्वचन नहीं हो सकता, यह दोष भी यथोक्त ज्ञानोपाय में नहीं ही है ॥२२७॥

पूर्ववादी का अभिप्राय था कि जब कोई कर्तव्य नहीं होता तब कोई अधिकारी भी नहीं हो सकता। श्लोक २०-२१ में यह स्पष्ट किया था। मुमुक्षु भी यदि अधिकारी है तो उसके लिये भी कोई कर्तव्य होना पड़ेगा। कर्म के फल का स्वामित्व अधिकाराधीन ही होता है। मुमुक्षु यदि अधिकार-हीन होगा तो कोई फल नहीं पायेगा। अतः उसे अधिकार चाहिये जिसके लिये कर्तव्य चाहिये। इसलिये काण्डद्वय का साधनादि एक जैसे ही हैं, कार्य उभयत्र चाहिये।

इस पर सिद्धांती विकल्प करता है: क्या ज्ञान के उपाय में अधिकार की सिद्धि के लिये मुमुक्षु को कार्य चाहिये या ज्ञान में अधिकार के लिये कार्य चाहिये? यदि उपाय में अधिकार चाहिये तब तो श्रवणविधि मानने वाले सिद्धान्ती पर कोई दोष नहीं। बल्कि यह दोष देने वाले वादी पर ही अनुक्तोपालम्भ दोष लगेगा! 'संन्यासपूर्वक श्रवण करे' यों कर्तव्य तो हम स्वीकार ही रहे हैं। इससे यह प्रश्न नहीं बनता कि यदि श्रवणविधि मानी तो वेदांत भी कार्यपरक (कर्तव्यबोधन में तात्पर्य वाले) क्यों नहीं हो गये? क्योंकि वाक्यभेद मानकर व्यवस्था है। उदाहरणार्थ : दर्शादि के प्रकरण में आता है (तै०सं० २.५.१) कि ऋतुमती स्त्री से बात न करे, उसके साथ बैठे नहीं और उपगमन न करे। यद्यपि वहाँ तात्पर्य तो दर्शादि के विधान में है तथापि वदनादिनिषेध क्रत्वर्थ नहीं पुरुषार्थ है और अवान्तर वाक्यभेद मानकर ऋतुमती के धर्मों का विधान भी वहाँ 'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेद्' इत्यादि से मान लिया गया है। ऐसे ही ब्रह्म में तात्पर्य वाले श्रुतिभाग में भी अवांतरवाक्यभेद से श्रवणादि की विधि मान्य है। इसमें 'विधिर्वा धारणवत्' (३.४.२०) इस बादरायणसूत्र का भी संवाद है। सहकार्यन्तरविधिसूत्र के (३.४.४७) अंत में भाष्यवचन है 'एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन् विद्यावाक्ये मौनविधिः'। इसीलिये

विधिमार्गेऽधिकारस्य परीक्षा वर्तते यतः । फलभूते तु विज्ञाने नाधिकारो निरूप्यते ॥२२८॥
अधिकारविचारो हि नृतन्त्रे वस्तुनीष्यते । वस्तुतन्त्रे न युक्तोऽसौ स्वयं चैव पुमर्थतः ॥२२९॥
अनात्मनि प्रमेयेऽर्थे या फलत्वेन संमता । प्रमेया सैव वेदान्तेष्वनुभूतिरिहाऽऽत्मनः ॥२३०॥

वाचस्पति भी नियमविधि स्वीकारने के पक्षपाती हैं। प्रथमसूत्र में विधि न मानने में उनका अभिप्राय अपूर्वविधि न मानने से है। कल्पतरु व परिमल में (पृ० ९१९) यह व्यक्त किया है। यदि श्रवणादिविधि न मानी जाये तो मुमुक्षु की प्रवृत्ति वैध न होने से स्वच्छन्दता ही होगी और शारीरकशास्त्र का प्रारंभ करने वाले बादरायण महर्षि प्रेक्षापूर्वकारी नहीं रह जायेंगे। इसलिये श्रवणादिविधि है जिससे कर्तव्य की उपस्थिति होने के कारण अधिकारसिद्धि संगत है ॥२२७॥

ज्ञानमें अधिकार के लिये कर्तव्य जरूरी है और वह न होने से सिद्धांत सदोष है, यह कहना असंगत है यह बताते हैं –

(दोष इसलिये नहीं) क्योंकि विधि के विषय में अधिकार की परीक्षा होती है। फलरूप साक्षात्कार में तो अधिकार का विचार किया नहीं जाता ॥२२८॥

विहित के लिये अधिकार-अनधिकार का विचार किया जा सकता है किन्तु फल के बारे में कैसे किया जाये? जिसके कारण पुरुष विधि का नियोज्य बने वह अधिकार कहलाता है, अतः विधिप्रसंग में ही अधिकार-चिंता संभव है। श्लोक २९२ आदि में यह और स्पष्ट होगा। ज्ञान तो विधियोग्य है नहीं और मानफल मोक्ष किसी अदृष्टद्वार वाला नहीं है। इसलिये ज्ञान में कार्याभाव के कारण अधिकाराभाव का वर्णन असंगत है। ज्ञान विधेय इसलिये नहीं कि वह स्वयं फल है, अतः स्वर्ग की तरह अविधेय ही है। अनधिकारी सोम पीकर पुण्यभाक् भले ही न बने सोम का स्वाद लेने से तो रोका नहीं जा सकता। ऐसे ही सर्वत्र फल में और साक्षात् फलहेतु में अधिकार-अनधिकार का विचार अकिंचित्कर होता है ॥२२८॥

वादी शंका करता है: ज्ञान भी विधेय है, 'ज्ञान और उसके हेतु' इस जोड़े का घटक होने से, जैसे इस जोड़े का घटक ज्ञानहेतु विधेय है। इसका समाधान करते हैं–

पुरुष के परतंत्र वस्तु में (= क्रिया में) अधिकार का विचार स्वीकारा जाता है। वस्तु के परतन्त्र जो ज्ञान है उसमें वह विचार संगत नहीं। ज्ञान स्वयं पुरुषार्थ है, इसलिये भी इसमें अधिकार-चिंता व्यर्थ है ॥२२९॥

क्रिया में पुरुष स्वतंत्र है अतः अधिकारचिंता सार्थक है, अपना अधिकार निश्चित कर वह प्रवृत्त हो सकता है। जिसमें पुरुष स्वतंत्र नहीं, उसमें अधिकार का विचार क्या प्रयोजन सिद्ध करेगा? फलरूप होने से भी ज्ञान में इसका विचार अयुक्त है। वाक्यजन्य अखण्डवृत्ति में व्यक्त आत्मा सविलासमहामोह का ध्वंस करने वाला ज्ञान है। वह ध्वंस उस ज्ञान से अतिरिक्त वस्तु नहीं है क्योंकि अज्ञानध्वंस को आत्मरूप ही बताया गया है। अज्ञानध्वंस पुरुषार्थ है अतः वह यद्रूप है वह आत्मा भी पुरुषार्थ है। इसलिये ज्ञान को स्वयं पुरुषार्थ कहा।

जो तो वादी ने प्रयोग किया था वह इस अनुमानाभास के समान है: स्वर्ग भी विधेय है, 'स्वर्ग व उसके साधन' इस जोड़े का घटक होने से स्वर्गसाधन याग के समान! किंच यत्नविषयत्व उपाधि से वादी का हेतु ग्रस्त है। ज्ञानहेतु यत्नविषय हैं जबकि ज्ञान नहीं। यत्न के अविषय स्वर्गादि भी विधेय नहीं अतः पक्षमात्रव्यावर्तकत्व कर प्रसंग नहीं ॥२२९॥

वृत्ति-आरूढ आत्मा अविद्यादि का निवर्तक है यह पहले (श्लो० १५९) कह चुके हैं। वही याद दिलाते हैं–

आत्मा की जो स्वरूपभूत अनुभूति अनात्मरूप प्रमेय विषयों में फलरूप से मानी गयी है वही वेदान्तों में प्रमेय है ॥२३०॥

वाक्यजन्य वृत्ति में वही अनुभूति व्यक्त होती है जो प्रत्यक्षादि के प्रमेयों में फलरूप से प्रसिद्ध है। अत; जैसे

विज्ञानमानन्दमिति ह्यात्मैवेति श्रुतेस्तथा । पुमर्थस्यैव मेयत्वं मातृत्वाद्यनपेक्षिणः ॥२३१॥

शब्दादि-आकार वाली वृत्ति में अभिव्यक्त अनुभूति शब्दादि से अवच्छिन्न अविद्या को निवृत्त करती है वैसे आत्माकारवृत्ति में व्यक्त अनुभूति आत्माऽविद्या का ध्वंस करती है।

श्रीमान् आनन्दपूर्ण इस श्लोक को पूर्वश्लोक के 'स्वयं चैव पुमर्थतः' के साधन रूप से समझाते हैं। पूर्व श्लोक में आत्माकारवृत्ति को सुखसाक्षात्काररूप होने से स्वर्ग की तरह पुरुषार्थ अतः अविधेय बताया था। उस पर शंका हुई कि तात्पर्यतः वेदबोधित होने से धर्म की तरह आत्मा ही सुखरूप नहीं तो तदाकार वृत्ति क्योंकर सुखसाक्षात्काररूप होगी? इसका उत्तर प्रकृत श्लोक में दियाः पुत्रादिविषयक अपरोक्ष ज्ञान जो पुरुषार्थरूप माना जाता है वही वेदान्त-प्रमेय आत्मा है अतः आत्मा की पुरुषार्थता किं वा सुखरूपता निश्चित होने से तदाकारवृत्ति भी सुखसाक्षात्कार होगी ही। इस प्रकार अनुभव से आत्मा की सुखरूपता कहकर अगले श्लोक से उस विषय में श्रुतिका प्रदर्शन है, यह विद्यासागर का अभिप्राय है।

न्यायतत्त्वविवरणकार ने श्लोक का अभिप्राय बताया हैः पुरुषार्थविषयक जो-जो संवित् होती है वह भी पुरुषार्थ होती है ऐसा लोक में देखा जाता है जैसे सुख पुरुषार्थ है और सुख की अनुभूति भी पुरुषार्थ है। आत्मा स्वभाव से सुखानुभूतिरूप और सुखसाधनानुभूतिरूप है। वही वेदान्तप्रमेय है। अतः आत्मा पुरुषार्थ ही है। यद्यपि अपुरुषार्थ विषयक संवित् (=अनुभव) अपुरुषार्थ भी होती है जिससे आत्मा की अपुरुषार्थता प्राप्त होती है तथापि अनुभूति वस्तुतः अपुरुषार्थ नहीं, अध्यास से ही वैसी है, अन्यथा अनुभूति की निरुपाधिक प्रेमास्पदता उपपन्न न होगी।और अनुभूतिरूप आत्मा में सुख का लक्षण भी स्फुट है क्योंकि सब कुछ आत्मा के लिये है व आत्मा किसी अन्य के लिये है नहीं, इससे भी वह पुरुषार्थ ही है, अपुरुषार्थ नहीं। एवं च काल्पनिक अपुरुषार्थता ही आत्मा में हो सकती है।

सर्वथापि आत्मा पुरुषार्थ है और वृत्तिविशेष से उपलक्षित हो अज्ञानध्वंस करने वाला है अतः उसके सम्बन्ध में अधिकार का प्रसंग ही अनर्थक है ॥२३०॥

प्रश्न होगाः अनन्त एकरस चेतन परमात्मा वेदान्तों का प्रतिपाद्य है जबकि शब्दादि का अनुभव प्रमाणों का फल है व परिच्छिन्न है। परिच्छिन्न व अनंत की एकता कैसे? इसका उत्तर श्रुति द्वारा देते हैं-

'विज्ञान आनन्द' तथा 'आत्मा ही' इत्यादि श्रुति से निश्चित है कि प्रमातृत्वादि की अपेक्षा न रखने वाला पुरुषार्थ ही (वेदान्तों का) प्रमेय है ॥२३१॥

विज्ञानादि श्रुति यहीं आगे (बृ ३.९.२८) आयेगी। 'आत्मैवेदः सर्वम्' छान्दोग्य में है (७.२५.२)। 'प्रज्ञात्माऽऽनन्दः' कौषीतक्युपनिषत् में (३.८) है। आनंद होने से पुरुषार्थता है। अप्रकाशमान आनंद भी पुरुषार्थ नहीं, पर आत्मा विज्ञान होने से प्रकाशमान भी है। उसे प्रकाशने के लिये प्रमाता आदि की जरूरत है नहीं। जो तो प्रश्न था कि लौकिक अनुभव सीमित होने से अनन्त संवित् से अभिन्न कैसे? उसका समाधान है कि परम पुरुषार्थ परमानन्दरूप आत्मा ही अज्ञान द्वारा प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय बनता है अतः परिच्छिन्नता कल्पित है जिससे वास्तव ऐक्य अविरुद्ध है। अन्तःकरण की वृत्तिविशेष से सीमित आत्मा प्रमाता होता है, उसी की वृत्त्यन्तरविशेष से सीमित वही आत्मा प्रमाण होता है, उसी की वृत्तिद्वारा विषयावच्छिन्न हुआ वही फल होता है और अज्ञानद्वारा शब्दादिविषयों से अवच्छिन्न प्रमेयता वाला हो जाता है। पंचपादिका और विवरण में (पृ० २०१) तथा सिद्धांतबिंदु और न्यायरत्नावली में (पृ० १०४) यह प्रसंग सुस्पष्ट किया गया है। विषयस्थ अपरोक्षता और आंतरिक अपरोक्षानुभव में कोई प्रमाणसिद्ध भेद नहीं है यह अन्यत्र भी समझाया है। अतः लोकसिद्ध संवित् ही निरवच्छिन्न हुई वेदांतों का प्रमेय है यह उचित है। एवं च श्लोक २२८ में कही फलरूपता संगत है ॥२३१॥

इतना ही नहीं, आत्मज्ञान में विधि मानने वाला तीन तरह विधि कह सकता हैः १) आत्मज्ञान का बाध नहीं इसके

तज्ज्ञानं यस्य संजातं जातमेवास्य नान्यथा । कुक्षिस्थस्यापि हि सतो वामदेवस्य तद्यथा ॥२३२॥
तच्चाविद्यानिरास्येव व्याधभावनयाऽञ्जितः । राजसूनोः स्मृतिप्राप्तौ व्याधभावो निवर्तते ॥२३३॥
यथैवमात्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः । लब्धैकात्म्यस्मृतेर्व्येति सर्वाऽविद्या सकार्यका ॥२३४॥
यत एवमतो नात्र विधिः कल्प्यः कथञ्चन । अनर्थकः कल्पितोऽपि तस्येहानुपयोगतः ॥२३५॥

लिये विधि है; या २) उसके फल-सम्बंध का विधान है; या ३) उसके प्रतिबंध के निरास में विधि है। तीनों ही पक्ष असंगत हैं अतः ज्ञान में विधि मानना व्यर्थ है। यह व्यक्त करते हैं-

वह ज्ञान जिसे हो जाता है उसे अन्य प्रकार का ज्ञान नहीं ही होता है। जैसे गर्भस्थित वामदेव को आत्मज्ञान हुआ (वैसे अन्य अधिकारी को भी होता है और अबाधित रहता है) ॥२३२॥

पूर्वभव में किये श्रवणादि के फलस्वरूप मल-मूत्रादि अनेक दोषों वाले गर्भ में भी वामदेव को दृढ साक्षात्कार हुआ यह ऐतरेय में (२.५) व बृहदारण्यक में (१.४.१०) वर्णित है। दृढ अपरोक्ष होने पर उसकी विरोधी प्रमा कभी होती नहीं कि वह बाधित हो सके। बल्कि प्रबलतम उपनिषत्प्रमाण से हुई सम्यग्धी ही विपर्यय निश्चयों को व प्रतीतियों को बाधित करती है। जैसे रज्जुज्ञान के अबाध के लिये विधि नहीं चाहिये ऐसे आत्मज्ञान का बाध न हो इसके लिये विधि अपेक्षित नहीं है ॥२३२॥

ज्ञान के फलसम्बंध का विधान भी नहीं चाहिये क्योंकि विधि के बिना ही वह सकार्य अविद्या का निरास कर देता है यह बताकर प्रतिबंध-निरासार्थ भी विधि अपेक्षित नहीं यह सोदाहरण समझाते हैं-

विधि के बिना भी वह ज्ञान अविद्या को निवृत्त कर ही देता है। जिस तरह 'मैं व्याध हूँ' ऐसी भावना से युक्त राजकुमार को अपने राजत्व की स्मृति प्राप्त होने पर व्याधरूपता निवृत्त हो जाती है, उसी तरह अज्ञानी आत्मा को तत्त्वमसि आदि वाक्यों से एकात्मता की स्मृति प्राप्त होने पर कार्य-समेत सारी अविद्या समाप्त हो जाती है ॥२३३-२३४॥

क्योंकि सभी प्रमाणज्ञान अज्ञान व तत्प्रयुक्त के उत्सर्गतः ध्वंसक ही होते हैं इसलिये आत्मप्रमा को इस कार्य के लिये विधि की ज़रूरत नहीं। अज्ञान-निवृत्ति ही ज्ञान का फल है। अतः फलसम्बन्धार्थ विधि व्यर्थ है। ऐसे ही ज्ञानफल के प्रतिबंध भी ज्ञान से ही बाधित हो चुकने से प्रतिबंधनिवारणार्थ विधि है यह भी कहना उचित नहीं। उदाहरण में कोई राजपुत्र बालकपन में गृहवियुक्त हो किसी व्याध द्वारा पालित होने से 'मैं व्याध हूँ' ऐसा दृढ निश्चय रखता रहा पर जब किसी आप्त पुरुष ने उसे सप्रमाण समझा दिया तो 'मैं राजा हूँ' यह ज्ञान होते ही दीर्घ काल से स्थित व्याधत्वाभिमान निवृत्त हो गया। ऐसे ही अज्ञान से मनुष्यत्वादि धर्मों का आरोप किया आत्मा मानो स्वाराज्य से च्युत हुआ कष्टमयी दशा में पड़ा है। जब कोई क़रुणामय गुरु इसे महावाक्य का उपदेश देता है तब अपने स्वरूप का बोध होते ही अविद्या और उसके कार्यभूत अध्यास सभी नष्ट हो जाते हैं। मूल में स्मृतिशब्द ज्ञानार्थक ही है। 'सारी अविद्या' अर्थात् सब प्रकारकी अविद्या; मूला व तूला भेद से अविद्या दो प्रकार की है, तत्त्वज्ञान से दोनों प्रकार की अविद्या नष्ट हो जाती है। अथवा 'सर्वा' का ही स्पष्टीकरण है 'सकार्यका'; कार्य भी अविद्या के ही प्रकार हैं, एवं च कार्याविद्या और कारणाविद्या दोनों प्रकार की अविद्या निवृत्त होती है यह अर्थ है। अथवा एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा के अनुसार कथन उपपन्न है। अभिप्राय इतना ही है कि प्रतिबंधक यदि अविद्यारूप हैं तो तत्त्वज्ञान से ही हट चुके हैं इसलिये उनके नाश के लिये विधि नहीं चाहिये और यदि उससे अन्य हैं तब तो सत्य होंगे व विधि से भी विनष्ट नहीं होंगे। अतः विधि की कोई ज़रूरत संभव नहीं।

'तच्चाविद्या' के स्थान पर विद्यासागर का पाठ है 'तथाऽविद्या' ॥२३३-२३४॥

और भी, आत्मज्ञान में विधि न श्रुत है न कल्पनीय यह कहते हैं-

क्योंकि ऐसी बात है इसलिये ज्ञान में न विधि है न किसी तरह उसकी कल्पना उचित है। आत्मज्ञान में उपयोग न होने से कल्पना करें तो भी विधि अनर्थक ही होगी ॥२३५॥

उत्पत्तिराप्तिः संस्कारो विकारश्च विधेः फलम्। मुक्तिर्विलक्षणैतेभ्यस्तेनेहानर्थको विधिः ॥२३६॥

ज्ञान में विधि संभव नहीं। शास्त्रो में भी अतएव ज्ञान की कहीं विधि नहीं सुनी जाती। द्रष्टव्यादि पद भी विधायक नहीं हैं यह उन पदों की व्याख्या में स्पष्ट हो जायेगा। समन्वयसूत्र के भाष्य में आचार्य ने यह बात उपपत्तियों से व्यक्त की है। प्रश्न होगा कि यदि ज्ञान में विधि होती नहीं तो वेद ने तव्यत्प्रत्यययुक्त पद का (द्रष्टव्यः) प्रयोग ही क्यों किया? उत्तर भगवान् पद्मपाद ने दिया है (पृ० ६५२) कि जैसे विधि विधेय में प्रवृत्त करती है और उससे अतिरिक्त प्रवृत्ति से निरुद्ध करती है ऐसे ही द्रष्टव्यादि वचन भी आत्मज्ञान की ओर उन्मुख करते हैं और बहिर्मुखता का निरोध करते हैं अतः विधिकार्य के अंश का निर्वाह करने से इन विधिसदृश प्रयोगों की सार्थकता है।

यद्यपि ज्ञान में विधि श्रुत नहीं तथापि वाक्य की प्रमाणता सुरक्षित रखने के लिये उसकी कल्पना करनी चाहिये क्योंकि अविधि-वाक्य स्वतंत्र प्रमाण नहीं होते यह हम मीमांसक मानते हैं। विधिकल्पना शास्त्रानुमोदित है। उदाहरणार्थः दर्शपूर्णमास के प्रसंग में (तै० सं० २.६.८) कहा कि पूषा देवता दन्तहीन है अतः वे पिसा हुआ भाग पाने वाले हैं। प्रकृतियाग में पूषा देवता है नहीं अतः पीसने का विधान पूषा देवता वाले विकृतियाग में ही समझना चाहिये। पशु को पीसने से तो हृदयादि का आकार नष्ट हो जाने से उनका समर्पण संभव नहीं होगा इसलिये पशु को नहीं पीसना चाहिये। पुरोडाश तो पीसने पर ही बन सकता है अतः विधि के बिना भी उसका पीसना सिद्ध होने से उसे पीसने का विधान नहीं है। अतः पारिशेष्यन्याय से चरु को ही पीसना चाहिये। पिसे हुए व्रीह्यादि को संस्कृत जल से मिलाने पर बने पिण्ड को मन्त्रपूर्वक कछुए के समान आकार का बनाते हैं, उसे पुरोडाश कहते हैं। गार्हपत्याग्नि से लिये अंगारों को चूल्हे में रखकर उसपर जलयुक्त स्थाली में (बर्तन में) मंत्रसंस्कृत चावल पकाये जाते हैं, उन परिपक्व चावलों को (=भात को) चरु कहते हैं। अतः पुरोडाश तो स्वभावतः ही पिसा होगा इसलिये चरु को पीसने का ही विधान मान्य है। यह जैमिनीयदर्शन के तृतीयाध्याय में (३.१३-१४) निर्णीत है। जैसे वहाँ 'चरु पीसो' ऐसी विधि श्रुत नहीं फिर भी उक्त विचार से कल्प्य है वैसे ही ज्ञान के लिये क्यों न हो?

उत्तर है कि कल्पनाहेतु हो तभी कल्पना संभव है, अन्यथा नहीं। प्रमाणता की सुरक्षा के लिये विधि चाहिये यह केवल तुम कर्मजडों का बहम है। वस्तु-मात्र का बोध कराने पर भी वाक्य प्रमाण हो ही सकता है यह सूत्रभाष्य में निर्णीत है, यहाँ भी बतायेंगे। इसलिये जैमिनि ने प्रपिष्टभागादि प्रमाण के अनुरोध से कहीं विधि-कल्पना की आवश्यकता बता दी तो चाहे जहाँ बिना प्रमाण के विधि की कल्पना करने लगो, यह ग़लत है! और कथंचित् कर भी लो तो वह होगी निरर्थक यह बता ही चुके हैं। निष्प्रयोजन प्रयास में बुद्धिमान् व्यापृत नहीं होते ॥२३५॥

ज्ञान के लिये कल्पित विधि का मोक्ष में उपयोग हो सकता है अर्थात् विधि के कारण (अदृष्टद्वार से) मोक्ष हो तो विधि मानना संगत हो जायेगा। किन्तु मोक्ष का स्वरूप ही ऐसा है कि वह विधि से हो नहीं सकता यह दिखाते हैं-

विधि के फल होते हैं उत्पत्ति, प्राप्ति, संस्कार और विकार। मोक्ष इन सब से विलक्षण है। इसलिये ज्ञानमें विधि व्यर्थ है ॥२३६॥

चारों फलों के प्रसिद्ध उदाहरण हैं : १) संयवन-विधि का फल है पुरोडाश की उत्पत्ति। 'मेक्षण'-नामक काष्ठपात्रविशेष से जल से पिष्ट का मिश्रण करने को संयवन कहते हैं। इस मिश्रण से जो पिण्ड बनता है उसे मंत्रपूर्वक कछुए जैसा बनाते हैं जिसका नाम है पुरोडाश। २) दुहने की विधि का फल है दूध की प्राप्ति। अथवा स्वाध्यायविधि का फल वेद की प्राप्ति है। ३) प्रोक्षण-विधि का फल है ऊखल आदि का संस्कार। प्रोक्षण कहते हैं एक विशेष रीति से हवि आदि पर पवित्र जल छिड़कने को और यज्ञोपयोगी धानादि कूटने के लिये पलाश की लकड़ी से निर्मित बारह अंगुल बड़ी ऊखल को उलूखल कहते हैं। प्रोक्षण जिस पर किया जा चुका हो उसी उलूखल में कूटा जा सकता है अतः उलूखल का संस्कार प्रोक्षणविधि का फल है। ४) अवघातविधि का फल है व्रीहि आदि का विकार (तण्डुल बनना)। इस प्रकार क्रियाफल चार ही तरह के प्रसिद्ध हैं। मोक्ष इनमें से किसी भी स्वरूप वाला नहीं। न तो वह उत्पत्तिरूप है और

अनन्यायत्तसंसिद्धेर्निरविद्यात्मवस्तुनः । न क्रियात्वं फलत्वं वा नापि कारकरूपता ॥२३७॥
अतोऽत्र विध्यभावोऽयं न कथञ्चन दूषणम् । अलंकृतिरियं साध्वी वेदान्तेषु प्रशस्यते ॥२३८॥
चोदनाभिर्नियुक्तोऽहं तथा ब्रह्माहमित्यपि । परस्परविरुद्धत्वादेकदैकत्र न द्वयम् ॥२३९॥

न उत्पन्न होने वाला क्योंकि वह क्रिया नहीं है और अनादि है। सम्बन्धरूप न होने से मोक्ष प्राप्तिरूप नहीं है और प्राप्तस्वरूप होने से प्रापणीय भी नहीं है। निर्गुण है अतः संस्कार नहीं और संस्कार-वाला इसलिये नहीं कि उसमें किसी विशेषता का आधान संभव नहीं क्योंकि वह एकरस है। अकार्य होने से मोक्ष विकाररूप नहीं है और अपरिणामी है इसलिये विकृत होने वाला नहीं है। अतः कल्पित विधि का भी मोक्ष फल हो कैसे? ॥२३६॥

शंका होती है: ज्ञानमें विधि संभव नहीं अतः ब्रह्म विधिशेष चाहे न हो, उपासना में तो विधि संभव है अतः ब्रह्म विधिशेष क्यों न हो? इसके समाधान के लिये ब्रह्म का क्रियामात्र से असम्बंध बता देते हैं-

अविद्यारहित आत्मवस्तु क्योंकि बिना किसी अन्य के सहारे स्वयं ही सिद्ध है इसलिये वह क्रिया, कारक या फल नहीं है ॥२३७॥

क्रिया, कारक या फल ही विधिशेष हों यह संभव है। क्योंकि ब्रह्म इन तीनों में से कुछ नहीं हो सकता इसलिये वह विधिशेष ही नहीं हो सकता तो उपासनाविधि का शेष नहीं होगा इसमें कहना ही क्या? क्रिया उसे कहते हैं जिसका स्वरूपलाभ कारकों के अधीन हो। ब्रह्म स्वतंत्ररूप से खुद ही सिद्ध है अतः वह क्रिया नहीं। अविद्या वाले में ही कर्तृत्वादि कारकता देखी गयी है, ब्रह्म अविद्यारहित है अतः कारक नहीं। क्रिया से अन्य को फल कहते हैं, अज नित्य होने से ब्रह्म फल भी नहीं। इसलिये उपासना की विधि भले ही संभव हो, ब्रह्म उस विधि का भी शेष हो नहीं सकता।

कल्पलता में आत्मा की संस्कार्यता के असंभव में इस श्लोक का तात्पर्य माना है। संसिद्ध होने से स्वरूपाभिव्यक्तिरूप संस्कार संभव नहीं। निरविद्य होने से अविद्यादिमलनिरासरूप संस्कार संभव नहीं। आत्मा वस्तु है अतः उसकी क्रियारूपता प्राप्त ही नहीं तो उसका निषेध क्यों? यह शंका मन में रख बताया कि तात्पर्य है – जैसे वह क्रिया नहीं ऐसे ही फल भी नहीं है। क्रिया व फल न होने पर कारक होगा? इस प्रश्न पर कहा कि वह कारक भी नहीं है कि कर्मांग हो सके ॥२३७॥

कुछ लोग मानते हैं कि विधिशेष न होने पर वेदान्त अप्रमाण होंगे अतः उपनिषदें वेदों का ऊषर हिस्सा है! जैसे बंजरभूमि में कुछ उगता नहीं ऐसे उपनिषदों से कुछ पता नहीं चलता, क्योंकि पता चलने योग्य तो कार्य ही होता है! इसलिये उपनिषदें जपमात्र के उपयोग की हैं, इनका अर्थ विवक्षित नहीं है। ऐसे वादियों को समझाते हैं-

अतः वेदान्तों में विधि न होना किसी तरह का दोष नहीं है बल्कि यह वेदांतों में प्रशंसनीय सुन्दर अलंकार ही है ॥२३८॥

'नदीतट पर पाँच फल हैं' सुनकर बोध होता ही है। अतः शब्द से कार्य ही समधिगम्य नहीं है। इसलिये बिना विधि के भी ब्रह्म के विषय में वेदान्त प्रमाण हैं। फलतः विधि न होने से वे अप्रमाण नहीं हो जाते। बल्कि यदि उनमें विधि होती तो शास्त्र का तात्पर्य शुद्ध ब्रह्म में नहीं रह जाता, जब विधि नहीं है तो पुरुषार्थरूप ब्रह्म का ज्ञान उनसे सुलभ है। यहाँ इस सूत्रभाष्य की झलक स्पष्ट है 'यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति; तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते, अलङ्कारो ह्ययमस्माकं यद् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति' (१.१.४) ॥२३८॥

ज्ञानादि विधियों में न विद्वान् नियोज्य हो सकता है, न विविदिषु। विद्वान् नियोज्य नहीं यह कहते हैं-

'मैं विधियों से नियुक्त हूँ' और 'मैं ब्रह्म हूँ' – ये दानों निश्चय एक-दूसरे से विरुद्ध होने के कारण एक ही समय एक ही जगह नहीं रह सकते ॥२३९॥

उपदेशसहस्री में (११.८) भी बताया है कि खुद को ब्रह्म तथा कर्ता-भोक्ता दोनों जानना असंभव है। कर्तृत्वादि का

स्वामी सन्न हि भृत्येन स्वामिनेव नियुज्यते । संबोधनीय एवासौ सुप्तो राजेव बन्दिभिः ॥२४०॥
चोदनालक्षणत्वादि धर्मं प्रत्येव गृह्यताम् । धर्मस्यैव प्रतिज्ञोक्तेर्न तु ब्रह्म प्रतीष्यते ॥२४१॥

निश्चय रहते ब्रह्मनिश्चय नहीं हो सकता और ब्रह्मनिश्चय हो जाने पर कर्तृत्वादि बाधित ही हो जाते हैं। 'नियुक्त हूँ' अर्थात् विधि मेरे लिये कर्तव्य कह रही है ॥२३९॥

विविदिषु भी नियोज्य नहीं यह बताते हैं–

मालिक होते हुए कोई व्यक्ति नौकर से वैसे नियुक्त नहीं हो सकता जैसे (नौकर) मालिक से होता है। वह मालिक तो नौकर द्वारा सम्बोधनीय ही होता है जैसै राजा बन्दियों द्वारा सम्बोधनीय होता है ॥२४०॥

भगवान् ने भी कहा है 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते' (६.४४)। विविदिषु संसरण का मार्ग छोड़ देने से वेद का मालिक-स्थानीय ही है। अतः वेद उसे नियुक्त करे यह उचित नहीं, उसे बोधित ही कर सकता है। देहसाक्षी को 'आप जगत् की कारणता से उपलक्षित ब्रह्म ही हैं' ऐसा प्रबोधन ही वेद विविदिषु को करा सकता है।

एवं च नियोज्य न सिद्ध होने से वेदान्तों में विधि न होना ही संगत है।

यदि विविदिषु केवल परोक्षरूप से यह जानने वाला होने के कारण कि सारा नाम-रूप प्रपंच मेरी अविद्या का विलास है, वेद का मालिक-स्थानीय स्वीकार्य न हो तो श्लोक का प्रथमार्ध यह बताने वाला मानना चाहिये कि विद्वान् नियोज्य नहीं और उत्तरार्ध से ही विविदिषु की अनियोज्यता समझनी चाहिये। यदि विविदिषु भी नियोज्य होवे तो स्वर्गेच्छु के समान ही हो जायेगा और संसरणमार्ग का ही पथिक रहेगा। अतः श्रवणादि में विविदिषु नियुक्त होता है पर ज्ञान में नहीं यह अभिप्राय समझना चाहिये ॥२४०॥

प्राभाकर मीमांसक प्रश्न करता है: वेदान्तमात्र के विचार से भले ही ब्रह्म विधिशेष न हो, कर्ममीमांसाशास्त्र का विचार करने पर तो वह विधिशेष ही संभव लगता है क्योंकि कर्मांगभूत कर्त्ता के बोध या स्तुति के द्वारा ही ब्रह्म सार्थक है। मीमांसासूत्र उस सब का विचार करने को प्रवृत्त हुए हैं जो वेद का अर्थ है। सूत्रकार ने वेद के अर्थ का लक्षण कहा है विधिविषयता। क्रिया में प्रवृत्त करने वाले वचन ही विधि कहे जाते हैं। ब्रह्म भी वेद का ही अर्थ है इसलिये उसे भी विधि से सम्बंध रखना ही चाहिये। इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

विधिविषयता आदि को धर्म के सम्बन्ध में ही कहा गया समझना चाहिये। क्यों कि प्रारंभ में धर्म का ही प्रसंग उठाया गया है इसलिये उस शास्त्र में कही बातें ब्रह्म पर लागू नहीं होती ॥२४१॥

जैमिनि ने पहले सूत्र में कहा कि श्रद्धा से विचारपूर्वक धर्म को समझना चाहिये, अतः वे धर्म के बारे में ही न्याय बताने में प्रवृत्त हुए यह निर्णीत है। इसलिये वे न्याय ब्रह्म के सम्बंध में समान नहीं समझे जा सकते। विधि ही प्रमाण है, शब्दान्तरादि से भेद हुआ करता है इत्यादि बारह अध्यायों में कहा विषय धर्म से ही सम्बद्ध है।

प्राभाकर रीति से ही मीमांसा के प्रथम अधिकरण का परिचय कराते हुए टीकाकार ने शंका स्पष्ट की है: व्याकरणादि अंगों सहित वेद पढ़ने पर आपाततः कुछ अर्थ समझ आता ही है। उसके बारे में संशय हो जाता है 'क्या यह अर्थ सही है या नहीं?' ऐसे व्यक्ति को शास्त्रमर्यादा से शास्त्रार्थ का निर्णय कराने के लिये मीमांसा का पहला सूत्र और पूरा मीमांसा दर्शन प्रवृत्त है। प्रथम सूत्र चार बातों को व्यक्त करता है– १) अध्यापन का विधान है अर्थात् जो स्वयं को आचार्य बनाना चाहे वह अधिकारी को वेद का अध्ययन करावे यह विधि है; २) उपनयन उस अध्यापन विधि का अंग है क्योंकि उपनयन के बिना अध्ययन असंभव है और बालक के अध्ययन के बिना गुरु का आचार्य होना असंभव है; ३) अध्ययन का प्रयोजक है अध्यापन विधि और ४) अध्यापन विधि से प्रयुक्त होने पर भी अध्ययन उसका शेष नहीं अतः इसका स्वतन्त्र ही अधिकार है। प्रथमाधिकरण का विषय तो वेदार्थ-विचार के उपयोगी न्याय बताने वाला मीमांसा शास्त्री ही है।

अथातो धर्म इत्युक्तेश्चोदनालक्षणोक्तितः। तद्भूतानां क्रियार्थेन ह्याम्नायस्य क्रियार्थतः ॥२४२॥

अधिकरणारंभ का हेतुभूत संशय यह है – क्या मीमांसाशास्त्र का प्रारंभ होना चाहिये, या नहीं?

पूर्वपक्ष यह है – अध्यापन की विधि है जिसका अंग उपनयन है। अध्ययन का फल इतना ही है कि अध्यापनविधि से कर्तव्यभूत आचार्यत्व संपन्न हो जाये। अध्यापनविधि की सिद्धि के लिये ही स्वाध्यायाध्ययन है। इसलिये वेद के अक्षरग्रहण से ही अध्यापक का आचार्यत्व सिद्ध हो जाने से प्रयोजन पूरा हो चुकने के कारण वेद के वाक्यों का अर्थ विवक्षित नहीं है। अतः वेदार्थ विचारणीय ही नहीं तो उस की मीमांसा करना व्यर्थ है।

सिद्धांतपक्ष इस प्रकार है – यह ठीक है कि उपनयनरूप अंग वाली अध्यापन विधि से अध्ययन प्रयुक्त है फिर भी अध्ययन का फल केवल आचार्यकरण (=गुरु को आचार्यत्वप्राप्ति) नहीं है। अध्ययन बालक करता है और आचार्यता गुरु में आती है, अतः कर्ता से भिन्न पुरुष में होने वाला आचार्यत्वलाभ बहिरंग होने से अध्ययन का फल नहीं। अध्ययन के बाद होने वाला जो वेद के अर्थ का ज्ञान है वह अध्ययन करने वाले शिष्य को ही होता है अतः अंतरंग होने से वही अध्ययन का फल है। 'अध्येतव्यः' के तव्य प्रत्यय से समझा जाने वाला नियोग भी अध्ययन का फल है और अर्थज्ञान भी अध्ययन का फल है किन्तु अर्थातः प्राप्त है। स्वाध्यायविधि का कोई नियोज्य नहीं है, अध्यापनविधि ही अध्ययन के अनुष्ठान का प्रयोजक बन जाती है। अर्थज्ञान फल है तो अर्थज्ञान चाहने वाला नियोज्य क्यों न हो? इसलिये कि अध्ययन से पूर्व वेदार्थ का अज्ञान होने से उसकी कामना संभव नहीं, विषयज्ञान के बिना विषयकामना होती नहीं। नियोज्य न होने पर भी स्वाध्याय का अधिकारी तो होता ही है। जिसके लिये जो कर्म होता है वह उस कर्म में अधिकारी होता है 'यदर्थं हि यत् कर्म स तत्राधिकारी' (प्रकरण पं. पृ० २३)। अर्थज्ञान के उपयोगीरूप से अध्येता के लिये अध्ययन है अतः अध्येता का उसमें अधिकार है। इसलिये अर्थज्ञान अधिकार का हेतु है। एवं च वेद के अर्थ को जानना फल होने से वेद का अर्थ विवक्षित है जिससे तद्विषयक मीमांसा सार्थक होने से जैमिनिसूत्रों का प्रारंभ होना उचित है।

इस सिद्धांत के अनुसार समग्र वेदार्थ का विचार करने के लिये पूर्वमीमांसा प्रारंभ हुई अतः वेदार्थरूप ब्रह्म भी उसी में विचारणीय है, फलतः कर्मांग ही होगा। इसका निषेध करने के लिये वार्तिक में बताया कि पूर्व-मीमांसा की नीतियाँ धर्मसम्बंधी हैं, ब्रह्मसम्बन्धी नहीं। सूत्रकार ने प्रथम व द्वितीय सूत्रों में धर्मशब्द के प्रयोग से स्वयं यह स्पष्ट कर दिया है ॥२४१॥

कोई कहे कि सूत्रकार सारे वेदार्थ को विचारणीय मानकर ही प्रवृत्त हुए अतः ब्रह्म भी धर्म की तरह विधिसे सम्बंध वाला ही है और पूर्वमीमांसा का ही विषय है, धर्मशब्द वेदार्थ-परक है। तो इसका निराकरण करते हैं–

'सांग अध्ययन विचार के प्रति पर्याप्त कारण होने से स्वाध्यायाध्ययन के बाद धर्म को समझने की कोशिश करनी चाहिये'; 'विधिगम्य होते हुए जो कल्याणकारी है वह धर्म है'; 'पदार्थविषयक पदों का वाक्यरूप से उच्चारण इसलिये है कि कार्यरूप वाक्यार्थ समझ आये'; 'वेद क्रियार्थक है'–यह सब कहने से (सूत्रकार ने ब्रह्मविषयक विचार में प्रवृत्ति नहीं है यह सूचित किया है) ॥२४२॥

यहाँ पूर्वमीमांसा के क्रमशः प्रथम, द्वितीय, पच्चीसवे और द्वितीयपाद के प्रथम सूत्र का उल्लेख किया गया है।

प्रथम सूत्र में धर्मजिज्ञासा कह कर जैमिनि ने स्पष्ट किया कि सारे वेद के अर्थ के विचार के लिये वे प्रयासशील नहीं। यदि वैसा होता हो धर्म की जगह वेदार्थ की जिज्ञासा को वे कर्तव्य बताते। धर्मशब्द से वेदार्थ में लक्षणा संगत नहीं क्योंकि मुख्यार्थ मानने पर कोई अनुपपत्ति नहीं है। धर्म की प्रतिज्ञा करने पर भी अधर्म का कथन तो इसलिये है कि अधर्म से बचने पर ही धर्मानुष्ठान होता है किन्तु ब्रह्म का निरूपण धर्मानुष्ठान में उपयोगी नहीं बल्कि विरोधी ही होगा। यद्यपि सारे वेद के (= स्वशाखा के) अध्ययन के बाद मीमांसा करने को कहा है तथापि मीमांसा वेद के कुछ हिस्से के अर्थ का ही विचार करती है, दूसरे हिस्से के अर्थ का विचार शारीरक मीमांसा करती है। कर्माधिकार के योग्य व्यक्ति और

ज्ञानाधिकार के योग्य व्यक्ति, दोनों ही अध्ययन के अधिकारी हैं अतः वेदाध्ययन के बाद स्वर्गादि का इच्छुक कर्ममीमांसा में प्रवृत्त होवे और मोक्ष का इच्छुक शारीरकमीमांसा में, यह संगत भी है। आचार्यजी ने इसीलिये वेदाध्ययन को दोनों मीमांसाओं से पूर्वभावी कहा है और यह स्पष्ट किया है कि कर्ममीमांसा किये बिना भी ब्रह्ममीमांसा हो सकती है। इसलिये जैमिनि ने वेदार्थ का एक हिस्सा ही अपने विचार का क्षेत्र रखा है। उनके भाष्यकार भी हर जगह धर्मशब्द का ही प्रयोग करते हैं, वेदार्थशब्द का नहीं। इस प्रकार प्रथम अधिकरण के विचार से सिद्ध हुआ कि कर्ममीमांसा से ब्रह्म की विधिशेषता संभव नहीं।

द्वितीयसूत्र का विचार भी यही निर्णय देता है, यह स्पष्ट करने के लिये उस अधिकरण का आशय टीकाकार ने स्पष्ट किया है: द्वितीयाधिकरण ये चार बातें बताने के लिये प्रारंभ हुआ है– १) जिसकी जिज्ञासा करनी है उस वेदार्थ का रूप क्या है; २) उसमें प्रमाण; ३) शब्द का अर्थ से संबंध; ४) शब्द का अर्थ कार्य ही है। अधिकरण का विषय है वेद का अर्थ। संशय है कि वेदार्थ सिद्धरूप है (= क्रिया-निरपेक्ष विद्यमानस्वरूप वाला है), या कार्यरूप ही है?

पूर्वपक्ष है – 'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है' इत्यादि वेदवाक्य सिद्ध अर्थ बता रहा है और कोई कारण है नहीं कि सिद्धार्थ समझ न आये। शब्द से कार्य ही मालूम पड़े यह नहीं कह सकते क्योंकि 'तेरा पुत्र पैदा हुआ है' आदि वाक्य सिद्धार्थ में तात्पर्य वाले हैं और ऐसे वाक्यों से भी बालक को पहले-पहल शब्दार्थ-सम्बंध मालूम पड़ सकता है, केवल 'गाय लाओ', 'गाय ले जाओ' आदि कार्यार्थक वाक्यों से ही वह उसे समझे यह नियम व्यर्थ है। एवं च सिद्धार्थ में व्युत्पत्ति होती है और व्युत्पत्त्यनुसार तात्पर्य होता है। इसलिये वेदार्थ सिद्धरूप होना भी संभव है।

सिद्धान्त यह है – शब्दार्थ के सम्बंधज्ञान का प्राथमिक मार्ग व्यवहार ही है अर्थात् कार्यार्थक वाक्यों का श्रवण और क्रियाओं को देखकर ही बालक शब्दों का अर्थों से सम्बन्ध समझता है। पुत्रजन्मादि वाक्यों से शब्दार्थ सम्बंध पता नहीं चल सकता। वाक्य सुनकर प्रकट होने वाला हर्ष पुत्रजन्मप्रयुक्त है यह कहना संभव नहीं क्योंकिं हर्ष के हेतु बहुतेरे होते हैं। इससे विलक्षण है गाय लाना, ले जाना आदि व्यवहार जो निश्चित अर्थ को विषय करता है। अतः व्यवहार ही शक्ति का बोधक हो सकता है। व्यवहार कभी 'कार्य' के बिना होता नहीं अतः अन्वय-व्यतिरेक से शक्ति विशेषतः कार्य में ही सिद्ध होती है। शब्द की शक्ति के अनुसार ही शब्द का तात्पर्य होता है। इसलिये अर्थसम्बन्धी शब्द से कार्य ही सिद्ध होगा। जिन वाक्यों में कार्य सुनाई न दे उनमें भी अध्याहार या लक्षणा से उसे समझ लेना होगा। इसलिये वेदांतों को भी किसी तरह कार्य में तात्पर्य वाला बनाना चाहिये। अतः वेदार्थ कार्यरूप ही है।

एवं च वेदार्थ होने से ब्रह्म का भी कार्यार्थरूप से विधिसंबंध होना चाहिये – इस शंका का समाधान वार्तिककार ने 'विधिगम्य होते हुए' इत्यादि द्वितीय सूत्र के उदाहरण से दिया। जैमिनि ने उस सूत्र में स्पष्ट ही धर्म का लक्षण किया है। श्येनादि जो कल्याणकारी नहीं, वे वेदोक्त होने पर भी धर्म नहीं यह स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार ने 'अर्थः' कहा है। धर्म को विधिगम्य कहा और धर्म का विशेषण दिया 'अर्थ'(=कल्याणकारी), इससे सूत्रकार ने ही वे वेदार्थ के एक हिस्से का ही स्वरूप बता रहे हैं और उसी हिस्से में प्रमाण का निरूपण कर रहे हैं यह बताया। श्येनादि वेदार्थ तो हैं ही, उनकी व्यावृत्ति से उक्त बात निश्चित है। भाष्यकार ने भी कहा है कि अनर्थकारी को धर्म न कह दिया जाये इसलिये 'कल्याणकारी' यह विशेषण है। यदि प्रतिज्ञा वेदार्थजिज्ञासा की होती तो द्वितीय सूत्र यों होना चाहिये था, 'वेद जिसमें प्रमाण है वह वेदार्थ है', किन्तु ऐसा सूत्र न बनाकर 'विधिगम्य कल्याणकारी धर्म होता है' यह सूत्र बनाया है। इसलिये वेदार्थ के केवल धर्मरूप हिस्से का विचारक होने से मीमांसाशास्त्र ब्रह्म से सम्बद्ध नहीं। फलतः द्वितीय सूत्र से भी ब्रह्म की विधिशेषता प्राप्त नहीं होती।

अब पच्चीसवे सूत्र का विचार दिखाते हैं: इस अधिकरण के विषय हैं वेदवाक्य। संशय है कि क्या वे वाक्य अन्य प्रमाणों की अपेक्षा रखते हैं, या नहीं?

पूर्वपक्ष है – लोक में वृद्धव्यवहार से भले ही वाक्य से वाक्यार्थ समझ आ जाये पर वेदवाक्य तो लौकिकपदसमुदाय से भिन्न हैं और वैदिक शब्द का अर्थसम्बंध गृहीत है नहीं। वैदिक शब्द के अर्थसम्बन्ध की कल्पना करो तो संकेत

स्वीकारना पड़ेगा जिसके आधार पर ही अर्थसम्बंध संभव हो सकेगा। संकेत तभी संभव होगा जब वेदवाक्यों का अर्थ अन्य प्रमाणों का भी विषय हो। अतः वेदवाक्य अन्य प्रमाणों के सापेक्ष ही हैं। फलतः वे अप्रमाण हैं।

सिद्धान्त है – लोक और वेद में पद और अर्थ विभिन्न नहीं हैं, जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक हैं और वे ही (लौकिक ही) उनके अर्थ हैं। इसलिये वैदिक वाक्य के अर्थ का ज्ञान भी लौकिक व्युत्पत्ति के आधार पर ही होता है। कार्य-सम्बन्ध वाली वस्तुओं में ही शब्दों की शक्ति समझ आ सकती है क्योंकि व्यवहार ही शक्तिग्रह का आदिमार्ग है। जिन शब्दों की शक्ति जानी जा चुकी है वे ही विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराते हैं। ऐसे पद ही वाक्य हुआ करते हैं। पदातिरिक्त वाक्य नामक कोई वस्तु है नहीं जिसका अर्थ से सम्बन्धग्रह करना पड़े। इसलिये 'अमुक शब्द से अमुक अर्थ समझा जाये' ऐसी लोककल्पित मर्यादा की (अर्थात् संकेत की) किसी ज़रूरत के बिना ही वैदिक वाक्य अपने अर्थों का ज्ञान करा सकते हैं। फलतः अपौरुषेय और अनपेक्ष होने से वे प्रमाण ही हैं।

एवं च क्योंकि लोक में शब्द का कार्यसम्बन्ध निश्चित है इसलिये उसी के आधार पर जब वेदवाक्य ब्रह्म का बोध करायेगा तो कार्यसम्बद्ध रूप से ही करायेगा। अतः ब्रह्म की विधिशेषता निश्चित है। इस शंका को हटाने के लिये वार्तिक में 'पदार्थविषयक' इत्यादि कहा। प्रत्येक पद से याद आये अर्थ मिलकर वाक्यार्थ ज्ञान के निमित्त बनते हैं। पदार्थस्मृतिरूप व्यापार वाले पद ही वाक्यार्थ के बोधक होते हैं। यही पच्चीसवे सूत्र का सारार्थ है। इससे ब्रह्म की विध्यर्थता सिद्ध नहीं होती। यद्यपि ब्रह्मवाक्य लोकसिद्ध शक्ति के आधार पर ही अर्थ का भान कराता है तथापि उस वाक्य को कार्य की अपेक्षा नहीं रहती । लोक में कार्यान्वित अर्थ का ही शब्दसम्बंध मालूम पड़े ऐसा नहीं है क्योंकि शब्द की सिद्धार्थबोधक सामर्थ्य भी लोक में उपलब्ध है। प्रीत्युत्पादक शोकोत्पादक व ऐसे अन्य वाक्यों में कार्यबोधक पद सर्वथा न होने पर भी मुँह खिल उठना, मुँह लटक जाना आदि फल देखकर बच्चे कार्यबोधक पद के अध्याहार या लक्षणा के बिना ही शब्दों की शक्ति नहीं समझते ऐसा कहना असंगत है। इसलिये यह अधिकरण भी धर्मवाक्यों की कार्यपरकता बताये यह कथंचित् संभव भी है पर ब्रह्म की विधिशेषता या उसका कार्यान्वित बोध बताता हो यह कहना ग़लत है।

अब प्रथमाध्यायके द्वितीयपाद के प्रथम अधिकरण का विचार बताते हैं: 'वह रोया' इत्यादि अर्थवादों वाले वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं। वे प्रमाण हैं या नहीं – यह संशय है।

पूर्वपक्ष है – रुद्र का रोना आदि जो अर्थवादवाक्यों के स्वार्थ हैं वे साध्य नहीं हैं इसलिये उनका कार्य से न तो इतिकर्तव्यतारूप से सम्बन्ध हो सकता है और न फलरूप से। न वे स्वार्थ पुरुष के विशेषण होकर अधिकार-बोधक हो सकते हैं। जीवन आदि जैसे नियोज्य के विशेषण होते हैं इसलिये विधिसम्बद्ध हो जाते हैं वैसे भी ये रोदनादि नहीं हैं। 'मलिन स्नान करे' इत्यादि में जैसे स्नान की कर्तव्यता में मलिनता हेतु है यह पता चलता है वैसे भी रोदनादि किसी कर्तव्यता में हेतु सिद्ध नहीं हो पाते। स्तुति द्वारा अन्वय करें तो लक्षणा का गौरव होगा। जब विधि से ही प्रवृत्ति सिद्ध हो जाती है तो स्तुति की ज़रूरत ही नहीं कि लक्षणागौरव सहन किया जाये। अर्थवाद के स्वार्थ का हेतुरूप से अन्वय भी अनुचित है क्योंकि तब कार्य उस स्वार्थ के अधीन होने लगेगा जबकि कार्य ऐसा मान्य है नहीं। इसलिये अर्थवादयुक्त सब वाक्य अप्रमाण हैं।

सिद्धान्त यह है – सभी शब्द कार्य में तात्पर्य वाले होने से प्रमाण हैं। विधिशब्द तो सीधे ही कार्यवाचक हैं अतः उनके प्रामाण्य में कोई शंका ही नहीं। विधिसे अतिरिक्त पद कार्यसम्बद्ध स्वार्थ के वाचक होते हैं इसलिये कार्यपरक हो जाते हैं। घटपद ऐसे घटरूप स्वार्थ का ही वाचक है जो कार्य से सम्बद्ध ही है। अर्थवादों के स्वार्थ का विधिद्वारा कहे अपूर्वरूप कार्य में हेतुरूप से अन्वय किया जाये इसमें कोई प्रमाण ही नहीं है। अतः अर्थवादशब्दों का उपयोग कार्य के बोध में ही है किन्तु प्रशस्तता के समर्पण द्वारा, अर्थात् उनसे कार्य की प्रशस्तता समझकर कार्य समझा जाता है। अर्थवादयुक्त विधि से ही कार्य का निश्चय सिद्ध होता है। इसलिये अर्थवादयुक्त वाक्य भी प्रमाण ही हैं।

एवं च सिद्ध अर्थ के बोधक वाक्यों की प्रमाणता तभी है जब उनकी किसी विधि से एकवाक्यता हो। वेदान्त

भावार्थाः कर्मशब्दा ये प्रतीयेत क्रिया ततः । इत्येवं नरतन्त्रेऽर्थे ज्ञेया द्वादशलक्षणी ॥२४३॥

सिद्धार्थक हैं अतः वे भी विधि से एकवाक्यता वाले होने चाहिये और उसी विधिरूप प्रमाण से ब्रह्म विधिशेष ही होना चाहिये। इस शंका के समाधान के लिये वार्तिक में कहा है 'वेद क्रियार्थक है'। उस अधिकरण में अर्थवादवाक्यों के अप्रामाण्य की शंका होने पर कहा कि अर्थवाद स्तावकरूप से विधि से एकवाक्यता वाले हैं अतः विधिसम्बद्ध सब वाक्य प्रमाण हैं। वेदांत तो विधिप्रकरण से बहिर्भूत हैं और रोदनादि वाक्य स्वार्थबोधन मात्र से कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध करते जबकि वेदांत स्वार्थप्रतिबोधमात्र से ही निःश्रेयसरूप परम प्रयोजन सिद्ध कर देते हैं। अतः वेदान्तों को प्रमाण होने के लिये विधि से एकवाक्यता स्थापित नहीं करनी पड़ती। इसलिये अर्थवादाधिकरण भी ब्रह्म की विधिशेषता का ज्ञान कराने वाला नहीं।

यह विषय द्वितीय वर्णक में पद्मपादाचार्य द्वारा भी विस्तार से चर्चित है ॥२४२॥

द्वितीयाध्याय के प्रथम अधिकरण से भी ब्रह्म का विधिशेष होना सिद्ध नहीं होता यह बताते हुए समग्र पूर्वमीमांसा के विषयक्षेत्र से ब्रह्म बहिर्भूत है यह सूचित करते हैं–

'जो विधियुक्त क्रियाबोधक शब्द हैं उनसे साध्यमात्ररूप नियोग समझ आता है क्योंकि विधि का विषय नियोग ही है।' इस प्रकार बारह अध्यायों वाली मीमांसा उस धर्म को ही विषय करती है जो कर्ता के इच्छा और प्रयत्न से साध्य है ॥२४३॥

द्वितीयाध्याय के प्रारम्भ में यह विचार है – 'पशु चाहने वाला चित्रा से याग करे (चित्रानामक याग करे)' इत्यादि विधि उपलब्ध है (तै०सं० २.४.६)। ऐसे वाक्यों को विषय कर संशय होता है कि इन वाक्यों में स्थित हर पद नियोगबोधक है या कोई एक पद ही नियोगबोधक है? पूर्वपक्ष है कि जब सभी पदों की शक्ति कार्य में गृहीत है तथा सभी पदार्थ या कार्यरूप या कार्य के अंग हैं तो पदों का सीधे ही कार्य से सम्बंध संभव होने पर वे किसी के मार्फत नियोग का बोध करायें यह उचित नहीं इसलिये हर पद नियोग-बोधक है और पदों का जो क्रियाकारकादि परस्पर सम्बन्ध सुनायी देता है वह नियोगबोधन के बाद हो जाता है। इस पर सिद्धान्त है – प्रत्येक पद को नियोगबोधक मानने पर सुनायी देने वाले परस्पर क्रियाकारक-सम्बन्ध का त्याग होगा जो उचित नहीं। विरम्य व्यापार न होने से नियोगबोधानन्तर उस सम्बंध को मानना अप्रामाणिक है। जहाँ तो कार्य एक होता है वहाँ उससे सम्बद्ध होने वाले पदार्थ साक्षात् सम्बद्ध न हो सकने पर विशेषण-विशेष्यभाव से परस्पर मिलकर कार्य से अन्वित हो जाते हैं लेकिन जब हर पद अलग कार्य को बतायेगा तब कार्य से अन्वय के लिये परस्परसंबंध का प्रसंग नहीं है। अतः 'अरुण, एक साल की गाय से सोम खरीदे' इत्यादि में भले ही 'अरुण' व 'एक साल का होना' आदि गाय का विशेषण बनकर खरीदना-कार्य से सम्बद्ध हों, पर पूर्वपक्षोक्त रीति से चित्रादिवाक्यस्थ पद-पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध संभव नहीं होगा। इस प्रकार जब विनियोग का निर्देश नहीं रहेगा (क्योंकि सभी साक्षात् ही प्रधान से सम्बद्ध होंगे) तब विनियोग पर आश्रित नियोग ही सिद्ध होगा नही। इसलिये एक वाक्य में एक ही पद नियोग का बोध कराता है, अन्य उसके शेष होते हैं यह मान्य है। यह बात पहले वर्णक में अर्थात् प्रतिपदाधिकरण में निश्चित की गयी है।

तब शंका हुई कि क्या द्रव्यवाची और गुणवाची शब्द भी नियोगार्थक होते हैं या केवल क्रियाशब्द ही नियोग का बोध कराते हैं? पूर्वपक्ष का मानना है कि द्रव्यादिवाची शब्दों से नियोग का बोध होने पर भी उनका क्रिया में विनियोग होना संगत ही है अतः क्रियाशब्द में कोई विशेषता नहीं कि उसीसे नियोग समझा जाये। सिद्धान्त यह है यदि द्रव्य और गुण विधि के विषय हों तब वे क्रिया के प्रति कर्म होंगे क्योंकि सर्वाधिक इच्छित होंगे, अतः वे क्रिया के जनक न हो पायेंगे। कर्म कारक नहीं हो सकता क्योंकि कर्म क्रियासाध्य होता है, क्रिया के पश्चाद्भावी होता है। इसलिये द्रव्यादिवाचकों को नियोगार्पक मानने पर द्रव्यादि का क्रिया में विनियोग असंगत होगा। अतः क्रियाशब्द ही नियोगार्थक

हों यही उचित है क्योंकि क्रियाशब्दों का अर्थ खुद भी साध्य ही है। 'यजेत्' (याग करे) इत्यादि में प्रत्ययभाग का अर्थ अपूर्व है, नियोग है; उसके विषय की आकांक्षा होने पर (क्या करे? यह जिज्ञासा होने पर) उसी यजेतादि पद में स्थित प्रकृतिभाग का अर्थ साध्यरूप क्रिया ही (याग ही) विषयरूप से सम्बंध स्थापित कर लेती है। अर्थात् 'याग करे' यह उत्तर मिल जाता है। जब समानाभिधान श्रुति से ही विषयलाभ हो रहा है तब श्रुति की अपेक्षा दुर्बलतर वाक्यरूप प्रमाण से 'यजेत' की अपेक्षा अन्य पदों द्वारा कहे द्रव्य व गुण नियोग के विषय हों यह संगत नहीं। इसलिये नियोगवाचक प्रत्यययुक्त क्रियावाचक शब्द ही नियोग का बोध कराते हैं, बाकी सब शेष हो जाते हैं। यह भावार्थाधिकरण कहा जाता है।

वेदान्त भी सिद्धार्थबोधक होने से विधि के शेष होंगे और अतएव ब्रह्म भी विधिशेष ही होगा यह शंका इस अधिकरण के आधार पर हो सकती है जिसके समाधानार्थ वार्तिक में 'जो विधियुक्त' इत्यादि कहा। कुछ शब्द सिद्धावस्थापन्न क्रिया के बोधक हैं जैसे भाव, भवन इत्यादि। ऐसे शब्द नियोग नहीं बताते। कुछ शब्द कर्म के बोधक हैं जैसे याग, दान आदि। ये भी नियोग (= कार्य) नहीं बताते। 'यजेत' (याग करो) आदि शब्दों से ही नियोग का पता चलता है। नियोग को क्रिया भी कहते हैं और वह साध्य ही होता है। विधि का विषय यह नियोगरूप अर्थ ही है। विधिघटित शब्दों से नियोग की प्रतीति होती है। क्रियापद और कारकपद उसी के शेष होते हैं। यही तात्पर्य इस सूत्र से निकलता है। वेदान्त जिस ब्रह्म का बोध कराते हैं वह न क्रिया है न कारक। तब वेदान्तों में विधिशेषता क्योंकर हो सकेगी? इसलिये भावार्थाधिकरण से ब्रह्म की विध्यर्थता की आशा नहीं है।

कोर्ध संदेह कर सकता है कि पूर्वमीमांसा में एक हज़ार अधिकरण हैं, अतः इन पाँच अधिकरणों का ब्रह्म से सरोकार चाहे न हो पर कोई ऐसा भी अधिकरण होगा जो ब्रह्म को विषय करता हो; इस सन्देह के निवारण के लिये 'इस प्रकार' इत्यादि वार्तिकवाक्य है। बारह अध्यायों वाली मीमांसा का विषय केवल धर्म ही है, ब्रह्म नहीं। संक्षेप में बारहों अध्यायों के विषय ये हैं –

१) विधि, अर्थवाद, मंत्र, नाम और स्मृति – ये पाँच धर्म में प्रमाण हैं यह भाट्टों के अनुसार प्रथमाध्याय का विषय है। प्राभाकरमत में विधि वाक्य ही प्रमाण है। अर्थवादादि स्वतंत्र प्रमाण नहीं। अर्थवाद विधि से पदैकवाक्यता पाकर ही प्रमाण हैं।

२) शब्दान्तर आदि से कर्म विभिन्न हो जाते हैं यह भट्टमत में द्वितीयाध्यायार्थ है। प्राभाकरमत में यह अध्याय शास्त्रभेद का विचार करता है।

३) तीसरे अध्याय में शेष-शेषी का विचार है। इसका आधार विनियोग-बोधक शास्त्र है।

४) चतुर्थ अध्याय में गुरुमत से ये चार अर्थ वर्णित हैं–उत्पत्ति, अधिकार, प्रयुक्ति और विनियोग। भाट्टमत से क्रत्वर्थप्रयुक्त और पुरुषार्थप्रयुक्त अनुष्ठान बताये हैं।

५) अनुष्ठान के क्रम का विचार पाँचवे अध्याय का विषय है।

६) षष्ठाध्याय में भाट्टमत से कर्ता के अधिकार का निर्धारण है जबकि गुरुमत में पुरुष की नियोज्यता का निर्धारण है।

इस प्रकार पहले छह अध्यायों में उपदेश द्वारा अपेक्षित विचार किया है। उपदेश अर्थात् विधि प्रभृति। अगले छह अध्यायों में अतिदेश के लिये ज़रूरी विचार किया है। इसमें भी चार अध्यायों में तो अतिदेश का विचार है और अंतिम दो अध्यायों में तन्त्र और प्रसंग का विचार है जो उपदेश और अतिदेश दोनों के विषयों के लिये अपेक्षित है।

७-८) विध्यन्तन्याय से अनपेक्षित और उससे अपेक्षित अतिदेशों का सातवे-आठवे अध्यायों में वर्णन है। सातवे अध्याय के प्रथम अधिकरण में निर्णीत अर्थ को विध्यन्तन्याय कहते हैं। यह गुरुमतानुसारी विषय है। भाट्टों के अनुसार सामान्यतः अतिदेश सातवे का और विशेषतः अतिदेश आठवे का वर्ण्य है। अष्टम में बताया है कि सब इष्टियों को

विध्यन्तों की अर्थात् अंगों की प्राप्ति दर्शपूर्णमास से होती है, पशुयागों को अग्निषोमीयपशुयाग से होती है, सोमयागों को ज्योतिष्टोम से होती है, इत्यादि।

९) नवमाध्याय में ऊह बताया है। जिसके सब अंग विहित हैं उस कर्म को प्रकृति कहते हैं। जिसके अंगों को अन्यत्र से अतिदेश द्वारा लाना पड़ता है उस कर्म को विकृति कहते हैं। प्रकृति के लिये विहित मंत्र, साम और संस्कार कर्मों का विकृतियों में अतिदेश होता है। प्रकृति व विकृति में द्रव्य या देवता का भेद होने पर प्रकृति में प्रयुक्त द्रव्यादिबोधक शब्द को छोड़कर विकृति में प्रयुक्त द्रव्यादिबोधक शब्द का अध्याहार करना ऊह कहलाता है। जैसे प्रकृति में मन्त्र है 'अग्नये जुष्टम्', यह विकृति में जाता है जबकि विकृति में सौर्य चरु है, अतः विकृति में इस मंत्र को 'सूर्याय जुष्टम्' यों बोला जायेगा। 'अग्नये' शब्द छोड़कर 'सूर्याय' का अध्याहार किया अतः ऊह है। ऐसे ही व्रीहिधर्मों का नीवार में अतिदेश संस्कारातिदेश का दृष्टांत है।

१०) विकृति में अतिदेश से आये अंगों के बाध का, अननुष्ठान का निरूपण दसवे अध्याय में है। कहीं तो बाध इसलिये होता है कि विकृति के लिये अलग अंग का उपदेश ही है। जैसे प्रकृति में कुशों का विधान है किन्तु विकृति में शर का (सरकण्डे का), अतः अतिदेश से आये कुशों का बाध हो जाता है। कहीं प्रयोजन न होने से बाध होता है जैसे प्रकृति में धान कूटने का विधान है पर विकृति में क्योंकि कृष्णल अर्थात् स्वर्णखण्डों का प्रयोग है और कूटने का प्रयोजन है भूसा हटाकर चावल प्राप्त करना जो कृष्णलों के लिये चाहिये नहीं इसलिये प्रयोजन न होने से कूटने का बाध होता है। कहीं विकृति में स्पष्ट ही किसी अंग का निषेध होने से प्रकृति से प्राप्त होने पर अंगका बाध हो जाता है।

११) एकादशाध्याय में तन्त्र का वर्णन है। अनेक शेषिविधियों से प्रयुक्त शेष का एक बार अनुष्ठान करने से सभी प्रयोजक शेषियों का उपकार हो जाता है, इसे तन्त्र कहते हैं। जैसे पौर्णमासी में आग्नेय, अग्निषोमीय पशु और अग्निषोमीय एकादशकपाल (पुरोडाश) तीन अंगी हैं जो सभी प्रयाजादि अंगों के प्रयोजक हैं किन्तु प्रयाजादि का एक बार अनुष्ठान करने से तीनों अंगियों का उपकार हो जाता है अतः तीन बार अनुष्ठान नहीं करना पड़ता।

१२) अंतिम अध्याय में प्रसंग को समझाया है। एक के शेष रूप से अनुष्ठित अंग जहाँ किसी दूसरे का भी उपकार कर दे जबकि वह दूसरा ऐसा हो जो स्वयं भी उस अंग के अनुष्ठान का प्रयोजक हो सकता है, वहाँ 'प्रसंग' ऐसा व्यवहार होता है। इसका प्रसिद्ध लौकिक उदाहरण है – आचार्य भोजन करने आये हों तो मालपुआ आदि बनाते हैं। यदि तब दामाद भी आ जाये तो वे ही मालपुए आदि उसे भी खिला देते हैं। आचार्य के बिना भी अगर दामाद आया होता तो मालपुए आदि बनाये ही जाते। जो तो अकेला आने पर मालपुए आदि बनाने का प्रयोजक न बने, वह यदि आचार्य के लिये बने मालपुए आदि पा भी जाये तो प्रसंगी नहीं कहा जाता। शास्त्रीय दृष्टांत है कि पशुविधि से प्रयुक्त अंग पशुपुरोडाशों का भी उपकार कर देते हैं। अग्निषोमीय पशु के लिये प्रयाजादि की अपेक्षा है और पशुपुरोडाश के लिये भी इष्टि के अतिदेश से प्रयाजादि की अपेक्षा है। यद्यपि ऐसा कहीं कहा नहीं है कि पशु के लिये किये प्रयाजादि से पुराडाश का भी उपकार हो सकता है तथापि प्रयाजादि का एक बार ही अनुष्ठान करने से दोनों का उपकार हो जाता है जैसे कमरे को प्रकाशित करने के लिये जलाया दीपक रास्ते को भी प्रकाशित कर देता है। तन्त्र में तो दो के उद्देश्य से अनुष्ठान था। प्रसंग में अनुष्ठान तो एक के ही उद्देश्य से है पर दूसरे का भी उपकार हो जाता है।

इस विहगावलोकन से स्पष्ट है कि बारहों अध्याय उसी विषय का वर्णन करते हैं जिस पर कर्ता का स्वातन्त्र्य है अर्थात् धर्म का ही विवेचन मीमांसा में है। ब्रह्म का स्पर्श भी पूर्वमीमांसा नहीं करती। विधिप्रामाण्य से प्रसंग पर्यंत जितने न्याय हैं उनमें से किसी के भी आधार पर मीमांसा ब्रह्म से सम्बद्ध नहीं होती। इसलिये पूर्वतंत्र से ब्रह्म की विधिशेषता की संभावना नहीं है ॥२४३॥

प्रश्न हो सकता है: कर्ममीमांसा चाहे ब्रह्म को विषय न करे फिर भी ब्रह्म से विपरीत स्वरूप वाले धर्म का वर्णन करने से वह ब्रह्म का निषेध कर रही है यह क्यों न माना जाये? इसका उत्तर समझने के लिये विकल्प है: क्या सूत्रसमूह

वेदान्तार्थापवादाय नालं साऽतत्प्रमाणतः । मानं नालं निराकर्तुं वस्तु यन्मान्तरैर्मितम् ॥२४४॥
स्वमेयमात्रशूरत्वान्मितेर्नान्यत्र मानता । अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इत्याद्युक्तं नयान्वितम् ॥२४५॥
मीमांसान्यायवत्त्वाभ्यां धर्ममीमांसनोक्तिवत् ।

को ब्रह्म का निषेधक समझ रहे हो या सूत्रों द्वारा अनुगृहीत कर्मविधियों को? प्रथम पक्ष इसलिये संगत नहीं कि सूत्र जब ब्रह्मविषयक नहीं तो उसके बाधक भी नहीं होंगे और दूसरा पक्ष इसलिये संगत नहीं कि कर्मविधि कर्म में प्रमाण है अतः वेदान्तप्रमेय का बाध कर नहीं सकती। यही बताते हैं–

मीमांसा में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह वेदान्तों के अर्थ का बाध कर सके क्योंकि वह तो धर्म में भी प्रमाण नहीं है! विधिरूप प्रमाण भी अन्य प्रमाणों से प्रमित वस्तु का निराकरण नहीं कर सकते क्योंकि प्रमा केवल अपने प्रमेय के प्रकाशन में ही समर्थ होती है, अपने प्रमेय से इतरत्र उसकी प्रामाणिकता नहीं होती ॥२४४+$\frac{1}{2}$॥

मीमांसासूत्र तो प्रमाणभूत वेदवाक्यों के अनुग्राहक हैं अर्थात् उन्हे समझने के ढंग बताते हैं। वे स्वयं तो केवल संभावना उपस्थित करते हैं। धर्म में भी प्रमाण तो विधि आदि ही हैं। क्योंकि मीमांसा ब्रह्म के प्रति उदासीन है इसलिये यह भी नहीं हो सकता कि ब्रह्मकी असंभवता बताये। हर हालत में क्योंकि प्रमाणरूप नहीं इसलिये वेदान्तों के अर्थ का अपवाद मीमांसा कर नहीं सकती। मूल में 'अतत्प्रमाणतः' पाठ मानकर यह अर्थ है। यदि 'तत्प्रमाणतः' पाठ मानें तो तात्पर्य है कि धर्म में प्रमाणभूत वाक्यों की अनुग्राहक होने से मीमांसा ब्रह्म के निषेध में समर्थ नहीं है।

पुरीजी के अनुसार 'तत्प्रमाणतः' का अर्थ है – धर्म में प्रमाण होने से (वेदान्तार्थ) का बाध मीमांसा नहीं कर सकती। विद्यासागर कहते हैं कि धर्म में करणभूत वेद का उपकारक होकर मीमांसा भी धर्मविषयक प्रमा उत्पन्न करती है अतः वेदान्तार्थनिराकरण में सक्षम नहीं। पुरी जी ने 'अतत्प्रमाणतः' का अर्थ किया है – वेदान्तार्थ का निराकरण करने में प्रमाण न होने के कारण 'अथवातत्प्रमाणतः वेदान्तार्थनिराकरणेऽमानत इत्यर्थः'।

इस प्रकार सूत्ररूप मीमांसा तो ब्रह्मबाधक नहीं है यह स्थित हुआ। मीमांसा से यदि विधिरूप वाक्य समझें तो भी ब्रह्मबाध संभव नहीं क्योंकि प्रमाण किसी प्रमेय का बाधक नहीं होता। यह प्रयोग है: कर्मविधि, वेदान्तप्रमेय का बाध नहीं करती, प्रमाण होने से, प्रत्यक्ष की तरह। लोक में भी चक्षुर्विषय रूप का श्रोत्र से बाध स्वीकार नहीं किया जाता। ऐसे ही कर्मप्रमाण से ब्रह्मबाध स्वीकारना ग़लत होगा। इतना ही नहीं, कर्मविधि अपने विषय को (धर्म को) तो बतायेगी ही। यदि वह अन्य का निषेध करने वाली भी मानी जाये तो जिज्ञासा होती है कि क्या वह क्रमशः दोनों काम करती है या इकट्ठे ही? क्रमशः करे यह हो नहीं सकता क्योंकि शब्द, बुद्धि आदि का विरम्य व्यापार (रुक रुक कर कार्य करना) नहीं होता। इकट्ठे भी दोनों काम हो नहीं सकते क्योंकि कर्मविधिरूप किसी एक भी प्रमाण में कर्मविधि और ब्रह्मनिषेध दोनों उपलब्ध होता नहीं। एवं च प्रमा इतना ही कर सकती है कि अपने प्रमेय का यथार्थ प्रकाश कर दे। प्रमाण भी अपने नियत विषय की प्रमा ही उत्पन्न कर सकता है। अपने विषय से अतिरिक्त के बारे में प्रमाण कोई प्रमा उत्पन्न कर नहीं सकता। प्रमाण के विषय का ही प्रमाण से निषेध होता है, आँख से देखकर घटाभाव ही समझा जा सकता है, गन्धाभाव नहीं। अतः धर्मप्रमाण के अयोग्य जो ब्रह्म वह धर्मप्रमाण से बाधित हो यह सर्वथा अनर्गल बात है ॥२४४+$\frac{1}{2}$॥

विधियाँ ब्रह्मबाध नहीं कर सकती इसमें हेतु पूर्वश्लोक में यह अभिप्रेत था कि ब्रह्म वेदान्तरूप प्रमाणान्तर से प्रमित है। अन्यथा रज्जुप्रमा से सर्पका बाध होता ही है, ऐसे कर्मप्रमाण ब्रह्मबाध कर सकते थे। किन्तु वेदान्त प्रमाण हों तब ब्रह्म प्रमित हो। वे प्रमाण् हैं नहीं क्योंकि उनका अर्थ समझने का ढंग बताने वाली कोई मीमांसा है नहीं। इस शंका का निरास करते हैं–

'साधनसम्पन्न को ब्रह्मज्ञान के लिये यत्न करना चाहिये क्योंकि वेद ही कर्म का फल अनित्य और ब्रह्मज्ञान से परम पुरुषार्थ बताता है' इस सूत्र से प्रारंभ होने वाले सूत्रों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म उपपन्न है। मीमांसारूप से और न्यायसंगतरूप से प्रसिद्ध ब्रह्मशास्त्र का विषयभूत ब्रह्म वैसे ही उपपन्न है जैसे धर्ममीमांसा का विषयभूत धर्म ॥२४५+$\frac{1}{2}$॥

ब्रह्मजिज्ञासे के लिये पर्याप्त साधन विवेकादि चतुष्टय हैं अतः उन्हे पाकर ब्रह्मज्ञान के लिये प्रयास करे यह सूत्रका

एवं सत्यनुकूलार्थं तत्त्वमित्यादिकं वचः ॥२४६॥ सर्ववेदान्तविषयमन्यथा तद्विरुध्यते ॥२४७॥

अर्थ है। वार्तिककार ने 'ब्रह्मजिज्ञासा इत्याद्युक्तम्' कहा है। यदि जिज्ञासापद एकवचनान्त हो तो सामान्यतः यही रीति है कि अगले स्वर से संधि कर 'जिज्ञासेत्याद्युक्तम्' ऐसा लिखा जाये। वैसा करें तो एक अक्षर घटने से छन्दोभंग होता है। अतः प्रश्न है कि आचार्य ने ऐसा क्यों किया? यह नहीं कि सूत्र में बहुवचनांत शब्द है अतः वैसा ही उद्धरण है, क्योंकि सूत्र में तो एकवचनांत ही है। इसका एक उत्तर तो है कि वाक्य में संधि वक्ता की इच्छा पर निर्भर करती है। एक ही पद में, समास में इत्यादि स्थलों पर संधि आवश्यक है, पर सर्वत्र नही। अतः इस पादान्त स्थल में आचार्य ने संधि नहीं की तो कोई विरोध नहीं है। किन्तु छन्दों में पद्यार्ध में ही विसंधि होती है अन्यत्र नहीं और गद्यवाक्यों में ही निजेच्छा से संधि की जाती है ऐसा प्रसिद्ध व्यवहार है। अतः बहुवचनांत पाठ मानकर भगवान् आनन्दगिरि दो अभिप्राय स्पष्ट करते हैं–

क) शारीरकमीमांसाशास्त्र प्रारंभ करने योग्य है इसके लिये चार बातें पहले स्वीकार्य हैं: १) बन्धन अध्यासरूप है; २) ब्रह्ममीमांसा धर्म की मीमांसा से गतार्थ नहीं हैं; ३) ब्रह्मजिज्ञासा का कर्माधिकारी से विलक्षण अधिकारी संभव है; ४) ब्रह्ममीमांसा के विषय और प्रयोजन हैं। इन चारों की सूचना बहुवचन से की।

ख) ब्रह्मसम्बंधी पाँच जिज्ञासायें करनी चाहिये यह भी बहुवचन से सूचित किया। जिज्ञासायें हैं: १) ब्रह्मका स्वरूप क्या है ? २) ब्रह्म में प्रमाण क्या है? ३) ब्रह्म में युक्ति क्या है? ४) ब्रह्मभाव-प्राप्ति का उपाय क्या है? ५) ब्रह्मभावलाभ का प्रयोजन क्या है? प्रातःस्मरणीय श्रीपद्मपादाचार्य ने कहा है 'स्वरूप-प्रमाण-युक्ति-साधन-प्रयोजनानि ब्रह्मज्ञानपरिपूर्णतार्थमर्थादेव जिज्ञास्यत्वाद् न पृथक् सूत्रयितव्यानि' (पृ० ४५०)।

इस प्रकार स्पष्ट किया कि वेदान्तों को समझने का ढंग बताने वाली मीमांसा है। अतः उस मीमांसा से समझा गया ब्रह्म युक्तिसंमत ही है। इसलिये वेदान्त प्रमाण ही हैं, प्रमाणाभास नहीं। ब्रह्मबोधक शास्त्र सर्वत्र प्रसिद्ध भी है। स्वयं पाणिनि ने पाराशर्यसूत्रों के अध्येता संन्यासियों का उल्लेख किया है। यह मीमांसा न्याययुक्त भी है, आरंभणाधिकरण आदि में बहुतेरी युक्तियाँ उपस्थापित की गयी हैं। अतएव पूर्वमीमांसा के व्याख्याताओं ने भी आत्मा के विषय में इसी मीमांसा को श्रद्धेय कहा है। भट्ट कुमारिल ने कहा 'दृढत्वमेतद्विषयप्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन' (आत्मवाद-समाप्ति में)। भगवान् उपवर्ष ने भी आत्मा के अस्तित्व के प्रसंग में कहा है कि यह बात शारीरक में बतायेंगे, यह आचार्यपाद ने सूत्रभाष्य में (ब्र० सू० ३.३.५३) उल्लेख किया है। एवं च धर्म के विषय में कर्ममीमांसा की तरह ब्रह्म के विषय में शारीरकीय मीमांसा ही सही विचार उपस्थित करती है ॥२४५+$\frac{1}{2}$॥

यदि ब्रह्मकाण्ड भी संगत है तो परस्पर विरुद्ध दोनों काण्ड प्रमाण कैसे होंगे? इसका उत्तर देते हैं–

ऐसा होने से समस्त वेद के तात्पर्यभूत ब्रह्म को विषय करने वाले 'वह तू' इत्यादि वचन अनुकूल अर्थ वाले हैं, अन्यथा दोनों काण्डों की प्रामाणिकता नष्ट हो जायेगी ॥२४६-२४७॥

कर्मविचार की तरह ब्रह्मविचार भी न्यायसंगत होने से उससे अनुगृहीत तत्त्वमसि आदि वाक्य पारमार्थिक स्थिति का बोध कराने वाले होने से व्यावहारिक कर्मकाण्डवाक्यों के विरोधी नहीं, बल्कि अनुकूल ही हैं। ब्रह्मकाण्ड से होने वाले बोध का विषय अन्य प्रमाण से अपह्नव के योग्य नहीं अतः पारमार्थिक है। कर्मकाण्ड जिस का वर्णन करता है वह द्वैतभूमि में होने से व्यावहारिक ही है अतः ब्रह्मकाण्ड उसका विरोधी नहीं। यद्यपि पारमार्थिक का ज्ञान व्यावहारिक का बाध कर देता है तथापि क्योंकि विरोध तुल्यसत्ता वालों में ही होता है इसलिये महावाक्य आदि को कर्मकाण्ड के अनुगुण कह दिया। 'तेनायं न विरुद्ध्यते' (गौ० का० ३.१८) ऐसा परमाचार्यों ने भी कहा है। पुरीजी तो 'अनुकूलार्थं = ब्रह्मात्मैकत्वार्थम्' ऐसी व्याख्या बताते हैं। 'ऐसा होने से' का भी उन्होंने तात्पर्य कहा है–द्वादशाध्यायी सिर्फ धर्म में प्रमाण है इसलिये, वह वेदान्तों के अर्थ का अपवाद नहीं करती इसलिये, ब्रह्ममीमांसा न्यायसहित है इसलिये और शारीरक न्याय व शारीरक मीमांसा दोनों न्यायाभास व मीमांसाभास नहीं हैं इसलिये।

न तत्र करणापेक्षा नेतिकर्तव्यता तथा । यत्र यत्राऽऽत्मभावेन श्रुत्या ब्रह्मावबोध्यते ॥२४८॥

मूल में 'सर्ववेदान्तविषयम्' कहा है जिसके दो अर्थ शास्त्रप्रकाशिका में और एक तीसरा अर्थ न्यायकल्पलतिका में बताये हैं –

१) सब वेदों का अंत अर्थात् जिसमें तात्पर्य निर्णीत होता है वह अद्वय ब्रह्म है सर्ववेदान्त, उसे विषय करने वाले तत्त्वमसि आदि वाक्य हैं सर्ववेदान्तविषय।

२) सब वेदान्तों का विषय ही है विषय जिसका वह ब्रह्मकाण्ड है सर्ववेदान्तविषय। आरोपित क्रियादि भेदों का सहारा लेने वाला होने पर भी है वह पारमार्थिक-विषयक, जबकि कर्मकाण्ड अपारमार्थिक को विषय करता है। इसलिये दोनों काण्डों का विषय-क्षेत्र बँटा होने से दोनों का प्रामाण्य उचित है। ऐसा न मानें तो सुन्द-उपसुन्द की तरह दोनों काण्ड एक दूसरे के प्रामाण्य को काट देंगे जिससे न धर्माचरण हो पायेगा और न ज्ञानसाधना व उससे मोक्ष।

३) विद्यासागर का अर्थ है- सर्ववेदान्तविषय अर्थात् सारी उपनिषदों में होने वाले महावाक्य। उपक्रमादि षड्विध लिंगों से और गतिसामान्यन्याय से सभी उपनिषदें ब्रह्मपरक हैं। गतिसामान्यन्याय है कि सारे वेदान्त एक परमात्मा को बताते हैं। यह प्रथम पाद में (सूत्र० १०) ही वर्णित है।

इस प्रकार सिद्ध किया कि वेदान्तों में नियोगनाम विधि नहीं है अतः ब्रह्म विधिशेष नहीं है। यहाँ प्रभाकरमत की शंकाओं का समाधान किया ॥२४६-२४७॥

अब भट्टमत की शंका हटायेंगे। वेदान्तों में भावना-नामक विधि संभव है इसलिये ब्रह्म विधिशेष है, ऐसा भाट्ट लोग कहा करते हैं। सिद्ध किये जाने वाले पदार्थ की सिद्धि हो इसके लिये प्रयोजक का जो व्यापार है उसे भावना कहते हैं 'भवितुर्भवनानुकूलव्यापारविशेषः'। इसमें तीन प्रश्न उठते हैं: क्या सिद्ध करना है? किस साधन से करना है? सिद्ध करने का (= साधन करने का) ढंग क्या है? आर्थीभावना स्थल में इनके उत्तर हैं: स्वर्गादि फल सिद्ध करना है। यागादि साधनों से सिद्ध करना है। प्रयाजादि ही सिद्ध करने का ढंग है। आर्थीभावना आख्यातांश का वाच्य है। लिङंशका वाच्य है शाब्दी भावना जिसका भाव्य होता है आर्थीभावना, करण होता है लिङादिज्ञान और ढंग है प्राशस्त्यज्ञान 'आर्थीभावनाभाव्यक-लिङादिज्ञानकरणक-प्राशस्त्यज्ञानेतिकर्तव्यताको भावकव्यापारविशेषः'। अर्थात् पुरुष प्रवृत्ति करे इसके लिये प्रयोजक का जो व्यापार है उसे शाब्दीभावना कहते हैं। श्लोकवार्तिक में कहा है 'भावनैव च वाक्यार्थः' (वाक्या० ३३०)। भावना को विध्यर्थ मानना भाट्ट प्रस्थान की विशेषता है। समन्वयसूत्र का प्रथमवर्णक इसी मत से है। अतः आभरणकार ने स्पष्ट किया है 'सत्यादिरूपस्य ब्रह्मणः प्रत्यगभेदेनोपासनाकरणिका या भावना तस्यामेव वेदान्तानां तात्पर्यात्'। रत्नप्रभा भी स्पष्टतः इसे भाट्टमत कहती है। भावनारूप विधि का शेष भी ब्रह्म नहीं यह बताते हैं–

श्रुति जहाँ जहाँ प्रत्यगात्मरूपं से ब्रह्मका बोध कराती है वहाँ करण की और इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होती नहीं ॥२४८॥

महावाक्यों में तत्पद का लक्ष्य परमात्मा त्वम्पद के लक्ष्य प्रत्यक्पदार्थ से अभिन्न बताया गया है। उन वाक्यों से ज्ञात ब्रह्मरूप आत्मतत्त्व ऐसा है नहीं कि किसी प्रयत्न से प्राप्य फल हो, बल्कि जाना हुआ वह स्वयं ही फल है। अतएव महावाक्य सुनकर कभी करणादि की आकांक्षा हो सकती नहीं। 'तू दसवा है' सुनकर 'किस से?', 'कैसे?' ऐसा प्रश्न नहीं उठता। 'इतिकर्तव्यता' अर्थात् करने का ढंग। तिरुपतिसंस्करण के मूल में 'करणापेक्षा' पाठ है। कारण-पाठ में भी अर्थ करण ही है। इस प्रकार साध्यादि तीनों अंश असंभव होने से भावना का स्वरूपलाभ नहीं होता अतः वेदान्तों में विधि का होना नामुमकिन है ॥२४८॥

यदि वेदान्तों में साध्यादि तीन अंशों वाली भावना नहीं होती तो वह होती कहाँ है? यह बताते हैं–

इतिकर्तव्यतादानं करणादानमेव च । तत्र तत्र विधिः स्थाने प्रहितस्य फलेच्छया ॥२४९॥
आप्ताशेषपुमर्थत्वात्त्यक्तानर्थस्य च स्वतः । अनात्मनीव नेच्छेयं कथंचित्स्यादिहाऽऽत्मनि ॥
तन्निवृत्तौ निवर्तेते इतिकर्तव्यसाधने ॥२५०॥
निरन्तरायतोऽशेषपुमर्थस्याऽऽत्मरूपतः । न चांशत्रयशून्येह भावनेष्टा परीक्षकैः ॥२५१॥
भावनातो न चान्यत्र विधिरभ्युपगम्यते ।

स्वर्गादि फल की इच्छा से प्रेरित एवं विध्यर्थ के जानकार व्यक्ति के लिये जहाँ करण और इतिकर्तव्यता का ग्रहण प्रतीत होता है वहीं तीनों अंश संभव होने से अंशत्रय वाली भावनानामक विधि संगत होती है ॥२४९॥

जिस वाक्य को सुनकर 'अमुक फल के लिये अमुक ढंग से अमुक साधन का प्रयोग करना चाहिये' ऐसा बोध हो वही विधि हो यह संगत है। ऐसे ही वाक्य में शाब्दीभावनारूप विधि होती है। महावाक्य सुनकर ऐसा लगता नहीं कि वह किसी आर्थीभावना में प्रवृत्त कर रहा है अतः महावाक्य विधिरूप नहीं है। स्वर्गकामादि वाक्यों का ही विधिरूपत्व संगत है ॥२४९॥

शंका हो सकती है: महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान भी वैसे ही पुरुषार्थहेतु है जैसे कर्मवाक्य के अर्थ का ज्ञान, इसलिये पुरुषार्थ की इच्छा से प्रवृत्ति होने पर इतिकर्तव्यता आदि का ग्रहण संभव है। अतः वेदान्तों में भी अंशत्रय वाली भावना क्यों न हो? तात्पर्य है कि महावाक्य सुनकर मोक्ष के लिये 'क्या करूँ?' 'कैसे करूँ?' ऐसी आकांक्षा होना स्वाभाविक है अतः विधि के लिये स्थान है। इस शंका का समाधान करते हैं–

महावाक्य से जिसने आत्मा की यथार्थता का साक्षात्कार कर लिया है उसे क्योंकि सारा पुरुषार्थ प्राप्त हो चुकता है और सारा अनर्थ स्वतः निवृत्त हो जाता है इसलिये जैसे अनात्मविषयक इच्छा हुआ करती है ऐसे उसे इस आत्मरूप मोक्ष की इच्छा किसी तरह भी नहीं होती। फलाकांक्षा निवृत्त होने पर इतिकर्तव्यता और साधन भी नहीं रह जाते ॥२५०॥

तत्त्वज्ञान होते ही सकल अनर्थों की निवृत्ति और परमानंद का निःसीम प्रकाश हो जाने से किसी फल की इच्छा असंभव है। फल के लिये ही साधन और साधनप्रयोग का ढंग हुआ करता है। जब ज्ञानी के लिये कुछ फल ही नहीं तो साधनादि क्यों होंगे? फल चाहने वाला ही 'किससे पाऊँ?' 'कैसे पाऊँ?' यह जिज्ञासा करता है। ज्ञानी की ये जिज्ञासायें होती नहीं क्योंकि वह फल नहीं चाहता। फलाकांक्षा व्यापक है, करणादि की आकांक्षा व्याप्य है। व्यापक फलाकांक्षा हट जाने से करणादि की आकांक्षा न रहना अर्थसिद्ध है ॥२५०॥

मुमुक्षु कहते ही उसे हैं जो मोक्ष चाहे। अतः वाक्य सुनने का अधिकारी इच्छाहीन तो हो नहीं सकता। फलतः उसे करणाद्याकांक्षा क्यों नहीं होगी? इसका उत्तर देते हैं–

समूचा पुरुषार्थ आत्मा का स्वरूप है और अप्रतिबद्ध है (इसलिये किसी भाव्य की कल्पना संभव नहीं)। और तीन अंशों से रहित भावना विचारकों को स्वीकृत नहीं है। एवं जहाँ भावना नहीं होती वहाँ विधि स्वीकार्य नहीं होती ॥२५१+१/२॥

सुखसाक्षात्कार ही समस्त पुरुषार्थ है और अनावृत आनन्दात्मा ही स्वतः प्राप्त है। अविद्या से अन्य कोई इस अनावृत आत्मा का प्रतिबंधक नहीं है। अतः मुमुक्षु मोक्ष भले ही चाहे, महावाक्य के श्रवण से ज्ञान होकर अज्ञान समाप्त हो जाने से वह परमानन्दरूप हो जाता है। फिर वह क्या इच्छा करे? मुमुक्षुदशा में मोक्षरूप फल की आकांक्षा होने पर भी ज्ञान होते ही वह जीवन्मुक्त हो जाता है। आत्मतत्त्व के ज्ञानी को कोई आकांक्षा नहीं रहती। ज्ञान से पूर्व आकांक्षा होने पर श्रवणादि की विधि तो स्वीकृत ही है, ज्ञान की विधि का निराकरण किया जा रहा है और ज्ञान होने के बाद कोई विधि विषय कर नहीं सकती यह बता रहे हैं। मुमुक्षु को भी ज्ञान से मोक्ष होता है यह वेदान्त कहते हैं। उसके लिये भी किसी

मोहमात्रान्तरायायां मुक्तावस्तु यथोदितम् ॥२५२॥
एकदेशो विकारो वा संसारी त्वात्मनो यदा । किं तदाऽप्युक्तमार्गेण मुक्तिः किं वा क्रियाश्रयात् ॥२५३॥
निवृत्तावेव निःशेषसंसारस्य तदाऽपि तु । आगन्तोरधिकारः स्यान्न प्रवृत्तौ कथंचन ॥२५४॥

भावना का (प्रवृत्तिरूप आर्थीभावना का) विधान करते नहीं। श्रवणादिविधि भी अवान्तर वाक्यभेद से ही है यह कह चुके हैं। एवं च वेदान्त किसी आर्थीभावना के भाव्यक नहीं अतः उनमें लिङर्थ शाब्दीभावना न होने से वेदान्त विधिशून्य हैं जिससे ब्रह्म की विधिशेषता का प्रसंग नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट किया कि वेदान्तों में न नियोगरूप विधि है न भावनारूप, अतः महावाक्य से समझा जाने वाला ब्रह्म विधिशेष नहीं केवल उसका ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, कर्म मोक्ष नहीं देते। अतः कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के साधन और अधिकारी भिन्न-भिन्न हैं ॥२५१+$\frac{१}{२}$॥

निजस्वरूप होने से मोक्ष साध्य नहीं अतः कर्मलभ्य नहीं, इस सिद्धान्त को स्वीकार न करने वाला वादी कहता है-

केवल अज्ञान जिसका प्रतिबन्धक है ऐसे मोक्ष के विषय में जो तुम सिद्धान्ती ने कहा वह संभव हो। पर जब तो संसरण करने वाला जीव परमात्मा का एक हिस्सा या विकार है, क्या तब भी तुम्हारे द्वारा कहे उपाय से ही मोक्ष होगा या क्रिया के सहारे से होगा? ॥२५२-२५३॥

श्लोक २२८ से अब तक सिद्ध किया कि वेदान्तोक्त मोक्षोपाय केवल ज्ञानरूप है, कर्मरूप उपाय का होना संभव नहीं। यह इसी आधार पर कहा कि आत्मा स्वरूप से मुक्त है, जीव का परमशिव से वास्तविक भेद नहीं है। वादी कहता है कि यदि यह सत्य होता तब ज्ञान से मोक्ष भी होता। किन्तु ब्रह्मात्माद्वैत सत्य है नहीं। अतः मोक्ष साध्य है, सिद्ध नहीं। जीव को परमात्मा का अंश मान सकते हैं क्योंकि महर्षि ने 'अंशः' (ब्र०सू० २.३.४३) ऐसा निर्णीत किया है। अथवा 'सर्वाणि च भूतानि''' निश्वसितानि' (बृ० ४.५.११), 'सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' (माध्यं० बृ० २.१.२३) इत्यादि श्रुति से तथा परमात्मा से भिन्न होने के कारण यावद्विकारन्याय से (ब्र० सू० २.३.७) जीव को विकाररूप मान लेना चाहिये। अतः केवल ज्ञान से जीव मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान कोई कारक नहीं है जो परमात्मा से एकतारूप साध्यभूत मोक्ष सम्पन्न करा दे। अतः मोक्ष को क्रियासाध्य ही स्वीकारना चाहिये। मोक्षदशा में परमात्मा से एकता मानने वाले किसी एकदेशी की शंका है क्योंकि आनन्दपूर्ण जी ने 'स्वयूथ्यः शंकते' कहा है। कर्म को साधन मान लेने पर सीधा फल है कि काण्डद्वय के अधिकारी आदि पृथक् नहीं रह जाते। क्योंकि कर्म न कर केवल उपासना करने की शास्त्र ने निंदा की है इसलिये उपासना से मोक्ष मानने वाले वैदिक को कर्मसमुच्चय स्वीकारना ही होगा, भले ही वैदिककर्मों से भी पाप मानने वाले आस्तिक कहलाने वाले कुछ लोग कर्मत्याग कर भी उपासना से कल्याण का प्रतिपादन करें ॥२५२-२५३॥

सिद्धान्ती विकल्प करता है: ब्रह्म के अंशभूत जीव का मोक्ष क्या १) ब्रह्म की प्राप्ति है या २) ब्रह्म व जीव के भेद का नाश है? पहला विकल्प असंगत है यह बताते हैं-

जीव अगर परमेश्वर का अंश है तब भी तो उसका अधिकार इसी में है कि आगमापायी जो सारा कर्मबंधनरूप संसार उसका निवारण करे। प्रवृत्ति में किसी भी तरह अधिकार नहीं है ॥२५४॥

अंश का अंशी से अभेद किसी कर्म का फल नहीं होता, स्वतः ही सिद्ध होता है। इसलिये अंशभूत मुमुक्षु ईश्वराभेदरूप मोक्ष के लिये कर्म क्यों करेगा? ब्रह्मप्राप्ति के लिये ब्रह्म के अंश को कर्म की अपेक्षा संभव न होने से अंशपक्ष में मोक्ष कर्मसाध्य नहीं हो सकता।

श्री विद्यासागर ने अंशपक्ष में भी दो विकल्प रखे हैं - अविद्या से अंशता है अथवा वास्तविक है। वास्तविकपक्ष तो श्लोक २५८ आदि में विचारित होगा। यहाँ आविद्य अंशता को मानकर कहा जा रहा है कि अविद्या ज्ञान से ही निवार्य होने से मुमुक्षु का अधिकार संन्यासपूर्वक श्रवणादि में ही है। यही अभिप्राय नृसिंहस्वामी का है 'संन्यासे तदुपलक्षितश्र त्रणादौ

आत्माज्ञाननिमित्तस्य ह्यन्यत्वानुपपत्तितः । तदाऽप्यविद्याविध्वस्तावधिकारो न कर्मणि ॥२५५॥
कर्तव्याभावतस्त्वेवं विकारेऽपि न कर्मणि । कारणैकत्वसंपत्तेः स्वतःसिद्धत्वहेतुतः ॥२५६॥
मृदापत्तिर्घटस्येव विकारस्याऽऽत्मनो ध्रुवम् । अविकारात्मसंपत्तिः सा च तत्त्वावबोधतः ॥२५७॥

अधिकारः''' जीवस्य अंशविकारभावतिरस्कारपुरःसरं देहाभावात्माद्यभिमाननिवृत्तिसाधनविद्योपायत्वादित्यर्थः'। विद्या ही देहाभाव का अर्थात् देह की आत्यंतिक निवृत्ति का और देहादि में आत्माद्यभिमानकी निवृत्ति का अर्थात् जीवन्मुक्ति का साधन है और उसका उपाय संन्यासपूर्वक श्रवण है। यह भी तभी संगत है जब अंशता अविद्याकृत हो ॥२५४॥

अंशपक्ष में ही भेद का नाश मोक्ष है इस पूर्वोक्त द्वितीय विकल्प को भी असंगत बताते हैं—

आत्माके अज्ञान से होने वाला भेद क्योंकि वास्तविक नहीं हो सकता इसलिये अंशपक्ष में भेदध्वंसरूप मोक्ष होने पर भी मुमुक्षु का अधिकार अज्ञान हटाने में ही है, कर्म में नहीं ॥२५५॥

ब्रह्म का अंश होने से ब्रह्मसे अभिन्न जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न हो यह संगत नहीं क्योंकि भेद और अभेद दोनों वास्तविक हों तो इकट्ठे हो नहीं सकते। अतः दोनों में एक को अवास्तविक मानना पड़ेगा। मोक्ष में अभेद मानने वाला भी अभेद को सत्य कह रहा है और सिद्धान्ती तो अभेद को सत्य कहता ही है अतः अभेद की वास्तविकता में विवाद न होने से बचे हुए भेद को ही अवास्तविक अर्थात् अविद्या से होने वाला स्वीकारना चाहिये। अविद्या से हुए भेद की निवृत्ति का उपाय विद्या ही है, न कि कर्म। एवं च भेदध्वंसको मोक्ष मानने पर भी कर्म की साधनता सिद्ध नहीं होती। [टीका में 'तथा न' की जगह 'तथा च' यही पाठ है।]

न्यायतत्त्वविवरणकार का पाठ 'आत्मज्ञाननिमित्तस्य' प्रतीत होता है। यों प्रतीकं देकर श्लोक का अन्वय यह दिखाया है: 'अविद्याविध्वस्तावन्यत्वा- [वन्यत्वा-] नुपपत्तित इति सम्बन्धः। कर्तुर्नियोज्यस्य भोक्तुर्वाऽधिकारिणोऽन्यत्वाभावे ब्रह्मैव केवलम्'''। तात्पर्य में कोई विशेष नहीं है। इस प्रकार अंशपक्ष में कर्म की मोक्षसाधनता नहीं बनी ॥२५५॥

जीव यदि ब्रह्म का विकार है (कार्य है) तो भी मोक्ष क्या १) विकारि ब्रह्म की प्राप्ति को मानते हो या २) विकारिब्रह्म से जीव के भेद के ध्वंस को मानते हो? प्रथम पक्ष पूर्ववत् ही असंगत है यह कहते हैं—

ऐसे ही विकारपक्ष में भी कार्य का कारण से एकतासंपन्न होना क्योंकि स्वतः सिद्ध है इसलिये कर्तव्य – कर्मसाध्य – नहीं है। अतः मुमुक्षु का कर्म में अधिकार नहीं ॥२५६॥

ब्रह्म के कार्यभूत जीव का अपने कारणभूत ब्रह्म से अभेद कर्मसाध्य नहीं है क्योंकि कार्य का कारण से अभेद स्वाभाविक ही होता है। एवं च मोक्ष क्रियाफल नहीं ॥२५६॥

विकारपक्ष में भेदध्वंस मोक्ष है इस पूर्वोक्त द्वितीय विकल्प का निरास करते हैं—

विकाररूप आत्मा अर्थात् जीव को अविकारात्मरूपता अर्थात् कारणब्रह्मरूपता की प्राप्ति तत्त्व के अवबोध से हो यह निश्चित है (क्योंकि यह प्राप्ति वैसे है।) जैसे घट को मृद्रूपता की प्राप्ति ॥२५७॥

यहाँ प्राप्तिशब्दों से भेदनिवृत्ति ही समझनी चाहिये। घड़े का मिट्टी से अभेद स्वाभाविक होता है, मिट्टी से घड़े का भेद अविद्या से है क्योंकि मिट्टी से अन्य घड़े का केवल नाम-रूप ही है। ऐसे ही विकारपक्ष में जीव का स्वाभाविक तो कारणब्रह्म से अभेद ही होना निश्चित है; तभी कार्यकारणता बनेगी। जीव का कारणब्रह्म से भेद अविद्या से मानना होगा क्योंकि वास्तविक भेद होने पर कार्यकारणता ही नहीं होगी जैसे वस्तुतः भिन्न घोड़े और भैंस में कार्यकारणता नहीं होती। अविद्याकृत भेद का ध्वंस कर्म करेगा नहीं क्योंकि कहीं भी कर्म अविद्यानिवर्तक देखा नहीं जाता। अतः तत्त्वज्ञान ही भेद-निवृत्ति कर सकता है।

इस प्रकार जीव को अंश मानें चाहे विकार, ब्रह्मकाण्ड के साधनादि तो कर्मकाण्ड के साधनादि से पृथक् ही होंगे ॥२५७॥

कार्यकारणयोर्भित्तौ कार्यकारणता कुतः । अभित्तौ च तयोरैक्यात्कार्यकारणता कुतः ॥२५८॥
विज्ञानात्मविकारस्य कारणैक्यं विमुक्तता ॥२५९॥
स्वतस्तस्य च संसिद्धेः कार्यता नोपपद्यते । कर्मातोऽनर्थकं मुक्तावेकदेशविकारयोः ॥२६०॥
अप्यनर्थाय कर्म स्यात्क्रियमाणं न मुक्तये ॥
प्रतिकूलं विमुक्तेश्च क्रियमाणमसंशयम् । कर्माऽऽरभेत तेनैतन्मुक्तौ कर्म निरर्थकम् ॥२६१॥
विकारोऽत्यन्तनिर्भिन्नो यदा तु स्याद्विकारिणः । तदाऽपि विकृतेर्नाशो मुक्तिरित्यभिधीयते ॥२६२॥

अब यह स्पष्ट करने के लिये कि जीव परमात्मा का वास्तव में अंश या विकार हो नहीं सकता, आचार्य कहते हैं–

कार्य व कारण भिन्न हों तो उनमें कार्यकारणभाव कैसे? और अगर भिन्न नहीं हैं तो दोनों की एकता होने से कार्यकारणभाव कैसे? ॥२५८॥

अंश-अंशी के विषय में भी ये ही युक्तियाँ जान लेनी चाहिये। तात्पर्य है कि कार्यत्व अंशत्वादि कल्पित धर्म ही हैं, निर्वचनीय नहीं ॥२५८॥

कार्यकारणादि का अभेद मानने में और भी दोष है यह बताने के लिये पूर्वोक्त (२५५-२५६) प्रसंग याद दिलाते हैं–

विज्ञानस्वरूप परमात्मा के विकारभूत जीव की कारणभूत परमात्मा से एकता ही मोक्ष है। वह एकता तो स्वतः सिद्ध है अतः वह कार्य हो यह संगत नहीं। इसलिये परमेश्वर के एकदेश (=अंश) या विकार रूप जीव के मोक्ष के लिये कर्म निष्प्रयोजन है ॥२५९-२६०॥

यहाँ भी विकार से अंशपक्ष की उपलक्षणा है ॥२५९-२६०॥

इतना ही नहीं, जीव-ब्रह्म का कार्यकारणात्मना या अंशांशिभाव से ही सही, अभेद स्वीकारने पर कर्म व्यर्थ ही नहीं अनर्थकारी भी है क्योंकि संसरण कराता है, यह बताते हैं–

किया जाता हुआ कर्म अनर्थ के लिये ही होता है, मोक्ष के लिये नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि किया जाता कर्म मोक्ष के प्रतिकूल स्वर्गादि को ही प्रारंभ करेगा, अतः यह कर्म मोक्ष के लिये निरर्थक है ॥२६१॥

कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। पापों का कथंचित् प्रायश्चित्त से निवारण हो भी जाये, पुण्यफल तो भोगना ही पड़ेगा। भोग ही तो मोक्ष का प्रतिबंध है। अतः कर्म का मोक्षमार्ग में विनियोग नहीं हो सकता, ज्ञानमार्ग में ही हो सकता है ॥२६१॥

विकारी अर्थात् कारण परमात्मा से विकार अर्थात् कार्य जीव का आत्यन्तिक भेद मानना और भी दोषावह है यह बताते हैं–

जब तो विकारिब्रह्म का विकाररूप जीव उससे अत्यन्त भिन्न होगा तब भी विकार का नाश मुक्ति कहा जाता है ॥२६२॥

मोक्ष में जीव का ब्रह्म से ऐक्य मानने वाला यदि जीव को ब्रह्म से वस्तुतः भिन्न माने तो सत्य भिन्न वस्तु स्वरूपतः बनी रहे और अपने से भिन्न ब्रह्म से एक हो जाये यह संभव न होने के कारण यही मानना पड़ेगा कि विकारका अर्थात् जीवका नाश ही मुक्ति है क्योंकि तभी ब्रह्म अद्वितीय रह सकता है। स्वनाश सबको अनिष्ट होने से मोक्ष नहीं यह भाव है। इसलिये जीवको परमेश्वर से भिन्न मानने पर और मोक्ष में अद्वैत मानने पर मोक्ष पुरुषार्थ ही नहीं रहेगा तो उसमें कर्म का विनियोग क्योंकर होगा? ॥२६२॥

यदि कोई बौद्धादि कहे कि जीवनाश ही मोक्ष हो, क्या हानि है? तो उसे उत्तर देते हैं–

अत्राप्यनर्थकं कर्म तत्फलासंभवत्वतः । कर्मेव ज्ञानमप्यत्र फलाभावादनर्थकम् ।।२६३।।
नैवाविद्याकृतैवासौ वास्तवी यदि संसृतिः । स्वरूपनाशदोषः स्यादेकदेशेऽपि पूर्ववत् ।।२६४।।
यदा त्वविद्ययाऽध्यस्तं संसारित्वं न वस्तुतः ।।२६५।।
विकारेऽवयवे चैव तदा पूर्वोक्त एव तु । पक्षो निर्वहणीयः स्यादस्माभिरपि संमतः ।।२६६।।
सर्ववाद्यविरोधी च नातो विधिरिहेष्यते ।

जीव के स्वरूपनाश को मोक्ष मानने पर भी कर्म निरर्थक ही होगा क्योंकि उसका फल असम्भव होगा। किंच जीवनाशपक्ष में ज्ञान भी निष्फल होने से निरर्थक ही होगा ।।२६३।।

मोक्ष में जब जीवरूप फलवान् को रहना ही नहीं तो कर्म किस फल का साधन हो सकेगा? जिसे भोगा जाये वह फल होता है, भोगने वाला ही न रहे तो फल कैसा? दुःखनिवृत्ति भी स्वरूपसती तो फल नहीं होती किन्तु जानी जाये तभी फल होती है। अतः नैरात्म्यवाद अत्यन्त हेय है। इस मत में कर्म ही नहीं, ज्ञान भी उक्त कारण से ही बेकार है ।।२६३।।

यह भी विचारणीय है कि ब्रह्मके कार्यभूत जीव का बन्धन स्वाभाविक अर्थात् सत्य है या अविद्या से है? स्वाभाविक मानने पर यह दोष है–

यदि संसारिता वास्तविक है तो वह अविद्याकृत न होगी (और तब ज्ञान या कर्म से निवृत्त न हो पायेगी) ।।२६३ $\frac{१}{२}$ ।।

ब्रह्मकी अविद्या से संसरण हो तो ब्रह्मकी विद्या से हटे। वास्तविक की निवृत्ति तो ज्ञान से होती नहीं जैसे आत्मा वास्तविक है तो किसी ज्ञान से हटता नहीं। कर्म तो बन्धन के, संसार गति के, हेतु हैं अतः वे भी सत्य बंधन को हटाने वाले नहीं हो सकते। एवं च बंधन सत्य मानने पर ज्ञान व कर्म दोनों मोक्ष के लिये व्यर्थ हो जायेंगे।

श्रीनृसिंहयति इस श्लोकार्द्ध का पूर्व से अन्वय करते हैं 'यद्यविद्याकृता न भवति संसृतिरपि तु वास्तवी तर्हि सत्यस्य ज्ञानेन निवृत्त्यनुपपत्तेः कर्मेव ज्ञानमप्यनर्थकमिति सम्बन्धः'। शास्त्रप्रकाशिका का भी अभिप्राय ऐसा ही है ।।२६३ $\frac{१}{२}$।।

जीव यदि ब्रह्म का अंश हो तो भी यदि उसका संसरण सत्य है तो यह दोष है–

जीव को परमात्माका अंश मानने पर भी (मोक्ष में) स्वरूप का नाश होना दोष होगा तथा पूर्व की तरह (ज्ञान व कर्म व्यर्थ होंगे) ।।२६५।।

प्रथमतस्तु बंधन सत्य होने पर पूर्ववत् उसकी निवृत्ति न होगी। यदि निवृत्ति मानें तो जीवका स्वरूपनाश मानना पड़ेगा क्योंकि बंधन-विशिष्ट ही जीव है जो बंधनरूप विशेषण के नाश से नष्ट होगा ही ।।२६४।।

जीव को कार्य या अंश मानकर यदि बंधन को अविद्या से होने वाला माना जाये तो सिद्धान्त के अनुकूल ही है यंह बताते हैं –

जब तो कार्यरूप या अवयवरूप जीव में संसारिता अविद्या से अध्यस्त है, वास्तविक नहीं, तब तो पहले कहे पक्ष का ही समर्थन करना पड़ेगा। वह हमें भी संमत है और सभी मोक्षवादियों के सिद्धान्त का विरोधी नहीं है। एवं च वेदान्तों में विधि स्वीकार्य नहीं है ।।२६६+ $\frac{१}{२}$ ।।

कार्यरूपता, अंशरूपता, बंधन और बाँधा होना, जब इन सब को आत्मा में केवल अविद्यावश उपलब्ध माना जाता है, वास्तविक नहीं, तब कर्मत्यागपूर्वक ज्ञानमात्र से मोक्ष स्वीकारना पड़ेगा। ज्ञान ही मोक्षहेतु है और बंधन अविद्यामात्र से है इसमें अद्वैत सिद्धान्ती की भी संमति है ही। बल्कि मोक्ष मानने वाले सभी को संसारिता आदि आविद्यिक और ज्ञानमात्र से मोक्ष मानना चाहिये अन्यथा मोक्ष ही अनुपपन्न होगा क्योंकि मोक्ष नित्य माना जाता है।

तदा हि कल्पनाः सर्वा विकारावयवादिकाः । वृथैवेमा ह्यविद्यैव सर्वाः संपादयिष्यति ॥२६७॥
पूर्णं निःश्रेयसं तस्मात्तदपूर्णमविद्यया ॥२६८॥
आभासते मृषैवातो यथाभूतात्मविद्यया । प्रध्वस्तायामविद्यायां पूर्णमेवावशिष्यते ॥२६९॥
अनर्थको विधिस्तस्मात्सर्वो निःश्रेयसं प्रति । इत्येतन्न्यायतः सिद्धं यत्तु प्राक्चोदितं त्वया ॥
आम्नायस्य क्रियार्थत्वादित्यत्राप्यभिधीयते ॥२७०॥

इस (श्लो० २५३-२६६) विचार का फल यह निकला कि विकार या अंश भी यदि जीव को मानें तो भी कर्म से मोक्ष नहीं होगा। अतः वेदान्तों में विधि मानने का प्रसंग नहीं। क्योंकि ज्ञान से ही मोक्ष है इसलिये वेदान्तों में विधेय ही सिद्ध नहीं होता। मोक्ष तो स्वर्ग की तरह फल होने से विधेय हो नहीं सकता और ज्ञान इसलिये विधेय नहीं कि उसमें पुरुष स्वतंत्र नहीं है। अतः वेदान्त आत्मयाथात्म्य के प्रबोधन में ही तात्पर्य रखते हैं, विधि में नहीं ॥२६६+$\frac{1}{3}$॥

प्रश्न होता है: जीव यदि केवल अखण्ड ब्रह्मवस्तु है, ब्रह्मका अंश या कार्य नहीं तो इन वाक्यों का क्या तात्पर्य है 'सभी भूत इसका एक हिस्सा है' (छा० ३.१२.६.), 'जीवलोक में जीवरूप से मेरा ही अंश है' (गी० १५.७), 'भेद का कथन होने से जीव ईश्वर का अंश है' (ब्र० सू० २.३.४३), 'प्राणरूप परमपुरुष सब को व चिद्रश्मियों को (= जीवों को) पृथक्-पृथक् पैदा करता है' ( ), 'ये सभी आत्मा विविधभाव से उद्गत होते हैं' (माध्यं० बृ० २.१.२३) इत्यादि? इसका उत्तर देते हैं-

जब वेदान्तों में विधि नहीं और ज्ञान से ही मोक्ष निश्चित है तब विकार अवयव आदि ये सारी कल्पनायें व्यर्थ ही हैं क्योंकि अविद्या ही इन सब शास्त्रोक्त कल्पनाओं को उपपन्न कर देगी ॥२६७॥

अविद्यामयी अंशादिव्यवस्थाओं का ही अनुवाद अध्यारोप प्रकरण में श्रुत्यादि में किया गया है अतः औपनिषद शांकर सिद्धांत के अनुसार ही ये शास्त्रोक्तियाँ समझनी उचित हैं। 'पादोस्य विश्वा भूतानि' पुरुषसूक्त में है और वहाँ स्पष्ट ही उपक्रम 'पुरुष एवेदः सर्वम्' से अर्थात् अद्वैत से है। छान्दोग्य में उपासनाप्रकरण में ऋचा का उद्धरण है। गीता में भी परिमार्गणीय पद से (१५.४) उपक्रम और पुरुषोत्तम से (१५.१९) उपसंहार है तथा संसारवृक्ष का प्रकरण (१५.१-३) होने से उसके छेत्ता जीव का अनुवाद मानराहित्यादि साधनों के विधान के लिये (१५.५) है। अंश इत्यादि सूत्र तो स्वयं ही अभेद बताता है क्योंकि ब्रह्म को दाश, दास, कितव आदि कहने वाली श्रुति का अनुवाद करता है। आगे आभास कहकर (२.३.५०) सूत्रकार ने अंशता को काल्पनिक बता भी दिया है। बृहदारंण्यक में भी दृष्टिसृष्टि स्पष्ट करने के लिये सौषुप्त पुरुष से सब की उत्पत्ति कह दी है अन्यथा आत्मा नित्य होने से उत्पाद्य ही नहीं है। एवं च हमारे अनुभव को इस तरह उपपन्न करने के लिये कि अद्वैत का व्याघात न हो, शास्त्रों में अंशादि का कथन किया गया है, उन्हे तात्पर्यतः निरूपित करने के लिये नहीं यह भाव है ॥२६७॥

'और जो इस द्युलोक से परे ज्योति है' (छा० ३.१३.७) आदि श्रुति से पता चलता है कि मोक्ष किसी अन्य स्थान पर जाने से होता है अतः कर्म से ही साध्य है। इसलिये कर्मकाण्ड व मोक्षकाण्ड के अधिकारी आदि का भेद संभव नहीं और जीव को सचमुच ही अंश आदि मानना उचित है। इस शंका के समाधानार्थ बृहदारण्यक के ही पंचमाध्याय के प्रारंभ की श्रुति के अनुसार कहते हैं-

पूर्ण ब्रह्म ही मोक्ष है अतः यही स्वीकार्य है कि अविद्या से मिथ्या ही वह अपूर्ण प्रतीत होता है। इसलिये जैसा आत्मा वस्तुतः है वैसी विद्या से अविद्या सर्वथा समाप्त हो जाने पर पूर्ण ब्रह्म ही रहता है। इसलिये मोक्ष के सम्बन्ध में सभी विधियाँ अनर्थक हैं। यह बात युक्ति से सिद्ध हुई।

जो तो तुमने पूर्व में (श्लो० ३६) यह कहा था 'अम्नाय क्रियारूप अर्थ वाला है' इत्यादि, उसका यहाँ भी समाधान बता देते हैं ॥२६८-२७०॥

'पूर्णम्' (बृ० ५.१) 'अनन्त ब्रह्म है' (तै० २.१) आदि श्रुति से तथा वार्तिक में बारम्बार ब्रह्म को अव्यावृत्त और

तत्राऽऽम्नायाभिधानस्य ह्याम्नायांशाभिधानतः। विध्युक्तीनां क्रियार्थत्वं सिद्धं हेतुतयोच्यते ॥२७१॥

अननुगत बताने से पूर्ण वस्तु एक परमेश्वर ही है। वही मोक्ष है। श्रुति स्पष्ट कहती है 'ब्रह्म को जानने वाला परमात्मा को प्राप्त करता है' (तै० २.१)। अतः मोक्ष का अकेला उपाय ब्रह्मज्ञान है, कर्म नहीं। छान्दोग्य का उद्धृत वाक्य तो उपासना के प्रकरण में आया है, वह मोक्ष का प्रतिपादन ही नहीं कर रहा तो उससे देशांतर में मोक्ष मिलता है यह समझना असंभव है। ब्रह्म की पूर्णता और ब्रह्मज्ञानमात्र से जीवका मोक्ष, इन दो श्रौत स्थापनाओं का विचार करें तो अंशादि कल्पनायें सर्वथा टिक नहीं पाती। पूर्ण होता हुआ भी ब्रह्म जीवरूप से परिच्छिन्न उपलब्ध है तो केवल अविद्या से और यह अविद्या तथा उससे परिच्छिन्नता भी मिथ्या ही है, वस्तुतः है ही नहीं। परिच्छिन्नता हटाये बिना मोक्ष नहीं है अतएव शास्त्र की सार्थकता है। परिच्छिन्नता केवल परमात्मज्ञान से साकल्येन समाप्त होती है। सुषुप्ति आदि में कार्याविद्या भले ही विलीन हो जाये, कारणाविद्या तो विद्यमान ही रहती है। ज्ञान से सविलास अज्ञान बाधित होने पर नित्य सिद्ध परिपूर्ण परमात्मा ही विराजता है, दृष्टिमात्र भी अविद्या व तत्कार्य नहीं रहते।

अतएव उत्पत्ति, विनियोग, अधिकार और प्रयोग चारों तरह की विधियाँ मोक्ष के लिये अनर्थक हैं। इन विधियों का स्वरूप बता चुके हैं (श्लो० २२६)। क्रिया-फल के लिये ही क्रियारूप आर्थीभावना को साधने के लिये शाब्दीभावनारूप विधि होती है अथवा साध्य नियोग की निष्पत्ति के लिये विधि होती है। मोक्ष पूर्ण ब्रह्म है, साध्य क्रियाफल है नहीं अतः इस प्रसंग में विधि का कोई औचित्य नहीं। श्लोक २२८ से प्रारंभ किये विचार में यह विषय विविध तर्कों से स्पष्ट कर चुके हैं। अतः 'कार्य के विना अधिकारी नहीं मिलता' (श्लो० २०) इत्यादि पूर्वपक्ष का निराकरण हो गया।

श्लोक ३६ में जो शंका की गयी थी उसका श्लोक १९६-१९८ तक अनुवाद कर श्लोक १९९ में कहा था कि उसका समाधान आगे करेंगे। अब उसका समाधान किया जायेगा। यद्यपि इस प्रसंग में बहुत कुछ कहा जा चुका है तथापि और स्पष्ट करने के लिये कृपालु आचार्य की प्रवृत्ति है ॥२६८-२७०॥

'आम्नाय क्रियार्थ है' इत्यादि जैमिनिसूत्र के आम्नायशब्द के आधार पर वेदान्तों को विधिशेष मानना चाहते हो या उस सूत्र में जो अतदर्थ-शब्द है उसके आधार पर? अतदर्थ का तात्पर्य है जो क्रियार्थ नहीं है। इनमें प्रथम विकल्प असंगत है यह कहते हैं-

जैमिनि-सूत्र में आम्नायशब्द आम्नाय के एक हिस्से का ही बोधक है अतः पूर्वसूत्र में सिद्ध किया जा चुका विधिवाक्यों का क्रियार्थत्व ही इस सूत्र में हेतु रूप से कहा गया है ॥२७१॥

दस-बीस घर जल जायें तो कह देते हैं 'गाँव जल गया', ऐसे ही विधियों के तात्पर्य से ही मीमांसासूत्र का आम्नायशब्द है। समूचा वेद यहाँ आम्नाय नहीं कहा जा रहा। यद्यपि उस सूत्र के भाष्य में शबरमुनि ने 'सोऽरोदीत्' (तै० सं० १.५.१) आदि वाक्यों का उद्धरण देकर कहा है कि क्रिया का कैसे अनुष्ठान किया जाये – इस प्रयोजन से ही उसे बताने के लिये अध्येताओं द्वारा इन वाक्यों का अध्ययनादि किया गया है, जिससे लगता है कि भाष्य में आम्नाय से केवल विधि का ग्रहण नहीं है, तथापि सप्रसंग सूत्रार्थ का विचार करने पर आम्नाय का अर्थ यहाँ विधिभाग ही निश्चित होता है। प्रथमसूत्र में धर्मजिज्ञासा का उपक्रम कर द्वितीय सूत्र में विध्युक्त व अभ्युदयहेतु को धर्म रूप से लक्षित किया है और तीसरे सूत्र में प्रतिज्ञा की कि धर्मज्ञान के कारण का युक्तिपूर्वक विचार करना चाहिये। चौथे सूत्र में प्रत्यक्ष से धर्मज्ञान संभव नहीं यह बताकर पाँचवे में शास्त्र को प्रमाण बताया अतः छठे सूत्र से तेइसवे सूत्र तक यह सिद्ध किया कि शब्द नित्य है। तदनन्तर तीन सूत्रों में बताया कि वाक्यार्थबोध के लिये पदार्थबोध ही चाहिये, वाक्य का वाक्यार्थ से सम्बंध वैसे ग्रहण नहीं करना पड़ता जैसे पद का पदार्थ से। अन्तिम अधिकरण में वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया। तदनन्तर आम्नायस्येत्यादि अर्थवादाधिकरण है। स्पष्टतः प्रथम पाद के तृतीय सूत्र से जिसके बारे में परीक्षा करने को कहा उसी का आगे प्रसंग चला। धर्म में प्रमाण विधि को बताया अतः विधि की परीक्षा ही संगत है। धर्मलक्षणसूत्र विधि को ही

क्रियाप्रकरणस्थानां विधिशेषात्मनां सताम् । वचसामक्रियार्थानामानर्थक्याय तद्वचः ॥२७२॥
न तूपनिषदां न्याय्यं पार्थगर्थ्यस्य संभवात् । पूर्वोक्तेनैव न्यायेन नातस्तद्विधिशेषता ॥२७३॥

क्रियारूप धर्म का समर्पक कहता है अतः अर्थवादाधिकरण के प्रथम सूत्र में जब सिद्धवत् कहा कि आम्नाय क्रियार्थ है तब आम्नाय से पूर्वोक्त विधिवाक्य ही ग्रहण किये जा सकते हैं अन्यथा यह कथन प्रकरण के प्रतिकूल होगा तथा विधि की धर्म में प्रमाणता बताने के उपक्रम के अनुकूल नहीं होगा। अर्थवादाधिकरण में विधि की क्रियार्थता को हेतु बताकर क्रियार्थभिन्न वाक्यों के आनर्थक्य की शंका की गयी है। आम्नाय से यदि सारा वेद कहा हो तो अक्रियार्थ वाक्य मिलेंगे ही नहीं अतः किन के आनर्थक्य की शंका हो सकेगी? यदि समूचे वेद में क्रियार्थता है तो अतदर्थता किन वाक्यों में है? और यदि अक्रियार्थवाक्य भी हैं तो समूचा आम्नाय क्रियार्थ कैसे है? इसलिये आम्नाय से विधिवाक्य ही विवक्षित हैं। उनसे भिन्न 'सोरोदीद्' आदि अतदर्थ हैं जिनकी अनर्थकता का प्रश्न आम्नायसूत्र में उठाया है। विधिवाक्य क्रियार्थ हैं इतने से विधिभिन्न वाक्यों की अनर्थकता कैसे सिद्ध होगी? इसलिये आम्नायसूत्र से यह पूर्वपक्ष विवक्षित है: क्योंकि विधिवाक्य कार्यार्थक हैं इसलिये विधिप्रकरण में आये अन्य वाक्य भी कार्यार्थ होने चाहिये, अन्यथा विधिप्रकरणस्थ विधिभिन्न वाक्य व्यर्थ होंगे जिससे उनके साथ एकशास्त्रपतित विधिवाक्य भी निरर्थक होंगे। एवं च सिद्ध होता है कि आम्नायपद विधिपरक है जिससे यह नहीं कह सकते कि आम्नाय होने से वेदान्त भी विधिशेष (= क्रियार्थ) हैं ॥२७१॥

यदि आम्नायसूत्र के अतदर्थशब्द के आधार पर वेदान्तों को विध्यर्थ कहना चाहो तो भी नहीं बनता यह बताते हैं–

विधिशेषरूप से क्रियाप्रकरण में स्थित जो अक्रियार्थक वाक्य हैं उनकी अनर्थकता की शंका करने के लिये ही उक्त सूत्र है ॥२७२॥

जो 'सोरोदीद्' आदि वाक्य मुखतः क्रियाबोधक नहीं हैं किन्तु कर्म के प्रकरण में आये होने से बलात् क्रियापरक समझने पड़ते हैं, उन्हे ही उक्त सूत्र में अतदर्थ कहकर पुकारा गया है। उन्हे निष्फल होने से निरर्थक कहने का अभिप्राय है उनसे सम्बद्ध विधिवाक्यों की भी निरर्थकता बताकर अप्रामाण्य सिद्ध करना। अतएव इस सूत्र की पूर्वपक्षता भी संगत है। सर्वथा अतदर्थ हों तब तो सिद्धान्ती (= मीमांसक) को आनर्थक्य और अनित्यत्व (=अप्रमाणत्व) स्वीकार्य ही है, अतः यह सूत्र पूर्वपक्ष का समर्पण ही कैसे करेगा? अतएव सिद्धान्तसूत्र में अर्थवादों की सार्थकता ही बतायी है कि प्रयोजनसाकांक्ष अर्थवादों की स्तुतिसाकांक्ष विधियों से एकवाक्यता होने से विधिविहित कर्मों की प्रशंसा ही अर्थवादों का प्रयोजन है। स्पष्ट है कि प्रयोजनाकांक्ष अर्थवादों की ही शंका है व उन्ही का प्रयोजन समाधान में बताया गया है। वेदान्तवाक्य जब साकांक्ष नहीं तो आम्नायसूत्र के अतदर्थ वाक्यों में उनकी गणना कैसे की जा सकती है? ॥२७२॥

मीमांसक पूछेगा : 'सोरोदीद्' जैसे क्रियार्थक नहीं ऐसे ही वेदान्त भी क्रियार्थक नहीं तो उन्ही की तरह वेदान्तों को भी अतदर्थ-पद से क्यों न समझा जाये? इसका उत्तर देते हैं–

क्योंकि पहले कही युक्तियों से यह संभव है कि उपनिषदों का कर्म की अपेक्षा पृथक् अर्थ (=स्वतंत्र प्रयोजन) हो, इसलिये उपनिषदों की अनर्थकता का कथन उक्त सूत्र में समझना उचित नहीं। अतः वेदान्त विधिशेष नहीं हैं ॥२७३॥

श्लोक १९९ आदि में कह चुके हैं कि श्रुतिसिद्ध और विद्वानों को अनुभवसिद्ध होने से उपनिषदों का कर्मनिरपेक्ष फल है। अतः उपनिषदें अनर्थक हैं ऐसी शंका ही कैसे उठेगी और उसका यह समाधान भी कैसे होगा कि उन्हे क्रियास्तावकतया सार्थक समझना चाहिये? इस प्रकार आम्नायेत्यादि पूर्वपक्षसूत्र के आधार पर वेदान्तों को विधि में तात्पर्य वाला समझा जा सके इसकी कोई आशा नहीं ॥२७३॥

ऐसे ही मीमांसकों के सिद्धांतसूत्र से भी वेदान्त विधिशेष नहीं सिद्ध होते यह स्पष्ट करते हैं–

विधिना त्वेकवाक्यत्वादिति यच्चापि चोदितम् । तेषामेव तदप्यस्तु तदानर्थक्यचोदनात् ॥२७४॥
न तु वेदान्तवचसां दृष्टार्थत्वेन हेतुना । तद्बुद्धेः पृथगर्थत्वमुक्तमेवातिविस्तरात् ॥२७५॥

'विधि से एकवाक्यता होने के कारण' इत्यादि जो कहा है वह भी उन्ही (क्रियाप्रकरणस्थ स्वतो निरर्थक) वचनों के बारे में ही है क्योंकि उन्ही की अनर्थकता का प्रश्न था ॥२७४॥

अर्थवादाधिकरण के सप्तम सूत्र के भाष्य में कहा है कि 'सोरोदीद्' आदि से चाहे क्रिया या क्रियासम्बद्ध कुछ न समझ आता हो, उनकी प्रमाणता इसलिये है कि विधिवचनों से उनकी एकवाक्यता है। विध्युद्देश-शब्द का ऐसा विवरण किया गया है 'विधिः शब्दभावना; विधिमुद्दिशतीति वा विधिरुद्दिश्यतेऽनेनेति वा विध्युद्देशो विधिबोधकं वचनम्' (शाबरभाष्यविवरण पृ० ४२ तारा.)। भाष्यकार द्वारा लिये उदाहरणों से भी स्पष्ट है कि क्रियाप्रकरणस्थ जिन वाक्यों की अक्रियार्थतावश अनर्थकता का प्रश्न था उन्हे ही इस सूत्र से सार्थक बनाने के लिये विधिसे एकवाक्यता वाला बताया है। विधि को अपेक्षित है देवतादिस्तुति, उसका समर्पण ये अर्थवाद कर देते हैं। प्रश्न क्रियाप्रकरणस्थ वाक्यों का हो और उत्तर हो क्रियाप्रकरण में न होने वाले वेदान्तों को लेकर, यह असंगत है। यदि सूत्रकार यों आम पूछे जाने पर कोदो का भाव बतायेंगे तो अनाप्त ही हो जायेंगे! अतएव भाष्य, तंत्रवार्तिक, बृहती आदि कहीं भी इस अधिकरण में वेदान्तों को शंका-समाधान का विषय नहीं बनाया गया है। निगमनभाष्य में भी शबरवाक्य है 'इस प्रकार ये सभी पद किसी अर्थ की स्तुति करते हुए (क्रिया का) विधान करते हैं अतः इस प्रकार के 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' आदि वाक्य भी प्रमाण हैं।' यहाँ 'ये', 'इस प्रकारके' ऐसा कहकर इससे भिन्न प्रकार के वेदान्तवाक्यों को व्यावृत्त कर दिया गया है। मुद्रितादि शाबरभाष्य में '... स्तुवन्ति विदधति, अतः ...' ऐसा पाठ है। आनन्दगिरि स्वामी ने संभवतः निषेधशेष अर्थवादों के संग्रहार्थ 'निन्दन्ति वा' ऐसा जोड़ा है। 'विदधति' पद तो आनन्दगिरिवाक्य में भी अध्याहार से समझ ही लेना चाहिये। 'स्तुवन्ति' यह शतृप्रत्ययान्त पद है।

इस प्रकार सिद्धांतसूत्र से भी वेदांत विधिशेष नहीं सिद्ध होते ॥२७४॥

यद्यपि कर्मफल से निरपेक्ष फल वेदान्तों का कह चुके हैं (श्लो० २७३) तथापि उसे भूलकर कोई पूछता है: स्वर्गादिफल वाले विधिवाक्यों की संनिधि में होने से स्वर्गफल न देने वाले वेदान्तों को विधिशेष मानना चाहिये क्योंकि यह नीति है कि फलवान् की संनिधि में जो निष्फल होता है वह फलवान् का अंग होता है। शबर मुनि ने यह नीति स्थापित की है (पू०मी० ४.४.१९)। यों पूछने वाले को उत्तर देते हैं-

वेदान्तवचनों की तो विधियों से एकवाक्यता नहीं है कारण कि वेदान्तवचन दृष्टार्थ हैं। वेदान्तज्ञान का कर्मनिरपेक्ष फल है यह काफी विस्तार से कहा ही जा चुका है ॥२७५॥

शबरोक्त नीति से फलवान् की संनिधि में आये निष्फल वचन भले ही फलवान् के अंग हों, वेदान्त न तो फलवाली विधि की संनिधि में हैं और न निष्फल हैं अतः अंग क्योंकर होंगे? वेदान्तों का दृष्ट फल ज्ञान से मोक्ष है। दृष्ट फल संभव रहते अदृष्ट को मानना असंगत है यह मीमांसक ही मानता है। अतः अदृष्ट स्वर्गादि से वेदान्तों को सफल बनाना व्यर्थ प्रयास है जब वे दृष्ट फल से ही सफल हैं। श्लोक २३ इत्यादि में स्पष्ट कर आये हैं कि कर्मफल से विलक्षण ही फल उपनिषद्वाक्यों के ज्ञान का है। जो तो ज्ञानियों का व्यवहार है वह बाधित की अनुवृत्ति ही है अतः फल का प्रतिबंधक नहीं। इसलिये दृष्टार्थता में विवाद का प्रसंग नहीं। बाधितानुवृत्ति श्लोक २०५ में बता चुके हैं ॥२७५॥

सिद्धान्ती आगे समझाता है: प्रयाजादि क्योंकि दर्शादि के फलोपकारी अंग हैं इसलिये प्रयाजादिवाक्य दर्शादिवाक्य के शेष हों यह संगत है। वेदान्तों से विज्ञेय आत्मरूप वस्तु तो कर्म में उपकारी है नहीं अतः उसे बताने वाले उपनिषद्वाक्य विधिशेष हों यह कहाँ तक उचित है?-

वेदान्तवचनों की अन्यार्थता अनुपपन्न होने से भी वे कर्मविधि के शेष नहीं हैं ॥२७५ $\frac{1}{2}$ ॥

अन्यार्थानुपपत्तेश्च वेदान्तवचसां तथा ॥

अर्थैकत्वगतौ सत्यां वाक्यभेदप्रकल्पना । न न्याय्या सेति दृष्टत्वाद्देवस्य त्वादिवाक्यवत् ॥२७६॥
तथैव पृथगर्थत्वगतौ भिन्नवचस्त्वतः । इषे त्वादिषु दृष्टत्वान्न न्याय्यैकार्थकल्पना ॥२७७॥

कर्म का उपकारक अर्थ यदि वेदान्तों का होता तो उनका विधिसम्बन्ध कहा भी जा सकता था। पर वेदान्तार्थ तो कर्म से प्रतिकूल है, अतः वह उसका अंग कैसे होगा? श्रीमान् आनन्दपूर्ण मुनि अन्यार्थता से सम्पदुपासनापरता समझते हैं अर्थात् वेदान्त उपासनापरक भी नहीं हो सकते अतः वे उपास्तिविधिशेष भी नहीं हैं यह इस वार्तिक का अर्थ है ॥२७५$\frac{1}{2}$॥

सिद्धान्ती ने स्पष्ट किया कि कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड परस्पर पृथक् वाक्य हैं अतः इनमें एक की दूसरे से एकवाक्यता की नहीं जा सकती। दोनों अपने-अपने फलों वाले हैं और इसलिये इनके अधिकारी भी पृथक्-पृथक् हैं।

मीमांसकों ने एक मान्यता स्वीकारी है कि एकवाक्यता संभव रहते भिन्नवाक्यता नहीं माननी चाहिये (श्लो०वा०प्रत्यक्ष० ९)। इसी आधार पर श्लोक ३६ में भी कहा था कि पृथक् वाक्य मानने पर गौरव होगा। वही शंका वादी प्रकट करता है–

अर्थ की एकता रूप गति रहते वह (=सिद्धान्तिकृत) वाक्यभेद की कल्पना संगत नहीं है क्योंकि एकार्थता होने पर एकवाक्यता ही देखी गयी है जैसे 'देवस्य त्वा' इत्यादि वाक्य में ॥२७६॥

प्रयाजादिवाक्य और दर्शादिवाक्य एकवाक्यता वाले हैं क्योंकि इनका एक ही फल है। ऐसे ही वेदान्तों की विधियों से एकवाक्यता उपपन्न करने का प्रयास करना चाहिये, फल का अंतर मानकर दो पृथक् वाक्य नहीं मानने चाहिये। इस विषय में यह मीमांसा का अधिकरण (२.१.१४) है: यजुर्वाक्य के परिमाण का निर्धारण कैसे हो यह शंका है। ऋक् और साम तो छन्दोबद्ध हैं अतः एक ऋचा या साम का परिमाण आराम से समझ आ जाता है। यजु गद्य होने से एक यजुर्वाक्य का परिमाण कैसे समझें? जैमिनि महर्षि ने बताया कि जो पदसमूह एक फल का प्रतिपादक हो और समूहगत एक भी पद हटाने से पद साकांक्ष हो जायें (पूर्णार्थबोधक न रह सकें), वह एक वाक्य कहा जाता है और उसे ही एक यजु समझना चाहिये। अतएव 'देवस्य त्वा सवितुः' इत्यादि मंत्रगत पदों को 'निर्वपामि' पद से जुड़ा एक वाक्य समझा जाता है। 'निर्वपामि' से विलग करें तो पद साकांक्ष रह जायेंगे। उससे मिलकर वे एक फल का प्रतिपादन कर देते हैं। इसी न्याय से वेदान्तों की भी कर्मकाण्ड से एकार्थता अतः एकवाक्यता स्थापित करनी चाहिये जिससे अधिकारी आदि की पृथक्ता संभव नहीं होगी। एकवाक्यता कर्तृस्तुति आदि से हो जायेगी यह वादी का अभिप्राय है।

विद्यासागर ने यहाँ मीमांसा के नवमाध्याय के द्वादशाधिकरण का प्रसंग एकवाक्यता बताने के लिये परामृष्ट किया है। वहाँ भी वाक्य यही है 'देवस्यत्वा''' निर्वपामि' (तै०सं० १.२.१; आप० १.१८.२)। अग्निहोत्रहवणी नामक पात्र पर मुट्ठी भर व्रीहि आदि रखकर अध्वर्यु शूर्प पर उस व्रीहि आदि का प्रक्षेप करता है इसे निर्वाप कहते हैं। उस अधिकरण में मन्त्र को निर्वाप की स्तुति करने वाला होने से उसी से एकवाक्यता वाला माना है। इतना भाग ही यहाँ दृष्टान्त है। प्रकृत में तात्पर्य वही निकलता है जो शास्त्रप्रकाशिका के उदाहरण से ॥२७६॥

यों शंकित एकवाक्यता का निषेध करते हैं–

इसी तरह जो वचन पृथक् अर्थ वाले होने से लब्धावकाश हों वे भिन्न (अर्थात् स्वतन्त्र) वाक्य होते हैं यह 'इषे त्वा' आदि में देखा गया है इसलिये यह कल्पना असंगत है कि काण्डद्वय का एक ही प्रयोजन है ॥२७७॥

जैसे एक अर्थ होने पर वाक्य की अनेकता मीमांसानय के प्रतिकूल है वैसे ही अर्थ भिन्न हों तो भिन्न ही वाक्य भी होते हैं यह भी उक्त रीति के अनुकूल है। बल्कि वाक्यान्तर से अगतार्थतारूप गुणातिशय ही होता है यदि वाक्य का स्वतंत्र अर्थ हो। इस बात में पूर्वतंत्र के द्वितीयाध्याय का (२.१.१५.४७) अधिकरण प्रमाण है: 'इषेत्वोर्जेत्वा' आदि एक वाक्य है

ज्ञानकाण्डार्थशेषत्वं कर्मकाण्डस्य यत्पुनः । विनियोजकहेत्वेतत्तयोर्वाक्यैकवाक्यतः ॥२७८॥
न्यायेन वक्ष्यमाणेन भूयोऽप्येतत्प्रवक्ष्यते ॥२७९॥

या अनेक वाक्य हैं यह शंका होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि इसे एक वाक्य ही मानना चाहिये तभी इन्हे वेद में इकट्ठे ही पढ़ा जाना संगत होगा। सारे ही वाक्य का एक अदृष्ट ही प्रयोजन है अतः एकार्थतारूप लक्षण भी संगत है। यदि ब्राह्मण में 'इषे त्वा' का शाखाछेदन में और 'ऊर्जे त्वा' का मार्जन में विनियोग होने से मंत्र को अनुष्ठेय अर्थ का स्मारक ही मानना हो अतः एक अदृष्ट को प्रयोजन न माना जाये, तो ब्राह्मण का अभिप्राय यह समझना चाहिये कि छेदन व मार्जन में समूचे मंत्र का विनियोग है, अतः ब्राह्मणानुसार भी एक ही अर्थ होने से एक ही वाक्य है। जो तो ब्राह्मण में केवल 'इषे त्वा' तथा केवल 'ऊर्जेत्वा' कहा है वह प्रतीक का ग्रहण है और भागांतर की उपलक्षणा विवक्षित है। इसलिये 'इषेत्वोर्जेत्वा' यह एक वाक्य है।

इसका निषेध कर सिद्धान्त यह है: 'इषे त्वा' और 'ऊर्जे त्वा' ये पृथक् वाक्य हैं। कारण यही है कि ब्राह्मण में इनका पृथक्-पृथक् विनियोग (= प्रयोजन, अर्थ) बताया है। अतः भिन्न अर्थ वाले प्रतीत होने से इन्हे भिन्न वाक्य ही मानना पड़ेगा। वेद में इकट्ठे ही पढ़ा जाना तो ब्रह्मयज्ञादि में वैसे पाठ से ही पुण्य होता है इस प्रयोजन से है, न कि एकवाक्यता के कारण। अतः ब्राह्मणोक्त विधिवाक्य में 'इषे त्वा' को प्रतीक मानकर लक्षणा करना ग़लत है। तात्पर्य की अनुपपत्ति हो तभी लक्षणा संगत है। यहाँ जब 'इषे त्वा' इतने मात्र से छेदन उपपन्न है तो लक्षणा कैसे की जाये? विधि में लक्षणा नहीं करनी चाहिये ऐसा मीमांसकों को मान्य भी है। जो तो क्रियापद न होने से छेदनादि अर्थ की अप्रतीति है अतः अदृष्टार्थकता कही है, उसका समाधान है कि ब्राह्मणवचनानुसार 'छिनद्मि' और 'अनुमार्ज्मि' इन क्रियापदों का अध्याहार कर लेने से उक्त अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इसलिये विभिन्नार्थक होने से ये विभिन्न वाक्य ही हैं।

इसी नीति से ज्ञानकाण्ड का भिन्न ही अर्थ है अतः यह कर्मकाण्ड से पृथक् वाक्य है, इन दोनों काण्डों की एकवाक्यता की कोई संभावना नहीं। फलतः साधन, अधिकारी आदि भी अलग ही हो सकते हैं ॥२७७॥

शिष्य शंका करता है कि ज्ञानकाण्ड भले ही कर्मकाण्ड से एकवाक्यता वाला न हो क्योंकि कर्म के प्रयोजन से ज्ञान गतार्थ नहीं होता, लेकिन यह तो सिद्धान्त में भी माना गया है कि कर्मवाक्य ज्ञानवाक्यों के शेष हैं क्योंकि ज्ञानफल से कर्म भी गतार्थ हो जाते है, अतः कर्मवाक्यों की ज्ञानवाक्यों से एकवाक्यता है। तब यह कैसे कहा 'न न्याय्यैकार्थकल्पना'? इसका समाधान करते हैं –

जो तो कर्मकाण्ड की ज्ञानशेषता है वह विनियोगबोधक प्रमाण से है। दोनों काण्डों की वाक्यैकवाक्यता स्वीकार्य है। आगे बतायी जाने वाली नीति से यह स्पष्ट है। उपनिषदों की सफलता पुनः भी समझायेंगे ॥२७८-२७९॥

कर्मकाण्ड चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानकाण्ड के अर्थभूत ज्ञान का शेष है यह सिद्धान्त में मान्य है क्योंकि विविदिषावाक्य सभी कर्मों का ज्ञान में विनियोग करता है। ज्ञान का तो कहीं विनियोग न होन से वह किसी का शेष नहीं। किन्तु काण्डों की एकवाक्यता वाक्यैकवाक्यता है। अतः काण्डों के विभिन्न अर्थ हैं और इसलिये दोनों पृथक् वाक्य भी हैं। कर्मकाण्ड उपकारक और ज्ञानकाण्ड उपकार्य है अतः इनकी एकवाक्यता भी है।

एकवाक्यता दो तरह की होती है–

१) पदैकवाक्यता – जहाँ पृथक् अर्थ का प्रतिपादन किये बिना अर्थात् स्वार्थ में अवान्तर तात्पर्य भी रखे बिना किसी अन्य से एकार्थता होती है वहाँ पदैकवाक्यता कही जाती है। मंत्र-अर्थवादों की विधियों से पदैकवाक्यता हुआ करती है। अर्थवाद के पदसमूह उस प्राशस्त्यरूप पदार्थ का बोध कराते हैं जो विधि को अपेक्षित है अतः पदार्थबोधक होने से पदसमूह भी मानो पद ही हैं और उनकी विधिपद से एकवाक्यता है; इसलिये यह एकवाक्यता पदैकवाक्यता कही जाये यह संगत है।

पार्थगर्थ्यमतः सिद्धमपास्तविधिलक्षणम् । सर्वोपनिषदां चाऽऽत्मज्ञानं कैवल्यसाधनम् ॥२८०॥

२) वाक्यैकवाक्यता – जहाँ अवान्तर-वाक्यार्थ का प्रतिपादन कर पुनः आकांक्षा के कारण एकवाक्यता होती है वहाँ वाक्यैकवाक्यता कही जाती है। यह बात भट्ट कुमारिल ने भी स्पष्ट की है।

'स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया। वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते'॥

'समिधो यजति' आदि वाक्यों की 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' वाक्य से यही एकवाक्यता है। यद्यपि 'समिधो यजति' अपने अर्थ का समर्पण कर देता है फिर भी 'काहे के लिये?' यह शंका रहती है, ऐसे ही दर्शवाक्य अपने अर्थ का समर्पण कर देता है तब 'कैसे?' यह शंका होती है। अतः दोनों शंकाओं की समाप्ति के लिये एकवाक्यता मानी जाती है: दर्शादि की स्वरूपनिष्पत्ति के लिये 'समिधो यजति' का विधेय अनुष्ठेय है। आगमपरिच्छेद में धर्मराज अध्वरीन्द्र ने यह बताया है। उदाहरणान्तर प्रकृत में टीकाकार ने दिया है: द्रव्य का अर्जन करने का विधान है। यद्यपि द्रव्यार्जन की अपूर्वविधि नहीं तथापि उपाय-नियम के लिये याजनादि विधियाँ हैं यह अधिकाराध्याय में (६.१.८) स्पष्ट किया है। द्रव्यार्जन का एक प्रमुख प्रयोजन क्रतु करना है। अतः निठल्ले के प्रति की गयी द्रव्यार्जनविधि की क्रतुविधि से भी एकवाक्यता तो है किन्तु इतने मात्र से द्रव्यार्जनविधि का स्वार्थ में तात्पर्य भंग नहीं होता। अतः यह भी वाक्यैकवाक्यता का उदाहरण है।

प्रकृत में कर्म स्वर्गार्थ भी हैं और विविदिषावाक्य से ज्ञानार्थ भी। कर्मविधियाँ अपने अर्थ का समर्पण करने के बाद ही विविदिषावाक्योक्त विनियोगवश ज्ञानवाक्य से एकवाक्यता वाली होती हैं। जैसे अर्थवादादि का स्वार्थ अविवक्षित है ऐसे कर्मवाक्यों का स्वार्थ अविवक्षित नहीं, विहित ही है। अतः यहाँ वाक्यैकवाक्यता है। जैसे रागप्राप्त धन से क्रतु हो सकता है वैसे ही विधिप्रेरित हो प्राप्त किये धन से। इसलिये विधिपूर्वक प्राप्त धन से ही क्रतु करे यह नहीं कह सकते। फलतः द्रव्यार्जनविधि और क्रतुविधि दोनों के अधिकारी आदि परस्पर स्वतंत्र ही हैं। इसी तरह प्रकृत दोनों काण्डों के अधिकारी आदि पृथक् सिद्ध होते हैं। शुद्धचेतस्कता ज्ञानाधिकारी में चाहिये, वह कर्म से ही आयी हो यह कहना व्यर्थ है। ईश्वरकृपा, श्रवणाभ्यास आदि से भी यदि शुद्धि हो जाये तो ज्ञानाधिकार आ ही जाता है। अतएव देवताधिकरण में कर्मानधिकारियों को ज्ञानाधिकारी माना है। इस प्रकार शिष्य की शंका का समाधान कर दिया।

उपनिषदें यदि सफल हों तभी कर्मवाक्यों की उनसे वाक्यैकवाक्यता संगत है अतः पूर्ववादी को सूचित किया कि उपनिषदों का साफल्य और इसलिये विविदिषावाक्य की विनियोगपरता यथास्थान स्पष्ट कर दी जायेगी ॥२४८-२४९॥

कर्मवाक्यार्थ से स्वतंत्र अर्थ वेदान्तों का है इस बात का निगमन करते हैं–

अतः सिद्ध होता है कि मोक्षोपायभूत आत्मज्ञान सब उपनिषदों का स्वतंत्र अर्थ है जो धर्म से विलक्षण है ॥२८०॥

अतः अर्थात् पूर्वोक्त एवं आगे बतायी युक्तियाँ। वेदान्त अनर्थक नहीं बल्कि दृष्टार्थक हैं अतः विधिलक्षण अर्थात् धर्म से पृथक् उनका स्वतंत्र अर्थ है। इसलिये वे विधिशेष नहीं हैं, अतः काण्डों की एकवाक्यता नहीं है जो पूर्ववादी को इष्ट है। एवं च श्लोक ३७ में जो कहा था कि क्रिया के अबोधक वचनों को विधियों से पृथक् वाक्य मानने में गौरव होगा, उसका प्रत्युत्तर हो गया। फलमुख व प्रामाणिक गौरव दोष नहीं अन्यथा स्त्री-पुरुष दो को पुत्र के प्रति कारण मानने की अपेक्षा लाघवात् किसी नपुंसक को ही कारण मानना पड़ेगा!

'अपास्तविधिलक्षणं' कहकर द्योतित किया कि आत्मज्ञान कर्माधिकार का प्रयोजक नहीं, जैसा मीमांसक मानना चाहते हैं। यह पुरी जी ने बताया है। श्लोकस्थ चकार का अभिप्राय है कर्मवाक्यों को स्वर्गादिफल वाला बताना, यह विद्यासागर कहते हैं। इससे काण्डद्वय का प्रयोजनभेद स्पष्ट हो जाता है ॥२८०॥

निःशेषवाङ्मनःकायप्रवृत्त्युपरमात्मिका । तन्निष्ठा चेह विज्ञेया यथोक्तन्यायवर्त्मना ॥२८१॥
अधिकारोऽपि तस्यां च सिद्धोऽशेषक्रियात्यजः । जिज्ञासोरेव कर्तुस्तु न सिषाधयिषोः सदा ॥२८२॥

कैवल्यसाधन ज्ञान उपनिषदों से उत्पन्न होता नहीं क्योंकि उपनिषदों का अध्ययन करने वाले बहुतेरे लोगों में ज्ञान होता देखा नहीं जाता, स्वाध्याय विधि से उपनिषदों को पढ़े हुए हम कर्मजडों को भी कोई तत्त्वज्ञान हुआ नहीं है। अतः उपनिषदों को सफल कैसे मानें? इसका उत्तर देने के लिये स्पष्ट करते हैं कि मोक्षसाधन ज्ञान कहते किसे हैं–

जैसा बताया है उस ढंग से वाणी, मन और शरीर की सारी प्रवृत्तियों का उपरमरूप ज्ञाननिष्ठा यहाँ मोक्षोपाय समझना चाहिये ॥२८१॥

शमादि का अभ्यास ही बताया ढंग है। इसे श्लोक २१६ में वार्तिककार कह आये हैं। स्वभावतः बहिर्मुख प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं उन्हे विधिपूर्वक छोड़कर शमादि रखते हुए श्रवणादि का ही अभ्यास करने से ज्ञाननिष्ठा होती है जो मोक्षोपाय है। उपनिषदक्षरों का अध्ययन अथवा ऊहापोह से उपनिषद्वाक्यविचार ही औपनिषद तत्त्वज्ञान का साधन नहीं किन्तु विवेकादिपूर्वक किया श्रवणादि ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न करता है। इन साधनों के न होने से ही बहुतेरे वेदान्ताध्येताओं में और आप कर्मजडों में तत्त्वसाक्षात्कार नहीं देखा जाता। अतः उपनिषत् की साधनता में शंका का अवसर नहीं। टीकानुसार यहाँ ज्ञानोपाय वताये गये हैं। ज्ञानकी निष्ठा है संन्यासपूर्वक श्रवणादि। उसे ही कैवल्यहेतु ज्ञान में साधन बताया जाता है। यदि ज्ञाननिष्ठा को मोक्षोपाय मानें तब भी वार्तिक संगत है। समस्त प्रवृत्ति का उपरमरूप तो निष्ठात्मक ज्ञान ही संभव है। ज्ञानमात्र पाकर निष्ठापूर्वक मोक्षप्राप्ति भगवान् ने अष्टादशाध्याय में (५१-५५) विस्तार से समझायी है। अथवा श्लोकस्थ चकार से दोनों अभिप्रायों का संग्रह है। ॥२८१॥

प्रश्न होता है: अधिकारी ही श्रवण करे तो सफलता होगी। अधिकार की जानकारी नियोग के अधीन है; विधि-अनुसार ही अधिकार पता चल सकता है। भावार्थ अर्थात् सिद्ध वस्तु को नियोग (विधि) विषय करता नहीं, भाव्य को ही विषय करता है। अतः ज्ञान के हेतुभूत श्रवणादि यदि समस्त प्रवृत्ति का उपरममात्र हैं तो वे विधिविषय न होंगे, फलतः अधिकारी का निर्णय न हो पायेगा। और यदि विधिविषयता व अधिकार है तो उपरममात्ररूपता नहीं हो सकती। इस समस्या का समाधान करते हैं–

सारी क्रियायें छोड़ने वाले जिज्ञासु का ही ज्ञाननिष्ठा में अधिकार भी नियोग के बिना ही सिद्ध है। साध्य की सिद्धि चाहने वाला जो हमेशा प्रवृत्तिपरायण है उसका ज्ञाननिष्ठा में अधिकार नहीं ॥२८२॥

ज्ञाननिष्ठा में संन्यासी अधिकारी है। यह 'शमादि वाला देखता है' (बृ० ४.४.२३) आदि श्रुति से सिद्ध है। अधिकार में निमित्त यहाँ मुमुक्षारूप जिज्ञासा ही है, नियोग नहीं। ज्ञान चाहने वाला ही ज्ञानसाधनों के अनुष्ठान का अधिकारी है। विवेकादिपूर्वक ज्ञानदार्ढ्य की इच्छा वाला ज्ञाननिष्ठा के उपायों में अधिकृत है। प्रवृत्तिधर्म के लिये नियोग से अधिकार पता चलता है। ज्ञाननिष्ठा के लाभ के लिये नियोग नहीं चाहिये। श्रवण का नियोग होने से भले ही उसका अधिकार नियोग से समझा जाये, ज्ञाननिष्ठा का नियोग नहीं अतः उसका अधिकार ज्ञानकृत ही है। अतः भगवान् ने भी 'सिद्धिं प्राप्तः' और 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' (१८.५०,५१) कहा है। यदि वार्तिक से श्रवणाधिकारी को ही समझना हो तो तात्पर्य है कि पूर्वोक्त (श्लो० २१४ इत्यादि) विधियों से जिसने सर्वकर्मों का त्याग किया है उसे श्रवण में अधिकार जिज्ञासाप्रयुक्त है, विधिप्रयुक्त नहीं। श्रवण में विधि है सही पर संन्यासी को जो अधिकार है वह उस विधि के कारण नहीं है। अतः जिस पक्ष में विधि नहीं, या नियम या परिसंख्या विधि है, उसमें भी संन्यासी अधिकारी बना रहता है। टीकाकार का यह अभिप्राय नहीं कि अकेली जिज्ञासा ज्ञानसाधनों में अधिकार का हेतु है क्योंकि पर्युदस्तादि को श्रवणाधिकार वे मानें यह संगत नहीं। अतः केवल संन्यासी का अधिकार जिज्ञासाप्रयुक्त है यह उनका तात्पर्य है। अथवा श्रौत श्रवणादि में न सही भाषाग्रंथादि में सभी साधन-सम्पन्नों का अधिकार होने से टीकाशय को सामान्यतः भी समझ सकते हैं ॥२८२॥

ब्रह्मात्मतत्त्वव्युत्पत्तिमात्रेणाप्यधिकारिता । भवत्येवात्र जिज्ञासोरज्ञस्यापि मुमुक्षुतः ॥२८३॥
मैवं प्रक्रमसंहारपर्यालोचनया पुरा । वेदस्यैकार्थ्यतात्पर्यमेकवाक्यतयोदितम् ॥२८४॥
तेन निःशेषवेदोक्तकारिणोऽत्राधिकारिता । सिद्धे ह्यनेकवाक्यत्वे कल्प्या भिन्नाधिकारिता ॥२८५॥

श्रवणादि में जिज्ञासु को अधिकारी कहा। जिसने ब्रह्म जान लिया उसे जिज्ञासा नहीं हो सकती क्योंकि जानते ही जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। जिसने ब्रह्म जाना नहीं उसे भी जिज्ञासा नहीं हो सकती क्योंकि इच्छा-विशेष होने से वह ज्ञानजन्य होनी पड़ेगी। ब्रह्मज्ञान की इच्छारूप बुद्धिवृत्ति ही जिज्ञासा है। यहाँ इच्छामें ब्रह्मज्ञान विशेषण है। अतः ब्रह्मज्ञान रहते ही उसकी इच्छा हो सकती है। एवं च ब्रह्मज्ञान न होने पर भी जिज्ञासा होगी नहीं। फलतः श्रवणादि का अधिकारी ही असंभव है। इस आक्षेप का परिहार करते हैं–

अज्ञानी भी जो मुमुक्षु व जिज्ञासु है उसे ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा की यथार्थता के केवल आपातज्ञान से भी श्रवणादि में अधिकार मिल ही जाता है ॥२८३॥

जो मुमुक्षु मोक्षोपाय चाहता है उसे वेद पढ़ने पर अद्वैत का जो अविचारित ज्ञान होता है वही श्रवणादि में अधिकार दे देता है। व्याकरण, निरुक्त आदि का जानकार वेद पढ़ता है तो कुछ अर्थ समझ आता ही है, उसी से जिज्ञासा संगत हो जाती है और यही श्रवणाधिकार का प्रयोजक है। विचार किये बिना अतएव संशयादि का अविरोधी ज्ञान आपातज्ञान कहा जाता है। जो जिज्ञासा की अनुपपत्ति के विकल्प थे उनका उत्तर है कि सामान्य ज्ञान होने से व विशेषज्ञान न होने से ही सर्वत्र जिज्ञासा उपपन्न होती है अतः प्रकृत में भी वैसा ही है। कल्पित सामान्यविशेषता परमात्मा में स्वीकृत ही है। जिज्ञासाधिकरण में आचार्यों ने बहुत विस्तार से ब्रह्मजिज्ञासा उपपन्न की ही है। अतः श्रवणाधिकारी संभव है ॥२८३॥

अधिकारी आदि के भेद पर वादी अन्य प्रकार से आक्षेप करता है –

ऐसा नहीं। उपक्रम-उपसंहार के विचार से यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि वेद का तात्पर्य कार्यरूप एक ही अर्थ में है अतः काण्डों की एकवाक्यता है। इसलिये ज्ञान में वही अधिकारी है जिसने वेदोक्त सभी कर्म कर लिये। यदि काण्डों की भिन्नवाक्यता होती तभी उनके अधिकारियों की भिन्नता की कल्पना संगत होती ॥२८४-२८५॥

पूर्ववादी का कहना है कि ऋग्वेद का प्रारंभ 'अग्निमीळे' इत्यादि मंत्र से हुआ है जो कर्मविनियुक्त है व स्वयं 'ईळे' अर्थात् 'स्तुति करता हूँ' इस शब्द से कार्यसूचक है। ऋग्वेद के समापन में अग्निहोत्र का विधान है। ऐतरेय ब्राह्मण में पंचमाध्यायमें विस्तार से अग्निहोत्र बताया गया है। अतः ऋग्वेद कर्म में तात्पर्य वाला है। ऐसे ही यजुर्वेद का आरंभ भी कर्मविनियुक्त 'इषे त्वा' आदि से है एवं संहिता के अंत्य अध्याय में 'कुर्वन्नेव' इत्यादि से कर्म में ही समापन है। सामवेद भी 'अग्न आयाहि' आदि कर्ममंत्र से प्रारंभ होकर छान्दोग्य उपनिषत् के अंत में गृहस्थ धर्मों को कहते हुए ही समाप्त होता है। इसलिये वेदों के उपक्रम-उपसंहार की एकवाक्यता से निर्णीत है कि वेद का तात्पर्य कार्य में ही है। साथ ही प्रारंभ व समापन एकार्थ (=कार्यार्थ) होने से सारा वेद एक वाक्य ही सिद्ध होता है। यह बात संदंशन्यायानुकूल है। 'एकांगानुवादेन विधीयमानयोरंगयोरन्तराले विहितत्वम्' यही संदंश का लक्षण है (न्या०प्र०)। इसलिये उपनिषदें भिन्न वाक्य नहीं कि उनके अधिकारी आदि कर्मकाण्ड के अधिकारी आदि से विलक्षण हों। श्लोक २७६ में काण्डों की एकवाक्यता प्रतिज्ञात ही है। अतएव अग्निहोत्रादि प्राथमिक कृत्य से सत्रादि अन्तिम कृत्यों तक सब का अनुष्ठान किया हुआ व्यक्ति ही ज्ञान में अधिकारी है। सभी कर्मों के अनुष्ठान के बाद ज्ञानविधि का पालन करने वाले की ही मुक्ति होती है। इसलिये एक ही अधिकारी दोनों काण्डों का नियोज्य है।

विद्यासागर जी ज्ञान-नियोग-रूप एक अर्थ में समूचे वेद का तात्पर्य होने से अधिकारी आदि का अभेद है क्योंकि 'इषे त्वा' आदि ज्ञान-विनियुक्त-कर्म के प्रतिपादन से प्रारंभ कर 'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य' आदि ज्ञान में उपसंहार

मैवं भिन्नैकवाक्यत्वे प्रागस्माभिः समर्थिते । ततश्च भवदुक्तस्य चोद्यस्येह न संभवः ॥२८६॥

है – ऐसा यहाँ पूर्वपक्षाभिप्राय समझाते हैं। परिहारग्रंथ (श्लो० २८८) के अनुकूल यह व्याख्यान ग्राह्य है।

पुरी जी का भी अभिप्राय ऐसा ही है: अध्ययनविधि से गृहीत वेद मोक्षरूप एक ही प्रयोजन वाला है अतः उपक्रमगत कर्मवाक्य भी मोक्षफलक ही हैं। ब्रह्मज्ञान तो कर्मशेष है नहीं कि ज्ञानफल अर्थवाद हो। अतः समग्र वेद मोक्षार्थ होने से एकवाक्य है और ज्ञाननियोग में ही उसका तात्पर्य है अर्थात् अधिकारी का कर्तव्य है कि वह निजमें ब्रह्मज्ञान उत्पन्न करे। इस प्रकार सारे वेद की एकवाक्यता संभव रहते वाक्यभेद की कल्पना द्वारा प्रयोजन साधन और अधिकारी का भेद मानना ग़लत है।

यद्यपि शास्त्रप्रकाशिकाकार का भी अर्थ ऐसा ही है अतः उन्होने कहा है 'निःशेषकर्मानुष्ठानानन्तरं ज्ञाननियोगमनुतिष्ठतः मुक्तिः', तथापि उनके द्वारा प्रदर्शित उपक्रमोपसंहारानुसार यह तात्पर्य ध्वनित होता है कि कर्मों से स्वर्गादि तो होगा ही, यदि ज्ञान भी कर लिया तो स्वर्गादि की जगह मोक्ष हो जायेगा। विद्यासागरादि का अभिप्राय लगता है कि मोक्ष से ही कर्मों की सफलता है, ज्ञानसे स्वतंत्र केवल कर्मों की नहीं ॥२८४-२८५॥

उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं–

ऐसा नहीं है। काण्ड द्वय कैसे भिन्न वाक्य हैं और कैसे एक वाक्य हैं यह हम पहले समझा चुके हैं। इसलिये आपके द्वारा कही शंका इस विषय में उठ सके यह संभव नहीं है ॥२८६॥

श्लोक २७८ में काण्डों की वाक्यैकवाक्यता का समर्थन किया जा चुका है। लेकिन दोनों के फल स्वतंत्र हैं अतः अधिकारी आदि भिन्न ही हैं यह भी वहाँ बता चुके हैं। अतः एकाधिकारिता आदि की शंका असंगत है।

श्रीनृसिंह पुरी स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान-नियोग के आधार पर एकवाक्यता का प्रयास इसलिये ग़लत है कि ज्ञाननियोग है ही नहीं; वेदान्त सिद्धवस्तुपरक हैं और कर्मवाक्य साध्यपरक हैं, अतः वाक्यों का भेद स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, कर्मवाक्य स्वर्गादि फल से सफल हैं, मोक्ष से ही सफल होंगे ऐसी बात नहीं। यद्यपि विविदिषावाक्य से मोक्ष-सम्बंध प्रतीत हो सकता है तथापि संस्कार या विविदिषा द्वारा मोक्षसाधन ज्ञान के उपाय होने से ही उनका मोक्षसम्बंध सिद्ध हो जाता है अतः मोक्षसे सफलता होने का प्रसंग नहीं, संस्कारादि से ही उनका साफल्य सिद्ध हो जाता है। 'यज्ञेन' आदि में तृतीयाश्रुति को भी उपकारक हेतु का समर्पक समझा जा सकता है। साक्षात् वेदनहेतु समझने में एक तो यह विरोध है कि कर्म प्रमाण नहीं हैं कि उनसे साक्षात् प्रमा उत्पन्न होवे और दूसरी बात यह कि त्यक्तकर्मा को ज्ञान होना बताने वाली श्रुतियाँ प्रतिकूल हो जाती हैं। वचनबल से कर्म व कर्मत्याग को साधन मानने की अपेक्षा आरात् व सन्निपत्य कारणों के रूप में दोनों को स्थान देने में ही लाघव है व सभी श्रुतियों के प्रामाण्य की सुरक्षा है। अतएव विकल्प भी हेय है ॥२८६॥

जो तो उपक्रम-उपसंहार कहे थे वे इसलिये निर्णायक नहीं कि वाक्यभेद प्रमित है। मध्यमें आये उपक्रमादि ज्ञानमात्र में तात्पर्य वाले भी मिल जाते हैं जिससे वाक्यभेद निश्चित हो जाता है। अन्यथा पुरोहित, ऋत्विग् आदि सर्वरूप अग्नि के वर्णन से प्रारंभ होने वाली और 'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज्य' (अथर्वशिखा) इस प्रकार अभिन्न शिव में समाप्त होने वाली सारी वेदराशि को अद्वैत में ही एकवाक्य क्यों न मान लिया जाये? यहाँ ध्येय से विधान नहीं बल्कि ध्येय शिव का विशेषण है और ऐक्य का विधान है ऐसा स्वीकार कर उपक्रमानुकूल्य स्थापित क्यों न किया जाये? किं च एकवाक्यता हो तो दर्वीहोम-सत्रान्त एक ही कर्म होना चाहिये और मीमांसा का द्वितीयाध्याय ही निर्विषय हो जाना चाहिये। अपूर्वता, फल और उपपत्ति भी तात्पर्यलिंग हैं और उन से तात्पर्यभेद ही सिद्ध होता है न कि तदैक्य। अतः उदाहृत उपक्रमादि आभासमात्र हैं इसलिये भगवान् वार्तिककार ने उनके आधार पर की शंका की उपेक्षा कर दी।

वेदोक्त सभी कर्म कर चुका व्यक्ति ही ज्ञान में अधिकारी है यह जो वादी का अभिमान था उसे खंडित करते हैं–

नापि निःशेषवेदार्थमनुष्ठातुं क्षमो नरः । पुमायुषाऽपि येन स्यादात्मज्ञानेऽधिकारिता ॥२८७॥
संपदां चार्थवादत्वं तेन वेदान्तगोचरे । ज्ञानेऽधिकारिणोऽभावात्प्रामाण्यं क्षिप्यते स्वतः ॥२८८॥
किंच मानादविज्ञाता विमुक्तिः काम्यते न च । ज्ञातायां स्वात्मरूपत्वात्सुतरां नास्ति कामना ॥२८९॥

मनुष्य अपनी पूरी आयु लगाकर भी वेदविहित समस्त कर्म करने में सक्षम नहीं है कि वह (तुम्हारी रीति से) आत्मज्ञान का अधिकारी बन पाये ॥२८७॥

'शतायुर्वै पुरुषः' (तै०सं० १.३.७) आदि श्रुति से मनुष्य की पूर्ण आयु सौ वर्ष है। इतने काल में सब कर्म करना अत्यंत असंभव है। अतः यदि सब कर्म करने से ज्ञानाधिकार मिले तो ज्ञानाधिकार ही अविद्यमान होगा जिससे ज्ञाननियोग सिद्ध नहीं होगा यह अर्थ है। जन्मान्तरीय कर्मों की गणना से भी अधिकार नहीं मान सकते क्योंकि उनके ज्ञान का उपाय नहीं और पूर्व जन्म अनन्त होने से सभी कर्म किये जा चुकना सम्भव होने से सभी का ज्ञानाधिकार स्वतः सिद्ध हो जायेगा जिससे कर्मविधान ही अनर्थक हो जायेगा ॥२८७॥

दोनों काण्डों का अधिकारी एक ही है ऐसा मानने वाले से सिद्धान्ती पूछता है: स्वर्गादि की कामना वाला दोनों का अधिकारी है, या ज्ञान की कामना वाला? दोनों ही असंगत हैं यह कहते हैं–

(तुम्हारी कल्पनानुसार) स्वर्गादि सम्पत्तियों का वर्णन केवल अर्थवाद ही रह जायेगा और पूर्वोक्त हेतु से वेदान्तविषयभूत ज्ञान का अधिकारी सिद्ध नहीं होगा; इस प्रकार काण्डद्वयात्मक वेद स्वयं ही प्रमाण नहीं रह जायेगा ॥२८८॥

यागादि केवल ज्ञानशेष ही हैं ऐसा जो पक्ष श्लोक २८४-२८५ में उठाया था उसमें यह दोष है कि कर्मों के अपने जो स्वर्गादि फल शास्त्र ने कहे हैं उन्हे केवल प्रशंसा मानना पड़ता है क्योंकि अंग का स्वतंत्र फल नहीं होता। एवं च स्वर्गादि की कामना वाला अधिकारी सिद्ध न होने से उसके प्रति वेद प्रमाण हो यह संभव नहीं। एक व्यक्ति सब कर्म कर सकता नहीं जो कोई ज्ञानाधिकारी बने जिसके प्रति वेद प्रमाण हो। अतः मीमांसाद्वयसंमत वेदप्रामाण्य एकाधिकारपक्ष में समाप्त हो जायेगा। इतना ही नहीं, स्वर्गादि के प्रति कोई कारण न रह जाने से सर्वत्र आकस्मिकत्व की आपत्ति भी होगी यह पुरी जी ने बताया है। आनन्दपूर्ण मुनीन्द्र 'सम्पदाम्' से उपासनायें समझते हैं। उनका कहना है कि अश्वमेधादि का जिन्हे अधिकार नहीं पर उनका फल चाहते हैं उनके लिये अश्वमेधादि-उपासनायें विहित हैं। यदि वेदोक्त सकल कर्म करने वाला अधिकारी हो तो उपासनाविधियाँ विवक्षितार्थक न होंगी। तात्पर्य है कि अश्वमेधादि सफल होते तभी उन फलों की कामना वाला उन उपासनाओं का अधिकारी होता। जब वे सफल नहीं तो उपासनाविधि किसे विषय करे? यदि कर्म का भी मोक्ष ही फल होने से तत्कामी ही उपासना में अधिकार पा ले तो भी नाना उपासनाओं के प्रातिस्विक फलों को अर्थवादरूप मानना होगा जो अयुक्त है। प्रबल प्रमाण के बिना श्रुत्युक्त फल को अर्थवाद कहना साहसमात्र है ॥२८८॥

और भी कारण है कि ज्ञानाधिकारी के लिये तुम्हारे मत से वेद प्रमाण नहीं रह जायेगा, यह बताते हैं–

किं च, प्रमाण से न जाने गये मोक्ष की कामना नहीं की जा सकती और जाना हुआ मोक्ष क्योंकि स्वात्मरूप होता है इसलिये उसकी कामना नहीं हो सकती ॥२८९॥

अनुभूत के विषय में ही कामना हो सकती है। अन्यत्र चाहे अनुभूत-जातीय की कामना हो जाये, मोक्ष एक ही होने से उसकी कामना के लिये उसका अनुभव चाहिये। अतः न जाना हुआ मोक्ष कामित न हो सकने से मुमुक्षुरूप ज्ञानाधिकारी कैसे सिद्ध होगा? मोक्ष को जान लेने पर भी उसकी कामना होगी नहीं क्योंकि मोक्ष आत्ममात्ररूप होने से उसकी प्रमिति ही उसकी प्राप्ति है। प्राप्तविषयक कामना नहीं होती, अप्राप्त व याद आयी वस्तु की ही कामना होती है। यदि कहो कि मोक्ष का कथंचित् ज्ञान होने से अधिकार हो जायेगा तो बताओ वह ज्ञान भ्रम होगा या प्रमा? भ्रम हो तो वह अधिकारसमर्पक नहीं हो सकता क्योंकि शास्त्रीय अधिकार भ्रमप्रयुक्त कहीं माना नहीं जाता। अतः मोक्षज्ञान प्रमा होना

न युक्तं कामना मुक्तौ पुंसां नास्तीति भाषितुम् । देशकालानवच्छिन्नसुखाद्यर्थित्वदर्शनात् ॥२९०॥
किंच ज्ञानमदृष्टार्थमग्निहोत्रादिवद्यदि । ततोऽधिकारिचिन्ता स्यात्कृतेऽप्यफलशङ्कया ॥२९१॥

पड़ेगा। लोकसिद्ध वस्तु न होने से शास्त्र ही उसकी प्रमा करा सकता है और शास्त्र मोक्ष का सिद्धरूप से उपदेश देता है न कि साध्यरूप से। अतः शास्त्रप्राप्त मोक्षप्रमा होने पर साध्यरूप से मोक्ष अनुपस्थित होने से मोक्षकामना संभव नहीं। फलतः वेद किसके प्रति प्रमाण होगा?

कल्पलता में यह श्लोक सिद्धान्ती के प्रति प्रश्न है और अगले श्लोक में उत्तर है ॥२८९॥

पूर्ववादी सिद्धान्ती से पूछता है कि तुम भी मुमुक्षा को अधिकारी का विशेषण मानते हो अतः तुम्हे भी पूर्वश्लोकोक्त समस्या सुलझानी पड़ेगी अन्यथा तुम्हारे अनुसार वेदान्त ही किस के प्रति प्रमाण होगा? इसका उत्तर देते हैं–

यह कहना ठीक नहीं कि लोगों को मोक्ष की कामना नहीं है क्योंकि देश-काल की सीमा से रहित सुखादि सब चाहते हैं ॥२९०॥

'मुझे सम्पूर्ण सुख हो, दुःख किंचिद् भी न हो' ऐसा सभी चाहते हैं और दुःखरहित निःसीम सुख ही तो मोक्ष है। अतः मोक्ष के प्रति कामना स्वतः सिद्ध होने से सिद्धान्ती को उसे उपपन्न नहीं करना पड़ता। वैसे, उपपत्ति हो भी जाती है: आत्मा का ब्रह्मभाव ही मोक्ष है जो स्वप्रकाश होने से अज्ञात नहीं कि उसकी इच्छा न हो सकते किन्तु प्रमाण से ज्ञात भी नहीं कि वह प्राप्त हो चुकने से काम्य न हो! अतः स्वरूपतः ज्ञात और प्रमाण से अज्ञात मोक्ष की कामना संगत है। इसलिये सिद्धान्त में अधिकारी का वर्णन संभव है जिसके लिये वेदान्त प्रमाण हो जायेंगे। उसी को कर्मकाण्डाधिकारी नहीं कह सकते क्योंकि कर्म का मोक्ष से विरोध है यह तात्पर्य है।

यद्यपि अन्यत्र मोक्षेच्छा को दुर्लभ कहा है, पंचपादिका में रागियों को सियार बनना मंजूर है मुक्त होना नहीं ऐसा बताया है (पृ० ३६४), लोकसिद्ध मुक्ति प्रत्यङ्मात्र की मुक्ति से अलग ही है ऐसा सर्वज्ञगुरु ने (१.१८३) भी समझाया है तथापि प्रकृत वार्तिक का इतना ही अभिप्राय है कि मोक्षकामना उपलब्ध होती है अतः उसका अपलाप संभव नहीं। दुर्लभतोक्ति निर्विशेषमोक्ष की तीव्रतर इच्छा के विषय में समझनी चाहिये। रागिगीत शास्त्रसंस्कारशून्यों के या वैराग्यलेशरहितों के भाव का व्यंजक है। सर्वज्ञवचन भी मोक्षस्वरूप की अवाच्यता बताकर लक्ष्यता समझाने के लिये है। दुःखराहित्य व निःसीम सुख इतना ही जब मोक्ष कहा जाये तो सब बुद्धिमानों का काम्य है ही यह वार्तिकार्थ है ॥२९०॥

और भी हेतु है कि सिद्धान्तानुसार अधिकारिलाभ होने से वेदान्तों का प्रामाण्य बना रहता है जो वादी के अनुसार संभव नहीं–

किं च, यदि अग्निहोत्रादि की तरह ज्ञान अदृष्टार्थ होता तब उसके अधिकार का विचार करना पड़ता क्योंकि 'ज्ञान करने पर भी फल होगा या नहीं' ऐसी शंका संभव रहती ॥२९१॥

वादी ज्ञाननियोग मानता है अतः अग्निहोत्र के समान ज्ञान को अदृष्टार्थ स्वीकारने से उसे अधिकार का निर्वचन करना आवश्यक है क्योंकि अधिकार – निश्चय के बिना कोई उसके लिये प्रवृत्त नहीं हो सकेगा कारण कि यह शंका रहेगी कि ज्ञान से मुझे फल होगा कि नहीं? अधिकार – निर्वचन के बाद तो शास्त्राधार पर नियोज्य को निश्चय रहता है कि क्योंकि मैं अधिकारी हूँ इसलिये मेरा फलस्वाम्य अवश्य होगा। अतः वादी के लिये यह आपत् है कि मोक्षेच्छा मोक्षज्ञान से होगी या नहीं इत्यादि।

सिद्धान्त में तो ज्ञान अदृष्टार्थ है नहीं बल्कि दृष्टफलक ही है। ज्ञान का फल अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध है। जहाँ भी भ्रमवश बंधन होता है वहाँ ज्ञानमात्र से मोक्ष होता है यह लोकसिद्ध है। अतः खेती करने से सस्यलाभ की तरह ज्ञान से मोक्ष होता है यह निश्चय शास्त्रकी अपेक्षा नहीं करता। इसलिये मोक्षकामना संगत हो जाती है व तत्काम अधिकार पा

कामिनाऽप्यग्निहोत्रादि शूद्रेणानधिकारिणा । कृतमप्यफलं तेन यत्नात्तत्र निरूप्यते ॥२९२॥

जाता है। ज्ञान है दृष्टफलक अतः 'ज्ञान कर लिया, अब मुझे मोक्ष मिलेगा कि नहीं?' ऐसी शंका संभव नहीं। एवं च अधिकार-निर्वचन की कोई ज़रूरत नहीं। श्रवण की विधि होने से उसके अधिकार का निर्वचन हमें इष्ट है, ज्ञान की विधि नहीं अतः अधिकार के निर्वचन की आवश्यकता नहीं। अतः 'त्रिषु यादृच्छिकी सिद्धिः' इत्यादि नैष्कर्म्यसिद्धि (२.३) भी संगत है। श्रवणाधिकारी को मुमुक्षु होना पड़ेगा अतः मुमुक्षा का निरूपण पूर्वश्लोक में कर चुके है। यद्यपि मोक्षज्ञान प्रमा होने पर मोक्ष प्राप्त हो जाने से मोक्षेच्छा संगत नहीं तथापि प्रतिबद्ध रहने पर संगत ही है यह समझ लेना चाहिये। वादी के मत में दृष्टार्थता न होने से प्रतिबंध संभव नहीं जिससे वह ऐसी उपपत्ति नहीं दे सकता ॥२९१॥

मीमांसक शंका करता है: जैसे ज्ञान वेदोक्त उपाय है ऐसे ही अग्निहोत्रादि भी हैं। अतः यदि ज्ञान के लिये अधिकार का निर्धारण नहीं चाहिये तो अग्निहोत्रादि के लिये भी उसकी ज़रूरत न होगी। शास्त्र में अधिकार बताया है, वह बताना व्यर्थ होगा। बिना अधिकार के अग्निहोत्रादि में प्रवृत्ति क्यों होगी? यह पूछो तो सीधा उत्तर है कि स्वर्गादि की इच्छा होने पर उनमें प्रवृत्ति हो जायेगी जैसे मुमुक्षा से ज्ञान में प्रवृत्ति तुम मान रहे हो। इसलिये ज्ञान में अधिकारविचार को स्थान न देने से कर्म में भी वह स्थान नहीं पायेगा जो किसी को इष्ट नहीं।

इसका समाधान करते हैं-

स्वर्गादि चाहने वाले भी किन्तु अनधिकारी शूद्र द्वारा किया हुआ भी अग्निहोत्रादि निष्फल होता है इसलिये अदृष्टफलक कर्मों में अधिकार का निरूपण सार्थक है ॥२९२॥

यद्यपि कोई भी जानकार वक़ील वैसा ही फैसला लिख सकता है जैसा न्यायाधीश लिखता है तथापि न्यायाधीश का लिखा फैसला ही सफल हो पाता है, वक़ील के लिखे वे ही शब्द सफल नहीं होते क्योंकि वक़ील फैसला करने का अधिकारी नहीं। जैसे यह लौकिक कर्मों में न्याय है ऐसे ही शास्त्रविहित कर्मों के लिये शास्त्रोक्त अधिकार निश्चित हैं जिनके बिना किया कर्म सफल नहीं होगा बल्कि कभी-कभी दण्डनीय ही हो जायेगा जैसे अपराधी को भी यदि ग़ैर-पुलीस मार दे तो दण्डनीय होता है। अग्निहोत्रादि में शुद्र का अधिकार नहीं अतः सारे अंगकलापों का अनुष्ठान कर ले तो भी उसे उनका फल मिल नहीं सकता। इसलिये कोई भी विचारशील व्यक्ति अग्निहोत्रादि करने से पूर्व जानना चाहता है कि वह अधिकारी है या नहीं। एवं च अदृष्टफलक कर्मों के लिए अधिकार-निरूपण ज़रूरी है। वैदिक साधन भले ही ज्ञान व कर्म हैं लेकिन दोनों में यह अंतर है कि कर्म अदृष्टफलक है, जबकि ज्ञान नहीं। अतः वादिप्रयोग में अदृष्टफलकत्व उपाधि है।

ज्ञाननियोगवादी ज्ञानाधिकार का निर्वचन न कर पाने से वेदान्तप्रामाण्य की सुरक्षा नहीं कर पाता। सिद्धान्त में वह नियोग न होने से आपत् नहीं है यह तात्पर्य है ॥२९२॥

वादी अनुमान करता है: आत्मज्ञान, अदृष्टार्थ है, वेदोक्त साधन होने से, अग्निहोत्र की तरह। पुनश्च आत्मज्ञान, अधिकार-सापेक्ष है अदृष्टार्थ होने से, अग्निहोत्र की तरह।

सिद्धान्ती कहता है: पक्षभूत ज्ञान परोक्ष है या अपरोक्ष? यदि परोक्षज्ञान को अदृष्टार्थ व अधिकारापेक्ष कहो, तब सिद्धसाध्यता दोष होगा क्योंकि वह तो हमें स्वीकृत ही है। परोक्षज्ञान को हम अवहनन आदि की तरह दृष्टादृष्ट मानते हैं। परोक्ष से विचार में प्रवृत्त होना तो दृष्ट फल है जिसके लिये अधिकारचिंता नहीं चाहिये। लेकिन उसका अदृष्टफल भी है कि वह बुद्धिपूर्वक किये पापों को निवृत्त कर देता है आदि, उस फल के लिये अधिकारचिंता चाहिये। अवहनन चावल देता है और संस्कार करता है। कोई भी अवहनन करे तो चावल मिलने में रुकावट नहीं किन्तु संस्कार तभी होगा जब अधिकारी ने अवहनन किया होगा। ऐसे ही प्रकृत में है। अतः परोक्षज्ञान के अदृष्टफल की प्राप्ति अधिकारापेक्ष है यह हमें स्वीकृत होने से वादी का प्रयोग निष्प्रयोजन है। यदि अपरोक्षज्ञान को पक्ष मानो तो बनता नहीं यह कहते हैं-

अविद्याघस्मरज्ञानजन्ममात्रावलम्बिनः । पुमर्थस्याधिकं शास्त्रात्किंचिदत्र तु नार्थ्यते ॥२९३॥
कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात् । असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा ॥२९४॥
अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते । हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिदमेव च दर्शितम् ॥२९५॥

ज्ञानकाण्ड में तो शास्त्रसे होने वाले अविद्यासमापक ज्ञान के जन्ममात्र पर आश्रित पुरुषार्थ के होने में किसी अदृष्ट फल की ज़रूरत नहीं है (अतः ज्ञान में अधिकारविचार नहीं चाहिये) ॥२९३॥

मोक्षरूप पुरुषार्थ को केवल ज्ञान का सहारा चाहिये क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होते ही अविद्या रह नहीं जाती, कारण कि ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अज्ञान को मानो खा जाता है, निवृत्त कर देता है, और निवृत्ताविद्य आत्मा ही मोक्ष है। अतः मोक्ष को किसी अदृष्ट की ज़रूरत न होने से अधिकार-विचार निष्प्रयोजन है। टीकानुसार शास्त्र का संबंध ज्ञान से है और 'सद्भावे' यह अध्याहार है। पुरी जी के अनुसार अर्थ है कि उक्त विशेषण वाले पुरुषार्थ को शास्त्र से अन्य कुछ अनुष्ठेय की ज़रूरत नहीं है। शास्त्र से ही पुरुषार्थ हो जाता है। उनकी व्याख्या है: 'अविद्याघस्मरज्ञानजन्मनः शास्त्रान्वयव्यतिरेकित्वात् शास्त्रादन्यद् अनुष्ठेयं नापेक्षते येन अर्थित्वविद्वत्तासामर्थ्यलक्षणमधिकारमपेक्ष्येतेत्यर्थः।' अतः 'पुमथर्स्य' में कर्त्रर्थक षष्ठी है या 'कृते' ऐसा अध्याहार है यह तात्पर्य है। कुछ लोग – शास्त्र से पुमर्थ ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं – ऐसी व्याख्या करते हैं। सर्वथापि तात्पर्य इतना ही है कि ज्ञान से मोक्ष में अदृष्ट का उपयोग न होने से अधिकार-निरूपण नहीं चाहिये ॥२९३॥

पुनः वादी आक्षेप करता है – शास्त्र से अविद्यानिवर्तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता क्योंकि देखा जाता है कि जिन्होंने शास्त्रको सुना है उन्हे वैसा ज्ञान नहीं हुआ। शास्त्रातिरिक्त कोई कारण है नहीं जो ज्ञान उत्पन्न करे। अतः ज्ञान होता ही नहीं है। यह आक्षेप व इसका उत्तर स्वयं आचार्य बताते हैं–

वह ज्ञान होता कैसे है? प्रतिबन्ध के परिक्षीण होने से वह ज्ञान होता है। वह प्रतिबन्ध भी क्या भूतकालिक है, या भावी है या वर्तमान है? ॥२९४॥

पूर्वश्लोक में 'शास्त्रात्' से ज्ञानोपाय उक्त होने से यहाँ प्रश्न न मानकर आक्षेप माना है। अथवा सामग्री बताने के लिये प्रश्न ही उठाया है यह समझना चाहिये। पाप, तात्पर्य न समझना, असंभावना, आदि प्रतिबंधकों के रहते शास्त्र सुनने से भी तत्त्वज्ञान संभव नहीं।

पुनः वादी ने प्रतिबंधक के बारे में पूछा कि वह भूत, भावी या वर्तमान कैसा है? प्रष्टा का तात्पर्य है कि भूतकालिक हो नहीं सकता क्योंकि तब वह वर्तमानकालिक ज्ञान में प्रतिबंध नहीं कर पायेगा जैसे मृत शत्रु जीवित देवदत्तादि को पीडित नहीं करता। ऐसे ही भावी होने पर भी वह कारगर नहीं होगा। वर्तमान प्रतिबंध कहा नहीं जा सकता क्योंकि जिसने ज्ञानहेतुओं का अनुष्ठान कर लिया है उसे ज्ञान होने में कोई प्रतिबंधक है इसमें प्रमाण नहीं। इसलिये तीनों तरह के प्रतिबंध असंभव होने से सिद्धान्ती का उत्तर ग़लत है, फलतः शास्त्र ज्ञानजनक नहीं अतः मोक्षोपाय कर्म ही संभव है ॥२९४॥

ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने में वर्तमानकालिक प्रतिबंध है यह सप्रमाण सिद्ध करते हैं–

जिसने वेद और वेदार्थ का अध्ययन कर लिया है वह भी प्रतिबन्ध के कारण ही मुक्त नहीं होता। हिरण्यनिधि के दृष्टान्त से प्रतिबन्धकरूप पाप ही दिखाया गया है ॥२९५॥

सामग्री रहते कार्य न हो तो प्रतिबंधक का सद्भाव माना जाता है। वेद-वेदार्थ पढ़कर भी मोक्षहेतु ज्ञान नहीं होता अतः प्रतिबंधक अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध है। कारणीभूताभावप्रतियोगितारूप प्रतिबंधकता अनिष्ट होने पर भी कारण रहते कार्यानुत्पत्तिप्रयोजकतारूप प्रतिबंधकता स्वीकारने में कोई हर्ज़ नहीं। अथवा अनुत्पत्ति अनादि होने से कारणकालिक कार्यान्तरसद्भावप्रयोजकतारूप प्रतिबंधकता माननी चाहिये अतः अर्थापत्ति से ज्ञान में वर्तमान प्रतिबंध सिद्ध है। वह पूर्वार्जित पापरूप है यह 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' (   ), 'कषाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रजायते'

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥२९६॥
इत्यादिनाऽपि विज्ञानं नादृष्टार्थमितीरितम् । तथा स ब्राह्मणः केन स्याद्येनेति प्रदर्शितम् ॥२९७॥
आत्यन्तिकसुखानर्थप्राप्तिविच्छेदकाङ्क्षिणः । प्रीत्युत्कर्षोऽपि लोकेऽस्मिन् दृष्टः स किं न काम्यते ॥२९८॥

(   ), 'येषान्त्वन्तगतं पापं जनानाम्' (गी० ७.२८), 'तपोभिःक्षीणपापानाम्' (आत्मबोध० १) इत्यादि शास्त्र से पता चलता है। असंभावनादि पुरुषापराध भी पूर्वाचार्यों द्वारा वर्णित हैं एवं लोकसिद्ध प्रतिबन्धक हैं। भगवान् बादरायण ने (३.४.५१) स्पष्ट किया है कि प्रतिबंध न रहे तो यहाँ भी फल उपलब्ध हो जाता है अन्यथा प्रतिबंध निवृत्त होने पर फल मिल जाता है। श्रुति ने (छा० ८.३.२) भी यह समझाया है: किसी खेत में हिरण्यनिधि – स्वर्ण का खजाना – गड़ा हो तो ग़ैरजानकार लोग उस पर से गुज़रते रहते हैं पर खजाने को नहीं जान पाते, प्राप्त नहीं कर पाते। इसी तरह अनृत से ढके हुए जीव प्रतिदिन परमात्मा तक पहुँचकर लौट आते हैं, जान नहीं पाते। इस श्रुतिप्रसंग से भी प्रतिबन्ध की जानकारी मिल जाती है ॥२९५॥

विद्वान् के प्रत्यक्ष से निश्चित है कि ज्ञान दृष्ट फल वाला है अतः अग्निहोत्रादि की तरह उसके विषय में अधिकार का विचार आवश्यक नहीं यह स्पष्ट किया। यही बात मंत्र से सिद्ध है यह बताने के लिये मुण्डकोपनिषत् (२.२.८) का उद्धरण देते हैं–

'उस परावर का ज्ञान हो जाने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है, सब संशय दूर हो जाते हैं और इस जानकार के कर्म क्षीण हो जाते हैं' इत्यादि से भी यह कहा गया है कि अखण्डानुभव अदृष्ट प्रयोजन वाला नहीं है। ऐसे ही 'वह ब्राह्मण किस व्यवहार वाला होगा? जिस भी व्यवहार वाला होगा मुक्त ही होगा।' (बृ० ३.५.१) इत्यादि से भी यही प्रदर्शित है ॥२९६-२९७॥

'पर' है हिरण्यगर्भ, वह भी जिससे अवर (छोटा) है वह परमेश्वर परावर है। अथवा 'पर' अर्थात् अव्यक्त (माया) जिससे अवर है वह परावर है। अथवा जो बिम्बरूप से पर और प्रतिबिम्बरूप से अवर है वह परावर है। उस परावर के साक्षात्कार से अहंकार रूप गाँठ खुल जाती है, समाप्त हो जाती है, निःसंदिग्ध निष्ठा होती है अतः प्रारब्धातिरिक्त कर्म जल जाते हैं। इस प्रकार श्रुति ने ज्ञान से तुरंत फल कहा, अदृष्ट के लिये स्थान नहीं छोड़ा। ऐसे ही 'आत्मज्ञानी शोक से परे हो जाता है' (छां० ७.१.३), 'ज्ञानरूप आग सब कर्म जला डालती है' (गी० ४.२७) आदि बहुतेरे वाक्य हैं। 'इत्यादि से भी'–इस 'भी ' से विद्वानों के प्रत्यक्ष का संग्रह है। बृहदारण्यकवाक्य भी स्पष्ट करता है कि तत्त्वनिष्ठा की अवस्था ही मुख्य ब्राह्मण होना है जिसके बाद एकरूप चिन्मात्र ही रहता है, उसकी कोई प्रवृत्ति-निवृत्ति होती ही नहीं। क्षेत्र चाहे जैसा बना रहे। अष्टावक्रगीता में यह प्रसंग बहुत विस्तृत रूप से स्पष्ट है। यहाँ आचरण के प्रति अनादर नहीं बल्कि ज्ञानी की स्तुति है ऐसा इस वाक्य के भाष्या में बताया है। सर्वथापि ज्ञान का फल दृष्ट है यह इन वाक्यों से निश्चित हो जाता है अतः अधिकारचिंता का प्रसंग नहीं हैं ॥२९६-२९७॥

अब ज्ञानकर्मसमुच्चय के आधार पर काण्डों की एकवाक्यता मानने वाला वादी प्रश्न उठाता है: आत्मज्ञान दृष्ट फल वाला हो तो भी सिद्धान्ती को बताना चाहिये कि मुमुक्षु का ज्ञान में अधिकार निश्चित है या अनिश्चित? यदि अनिश्चित माने तब तो स्वर्गादि चाहने वाला भी ज्ञान में सफल प्रवृत्ति कर पायेगा, अतः सिद्धान्ती वैसा नहीं मान सकता। और यदि निश्चित माने तो जिस ढंग से सिद्धान्ती निश्चय करेगा उसी से पूर्वपक्षी भी मुमुक्षु का अधिकार निश्चित कर लेगा और श्लोक २८९ में जो सिद्धान्ती ने आक्षेप किया था कि पूर्वपक्षानुसार मुमुक्षा असिद्ध है और मुमुक्षु के प्रति ही समूचा वेद प्रमाण होने से वेद के अप्रामाण्य की प्राप्ति है; वह आक्षेप अयुक्त हो जायेगा। इस अभिप्राय से वादी कहता है –

आत्यन्तिक सुखप्राप्ति और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति इन दोनों को चाहने वाले को होने वाला जो भी प्रसन्नता का उत्कर्ष लोक में देखा जाता है वह मोक्ष है, उसकी कामना क्यों नहीं की जा सकती (कि मुमुक्षु दुर्लभ हो)? ॥२९८॥

दृष्टादृष्टार्थसंबन्धिप्रीत्युत्कर्षाविशेषतः । नाऽऽनन्दादन्यतो मुख्यात्पण्डितः पर्यवस्यति ॥२९९॥
किंतु साधनसाध्यत्वादनित्यं कर्मजं सुखम् । अभिव्यञ्जकतन्त्रस्तु मोक्षस्तेनाक्षयो मतः ॥३००॥

अभीष्ट सुख मिलना और अनर्थ की हानि – इनसे अन्य ही मोक्ष हो ऐसा हम पूर्वपक्षी नहीं मानते। 'मुझे सुख हो, दुःख कभी न हो' ऐसी कामना से सिद्धान्ती मानता है कि मोक्ष सब चाहते हैं, उसी तरह पूर्वपक्षी मोक्षकामना उपपन्न कर सकता है। अतः मुमुक्षा सिद्ध होने से एकवाक्यता को प्राप्त काण्डद्वय मुमुक्षु को अधिकारी मानकर प्रमाण हैं यह भाव है। 'प्रीत्युंत्कर्षोऽपि' इस अपिकार से अत्यन्त अनर्थ के विच्छेद का उत्कर्ष भी समझ लेना चाहिये।

न्यायकल्पलतिका तथा न्यायतत्त्वविवरण में यह पूर्वपक्षवचन नहीं, सिद्धान्ती का वचन है। उन्होंने श्रवणाधिकार को संभव बनाने के लिये इस वार्तिक की प्रवृत्ति मानी है। किन्तु शास्त्रप्रकाशिका में श्लोक ३०४½ तक सुमच्चयवादी ही ऊहापोह से अपना पक्ष प्रस्तुत कर रहा है यह स्मरणीय है ॥२९८॥

सिद्धान्ती पूछता है: प्रसन्नता का उत्कर्ष (= आधिक्य) मोक्ष नहीं है बल्कि स्वर्ग है। अतः प्रीत्युत्कर्ष चाहने वाला तो स्वर्गेच्छुक है न कि मुमुक्षु। इसलिये मुमुक्षु के प्रति उभयकाण्डप्रामाण्य कैसे? समुच्चयवादी जवाब देता है–

दृष्ट और अदृष्ट पदार्थों के सम्बन्ध से होने वाले प्रसन्नताके उत्कर्ष से अविशेषित मुख्य आनन्द से अन्य सुख को विचारशील लोग नहीं चाहते ॥२९९॥

'मुझे सुख हो' इस इच्छा में पुत्रादि दृष्ट हेतु या यागादि अदृष्ट हेतु से सम्बद्ध प्रसन्नता का आधिक्य विशेषणरूप से भासता नहीं है अतः यह इच्छा निर्विशेष प्रीत्युत्कर्ष को ही विषय करती है। फलतः यह इच्छा स्वर्ग की नहीं क्योंकि स्वर्ग तो सविशेष सुख है। अतः विचारशील मोक्षरूप मुख्य आनन्द को ही चाहता है, उससे अन्य स्वर्गादि को नहीं। एवं च मुमुक्षु सिद्ध हो जाता है यह समुच्चयवादी का अभिप्राय है।

उक्त टीकाद्वय में यह सिद्धान्ती का कथन है। स्वर्गकाम से भिन्न विवेकी मोक्षकाम यहाँ सिद्ध हो जाता है। पुरी जी ने सूचित किया है कि इस प्रसंग में प्रीत्युत्कर्ष अनुमानसिद्ध है। प्रसन्नता का तारतम्य अनुभवसिद्ध है, उसके आधार पर सर्वाधिक प्रसन्नता का अनुमान हो जाता है जैसे तार्किक पदार्थ टूटने पर छोटे टुकड़े दीखने से परमाणु का अनुमान कर लेते है। दृष्ट सुख में अतिशय की तरह अदृष्ट सुख का अतिशय भी अदृष्ट सुख का उत्कर्ष सिद्ध करता है ॥२९९॥

विचारशील स्वर्गादि की कामना नहीं करता इसमें समुच्चयवादी और युक्ति देता है –

और भी, कर्म से होने वाला स्वर्गादिसुख साधनों से सिद्ध होता है अतः अनित्य है, जब कि मोक्ष को केवल अभिव्यंजक का सहारा चाहिये जिससे वह अक्षय माना गया है ॥३००॥

खेती आदि का फल जैसे अनित्य है ऐसे ही यज्ञादि का भी क्योंकि दोनों फलों में साध्य होना समान है, अतः विचारशील यज्ञादि के फल स्वर्गादि को न चाहकर मोक्ष चाहता है! मोक्ष साधन से साध्य नहीं कि अनित्य हो। वह केवल अभिव्यंजक की अपेक्षा रखता है। उपस्थित वस्तु की प्रतीति हो जाये – इसके अनुकूल जो हो उसे अभिव्यंजक कहते हैं।

उक्त टीकाद्वय में विवेकी की स्वर्गेच्छा न होने में सिद्धान्ती ने इस श्लोक से युक्ति कही है। पुरी जी ने अनित्य से सातिशय की भी उपलक्षणा बतायी है। लौकिक सुख की तरह स्वर्ग सातिशय सुख है और वैसे ही उसके मध्य में दुःख रहता है तथा समाप्ति भी होती है जिससे दुःख होता है। अतः 'जिसके मध्य में दुःख न हो, बाद में दुःख न हो और इच्छा होते ही उपस्थित हो जाये ऐसा सुख स्वर्ग है' इत्यादि मनगढन्त स्वर्गलक्षण अप्रामाणिक है। अभिव्यंजकाधीन कहकर मोक्षकामना सिद्धान्त में उपपन्न है क्योंकि विस्मृत चामीकर की कामना देखी ही जाती है ॥३००॥

सिद्धान्ती पुनः प्रश्न करता है: काण्डद्वय को भिन्न वाक्य तुम मानते नहीं क्योंकि तब आपस में विरोधी अर्थ वाले होने से दोनों काण्ड अप्रमाण हो जायेंगे ऐसा तुम्हे भय है। अतः तुम्हे उनकी एकवाक्यता इष्ट है। ज्ञानकाण्ड-अर्थ तो

संस्कारमात्रकारित्वं सर्वेषामपि कर्मणाम्। ज्ञानकाण्डे प्रवेशो वा तेषां नार्थान्तरं ततः ॥३०१॥
एवमत्रैकवाक्यत्वं नानुष्ठेयसमाप्तितः ॥३०२॥
असारफलसंप्राप्तिः पुमर्थो नेष्यते यतः। तृष्णया साधयन्प्रीतिं न प्रीतिलवमिच्छति ॥३०३॥

कर्मकाण्ड के अर्थ का कोई उपकार करता नहीं अतः ज्ञानकाण्ड शेषी है, शेष नहीं, कर्मकाण्ड ही ज्ञानकाण्ड का शेष होने से उससे एकवाक्यता वाला है यह तुम्हारा सिद्धान्त है। इसलिये तुम्हे मानना होगा कि वेदोक्त सभी कर्म कर चुके व्यक्ति को ही ज्ञान में अधिकार है व इस मान्यता में दोष श्लोक २८७ में दिया जा चुका है। अतः तुम्हारा पक्ष संभव कैसे है? समुच्चयवादी उत्तर देता है–

सभी कर्म केवल संस्कार करते हैं (अतः हमारा पक्ष संभव है)। अथवा कर्मों का ज्ञानकाण्ड में ही प्रवेश है अर्थात् ज्ञानफल से अन्य फल कर्मों का नहीं है। इस प्रकार हमारे मत में एकवाक्यता है न कि सब कर्म करके ज्ञान में प्रवृत्ति रूप एकवाक्यता॥३०१-३०२॥

समुच्चयवादी कहता है कि कर्मकाण्ड को हम ज्ञानकाण्ड का शेष मानते हैं जिसका अभिप्राय है कि पुरुषका संसकार करने से कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड का उपकारक है। इस पर जो यह दोष दिया था कि सब कर्म कर पाना पुरुष की पूर्णायु में भी संभव नहीं (श्लो० २८७), वह इसलिये हम पर नहीं लगता कि हम जन्मांतर में अनुष्ठित कर्मों को भी संस्कार करने वाला मानते हैं जिस संस्कार से वे कर्म आत्मज्ञान में अधिकार दिलाने वाले होकर ज्ञानकाण्ड के शेष हो जाते हैं। जन्मान्तरानुष्ठित कर्म अदृष्ट हैं अतः अधिकार का निश्चय नहीं हो पायेगा क्योंकि 'मैंने सब कर्म कर लिये' ऐसा किसी को पक्का पता नहीं चलेगा; यह भी हमारे पक्ष में दोष नहीं कारण कि हम अदृष्ट कर्मों को ही कार्यकारी मान लेते हैं अर्थात् 'मैं ज्ञानाधिकारी हूँ' ऐसे निश्चय के लिये अपने किये सब कर्मों का ज्ञान चाहिये यह हम मानते नहीं। स्वरूपसत् कर्म ही पूरे हो जाते हैं तो अधिकारनिश्चय हो जाता है यह माना जा सकता है।

कर्म पुरुष का संस्कार ही करने से ज्ञानशेष हैं यह मानना लगभग शाङ्करमत जैसा ही हो जाता है अतः इस परिहार से वादी को सन्तोष नहीं हुआ तो अथवा से मुख्य परिहार दिया है। कर्म का फल वही मोक्ष है जो ज्ञान का फल है। इसलिये ज्ञानफल के प्रति कारण पड़ने वाले होने से कर्म ज्ञानकाण्ड में प्रविष्ट हैं। प्रधान होकर ज्ञान और गौण होकर कर्म यों दोनों मिलकर मोक्ष देते हैं यह तात्पर्य है। इस प्रकार वादी एकवाक्यता संगत करता है। अतः सब कर्म करने पर ज्ञानाधिकार होगा यह माना ही नहीं जिससे पूर्वोक्त आपत् आये यह अभिप्राय है।

आनन्दपूर्ण तथा नृसिंह पुरी दोनों आचार्य यह भी सिद्धान्त ग्रंथ है ऐसा मानते हैं। यहाँ वाक्यैकवाक्यता स्वीकारी गयी है यह तात्पर्य है ॥३०१-३०२॥

सिद्धान्ती कहता है कि ज्ञानफल से अतिरिक्त फल कर्मों का नहीं यह श्लोक ३०१ में कही बात ठीक नहीं। मोक्ष के लिये किये गये कर्मों से भी गौण फल के रूप में स्वर्ग होगा ही। अतः तुम्हारे मत में ज्ञानाधिकार उसे ही होगा जिसने सभी कर्मफल भोग लिये हैं। अनंत कर्मों का फल अनंत होगा अतः कर्मफल पूरा न होने से ज्ञानाधिकार होगा ही नहीं यह अभिप्राय है।

इस का प्रतिवाद समुच्चयवादी करता है–

तृष्णा से सुख का सम्पादन करता व्यक्ति क्योंकि कम सुख नहीं चाहता इसलिये असार फल की प्राप्तिरूप पुरुषार्थ (विचारशील को) इष्ट नहीं है ॥३०३॥

मुमुक्षु कर्म मोक्ष के लिये करता है और मोक्ष के मुख्य हेतु ज्ञान को भी संपन्न करता है। मोक्ष-भिन्न स्वर्गादि वह चाहता ही नहीं क्योंकि स्वर्गादि को वह अल्प मानता है। जैसे भूमण्डल पर एकच्छत्र राज्य के लिये उत्साह से प्रयासशील

प्रीतेःश्रुतः प्रकर्षोऽपि स्वर्गस्वाराज्यभेदतः । नापि प्रीतेरियत्तायाः स्वर्गशब्दोऽस्ति वाचकः ॥३०४॥
न चाजानन्स्वसाध्यार्थं विद्वान्कश्चित्प्रवर्तते । प्रीतिर्या काचिदिष्टा चेत्स्वर्गशब्देन भण्यते ॥३०५॥
चित्राग्निष्टोमयागादेः पश्वादिफलसंकरः ।

व्यक्ति एक झोपड़ी के लायक ज़मीन न चाहता है न लेता है, ऐसे मुमुक्षु स्वर्ग नहीं चाहता। अतः ज्ञानसहित किये कर्म स्वर्ग देंगे भी नहीं यह हम समुच्चयवादी मानेंगे। जैसे कामना से किया अग्निहोत्र स्वर्ग देता है, बिना कामना से किया वही केवल नित्यकर्म होता है, स्वर्ग नहीं देता, ऐसे ही मुमुक्षुकृत कर्म भी स्वर्ग नहीं देते। काम्य दर्शादि भी जब जिस कामना से किये जाते हैं तब उसी फल के हेतु बनते हैं यह माना गया है (पू०मी० ४.३. अधि० ११), अतः मुमुक्षु स्वर्गकामना से कर्म करता नहीं तो उसे स्वर्गादि मिलेंगे नहीं। अतः उक्त आक्षेप ग़लत है।

श्लोक ३०३–३०४$\frac{१}{२}$ तक पूर्वपक्षग्रंथ विद्यासागर को भी इष्ट है। पुरी जी श्लोक ३०३–३०६$\frac{१}{२}$ तक पूर्वपक्षग्रंथ मानते हैं।

प्रकृत श्लोक में परमानन्द ही स्वर्गशब्दार्थ है यह मानकर वादी का प्रश्न है ऐसा कल्पलतिका में अवतरण है। पुरी जी यहाँ काम्यकर्मों से मोक्ष का पूर्वपक्ष समझते हैं ॥३०३॥

इस प्रकार वादी ने सिद्ध किया कि समुच्चय का अनुष्ठान मोक्ष देगा यह मानने पर अधिकारी का निश्चय उसी रीति से संभव है जिससे शांकरसिद्धान्त में अधिकारी का निरूपण संभव है। अतः वेद की अप्रमाणता का प्रसंग नहीं और शांकरसंमत अधिकारी आदि का भेद मानने का गौरव भी नहीं। काण्डद्वय के साधनादि विभिन्न नहीं हैं इसमें समुच्चयवादी और हेतु देता है–

स्वर्गकाम, स्वाराज्यकाम आदि श्रुतिवाक्यों द्वारा सूचित प्रसन्नताधिक्य मोक्ष है। स्वर्ग शब्द सुख के किसी परिमाण का वाचक नहीं (बल्कि सुखमात्र का वाचक है)। तथा कोई विद्वान् अपने द्वारा साध्य अर्थ को समझे-बुझे बिना प्रवृत्ति नहीं करता ॥३०४+$\frac{१}{२}$॥

स्वर्गकामादि वाक्योक्त स्वर्गशब्द सीमित अर्थात् विशिष्ट सुख का वाचक संभव नहीं क्योंकि विशिष्ट सुख तो अनंत हैं. अतः शक्ति का ग्रहण असंभव है। इसलिये स्वर्ग सुखमात्र का वाचक है और सुखमात्र ही मोक्ष है। अतः स्वर्गकामादि वाक्यों से सिद्ध है कि कर्म मोक्षसाधन हैं। इस प्रकार काण्डों के साधन विभिन्न हैं यह मत खंडित होता है। यद्यपि कोई मूर्खादि स्वर्ग का सही अर्थ समझे बिना विशिष्ट सुख के लिये भी कर्म में प्रवृत्त हो सकता है, तथापि विवेकी तो स्वर्ग का सही अर्थ समझकर ही उसके साधनभूत कर्मों में प्रवृत्त होगा। क्योंकि आगे (श्लो० ३२२) काम्यकर्म का भी ज्ञान में उपयोग कहा जायेगा इसलिये हम समुच्चयवादी काम्यों का मोक्ष में विनियोग स्वीकार लेंगे ताकि मुमुक्षु भी काम्यानुष्ठान कर सकता है ॥३०४+$\frac{१}{२}$॥

श्लोक २९८ से अब तक के ग्रंथ में यह स्थापित करने का प्रयास हुआ कि स्वर्गकामादि वाक्यों से ही पता चल जाता है कि कर्म मोक्षहेतु हैं अतः काण्डों के साधनादि भिन्न नहीं हैं। इस स्थापना का निराकरण करते हैं–

यदि यह समझते हो कि स्वर्गशब्द से चाहे जो प्रसन्नता (=सुख) कही जाती है तो चित्रायाग, अग्निष्टोमयाग आदि से प्राप्य पशु आदि फलों की एकता माननी पड़ेगी ॥३०५+$\frac{१}{२}$॥

समुच्चयवादी ने कहा था कि स्वर्गशब्द सुखविशेष का वाचक नहीं है अतः सिद्धान्ती दोष दे रहा है कि तब सभी यागादि का फल एक स्वर्गरूप ही हो जायेगा। चित्रायाग का फल है पशुप्राप्ति। उस पशु से प्राप्त दूध पीने से भी सुख होता ही है। अग्निष्टोम का फल स्वर्ग कहा है जिस स्वर्ग से तुम समुच्चयवादी अविशेषित सुख ही समझते हो। अतः दूध पीने का सुख भोगने से स्वर्ग भोग ही लिया गया तो फिर ज्योतिष्टोमादि करने की क्या ज़रूरत? अतः स्वर्ग का अर्थ सुखमात्र है ऐसा नहीं मानना चाहिये यह भाव है।

विशेषो वाञ्छितश्चेत्स्यात्पुत्रपश्वाद्युपाधितः ॥३०६॥ न तावत्संभवेत्स्वर्गो ज्ञातोपाधिवियोगतः। मुक्तौ काम्यफलेऽभीष्टे सकृत्करण एव च । अनवच्छिन्नरूपायाः प्रीतेराप्तौ कृतार्थता ॥३०७॥

शास्त्रप्रकाशिका में (पंक्ति २३) 'मुक्तत्वप्राप्तेः' की जगह 'भुक्तत्वप्राप्तेः' पाठ उपलब्ध हो तो बेहतर प्रतीत होता है। यथाश्रुत का अर्थ है– 'मुक्तत्वेन प्राप्त हो चुकने के कारण'। दूध पीने का सुख ही स्वर्ग है वही मोक्ष है यह आपत्ति स्वर्ग को अविशिष्ट सुखपरक मानने पर होगी यह भाव है। मूल में फलसांकर्य से फलैक्य समझना चाहिये ॥३०५+$\frac{१}{२}$ ॥

यदि कहो कि सुखमात्र नहीं किन्तु सुखविशेष स्वर्ग है तो भी संगत नहीं होगा यह कहते हैं –

अगर पुत्र पशु आदि उपाधि वाले सुख की अपेक्षा किसी विशिष्ट सुख को स्वर्ग स्वीकारना इष्ट हो तो यह भी स्वर्ग नहीं हो सकता क्योंकि ऐसे सुख को स्वर्गशब्द कहे इसमें कोई कारण ज्ञात नहीं है ॥३०६+$\frac{१}{२}$ ॥

पुत्रादिसुख से विलक्षण स्वर्गरूप सुख क्या किसी उपाधि वाला है या सब उपाधियों से रहित है? यदि वह भी किसी उपाधि वाला है तो मोक्षरूप नहीं हो सकता क्योंकि मोक्ष तो उपाधिरहित अर्थात् सीमारहित ही सबको स्वीकृत है। यदि सब उपाधियों से रहित सुख को स्वर्ग कहना चाहो तो इसलिये नहीं बनेगा कि स्वर्गशब्द निरुपाधिक सुख को कहे इसमें कोई कारण बता नहीं सकते। अतः ऐसा अर्थ करना मनमानी हो जायेगी। स्वर्ग खुद ही प्रकाशमान है, स्वर्गपद से उसे समझने की ज़रूरत नहीं – यह भी मान नहीं सकते अन्यथा उसके लिये यागादि का अनुष्ठान कर्तव्य नहीं होगा। स्वतः सिद्ध यागसाध्य नहीं होता। वह तो केवल अज्ञान से व्यवहित होता है। ऐसे की प्राप्ति में ज्ञान से अन्य उपाय नहीं होता। इसलिये स्वर्ग से मोक्ष नहीं समझना चाहिये। वह तो लोकविशेष का ही बोधक है। जो तो कहीं कह दिया है कि वह दुःख से बिंधा नहीं है इत्यादि, वह केवल स्वर्ग की प्रशंसा के लिये है क्योंकि 'यदेवेह तदमुत्र' (कठ० ४.१०) 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गी० ९.२१) आदि से स्वर्ग का वैसा रूप बाधित है। लोकरूप स्वर्ग ही स्वर्गकामादि वाक्य में परामृष्ट है जो कर्मसाध्य कहा गया है। अतः कर्मकाण्ड के साधन मोक्षोपाय नहीं जिससे काण्डद्वय के साधनादि समान हों।

पुरीटीकानुसार निरतिशय प्रीति (=सुख) ही स्वर्ग है क्योंकि न प्रीतिमात्र और न प्रीतिविशेष स्वर्ग हो सकते हैं – यह इन श्लोकों में कहा गया है। वहाँ एक पाठान्तर भी सूचित है: 'यदि ज्ञानोपाधिवियोगत इति पाठः, तस्यायमर्थः– ज्ञानमुपाधिर्यस्य पुत्रादेः तदभावादिति।' ॥३०६+$\frac{१}{२}$ ॥

स्वर्गकाम-वाक्य में स्वर्गशब्द किसी तरह मोक्षार्थ मान लें तो भी मोक्ष कर्म से साध्य नहीं हो सकता यह कहते हैं–

मुक्ति को यदि काम्यकर्मों का फल स्वीकारो तो काम्यकर्म एक बार करने से ही निःसीमरूप वाला सुख मिल जाने से कृतार्थता हो जायेगी ॥३०७॥

साँझ-सुबह दो-दो आहुतियाँ डाल देने से ही काम्यकर्म रूप अग्निहोत्र संपन्न हो जाता है जिसका फल तुम्हारे तुम्हारे मत से मोक्ष ही है। तब रोज़ अग्निहोत्र क्यों करना? यह भी नहीं कि अधिक करने से मोक्ष में आधिक्य हो जायेगा, क्योंकि मोक्ष को एकरूप ही माना जाता है। इस प्रकार अन्य सभी कर्मविधियाँ व्यर्थ अतः निष्प्रमाण होने लगेंगी। अतः काम्यकर्म का फल मोक्ष नहीं मान सकते यह भाव है। यद्यपि काम्यकर्मों में प्रत्येक का फल मोक्ष मानकर सबके सार्थक्य का प्रयास किया जा सकता है तथापि जहाँ कहा है कि दर्शपूर्णमास करके सोमयाग करे वहाँ पूर्व से ही गतार्थता होने से उत्तर विधि अप्रमाण ही होगी ॥३०७॥

'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनो भवति' (शत०ब्रा० २.६.३.१) आदि वाक्य से नित्य कर्म का ही फल मोक्ष होगा? यह शंका होने पर समझाते हैं कि उक्त वाक्य स्तुतिपरक है अन्यथा अन्य वाक्यों से विरोध होगा–

प्लवा ह्येते परीक्ष्येति तथा तद्य इहेति च । कर्मभ्यो निर्वृतिर्नास्तीत्यादिवाक्यैः प्रदर्शितम् ॥३०८॥
प्रत्यक्षश्रुतिविध्यन्तविहितानामकारणात् । त्यागोऽतिसाहसं मन्ये ननु यागादिकर्मणाम् ॥३०९॥
प्रत्यक्षोपनिषद्वाक्यविहितायास्ततोऽपि तु । ऐकात्म्यज्ञाननिष्ठायास्त्यागोऽतीव हि साहसम् ॥३१०॥

'ये कमज़ोर नावे हैं' (मुं० १.२.७), 'परीक्षा करके' (मुं० १.२.१२), 'लोगों में जो यहाँ' (छां० ५.१०.७) इत्यादि वाक्यों से विशेषतः दिखाया गया है कि कर्मों से मोक्ष नहीं होता ॥३०८॥

प्रथम वाक्य में यज्ञरूप नावों को मुखतः अदृढ कहा है और आगे श्रुति ने बताया है कि जो लोग यज्ञों को ही कल्याण मानते हैं वे मूढ हैं और बार-बार बुढौती और मौत ही पाते हैं। द्वितीय में वाक्य स्पष्ट किया है कि कर्मलभ्य फलों की परीक्षा से समझ लेना चाहिये कि कर्म से मोक्ष नहीं होता। तृतीय वाक्य में कहा है: लोगों में जो यहाँ अर्थात् संसार में शुभ कर्मों वाले होते हैं वे स्वर्ग से लौटने पर ब्राह्मणादि अच्छी योनियाँ पाते हैं और जो अशुभ कर्मों वाले होते हैं वे सुअर आदि बुरी योनियाँ पाते हैं। ऐसे हीं छांदोग्यमें (८.६.१) कहा है कि जैसे संसार में कर्मलब्ध फल क्षीण होते हैं ऐसे ही पुण्यलब्ध परलोक भी क्षीण होते हैं। तैत्तिरीयारण्यक में (१०.१०) कहा है कि कर्म से अमरता नहीं मिलती। इसलिये नित्यादि को भी मोक्षहेतु नहीं कह सकते ॥३०८॥

पुनः वादी शंका करता है: अर्थवादवाक्यों से विधिवाक्य अधिक बलवान् होता है अतः विधिवाक्य के सहारे यह समझ आता है कि मोक्ष कर्म का फल है इसलिये काण्डद्वय का नियोज्य एक ही अधिकारी है–

अरे! स्पष्ट श्रुतिरूप विधियों से विहित यागादि कर्मों को न करने से तुम जो कर्तव्यों का त्याग करते हो उसे मैं साहसमात्र मानता हूँ! ॥३०९॥

यावज्जीवादि विधिश्रुति जीवनभर कर्म करने को कहती हैं। इसलिये कर्मत्याग असंगत है। अतः यही मानना चाहिये कि अग्निहोत्रादि भी ज्ञानार्थ होने से मोक्षहेतु है, कर्मत्यागरूप संन्यास ग़लत है। समुच्चय मोक्षहेतु होने से सारे वाक्य संगत हो जाते हैं यह वादी का अभिप्राय है।

मूल में विध्यन्तशब्द मीमांसा के पारिभाषिक अंगरूप अर्थ में नहीं है किन्तु विधि को ही विध्यन्त कहा है। कल्पलता में तो 'विधिर्विधायकं लिङादिपदम् अन्ते यस्य तद् विध्यन्तं विधायकवाक्यमित्यर्थः' ऐसी व्याख्या की है।

इस प्रकार वादी ने संन्यास पर भी आक्षेप कर दिया है ॥३०९॥

सिद्धांती उत्तर देता है: 'शान्त' (बृ० ४.४.२३) आदि वाक्य वैराग्यवान् के लिये संन्यास का विधान करता है। आगे संन्यासी के लिये श्रवणादिरूप ज्ञाननिष्ठता की विधि है। समुच्चयवादी कर्मविधियों में पक्षपात कर इन विधियों को अनर्थक बनाना चाहता है। अनेक उपनिषदों में प्रसिद्ध संन्यास का अपलाप निरंकुशता है। सिद्धांती तो दोनों विधियों को कामुक और विरक्त के विषय में व्यवस्थित कर रहा है अतः कोई दोष नहीं पर वादी के अनुसार शमविधियों का बाध है जो अति-साहसिकता ही है! इसलिये श्रुति-स्मृति-न्यायसिद्ध ज्ञानरूप मोक्षोपाय छोड़कर कर्म को मोक्षसाधन मानना ग़लत है। फलतः काण्ड पृथक् होने से अधिकारी आदि भिन्न ही हैं। इस आशय से कहते हैं–

स्पष्ट उपनिषद्वाक्यों द्वारा विहित एकात्मताज्ञान-निष्ठा का त्याग तो उससे भी अत्यधिक साहसमात्र ही है! ॥३१०॥

पूर्वश्लोक में वादी ने उपनिषदों को अर्थवादवाक्य कहा था। भूतार्थवादता स्वीकार्य होने से उतनी बात में विरोध नहीं। किन्तु एतावता त्याग अवैध नहीं क्योंकि उपनिषदों में ही त्यागविधियाँ उपस्थित हैं। अतः वार्तिक में प्रत्यक्षविहित और उपनिषद्वाक्यविहित ऐसा समास है। एवं च कर्मश्रुति और शमश्रुति में तुल्यबल होने पर भी शमश्रुति को वाक्य का सहारा अधिक है यह भाव है। इतना ही नहीं शममें लिंग भी प्रमाण है अतः पुरी जी ने कहा है: 'प्रत्यक्षोपनिषद्वाक्यानि

विचार्यमाणे यत्नेन त्वधिकारे यथाश्रुति ॥३११॥
न किंचित्साहसं त्वत्र प्रत्यक्षश्रुतिवाक्यतः । अधिकारविभागस्य प्रसिद्धेरेव कारणात् ॥३१२॥
तस्मात्सिद्धोऽधिकारोऽत्र ब्रह्मरूपं विविक्षताम् ।

खल्वैकात्म्यज्ञानोत्पादनाय प्रवृत्तानि ज्ञाननिष्ठां ससंन्यासादिकामन्तरेण असमर्थानि तामपि विदधति।' मूल में 'तु' से बताया कि स्वसिद्धांत में साहस का प्रसंग ही नहीं क्योंकि किसी विधि का त्याग नहीं है। 'हि' से कहा कि सिद्धांत तो विविध प्रमाणों से विरक्त का संन्यास मान रहा है जबकि समुच्चयवादी सब प्रमाणों का विरोध करते हुए उसका अपलाप कर रहा है अतः वही शोचनीय है ॥३१०॥

वादी द्वारा अपने पक्षानुसार अधिकारिसिद्धि के लिये वरपिता द्वारा कन्यापिता को 'जो तुम्हारा गोत्र है वही मेरा भी है' कहने की तरह किया गया प्रयास (श्लो० २९८) प्रत्याशित ढंग से उसके पक्ष की रक्षा में असमर्थ रहा। सिद्धांती तो बिना अधिकारनिरूपण के ही ज्ञान को दृष्टफलक होने से सफल मानता है। ऐसा ही माने तो वादी का ज्ञाननियोगवाद भंग होगा। अतः 'मुझे नष्ट होना है तो तुम्हे साथ लेकर नष्ट होऊँगा' नीति से वह शंका करता है कि यदि कर्मविधि और शमविधि इस प्रकार विरुद्ध विधियों वाले ये काण्ड हैं तो एक दूसरे का बाध कर देंगे अतः अधिकार के विचार को ही तिलांजलि देनी चाहिये। इस शंका का समाधान दिया जाता है–

अधिकार के विषय में प्रयत्नपूर्वक श्रुति के अनुसार विचार करें तो दोनों काण्डों में स्पष्ट श्रुतिवचनों द्वारा ही अधिकार का विभाजन प्रसिद्ध ही है इसलिये किसी तरह की मनमानी का प्रसंग नहीं है ॥३११-३१२॥

आसक्ति वालों के लिये प्रवृत्तिमार्ग और मुमुक्षुओं के लिये निवृत्तिमार्ग इस प्रकार द्विविध वेदोक्त धर्म परम आप्त आचार्यों द्वारा स्पष्ट किया होने से अधिकार के बारे में कोई शंकास्थान नही है। हाँ, शास्त्र का विचार न करने पर तो कर्मविधि और शमविधि में विरोध प्रतीत होता है। विचार करें तो वेदवाक्य मिलेगा 'कामना इतनी ही है' (बृ० १.४.१७) इत्यादि जो वैराग्यहीन व्यक्ति का कर्मकाण्ड में अधिकार बतायेगा और 'ब्राह्मण विरक्त होवे' (मुं० १.२.१२) इत्यादि जो वैराग्यवान् संन्यासी का ज्ञानकाण्ड में अधिकार बतायेगा। एवं च काण्डद्वय में कोई विरोध न होने से दोनों प्रमाण हैं, परस्पर बाधक नहीं। अतः अधिकारचिंता सर्वथा उपयुक्त है। आधे शास्त्र के सहारे भले ही उसका सही निरूपण न हो पाये, यह भाव है।

विद्यासागर तो कहते हैं कि यदि काण्डों में विरोध मानो तो भी बाद का काण्ड होने से ज्ञानकाण्ड ही प्रबल होगा। 'अपरेण तुना – विरोधेऽपि परत्वात् त्रय्यन्तानामेव प्राबल्यं ध्वनयति'; अपर अर्थात् 'त्वत्र' यहाँ जो तु शब्द है उससे। वैयाकरणों का यह नियम प्रसिद्ध है कि विप्रतिषेध होने पर बाद में विहित कार्य ही मान्य होता है! ॥३११-३१२॥

इस प्रकार अधिकारिभाष्य, फलभाष्य और नामभाष्य का शंका-समाधान पूर्वक व्याख्यान किया। इतने हिस्से की व्याख्या का उपसंहार करते हैं–

इसलिये ब्रह्मस्वरूप में प्रवेश चाहने वाले मुमुक्षुओं का उपनिषत्-शास्त्र में अधिकार सिद्ध होता है ॥३१२ $\frac{१}{२}$॥

काण्डद्वय के अधिकारी आदि विभिन्न ही स्वीकार्य हैं। अतः सद्रूप, चिद्रूप, आनन्दरूप परब्रह्म-स्वभावता के ही जो इच्छुक हैं उन्ही का ज्ञानकाण्ड में अधिकार है, कर्मियों का नहीं। उनका तो कर्मकाण्ड में अधिकार है। अधिकारिभाष्य और फलभाष्य से सिद्ध हुआ कि एकात्मता का ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है और कर्म है सांसारिक उन्नति का हेतु, संसार ऐहिक आमुष्मिक दोनों समझने चाहिये, अतः काण्डद्वय के अधिकारी ही नहीं साधन भी विभिन्न हैं। फलभाष्य साक्षात् तथा अधिकारिभाष्य अर्थात् साधनभेद का समर्थक है। नामभाष्य से दोनों काण्डों के प्रयोजनों का भेद सिद्ध किया गया है ॥३१२ $\frac{१}{२}$॥

तस्यास्य कर्मकाण्डेन सम्बन्ध इति भाष्यकृत् । प्रतिज्ञायापि सम्बन्धं कस्मात्तन्नोक्तवान्स्फुटम् ॥३१३॥
अभिधीयत इत्यादिवचसाऽपि स नोच्यते । सिद्धे वस्तुनि वेदस्य मानत्वं तेन भण्यते ॥३१४॥
वेदान्तोक्तेः प्रमाणत्वे सति सम्बन्ध उच्यते । प्रामाण्यायैव तेनाऽऽदौ सर्वोऽपीत्यादि भण्यते ॥३१५॥

नामसार्थक्य बताकर आचार्यचरणों ने कहा है 'उस इस ज्ञानकाण्ड का कर्मकाण्ड से सम्बन्ध बताया जाता है। सारा ही यह वेद प्रत्यक्ष और अनुमान से न जाने गये इष्ट-प्राप्ति-साधन तथा अनिष्ट-परिहार-साधन का प्रकाशन करने में तात्पर्य वाला है क्योंकि सब लोगों को स्वभावतः इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार अभिलषित होता है।' अब इस भाष्यखण्ड की व्याख्या श्रीमान् वार्तिककार करेंगे।

पहले इस पर विचार करते हैं कि भाष्य में सम्बन्ध बताने की प्रतिज्ञा ही क्यों की? और जब कर ही दी तो साफ-साफ कह क्यों न दिया कि अमुक सम्बन्ध है?–

'उस इस ज्ञानकाण्ड का कर्मकाण्ड से सम्बन्ध' इस प्रकार सम्बन्ध की प्रतिज्ञा करके भी भाष्यकार ने स्पष्टरूप से सम्बन्ध क्यों नहीं बताया? ॥३१३॥

यद्यपि 'सम्बंध बताया जाता है' कहने से समझ आता है कि कोई सम्बंध है सही जो बताया जाता है तथापि भाष्यकार ने स्फुटरूप से नहीं बताया इसमें क्या हेतु है, यह तात्पर्य है ॥३१३॥

'सारा ही' इत्यादि भाष्यका अगला वाक्य सम्बंध-विशेष कहता होगा इस संभवना को हटाते हैं–

'बताया जाता है' के बाद वाले वाक्य द्वारा भी सम्बन्ध नहीं कहा गया। उसके द्वारा यह बताया है कि सिद्ध वस्तु में वेद प्रमाण है ॥३१४॥

'सारा ही' आदि भाष्य वेद को एक उपाय का प्रकाशक कह रहा है अतः लगता है कि सम्बंध ही बता रहा हो। 'एक उपाय' अर्थात् इष्टलाभ-अनिष्टनिवारण का उपाय। इस प्रतीति को भ्रम बताया क्योंकि वह वाक्य इसमें तात्पर्य वाला है कि वेद साध्य में ही नहीं सिद्ध में भी प्रमाण है। सिद्ध में शास्त्र को प्रमाण बताये बिना सम्बंध कहना संगत ही नहीं होगा। दोनों तात्पर्य मानें अर्थात् सिद्ध में शास्त्रप्रामाण्य और काण्डों का संबंध उभयपरक यदि भाष्य हो तो वाक्यभेद की आपत्ति है। अतः यह भाष्य प्रमाणपरक ही होने से सम्बंध का विशिष्य कथन नहीं है यह शंका का अभिप्राय है। न्यायतत्त्वविवरणमें ऐसा बताया गया है। अतएव शास्त्रप्रकाशिका में 'तस्मिन्नर्थान्तरप्रतीतेः' कहा है अर्थात् 'सारा ही' आदि भाष्य का सम्बन्धातिरिक्त अर्थ प्रतीत होता है इसलिये वह सम्बंधार्थक नहीं है।

'अभिधीयत इत्यादिवचसा' में अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। वस्तुतः वार्तिककार ने इस शंका को मन में रखकर कहा है: 'सम्बन्धः' पर्यंत शीर्षक-विधया लिखकर भाष्यकार ने 'अभिधीयते' से सम्बंध बताना प्रारंभ किया होगा, 'प्रकाशनपरोऽभिधीयते' ऐसा अन्वय होगा, एवं च 'एकोपायप्रकाश‌कत्व' सम्बन्ध होगा? परिहार-तात्पर्य है कि सर्वोपीत्यादि भाष्य सिद्ध में शास्त्रप्रामाण्यपरक होने से उस में अस्त्यादिका अध्याहार ही करना चाहिये, सम्बन्ध-पर्यंत के वाक्य को उक्त तरीके से साकांक्ष छोड़ना संगत नहीं ॥३१४॥

उक्त समस्या का समाधान प्रारंभ करते हैं–

वेदांतवचन प्रमाण हों तब सम्बंध बताना उचित हो अतः पहले उनकी प्रमाणता सिद्ध करने के लिये ही 'सारा ही' आदि भाष्य कहा गया है ॥३१५॥

यद्यपि सम्बंध की प्रतिज्ञा कर 'अमुक सम्बंध है' ऐसा बताना उचित है तथापि पहले यह बताना ज़रूरी है कि वेदांत प्रमाण हैं क्योंकि अन्यथा ज्ञानकाण्ड की किसी से भी संगति नहीं होगी, इस तात्पर्य से भाष्यकारों ने पहले प्रामाण्य बताया है; प्रामाण्य जानकर सम्बंध समझना सरल होगा यह उनका भाव है। पूर्व मीमांसा में वेद को प्रमाण सिद्ध किया ज़रूर है

आक्षिप्यते वा सम्बन्धः सम्बन्धो नाभिधीयते । सप्तम्यन्तपदच्छेदात्कथं चेदिति भण्यते ॥३१६॥
भिन्नार्थयोर्न सम्बन्धो ह्यन्योन्यार्थानपेक्षतः । ऐकार्थ्ये चैकवाक्यत्वात्कर्मविज्ञानकाण्डयोः ॥३१७॥

पर वहाँ विधियों का प्रसंग होने से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि विधिभाग ही प्रमाण होगा और अर्थवादाधिकरण से यह भी मंदशंका हो सकती है कि सिद्धार्थक वेदांतों को वहाँ स्वार्थ में अप्रमाण ही माना है। यदि वेदांत स्वार्थ में प्रमाण नहीं तो ज्ञानकाण्ड असिद्ध होने से उसके संबंध की चर्चा व्यर्थ है। अतः पहले प्रामाण्य विचार ज़रूरी है।

यहाँ पुरी जी ने यह विचार किया है: ये संबंध उत्प्रेक्षित हो सकते हैं– १) दोनों काण्ड एक जैसे गौण हैं; २) दोनों एक जैसे प्रधान हैं; ३) ज्ञान गौण है, कर्म प्रधान है; ४) कर्मनिरोध और नियोग दोनों की मोक्षसाधनता है; ५) प्रपंचप्रविलय द्वारा एकात्मताज्ञान का साधन कर्म है। पंचमविकल्प में ज्ञान के लिये प्रपंचविलय चाहिये जो कर्म से होगा यह भाव है। इनका निषेध करना है। भाष्य में 'ज्ञानकाण्ड का कर्मकांड से सम्बन्ध' बताने को कहा अतः सूचित किया कि कर्मकाण्ड ही गौण है क्योंकि पाणिनि ने 'सह' का प्रयोग हो तो अप्रधानबोधक शब्द तृतीयान्त रखने का विधान किया है। अतः कर्मकाण्ड का दूर से अर्थात् कर्मत्याग के व्यवधान से सम्बंध है। इसलिये कर्मकाण्ड का ज्ञानकाण्ड से संबंध स्वीकार्य नहीं है अर्थात् ज्ञान की कर्मविधिशेषता हो नहीं सकती यह भी यहाँ सूचित कर दिया। अन्यथा 'अनेन कर्मकाण्डस्य संबंधः' ऐसा लिखते! किं च प्रतिज्ञा से आचार्य ने यह भी खंडित कर दिया कि काण्डद्वय का कोई सम्बंध नहीं है। काण्डैक्यवश, अर्थवाद होने से ज्ञानकाण्ड के अभाववश या सर्वथा स्वतंत्रतावश असम्बंध माना जा सकता था जिसका निषेध हो गया। जो तो आगे वार्तिककार 'न सम्बंधः' ऐसा छेद बतायेंगे वह भी साक्षात् संबंध के निषेधार्थ ही है, परम्परया तो स्वीकार्य ही है ॥३१५॥

शंका होगी कि अगर पहले प्रामाण्यसाधन ज़रूरी था तो वही पहले करके तब सम्बंध की चर्चा छेड़ते, प्रतिज्ञा पहले क्यों की? इसके समाधानार्थ वार्तिककार भाष्य के 'कर्मकाण्डेन' पद को तृतीयांत न मानकर 'कर्मकाण्डे' ऐसा सप्तम्यन्त पद है ओर 'न' यह निषेधवाची पृथक् पद है यह मानकर वैकल्पिक योजना बताते हैं–

अथवा 'कर्मकाण्डे' ऐसा शब्दविभाग होने से इस भाष्य में सम्बन्ध की प्रतिज्ञा नहीं की जा रही है बल्कि उस पर आक्षेप किया जा रहा है। आक्षेप में निमित्त क्या है? (अगले श्लोकों से) बताते हैं ॥३१६॥

सम्बन्ध बताते हुए सप्तमी का प्रयोग कैसे? सम्बंध एक धर्म है जो अनुयोगी पर रहता है ऐसा मानकर प्रयोग संगत है। अतः कल्पलतिका में 'ब्रह्मकाण्डस्य कर्मकाण्डे प्रतिसम्बन्धिनि सम्बन्धो न' ऐसा कहा है। प्रश्न होता है कि एक ही अध्ययनविधि से काण्डद्वय को पढ़ने में प्रवृत्ति हुई अतः वेद का किसी एक प्रयोजन से संबंध होना चाहिये अन्यथा कर्म व ज्ञान को वेद में क्रमशः कहा न जाता। अतः सम्बंध पर आक्षेप करना ही ग़लत है। इसका उत्तर देने के लिये आगे का ग्रंथ है जो बतायेगा कि क्यों संबंध नहीं होना चाहिये ॥३१५॥

आक्षेप उपपन्न करने के लिये ये विकल्प जानने चाहिये कि दोनों काण्ड विभिन्न अर्थों (प्रयोजनों) वाले हैं या एक अर्थ वाले? यदि विभिन्न अर्थों वाले हैं तो न उभयाकांक्षा से इनका परस्पर संबंध होगा और न अन्यतर अर्थात् किसी एक की आकांक्षा से क्योंकि भिन्न अर्थ वालों में परस्पर की आकांक्षा होती नहीं। यदि एक अर्थ वाला मानें तो काण्डद्वय ही नहीं होंगे, एक ही काण्ड होगा अतः सम्बंध का प्रसंग ही नहीं। यही कहते हैं–

विभिन्न अर्थों वाले काण्डों का सम्बंध नहीं हो सकता क्योंकि उन्हे एक-दूसरे की अपेक्षा होती नहीं। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की यदि एकार्थता हो तो (दोनों मिलकर) एक ही वाक्य होने से सम्बन्ध नहीं हो सकता (क्योंकि स्व का स्व से संबंध नहीं होता) ॥३१७॥

जिनके प्रतिपाद्य या प्रयोजन भिन्न होते हैं उनका आपसी सम्बंध नहीं हुआ करता। अत एव चित्रायाग के विधिवाक्यों

तथा तयोरमानत्वे सम्बन्धोक्तिर्न युज्यते । द्वयोरेकस्य वा मात्वे न सम्बन्धादि शस्यते ॥३१८॥
श्रुत्यैव तस्य चोक्तत्वात्तमेतमिति यत्नतः । इति चेतसि संधाय सम्बन्धं नोक्तवान्गुरुः ॥३१९॥
प्रसाध्य वा प्रमाणत्वं वेदान्तानां प्रयत्नतः । सम्बन्धं कर्मकाण्डेन पश्चात्सम्यक्प्रवक्ष्यते ॥३२०॥

का ज्योतिष्टोम विधिवाक्यों से कोई संबंध नहीं माना जाता। यदि काण्डद्वय का प्रतिपाद्य या प्रयोजन भिन्न-भिन्न है तो उनका भी संबंध नहीं होना चाहिये। और एकार्थ होने पर तो सम्बन्ध नहीं ही होगा ॥३१६॥

किं च, दोनों काण्ड प्रमाण हैं या नहीं? यदि नहीं, तब तो जैसे धोखेबाज की बातों में सम्बंध नहीं होता ऐसे ही इनमें नहीं होगा। अगर दोनों प्रमाण हैं तो भी संबंध नहीं क्योंकि प्रमाण अपने क्षेत्र में बँटे रहते हैं, परस्पर संबद्ध नहीं होते जैसे आँख और कान दोनों प्रमाण हैं व असंबद्ध हैं। यदि एक प्रमाण है और दूसरा अप्रमाण तो भी संबंध बताने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि अप्रमाण से सम्बंध बताना निष्फल है। बताने पर भी जो काण्ड प्रमाण नहीं है उसमें बताये साधनादि सिद्ध नहीं होने से सिद्धान्ती को इष्ट जो साधनादिभेद वह प्रतिपादित नहीं होगा। यह विषय कहते हैं–

इसी तरह काण्डद्वय अप्रमाण हों तो सम्बन्धकथन असंगत है। दोनों या उनमें एक यदि प्रमाण हो तो भी सम्बन्धादि संभव नहीं ॥३१८॥

विधिवाक्यों का प्रतिपाद्य विभिन्न होने पर भी एकप्रयोजन की आकांक्षा से परस्पर सम्बंध देखा जाता है पर काण्डद्वय में एकप्रयोजनाकांक्षा भी नहीं है। विधिस्थलों में तो कारणवश वैसी आकांक्षा होती है। प्रयाज व दर्शपूर्णमास के विधिवाक्य एक प्रकरण में पठित हैं इसलिये उनकी एकप्रयोजनाकांक्षा हो जाती है और वाक्यों का संबंध हो जाता है। आग्नेय-आदि की एकवाक्यता होने से एकफलता है अतः सम्बंध है। प्रकृत काण्डद्वय में ऐसा कोई कारण भी नहीं है। एक विधि से प्रेरित होकर पढ़ना कोई कारण नहीं है कि दोनों सम्बद्ध हों अन्यथा गणित और इतिहास का भी सम्बंध होने लगेगा! यह आशय पुरीजी ने बताया है ॥३१८॥

यद्यपि वेद में नियमतः कर्मकाण्ड के बाद ज्ञानकाण्ड आया है अतः इनमें सम्बन्ध है नहीं ऐसा आक्षेप करना उचित नहीं तथापि प्रतिज्ञा के तुरंत बाद संबंध न बताने में भाष्यकार का और भी आशय बताते हैं–

'उस इसे' इत्यादि श्रुति द्वारा ही प्रयत्नपूर्वक सम्बन्ध बता दिया गया है ऐसा मनमें सोचकर गुरु जी ने सम्बन्ध नहीं कहा ॥३१९॥

भाष्यकार ने सोचा कि आपाततः प्रतीयमान अर्थ तो विनेय को भास ही जाता है अतः सारा वेद पढ़ते समय बृहदारण्यक पढ़ने पर 'उस इस आत्माको यज्ञादि से जानने की इच्छा करते हैं' (बृ० ४.४.२२) आदि वाक्य से उसे काण्डों का सम्बंध भी मालूम हो ही चुका होगा इसलिये मुझे यहाँ कहने की ज़रूरत नहीं। इस श्लोक की टीका में पुरी जी ने वेदानुवचनादि की वेदनकरणता है तथा पक्षांतर में उनका विविदिषा से ही सम्बंध है इस विषय को विस्तार से बताया है ॥३१९॥

प्रश्न होगा कि यदि आपातबोध से अध्येता को सम्बंध मालूम ही है तो भाष्यकार को प्रतिज्ञा भी करने की क्या आवश्यकता थी? इसलिये पूर्वश्लोक में कहे हेतु से असन्तुष्ट हो वार्तिककार श्लोक ३१५ में कहा हेतु ही प्रमुख है यह बताते हुए उसी का विस्तार करते हैं–

अथवा, पहले वेदांतों की प्रमाणता को यत्नपूर्वक सिद्ध करके बाद में कर्मकाण्ड से सम्बन्ध बतायेंगे (अतः भाष्य निर्दुष्ट है) ॥३२०॥

उपोद्घात रूप से आचार्य ने सम्बंधप्रतिज्ञा की तो तुरंत प्रश्न उठा कि वेदांत तो अप्रमाण हैं अतः सम्बंध कैसे? इसलिये प्रामाण्य स्थापित कर दिया। बाद में 'तमेतम्' आदि प्रसंग में सम्बंध बतायेंगे कि कर्म विविदिषा के हेतु बनते हैं।

वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने । तमेतमिति वाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥३२१॥
यद्वा विविदिषार्थत्वं सर्वेषामपि कर्मणाम् । तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥३२२॥

इस प्रकार प्रतिज्ञा करने पर भी संबंधविशेष न कहना भाष्य में कोई दोष नहीं है। यहाँ प्रतिज्ञा कर इसी ग्रंथमें यथास्थान उसे बताने से शोभा ही है। तब 'अभिधास्यते' कहते, 'अभिधीयते' क्यों कहा? इसी ग्रंथ में कहने जा रहे हैं अतः 'अभिधीयते' ठीक है। अथवा पुरी जी मानते हैं कि सम्बंधग्रंथ में ही भाष्य है 'एतस्माद् विरक्तस्याविद्यानिवृत्तये तद्विपरीतब्रह्मविद्याप्रतिपत्त्यर्थोपनिषदारभ्यते' अर्थात् स्वयं में कल्पित संसार से विरक्त की अविद्या हटाने के लिये संसार का विरोध करने वाले ब्रह्मज्ञान की समझ के लिये उपनिषत् आरंभ की जा रही है; यह भाष्य काण्डों के संबंध को द्योतित कर देता है। वार्तिककार तो 'यावद्धि तद् नापनीयते' आदि भाष्य के प्रसंग में यह विषय समझायेंगे (श्लो० ११०४ आदि)। सर्वथापि सम्बंधग्रंथ में ही बताया होने से वर्तमानापदेश सुसंगत है ॥३२०॥

विविदिषावाक्य से दोनों काण्डों का सम्बंध सिद्ध है इस भाष्याशय पर वादी आक्षेप करता है–

'उस इसे' इत्यादि वाक्य द्वारा एकात्मताज्ञान की उत्पत्ति के लिये वेदानुवचन आदि नित्यकर्मों की ही विधि कही जायेगी? ॥३२१॥

वादीका अभिप्राय है कि काम्यकर्म तो तत्तत् फल वाले हैं अतः निराकांक्ष होने से विविदिषावाक्य में परामर्श के योग्य नहीं इसलिये ब्रह्मयज्ञादि नित्यकर्म जिनका कोई फल सुना नहीं गया उन्हे ही इस वाक्य द्वारा विविदिषाहेतु बताया गया है। एवं च यह वाक्य कर्मकाण्ड के एक हिस्से का–नित्यकर्मों का–भले ही ज्ञानकाण्ड से सम्बन्ध बता दे, समग्र कर्मकाण्ड का तो बतायेगा नहीं। तब भाष्य की प्रतिज्ञा इस वाक्य से भी पूरी कैसे होगी?

पुरीजी ने इस श्लोक में सिद्धांती द्वारा नित्यों का ही विनियोग है यह कहा जा रहा है ऐसा माना है: अवतरणिका में 'यथास्वं फलशेषाणां विनियुक्तविनियोगविरोधात्' कर्मों का विविदिषाविनियोग शंकित कर सिद्धान्त में कहा है 'नित्यानामेव ज्ञानजन्मने विधानाद् न विनियुक्तविनियोगविरोधोस्तीत्यर्थः।' और अगले श्लोक से कहा है कि सभी कर्मों का ज्ञानविनियोग संयोगपृथक्त्व से संगत है ॥३२१॥

उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं–

अथवा 'उस इसे' इत्यादि वाक्य द्वारा संयोगपृथक्त्वन्याय से सभी कर्म विविदिषा में विनियुक्त बताये गये हैं ॥३२२॥

श्रुति ने बिना विशेषण 'यज्ञेन' कहा है जिसे नित्यकर्मों में संकुचित करने में हेतु कोई है नहीं इसलिये काम्यसमेत सब कर्म विविदिषाद्वारा ज्ञानहेतु हैं यही इस वाक्य का अभिप्राय होने के कारण कर्मकाण्डमात्र का संबंध सिद्ध हो जाने से भाष्यप्रतिज्ञा का निर्वाह हो जाता है। यद्यपि काम्यकर्म फलविशेष में विनियुक्त होने से उनका विविदिषा में विनियोग होना संगत नहीं तथापि विविदिषावाक्य के आधार पर संयोगपृथक्त्व के सहारे वैसा करना भी उपपन्न है। संयोग अर्थात् फलसंबंध बताने कला वाक्य, वह पृथक् अर्थात् भिन्न है; पशुफलादि से संबंध कहने वाले वाक्यों से भिन्न ही विविदिषा से सम्बंध कहने वाला वाक्य है; इसलिये नया विनियोग उचित है, यह इस न्यायका अर्थ है।

प्रयुक्ति के विचार में (४.३.५) पूर्व मीमांसा ने यह न्याय स्थापित किया है। दो वाक्य हैं 'दधि से होम करे' और 'इन्द्रियफल के लिये दधि से होम करे'। संशय है कि दधि क्या पुरुषार्थ है अर्थात् इन्द्रियफलार्थ ही है और नित्य-प्रयोग में दधि का प्रयोग न कर दूध आदि अन्य पदार्थों का ही प्रयोग करना चाहिये; अथवा क्या वह क्रत्वर्थ भी है अर्थात् नित्यप्रयोग में इन्द्रियफल न देता हुआ भी वह क्रतु की सांगतासंपत्ति कर देगा?

पूर्वपक्ष है– एक वाक्य में फल नहीं कहा है व दूसरे में कहा है अतः दोनों वाक्यों की एकवाक्यता है।

लोकतः सिद्धमादाय पशुव्रीह्यादिसाधनम् । इदं कार्यमिदं नेति कर्मकाण्डश्रुतेर्गतिः ॥३२३॥
मानान्तरेणाऽसंप्राप्तांसाध्यसाधनसंगतिम् । कर्मशास्त्रं व्यनक्तीति न तु वस्त्ववबोधकृत् ॥३२४॥

'दध्नेन्द्रियकामस्य' से पता चला 'दध्नेन्द्रियं कुर्यात्' दधि से इन्द्रियफल प्राप्त करे, अतः आकांक्षा है 'किस में आश्रित (=किस कर्म से संबद्ध) दही से इन्द्रियफल प्राप्त करें?'। 'दध्ना जुहोति' से पता चला कि दही से होम करे अतः आकांक्षा है 'किस फल के लिये?' अतः परस्पराकांक्षावश दोनों को मिला देना चाहिये कि 'इन्द्रियफल के लिये दधि से होम करे'। अतः इन्द्रियकामवाक्य का 'जुहोति' 'दध्ना जुहोति' का अनुवादमात्र है। इसलिये दधि पुरुषार्थ ही है, काम्यप्रयोग का अंग ही है, नित्यप्रयोग में द्रव्यान्तर का प्रयोग करना चाहिये।

सिद्धांत है – इन्द्रियकामवाक्य की आश्रयाकांक्षा लौकिक अर्थात् वाक्यान्तर-निरपेक्ष बुद्धिस्थ होम से ही पूरी हो जाती है, न कि 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य का इन्तज़ार करती है क्योंकि इस वाक्योक्त होम से ही सम्बन्ध होवे इसमें कोई कारण नहीं। इसी प्रकार 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य को फलाकाङ्क्षा नहीं है कारण कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' द्वारा विहित होम का अनुवाद कर 'दध्ना जुहोति' में दधि का विधान है अतः अग्निहोत्र ही दधि को प्रयुक्त कर लेगा, अग्निहोत्र की सांगतासम्पत्ति से ही कृतकार्य होने से यहाँ फलाकांक्षा नहीं रहेगी। अतः भिन्न-भिन्न वाक्य होने से, अर्थात् परस्पर निराकांक्ष रहते हुए एक-एक अर्थ का बोध कराने वाले वाक्य होने से, दधि पुरुषार्थ भी हो सकता है और क्रत्वर्थ भी है। इसलिये नित्यप्रयोग में भी दधि का प्रयोग करना चाहिये। एवं च जब अलग-अलग वाक्यों से बोधित हो तब एक पदार्थ नित्य व काम्य दोनों हो सकता है यह इस न्याय में निश्चित हुआ।

ऐसे ही काम्यकर्म तत्तत् वाक्य से भले ही फलविशेष में विनियुक्त हों, विविदिषावाक्य उन सभी को विविदिषा में विनियुक्त करे इसमें क्या विरोध है? जैसे क्रतुविनियुक्त दधि का इन्द्रियविनियोग स्वीकृत है वैसे फलविशेषविनियुक्त कर्मों का विविदिषाविनियोग भी स्वीकार्य है यह भाव है। अतः केवल नित्यादि ही नहीं काम्यों का भी विनियोग विविदिषावाक्योक्त होने से समूचे कर्मकाण्ड का सम्बंध सिद्ध है, जिससे भाष्यकी प्रतिज्ञा इस वाक्य से सम्पन्न हो जाती है। निषेधवाक्यों का संग्रह 'शान्त' आदि से (बृ० ४.४.२३) तथा 'नाविरतो दुश्चरितात्' (कठ० २.२४), 'न च प्रमादात्' (मुं० ३.२.४) 'न येषु जिह्ममनृतं न माया' (प्र० १.१६) आदि वेदांतों से हो जाता है। अतः कर्मकाण्डमात्र से सम्बंध सिद्ध है ॥३२२॥

प्रश्न होता है कि कर्मकाण्ड तो द्रव्यादि कारकभेद का कथन करता है और ज्ञानकाण्ड उनका बाध कर अद्वैत का प्रतिपादक है अतः विरुद्ध अर्थ वाले काण्डों का सम्बंध कैसे? उत्तर है–

लौकिक प्रमाणों से सिद्ध पशु व्रीहि आदि साधनों का अनुवाद कर 'यह करना चाहिये, यह नहीं' – यह बताना कर्मकाण्डश्रुति का काम है। साधनों की फलहेतुता किसी अन्य प्रमाण से पता नहीं चलती है, उसे कर्मविधायकशास्त्र प्रकाशित करता है। वह शास्त्र आत्मवस्तु का बोध कराने वाला नहीं है ॥३२३-३२४॥

मीमांसक वेद को साध्य में तात्पर्य वाला मानने से सिद्ध में प्रमाण मान नहीं सकता। द्रव्यादि की भी धर्मता में ही शास्त्र प्रमाण है, द्रव्यादिरूप से उन्हे शास्त्र नहीं बताता। श्लोकवार्तिक में (२.१३-१४) कहा है –

'द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते। तेषामैन्द्रियकत्वेपि न ताद्रूप्येण धर्मता ॥
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते । ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः ॥'

अतः द्रव्यादि कारकभेद के विषय में कर्मकाण्ड प्रमाण नहीं। उनका तो वह केवल अनुवाद करता है। उसका प्रमेय तो धर्म ही है। अतः द्वैतबाधक ज्ञानकाण्ड से विरोध नहीं। धर्म ही प्रमाणान्तर से अज्ञात है अतः वही बताता हुआ कर्मकाण्ड प्रमाण हो भी सकता है। यदि वह द्रव्यादि को बताने लगे तो क्योंकि वे प्रत्यक्षादिसिद्ध हैं इसलिये ज्ञातज्ञापक होने से कर्मकाण्ड

वेदो हि सर्व एवायमैकात्म्यज्ञानसिद्धये । अतो नान्योऽभिसम्बन्धः कर्मविज्ञानकाण्डयोः ॥३२५॥

अप्रमाण ही हो जायेगा। धर्म को भी कर्मकाण्ड केवल बता देता है, उसके भी सत्यत्व को नहीं कहता। अतः अनात्ममिथ्यात्व बोधक ज्ञानकाण्ड से किसी तरह भी विरोध संभव नहीं। [श्लोक ३२४ का प्रथम पाद महेशानुसन्धान-संस्करण में ग़लत छपा है।]

शंका होती है कि कर्मकाण्ड देहादिभिन्न आत्मा का भी बोधक है ही क्योंकि देहाद्यन्य आत्मा के बिना धर्म उपपन्न ही नहीं है। अतः आत्मज्ञान कर्मकाण्ड से ही सम्पन्न हो चुकने से ज्ञानकाण्ड की क्या ज़रूरत? इसका समाधान है कि विधिमात्र को स्वार्थ में तात्पर्यवाला मानने वाला मीमांसक सिद्ध आत्मवस्तु का वाक्यीय ज्ञान तो मानेगा नहीं। अतः अर्थलभ्य ही मान सकेगा। एवं च आत्मज्ञान के लिये प्रमाणभूत ज्ञानकाण्ड सार्थक है। अर्थलभ्य के कारण वाक्य को अनुवादक नहीं माना जाता। इसी दृष्टि से मीमांसक भी ज्ञानकाण्ड से ही आत्मा की जानकारी मानते हैं। उनकी दृष्टि से यद्यपि ज्ञानकाण्ड पूर्वकाण्ड का शेष है जो हमें स्वीकृत नहीं, तथापि उन्हे भी काण्डान्तर की सार्थकती स्वीकार्य है यह तात्पर्य है। अतएव शाब्दी अर्थापत्तिरूप मानान्तर के विषयभूत कर्त्रादिरूप आत्मा को कथंचित् सूचित कर भी दे, आत्मा की यथार्थता का बोधन नहीं कर पाता इस बात को स्पष्ट करने के लिये वार्तिककार ने 'वस्तु'-शब्द रखा है। इसलिये जैसे मानान्तरगम्य पश्वादि में वेद प्रमाण नहीं वैसे ही कर्त्रात्मा में वह प्रमाण नहीं है। वेदांत अकर्तृस्वरूप अतएव प्रमाणान्तर के अविषय आत्मा में तात्पर्य वाला होने से उसी में प्रमाण है। अतः काण्डांतर और काण्डद्वयका अविरोध स्फुट है। ऐसे में वादी को भी काण्डों का संबंध बताना ही होगा। सिद्धांती द्वारा कहा संबंध न्यायागमसिद्ध है अतः इसे छोड़ने में कोई कारण नहीं, यह भाव है ॥३२३-३२४॥

पूर्वपक्षी कुशावलम्बन कर कहता है: यदि काण्डों का पार्थक्य है तो ज्ञान भी स्वप्रकरणस्थ अंगादि से निराकांक्ष होने से काण्डद्वय का परस्पर कोई संबंध नहीं है। इसका प्रत्याख्यान करते हैं-

सारा ही यह वेद एकात्मता-ज्ञानकी सिद्धि के लिये है। कर्मकाण्ड व ज्ञानकाण्ड का इससे अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं है ॥३२५॥

कर्म शुद्धि-आदि की परंपरा से तथा ज्ञान साक्षात् ही अखण्डबोध की सिद्धि करते हैं। इस प्रकार एक ज्ञान के हेतु बनना – यह इनका सम्बंध है। अन्य कोई सम्बंध संभव नहीं।

भाष्य में सारे ही वेद को इष्टलाभ व अनिष्टनिवारण के उपाय का प्रकाशक कहा था। मोक्ष ही परम इष्ट है व अज्ञान ही समस्त अनिष्टों का मूल है। अतः मोक्षोपाय ज्ञानका उपदेश वेद करता है। कर्म सीधे ही ज्ञानहेतु नहीं हैं पर मन को ज्ञानयोग्य बनाने वाले होने से ज्ञानहेतु हैं ही। अतः काण्डों का सम्बन्ध है। भले ही ज्ञानप्रकरण में बताये अंगों से कुछ आकांक्षा निवृत्त होती है, फिर भी 'यज्ञेन' (बृ० ४.४.२२) आदि से कर्म की अपेक्षा रहने के कारण तथा 'न कर्मणामनारम्भाद्' (गी० ३.४) आदि स्मृति से भी यही मालूम चलने के कारण सर्वापेक्षाधिकरण (३.४.२६) के अनुसार सम्बन्ध स्वीकार्य है अन्यथा बहुतेरे श्रुति-स्मृतिवाक्यों का बाध होगा। यहाँ कर्म की विद्याहेतुता कही है, यह नहीं कि उसकी अभ्युदयहेतुता नहीं है। अतः 'इति नु कामयमानः। अथाकामयमानः' (बृ० ४.४.६) इत्यादि श्रुति के आधार पर सकाम के लिये कर्म अभ्युदय का व निष्काम के लिये ज्ञान का हेतु है यह भाव है ॥३२५॥

वार्तिककार ने कह दिया कि सारा ही वेद ज्ञान के लिये है। कुछ लोग नित्यादि को संस्कारार्थ मानते हैं, काम्यों को नहीं। मीमांसक भी 'मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः' (श्लोकवा० सम्बन्ध ११०) आदि से काम्य को मोक्षोपयोगी नहीं मानता। अतः वार्तिक के 'सारा' इस शब्द को सहन न करता हुआ वादी श्लोक ३२१ में कही बात को दुहराते हुए आक्षेप करता है-

नित्यनैमित्तिकानीह कर्तृसंस्कारतो यतः । नान्यत्र पर्यवस्यन्ति ज्ञानादैकात्म्यगोचरात् ॥३२६॥
प्लवा ह्येते परीक्ष्येति तथा तद्य इहेति च । निन्दाश्रुतेर्न काम्यानां कार्यताऽध्यवसीयते ॥३२७॥
विधिनिन्दासमावेशो नैवमप्युपपद्यते । फलाभिसंधिमात्रे तु निन्दायामेव युज्यते ॥३२८॥

नानाविध कर्मों में जो नित्य-नैमित्तिक कर्म हैं वे क्योंकि कर्ता में संस्कारनामक शुद्धि द्वारा ज्ञानहेतु हैं इसलिये एकात्मताविषयक ज्ञान से अन्य किसी फलवाले नहीं हैं। किन्तु 'ये नावें', 'परीक्षा करके', 'उनमें से जो यहाँ' इत्यादि निन्दाश्रुतियों के कारण यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि काम्यकर्म कर्तव्य हैं ॥३२६-३२७॥

नित्यादि के ज्ञानहेतुत्व में यहाँ शंका नहीं, काम्यों के विषय में ही है। मुण्डकमें (१.२.७) यज्ञों को अदृढ नावे कहा है जिनका सहारा लेने वाले जरा-मृत्यु ही पाते हैं। वहीं (१.२.१२) बताया है कि कर्मफलों की परीक्षा करके समझ लेना चाहिये कि कर्म से मोक्ष होना नहीं अतः विरक्त होकर परमात्मज्ञान के लिये परमहंस गुरु की शरण जाये। छांदोग्य में (५.१०.७) कहा है कि लोगों में जो यहाँ अच्छे कर्म करते हैं वे स्वर्ग से लौटने पर अच्छी योनि पाते हैं तथा बुरे कर्मों वाले बुरी योनि पाते हैं। इस प्रकार कर्म की निंदा सुनी गयी है जिससे यही नहीं मान सकते कि काम्य कर्म करने योग्य हैं तो यह कैसे समझें कि वे ज्ञानहेतु हैं? छांदोग्यवाक्य में स्वर्ग से लौटना कहा है। स्वर्ग काम्यों का ही फल है और लौटना महान् कष्ट है। इस तरह काम्यों की निंदा वहाँ समझनी चाहिये ॥३२६-३२७॥

सिद्धान्ती परिहार करते हुए बताता है कि काम्यकर्म निंदित भले ही हों, विहित तथा अनिषिद्ध होने से वे अकर्तव्य नहीं हो सकते हैं-

यद्यपि काम्य कर्म विहित भी हैं और उनकी निंदा भी है तथापि उन्हे अकर्तव्य मानने में अनुपपत्ति ही है। निंदा को केवल फलेच्छाविषयक मानें, जब तो सब उपपन्न है ॥३२८॥

अभिप्राय है कि शास्त्र फलकामना की निंदा कर रहा है, कर्म की नहीं, अन्यथा वह कर्मका विधान ही क्यों करता? निंदा से यदि 'काम्य नहीं करने चाहिये' यह शास्त्राभिप्राय हो तो काम्यविधि से विरोध होगा और एकत्र यदि विधि का अर्थ कर्तव्य नहीं होगा तो नित्यादि में भी विधि कर्तव्यता नहीं बता पायेगी। इसलिये यही मानना चाहिये कि कामना के निषेध के लिये उसी की निंदा में शास्त्रका तात्पर्य है । तब विधिप्रयोग भी संगत है और निन्दा भी। काम्यों से यद्यपि परंपरासे अनर्थ होता है तथापि वह इसलिये कि उन्हे कामना से किया गया। केवल उन कर्मों का संपादन साक्षात् या परंपरा से अनर्थकारी नहीं है। फलेच्छा की निंदा से उसी का निषेध है, स्वरूपतः कर्म का नहीं। फलेच्छा के बिना चित्रादि कर्म करने से भी चित्तशुद्धि होती है यही मान्य है। अतः 'सारा' ऐसा कहना (श्लो० ३२५) सम्यक् है।

यह नहीं कह सकते कि बिना कामना करेंगे तो वे कर्म काम्य नहीं कहलायेंगे; कर्ता की कामना - प्रेरितता से कर्मों को काम्य नहीं कहते बल्कि जिन कर्मों का विधान किसी फल के लिये किया है उन्हे काम्य कहते हैं, अतः अमुमुक्षु उन्हे फलकामना से ही करते हैं जिससे उनकी काम्यता स्थित है। मुमुक्षु फलकामना से उन्हे न करे तो भी उक्त हेतुद्वय से (फलार्थविहितत्व और अमुमुक्षु द्वारा कामनाप्रेरणा से अनुष्ठीयमानत्व) वे काम्य कहे ही जायेंगे। किं च मुमुक्षु भी मोक्षकामना से ही उन्हे करता है अतः काम्यता तो है ही। उनके विशिष्ट पश्वादि फलों की कामना से मुमुक्षु उन्हे न करे इतना ही फलाभिसंधि की निंदा का तात्पर्य है। यद्यपि इस प्रकार नित्यादि भी मोक्ष की कामना से ही मुमुक्षु करता है तथापि उन्हे काम्य कहते नहीं क्योंकि पूर्वोक्त हेतुद्वय नित्यादि में नहीं हैं। श्येनादि का तो फल निषिद्ध है, काम्यों का फल निषिद्ध नहीं यह इनमें भेद है। इसलिये श्येनादि फलतः अनर्थकारी हैं जबकि काम्यों के फलमात्र में कोई अनर्थ नहीं, फलसमाप्ति पर भले ही च्युतिरूप अनर्थ हो या फलभोग में रागादि करने से अनर्थ हो। काम्यकर्म से राग उत्पन्न नहीं हुआ अतः काम्य को फलतः भी अनर्थकारी नहीं कह सकते।

श्रीनृसिंहपुरी जी ने बताया है कि यहाँ फलकामना का निषेध, उसकी अनर्थकारिता तथा निंदितता तीनों को वार्तिक

उपासनं च यत्किंचिद्विद्याप्रकरणे श्रुतम् । तदप्यैकात्म्यविज्ञानयोग्यत्वायैव कल्पते ॥३२९॥
विमुच्यमान इत्युक्तेरर्चिराद्युक्तितस्तथा । स्वार्थमात्रावसायित्वं नोपास्तीनां प्रतीयते ॥३३०॥

में 'एव' पद से कहा है 'निषिद्धत्वानर्थार्थत्वनिन्दितत्वानामयोगव्यावृत्त्यर्थ एवकारः।' स्वयं ही उन्होंने व्याख्यान किया है: जिन कामना आदि के निंदितत्व आदि हैं उनकी पूर्वकाण्ड में न जिज्ञासा है, न धर्मता है और न विधेयता है, अतः कामनानिंदा पूर्वकाण्डार्थ की विरोधी नहीं है। जिन यागादि की विधेयता है, स्तूयमानता है और पुरुषार्थता है, उनकी निंदा नहीं है, निषिद्धता नहीं है व उन्हे अनर्थकारी नहीं कह रहे। अतः भी पूर्वकाण्ड से कोई विरोध नहीं। फलेच्छा की निंदादि है और उसे चित्तशोधक नहीं कह रहे एवं जिसे चित्तशोधक कह रहे हैं उस कर्मस्वरूप की निंदादि नहीं है, इसलिये शुद्धिशास्त्र से अर्थात् उत्तरकाण्ड से भी कोई विरोध नहीं है। वार्तिक के 'युज्यते' पद की यह व्याख्या समझनी चाहिये। काम्य का फल के लिये विधान होने से वे शुद्धि क्यों करेंगे? इसका उत्तर है कि कामुक के प्रति फल के लिये विधान की तरह निष्काम के प्रति विविदिषा के लिये विधान है अतः उसकी शुद्धि के हेतु होने में कोई आपत्ति नहीं। इस विषय में सम्प्रदायरहस्य के जानकार आचार्य का वचन (सं० शा० १.६४) भी प्रमाण है:

'एकाहाऽहीनसत्रद्वयविधिविहितानेककर्मानुभावध्वस्तस्वान्तोपरोधाः कथमपि पुरुषाश्चिद्दिदृक्षां लभन्ते ।
यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा स्वोत्पत्त्याम्रानसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति' ॥३२८॥

मोक्ष केवल ज्ञानलभ्य नहीं ऐसे आग्रह वाला वादी शंका करता है: कर्म ज्ञानकी अपेक्षा भिन्न प्रकरण में विहित है अतः वे मोक्ष के साक्षात् हेतु न होने से शुद्धिद्वारा उपकार करते हैं यह विविदिषावाक्य से मान्य है किन्तु उपासनायें तो ज्ञान के प्रकरण में ही हैं अतः उन्हे विद्याकी तरह साक्षात् ही मोक्षहेतु मानना चाहिये। विकल्प न मानो तो भी ज्ञान और उपासना का सहसमुच्चय मोक्ष हेतु है ऐसा स्वीकारना ही चाहिये। इसका समाधान करते हैं–

विद्या के प्रकरण में जो कोई भी उपासना सुनी गयी (=विहित) है, वह भी एकात्मता के अनुभव की योग्यता उत्पन्न करने में ही समर्थ होती है ॥३२९॥

तीन तरह की उपासनायें शास्त्र में बतायी हैं: कुछ हैं कर्म को ही विशिष्ट फल वाला बनाने वाली अतः कर्मांगावबद्ध हैं; कुछ हैं जो कर्मांगों में बँधी नहीं हैं, स्वतंत्र हैं और सांसारिक श्रेष्ठ फल देने वाली हैं; और कुछ हैं जो स्वतंत्र हैं और क्रममोक्ष देने वाली हैं। प्रथम का दृष्टांत छांदोग्यविहित (१.१.१) उद्गीथोपासना आदि हैं, द्वितीय का पंचाग्निविद्या, पर्यंकविद्यादि और तीसरे का दहरविद्या आदि। इन सभी से चित्त में ज्ञानसामर्थ्य आती है। ज्ञान उत्पन्न करने के अभिमुख होना ही मन की वह सामर्थ्यविशेष है जो उपासना से मिलती है। कर्मों से चित्त शुद्ध हो जाने पर भी विद्या की अभिलाषा उत्कट नहीं हो पाती, उत्कट अभिलाषा के लिये उपासनायें हेतु बनती हैं। अतः 'यदेव विद्ययेति हि' (४.१.१३.१८) अधिकरण में आचार्यों ने स्पष्ट किया है विद्या अर्थात् उपासना से कर्म को अधिक शक्तिशाली बनाकर अनुष्ठान करने से ज्ञानयोग्य मन बनने में अधिक उपकार होता है। उपासना को विविदिषा में विनियुक्त करने वाला प्रमाण प्रकरण है। विविदिषाश्रुति में 'तपसा' कहा है, तप में उपासनाओं का भी ग्रहण है, अतः श्रुति भी प्रमाण है। यद्यपि ज्ञान कर्म से और उपासनायें भी अपने प्रतिस्विक फलों से निराकांक्ष हैं अतः उभयाकांक्षा प्रतीत नहीं होती तथापि ज्ञान को अधिकाधिक साधन की अपेक्षा है ही और उपासनाये भी कर्म की तरह सर्वश्रेष्ठ फल मोक्ष से सम्बन्ध के प्रति सापेक्ष ही हैं अतः उभयाकांक्षा समझना सरल है। वस्तुतस्तु विविदिषावाक्य ही तपःशब्द से उपासनाओं का ग्रहण कर विनियोग बता रहा है ॥३२९॥

ज्ञानकी तरह उपासना मोक्ष का ही हेतु है यह मानने में दोष बताते हैं–

'छूटते हुए' इस कथन से तथा अर्चिरादि मार्गकथन से यह प्रतीत नहीं होता है कि उपासनायें साक्षाद् मोक्ष देती हैं ॥३३०॥

इत्येवमभिसंबन्धः कर्मकाण्डस्य युज्यते । इतोऽन्यथाऽभिसंबन्धे न किंचिन्मानमीक्ष्यते ॥३३१॥
न चोद्गीथादिविषयज्ञानवत्कर्मसंगतिः । ऐकात्म्यबुद्धेस्तद्बुद्धिद्वारं नैव निरीक्ष्यते ॥३३२॥

आचार्य याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से पूछा 'तुम समाहितमना हो अर्थात् उपासनायें कर चुके हो, बताओ इस शरीर से छूटते हुए तुम कहाँ जाओगे?' (बृ०४.२.१) इससे पता चलता है कि उपासना के फलस्वरूप कहीं जाना पड़ता है। कैवल्य मोक्ष के लिये तो जाना पड़ता नहीं। अतः उपासना साक्षात् ही मोक्ष नहीं देती यह निश्चित है। ऐसे ही उपासक मरने के बाद अर्चिरादि मार्ग से जाता है यह (छां० ४.१५.५) भी शास्त्रों में कहा है। इससे भी उपासना सीधे ही मोक्ष नहीं देती यह व्यक्त होता है। उपासना से जो ब्रह्मप्राप्ति कही गयी है वह कार्यब्रह्म की ही प्राप्ति है यह ब्रह्मसूत्रों में निर्धारित है (४.३.७.५)। ब्रह्मलोकादि दिलाकर वहाँ प्रजापति से उपदेश पाने पर मोक्ष होता है अतः उपासनाओं को परंपरया मोक्षहेतु मानने में कोई आपत्ति नहीं क्योंकि तब स्पष्ट ही केवल ज्ञान से मोक्ष स्वीकृत हो जाता है। 'छायातपयोरिव ब्रह्मलोके' (कठ० ६.१५) आदि से ब्रह्मलोक में स्पष्ट साक्षात्कार बताया ही गया है। एवं च श्रुत्यनुरोध से उपासना मोक्षफलक नहीं अतः पूर्वोक्त ढंग से चित्तशोधक है। क्रममोक्षफलक उपासना भी ब्रह्मलोक पहुँचाकर वहाँ भी भोगपरायण न होने देकर ज्ञानोन्मुख कर देती है ताकि साक्षात्कार हो जाये।

कल्पलता और तत्त्वविवरण में इस श्लोक की योजना ऐसे है: उपासनाओं की ज्ञानसाधनता में क्या प्रमाण? यह प्रश्न होने पर वार्तिक प्रवृत्त हुआ। उक्त बार्हदारण्यक प्रसंग में याज्ञवल्क्य के सवाल का जनक के पास जवाब नहीं था अतः याज्ञवल्क्य ने उसे निर्विशेष आत्मज्ञान का उपदेश देकर अभयपद पर प्रतिष्ठित किया। ऐसे ही अर्चिरादि मार्ग से गये हुए लोगों के लिये अनावृत्ति कही है तथा यह बताया है कि वे ब्रह्मलोक में परम अंतकाल में मुक्त होते हैं (मुं० ३.२.६) इससे मालूम पड़ता है कि उपासनाओं के जो प्रातिस्विक फल हैं उतने से ही उपासनायें कृतकार्य नहीं होती, मोक्षप्राप्ति में भी उपकार करती हैं।

दोनों व्याख्याओं में मूलतात्पर्य एक ही रहता है। अंतर का हेतु है कि शास्त्रप्रकाशिका में 'स्वार्थमात्रावसायित्वम्' में स्वार्थ का अर्थ मोक्ष कहा है जबकि दूसरी व्याख्या में स्व अर्थात् उपासनायें, उनका जो अर्थ, प्रयोजन, प्रातिस्विक फल वह स्वार्थ कहा गया है ॥३३०॥

काण्डद्वय का भाष्यानुसारी सम्बन्ध यही है कि कर्म शुद्धि द्वारा ज्ञानहेतु बनते हैं जबकि उपनिषदें साक्षात् ही ज्ञानहेतु हैं अर्थात् एकज्ञानहेतुत्व ही काण्डों का सम्बंध है। यह बताकर संबंधान्तर को असंभव बताते हैं–

इस तरह दोनों काण्डों का सम्बन्ध संगत है। इससे अन्य प्रकार से इनका सम्बन्ध होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता ॥३३१॥

श्लोक २८४ से ३३० तक विस्तार से समझाया कि काण्डों का भेद है तथा इनकी वाक्यैकवाक्यता है अतः सारा ही वेद साक्षात् या परंपरा से एकात्मताबोध के लिये है। यही भगवान् भाष्यकार की दृष्टि से काण्डद्वय का प्रामाणिक संबंध है। अन्य कोई संवंध प्रमाणसिद्ध नहीं। अन्य संबंध की संभावनाओं की परीक्षा अगले कुछ श्लोकों में (श्लो० ३३२-३५६) की जायेगी ॥३३१॥

कोई अनुमान कर सकता है: आत्मज्ञान का कर्म से संबंध है क्योंकि वह वैदिक ज्ञान है, जो वैदिक ज्ञान होता है वह कर्मसम्बद्ध होता है, जैसे उद्गीथ आदि का ज्ञान (= ध्यान)। इसमें अंगावबद्धता उपाधि बताते हुए कहते हैं –

उद्गीथादिविषयक ज्ञान की तरह एकात्मताज्ञान का कर्म से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि इस बुद्धि का कर्म-प्रवेश हो इसका कोई रास्ता नहीं दीखता ॥३३२॥

हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन– सामगान की ये सात भक्तियाँ (हिस्से) कहे गये हैं (छां०

२.८)। उद्गीथ के अवयवभूत ओङ्कार की उपासनाविशेष से फलविशेष की प्राप्ति भी बतायी है (छां० १.१)। यह कर्म के अंगरूप से उद्गीथ-गान करते समय की जाने वाली उपासना है। अतः उद्गीथरूप कर्मांग को द्वार बनाकर यह उपासना कर्म में प्रवेश कर पाती है। किन्तु अखण्डज्ञान को ऐसा कोई दरवाज़ा मिलता नहीं क्योंकि श्रुति ने कहीं किसी कर्म या उसके अंग से एकात्मताधी का सम्बंध बताया नहीं है। यद्यपि उद्गीथोपासना के बिना भी कर्म सांगोपांग पूर्ण हो सकता है यह ब्रह्मसूत्र में (३.३.४२) निर्धारित कर दिया है जिससे यह उपासना ख़ुद कर्मांग नहीं है, अंग होती तो इसके बिना अंगी कर्म संपन्न न हो पाता, तथापि यह कर्मांग से, उद्गीथ से, सम्बन्ध वाली है इसलिये इसका कर्म – प्रवेश संगत है। आत्मज्ञान न स्वयं कर्मांग है और न किसी कर्मांग से सम्बद्ध, अतः उसका कर्मसम्बंध संभव नहीं।

किं च कर्म में विशेषफलकता ले आना नामक उपयोग उद्गीथोपासना में है जो आत्मज्ञान में नहीं। उद्गीथोपासना कर्मोपयोगी है, आत्मज्ञान नहीं। अतः उपयोगवत्त्व भी एक उपाधि वादिप्रयोग में समझनी चाहिये। तथा सत्प्रतिपक्ष भी है: आत्मज्ञान का कर्म में प्रवेश नहीं है क्योंकि यह कर्म का विरोधी है, जो जिसका विरोधी होता है उसका उसमें प्रवेश नहीं होता, जैसे रज्जुज्ञान का सर्प में प्रवेश नहीं होता। इससे भी वादिप्रयोग कटता है। ये दोनों बातें विद्यासागर ने सूचित की हैं।

वार्तिक में उद्गीथादिविषयज्ञान से उपासना कही गयी है ऐसा मानकर श्रीमान् आनन्दगिरि स्वामी ने तथा श्री आनन्दपूर्ण मुनीन्द्र ने व्याख्या की है। श्रीनृसिंहपुरी ज्ञान को जानकारी-परक मानकर समझाते हैं: 'उद्गीथादेः कर्माङ्गस्य स्वविषयज्ञानमन्तरेण प्रयोगानुपपत्तेः तज्ज्ञानं कर्माङ्गमिति युज्यते, इह तु औपनिषदात्मज्ञानमन्तरेण अनुपपत्त्यभावात् कर्मविधयः तज्ज्ञानं नाक्षिपन्ति' अर्थात् कर्मविधि का सही अनुसरण तभी हो सकता है जब कर्मांगों को जाना हो। अतः कर्मविधि से यह अर्थात् प्राप्त होता है कि हम कर्मांगों को जानें। उद्गीथादि कर्मांग हैं। उनकी जानकारी के बिना कर्म नहीं हो सकता, जानकारी से सही हो सकता है। इसलिये कार्मांगभूत उद्गीथ आदि की जानकारी भी कर्म का अंग ही है। पर उपनिषद्-उक्त आत्मा के ज्ञान के बिना कर्म न हो सके ऐसा तो है नहीं अतः आत्मज्ञान कर्मांग नहीं है। कर्म विधि जैसे यह सूचित करती हैं कि अंगों को जानो ऐसे आत्मा को जानो यह सूचित करती नहीं। इसलिये ज्ञान कर्मानुप्रवेश नहीं प्राप्त करता। इस व्याख्या में अंगज्ञान का कर्मप्रवेश में द्वार है अंगानुष्ठान ॥३३२॥

अब मीमांसाप्रसिद्ध श्रुति आदि अंगताबोधक प्रमाणों से ज्ञान की कर्मांगता है इस शंका का विस्तृत समाधान किया जायेगा।

'जो भी विद्या से करता है' (छां० १.१.१०) यह वचन आत्मज्ञान को कर्मांग बताता है क्योंकि यहाँ 'विद्यया' (विद्या से) इस तृतीया-श्रुति से विद्या की अंगता मालूम पड़ती है। तृतीया, पंचमी और सप्तमी श्रुतियाँ शेषत्व का बोध कराती हैं जैसे 'अरुणया क्रीणाति' में क्रयभावना के प्रति आरुण्य की शेषता है, 'चात्वालान्मृदमाहरति' में आहरणक्रिया के प्रति चात्वाल की शेषता है और 'वेद्यां हवींष्यासादयति' में हविरासादनक्रिया के प्रति वेदी की शेषता है। द्वितीया और चतुर्थी श्रुतियाँ शेषित्व का बोध कराती हैं जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' में प्रोक्षणक्रिया के प्रति व्रीहि की शेषिता है और 'मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति' में प्रदानक्रिया के प्रति मैत्रावरुण की शेषिता है। षष्ठी श्रुति कहीं शेषत्व का बोध कराती है जैसे 'यजमानस्य याज्या' में और कहीं शेषित्व का जैसे 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' में। प्रकृत में 'विद्यया' यह तृतीयाश्रुति 'करोति' से कहे कर्मों के प्रति विद्या की शेषता बता रही है। श्रुति अंगता बताती है यह पूर्वतंत्र में निर्धारित है।

मैत्रायणी संहिता में (३.२.४) 'निवेशनः संगमनो वसूनाम्' इस इन्द्रसम्बंधी ऋचा का गार्हपत्य-उपस्थान में विनियोग तृतीया श्रुति से किया है 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'। इस ऋचा में आगे कहा है 'विश्वा रूपाऽभिचष्टे शचीभिः। देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम्।।' अतः यह ऋचा इन्द्र-सम्बंधी है यह स्पष्ट है। इस से संशय होता है कि इंद्रप्रकाशन-सामर्थ्य से यह इन्द्र-उपस्थान के लिये है या ऐन्द्र्या आदि श्रुति से गार्हपत्यके उपस्थान के लिये है? उपस्थान अर्थात् समीप जाना।

पूर्वपक्ष है–'गार्हपत्यम्' यह द्वितीयाश्रुति भले ही गार्हपत्य की शेषिता बता दे, मंत्र में तो ऐसी सामर्थ्य है नहीं कि उसका गार्हपत्यसंबंध पता चले। जिसका (मंत्रका) विनियोग करना है उसकी सामर्थ्य के अनुसार ही विनियोग होना चाहिये। अतः यह ऋचा इन्द्रोपस्थान में विनियुक्त माननी चाहिये। ऐसा करने से मंत्र का इंद्र पद मुख्यार्थक रहेगा अन्यथा उसे गौणार्थक मानना पड़ेगा जो संगत नहीं। 'गार्हपत्यमुपतिष्ठते' श्रुति की संगति 'उपेत्य' (= पास अकर) इस पद के अध्याहार से हो जायेगी। अर्थात् गार्हपत्य के पास आकर ऐन्द्री से इंद्रोपस्थान करे – यह श्रुत्यर्थ समझ लेना चाहिये।

सिद्धान्त है–ऐसी कल्पना असंगत है, यह ऋचा गार्हपत्य के उपस्थान में ही विनियुक्त है। 'गार्हपत्यम्' यह द्वितीया श्रुति उसे शेषी तथा 'ऐन्द्र्या' यह तृतीया श्रुति मंत्र को शेष बता रही है, इन श्रुतियों का बाध नहीं किया जा सकता। मंत्र तो गौणीवृत्ति से गार्हपत्य का कथन कर ही सकता है। इन्द्र की तरह गार्हपत्य भी यज्ञका साधन है अतः जैसे क्रौर्य से सिंहपद माणवक को कह देता है ऐसे यज्ञसाधनत्वगुण से मंत्र गार्हपत्य का प्रकाशन कर देगा। विनियोग से मंत्र का तात्पर्य गार्हपत्योपस्थान में है यह निश्चित होने से लक्षणादि से तात्पर्यानुसारी अर्थ का प्रकाशन ही संगत है। पदों की सामर्थ्य से तात्पर्य का निर्वाह होना चाहिये, किन्तु मंत्र में स्पष्ट ही इन्द्रपद आया है अतः निर्वाह कैसे होगा? तात्पर्यवश इंद्रशब्द गौणार्थक है। 'इदि परमैश्वर्ये' धातु से इंद्रशब्द बना है अतः स्वामित्व का बोध कराता है और गार्हपत्य में भी अपने कार्यों के प्रति ऐश्वर्य (=स्वामित्व) है, अतः इन्द्र से उसे कहा जाना संगत है। इस प्रकार यौगिकार्थ के परिग्रह से भी काम चल जाता है। बल्कि विवक्षित लिंग से अनुगृहीत योगवृत्ति केवल रूढि से बलवान् होती है यह शारीरकन्यायसंग्रह के अक्षराधिकरण में (१.३.१०) विवरणाचार्यों ने स्थापित किया है अतः यहाँ श्रुति से अनुगृहीत योगवृत्ति केवल रूढि से बलवान् होगी इसमें कहना ही क्या! अध्याहार की अपेक्षा योग का आश्रयण लाघव वाला भी है। इसलिये मंत्र को गार्हपत्य के उपस्थान में ही विनियुक्त मानना उचित है।

इसी न्याय से (पू०मी० ३.२.२) छांदोग्य के 'विद्यया' पद से ज्ञान को कर्मांग मानना चाहिये। इस शंका का निराकरण करते हैं–

वेद में किसी भी प्रकरण में किसी श्रुति से एकात्मता के विज्ञान का किसी भी कर्म में विनियोग नहीं किया गया है जैसे ऐन्द्री से उपस्थान किया जाये यह विनियोग है ॥३३३ के तीन पाद ॥

किसी भी प्रकरण में अर्थात् कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड कहीं भी। किसी भी कर्म में अर्थात् अग्निहोत्रादि शारीरिक और उपासनारूप मानसिक किसी भी कर्म में विनियोग नहीं कहा। किसी भी श्रुति अर्थात् शेषत्वबोधक या शेषित्वबोधक किसी भी द्वितीयादि श्रुति से। दृष्टांत का अर्थ कहा ही जा चुका है। जो तो 'यदेव विद्यया करोति' वाक्य है वह अंगावबद्ध उपासना के विषय में ही है, आत्मविद्या के विषय में नहीं। वहाँ उपक्रम है 'उद्गीथमुपासीत' और उपसंहार है 'अक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छां० १.१.१०)। आगे यह स्पष्ट कहा है कि जो 'ऐसा' जानता है वह भी करता है और न जानने वाला भी। 'यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (१.१.१०); अतः 'एवम्' से पूर्वोक्त रसत्वादि का ही परामर्श संभव है, आत्मा न पूर्वप्रकृत है न अनन्तर ही। अतः 'यदेव विद्यया' में भी विद्यासे वहीं विहित ओङ्कारोपासना कही गयी है, आत्मज्ञान नहीं। इसलिये आचार्य बादरायण ने कर्म को समृद्ध करने वाली उपासनाओं का महत्त्व बताते हुए उनके लिये विद्याशब्द का प्रयोग किया है 'यदेव विद्ययेति हि' (४.१.१८): विद्यायुक्त कर्म उपकार करता ही है – यह सूत्रार्थ है। इस प्रकार श्रुति से विनियोग नहीं है यह सिद्ध हुआ।

अब लिंग से भी विनियोग नहीं है यह बतायेंगे। यह भी विनियोग में प्रमाण है इस बात को पूर्वतंत्र के अधिकरण से (३.२.१) स्पष्ट करते हैं। प्रसंग यह है कि 'बर्हिर्देवसदनं दामि' (मैं० १.१.४) आदि मंत्रों में लिंग अर्थात् सामर्थ्य है यह प्रकाशित करने की कि बर्हि को काटना इस मंत्र से किया जाये। मंत्र में जो अपने प्रयोजन का बोध कराने की सामर्थ्य होती है उसे लिंग कहते हैं 'लिंगं नाम मंत्राणामर्थप्रत्यायनसामर्थ्यम्' (तं० वार्ति० ३.२.१)। प्रकृतिभूत इष्टि में चार दर्भमुष्टियों का छेदन करते हैं जिनमें एक को मंत्रों से संस्कृत कर वेदी पर रखते हैं। बाकी तीन को बर्हिः कहते हैं और

श्रुत्या नैकात्म्यविज्ञानं विनियुक्तं श्रुतौ क्वचित् ।
उपस्थानं यथैन्द्र्या स्यान्नापि लिङ्गेन संगतिः । बर्हिर्देवसदनं दामीत्यादौ च यथा तथा ॥३३३॥

वे सभी क्रियाओं में काम आती हैं। मंत्र का 'दामि' शब्द 'दा लूनौ' (अद-पर-अनिट्) धातु का रूप है अतः लूनि अर्थात् छेदन का (काटने का) प्रकाशक है। इस प्रकार लिंग से बर्हिः काटने में मंत्र का विनियोग पता चलता है। न्यायका इतना ही भाग प्रकृतोपयोगी है। इसी आधार पर प्रश्न बनता है कि आत्मज्ञान कर्ता के संस्कार रूप से शास्त्रोक्त है अतः यदि उस ज्ञान का कर्म में प्रवेश न हो तो उसकी सफलता अनुपपन्न है और व्यर्थ संस्कार शास्त्र कह नहीं सकता, अतः सामर्थ्यवश उसे कर्मसंबद्ध मानना होगा।

शास्त्रप्रकाशिका में उक्त अधिकरण को समझा दिया है: बर्हिः दो तरह की होती है – कुशादि मुख्य एवं अन्य तृण जिन्हे गौण रूप से बर्हिः कह देते हैं 'मुख्यं कुशकाशादि दशविधदर्भरूपं, गौणं तु तत्सदृशं तृणान्तरम्' (न्या.मा.)। अथवा कुशादि तृण मुख्य हैं व तृणसदृश अन्य पदार्थ गौण हैं 'उभयमपि बर्हिःशब्देन शक्यते प्रत्याययितुं तृणं च तृणसदृशं च; तृणं साक्षात्, तृणसदृशं तृणप्रत्ययेन। यच्च नाम दर्शपूर्णमासयोः साधनभूतेन बर्हिःशब्देन शक्यते प्रत्याययितुं तत् सर्वं प्रत्याययितव्यम्' (शाबर० ३.२.१)। अतः **संशय** है कि मंत्र में बर्हिःशब्द मुख्य का बोधक होकर उसी के छेदन में विनियुक्त है या गौण का भी बोधक हो उसके छेदन में भी? **पूर्वपक्ष है**– केवल शब्द से जिस अर्थ का ज्ञान हो वह मुख्यार्थ कहा जाता है। जब वाक्य के अर्थ से सम्बद्ध के गुण के संबंध से अमुख्य का बोध होता है तब उस अमुख्य को गौणार्थ कहते हैं। जैसे 'अग्नि पढ़ता है' वाक्य का अर्थ है माणवकविशेष और पढ़ने का सम्बंध, उससे सम्बंधी है माणवक, उसमें गुण है पिंगलतादि, उसके द्वारा अग्निशब्द माणवक को कह रहा है अतः माणवकवस्तु अग्निशब्द का गौण अर्थ है। दोनों अर्थों में शब्द की शक्ति एक जैसी माननी चाहिये अतः बर्हिः के दोनों तरह के अर्थों का बोध होने से दोनों प्रकार की बर्हिः के छेदन में मंत्र का विनियोग मानना उचित है। **सिद्धान्त है** – शब्द की गौणार्थ में भले ही सामर्थ्य हो पर उतने से विनियोग नहीं हो जायेगा। शब्द से उपस्थापित (बोधित) जो कार्य है उसकी विधि से ही विनियोग होगा। लिंग से श्रुतिकल्पना करनी ही पड़ेगी। जब शब्द से गौण का ज्ञान करने चलेंगे तो पहले मुख्य का ज्ञान होगा ही। पहले आये मुख्य में ही विनियोग बताने से विधि निराकांक्ष हो जायेगी अतः गौण की इंतज़ार ही नहीं होगी। जैसे 'अग्निर्दहति' सुनकर गौणार्थ तक कोई नहीं जाता क्योंकि मुख्य से ही वाक्यार्थधी निःसंदिग्ध हो जाती है। मुख्य संभव न हो तभी गौणार्थ की कल्पना सर्वत्र होती है। इसलिये लिंग से होने वाला विनियोग मुख्य अर्थ में ही करना चाहिये गौण में नहीं। यह निर्णय इस अधिकरण में है। इसे गौणमुख्याधिकरण कहते हैं। प्रकृत में यह विचार उपयोगी नहीं है।

एवं च आत्मज्ञानरूप पदार्थ की सामर्थ्य से उसका कर्मसंबंध होना चाहिये; इस शंका को हटाते हैं–

जैसे 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादि में लिंग होने से कर्म-संबंध है वैसे लिंग से भी आत्मज्ञान का कर्मसंबंध नहीं है ॥३३३॥

उक्त मंत्र में तो 'बर्हिर्दामि' यह वाक्य इस सामर्थ्य का प्रकाशक है कि मंत्र लवनांग है किन्तु आत्मज्ञान की कर्मांगता को प्रकाशित करने वाला कुछ भी नहीं है अतः इसका लिंग से विनियोग संभव नहीं। यह ज्ञान कर्ता का संस्कार करने वाला नहीं यह पहले (श्लो० १०४ आदि) समझा चुके हैं और आगे भी (श्लो० ४२७ आदि) कहेंगे।॥३३३॥

श्रुति व लिंग दो प्रमाणों से आत्मा का कर्म में विनियोग सिद्ध नहीं हो सकता तो वाक्य नामक तीसरे प्रमाण से ही वह हो जाये यह शंका करने के लिये वाक्याधिकरण (३.६.१) का स्वरूप समझना चाहिये। अनारभ्य अधीत अर्थात् प्रकृति के या विकृति के प्रकरण में न पढ़े गये कुछ वाक्य हैं जैसे 'जिसकी जुहू पर्णमयी होती है वह अपकीर्ति नहीं सुनता'(तै०सं० ३.५.७) इत्यादि। पर्णमयी अर्थात् पलाश-काष्ठ से निर्मित। यद्यपि यहाँ शेषत्व या शेषित्व का बोध कराने वाली श्रुति नहीं है, प्रथमा तो प्रातिपदिकार्थमात्र बताकर कृतकार्य है, अतः वाक्यरूप प्रमाण से ही शेषशेषिभाव का पता

न चापि वाक्याद्विज्ञानं कर्तृद्वारेण गच्छति । कर्मण्यप्रक्रियास्थं सज्जुहूपर्णमयीत्ववत् ॥३३४॥
जुह्वाद्याकृतिसंपत्तिव्यपेक्षापूरणक्षमम् । विशेत्पर्णमयीत्वादि प्रकृत्युपनयात्क्रतुम् ॥३३५॥
कर्मापेक्षितकर्त्रादिरूपविध्वंसकृन्न तु । ऐकात्म्यज्ञानमन्वेति स्वातन्त्र्येऽप्यर्थवत्त्वतः ॥३३६॥
जुह्वाद्यव्यभिचारित्वात्प्रत्युपस्थापयेत्क्रतुम् । कर्ताऽन्यत्रापि सद्भावान्नाऽऽक्षेप्ता व्यभिचारतः ॥३३७॥

चलता है। जुहू को उद्देश्यकर पर्णता का विधान होने से जुहू का अंग पर्ण है। वह जुहू क्रतु का अव्यभिचारी अंग है। अतः जुहू द्वारा पर्णता का क्रतुनियोग से सम्बंध स्थापित हो जाता है। एवं च पर्णता वाक्यप्रमाण से क्रतु का अंग है यह बात निश्चित है। इतनी बात प्रकृत में काम की है। आगे वाक्याधिकरण में संशय है कि यह वाक्यकृत विधान प्रकृति-विकृति दोनों के लिये है, या केवल प्रकृति के लिये है? जिसके सब अंग उपदेश से प्राप्त हों वह प्रकृति कर्म कहलाता है और 'प्रकृति की तरह विकृति को करना चाहिये' इस नियमवश (इस नियम को चोदक कहते हैं) जिसके काफी अंग प्राप्त हों उसे विकृति कहते हैं। उक्त संशय होने पर **पूर्वपक्ष है**- अनारभ्य अधीत होने से इस विधान को केवल प्रकृति में सीमित किया जाये यह ज़रूरी नहीं, यदि प्रकृति के प्रकरण में वाक्य होता तो भले ही इसे उसी से सम्बद्ध रखते। जुहू को उद्देश्य कर पर्णता का विधान है अतः जुहू से साध्य अपूर्व का शेष पर्णता है। प्रकृति में उपदेश से और विकृति में अतिदेश से (चोदक से) जुहू का सम्बंध है ही अतः प्रकृति व विकृति दोनों के लिये यह वाक्यीय विधान होना चाहिये। **सिद्धांत है**-प्रकृति के लिये ही विधान है। जब उपदेश-प्राप्त जुहू से पर्णता का सम्बंध कर वाक्यसिद्ध विधि सफल है तो चोदकप्राप्त जुहू से सम्बंध कराने के लिये इंतज़ार क्यों करेगी? इतना ही नहीं, विकृति के लिये विधान मानने पर द्विरुक्ति-दोष भी होगा। अतिदेश से जब विकृति में जुहू पहुँचेगी तो प्रकृति में जैसी है वैसी ही पहुँचेगी। प्रकृति में वाक्यविधान से वह पर्णमयी है अतः अतिदेश से पर्णता लिये हुए ही विकृति में उपस्थित होगी। वहाँ पुनः इस वाक्य से विधान मानेंगे तो पुनरुक्ति होना अनिवार्य है। इस लिये प्रकृति के लिये ही वाक्यविधान मानना संगत है।

वाक्यप्रमाण से ही आत्मज्ञान कर्मविनियुक्त क्यों न हो? अनारभ्य अधीत अर्थात् किसी प्रकृति आदि के प्रकरण से हटे हुए 'आत्मज्ञानी शोक तर जाता है' (छां० ७.१.३) आदि वाक्य हैं ही। पर्णता जुहू के द्वारा क्रतु में प्रवेश करती है तो यह ज्ञान कर्ता के द्वारा क्रतु में प्रवेश पा लेगा। इस शंका का समाधान करते हैं-

कर्मप्रकरण में न कहा हुआ आत्मविज्ञान कर्ताको द्वार बनाकर वाक्यप्रमाण से भी कर्म में वैसे प्रवेश नहीं कर सकता जैसे जुहू की पर्णमयता ॥३३४॥ जुहू आदि की आकृति का निर्माण करने के लिये उपादान-द्रव्य की आवश्यकता है जिसे पूरी करने में पलाशादि समर्थ है अतः उपादान होकर जुहू को सिद्ध करने से वे क्रतु में प्रवेश करें यह उचित है ॥३३५॥ किन्तु कर्म को अपेक्षित जो कर्ता आदि रूप हैं उनका विध्वंस करने वाला आत्मज्ञान क्रतु से सम्बद्ध हो नहीं सकता। यह ज्ञान क्रतु से असम्बद्ध हुआ भी जब सप्रयोजन है तब क्रतु से क्योंकर सम्बद्ध होगा? ॥३३६॥ जुहू आदि क्रतु के अव्यभिचारी हैं अतः क्रतु को उपस्थापित करें यह ठीक है, लेकिन कर्ता क्रतु से अन्यत्र भी अंग है अतः क्रतु का व्यभिचारी होने से क्रतुको उपस्थापित नहीं कर सकता ॥३३७॥

पर्णता भले ही क्रतु प्रकरण में न हो, फिर भी जुहू का अंग बन कर कर्म का शेष बन जाती है। ज्ञान ऐसा हो नहीं पाता। पर्णता क्रतुविशेष के प्रकरण में न सही, कही गयी है कर्मप्रकरण में ही अतः क्रतुसंबंध संगत है। आत्मज्ञान तो सर्वथा क्रतुप्रकरण से बहिर्भूत है अतः उसे भी उससे सम्बद्ध करना असंगत है। पर्णता को जैसे जुहूरूप द्वार मिल गया ऐसे आत्मज्ञान के लिये कोई द्वार है नहीं। जुहू तो क्रतु से सम्बद्ध है, अन्यत्र नहीं, अतः वह्नि के अव्यभिचारी धूम की तरह वह क्रतु को पर्णतादि के शेषी रूप से उपस्थित करे यह समझ आने वाली बात है। किन्तु कर्ता तो लौकिक कर्मों का भी अंग है अतः धूम के व्यभिचारी वह्नि की तरह वह क्यों ज्ञान के शेषी रूप से कर्म की प्राप्ति करायेगा? इतना ही नहीं, क्रतु को अपेक्षित जुहू का साधक होने वाली पर्णता क्रतु का अंग हो सकती है पर उसे अपेक्षित कर्ता आदि सब

भेदों का बाधक ज्ञान उसका अंग कैसे हो सकेगा? 'रूप' शब्द से द्रव्यादि सब जानने चाहिये। किंच पर्णता यदि क्रतुप्रवेश न पाये तो निरर्थक होगी, निष्फल होगी, इसलिये क्रत्वंग बनकर उसकी सफलता होने से उसे वाक्यप्रमाण कर्मसम्बद्ध कर देता है यह अच्छी बात है, लेकिन आत्मज्ञान बिना किसी के सम्बन्ध के ही जब कैवल्यप्रद है तब क्यों वह कर्म का शेषभाव ग्रहण करेगा? इसलिये वाक्यप्रमाण से भी तत्त्वविद्या की कर्मांगता की कोई आशा नहीं ॥३३४-३३७॥

अब बतायेंगे कि प्रकरण नामक चौथे प्रमाण से भी आत्मज्ञान कर्मांग नहीं है। पूर्व मीमांसा में (३.३.४) विचार आया है: दर्शपूर्णमासादि के आरात् उपकारक अंग हैं प्रयाजादि, क्या प्रकरण नामक प्रमाण से उनका विनियोग है या नहीं है, यह संशय है। **पूर्वपक्ष है**-'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' (तै०सं० २.२.५) इस फलसम्बन्ध बोधक वाक्य में जो विधिप्रत्यय है वह परमापूर्वका वाचक है। सांगोपांग संपूर्ण कर्म की समाप्ति होने के पहले प्रधानयाग से जो अपूर्व (= पुण्य) उत्पन्न होता है उसे उत्पत्त्यपूर्व कहते हैं। अगंयागों से जो अपूर्व उत्पन्न होते हैं, जो बाद में उत्पत्त्यपूर्व से जुड़ेंगे, वे अंगापूर्व कहलाते हैं। जहाँ प्रधान अनेक होते हैं और सब मिलकर एक फल के साधन बनते हैं वहाँ हर प्रधान का उत्पत्त्यपूर्व अपने अंगों के अंगापूर्वों से मिलकर एक समुदायापूर्व बन जाता है। समुदायापूर्व भी जब मिल जाते हैं और वह अपूर्व बनता है जिसे फिर किसी अपूर्व से मिले बिना फल ही देना है तो उसे परमापूर्व कहते हैं। इस परमापूर्व को लिङ्पद (विधायकप्रत्यय) कहता है ऐसा मीमांसा के संप्रदायविशेष में मानते हैं। फलबोधकवाक्य के आसपास पढ़े गये पदार्थ इस परमापूर्व के लिये हैं अतः इससे सम्बद्ध होते हैं। उनसे सम्बद्ध परमापूर्व ही लिङ् का अर्थ है। अधिकारवाक्य की संनिधि में पढ़े पदार्थों का ऐदमर्थ्य अर्थात् इसके लिये (= परमापूर्व के लिये) होना तभी संभव है जब वे या उसके करण बनें और या करण के सहायक बनें। दर्शपूर्णमास के करणरूप से आग्नेयादि छह याग विहित होने से कार्य अर्थात् लिङर्थभूत नियोग या परमापूर्व के करण बनकर वे ही रहेंगे। उनके उपकारकरूप से ही प्रयाजादि का सम्बंध हो सकता है। प्रयाजादि का ऐदमर्थ्य जब पता चलता है तो 'निर्विशेषं न सामान्यम्' न्याय से केवल सामान्यतः ही पता नहीं चलता, करणोपकारकत्वरूप विशेष भी पता चलता ही है। शब्द अन्वित का कथन करता है अतः प्रयाजादि का कथन भी अन्वित रूप से ही होगा। अन्वय अर्थात् सम्बंध। यहाँ करणोपकारकत्व ही सम्बन्ध है। अतः शब्द से यह संबंध भी कहा जायेगा। फलतः यह विनियोग श्रौत है, शाब्द है, इसके लिये प्रकरण नामक पृथक् प्रमाण मानना व्यर्थ है।

सिद्धान्त है:- प्रकरण को पृथक् प्रमाण मानना चाहिये। यह नियम है कि जहाँ फलवान् और अफल दोनों कहे हों वहाँ अफल फलवान् के लिये अर्थात् उसका शेष होता है। अतः अफल प्रयाजादि सफल दर्शादि के लिये हैं इतना ही पहले समझ आता है। फिर यह जिज्ञासा होती है कि इनका उसके लिये होना किस प्रकार का है? दो तरह से कोई किसी के लिये हो सकता है: या करणरूप से और या इतिकर्तव्यता (=करने का ढंग) रूप से। प्रयाजादि किस तरह दर्शादिसम्बद्ध हैं- इसका पता प्रमाण से ही सही लग सकता है। आग्नेयादि तो करणरूप से सम्बद्ध हों यह उपादान अर्थात् अर्थापत्तिप्रमाण से पता चलता है। यद्यपि विनियोग में प्रमाण तो कार्य ही (नियोग, अपूर्व) है तथापि उपयोग के द्वारविशेष को श्रुत्यादि छहों से समझा जाता है यह प्रकृत मीमांसक एकदेशी का (प्राभाकर का) मत है। वह उपादानशब्द से नियोग-आक्षेप को कहता है। नियोगाक्षेप अर्थात् उपादान से क्रत्वर्थता का पता चलता है, ऐदमर्थ्य का पता विनियोग से चलता है। जैसे यदि प्रोक्षणादि करणोपकारक न हों तो प्रोक्षणसम्बद्ध रूप से नियोग की प्रतीति संभव नहीं होगी इसलिये प्रोक्षणसंबद्ध रूप से ज्ञात नियोग ही उसकी करणोपकारकता की कल्पना कर लेता है और यह आक्षिप्त करता अर्थात् प्राप्त कराता है कि प्रोक्षण में करण का ऐदमर्थ्य है। यह याद रखना चाहिये कि विधि-आक्षेप विधिका व्यापार ही है अतः विधि-आक्षेपरूप उपादान शब्द प्रमाण के अंतर्गत ही आ जाता है यह प्राभाकर मानते हैं। भाट्ट शब्दप्रमा का उपजीवी अर्थापत्तिरूप अन्य ही प्रमाण है ऐसा समझते हैं। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' की संनिधि में आग्नेययाग को अमावास्या और पूर्णिमा में करने का विधान है, अमावस्या में ऐन्द्रदधियाग और ऐन्द्रपय याग करने का विधान है तथा पूर्णिमा में अग्निषोमीय पशुयाग (उपांशु) और अग्निषोमीय पुरोडाशयाग का विधान है। इन छह यागों को अधिकारवाक्यस्थ

अनारभ्योक्तितश्चापि नेह प्रकरणग्रहः ॥३३८॥

'यजेत' पद से ज्ञात अपूर्व का करण मानना उपादान से संभव है अतः इनकी करणता औपादानिक कही जाती है। जब इनसे करणाकांक्षा शांत हो गयी तो प्रयाजादि का अन्वय कैसे हो? अतः प्रकरण से उन्हे इतिकर्तव्य समझना चाहिये। प्रकरण का लक्षण ही गुरुमत में है 'इतिकर्तव्यताकांक्षा प्रकरणम्' (प्रकरणपं. पृ० ४६६)। अंगता तो कार्यवश (= अपूर्ववश) पता चल गयी लेकिन किस द्वार से उपकार होगा, यह प्रकरण से मालूम चलेगा। दर्शादि किन से करे? यह आकांक्षा आग्नेयादि से पूरी हो चुकी। अब कैसे करे? यह आकांक्षा प्रयाजादि से पूरी होती है। इसलिये इनकी इतिकर्तव्यतारूपता प्राकरणिक कही जाती है। प्रकरण के बिना प्रयाजादि का दर्शादि से कैसा सम्बंध है यह पता नहीं चलता। इसे मानने से मालूम पड़ गया अतः प्रकरण प्रमाण मानना संगत है। भाट्टमत में उभयाकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। प्रयाजादि विहित हैं पर उनका फल नहीं कहा है और दर्शपूर्णमास को कथंभावाकांक्षा (मैं कैसे किया जाऊँ – यह प्रश्न) है ही अतः संनिकृष्ट होने से इनका आपसी सम्बंध हो जाता है कि प्रयाजादि का प्रयोजन यही है कि वे दर्शपूर्णमास का उपकार करें और दर्शपूर्णमास प्रयाजादि से किया जाये। संनिकृष्ट का अर्थ अत्यंत नैकट्यमात्र नहीं बल्कि जहाँ तक गये बिना आकांक्षा निवृत्त न हो वहाँ तक सभी संनिकृष्ट ही है। अतः आत्मज्ञान प्रयोजनाकांक्षा से कर्म से सम्बद्ध होना चाहिये क्योंकि कर्म भी देहाद्यन्य आत्मा की आकांक्षा रखता है। इस शंका का निराकरण करते हैं–

कर्म के प्रसंग में न कहा होने से आत्मज्ञान की कर्मांगता में प्रकरण प्रमाण नहीं है ॥३३८॥

दृष्टान्त में दर्शादि के प्रसंग में, उसके संनिकृष्ट स्थल पर ही प्रयाजादि कहे होने से परस्पर सम्बंध हो गया। आत्मज्ञान तो काण्डान्तर है यह समझा चुके हैं। आकांक्षापूर्ति के लिये वेद में चाहे जहाँ भटकना तो संभव नहीं, निकट पढ़े पदार्थों का ही परमापूर्व में अन्वय स्वीकार्य है, अन्यथा प्रयाजादि को ज्योतिष्टोम का ही अंग क्यों न मान लें? अतः शबरभाष्य में (३.३.४.११) कहा है 'यदितिकर्तव्यताकांक्षिणः संनिधौ पूरणसमर्थमुपनिपतति....'। अतएव विद्यासागर ने बताया है कि प्रकरणप्रमाण आरभ्याधीत को विषय करता है अर्थात् कर्म बताना आरंभ कर जो निष्फलादि बताया जाये वह सफल का शेष बने यह प्रकरण का कार्य है। आत्मज्ञान अनारभ्याधीत होने से प्रकरण से कर्मसंबद्ध नहीं होगा। किं च आत्मज्ञान सफल होने से निराकांक्ष है अतः उभयाकांक्षा है भी नहीं। यह मूलस्थ 'च' शब्द का अर्थ है। 'अपि' से बताया कि जिस मत में इतिकर्तव्यताकांक्षा को प्रकरण कहते हैं उसमें भी आत्मज्ञान का प्राकरणिक विनियोग नहीं होगा क्योंकि आत्मज्ञान इतिकर्तव्यताकांक्षा का निवर्तक है नहीं। आत्मज्ञान को उपासनारूप मानने में कोई प्रमाण है नहीं। जहाँ 'उपासीत' आदि श्रुति है वहाँ भले ही उपासनाविधि मानें पर अन्यत्र बहुत स्थल हैं जहाँ वैसी श्रुति नहीं और उपासना न मानने में ही प्रमाण हैं, यह आगे और स्पष्ट किया जायेगा। अतः 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' आदि को उपक्रमादि विचारे बिना रात्रिसत्रन्याय से 'ब्रह्मबुभुत्सुरात्मानमुपासीत' ऐसे विधिपरक मानकर समुच्चयपक्ष के समर्थन से 'यद्धि यस्यानुरोधेन' (बृ०वा० ३.३.६८) आदि देवेश्वराचार्य के वचन की 'चिकित्सा', शांतिकर्म में वेतालोदय न्याय से चिकित्सक का ही घात करेगी। मीमांसक स्वयं श्रुत्यादिप्रमाणषट्क के अभाव से गुणप्रधानभाव से ज्ञान-कर्मसमुच्चय अस्वीकृत कर समप्रधानभाव से समुच्चय मानता है 'न च तेषां भिन्नप्रयोजनत्वाद् भिन्नमार्गत्वाच्च बाध-विकल्प-परस्पराङ्गाङ्गिभावाः सम्भवन्ति' (तं०वा० १.३.२७)। समप्राधान्येन में भी उसके पास कोई प्रमाण है नहीं। 'ब्रह्म वेद' आदि का उपक्रम एक-विज्ञान से सर्वविज्ञान में है। उस ज्ञान की प्रशंसा में कर्म को अदृढ नाव कहा है। कर्म को वरिष्ठ मानने वालों को मानवलोक से भी हीनतर लोक पाने वाला बताया है। विज्ञानप्राप्ति के लिये कर्मफलमात्र से वैराग्य का विधान किया है। ज्ञान से अविद्याग्रंथि का नाश बताया है। उपासना तो प्रमाण न होने से अविद्या का निवर्तन कर नहीं सकती। साथ ही 'इह' (मुं० २.१.१०) कहकर प्रत्यक्ष फल बताया है। आत्मज्ञान से अन्य बातों को छोड़ने की विधि की है। तप और कर्म से आत्मा के ग्रहण का निषेध किया है। फिर नाम-रूप से छूटे हुए विद्वान् की परप्राप्ति कहकर कहा है 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं० ३.२.९)। अतः यहाँ न उपासनाविधि की कल्पना में कोई हेतु है और न कर्मसमुच्चय की कल्पना में। ऐसे

सिद्धे सामान्यतो लिङ्गात्संबन्धे कर्मभिस्ततः । विशेषावगतिर्नाम्नः क्रमाच्चेति व्यवस्थितम् ॥३३९॥
इह त्वैकात्म्यधीयोगः काम्ययाज्येष्टिवन्न हि । तस्मात्कर्माभिसंबन्धो नैवैकात्म्यधियोऽमितेः ॥३४०॥

ही प्रव्रज्याविधि कर, एषणाराहित्य बताकर, ब्राह्मण की महिमा कर्म से बढ़ती नहीं यह कहकर, उपरति की विधि कर 'पश्यति' ऐसा ज्ञानबोधक शब्द प्रयोग कर अजर, अमर, अभय आत्मा को ब्रह्म कहा, तब 'अभयः हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' (बृ० ४.४.२५) यह वचन है। यहाँ भी उक्त कल्पनाओं का अवसर नहीं। इसलिये उक्त वार्तिकानुसार समुच्च्य असंभव होने से तथा ज्ञान उपासनारूप न होन से मीमांसकमत को स्थान नहीं है। सर्वथापि प्रकरणवश आत्मज्ञान की कर्मांगता नहीं है यह प्रकृत में कहा गया है ॥३३८॥

स्थान और समाख्या ये प्रमाण भी आत्मज्ञान को कर्म से संबद्ध नहीं करते यह कहते हैं–

नाम (समाख्या) और क्रम (स्थान) के कारण सामान्यतः सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर लिंगके कारण कर्मों से विशेष-सम्बन्ध पता चलता है। यहाँ तो (नाम व क्रम न होने से) काम्ययाज्या-इष्टि की तरह आत्मज्ञान का किसी कर्म से सम्बंध नहीं हो सकता। इसलिये कोई प्रमाण न होने से एकात्मताज्ञान का कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है ॥३३९-३४०॥

पूर्वमीमांसा में (३.२.७.२०) विचार आया है: एक-देवता वाले बहुत से काम्यकर्म क्रमशः विहित हैं। 'काम्ययाज्यानुवाक्या-काण्ड' इस नाम से प्रसिद्ध स्थल पर बहुत से याज्या-अनुवाक्या युगल पढ़े गये हैं जो उसी क्रम से हैं जिस क्रम से उक्त काम्यकर्म विहित हैं। जिस ऋचा के पूर्वार्द्ध में मंत्रप्रतिपाद्य देवता का नाम हो उसे अनुवाक्या या पुरोनुवाक्या कहते हैं और जिसके उत्तरार्द्ध में हो उसे याज्या कहते हैं। अध्वर्यु जब होता को 'यज' यह प्रैष कहता है तब होता पुरोनुवाक्या का पाठ करता है। तब 'ये यजामहे' इस आगू का उच्चरण कर याज्या बोली जाती है जिसके अन्त में वौषट् का उच्चारण होने पर अध्वर्यु होम करता है और यजमान 'यह सम्बद्ध देवता के लिये है, मेरा नहीं' ऐसा कहता है यह रीति है। अब प्रश्न यह उठता है कि उक्त काण्ड में आये याज्यादि का विनियोग लिंगवशात् कर देना चाहिये या क्रम व नाम के कारण कोई नियमन रखना चाहिये? यदि लिंगवशात् विनियोग करेंगे तो केवल काम्य ही नहीं, नित्य इष्टि में भी विनियोग हो जायेगा क्योंकि लिंग तो तद्दैवत्य सभी कर्मों से संबंध बता सकता है। यदि नाम को नियामक मानें तब केवल काम्येष्टियों में विनियोग होगा और क्रम को नियामक मानें तो एक-एक काम्येष्टि से ही होगा। पूर्वपक्षी कहता है कि याज्यादियुगल में जब लिंग (सामर्थ्य, देवतानाम) है तो उस देवता वाली उन सभी काम्येष्टियों के वे अंग बनने चाहिये जो क्रमशः विहित हैं। किन्तु सिद्धान्ती नाम और क्रम को नियामक मानता है। सामान्यतः संबंध सिद्ध हो तब विशेष का प्रश्न होता है क्योंकि विशेष संबंध से ही सम्बंध-सामान्य का निर्वाह होगा, 'निर्विशेषो न सामान्यम्' न्याय से। गुरुमत में विनियोग तो विधि ही कर लेगी लेकिन सहायक रूप से उसे मंत्रसामर्थ्य का (लिंग का) विचार करना पड़ेगा। सामर्थ्य के अनुसार ही कार्य में (अपूर्व में) विनियोग होगा। सम्बंधविशेष का (या विशेष से संबंध का) ज्ञान कराने से सामर्थ्य (लिंग) विधि की सहायता कर देता है। लिंग विनियोग कराने के लिये सर्वत्र यह अपेक्षा रखता है कि सामान्यतः संबंध सिद्ध हो। क्योंकि सामर्थ्यमात्र देखने से किसी से विशेषसम्बंध है यह तो पता चलता नहीं, बहुतेरी वस्तुओं की सामर्थ्य मालूम पड़ती है पर 'यह वस्तु अमुक से सम्बंध वाली है' ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता। इसके लिये पहले सामान्यतः प्राप्त होना चाहिये कि अमुक के लिये यह वस्तु है, तब भले ही वस्तु की सामर्थ्य से कहाँ-कैसे संबंध है यह पता चले। कपड़ा पड़ा है एतावता उसे विनियुक्त नहीं कर देते। यदि पता हो कि यह कपड़ा देवदत्त के लिये है तब कपड़े की सामर्थ्यानुसार पगड़ी या धोती बनाकर उसे देवदत्त के काम में लगाते हैं। प्रकृत में लिंग को सामान्यतः संबंध की जरूरत होने पर प्रकरणरूप प्रमाण नहीं मिलता क्योंकि वह आरभ्याधीत-विषयक है और यहाँ याज्यादि आरभ्याधीत नहीं हैं। अतः क्रम व समाख्या से ही संबंध का पता लगाना पड़ता है। यदि 'काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्ड' इस नाम का विचार न करें

तो इन ऋचाओं का याज्याआदि होना ही न पता चलेगा! 'समाख्यामन्तरेणाऽऽसामृचां याज्यानुवाक्यात्वमेव न विज्ञायते' (शाबर०) अतः नाम से काम्येष्टियों से ही सामान्यतः सम्बन्ध का पता चलने से नित्येष्टि में इनका विनियोग निवारित हो जाता है। ऐसे ही क्रम से सामान्यसंबंध पता चल जाता है। तब लिंग से निश्चय होता है 'इस याज्यानुवाक्यायुगल का इस कर्म में विनियोग है'। केवल क्रम से निर्णय नहीं कर सकते क्योंकि मध्य में कुछ आग्नेयी ऋचायें भी आ गयी हैं जिनका क्रम से नहीं लिंग से विनियोग करना पड़ता है। क्रम का प्रामाण्य अभी उपपन्न करेंगे। इस अधिकरण में तो यह स्थित हुआ कि समाख्या और क्रम से सम्बंधसामान्य सिद्ध हो तो लिंग से सम्बंधविशेष निश्चित हो जाता है। प्रकृत में आत्मज्ञान के वाक्यों का किसी कर्म से सम्बद्ध रूप से प्रकाशन करने वाला कोई नाम नहीं है और न ही आत्मज्ञान किसी क्रम से बताया है। एकरूप आत्मा का एकरूप ही उपदेश है। अतः इन प्रमाणों से अंगता की आशा नहीं।

श्लोक ३३९ में शास्त्रप्रकाशिका के अनुसार पूर्वार्द्ध से पूर्वमीमांसा के पूर्वोक्त (३.२.७) अधिकरण का पूर्वपक्ष और उत्तरार्द्ध से सिद्धान्त कहा गया है। कल्पलता में पूरा श्लोक सिद्धांतपरक है। तात्पर्य एक ही है। श्लोकानुवाद कल्पलतानुसारी है। शास्त्रप्रकाशिकानुसार यह अनुवाद होगा: **'लिंगानुसार याज्यादिका नित्य-काम्यादि सभी कर्मों से सम्बन्ध सिद्ध है ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर कहा है कि नाम और क्रम से सामान्यतः सम्बन्ध सिद्ध होने पर (ततः) लिंग से सम्बंधविशेषका ज्ञान होता है। यह पूर्वमीमांसा में निश्चित किया है।'**

अब क्रमाधिकरण (३.३.५) का विचार दिखाते हैं : कर्म हो चुकने के बाद उसका शेषभूत मंत्र पढ़ा जाता है, इसे अनुमंत्रण कहते हैं। दर्शपूर्णमास में प्रधानयागों के अनुमंत्रण मंत्र बताये हैं। पूर्णिमा के तीन प्रधानयाग हैं: आग्नेय, उपांशु और अग्निषोमीय। इनके अनुमंत्रणमंत्र भी तीन दिये हैं: 'अग्नेरहम्' इत्यादि, 'दब्धिरस्य' इत्यादि और 'अग्निषोमयोरहम्' इत्यादि। संशय है कि 'दब्धिः' इत्यादि मंत्र क्या सभी प्रधानयागों का शेष है या केवल उपांशु का? **पूर्वपक्ष है**– गुरुमत में शब्द से उपस्थाप्य पदार्थ 'नियोग (परमापूर्व) के लिये है' इस प्रकार सम्बद्ध रूप से ही उपस्थित हो जाता है। अतः अपूर्वसंबंध शब्दसिद्ध ही है। इसलिये पदार्थ को सभी प्रधानों से सम्बद्ध होने की आकांक्षा होगी, किसी एक की आकांक्षा का नियामक कुछ नहीं है। क्रम से यदि विशेष से अन्वय करें तो यों अन्वय (=सम्बन्ध, शेषत्व) करना शब्दसिद्ध न होने से अप्रामाणिक होगा। अतः 'दब्धिः' आदि मंत्र सभी प्रधानों का शेष है। **सिद्धांत है**– 'दब्धिः' आदि मंत्र उपांशुयाग का ही अंग है, सबका नहीं। शब्दसिद्ध जो अपूर्वसम्बन्ध है उसी को क्रम के कारण व्यवस्थित किया गया है अतः अप्रामाणिकता का प्रसंग नहीं है। क्रम से स्थाननामक विनियोजक समझना चाहिये। प्रधानों में उपांशु का स्थान बीच में है और 'दब्धिः' मंत्र का भी स्थान बीच में है अतः समान स्थान वाले होने से इनका शेष-शेषिभाव है। ऐसा न मानें तो श्रुति ने जिस क्रम से मंत्र रखे हैं वह व्यर्थ मानना पड़ेगा जो उचित नहीं। किं च जहाँ लिंग से अनेकत्र संबंध की आपत्ति होती है वहाँ क्रम से ही व्यवस्था संभव है।

पुरी जी ने यहाँ लिंग से सामान्यसम्बंध और नाम व क्रम से नियमन माना है '..... तत्र सर्वास्विष्टिषु सामर्थ्यात् सम्बन्ध-प्रतीतौ समाख्यानबलाद् इष्टिविशेषेषु नियम्यन्ते मन्त्राः। तत्राऽपि बहुत्वात् तन्नामाङ्कितानाम् इष्टीनां मन्त्राणां च ....स्थानबलात् प्रथमपठितो मन्त्रः प्रथमपठितयेष्ट्या सम्बद्ध्यते, द्वितीयो द्वितीयपठितया'। यह समझ लेना चाहिये कि शावरभाष्यमात्र देखें तो पूर्वापक्षमें वाक्य है '....सर्वत्रैता याज्याऽनुवाक्या, भवेयुः। कुतः? लिङ्गात्। ननु क्रमसमाख्याने विशेषके भविष्यतः? सयम्। तथापि....' जिससे लगता है कि लिंग को सामान्यसम्बन्धबोधक और क्रमादि को विशेषबोधक माना गया है। किंतु वार्तिक में 'तया (=समाख्यया) हि यज्ञसम्बन्धः कार्यविशेषश्च सिद्ध्यति ....ततश्च केन यज्ञेन सम्बन्ध इति लिङ्गात् तद्दैवत्येनेति विज्ञायते' ऐसा समझाया होने से क्रमादि को सम्बन्धसामान्य का बोधक मानना चाहिये। प्राभाकर मत से शास्त्रप्रकाशिकामें भी यही व्यवस्थित है। न्यायमाला में भी ऐसा ही प्रतिपादन है। अतः सुरेश्वरवार्तिक की (श्लो० ३३९) जैसी पुरीजी ने की है वैसी यथाश्रुत योजना न की जाये इसीलिये आनन्दगिरि स्वामी ने श्लोक में पूर्वोत्तर दोनों पक्षों का उपस्थापन माना है और विद्यासागर ने दूरान्वयका बोझ स्वीकारा है।

न चाप्यस्यार्थवादत्वं विधिना वाक्यभेदतः। दृष्टार्थत्वाच्च तद्बुद्धेः पाठान्नादृष्टकल्पना ॥३४१॥

अब समाख्याधिकरणन्याय (३.३.६) समझाते हैं: कुछ कर्मों को आध्वर्यव कहते हैं, कुछ को हौत्र, कुछ को औद्गात्र इत्यादि। उनके बारे में संशय है कि क्या या इन कर्मों को कोई भी कर सकता है या इनके नाम से जिस ऋत्विक् से सम्बन्ध प्रतीत होता है वही कर सकता है? पूर्वपक्ष है कि आध्वर्यव आदि नाम तो लौकिक हैं, उनसे वेद के अर्थभूत धर्म के शेषशेषिभाव को व्यवस्थित करना अनुचित है अतः इन कर्मों को तत्तत् ऋत्विक् ही करें ऐसा नियमन कर नहीं सकते। सिद्धान्त है कि लौकिक होने पर भी इसके सहारे नियमन कर लेना चाहिए। विनियोग में प्रमाण तो विधि ही है अतः अप्रामाण्य का प्रसंग नहीं, उसे सहारा इस समाख्या से मिलता है जिसे छोड़ने में कोई हेतु नहीं। अतः जैसे लोक में पाचक आदि शव्द बताता है कि उस व्यक्ति का भोजनादि पकाने से सम्बंध है, ऐसे ही कार्यसम्बन्ध बताने वाला शब्द सुनकर सम्बन्धप्रमिति हो जाती है क्योंकि वह शब्द आधुनिक संकेत नहीं है।

इस प्रकार किसी नाम और क्रम से ज्ञान का कर्म में विनियोग हो सकता है– ऐसी संभावना का श्लोक ३४० में निरास किया। न कोई ऐसी समाख्या है और न ही किसी कर्मक्रमानुसार आत्मोपदेश है कि अंगांगिभाव समझा जा सके। इनसे अतिरिक्त कोई प्रमाण मीमांसक भी अंगता में मानता नहीं। अतः उसे स्वीकारना ही पड़ेगा कि ज्ञान कर्मांग नहीं है। श्लोक ३३३ से यहाँ तक मीमांसा के अंगताबोधक सभी प्रमाणों का विचार कर ज्ञान की अनंगता सिद्ध कर दी ॥३३९-३४०॥

कर्म से असम्बद्ध सिद्ध होने पर मीमांसक ज्ञान की निष्फलता के लिये प्रयोग करता है: आत्मज्ञानको फल बताने वाली श्रुति को केवल प्रशंसा में तात्पर्य वाला समझना चाहिये फल में नहीं क्योंकि जो फल वह बता रही है वह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, प्रत्यक्षविरुद्ध अर्थ का बोध कराने वाली श्रुति अर्थवाद ही होती है जैसे 'यजमानः प्रस्तरः', और श्रुतियाँ फल बताती प्रतीत होने पर भी कारणवश अर्थवाद स्वीकारनी पड़ती हैं जैसे 'जिसकी जुहू पलाश की हो वह अपकीर्ति नहीं सुनता' यह श्रुति लगती है मानो फल बता रही हो पर है अर्थवाद यह मीमांसा में (४.३.१) सिद्ध किया है। सिद्धांती यह नहीं कह सकता कि फलवचन होने से प्रत्यक्षविरोध वैसे ही अकिंचित्कर है जैसे चित्रादि याग के तुरंत बाद पशवादि मिलने में बहुत बार प्रत्यक्षविरोध होता है लेकिन उससे श्रुति को अर्थवाद नहीं मानते या स्वर्ग प्रत्यक्षविरुद्ध है पर स्वर्गश्रुति को अर्थवाद नहीं मानते; क्योंकि विद्या की फलश्रुति है ही नहीं, वह तो अर्थवाद है। जैसे 'नहीं सुनता' आदि वर्तमानरूप से कहे फलों को फल नहीं स्वीकारते, अर्थवाद ही मानते हैं, यह मीमांसा में (४.३.१) बताया है, वैसे 'ब्रह्म भवति', 'अश्रुतं श्रुतं भवति' (छां० ६.१.३), 'हर्षशोकौ जहाति' (कठ० २.१२) आदि भी फलोक्ति नहीं अर्थवाद ही हैं। अतः जैसे पर्णमयता कर्मशेष है वैसे आत्मज्ञान को स्वयं निष्फल होने से कर्मशेष होना चाहिये। अतः पूर्वश्लोक में 'कोई प्रमाण न होने से' यह ग़लत कहा क्योंकि वेदोक्त निष्फल आत्मज्ञान पर्णमयता की तरह अनुमान से कर्मांग सिद्ध हो जाता है। इस शंका को हटाते हैं–

और फलवाक्य अर्थवाद भी नहीं है क्योंकि किसी विधि से इसकी एकवाक्यता नहीं है तथा वेदान्तजन्य आत्मज्ञान दृष्ट फल वाला होने से वेदान्तों का इतना ही प्रयोजन मानना कि उनके पाठ से पुण्य होता है, ग़लत है ॥३४१॥

शाब्दीभावना की इतिकर्तव्यताकांक्षा पूरा करना अर्थवादों का प्रयोजन मीमांसक मानते हैं। अतः अर्थवादों की विधि से एकवाक्यता हो जाती है। वैसे अर्थवाद ही स्वार्थ में सर्वथा तात्पर्यहीन होते हैं यह मीमांसा में सिद्ध किया है अतः 'यजमानः प्रस्तरः' आदि अभूतार्थवाद हैं यह ठीक है। वेदान्त तो विधि से एकवाक्यता वाले हैं नहीं यह बता ही चुके हैं अतः ये अभूतार्थवाद नहीं हैं। वेदान्तों में आत्मज्ञान का फल कहा है, किसी विहित-प्रयोग का नहीं, अतः विहित प्रयोग का फल भले ही 'निंदा न सुनना' आदि की तरह अभूतार्थवाद हो, किन्तु जो विहित प्रयोग का फल नहीं है वह क्योंकर

तमेतमिति वाक्यात्तु यागादेः प्रत्युताङ्गता ॥३४२॥

अर्थवाद होगा? वर्तमानापदेश भी साध्यभूत फल का और वैध क्रिया के साफल्य का विरोधी हो सकता है, सिद्ध फल का और ज्ञान के साफल्य का नहीं। तत्त्वज्ञान तो वैध या औपनिषद होने से सफल नहीं बल्कि प्रमा होने से सफल है। फलश्रुति को प्रत्यक्षविरोधी मानकर अर्थवाद स्वीकारना हठमात्र है क्योंकि जिसे विद्या उत्पन्न हो चुकी है उसे सर्वदुःखनिवृत्ति और परमानंद प्रत्यक्षसिद्ध है। विद्वदनुभव का 'मुखमस्तीति' न्याय से निषेध करना विद्वद्गोष्ठी में अशोभनीय है। वाक्यपदीय में श्रीभर्तृहरि ने कहा है (१.३९)–

'यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नाभिशङ्कते। स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत्'॥

अर्थात् जैसे अपना अनुभव अपलापयोग्य नहीं वैसे ही दूसरे का भी। जो विषयका ग़ैर–जानकार होगा वह भले ही विषयके जानकार के अनुभव का अपलाप करे। पर इससे विद्वान् की बात कट नहीं जाती। विद्वदनुभव को वादी भ्रम कहे तो बाधक–प्रत्यय बताना चाहिये अन्यथा अतिप्रसंग होगा। विद्याश्रवण के अनंतर भी जिसे दुःख है उसे विद्या है ही नहीं, श्रवण भले ही कर चुका हो। अतः दुःखनिवृत्त्यादि कहती श्रुति को अर्थवाद इसलिये मानना कि वह प्रत्यक्ष से प्रतिकूल है वैसा ही है जैसा अन्धे द्वारा रूपवर्णन को अर्थवाद मानना! इसलिये वादी ने जो यह आशा की थी कि आत्मज्ञान को सफल होने के लिये कर्म की शरण जाना पड़ेगा, वह भग्न हो गयी। एवं च यदि कर्मांगता के लिये यह अनुमान करें कि आत्मज्ञान कर्मांग है निष्फल होने से; तो स्वरूपासिद्धि दोष है। यदि कहें विद्याफलोक्ति अर्थवाद है, प्रत्यक्षविरुद्ध होने से; तो भी स्वरूपासिद्धि है। फलोक्ति अर्थवाद है वर्तमानापदेश होने से – इसमें विहितफलोक्तिता उपाधि हैः जो विहित का फलवचन होता है वह वर्तमानापदेश वाला नहीं होता यही वादी कह सकता है, अन्यथा अनुकूलतर्क नहीं मिलेगा। यदि कहें ज्ञान निष्फल है शास्त्रीय होने से, तो 'शास्त्रीय' का मतलब यदि 'वैध' है, तब स्वरूपासिद्धि होगी और यदि 'शास्त्रकरणक' है तब धर्मज्ञान में ही व्यभिचार होगा। धर्मज्ञान को निष्फल नहीं मान सकते क्योंकि कर्मानुष्ठान द्वारा स्वर्ग–हेतु उसे मानते हैं। यदि कहें आत्मज्ञान कर्मानुष्ठापक है शास्त्रकरणक होने से, तो साध्यविषयकत्व उपाधि है। यदि द्रव्यादि के फल अर्थवाद होते हैं इस न्याय का (पू०मी० ४.३.१) सहारा लें तो हमारे मत में ज्ञान द्रव्यादिरूप न होने से उक्त न्याय की प्रवृत्ति संभव नहीं। अतः वादी को आत्मज्ञान को सफल ही मानना होगा। संक्षेपशारीरक के चतुर्थाध्याय के आरंभ के कुछेक श्लोक और उनकी सारसंग्रहनामक मधुसूदनी टीका का अनुसंधान करने से यह विषय और स्पष्ट हो जायेगा।

कुछ मीमांसापक्षपाती ऐसा मानते हैं कि वेदान्त निरर्थक वाक्य हैं अतः वैदिक होने से इनका इतना ही साफल्य है कि इनका पाठ करने से पुण्य हो जाता है। उन्हे प्रमाण मानना ही अनुचित है अतः वेदांतों से अद्वैतप्रमा होती नहीं कि साफल्य होने की संभावना हो!

बृहद्भाष्य में (१.४.७ पृ० ८१) आचार्य करुणाक्रान्तहृदय से ऐसे वादियों से पूछेंगे कि क्या तुम्हे वेदान्तों से कुछ समझ नहीं आता इत्यादि। वार्तिक में भी (१.४.९०४ आदि, पृ० ४०५) वेदांतप्रामाण्य समझायेंगे। अतः वेदान्तों को अप्रमाण मानना निर्हेतुक है बल्कि उसका फल जब विद्वानों को प्रत्यक्षसिद्ध है तब उसे केवल जपार्थक मानना व्यर्थ है। इसलिये ज्ञानकाण्ड किसी भी तरह कर्मकाण्ड का शेष नहीं हो सकता ॥३४१॥

आत्मज्ञान कर्मांग है इसमें तो कोई प्रमाण नहीं। कर्म आत्मज्ञान के शेष हैं यह विविदिषावाक्य से सिद्ध है। अतः सिद्धांतोक्त एकवाक्यता ही संमाननीय है। यह बताते हैं–

बल्कि 'उस इसे' आदि श्रुतिवाक्य से यागादि कर्म ही विद्या के अंग सिद्ध होते हैं ॥३४२॥

बृहदारण्यक (४.४.२२) में आत्मा की विविदिषा के लिये यज्ञादि बताये हैं अतः उन्ही को शेष मानना उचित है। 'कर्म कुर्वन्ति आत्मशुद्धये' (गी० ५.११) आदि स्मृति भी यही बता रही है। ॥३४२॥

अन्ये त्वाहुर्न शक्नोति कामसंदूषिताशयः । द्रष्टुं तत्परमद्वैतं सर्वकामासमाप्तितः ॥३४३॥
द्वैतैकत्वमतीहाभिः सूत्रान्तं फलमाप्य ना। प्राजापत्यं पदं भुक्त्वा तदैकात्म्यं प्रपद्यते ॥३४४॥
नैवं न कामसंप्राप्त्या तन्नाशोऽब्दशतैरपि । तत्सेवातोऽतिवृद्धिः स्यान्निवृत्तिर्दोषदर्शनात् ॥३४५॥

प्रच्छन्नरूप से संन्यासविरोध और ज्ञानहेतुकमोक्षविरोध करने के लिये कुछ वादी कहते हैं कि कर्म भले ही ज्ञानशेष हो किन्तु वह विविदिषा पैदा करके या संस्कार करके उपकारक नहीं बनता बल्कि कामनाओं के विलयद्वारा बनता है। और कामनाविलय का एक ही तरीका है– कामनानुसार भोग प्राप्त कर चुकने पर व्यक्ति निष्काम हो जायेगा। तब वह ज्ञानाधिकारी बनेगा। इस मत का पूर्वपक्ष व समाधान श्रीमान् पद्मपादाचार्य ने भी (पंच०पृ० ४०७-४०८) व्यक्त किया है। अब दो श्लोकों से पूर्वपक्ष रखते हैं–

अन्य लोग तो कहते हैं कि सभी कामनाओं की समाप्ति न होने से जिसका मन कामना दोष से युक्त है वह उस परम अद्वैत को देख नहीं सकता ॥३४३॥ जब पुरुष व्यस्त व समस्त भाव से सूत्रात्मा का ध्यान तथा सभी कर्म कर लेता है और सूत्रात्मभाव-पर्यन्त सब फल पा लेता है तब सूत्रात्मरूप प्रजापति के पद का भोग कर चुकने पर वह ब्रह्मभाव पाता है ॥३४४॥

यह तो सर्वसंमत है कि आत्मज्ञान के लिये चित्त में कामनादोष नहीं होना चाहिये। जब लौकिक सूक्ष्मविषयक ज्ञान भी कामनायुक्त को नहीं हो पाते, सामान्य विद्यार्थी को भी कामुक होने पर विद्यालाभ नहीं होता तो आत्मज्ञान के लिये निष्काम चित्त चाहिये इसमें कहना ही क्या? शास्त्र भी इस बात को स्पष्ट कहता है 'शान्तः ··· पश्यति' (बृ० ४.४.२३), 'नाशान्तः' (कठ० २.२४) आदि अन्वय-व्यतिरेक दिखाकर। अतः कामना को मन से हटाना ज़रूरी है। वह हटे कैसे? जब स्वर्गादि सब काम्यों की भोग से समाप्ति हो अर्थात् भोग लेन पर उनमें काम्यत्वमति न रहे, तब मन से कामना हटे। जब तक भोग न लिया जाये तब तक पदार्थ राग का विषय बना ही रहेगा। रागध्वंस का हेतु तो भोग ही है। अतः भोगने से ही राग की निवृत्ति संभव है। एवं च पहले प्रयासपूर्वक सभी विषय भोग लेने चाहिये। यह तभी हो जब हम प्रजापति (हिरण्यगर्भ) बनें क्योंकि वे ही एक ऐसे हैं जिनसे न भोगा हुआ कुछ नहीं रह जाता। 'सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्' (बृ० १.२.५) आदि श्रुति इसमें प्रमाण है। इसलिये शास्त्रोक्त हर तरह से हिरण्यगर्भोपासना और अग्निहोत्रादि दर्विहोमों से लेकर सत्रपर्यंत जितने कर्म प्राप्त हैं सब करने पड़ेंगे। तब मनुष्यानंद से प्रजापति के आनंद तक सब का भोग होगा। तभी सारी कामनायें निवृत्त होंगी और फिर ज्ञान से मोक्ष हो जायेगा। इसीलिये तो श्रुति ने भी प्रजापति को ही 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान हुआ ऐसा कहा (बृ० १.४.१०) है। अतः कर्मों का प्रयोजन है कामनिवृत्ति करने से ज्ञानाधिकार देना, फलतः मुमुक्षु को संन्यास नहीं करना चाहिये, कर्म व उपासनाओं को ही करना चाहिये। अतएव संन्यासाधिकारी के लिये विहित श्रवणादि करने की ज़रूरत नहीं। अध्ययन से ही महावाक्य सुन लिया जाता है। वही प्रजापति को याद आकर ज्ञान करा देगा। संन्यासवाक्य अकर्त्रात्मबोधरूप फलसंन्यासपरक होने से लब्धज्ञान प्रजापति के स्वरूप को बताकर 'ऐसे तुम बन जाओगे' यों प्रोत्साहित करने के लिये हैं। श्रवणादिविधि भी देहादि से भिन्न आत्मा समझकर कर्म में प्रवृत्त होने के उपयोगी विचार को कहती है। अतः सिद्धान्ताभिमत संन्यास व श्रवणादि सभी असिद्ध हैं ॥३४३-३४४॥

अत्यन्त लोलुपों के इस मत का निराकरण करते हैं–

ऐसा नहीं है। काम्यवस्तु के उपभोग से कामना की समाप्ति सैकड़ों सालों में भी संभव नहीं। बल्कि काम्योपभोग से कामना अत्यधिक बढ़ेगी ही। कामना तो विषयों में दोष-दर्शन से हटती है ॥३४५॥

ययाति आदि असीम भोग करने वालों ने अपने स्पष्ट अनुभव बताये हैं कि उपभोग से कामना समाप्त नहीं होती, कुछ देर के लिये राख पड़ी आग की तरह दबी भले ही रहे। लौकिक भोगियों में भी वैराग्य दीखता नहीं। जो तो कदाचित् 'अब पर्याप्त हो गया, और नहीं चाहिये' ऐसी तृप्ति दीखती भी है वह भी ईंधनाधिक्य से कुछ समय तक लपट के उठने

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥३४६॥
निवर्तेतापि कामेभ्यस्तदुपायाप्रसिद्धितः । सर्वक्लेशोपशान्त्यात्मज्ञानं चापि समाश्रयेत् ॥३४७॥

में होने वाला विलंब ही है। भगवच्छङ्करानन्दजी ने आत्मपुराण में (१.३०५) कहा है

'यथा हि ज्वलतो वह्नेर्भवेत्काष्ठस्य संचयः । क्षिप्तस्तत्र क्षणं प्रौढज्वालानां विनिवारणम्' ॥

वार्द्धक्यादि में 'क्षणम्' कुछ लम्बा हो सकता है पर उत्तरजन्म में प्रौढतर ज्वाला उठेगी ही। आधुनिक मनोविचारक भी अभ्यास को संस्काराधायक ही मानते हैं, निवारक नहीं। अतः निवृत्ति के लिये वे भी प्रधानमार्ग भोगसमनियत दण्ड कहते हैं: जिस भोग से निवृत्त होना हो उस भोग को करने पर कोई दण्ड भी निर्धारित कर लेना चाहिये जिस दण्ड के भय से उस भोग से बचे रहेंगे, यह उपाय वे बताते हैं, न कि उस भोग को भोगते चले जाना। अतः वादी का मत सर्वथा हेय है। कामना हटाने के लिये उसके विषय में जो दोष हैं उनका पुनः पुनः आलोचन करना ही उपाय है। 'परीक्ष्य निर्वेदमायात्' यही श्रुतिसिद्ध तरीका है। भगवान् ने भी बुध अर्थात् विवेकी को ही संस्पर्शज भोगों से विरत कहा है (५.२२) ॥३४५॥

यथाकाम उपभोग से कामना बढ़ती है, समाप्त नहीं होती इसमें मनु, व्यास आदि का वाक्य प्रमाणरूप से बताते हैं–

काम्यविषयों के उपभोग से कामना शान्त नहीं होती बल्कि और बढ़ जाती है जैसे हवि से आग बुझती नहीं और धधक उठती है ॥३४६॥

यह मनुस्मृति (२.९४) का वाक्य है। मत्स्यपुराण, महाभारतादिमें भी मिलता है। कल्पलता में इसे पराशरवचन कहा है। अतः शास्त्रप्रकाशिका में 'मन्वादिवाक्यम्' कह दिया है ॥३४६॥

वादी कहता है: भोग चाहे काम का ध्वंस न करे पर अनुष्ठित शुभकर्म तो उसका निरोध कर ही लेंगे क्योंकि पुण्य रहने पर दुष्ट कामना रह नहीं सकती। अतः विषयों में दोष देखना कामनिवर्तक कहना ग़लत है। इसका निराकरण करते हैं–

यदि विषयप्राप्ति के उपाय न जाने तो कथंचित् व्यक्ति काम्य-विषयों से निवृत्त हो भी सकता है और सभी क्लेशों की उपशांति के उपायभूत आत्मज्ञान के साधनों का समाश्रयण कर भी सकता है, (पर कर्म कर भोग पाने के बाद तो पुनरपि उन्ही में प्रवण होगा) ॥३४७॥

यदि पुरुषको काम्य विषयों के लाभ के साधनभूत कर्मों का ज्ञान नहीं है तो वह उनका अनुष्ठान भी नहीं कर सकता और अतः स्वर्गादि फल भी नहीं पा सकता। ऐसा व्यक्ति अपनी असमर्थता समझ कर ही सही, स्वर्गादि की इच्छा छोड़ दे यह संभव है। लोक में भी बालक चंद्रमा पाना चाहता है पर जब समझ लेता है कि वैसा करने के साधन हैं नहीं तो उस इच्छा को छोड़ देता है। किन्तु जिस व्यक्ति ने समझ-बूझकर कर्म कर लिये व फल चख लिया वह तो बारम्बार और-और फल चाहकर जाने-पहचाने उपाय कर लेगा, विरक्त क्यों होगा? इसलिये कर्म-उपासना से फल पा चुकने के बाद तो संसारचक्र से निकलना अधिक मुश्किल हो जायेगा। पुण्य और कामना के वैयधिकरण्य का कोई नियम है ही नहीं कि शुभ कर्म अर्जित होने पर कामना हटे। बल्कि पुण्यातिशयवान् देवताओं की काम-परायणता देखकर ही प्रजापति ने उन्हे दम का उपदेश दिया था (बृ० ५.२)। इसलिये जिसे विषयलाभ के उपाय मालूम नहीं वह अगति होकर श्रवणादि में लगेगा। जो तो कर्मजानकार है वह ज्ञानोपाय में मुश्किल से ही प्रवृत्त हो सकेगा। 'सर्वक्लेशोपशान्त्या' छेद मानें तो अर्थ है कि उपायज्ञान न होने से स्वर्गादि की इच्छारूप क्लेश निवृत्त हो जाने से वह ज्ञानोपाय में प्रवृत्त हो सकता है। सिद्धान्ती तो विवेक को ही वैराग्यहेतु मानता है। यहाँ इतना ही तात्पर्य है कि कर्म से काम की समाप्ति नहीं हो सकती। अतः यह शंका नहीं करनी चाहिये कि उपाय-अनभिज्ञ विरक्त क्यों होगा, उपाय-जिज्ञासु ही होगा; इत्यादि। अतएव वार्तिककार ने 'अपि' का प्रयोग किया है। इसलिये संन्यास की उपायता सिद्ध हुई और विशेषकर ब्रह्मचर्य से ही संन्यास कर लेना

अथाऽऽनन्दःश्रुतः साक्षान्मानेनाविषयीकृतः । दृष्टानन्दाभिलाषं स न मन्दीकर्तुमप्यलम् ॥३४८॥
कामप्रविलयायातस्तद्विपक्षार्थभावनम् । विधयस्तत्क्रियाणां स्युस्तद्विपर्ययहेतवः ॥३४९॥

चाहिये यह भी सिद्ध हो गया ॥३४७॥

विषयदोषदर्शन से उद्विग्न होने वाला वादी कहता है कि ब्रह्म की आनंदता श्रुति में बतायी है, उसे सुनने से ही विषयराग हट जायेगा व उसे पाने की इच्छा हो जायेगी जैसे लोक में किसी स्थानादि की अत्यधिक प्रशंसा प्रमाण से जान लेने पर कम अच्छी प्राप्त वस्तु भी त्याग कर उसकी ओर प्रवृत्ति होती है, अतएव कष्टार्जित धन स्वर्गादि पाने के लिये यागादि में व्यय किया जाता है; विवेकप्रयास से क्या लाभ? इसका उत्तर देते हैं-

और जो शास्त्र में सुना गया आनंद है उसका क्योंकि साक्षात्कार नहीं हुआ इसलिये वह अनुभूत सुख की अभिलाषा को कम करने में भी समर्थ नहीं है (तो हटाने में कैसे समर्थ होगा?) ॥३४८॥

स्वर्गादि विषयसुख होने से उपभुक्त-सजातीय हैं अतः उनके प्रति श्रवणमात्र से कामना उपपन्न है। ब्रह्मानंद अनुभूत से सर्वथा विलक्षण है अतः सुनने से उसका कुछ भी बोध ही होना कठिन है, उसके प्रति इच्छा होना तो असंभव है। बल्कि इस आनंद से लोग विमुख ही होते पाये जाते हैं। अतः शास्त्रोक्त होने पर भी आनंदज्ञान विषयसुख के आकर्षण का निवारण नहीं कर सकता। यह विषय भी पंचपादिका में (पृ० ३६४) सुस्पष्ट किया गया है।

प्रकृत वादी ने प्रजापतिपद में स्थित व्यक्ति को वैराग्य होगा यह कहा था (श्लो० ३४४)। किन्तु शास्त्र का अधिकार है मनुष्यों को अतः प्रजापति ब्रह्मानंद का वर्णन सुनेगा ही नहीं तो इस रीति से उसे वैराग्य होगा कैसे? यदि कथंचित् स्वयंभातवेद होने से उसे ब्रह्मानंदबोधक वाक्य प्रकाशित हो जायें तो भी क्योंकि उनका अर्थभूत आनंद समझ नहीं पायेगा इसलिये उसके प्रति उन्मुख होने से विषयों के प्रति विमुख नहीं होगा।

वस्तुतः ब्रह्मानंदवर्णन का श्रवणादि के प्रति उन्मुख होने में कोई विनियोग नहीं ऐसा यहाँ विवक्षित नहीं है किन्तु तात्पर्य है कि 'शान्त' आदि विधि से विवेकपूर्वक विरक्त व्यक्ति ही उन वाक्यों को समझ कर आनंदप्राप्ति के लिये तत्पर हो सकता है, केवल उन वाक्यों को सुनने से अनधिकारी को अर्थ ही मालूम न चलने से वे वाक्य उसे विषयों से विमुख कर नहीं सकते। यद्यपि सांगाध्ययन वाला आपात ज्ञान से ही धर्मजिज्ञासा बिना किये भी ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्त हो सकता है तथापि ज्ञान की योग्यता के लिये आवश्यक वैराग्य उतने मात्र से नहीं मिलता, विवेकादि से ही मिलता है। अतः उस तरह प्रवृत्त साधक परीक्षापूर्वक विरक्त होवे यह आवश्यक है, ब्रह्मानंद के आपात ज्ञान से जो स्त्रीप्रभृति विषयविशेषके परिग्रह की उत्कट इच्छा की अल्पता है उतने मात्र से स्वयं को ज्ञानाधिकारी न समझ ले यह तात्पर्य है। अतः 'असक्तबुद्धिर्नैष्कर्म्यसिद्धिमधिगच्छति' व तदनन्तर 'वैराग्यं समुपाश्रितः' (गी० १२.४९, ५२) यह कहना संगत है। अतएव आकरों में संन्यास के विधान को ऊहापोह से सिद्ध किया है। अन्यथा विषयसौन्दर्य से सुलभ मुमुक्षा के दौलर्भ्य का प्रसंग न होने से अन्य काम्यविधियों की तरह संन्यासविधि अविवादित ही रहती। किं च निर्विशेष के अर्थवादरूप से कहे सविशेष आनंदों से ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्ति होने पर वैध विवेकाभ्यास से ही वैराग्यलाभ होता है, वाक्य सुनने मात्र से नहीं। इसमें यह भाष्य प्रमाण है 'परविद्याप्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्यान्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते' (ब्र० सू०भा० ४.३.१४)। अतः प्रकृत वार्तिक सर्वथा सुसंगत है। पुरी जी का 'अथ' की जगह 'अपि' पाठ है ॥३४८॥

क्योंकि भोग, कर्म और श्रुतमात्र ब्रह्मानंद तीनों कामना हटाने में असमर्थ हैं इसलिये विषयों में दोष देखना ही उपाय है यह निगमन करते हैं-

अतः कामनानिवृत्ति के लिये कामना के विरोधी अर्थ का पुनः पुनः चिंतन करना चाहिये। नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान तो कामना बढ़ाने के ही कारण बनते हैं ॥३४९॥

द्वारं न नियतं मुक्तेः प्राजापत्यपदं भवेत् । नह्युपाधिषु तत्त्वस्य विशेषः कश्चिदीक्ष्यते ॥३५०॥
नाऽऽकाशस्य विशेषोऽस्ति कुम्भद्रोण्याद्युपाधिषु । दूरान्तिकादिभिन्नेषु कल्पिताकल्पितेष्वपि ॥३५१॥

'दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्' ऐसा पतञ्जलि ने (यो० सू० २.३४) कहा है। विषयों से दुःख और अज्ञान ये ही चिरस्थायी फल मिलने हैं यह बार-बार सोचकर विषयों को दुःख-अज्ञानप्रद देखना ही कामनिवारण का उपाय है। जैसे भावना से शालग्राम विष्णु प्रतीत होता है ऐसे ही भावना से जब विषय दुःखादिप्रद प्रतीत होंगे तभी उनसे वितृष्णा हो सकती है। रमणीयताबुद्धि रहते कथंचिद् नियंत्रण भले ही हो वान्त के प्रति हेयबुद्धि की तरह त्याज्यता का निश्चय नहीं होता जो ब्रह्मज्ञान के लिये अधिकारी बनने के लिये अनिवार्य है। सद्-असत्, शुभ-अशुभ सभी विषयों में काकविष्ठा-समान घृणा हुए बिना न सर्वसंन्यास संभव है न ज्ञान। केवल काम्यकर्म ही रागवर्धक नहीं, नित्यादि भी पितृलोक आदि फल वाले होने से कामना बढ़ाने वाले ही हैं। अतः उन्हे करने से भी कामहानि संभव नहीं। और न सही 'यह धार्मिक है' ऐसी लौकिक प्रतिष्ठा तो कर्मानुष्ठान से मिलती ही है, यही कर्मकिंकर बनाये रखने और पादप्रसारिकान्याय से कर्म बढ़ाते जाने का प्रबल हेतु है। अतः कर्म किसी तरह कामसमापक नहीं, विषयों में दोष देखना ही उपाय है ॥३४९॥

जो तो कहा था (श्लो० ३४४) कि प्रजापतिपद भोगकर वैराग्य होने से तब ज्ञान होगा; उस पर सिद्धांती पूछता है: वह पद क्या तत्त्वज्ञान का हेतु है या तत्त्वके ही उत्कर्ष का हेतु है? दोनों ही संभव न होने से वह कथन असंगत है यह कहता है-

प्रजापति-पद ज्ञान के लिये अनिवार्य द्वार नहीं हो सकता। उपाधियों में तत्त्व की कोई विशेषता नहीं देखी जाती ॥३५०॥ दूर, पास आदि भेद वाली कल्पित या अकल्पित घड़ा, नलिका आदि उपाधियों में आकाश का कोई विशेष (=उत्कर्ष) नहीं है ॥३५०-३५१॥

बृहदारण्यक ने स्पष्ट कहा है कि देवता, ऋषि, मनुष्य, जिसने भी ब्रह्म को जाना वह ब्रह्म हुआ (१.४.१०)। अतः प्रजापति को ही ज्ञान हो सकता है ऐसा नियमन नहीं कर सकते। 'अहम्ब्रह्मास्मि' प्रजापति का बोध बताया है तो प्रश्न में ऋषियों को, तैत्तिरीय में भृगु को, ऐतरेय में वामदेव को, छान्दोग्य में सत्यकाम को, उपकोसल को, श्वेतकेतु को नारद को व इन्द्र को, बृहदारण्यक में बालाकि गार्ग्य को, मैत्रेयी को, अश्विनिकुमारों को, उषस्त चाक्रायण को, कहोल कौषीतकेय को, गार्गी वाचक्नवी को, उद्दालक आरुणि को, जनक को, कौषीतकी में प्रतर्दन को गीता में अर्जुन को इत्यादि बहुतेरों को तत्त्वबोध भी शास्त्र में ही बताया है। अतः ज्ञान का हेतु वह पद नहीं मान सकते।

यह भी ठीक नहीं कि उस पद में तत्त्वका प्रकर्ष होने से ज्ञान होता है क्योंकि पद तो उपाधि है और उपाधितारतम्य से उपधेय में प्रकर्ष नहीं हुआ करता। द्रोणी कहते हैं खोखली लकड़ी को जिसमें पानी बह सकें। घड़ा, द्रोणी आदि चाहे जितनी बड़ी-छोटी उपाधियाँ हों और 'ज्यादा जगह', 'कम जगह', 'गंदी जगह', 'साफ जगह' आदि व्यवहार भी हो जाये, किन्तु यह मानना असंभव है कि किसी भी उपाधि वाले आकाश में कोई उत्कर्ष है। जैसे आकाश की विविध घटादि उपाधियाँ हैं ऐसे ही स्तम्बादि हिरण्यगर्भ-पर्यन्त उपाधियाँ परम महेश्वर की हैं। पृथ्वी पर दृश्यमान उपाधियों की ही तरह उत्तमाधम लोकों की भी उपाधियाँ तत्त्व में विशेषका आधान नहीं करती यह कहने के लिये दूर व पास कहा। भूत-वर्तमान-भावी कोई भी उपाधि तत्त्व में भेद नहीं कर सकती यह कल्पित अर्थात् बन चुकी और अकल्पित अर्थात् अभी न बनी हुई कहकर बताया। अथवा दृष्टान्त में तात्पर्य है कि जैसे सर्पादि कल्पित उपाधियाँ तत्त्वभेदक नहीं ऐसे अकल्पित अर्थात् व्यावहारिक उपाधियाँ भी तत्त्वभेदक नहीं हैं। जब उपाधियाँ ही अनिर्वाच्य हैं तब वे आत्मा में तात्त्विक विशेष कैसे कर सकती हैं?

पुरी जी ने कहा है कि तीन तरह से तत्त्वमें विशेषता संभव है: १) जीव-ईश्वर आदि भाव से; २) सामान्य-विशेषभाव से; और ३) कार्यकारण-भाव से। तीनों तरहों का निषेध श्लो० ३५१-३ में क्रमशः किया गया है ॥३५०-३५१॥

सत्तत्त्वापेक्षयाऽभेदो भावानां नाभ्युपेयते । स्वभावहानादन्योन्यं विशेषो बाह्य एव सः ॥३५२॥

सिद्धांती ने ब्रह्मको निर्विशेष मानकर तत्त्वोत्कर्ष-प्रयुक्त प्राजापत्यपदहेतुकता का निषेध किया। वादी कहता है कि ब्रह्म को सविशेष मानना चाहिये क्योंकि वह सत्ता-सामान्यरूप है, हर सामान्य विशेष वाला होता है जैसे घटत्वसामान्य है तो घट विशेष है। यद्यपि सिद्धान्त में सद्रूप ही ब्रह्म है, सामान्यरूप नहीं, सत्ताशब्द में भी तल्प्रत्यय स्वार्थ में ही है, यह स्वयं (४.३. श्लो० १६८८) बतायेंगे, तथापि वादी को समझाने के लिये यों विकल्प उठाकर निषेध करते हैं:

ब्रह्म यदि सामान्य है तो मनुष्यादि ही उसके विशेष होंगे। वे विशेष सद्रूप ब्रह्म से अभिन्न हैं या भिन्न? दोनों ही संगत नहीं यह कहते हैं-

सत्तत्त्वकी अपेक्षा विशेषों को अभिन्न मानो चाहे भिन्न दोनों हालतों में विशेष सिद्ध नहीं होंगे। विशेषों को परस्पर भी अभिन्न या भिन्न मानने पर उनकी सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः विशेष भ्रमसिद्ध ही हैं ॥३५२॥

प्रथम पाद में 'अभेदः' और 'भेदः' ये दोनों छेद कर टीका में योजना की गयी है। यदि विशेषों को ब्रह्म से अभिन्न मानते हैं तो जैसे ब्रह्म विशेष नहीं है ऐसे विशेष भी विशेष नहीं हो सकेंगे। अतः वे स्वयं असिद्ध होंगे। यदि उन्हे ब्रह्म से भिन्न मानते हैं तो विकल्प होगा : क्या वे सत्त्वेन उससे भिन्न हैं या असत्त्वेन? सत्त्वेन भेद कह नहीं सकते क्योंकि तब भेदप्रतियोगिरूप विशेषों का असत्त्व ही स्वीकार्य होगा और वे असिद्ध ही रहेंगे। अथवा सामान्य का ही असत्त्व मानना पड़ेगा। यदि असत्त्वेन भेद मानें तो भी विशेषों का असत्त्व मुखतः कहा होने से विश्व में कोई विशेष न होने से सामान्य भी नहीं रह जायेगा। विभिन्न शशशृंगों में रहने वाला शशशृंगत्व कोई नहीं मानता! [टीका में (पं० ३४) 'भिद्यमानविशेषणात्' का अर्थ है भिद्यमानका अर्थात् विशेष का जो 'असत्त्वेन' यह विशेषण है, उसके कारण।] इसलिये विशेष को ब्रह्म से न अभिन्न मान सकते हैं न भिन्न।

आगे विशेष भी परस्पर अभिन्न हैं या भिन्न? यदि अभिन्न हों तो एक अद्वितीय विशेष ही रह जाने से वह विशेष ही नहीं होगा क्योंकि विशेष तो विशेषान्तरव्यावृत्त ही हुआ करता है। यदि आपस में विशेषों का भेद मानें तो भी पूर्ववत् सत्त्वेन भेद होने पर प्रतियोगिभूत विशेष का असत्त्व होगा और असत्त्वेन भेद मानें तो अनुयोगी का असत्त्व होगा। भेद का अनुयोगि-प्रतियोगिभावव्यत्यास करने से दोनों का असत्त्व हो जायेगा। अतः विशेषों को परस्पर भी भिन्न या अभिन्न नहीं कह सकते। फलतः यही मानना पड़ेगा कि एक सद्रूप ब्रह्म में मनुष्यादि सब विशेष कल्पित हैं, अध्यस्त हैं। ऐसा मानने से भेदाभेदविकल्प भी प्रत्युत्तरित हो जायेंगे और सामान्य-विशेष-भाव भी उपपन्न हो जायेगा। विशेषों का परस्पर भेद भी अतएव समझ आ जायेगा। इस प्रकार विशेष वास्तविक न होने से प्रजापतिपद तत्त्व के उत्कर्ष वाला नहीं कि प्रजापति ही ज्ञान पा सके, विदुरादि नहीं। एवं च वादी ने जो प्रयोग किया था कि ब्रह्म सविशेष है सत्तासामान्यरूप होने से, उसमें स्वरूपासिद्धि से अतिरिक्त साध्याप्रसिद्धि व साधनाप्रसिद्धि भी दोष हैं क्योंकि उक्त ढंग से सविशेषत्व और सामान्यरूपत्व दोनों कहीं सिद्ध नहीं होते। यदि कल्पित सविशेषत्वादि का ग्रहण करें तो अर्थान्तर दोष हो जायेगा। यह वार्तिक के 'बाह्यः' शब्द से सूचित है ॥३५२॥

वादी ब्रह्म की सविशेषता के लिये एक अन्य प्रयोग करता है ताकि ब्रह्म भले ही सामान्यरूप न हो फिर भी सविशेष हो जाये : ब्रह्म सविशेष है, कारण होने से, सोने की तरह। गहनों को विशेष मानना पड़ेगा अतः सोना चाहे द्रव्य है, सामान्य नहीं, फिर भी सविशेष है। ऐसे ही ब्रह्म पूर्वोक्त तरीके से असामान्यरूप होने पर भी सविशेष होना चाहिये। तब जैसे मुकुटविशेष वाला स्वर्ण ही सिर पर रखा जाता है नूपुरविशेष वाला नहीं ऐसे प्रजापति को ज्ञान होगा, अन्यों को नहीं, यह तात्पर्य है।

इस पर सिद्धांती विकल्प करता है: कार्य क्या कारण से अभिन्न होते हैं या भिन्न? दोनों संभव नहीं यह कहता है-

कार्यकारणपक्षेऽपि कार्यं नान्यत्र कारणात् । न च तत्त्वे विशेषोऽस्ति कटकादीव हेमनि ॥३५३॥
अतः प्रजापतौ तत्त्वं कृमौ वा न विशिष्यते । तर्कादागमतश्चापि तद्यो य इति हीदृशात् ॥३५४॥

कार्यकारणपक्ष में भी कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। तत्त्वमें (कारण में) कार्यकृत विशेष भी होता नहीं जैसे कटक-आदि गहने से सोने में कोई विशेष नहीं होता ॥३५३॥

कारण से कार्य को अभिन्न मानने पर तो वह कारण ही रहेगा, कार्य नहीं हो पायेगा, अतः वैसा मान नहीं सकते। उनका भेद भी मानना असंगत है क्योंकि भिन्न वस्तुओं में कार्य-कारण-भाव नहीं होता जैसे घोड़ा और भैंस एक-दूसरे से भिन्न हैं तो इनमें कार्यकारणभाव भी नहीं।

कथंचित् कार्य को स्वीकारने पर भी प्रश्न होता है: कारण ब्रह्म में कार्य किसी विशेष के हेतु बनते हैं या वे ख़ुद ही विशेष हैं? वे किसी विशेष के हेतु बनते हैं यह प्रमाणसिद्ध नहीं क्योंकि चूड़ी-आदि कार्य से सोने में कोई पैदा हुआ विशेष दीखता नहीं। चूड़ी आदि में गोलाई आदि विशेष रहने पर भी सोने में कोई विशेष होता नहीं। कार्यों को स्वयं भी कारण का विशेष कहना संगत नहीं क्योंकि कार्य आगंतुक होने से रज्जुसर्प की तरह कल्पित हैं, तात्त्विक विशेष नहीं हैं। सोने में भी स्वरूप से (=कटकादिरूप से) अतिरिक्त कोई तात्त्विक विशेष कटकादि नहीं बन पाते और स्वरूप आगन्तुक होने से अतात्त्विक है। ऐसे ही ब्रह्मकार्य भी ब्रह्म में न खुद विशेष हैं न किसी विशेष के हेतु। एवं च ब्रह्म सविशेष सिद्ध नहीं होता जिससे प्रजापति को ही तत्त्वज्ञान होवे।

शास्त्रप्रकाशिका एवं न्यायकल्पलतिका में 'अन्यत्र' शब्द को अन्यत् या भिन्न इतने ही अर्थ वाला माना है, सप्तम्यर्थक नहीं। यदि सप्तम्यर्थक ही मानना हो तो टीकोक्त विकल्पों को इस प्रकार लगाना चाहिये: कार्य विशेष को उत्पन्न करता है या स्वयं विशेष है? यदि प्रथम पक्ष हो तो क्योंकि विशेष कार्य का कार्य होगा इसलिये वह कार्य में ही रहेगा कारण में नहीं क्योंकि कार्य अपने कारण से अन्यत्र नहीं रहता। फलतः कारण में विशेष नहीं हो पायेगा। यदि द्वितीय पक्ष हो अर्थात् कार्य ही विशेष हो (तत्त्वे=विशेषत्वे कार्यस्यैव) तो भी कारण में विशेष नहीं होगा जैसे कटकादि स्वर्ण में विशेष नहीं होते। तात्पर्य में कोई अंतर नहीं है ॥३५३॥

उक्त विचार का फल बताते हैं-

अतः तर्क से और 'उसे जिस-जिसने' इत्यादि प्रकार के शास्त्रवचनों से निश्चित है कि चाहे प्रजापति हो चाहे कीड़ा, दोनों में तत्त्व (आत्मा) एक-सा है, उसमें कोई विशेषता नहीं॥३५४॥

सामान्यविशेषभावादि की असिद्धि ही तर्क है। तर्क अकेला तो कुछ सिद्ध करता नहीं, प्रमाण का ही अनुग्राहक बनता है अतः प्रमाण हैं शास्त्रवचन। बृहदारण्यक में (१.४.१०) कहा जायेगा कि उस ब्रह्म को जिस-जिस ने जाना वही ब्रह्म हुआ और आज भी यही नियम है। कठ में (२.२) श्रेयश्चयन में मनुष्य की सामर्थ्य स्पष्ट बतायी है। मुण्डक में 'ब्राह्मणः ····· अभिगच्छेत्' (१.२.१२) कहा है, ब्राह्मण मनुष्य ही हो सकता है। गर्भ में ज्ञान ऐतरेय में (४.५) कहा है, गर्भ में जरायुज ही आते हैं। 'त्वा ज्ञपयिष्यामि' (बृ० २.१.१५) में भी ब्राह्मण का ज्ञानाधिकार मानकर ही क्षत्रिय ने उपदेश किया है। कौषीतकी में 'मनुष्याय हिततमं मन्ये' (कौ० ३.१) यह इंद्र का वचन है। याज्ञवल्क्य की 'व्याख्यास्यामि' (पृ० २.४.४) प्रतिज्ञा से स्त्री का अधिकार अधिगत होता है। ऐसे ही जनक के अभयलाभ से (बृ० ४.२) मनुष्याधिकार पता चलता है। श्वेताश्वतर में (५.६) भी कहा है 'ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः'। बिना महादेव को जाने 'मानव' दुःख से नहीं छूटते (श्वे० ६.२०) कहकर भी यही स्पष्ट किया है। और ब्रह्मसूत्रों में तो प्रमिताधिकरण, देवताधिकरण तथा अपशूद्राधिकरण (१.३.७-९) तीन तरह से इस बात को सिद्ध किया है। अन्यत्र भी (ब्र०सू० ३.३.१९.३२) भाष्यकारों ने कह दिया है 'श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानाद् मोक्षं दर्शयति'; 'रैक्व-वाचक्नवी-प्रभृतीनामेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः' (ब्र०सू०३.४.३६); पंचपादिका में भी 'त्रैवर्णिकाधिकारात्' (पृ० ४५०) कहा है। अतः आगम

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥३५५॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥३५६॥

वतन्मूलक आचार्यवचनादि प्रमाण तर्क से अनुगृहीत होकर ग़ैर-प्रजापति का ज्ञानाधिकार सुरक्षित रखते हैं। क्योंकि तत्त्व सर्वत्र सम है इसलिये ज्ञान भी सर्वत्र सम ही है। 'यथाप्सु' (कठ० ६.५) इत्यादि में वस्तुतः मानवशरीर में ही ज्ञान पा लेना चाहिये यही विवक्षित है, ऐसा ही भाष्य में व्याख्यान भी है; ब्रह्मलोक का वैशिष्ट्य भी ज्ञान के सौलभ्य में है, ज्ञान में कोई विशेषता नहीं क्योंकि विषय ही निर्विशेष है अतः प्रकृत वादी की कल्पना अयुक्त है ॥३५४॥

उपाधिभेद से परमात्मा की निर्विशेषता में कोई अंतर नहीं आता यह बात इस मंत्र से (बृ० ४.४.७) भी पता चलती है–

जब इसके हृदय में स्थित सभी कामनायें समाप्त हो जाती हैं तब मरणधर्मा अमृत हो जाता है, यहीं ब्रह्म से एक-मेक हो जाता है ॥३५५॥

इस मंत्र में मरणधर्मा की ही अमरता बतायी है और 'यहीं' अर्थात् मर्त्यशरीर में ही ब्रह्मता कही है, अतः मर्त्यशरीर में तत्त्व की कमी की संभावना हटा दी है। जिन कामनादि के कारण तत्त्वतारतम्य की शंका की जा सकती है उन्हें हृदयाश्रित कह देने से उस शंका को भी स्थान नहीं दिया है ॥३५५॥

पूर्व श्रुति में मर्त्य की अमरता के कथन तथा यहीं ब्रह्मभाव के कथन की सामर्थ्य से अर्थात् श्रौतलिंग से निर्विशेषता बतायी थी। अब श्रुति (श्वे० ६.११) से भी वही सिद्ध करते हैं–

स्वप्रकाश महादेव एक ही है। वही सब भूतों में छिपा हुआ है। सर्वत्र व्याप्त वही सब प्राणियों का अन्तरात्मा भी है। वह कर्मों का साक्षी है, सभी भूतों का अधिष्ठान है, चिन्मात्र है, केवल द्रष्टा है, गुण-रहित किं वा सभी विशेषों से रहित व्यापक एकरस है ॥३५६॥

पंचमुखी आदि मूर्तिविशेष की व्यावृत्ति के लिये 'एक' कहा। आगे (१.४. श्लो० ३७७) बतायेंगे कि यही एक जगद्गुरु हरि, ब्रह्मा, पिनाकधारी आदि कई ढंग से पुकारा जाता है। सब भूतों में छिपा होने से वह केवल संसारातीत नहीं है। सब उसे नहीं जान पाते क्योंकि छिपा है। व्यापक होने से ऐसा नहीं कि कुण्ड में बेर की तरह दुनिया उसमें हो। इसकी सत्ता से ही सब सत् हैं, विद्यमान हैं; इसकी प्रतीति (भान) से ही प्रकाशमान हैं और इसके स्वरूपानंद से ही प्रिय हैं। अतः इससे अतिरिक्त कुछ सत् भास नहीं सकता जिससे ब्रह्म वस्तुकृत परिच्छेद से भी रहित है। उत्पन्न प्राणिनिकायों में यही प्रविष्ट है, यही सबका प्रत्यगात्मा है। अतः शासक ईश्वर और शासित जीव का भेद भी नहीं है। यद्यपि हमें 'मैं कर्ता' अनुभव होता है तथापि ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा कर्मों का कर्ता नहीं, केवल उनका प्रकाशक है। किन्तु प्रकाश्य से (दृश्य से) आत्मा का भेद वास्तविक नहीं क्योंकि सारा दृश्य उसी में कल्पित है, वह सब का अधिष्ठान है। इससे भी वस्तुसीमा हटायी। चिन्मात्र होने से यह वस्तुरूप होने पर भी घटादिवस्तु की तरह दृश्य नहीं कि इसे किसी अन्य से प्रकाशित होना पड़े। यह द्रष्टा है, प्रकाशरूप होना ही इसकी प्रकाशकता है अतः इच्छादि (संसार पैद करूँ आदि विचार) भी इसकी उपाधि माया में ही होते हैं इसमें नहीं। अतएव सामान्य देखने वालों की तरह यह विकारी नहीं है। देखने से इसमें कोई अंतर या प्रतिक्रिया नहीं होती। इसकी केवल संनिधि अर्थात् उपस्थिति से सारे विश्व का व्यवहार चल जाता है, इसे कैसी भी चेष्टा नहीं करती पड़ती। ज्ञान, आनंद आदि भी इसके गुण नहीं हैं। यह सच्चिदानंदरूप है। इस प्रकार श्रुति ने परमात्मा की निर्विशेषता मुखतः कही है। अतः उपाधियों के तारतम्य से परमतत्त्व में कोई अंतर नहीं होने से प्रजापतिपद को तत्त्वप्राप्तिरूप तत्त्वज्ञान का नियमित (आवश्यक) उपाय नहीं मान सकते इसलिये कर्म कामनाकी निवृत्ति करते हैं यह सर्वथा अप्रामाणिक है ॥३५६॥

विज्ञानकर्मणोस्त्रेधा यद्युच्येत समुच्चयः । पूर्वोक्तैकात्म्यतात्पर्याद्वेदस्यासौ न युज्यते ॥३५७॥
एकवाक्यावशीभावात् साध्यैक्यायोगतस्तथा । समुच्चयः कुतो द्रव्यगुणवज्ज्ञानकर्मणोः ॥३५८॥

अब समुच्चयवादी की शंका मिटायेंगे। इनका मानना है कि कर्म ज्ञानके हेतु नहीं बनते बल्कि ज्ञान से जुड़कर मुक्ति के हेतु बंनते हैं। इसका निरास करते हैं-

यदि तत्त्वज्ञान और कर्मों का तीनों तरह समुच्चय कहा जाये तो भी वह संगत नहीं है क्योंकि वेदान्तों का तात्पर्य एकात्मता में ही है यह प्रारंभ में कह चुके हैं ॥३५७॥

समुच्चय के तीन प्रकार संभव हैं: १) ज्ञान प्रधान और कर्म गौण हो; २) कर्म प्रधान व ज्ञान गौण हो; ३) दोनों की एक-सी प्रधानता हो। तीनों पक्षों में संन्यास असिद्ध है। प्रथम में नित्यादिमात्र से काम जल जायेगा और ज्ञानाभ्यास में अधिक समय दे सकते हैं जबकि द्वितीय में विपरीत होगा और कर्माधिक्य चाहिये। अथवा प्रथम में आश्रमसंन्यास संभव है द्वितीय में नहीं यह अंतर है। यद्यपि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि कर्म व ज्ञान का अंगांगित्व असंभव है और इसीलिये मीमांसक इनका समप्राधान्य मानता भी है तथापि संभावना का निरास करने के लिये तीनों का उत्थापन किया है।

समुच्चयवादी से सिद्धांती पूछता है कि समुच्चय मानने में प्रमाण क्या है ? कर्मकाण्ड तो प्रमाण कहा नहीं जा सकता क्योंकि उसका तात्पर्य ज्ञान से असमुच्चित अर्थात् केवल कर्मों को स्वर्गादि का साधन बताना है। यह स्वमत से कहा। यदि पूर्वपक्ष के अनुसार कहें तो भी कर्मकाण्ड का तात्पर्य भावना या नियोग में होगा, 'क्रियार्थत्वात्' ऐसा सूत्रकार ने ही कह दिया है। समुच्चय में कर्मकाण्डतात्पर्य नहीं माना है। उत्पत्तिशिष्ट अंगफलादि से निराकांक्ष कर्मकाण्ड ज्ञान से समुच्चित नहीं होगा। ज्ञान भी 'पुरुषार्थोऽतःशब्दात्' (ब्र०सू० ३.४.१) न्याय से निराकांक्ष है। अतः काण्डान्तरानर्थक्यवश भी उत्थाप्याकांक्षा मानकर संबंध नहीं बनेगा। इसीलिये ज्ञानकाण्ड भी समुच्चय में प्रमाण नहीं। किं च प्रारंभ में (श्लो० १६) कह चुके हैं कि वेदांतों का तात्पर्य केवल अखंड परमात्मा है अतः उसका समुच्चय में तात्पर्य न होने से वह समुच्चय में प्रमाण नहीं है। उपक्रमादि षड्विध तात्पर्यचिह्नों से उपाधिमात्र से रहित एकरस व्यापक प्रत्यक्तत्त्व में ही ज्ञानकाण्ड का तात्पर्य है। उदाहरणार्थ विवरण में तैत्तिरीय का तात्पर्य दिखाया है (पृ० ५७४): सत्य, ज्ञान, अनंत ब्रह्म से उपक्रम कर पुरुष व आदित्यमें जो अद्वितीय तत्त्व है उसमें उपसंहार किया है। बीच में बार-बार उसे बताया है- वही सत् और त्यत् हुआ, उसी ने यह जो कुछ है वह उत्पन्न किया, उसने अपने आपको स्वयं किया, वह वाणी आदि का विषय नहीं, इत्यादि। ऐसा परमात्मा किसी अन्य प्रमाण से पता भी नहीं है, अतः अपूर्वता है। उसकी सभी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं यह ब्रह्मानुभव होने पर फल भी बताया है। सृष्टिबोधक वचन अद्वितीय तत्त्व समझने के लिये अर्थवाद हैं। पाँच कोश तथा प्राणन आदि लिंगों से ब्रह्मात्मा की एकता को उपपन्न किया है। अतः तैत्तिरीय का अद्वैत में तात्पर्य स्पष्ट है। लघुचन्द्रिका में (पृ० ६८९) श्रुति, स्मृति, भागवतादि पुराणों के वचनों से वेदान्त का तात्पर्य निर्विशेष में स्पष्ट किया गया है। इसलिये दोनों काण्ड समुच्चय में प्रमाण न होने से वह पक्ष अप्रामाणिक है।

वार्तिक के 'वेदस्य' का अर्थ उपनिषद्भाग है यह श्रीमान् आनन्दगिरिजी ने स्वीकार कर व्याख्या की है। पूर्वसाधित काण्डभेद के अनुसार और त्रिविध समुच्चय के निरासार्थ यह तात्पर्य सुसंगत है। क्रमसमुच्चय तो सिद्धांत में इष्ट ही है। विद्यासागर व श्रीनृसिंहस्वामी ने 'वेदस्य' से काण्डद्वयात्मक सारा वेद ही ग्रहण किया है। साक्षात् व परंपरा से समूचे वेद का तात्पर्य (=प्रयोजन) अद्वैतज्ञान में है यह भी पूर्वोक्त (श्लो० ३२५) होने से वह भी संगत है। 'ब्रह्मवित् पुण्यकृत्तैजसश्च' (बृ० ४.४.९) आदि से क्रमसमुच्चय ही योग्य होने से अवगत होता है, पूर्वपक्षी को संमत त्रिविध में से कोई भी समुच्चय नहीं। अतः वेद सहसमुच्चय में प्रमाण नहीं यह तात्पर्य है ॥३५७॥

समप्राधान्येन समुच्चय मानने में और दोष दिखाते हैं-

किसी एक अधिकारवाक्य से नियमित न होने के कारण तथा किसी एक साध्य से सम्बद्ध न होने के कारण ज्ञान व कर्म का द्रव्य व गुण की तरह समुच्चय क्यों होगा? ॥३५८॥

द्रव्य-गुण का समुच्चय कर्ममीमांसा में इस तरह समझाया गया है: 'यदाग्नेयः' (तै० सं० २.६.३) आदि से अमावस्या व पूर्णिमा इन दो कालों से सम्बद्ध आग्नेयादि कर्म विहित हैं। अन्यत्र (तै० सं० १.६.९) भी 'पौर्णमासीं यजते, अमावास्यां यजते' ऐसा कहकर पूर्णिमायाग और अमावास्यायाग का कथन है। इन दोनों स्थलों का विचार करने पर संशय होता है कि क्या उभयत्र पृथक्-पृथक् कर्मों का विधान है अर्थात् आग्नेयादि पृथक् कर्म हैं जो अमावस्यादि को कर्तव्य हैं और अमावास्यायाग आदि पृथक् ही कर्म हैं? अथवा आग्नेयादि त्रिकों के दो समुदायों का ही अमावास्यायाग व पौर्णमासी याग कहकर अनुवाद किया गया है अर्थात् आग्नेयाष्टाकपाल, ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय इन तीन का ही संमिलित नाम अमावास्यायाग और आग्नेयाष्टाकपाल, उपांशु और अग्नीषोमीय एकादशकपाल इन तीन का ही संमिलित नाम पौर्णमासयाग है? पूर्वपक्षी कहता है कि अभ्यास कर्मभेद में प्रमाण माना गया है (पू०मी० २.२.२) अतः यहाँ भी 'यजति' पद का अभ्यास अर्थात् पुनरुच्चारण है इसलिये दोनों वाक्यों से अलग-अलग कर्म ही विहित हैं यही मानना चाहिये। सिद्धांत है- 'पौर्णमासीं यजते' आदि वाक्य का आलम्बन आग्नेयादि कर्म ही हैं। वहाँ विहित छह कर्मों के त्रिकरूप दो समुदायों का पौर्णमासी-आदि वाक्य में अनुवाद है जिससे त्रिक का इकट्ठे ही अनुष्ठान करना चाहिये यह भी पता चलता है और 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस अधिकारवाक्य में (=फलवाक्य में) कहा द्विवचन उपपन्न हो जाता है क्योंकि याग छह होने पर भी त्रिक दो ही हैं। ऐसा स्वीकारने का कारण यह है कि कर्मांतर मानने पर पौर्णमासी आदि यागों का 'रूप' सिद्ध नहीं होगा। याग के अंगभूत द्रव्य और देवता को मीमांसक रूपशब्द से कहते हैं। पौर्णमासी व अमावास्या यागों के न कोई देवता कहे हैं, न द्रव्य। अतः ये याग किये ही नहीं जा पायेंगे। इसलिये आग्नेयादि का ही पूर्वोक्त प्रयोजन से पौर्णमासी आदि में अनुवाद है। यह पूर्वमीमांसा में (२.२. अधि० ३) सिद्ध किया है।

'पौर्णमासीं यजते' और 'अमावास्यां यजते' इन दो 'यजते' शब्दों से (धातुभाग से) समुदायों का अनुवाद है जिससे अधिकारवाक्यगत द्विवचन संगत है। अतः आग्नेयादि यागों का क्योंकि एक अधिकारवाक्य (फलबोधकवाक्य) से सम्बंध है इसलिये वे समप्रधान रहते हुए भी समुच्चित हो जाते हैं अर्थात् पूर्वप्रदर्शित (श्लो० ३३७) समुदायापूर्व के जनक हो जाते हैं।

किन्तु ज्ञान व कर्म तो किसी एक अधिकारवाक्य से सम्बद्ध हैं नहीं अतः ये क्यों समुच्चित होंगे? 'ब्रह्मवित् पुण्यकृत्' आदि वाक्य भी क्रमवाची है या ज्ञानी की प्रशंसा में तात्पर्य वाला है यह भाष्य में (पृ० ३६४) और वार्तिक में (पृ० ११९५-६) स्पष्ट किया जायेगा। उसी नीति से 'कर्मेति प्रतिष्ठा' (केन० ४.९), 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' (मुं० १.४), 'विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४.४.२) आदि वाक्यों का व्याख्यान कर लेना चाहिये। पुरुषार्थाधिकरण में (३.४.१.१-१७) बहुत विस्तार से यह सब समझाया है।

एक और हेतु है कि ज्ञान-कर्म का समुच्चय संभव नहीं। एक साध्यरूप फल वालों का समुच्चय संगत है। जैसा कि पूर्वमीमांसा के ग्यारहवे अध्याय के प्रारंभ में ही विचार किया है: अधिकारवाक्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' से कहा फल क्या आग्नेयादि प्रत्येक याग से सम्बद्ध होता है या तंत्र से ही वह सबका फल हो जाता है? तंत्र से अर्थात् स्वर्गरूप एक ही फल से आग्नेयादि सबका साफल्य सिद्ध हो जाता है। सकृत् प्रवृत्त हो बहुतों का उपकार करने को मीमांसक 'तन्त्र' कहते हैं। पूर्वपक्षी ने कहा कि आग्नेयादि सब प्रधानयाग हैं और आपसी किसी अपेक्षा से विधिगोचर नहीं बने हैं, स्वतंत्र ही विहित हैं, अतः सब की पृथक्-पृथक् ही फलाकांक्षा है। उनकी संनिधि में जो उक्त वाक्य से स्वर्गरूप फल श्रुत है उसका प्रकरणवश प्रत्येक आग्नेयादि याग से सम्बंध होना ही उचित है। सिद्धांती ने निर्णय दिया कि अधिकार वाक्य में आग्नेयादि का समुदायवाचक दर्शादि शब्दों से अनुवाद कर उन्ही का स्वर्गफल में विनियोग बताया है इसलिये तंत्रसे ही स्वर्ग उन सबका फल है। 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' वाक्य ने संघ का फल कहा है अतः प्रत्येक का फल स्वर्ग नहीं मान सकते। जैसे घकार टकार की घटपदार्थ में शक्ति न होने पर भी घटपद में वह शक्ति उपपन्न है ऐसे प्रत्येक

का सम्बन्ध न होने पर भी समुदाय का सम्बन्ध है। इसी दृष्टांत से प्रत्येक की सप्रयोजनता भी समझनी चाहिये। श्रुति से समूह का साफल्य सिद्ध होने के कारण व उसी से आग्नेयादि की आकांक्षा शांत हो जाने से प्रकरणवश सम्बन्ध संभव नहीं।

किन्तु ज्ञान व कर्म का साफल्य उक्त ढंग से है नहीं। न तो वैसा वचन है और न संभव ही है क्योंकि ज्ञान का फल सिद्ध वस्तु है और कर्म का साध्य ही फल हो सकता है। अतः इन दोनों का उक्त ढंग से भी समुच्चय क्योंकर होगा!

ज्ञानकर्मसमुच्चय नहीं होता यह दृढ करने के लिये कहाँ समुच्चय होता है इसका दृष्टान्त है गुण व द्रव्य का समुच्चय। यह भी मीमांसा में (३.१. अधि० ६) विचारित है: ज्योतिष्टोम के प्रसंग में सोमलता खरीदने के लिये जो मूल्य दिया जाता है उसमें गाय, अजा, हिरण्य, कपड़ा आदि दस वस्तुएँ हैं। उनमें गाय के संबंध में कहा है 'अरुणया पिंगाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति' (तै०सं० ६.१.६)। यहाँ आरुण्य गुण है (रंग है)। उसके विषय में संशय है कि क्या वह ज्योतिष्टोम में प्रयुक्त सब द्रव्यों से सम्बद्ध होगा अर्थात् सभी कुछ अरुण होना चाहिये अथवा केवल सोम खरीदने के लिये दी जाने वाली गाय ही अरुण होनी चाहिये? पूर्वपक्षी कहता है– यद्यपि 'अरुणा से खरीदता है' इस वाक्य से यह समझ आ सकता है कि अरुणिमा का खरीदने से संबंध है तथापि अरुणिमा गुण है अतः उसका क्रिया से (खरीदने से) सीधे ही तो संबंध हो नहीं सकता, गुण निष्क्रिय होता है, इसलिये वाक्यभेद करना चाहिये, 'अरुणया' इतना पृथक् वाक्य है, 'पिंगाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति' यह पृथक् वाक्य है। 'अरुणया' इस तृतीया श्रुति से उस प्रकरण में आये सभी साधनद्रव्यों का अनुवाद कर प्रातिपदिक से ('अरुण' शब्द से) अरुणिमा-गुण का विधान किया जा रहा है। एवं च चमस आदि सभी चीज़ें अरुणवर्ण की होनी चाहिये। सिद्धान्त है– अरुणिमा का खरीदने से ही संबंध है, अरुणवर्ण की गाय देकर सोम को खरीदे इतना ही वाक्य का अर्थ है। सब द्रव्यों को अरुणवर्ण का नहीं कहा जा रहा है। मीमांसक शब्द की शक्ति आकृति में (जाति में) मानते हैं। 'आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्' (१.३.३३) यह जैमिनि का वचन है। इसके भाष्य व वार्तिकादि में यह प्रसंग बहुत विस्तार से चर्चित है। प्रश्न उठता है वेद ने कहा 'गाय से यज्ञ करे' (तै० ब्रा० २.७.६.१); गाय का अर्थ यदि आकृति समझें तो उससे यज्ञ कैसे हो? जाति से तो कुछ क्रिया की नहीं जा सकती। इसका उत्तर दिया कि द्रव्य का नियमन करने के लिये आकृति का शब्द से कथन है अतः आकृति विशेषण की तरह द्रव्य पर रहती है जिससे गाय-द्रव्य से यज्ञ करने पर भी वचन का निर्वाह हो जाता है: 'यदपि जातेः प्रातिपदिकाभिहितायाः करणत्वं प्रतीयते तदपि द्रव्यनियामकत्वेनैव, न साक्षाद्, अयोग्यत्वात्। तेन आकृत्यभिधानस्य द्रव्यनियमार्थत्वात् द्रव्ये वाऽऽलम्भनप्रोक्षणसंख्याकारकसामानाधिकरण्यादिसंभवाद् अदृष्टता।' (तं० वा० १.३.३५)। इसी ढंग से गुण भी अमूर्त है (क्रियावान् नहीं है), फिर भी खरीदने का साधनभूत जो गाय उसका परिच्छेद कर लेता है, नियमन कर लेता है, विशेषण बन जाता है और इस तरह उसका (अरुणिमा का) खरीदना रूप वैध क्रिया से संबंध हो जाता है। इसलिये जब 'अरुणा से खरीदता है' यह एकवाक्यता उपपन्न है तबवाक्यभेद नहीं किया जा सकता। एकहायनी अर्थात् एक वर्ष वाली गाय; वह तो अरुणिमा का नियमन कर लेती है और अरुणिमा उसका नियमन करती है अर्थात् जिस एकहायनी से खरीदे वह अरुणा ही हो, कांली-सफेद आदि नहीं और जिस अरुणा से खरीदे वह एकहायनी ही हो, बुड्ढीआदि या बकरी आदि न हो – यह बोध हो जाता है। अर्थात् खरीदने के भी बाकी नौ साधन अरुण नहीं चाहिये, केवल गाय अरुणा चाहिये। इस प्रकार वाक्यप्रमाण से एकहायनी में होने वाली अरुणिमा का क्रय से ही सम्बन्ध है।

इस प्रकार क्रयसम्बंधरूप एक कार्य वाले द्रव्य और गुण का एक पदार्थ में नियमन हो सकता है यदि उनकी एक-प्रयोजनता श्रुति ने कही हो। अरुणिमा गुण है ही, एकहायनी द्रव्य होने से प्रधान है। इन दोनों का क्रयण में समुच्चय होता हैं। किन्तु ज्ञान व कर्म किसी एक फल के साधनरूप से विहित नहीं हैं इसलिये इनका अंगांगिरूप से समुच्चय नहीं हो सकता। समसमुच्चय आग्नेयादि की तरह नहीं हो सकता यह बता चुके हैं। इसलिये तीनों ढंग से समुच्चय असंभव है ॥३५८॥

भेदाभेदाश्रयत्वेन ह्यैकात्म्यज्ञानकर्मणोः । परस्परोपकारित्वहानात्कीदृक्समुच्चयः ॥३५९॥
देवताद्रव्ययाथात्म्यज्ञानं कर्माङ्गतां गतम् । तावदेव हि तत्कर्म नाज्ञातद्रव्यदैवतम् ॥३६०॥
तद्विशेषेऽङ्गभूयस्त्वात्फलभूयस्त्वमित्यतः । समुच्चयो न तस्य स्यान्नाङ्गेनाङ्गिसमुच्चयः ॥३६१॥

कर्म भेदाश्रित है और एकात्मताज्ञान अभेदाश्रित है अतः एक-दूसरे के उपकारक न होने से इनका कैसा समुच्चय होगा? (कैसा भी नहीं होगा) ॥३५९॥

कर्म के लिये कर्ता, कर्म, करण आदि भेद चाहिये और अद्वितीय-आत्मज्ञान विषय करता है अभेद को, भेद का वह बाधक है। समुच्चय तभी होता है जब परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव हो। इन दोनों में जब उपकार्योपकारकता नहीं तो समुच्चय भी नहीं होगा जैसे जब वह्नि नहीं होगी जब धूम भी नहीं हो सकता। [म०अ०सं०संस्करण में टीका में 'व्यापकभावात्' ग़लत छपा है, आनन्दाश्रमसंस्करण में 'व्यापकाभावात्' स्पष्ट छपा है।]॥३५९॥

वादी अनुमान करता है: आत्मज्ञान इस योग्य है कि इसका कर्म से समुच्चय हो, क्योंकि यह ज्ञान है, जैसे देवतादि का ज्ञान ज्ञान है और कर्मसमुच्चय के योग्य है। इसमें दृष्टान्त को साध्यविकल बताकर अनुमानका निरास करते हैं-

द्रव्य व देवता का यथार्थ ज्ञान कर्म का अंग है क्योंकि तब ही वह सही कर्म होता है जब कर्ता को द्रव्यदेवताका सही ज्ञान हो, उनके अज्ञानपूर्वक किया नहीं ॥३६०॥

द्रव्यादिज्ञान तो कर्म का अंग है, कर्म के अंतर्भूत होने से कर्म का शरीर ही है। बिना द्रव्यादिज्ञान के कर्म हो नहीं सकता अतः वह कर्मनिर्वर्तक है। अंग-अंगी का समुच्चय संभव नहीं। इसलिये वादी के दृष्टांत में समुच्चयार्हत्व यह साध्य है नहीं कि अनुमान संगत हो। प्रश्न होगा कि श्रुति ने कहा है कि जानकार और ग़ैर जानकार दोनों कर्म करते हैं (छा० १.१.१०), इसलिये देवतादि का ज्ञान कर्म का अंग नहीं हो सकता। इसलिये वह यज्ञातिरिक्त होने से समुच्चय के योग्य क्यों न हो? उत्तर है कि 'जानकार यज्ञ करे' (तै०सं० ६.२.२८), 'जानने के बाद कर्म प्रारंभ करे', 'कर्म को समझकर अपनी कामना के अनुसार कर्म का आरंभ करे' (आप०धर्म० २.२१.५), 'शास्त्रीय विधियों में कहे कर्म को जानकर उसे यहाँ करना चाहिये' (गी० १६.२४) इत्यादि श्रुति-स्मृति से यह निर्णीत है कि द्रव्य-देवताज्ञानपूर्वक ही कर्म करना चाहिये। जो इन्हे बिना जाने करता है उसकी निंदा स्वयं वेद ने (सामवि० आर्षे० १.१.१) की है- 'ऋषि, छंद, देवता व सम्बद्ध ब्राह्मणवाक्य को जाने बिना मंत्र से यज्ञ करता है, कराता है या पढ़ाता है वह ठूँठ बन जाता है या गड्ढे में गिरा दिया जाता है, अधिक पापी होता है, इसलिये हर मंत्र में इन्हे जाने'। इसलिये इस ज्ञान को अंग ही मानना उचित है ॥३६०॥

यदि देवतादि की जानकारी के बिना कर्म सांगतासम्पन्न न होने से ग़ैर जानकार कर्म कर नहीं सकता तो 'दोनों करते हैं' इस छान्दोग्यवचन में किस तरह के कर्मानुष्ठान से द्विविधता विवक्षित है? इसका उत्तर देते हैं कि वहाँ उपासना की सहितता और रहितता से दो प्रकार कहे हैं-

देवतादि की उपासनारूप विशेषता होने पर अंगों की अधिकता से फल की अधिकता हो जाती है। अतः देवतादि की उपासना का भी समुच्चय नहीं होता क्योंकि अंग से अंगी का समुच्चय नहीं होता ॥३६१॥

'जिसे विद्या से करता है वह अधिक वीर्यवान् होता है' यह वहीं (छा० १.१.१०) कहा होने से देवता आदि कर्मांगों की उपासना सहित किया कर्म अधिक फल देता है व उपासना के बिना किया कर्म कम फल देता है। उपासनारूप अंगविशेष का बढ़ना फल की वृद्धि में हेतु हो जाता है। ब्रह्मसूत्रों में स्पष्ट किया है (३.३.२७.४२) कि अंगावबद्ध उपासनायें कर्म का ऐसा अंग नहीं हैं जिसके बिना कर्म का स्वरूपलाभ न हो अतः इनके बिना भी कर्म हो ही सकता है। भले ही ये उपासनायें क्रत्वर्थ अंग पर आश्रित हैं फिर भी स्वयं तो पुरुषार्थ हैं, क्रत्वर्थ नहीं (३.३.३६.६५)।

इसीलिये इनके साथ कर्म करने से फल में विशेष होता है अन्यथा वह विशेष नहीं होता पर फल तो होता ही है (४.१.१३.१८)।

शङ्का होती है कि अधिक फल वाले कर्म में अधिक अंग हों यह उचित है किन्तु पूर्वोक्त न्यायों से उपासना कर्मका स्वरूपनिष्पादक अंग तो है नहीं इसलिये उपासना का कर्म से समुच्चय मानना चाहिये जिससे फल के लिये आवश्यक कारणपौष्कल्य संभव हो। उपासनायुक्त कर्म से जो फल होता है वही उपासना का भी फल मानना पड़ेगा अन्यथा उपासना निष्फल होने लगेगी। इसलिये भी उपासना का कर्म से समुच्चय स्वीकार्य है। अतः यदि यह प्रयोग करें : आत्मज्ञान, कर्मसमुच्चयके योग्य है, ज्ञान होने से, उपासनारूप ज्ञान की तरह; तो दृष्टान्त साध्यविकल नहीं होगा। यद्यपि पूर्वोक्त ज्ञान में हेतु की व्यभिचारिता है तथापि अनंगभूत ज्ञान को हेतु बनाने से उसका निवारण हो जायेगा।

समाधान है कि उपासना को भी अंग ही समझना पड़ेगा अतः उसको कर्म से समुच्चययोग्य नहीं कह सकेंगे। अतएव दृष्टान्त में परिष्कृत हेतु भी नहीं रहेगा। अंग से केवल क्रत्वर्थ शेष को नहीं कहते, स्वरूप को भी कहते हैं। स्वरूपवान् को अंगी कहते हैं जो स्वरूप से (अंग से) सर्वथा भिन्न होता नहीं। इसलिये जिनका स्वरूप पृथक् ही (प्रधान से स्वतंत्र ही) सिद्ध हो जाता है ऐसे प्रयाजादि क्योंकि फलोपकारी अंग हैं इसलिये उनका दर्शादि से समुच्चय माना जा सकता है किन्तु अंगावबद्ध उपासनायें तो अंगाश्रित होने से इनका स्वरूप पृथक् सिद्ध न हो सकने से इनके समुच्चय की संभावना नहीं। वस्तुतस्तु प्रयाजादि का भी समुच्चय मानना संगत नहीं। वे भी दर्शादि के अंग ही हैं। प्रयाजादि से विशिष्ट दर्शादि ही स्वर्गादि का करण बनता है। इतिकर्तव्यता-युक्त ही करण होता है और प्रयाजादि हैं दर्शादि की इतिकर्तव्यतारूप। अतः करणात्मक दर्शादि के स्वरूप में ही प्रयाजादि का निवेश हो जाने से समुच्चय का प्रसंग नहीं है। इसी तरह अंगावबद्ध उपासनायें कर्म का शेष भले ही न हों फिर भी क्योंकि उनसे विशिष्ट हुआ ही कर्म फलाधिक्य का करण बनता है इसलिये उन्हे अंग मानना चाहिये, उनका समुच्चय कहना युक्त नहीं। अत एव कर्मफल से साफल्य भी संगत है। एवं च शंकावादी के प्रयोग में दृष्टांत साध्यविकल ही है क्योंकि अंगावबद्ध उपासनायें भी समुच्चय के योग्य नहीं हैं।

शास्त्रप्रकाशिकामें (पं० १३) 'कर्मशेषत्वे' की जगह 'कर्माऽशेषत्वे' पाठ हो तो अधिक अच्छा रहे। पुरी जी ने भी कहा है:'अङ्गावबद्धोपासनस्य स्वातन्त्र्येण प्रयोगानुपपत्तेः शेषिक-चातुर्थिकाङ्गत्वाभावेऽपि उपकारलक्षणाङ्गत्वात् फलभूयस्त्वं भवति।' यथाश्रुत में शेषपद को अंगपरकसमझना पड़ेगा।

श्रीमान् आनन्दपूर्ण मुनीन्द्र ने इस वार्तिक की यह अवतरणिका दी है: यदि देवतादि के ज्ञानपूर्वक किया ही कर्म होता है, उसके बिना कर्म होता ही नहीं, जिससे ज्ञान कर्म का अंग ही है, तो जिसने धर्मजिज्ञासा नहीं की, मीमांसाध्ययन नहीं किया, उसे कर्म में अधिकार नहीं होना चाहिये। किन्तु ऐसा मानने पर शिष्टाचार का विरोध होगा क्योंकि शिष्ट लोग मानते हैं कि बिना धर्मजिज्ञासा के भी धर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति उचित है। इसका समाधान वार्तिक में दिया है। मीमांसाध्ययन के बिना किया कर्म अधिक वीर्यवान् नहीं होता किन्तु वीर्यवान् तो होता ही है अतः शिष्टाचारादि से कोई विरोध नहीं। विशिष्ट पदार्थान्तर होता है अतः ज्ञानविशिष्ट कर्म केवल कर्म से पृथक् वस्तु होने से समुच्चय संभव नहीं। अंग ही मानना चाहिये।

इस व्याख्या में छान्दोग्य वाक्य को उपासक-अनुपासक को विषय करने वाला न मानकर यदि वादी के अनुसार जानकार-ग़ैरजानकार को विषय करने वाला मानें तो भी ज्ञान का कर्म से समुच्चय नहीं यह अभ्युपेत्यवाद से योजना है ॥३६१॥

वादी के प्रायोग में दृष्टांत साध्यरहित है यह बताया। अब हेतु की काट के लिये एक प्रत्यनुमान (सत्प्रतिपक्ष) देते है -

यच्चाप्यैकात्म्यविज्ञानं तदज्ञानैकघस्मरम् । तस्मिन्सति कुतः कर्म का वाऽपेक्षाऽस्य गोचरे ॥३६२॥
ब्राह्मणत्वादिविज्ञानमग्निहोत्रादिकर्मणाम् । यद् दृष्टं साध्यसिद्ध्यै तु कर्मानुगुणमेव तत् ॥३६३॥
ऐकात्म्यवस्तुयाथात्म्यबोधे जात्यादिबाधनात् । न केवलं क्रिया न स्यात्कर्मणां प्रत्युताक्रिया ॥३६४॥

और जो एकात्मता की प्रमिति है वह अकेली ही अज्ञान को समाप्त करती है अतः उसके होने पर कर्म होगा कैसे? मोक्ष के लिये ज्ञान को कर्म की अपेक्षा भी नहीं है ॥३६२॥

सिद्धांती को यह प्रयोग विवक्षित है: अद्वैतात्मज्ञान, कर्म से समुच्चित नहीं होता, कर्म का विरोधी होने से, जो जिसका विरोधी होता है वह उससे समुच्चित नहीं होता, जैसे प्रकाश अँधेरे से समुच्चित नहीं होता। टीका में (पं० १६) 'न समुच्चीयते' पाठ मानना चाहिये। यथामुद्रित में 'असमुच्चीयते' ऐसी कथंचित् योजना करनी पड़ेगी।

प्रश्न होगा: प्रकाश अपने कार्य के लिये अँधेरे की अपेक्षा नहीं रखता, पर ज्ञान को फल के लिये कर्म की अपेक्षा है इसलिये जैसे प्रकाश अँधेरे का उपमर्दक है ऐसे ज्ञान कर्म का उपमर्दक हो नहीं सकता। एवं च सिद्धांती के प्रयोग में 'तद्विरोधित्व' हेतु पक्ष में (तत्त्वज्ञानमें) है नहीं।

इसका उत्तर वार्तिक में दिया कि ज्ञान अपने फल के लिये कर्म या किसी की भी अपेक्षा नहीं रखता। ज्ञान जिस प्रत्यग्ब्रह्माद्वैत को विषय करता है वही मोक्ष है। 'ब्रह्मैव मुक्त्यवस्था'. यह भाष्यवचन है। उस मोक्ष के प्रति ज्ञान निरपेक्ष है। सभी प्रमितियाँ अपने फल में निरपेक्ष होती हैं जैसे शुक्ति आदि की प्रमिति अपने फल में कर्मादि की अपेक्षा रखती नहीं देखी जाती। विद्यासागर ने दृष्टांत दिया है कि जैसे पापनिवर्तक प्रायश्चित्त का पाप से समुच्चय नहीं होता ऐसे कर्मनिवर्तक ज्ञान का कर्म से समुच्चय नहीं होता ॥३६२॥

अगर तो आत्मज्ञान से कर्ता-रूप आत्मा का ज्ञान विवक्षित हो तब सिद्धान्ती को कोई विरोध नहीं, यह कहते हैं-

जो तो अग्निहोत्रादि कर्मों के साध्य की सिद्धि के लिये ब्राह्मणत्वादि का विज्ञान कथित है वह कर्म के अनुकूल ही है ॥३६३॥

'शूद्र यज्ञ में अयोग्य है' (तै०सं० ७.१.१) आदि श्रुतिसे यज्ञ में अनधिकारी शूद्रादि द्वारा किया अग्निहोत्रादि निष्फल ही होता है अतः सफल कर्म करने के लिये 'मैं ब्राह्मण हूँ' आदि जानकारी जरूरी है। शास्त्र ने कहा है 'ब्राह्मण बृहस्पतिसव करे', 'क्षत्रिय राजसूय करे' (शत० ५.३.१.१३), 'वैश्य वैश्यस्तोम करे' (ताण्ड्य० १८.४.५) इत्यादि, अतः ब्राह्मणत्वादि की जानकारी आवश्यक है। ऐसे आत्मज्ञान का समुच्चय मानना चाहो तो सिद्धांती को कोई आपत्ति नहीं ॥३६३॥

यह भी विचारणीय है कि ज्ञान से जिन कर्मों का समुच्चय वादी को इष्ट है वे कर्म क्या १) ज्ञानोत्पत्ति के बाद होने वाले हैं; २) पूर्व जन्मों में एकत्र किये वाले है; ३) इसी जन्म में ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व अर्जित किये हुए हैं? प्रथम व द्वितीय प्रकार के कर्मों का समुच्चय संभव नहीं यह कहते हैं-

एकात्मतारूप वस्तु की यथार्थता का दृढ अपरोक्ष होने पर जाति आदि का बाध हो जाने से न केवल कर्मों का अनुष्ठान नहीं होगा बल्कि कर्मों का असत्त्व ही होगा ॥३६४॥

अद्वैत ही वास्तविक है। उससे अन्य ब्राह्मण्यादि देहधर्म तो अध्यस्त हैं अतः अद्वैत-साक्षात्कार से उनका बाध ही होना है। ज्ञान साक्षात् तो अज्ञान का बाध करता है और फलतः अज्ञाननिमित्तक देश-जाति-आदि का भी बाध कर देता है। कर्म के लिये देश, जाति आदि का ज्ञान चाहिये। 'प्राचीनवंश' इस देश का ज्ञान चाहिये। मण्डपविशेष को, जिस पर विशेष ढंग से बाँस लगाये जाते हैं उसे प्राचीनवंश कहते हैं। ब्राह्मण्यादि जाति का ज्ञान चाहिये ही। ऐसे ही गुणादि का भी ज्ञान चाहिये। देशादि का तत्त्वज्ञान से बाध हो जाता है इसलिये देशादिप्रयुक्त कर्मों का अनुष्ठान संभव नहीं। अतः ज्ञान के बाद किये कर्मों से समुच्चय का प्रसंग नहीं है।

अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने । रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥३६५॥
न कर्मव्यापृतिर्मुक्त्यावाप्त्यादीनामभावतः । न च श्रुत्यादयस्तत्र तेन स्यान्न समुच्चयः ॥३६६॥

पूर्वार्जित कर्म भी बाधित ही हो जाते हैं अतः उनसे भी समुच्चय संभव नहीं। आत्मातिरिक्त सकल का बाध होने से पूर्वभवार्जित कर्मों का त्रैकालिक अभाव निश्चित हो जाने से उनके साथ ज्ञान का समुच्चय कहा ही नहीं जा सकता। पूर्वकर्मों का विनाश स्पष्ट ही भगवान् बादरायण ने (ब्र०सू० ४.१.९.१३) बताया है।

मूल में 'क्रिया न स्यात्' से अनुष्ठान को असंभव कहा है और 'अक्रिया' से पूर्वकर्मों का राहित्य। अथवा अक्रिया से कर्मत्याग समझकर ज्ञानोत्तर कर्मों के ही असंभव के लिये हेत्वन्तर जानना चाहिये। पूर्वार्जित कर्मों के समुच्चय का निरास अलग से समझना चाहिये। सह-वर्तमान का ही समुच्चय संभव होने से वह पक्ष ग़लत है। यदि ज्ञान को पूर्वार्जित कर्मों की अपेक्षा माने तो किस कर्म की, कितने कर्मों की इत्यादि प्रश्नों का कोई प्रमाणाधारित उत्तर मिलेगा नहीं अतः वह पक्ष तुच्छ है ॥३६४॥

वादी कहता है कि तत्त्वज्ञान से अज्ञान निवृत्त होने पर अज्ञानकार्यों की निवृत्ति भले ही हो, कर्म तो अज्ञानकार्य हैं नहीं अतः वे क्यों निवृत्त होंगे? इसका उत्तर देते हुए इस जन्म में ज्ञान से पूर्व किये कर्मों के समुच्चय का भी निषेध करते हैं–

सर्पादि अयथार्थ वस्तु का ज्ञान भागने में हेतु बनता है। रस्सी का ज्ञान होने पर 'यह साँप है' ऐसा निश्चय निवृत्त हो जाता है तब व्यक्ति पहले किये भागने आदि को 'व्यर्थ ही किया' ऐसा समझता है ॥३६५॥

सर्पादिज्ञान क्योंकि वास्तविक ज्ञान से विरुद्ध है इसलिये अज्ञान ही है। वह जैसे भागने आदि का कारण बनता है ऐसे ही आत्माका अज्ञान ही सकल कर्मों का कारण है। अज्ञानी को ही स्वयं को अपूर्ण मानने से कामना होती है। कामना होने पर ही छोटी से छोटी भी प्रवृत्ति होती है। इसीलिये ज्ञान से मूलाज्ञान का ध्वंस होने पर सारी कार्याविद्या भी ध्वस्त ही होती है। अतः पूर्वश्लोक में ठीक ही कहा कि ज्ञान से क्रियानिवृत्ति अवश्य होती है।

जो तो कहा था कि ज्ञान से पूर्व इसी जन्म में किये कि कर्मों से समुच्चय हो सकता है, वह भी ठीक नहीं कहा. रस्सी देखने के बाद मनुष्य साँप समझ कर किये भागने आदि कार्यों पर अनुताप ही करता है 'अरे व्यर्थ ही इतना परेशान हुआ, मूर्ख बना!' अतः तत्त्वनिश्चय के बाद पूर्वकृत कर्मों के बारे में विद्वान् भी 'व्यर्थ ही इन्हे किया' ऐसा समझता है। यदि ज्ञान को फलदानार्थ उनकी ज़रूरत होती तो ऐसा संभव नहीं था, अपेक्षित वस्तु को कोई व्यर्थ नहीं समझता। वस्तुतस्तु ब्रह्मसूत्रों में (४.१.१५) पूर्वकर्मों का जो विनाश कहा है वह ज्ञानपूर्वकालिक वर्तमानदेहनिर्वृत्त कर्मों को भी विषय करता है। अतः यह समुच्चय भी संभव नहीं। प्रारब्ध तो भोगमात्र का प्रतिभास करा सकता है अतः उसके समुच्चय का प्रश्न ही नहीं। कार्यमात्र के प्रति कारण मानना चाहें तो मोक्ष को कार्य मानकर सिद्धांती को भी इष्ट ही है।

पुरी जी ने विचार किया है कि शमादि की तरह कर्मादि का ज्ञानसाहचर्य किसी तरह संभव नहीं। श्रुत विधियाँ भी परिसंख्यात्मक होने से निवृत्तिपरक ही हैं। किं च विधियाँ अपरिपक्व ज्ञानी को ही विषय करती हैं, तत्त्वनिष्ठ को नहीं। उसके व्यवहार संस्कारवश शास्त्रीय होने पर भी विधिप्रेरित नहीं होते। वस्तुतः देहादि व्यवहार से 'मैं व्यवहर्त्ता हूँ' ऐसा कभी प्रतीत न होने से वे कर्म ही नहीं हो पाते। न्यायतत्त्वविवरणकार का पाठ 'अयथा' की जगह 'यथा' है अतः 'ह्यवस्तु' इत्यादि कुछ पाठ उनका रहा होगा ॥३६५॥

प्रमाण व प्रयोजन न होना रूप अन्य युक्ति से भी समुच्चय का निरास करते हैं–

मोक्ष प्राप्ति-आदिरूप न होने से कर्म उसके प्रति साधन नहीं बन सकता। श्रुति आदि भी इस विषय में उपलब्ध हैं नहीं। इसलिये समुच्चय का होना संभव नहीं ॥३६६॥

अन्तरङ्गं हि विज्ञानं प्रत्यङ्मात्रैकसंश्रयात् । बहिरङ्गं तु कर्म स्याद्बाह्यद्रव्याश्रयत्वतः ॥३६७॥
सत्यन्तरङ्गे विज्ञाने बहिरङ्गं न सिध्यति । संस्कारकं तु कर्म स्याज्ज्ञानात्त्वज्ञाननिह्नुतिः ॥३६८॥

प्राप्ति, उत्पत्ति, संस्कार और विकार–इतना ही कर्म का फल हो सकता है। मोक्ष इनमें से एक भी नहीं है अतः कर्म का वह प्रयोजन नहीं। इसलिये कर्मसमुच्चय व्यर्थ होने से अश्रद्धेय है। 'जो विद्या और अविद्या को' (ई० १४) आदि श्रुति व 'जैसे अन्न शहद से युक्त' इत्यादि स्मृति भी क्रमसमुच्चय के तात्पर्य से हैं न कि सहसमुच्चय के। ईश की श्रुति माध्यंदिन क्रमानुसार समझनी चाहिये। अतः भाष्यकार ने कहा है 'पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनैकेन पुरुषेण सम्बद्ध्यमानाऽविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते' (मां०का० ३.२५)। उदाहृत स्मृति का अर्थ है कि जैसे अन्न और मधु दोनों मिलकर तुष्टि-पुष्टि देते हैं ऐसे कर्म और विद्या भी। यहाँ भी क्रमसमुच्चय में तात्पर्य जानना चाहिये। शास्त्रप्रकाशिकानुसार 'श्रुत्यादयः' से श्रुति, स्मृति, पुराण, युक्ति आदि का कथन है। कल्पलता में श्रुति, लिंग, वाक्य आदि पूर्वविचारित (श्लो० ३३३ इत्यादि) अंगताबोधक प्रमाणों का कथन है। पुरी जी आनंदगिरिस्वामी का अनुसरण करते हैं 'श्रुतिलिंगादयः तत्र न सन्तीति पुरस्तादुक्तम्। इह पुनः समुच्चये श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानामभाव उच्यते।' अनेक श्रुतियों का और कुछ स्मृतियों का बहुत वस्तृत विवेचन उन्होंने यहाँ किया है किन्तु बीच-बीच में ग्रंथ भग्न है ॥३६६॥

एक नीति है कि अन्तरंग में बहिरंग की अपेक्षा अधिक बल होता है। जिसे कम अपेक्षायें हों और सामान्य की अपेक्षा हो वह अन्तरंग होता है, अधिक की और विशेष की अपेक्षा वाला बहिरंग होता है। इसलिये प्रबल ज्ञान का दुर्बल कर्म से समुच्चय संभव नहीं यह कहते हैं–

विज्ञान ही अन्तरंग है क्योंकि केवल प्रत्यक् ही उसका सहारा है। कर्म तो बहिरंग है क्योंकि उसे बाह्य द्रव्यों का सहारा चाहिये ॥३६७॥

प्रत्यक् अर्थात् अन्तरात्मा। समस्त इदमर्थ का परित्याग होने पर अवधिभूत वह प्रत्यक् ही विज्ञान है। न्यूनापेक्षत्व से अन्तरंगत्व है। अधिष्ठान होने से वही सामान्य भी है अतः सामान्यापेक्षत्व से भी अन्तरंगत्व है। किं च आत्मसत्त्वस्फुरत्त्वापेक्ष बाकी सब होने के कारण पूर्वावस्थितिरूप अन्तरंगत्व भी है। कर्म को बाह्य अर्थात् पराक् की अपेक्षा भी है। प्रत्यक् की तो है ही। द्रव्य, गुण आदि सब की उसे अपेक्षा भी है। साथ ही व्यक्तियों की अर्थात् विशेषों की उसे अपेक्षा है। अतः उसका बहिरंगत्व स्फुट है। प्रबल को दुर्बल का सहारा चाहिये नहीं अतः समुच्चय संभव नहीं।

कल्पलताकार समझाते हैं कि ज्ञान व कर्म का विरोध है तो कर्म को ही ज्ञान का बाधक क्यों न मान लिया जाये? इसका उत्तर वार्तिक में बताया है कि बहिरंग दुर्बल होने से अन्तरंग का बाधक संभव नहीं। किन्तु कर्म भी सार्थक है यह अगले वार्तिक से स्पष्ट किया है ॥३६७॥

प्रश्न होता है: राजा के अन्तरंग व्यक्ति प्रधानमंत्री आदि को बहिरंगभूत कहारों की जरूरत होती है जो उनकी पालकी आदि ढोवें, अतः प्रबल होने पर भी दुर्बल की अपेक्षा देखी गयी है। ऐसे ही ज्ञान को कर्म की अपेक्षा होती है ऐसा क्यों न मानें? उत्तर है –

अन्तरंग आत्मानुभव हो जाने पर बहिरंग (कर्म) सिद्ध नहीं होता। कर्म तो संस्कार करने वाला है। अज्ञान का निवारण तो ज्ञान से होता है ॥३६८॥

मोक्षके प्रति ज्ञान अन्तरंग है। वह सिद्ध हो चुकने पर कर्म-सापेक्ष नहीं, पूर्व में ही है। प्रधानमंत्री राजाकी ड्योढी तक पहुँचने के लिये कहारों की अपेक्षा रखता है, सभा में प्रविष्ट हो चुकने पर नहीं। ज्ञान भी स्वयं उत्पन्न होने के लिये कर्मापेक्ष है, उत्पन्न होने के बाद फल देने के लिये नहीं। मोक्षके प्रति बहिरंग हेतु कर्म हैं। ज्ञान हो चुकने पर वे किये ही नहीं जा सकते क्योंकि उनका कारण अज्ञान नष्ट हो चुकता है। एवं च कर्म विद्यमान ही नहीं तो ज्ञान उसकी क्या अपेक्षा करे? कर्म को भी मोक्ष के प्रति ज्ञान की अपेक्षा नहीं क्योंकि कर्म प्रयोजनांतर से निवृत्तापेक्ष हैं। यह पूर्व में (श्लो० २७७

यथावस्त्वात्मविज्ञानं मोहमात्राश्रयाः क्रियाः । सम्यग्ज्ञाने कुतः कर्म कर्महेतूपमर्दनात् ॥३६९॥

इत्यादि) कह चुके हैं। आत्मोन्मुखता से ही कर्म जब कृतकार्य हैं तो ज्ञान की क्यों अपेक्षा करेंगे? यद्यपि कर्म मोक्ष के उपाय होने से मोक्ष से सम्बद्ध होंगे ही तथापि उन्हे ज्ञानसमुच्चय की अपेक्षा नहीं है। यह ठीक है कि बिना ज्ञान के कर्म मोक्ष नहीं दे सकते, पर कर्म मोक्ष के प्रति सव्यापार नहीं होने से उसके प्रति सव्यापार ज्ञान से समुच्चित नहीं होते। ज्ञान तो पुरुषसंस्कारक नहीं बल्कि किसी भी तत्त्वज्ञान की तरह अज्ञाननिवर्तक है, मोक्ष का साधन है। ज्ञान से अव्यवहित मोक्ष है अतः कर्मापेक्षा का प्रसंग नहीं।

श्री सर्वज्ञात्ममहामुनि ने अन्तरंग-बहिरंग का सरल स्वरूप कहा है:

यच्छ्रुतं विविदिषोदयाय तत्सर्वमेव बहिरंगसाधनम्।
अन्तरंगमवगच्छ तत् पुनः यत् परावगतिसाधनं श्रुतम् ॥
यद्धि कारकतयाऽवगम्यते दूरतस्तदिह साधनं धियः।
अन्तरंगमखिलं तु तत् पुनः व्यंजकं भवति यत् परात्मनः' ॥३.३२९-३३०॥

अर्थात् विविदिषाहेतु बहिरंग व ज्ञानहेतु अन्तरंग हैं। कारक बहिरंग और व्यंजक (प्रकाशक) अन्तरंग हैं। रामतीर्थस्वामी ने स्पष्ट किया है कि जिनका दृष्टद्वारा उपकार नहीं वे बहिरंग और जिनका दृष्टद्वारा उपकार है वे अन्तरंग हैं। यद्यपि वहाँ साधनों का ही प्रसंग है तथापि प्रकृत में विज्ञान से समुच्चीयमान शमादि का संग्रह इष्ट होने से उसका परामर्श संगत है ॥३६८॥

वादी कह सकता है: पुरुषार्थ का उपाय होने से ज्ञान की तरह कर्म को भी अज्ञाननिवर्तक क्यों न मान लिया जाये? किन्तु इस अनुमान में 'तत्त्वज्ञान होना' ही उपाधि है क्योंकि जो तत्त्वज्ञान होगा वह अवश्य अज्ञाननिवर्तक होगा लेकिन तत्त्वज्ञान से अतिरिक्त धनादि भी पुरुषार्थोपाय तो हैं ही। यह सूचित करते हुए कहते हैं-

आत्मविज्ञान वस्तु-अनुसारी है। क्रियायें केवल मोह पर आश्रित हैं। सही ज्ञान हो जाने पर कर्म कैसे होगा जब कर्म के कारण का बाध हो चुका है! ॥३६९॥

जैसे भ्रमसे चाँदी दीखना अज्ञान को निवृत्त नहीं करता ऐसे भ्रमसे होने वाला कर्म भी अज्ञान को निवृत्त कर नहीं सकता। ऐसा नहीं कि अकेला रहते कर्म भले ही न निवृत्त करे, ज्ञान के साथ होने पर कर पाये, क्योंकि ज्ञान के साथ वह रह सकता नहीं। यद्यपि लौकिक घटादिज्ञान कर्मनिवर्तक नहीं देखे गये तथापि प्रमा में यह सामर्थ्य देखी ही गयी है कि भ्रमप्रयुक्त क्रिया को निवृत्त करे। अत एव शुक्ति देखकर रजतार्थी प्रवृत्त नहीं होता, लौट आता है।

आत्मानुभव वस्तु-अनुसारी है अर्थात् वस्तु की सामर्थ्य से हुआ है और वास्तविक है। इससे इसका प्राबल्य स्वाभाविक है। क्रियामात्र ही मोह अर्थात् अज्ञानपूर्वक अन्यथाज्ञान पर अश्रित है। आस्तिकों में आत्मा व्यापक माना गया है अतः उसमें क्रिया कोई नहीं मानता। यागादि सब हैं क्रियायें अतः आत्मा का क्रिया करना, यागादि करना, सभी मतों में भ्रम से ही है। जो तो अन्य वादी यत्न, कर्तृत्वादि को आत्मा में मानते हैं वह अत एव भ्रम ही है क्योंकि क्रियावत्त्व से अतिरिक्त कर्तृत्व में कोई प्रमाण नहीं। कृति भी क्रिया से या इच्छा से भिन्न हो नहीं सकती। क्रिया हो तो आत्मा में नहीं रहेगी व इच्छा हो तो यद्यपि वेदान्तानुसार क्षेत्र में ही रहेगी तथापि मतान्तर में भी केवल इच्छावान् होने से कर्ता (क्रिया करने वाला) बन नहीं सकता। अतः आत्मा कुछ भी करने वाला है यह भ्रम ही है। तत्त्वनिश्चय होने पर भ्रम बाधित हो जाता है। करता न पहले था, न बाद में है! ॥३६९॥

प्रश्न होता है कि जैसे कर्म अज्ञानजन्य है वैसे ज्ञान भी तो अज्ञानजन्य है, तब कर्म की ही तरह वह भी अज्ञान-निवर्तक नहीं होना चाहिये। इसका उत्तर देते हैं-

नित्यप्राप्तं च विज्ञानं प्रतीचः संनिधेः सदा । कर्मानित्यं पृथग्रूपं नित्यं चानित्यबाधकम् ॥३७०॥
क्षयी कर्मार्जितो लोकः स्वराड्ब्रह्मावबोधतः । लब्धे त्रैलोक्यराज्ये ना भिक्षामाद्रियते तु कः ॥३७१॥

क्योंकि प्रत्यगात्मा की सन्निधि हमेशा है इसलिये आत्मविज्ञान सदा-प्राप्त है जबकि कर्म अनित्य है क्योंकि आत्मस्वरूप से भिन्न और खुद विविधाकार है। नित्य अनित्य का बाधक होता ही है ॥३७०॥

चिदात्मा का स्वरूपभूत प्रकाश ही ज्ञान है, वह नित्य है, अतः उसे कर्मसदृश कहना ग़लत है। सब देश-काल में 'स्व'रूप से प्रत्यगात्मा है ही, अतः ज्ञान भी सर्वत्र सर्वदा है यही निश्चित है। तथापि अविद्यानिवृत्ति के लिये महावाक्यजन्य अखण्डाकारवृत्ति की सहायता उसे चाहिये। वृत्ति अनित्य होने पर भी अविद्यानिवर्तक क्योंकि नित्य ज्ञान ही है इसलिये कर्मसमानता नहीं है। अनित्य सूर्योदय से ही नित्य पूर्वदिशा का ज्ञान सब को होता ही है। अतः ज्ञान नित्य रहते भी अज्ञान संगत है और श्रवणादि से 'ज्ञान' को प्राप्त कर उसे निवृत्त करना भी। यह नहीं कह सकते कि ज्ञान की तरह कर्म को भी नित्य मानना चाहिये अन्यथा संसार को इदम्प्रथमतया आदि वाला मानना पड़ेगा; क्योंकि कर्तव्यरूप से जिनका विधान किया जाता है वे कर्म नित्य हो नहीं सकते, नित्यता व कर्तव्यता परस्पर विरुद्ध हैं। किन्तु फिर भी संसार को आदि वाला मानने की समस्या नहीं है क्योंकि कर्मसहित संसार का हेतु अविद्या अनादि है। अतः कर्मजन्य अदृष्ट अविद्या में बने रहना संगत है। इसलिये प्रवाहरूप से कर्म को अनादि कहना भी उपपन्न है। देहारंभ में कर्म निमित्त कारण है। कर्म को केवल कार्य होने से ही अनित्य नहीं मानना पड़ता, विविध कारकों के परतंत्र और स्वयं विविधरूप होने से भी उसे घटादि की तरह अनित्य ही मानना पड़ेगा। चरमवृत्ति जिसे विषय करती है वह परमात्मा समस्त प्रपंच से (अनात्मा से) रहित है। उस वृत्ति समेत दृग्रूप वही परमात्मा उस अज्ञान का कार्यसहित उच्छेद कर देता है जो आत्मा की विपरीतप्रतीति का निमित्त बना रहा है। बाध्य तो अनित्य ही होगा अतः नित्य ज्ञान को बाधक मानना ही पड़ेगा। इसलिये ज्ञान व कर्म में समानता नहीं कि इनका समुच्चय संभव हो ॥३७०॥

समुच्चय की असंभवता में और भी कारण बताते हैं–

कर्म से प्राप्त भोग क्षयिष्णु होता है। स्वराड्-ब्रह्म के ज्ञान से त्रिलोकी का राज्य प्राप्त हो चुकने पर कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो भिखारी बनने को उत्सुक हो? ॥३७१॥

ज्ञान और कर्म का समुच्चय इसलिये नहीं कि ये विरुद्ध फल वाले हैं। चित्रायाग जीते हुए पशु-लाभ के लिये करते हैं और दर्शादि करते हैं मर कर स्वर्ग पाने के लिये अतः इन दोनों का फल विरुद्ध है, इसलिये इनका समुच्चय भी नहीं होता। ऐसे ही क्षयिष्णु फल देने वाले कर्म का क्षयिष्णु के विनाशक नित्य फल को देने वाले ज्ञान से समुच्चय संभव नहीं।

कोई कहे: मोक्षकामना वाले को ज्ञान से मोक्ष मिल जायेगा तो उसकी मोक्षकामना निवृत्त हो जायेगी यह तो ठीक है पर उसकी कर्मफलाभिलाषा तो निवृत्त होगी नहीं, क्योंकि कर्मफल उसे मिले नहीं, अतः कर्मफल की अभिलाषा मिटाने के लिये कर्मानुष्ठान भी कर्तव्य होना चाहिये जिससे कर्मसमुच्चय सिद्ध हो जायेगा। तो यह कहना वैसा ही होगा कि त्रिलोकी के एकच्छत्र राजा को भीख मिलने के सुख की अभिलाषा बनी रहेगी अतः उसे पूरा करने के लिये उसे भीख भी माँगनी चाहिये! जैसे गंगा जी पर पहुँच जाने के बाद लोटाभर, बाल्टी भर पानी के प्रति कामना नहीं रहती ऐसे ही जिस परमानंद के लवलेश की छाया से प्रजापतिपर्यंत सब भोग सुखद लगते हैं उसके अनावरण के बाद कैसी भी अनात्म-कामना रह नहीं जाती। अतः श्रीभगवान् ने कहा (२.४६) कि आत्मवेत्ता ब्राह्मण की अनात्मेच्छायें वैसे ही नहीं रहती जैसे समुद्र के पास गड्ढेभर जल की। योगादि से या वैराग्यादि से विषय ही दूर होते हैं पर भगवल्लाभ से तो .ग़ैर-भगवान् में कोई रस ही नहीं रह जाता (गी० २.५९)। अतः मुक्त को कर्मफलाभिलाषा की संभावना ही नहीं। जैसे स्वप्न से जग चुका बुद्धिमान् पुरुष स्वाप्न सुखादि की कामना नहीं करता ऐसे इस दीर्घस्वप्न के अवसान पर पण्डित भी निष्काम ही रहता है। काम्य व काम के अभाव से कामुक का अभाव है। सारी प्रवृत्तियाँ हैं कामप्रेरित यह 'कामोऽकार्षीत्' (शु.यजु. ७. ४८) इत्यादि श्रुति से भी सिद्ध है। अतः ज्ञानी में कामना न होने से कर्मप्रवृत्ति संभव नहीं कि समुच्चय होवे।

भिन्नप्रकरणं ज्ञानं काङ्क्षितं न च कर्मणा । विरोधाच्च स्वतन्त्रं तद्गुणभूतं न कस्यचित् ॥३७२॥
यतो वस्त्वनुरोध्येतन्न ज्ञातृवशवर्त्यतः । अज्ञानोच्छित्तये ज्ञानं स्वतन्त्रं तेन भण्यते ॥३७३॥

अथवा 'बोधतः क्षयी' यह संबंध है। कर्मफल परमात्मज्ञान से समाप्त हो जाता है। स्वरूपतः बाधित हो चुकने से उसकी फलता (काम्यता) भी रहती नहीं। अतः राजा को चाहे कदाचित् भिक्षासुख की इच्छा हो भी जाये, पर तत्त्ववेत्ता को कभी हिरण्यगर्भसुख की इच्छा नहीं हो सकती, यह अर्थ है ॥३७१॥

यह बताया कि ज्ञान या कर्म को गौण या समान मानकर ज्ञान-कर्म समुच्चय संभव नहीं। अब विचार करते हैं कि कर्म को प्रधान और ज्ञान को गौण मानने से संभावित समुच्चय में प्रमाण क्या प्रकरण है या श्रुति आदि। दोनों संभव नहीं यह कहते हैं–

ज्ञान कर्म की अपेक्षा अलग प्रकरण में स्थित है और कर्म को उसकी आकांक्षा भी नहीं है। किं च परस्पर विरुद्ध होने से भी इनका समुच्चय संभव नहीं। ज्ञान स्वतन्त्र है, किसी के प्रति गौण नहीं ॥३७२॥

अनारभ्याधीत ज्ञान का असन्निहित कर्म से प्रकरणवश सम्बन्ध नहीं होगा। निराकांक्ष होने से भी कर्म ज्ञान से सम्बद्ध नहीं। निराकांक्ष होने से जब ज्ञान व कर्म में कोई सम्बंध है यह सामान्यतः ही प्राप्त नहीं तो श्रुतिलिंगादि से विशेषसम्बंध कैसे सिद्ध होगा? पूर्व में (३३९) यह प्रसंग बता चुके हैं। इतना ही नहीं, उपकारक के प्रति आकांक्षा होती है जिसे उपकृत होना हो। ज्ञान तो कर्म का निवर्तक है, बाधक है, उसके प्रति कर्म साकांक्ष हो यह सर्वथा ग़लत है। ज्ञान स्वतंत्र है अर्थात् अन्य की सहायता की उसे फलसिद्धि में अपेक्षा नहीं। अपने फल के प्रति भी ज्ञान को गौण कहना बनता नहीं क्योंकि ज्ञान का फल है मोक्ष और वह ज्ञानस्वरूप है। वृत्तिज्ञान और मोक्ष में भेद भले ही हो, वृत्तिज्ञान तो औपचारिक ज्ञान है, वृत्ति से उपलक्षित वास्तविक ज्ञान से तो मोक्ष का अभेद ही है। प्रयुक्तता से फलता भी उपपन्न है ॥३७२॥

ज्ञान 'स्वतन्त्र' है का क्या तात्पर्य है? कर्म जैसे कर्ता के आश्रित ऐसे ज्ञान भी ज्ञाता के आश्रित ही प्रसिद्ध है; कर्म को परतंत्र व ज्ञान को स्वतंत्र कहने का क्या भाव है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

ज्ञान अपने विषय की वास्तविकता का अनुसरण करता है, उस पर ज्ञाता का वश नहीं चलता अतः ज्ञाता के वश में न होने से तथा अज्ञान-निवारण के लिये अन्य किसी कारण की अपेक्षा न रखने से ज्ञान स्वतंत्र कहा जाता है ॥३७३॥

स्वतंत्र का अर्थ यह नहीं कि वह ज्ञाता पर आश्रित नहीं अर्थात् 'मुझे ज्ञान है' ऐसा अनुभव कोई न कर सके; यह भी नहीं कि ज्ञाता की तैयारी के लिये बहुत कुछ न चाहिये हो; ऐसा भी नहीं कि प्रमाण-व्यापार की ज़रूरत न पड़े और न यही कि उसे अपने विषय से कोई सरोकार न हो। स्व से अतिरिक्त किसी इच्छा के अधीन न होना ही स्वातंत्र्य होता है। ज्ञान को चाहे जो चाहिये, इच्छा के वह अधीन नहीं। यद्यपि उत्पन्न होने के लिये वह इच्छा की अपेक्षा रखता है तथापि विषय-नियत ज्ञान अभिलषित होने पर प्राप्य ज्ञान सुनिश्चित स्वरूप वाला ही होगा इसलिये इच्छा का उस पर वश नहीं।

वस्तुतस्तु ज्ञान की स्वतंत्रता का प्रकाशन भाष्यकार ने इस अभिप्राय से किया है कि वह विधिप्रेरित क्रिया के तुल्य नहीं। समन्वयभाष्य में 'ज्ञान भी मानस क्रिया है? नहीं, क्योंकि क्रिया से वह विलक्षण है'–इसपर न्यायनिर्णयकार ने कहा है 'तस्य मानसव्यापारत्वेऽपि न वैधक्रियात्वम्, ततो जन्यफलाद् अजन्यफलत्वेन विशेषात्।' ज्ञान का फल अज है, क्रिया का जन्य ही फल है, यह इनमें अंतर है। स्वयं वहाँ भाष्य विवक्षित अंतर स्पष्ट करने के लिये कहता है कि वस्तुके स्वरूप की अपेक्षा किये बिना विधेय को क्रिया कहते हैं और प्रमाण से जन्य को ज्ञान कहते हैं। इस भेद को छोड़ दें तो ज्ञान भले ही क्रिया कहा जा सकता है, वाचस्पति वहीं लिखते हैं 'तस्माद् ब्रह्मज्ञानं मानसी क्रियापि न विधिगोचरः।' प्रकृत में भी वही विवक्षित है। अतः प्रमाण-प्रमेय आदि के अनुसार ही होने वाला है, फिर भी 'स्वतंत्र' कहा जाता है।

अनावृत्तिश्च कर्मभ्यो न क्वचिच्छ्रूयते स्फुटम् । ज्ञानादेव त्वनावृत्तिः श्रूयते बहुशः श्रुतौ ॥३७४॥

एक दृष्टानुसारी भेद यह है ही कि शास्त्रीय कर्म फल देने में अदृष्ट की अपेक्षा रखता है जबकि ज्ञान अपना अज्ञानहानिरूप फल देने में नहीं ॥३७३॥

ज्ञान प्रधान बना रहे, कर्म उसका गुणभूत हो जाये – इस तरह इन का समुच्चय हो सके यह भी संभव नहीं यह बात श्लोक ३५८ आदि में कह आये हैं। श्लोक ३६६ में समुच्चय-संभावक प्रमाण का अभाव कहा था। कहीं-कहीं कर्मानुष्ठान का फल कह दिया है अपुनरावृत्ति – पुनः जन्म न पाना, जैसे छान्दोग्य में (८.१५.१); अतः शंका होती है कि कर्म भी मोक्षहेतु शास्त्र में बताये गये हैं तो उनका समुच्चय क्यों न हो? इसका समाधान करते हैं–

श्रुति ने स्पष्टरूप से कहीं नहीं कहा कि कर्मों से जन्मप्रवाह की निवृत्ति हो सकती है। पुनः इस संसार में लौटना न पड़े यह तो ज्ञान से ही संभव है, यह श्रुति में कई जगह बताया गया है ॥३७४॥

बादरायण महर्षि ने (४.३. अधि० ५) स्पष्ट किया है कि गतिपूर्वक प्राप्ति जहाँ कही गयी हो वह कैवल्यलाभ का प्रसंग नहीं होता। उक्त छान्दोग्यादि में 'ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते'-यों लोकविशेष की प्राप्ति कही होने से यही समझना होगा कि उपासना का क्रममुक्तिरूप फल कहा जा रहा है। विद्यासागर जी का कहना है: 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते' यह छांदोग्य वाक्य है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति के समय ही पुनः लौटना उपस्थित है नहीं अतः 'न आवर्तते' इसे अप्राप्तका निषेध मानना पड़ेगा जो व्यर्थ है। फलतः, कल्पना करनी होगी 'न पुनरावर्तिष्यते'–पुनः आवृत्त नहीं होगा। किन्तु यह कल्पना 'नास्ति अकृतः कृतेन' आदि प्रमाणों से विरुद्ध होगी। अतः उक्त वाक्य कर्मों की पुनरावृत्ति-असंपादकता में प्रमाण नहीं। कुछ विचारक तो कहते हैं कि उक्त छांदोग्यवाक्य में कर्मों का कथन करने के बाद और फल बताने के पहले कहा है 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य अहिंसन् सर्वा भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते'। इससे यही लगता है कि कर्मों से चित्तविपाक होने पर बाह्येन्द्रियों की पराक्प्रवृत्ति रोक कर अंतरिन्द्रिय को आत्ममात्राकार बनाने के प्रयत्न में लगे संन्यासी को प्राप्य फल ही कहा जा रहा है। संन्यासी ही अहिंसक होने का प्रयत्न करता है। अतः यह वाक्य कर्मों की मोक्षहेतुता कहता ही नहीं! किन्तु स्मर्तव्य है कि सूत्रकार ने इस छांदोग्यवाक्य को गृही-विषयक माना है (३.४.४८) अतः विचारकों का मत प्रौढि समझना चाहिये। अथवा गृहस्थ के लिये ही आत्मैकप्रावण्य बताकर उसे ही क्रममुक्ति की प्राप्ति इस वाक्य में कही है; अहिंसकता से संन्यास को नहीं समझना चाहिये। तब सूत्रानुसार ही अभिप्राय होगा। फल के प्रति मन की आत्मैकस्थिति कारण है यह उसी वाक्य में स्पष्ट है, यह तात्पर्य है।

संसरणरसिक पूछ सकता है कि वेदोक्त उपाय कर्म यदि कैवल्यप्रद नहीं तो वैदिक होते हुए ज्ञान ही कैसे मोक्षप्रद होगा? अतः वार्तिक में स्पष्ट किया कि ज्ञान से मोक्ष श्रुतिसिद्ध है। सूत्रों में चतुर्थाध्याय इस विषय का विचार करता है। वस्तुतस्तु तृतीयाध्याय के चतुर्थपाद से ही यह विषय आरंभ हुआ है। वहाँ प्रथम सूत्र ही है 'वेदान्तों में बताया आत्मज्ञान अन्य सहारे के बिना ही परम पुरुषार्थ का साधक है यह बादरायण का सिद्धान्त है।' जैमिनि आत्मज्ञान को फलप्रद नहीं मानना चाहते। उनका पक्ष छह सूत्रों में उपस्थित कर बादरायण ने स्वसिद्धान्त का विस्तृत उपपादन किया है। फिर संन्यास की शास्त्रीयता का प्रतिष्ठापन किया, क्योंकि बिना संन्यास के कर्मत्याग संभव न होने से कर्मसहकाररहित आत्मज्ञान ही अप्रसिद्ध हो जायेगा। विधि तो है ही, अर्थवाद भी ऐसे हैं जो विद्याप्रसंग में होने के कारण संन्यास की कर्तव्यता कहते हैं, जैसे याज्ञवल्क्य ही प्रव्रजित हुए। इसलिये आश्रम कर्म विद्या की उत्पत्तिमात्र में उपकारक हैं, फल के लिये विद्या को उनकी अपेक्षा नहीं। बल्कि शमादि का सहकार तो चाहिये क्योंकि उनके बिना ज्ञान अपने निष्ठारूप परिपाक को नहीं पा सकता। अतएव ज्ञाननिष्ठा के साधक को जो कुछ छूटें शास्त्रादि में दी गयी हैं – जो सामान्यतः अकार्य है वह भी उससे हो जाये तो उसे हानि नहीं, आदि – उन छूटों का भी उपयोग वह केवल अत्यधिक आवश्यकता होने पर ही करेगा; प्रायः तो शास्त्रीय-संस्कारानुसार ही प्रवृत्ति होती रहेगी क्योंकि जान-बूझकर छूट का फ़ायदा उठाना तो शमादि का विरोधी ही

एकरूपं च विज्ञानमेकरूपात्ममेयतः । भिन्नरूपाणि कर्माणि बहुकारकसंश्रयात् ॥३७५॥
एकरूपस्य मोक्षस्य भिन्नरूपं न साधनम् । एकरूपस्य मोक्षस्य ह्येकरूपं हि साधनम् ॥३७६॥

है। शमादि की तरह अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान इसलिये नहीं कि अग्निहोत्रादि तो विद्योत्पत्ति में सहकारी-मात्र हैं, उसके परिपाक में सहकारी भी नहीं। सहकारी होने से उनकी ज़रूरत तभी तक है जब तक विद्या हो नहीं गयी। इसलिये विद्या-प्राप्ति के लिये शास्त्रीय यज्ञादि का अनुष्ठान अधिक उपकारक है, जो लोग उन कर्मों के अधिकारी नहीं वे जप-उपवासादि से भी विद्या-प्राप्ति कर सकते हैं पर जपादि साधनों की अपेक्षा यज्ञादि साधन प्रबलतर तो हैं ही। संन्यासी पुनः कर्मी हो यह अत्यंत गर्हित है अतः विद्यालाभ के शमादि उपाय करने के बाद निष्ठालाभ के लिये कर्म करना ग़लत ही होगा। जैसे कर्म व उपासना ऋत्विक् से करा ली जाती है ऐसे विद्यालाभ के बाद भी ऋत्विक् से कर्म करा लिया जाये जो मोक्षार्थ समुच्चीयमान हो जाये – यह शंका भी अनर्गल है क्योंकि तब स्पष्ट विधीयमान मुनिभाव व्यर्थ हो जायेगा। यदि कर्म इतना अपेक्षित हो तो पाण्डित्य पाकर मुनि बनने की विधि ही क्यों होती! संन्यासी का राग-द्वेषादिरहित बालतुल्य व्यवहार ही शास्त्रोक्त है, कर्म का अनुष्ठान या अनुष्ठापन नहीं। यद्यपि कर्म की ज़रूरत विद्यालाभ के लिये है तथापि वह ज़रूरत जन्मान्तर में किये कर्मों से भी संभव है अतः जिसे जिज्ञासा हो तथा वैराग्यादिसम्पत् प्राप्त हो उसे कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं, वह समझ ले कि उसके पूर्वकृत कर्म फलित हो गये। जिसे जिज्ञासा न हो, वह अवश्य जिज्ञासाप्राप्ति के उद्देश्य से कर्म करता रहे। श्रवणादि साधन भरसक तो जिस जन्म में साकल्येन अनुष्ठित होते हैं उसी में ज्ञानोत्पत्ति करा देते हैं, लेकिन यदि कोई प्रतिबंधकविशेष हो तो जन्मांतर में फलीभूत होते हैं; हर हालत में व्यर्थ तो नहीं जाते। ज्ञानसाध्य मोक्ष एकरूप ही है क्योंकि एकरूप परमेश्वर ही मुक्ति कहा जाता है। अतः ज्ञानोत्पत्ति में विलम्ब हो सकता है, ज्ञान से मोक्ष में नहीं। यह भी कथंचित् संभव है कि ज्ञान में कुछ अवान्तर-विशेष हों जिनसे जीवन्मुक्ति काल में तारतम्य का प्रतिभास हो जाये लेकिन मोक्षरूप से कोई तारतम्य नहीं रहेगा, 'जीवन्'-अंश में भले ही रहे; विदेह कैवल्य तो हर हालत में उत्कर्ष-अपकर्ष से रहित है। इतना विचार तृतीयाध्याय के चतुर्थ पाद में है। चतुर्थ में (४.१.९-१०) ज्ञान से पूर्वार्जित पाप-पुण्यों की निवृत्ति, (४.१.११) प्रारब्धावशेष से जीवन्मुक्ति की उपपत्ति तथा (४.१.१४) प्रारब्धसमाप्ति पर विदेह कैवल्य की प्राप्ति वर्णित है। यह भी स्पष्ट किया है (४.२.६) कि ब्रह्मवेत्ता के प्राण निकलकर कहीं जाते नहीं। उसकी सोलहों कलायें पूरी तरह समाप्त होती हैं, ऐसा नहीं कि बीजरूप से बच जायें (४.२.८)। मोक्ष की प्राप्ति सिर्फ़ आत्मरूप से है, न कोई स्थानप्राप्ति या विशेषताप्राप्ति (४.४.१)। बंधन न रहने से मोक्ष को 'फल' कहते हैं, सामान्यतः जो फल का अर्थ 'प्राप्य वस्तु' होता है वह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं। मोक्ष स्थिति में जीव-ईश्वर विभाग नहीं है (४.४.२)। जीवनदशा में मुक्त सर्वज्ञतादि ऐश्वररूपों का उपलब्धिस्थल भी हो सकता है जबकि वस्तुतः वह चिन्मात्ररूप ही बना रहे (४.४.३)। इस प्रकार शारीरक मीमांसा के फलप्रकरण में यह विचारपूर्वक स्थापित है कि ज्ञान ही कैवल्यप्रद है, कर्म नहीं। श्रुति भी विस्पष्ट है कि आत्मसाक्षात्कार से ही मृत्यु के मुँह में प्रवेश से बचा जा सकता है (कठ० ३.१५), मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं है (कैवल्य ९) आदि। विद्वानों का अनुभव इस विषय को और भी निःशंक बना देता है।

वार्तिक में 'बहुशः श्रूयते' कहा है क्योंकि तात्पर्यग्राहकलिंगो में अभ्यास भी गणित है। किं च श्रुति-लिंग आदि अनेकों के प्रयोग से श्रुति ने कहा है कि ज्ञान मोक्षोपाय है। इनका वर्णन पूर्व में हो चुका है ॥३७४॥

ज्ञान व कर्म बराबर की प्रधानता रखते हुए मोक्ष के लिये समुच्चित नहीं हो सकते इसे लौकिक न्याय से भी व्यक्त करते हैं–

आत्मा एकरूप है। वह प्रमेय बनता है तो उसकी प्रमारूप विज्ञान भी एकरूप ही होता है। बहुतेरे कारकों का सहारा लेने वाले कर्म तो विभिन्न रूपों वाले हैं। मोक्ष एकरूप है अतः भिन्न रूपों वाले कर्म उसके साधन हो नहीं सकते। यही उचित है कि एकरूप मोक्ष का साधन भी एकरूप ही हो ॥३७५-३७६॥

तस्मात्कर्मफलं नाना नानाकर्मसमुद्भवम् । देवमानुषतिर्यक्षु कर्तुः शास्त्रैर्निदर्शितम् ॥३७७॥
अन्ये तु मन्वते केचिद्गम्भीरन्यायवादिनः । भेदस्य विलयो वेदे गम्यते कस्यचित्क्वचित् ॥३७८॥
देहात्मभावविलयः स्वर्गकामपदे यथा । देहाद्भिन्नोऽधिकार्यत्र स्वर्गभोग्यवगम्यते ॥३७९॥

लोकन्याय है कि साधनों में वैविध्य हो तो फल भी विविधता वाला होता है और साधन में विचित्रता न होने पर फल भी एकरूप होता है। ज्ञान एकरूप है तो वही कैवल्यहेतु हो यह संगत है। विविधतापूर्ण कर्म एकरूप मोक्ष के हेतु हों यह उचित नहीं। 'योग्यों का परस्पर सम्बन्ध होता है' यह अनुभूतिसिद्ध नीति यहाँ दिखायी गयी है। यह प्रश्न नहीं करना चाहिये कि मोक्ष नित्य है तो ज्ञान भी उसका साधन नहीं हो सकता ज्ञान मोक्ष का उत्पादक नहीं, सिर्फ़ मोक्ष के प्रतिबंधक अज्ञान का बाधक बनता है। अतः मोक्ष नित्य ही है फिर भी ज्ञान उसका उपाय संभव है। अविद्या-निवृत्ति भी सादि होने से मोक्ष-अनित्यता की आपत्ति नहीं क्योंकि अविद्या-निवृत्ति भी वास्तविक नहीं कि सादि हो! नित्य-निवृत्त अविद्या की निवृत्ति भला सादि कैसे होगी?

कारक-बाहुल्य तो ज्ञान में भी है, अतः वह भी कर्मतुल्य कैसे नहीं? इस शंका का समाधान आचार्य ने 'विज्ञान' शब्द से किया। वृत्तिज्ञान में उक्त दोष संभव होने पर भी उससे उपलक्षित विज्ञान में वह दोष प्राप्त ही नहीं, यह तात्पर्य है। किं च कर्म के फल में बहुत्व सर्वसम्मत है; अग्निहोत्र, दर्शादि व ज्योतिष्टोम – सभी का स्वर्ग फल है, तथापि साधन-बहुलता से उस स्वर्ग में भी विशेषता स्वीकार्य है। ऐसे ज्ञानफल में भेद स्वीकृत नहीं, सही प्रकाशादि में आँख से सही रूप सब को एक-सा ही दीखता है यह सब जानते हैं ॥३७५-३७६॥

यदि कर्मों के अन्य फल न होते तो कथंचित् उन्हे मोक्ष से जोड़ा भी जाता, पर जब वे अन्यथा ही सफल हैं तो ऐसी कल्पना व्यर्थ है-

क्योंकि एकरूप मोक्ष कर्मफल नहीं हो सकता इसीलिये देवता, मनुष्य, पशु आदि नाना योनियों में वर्तमान कर्ता को विभिन्न कर्मजन्य विभिन्न फल मिलते हैं यह शास्त्रों में स्पष्ट किया है ॥३७७॥

कर्मफलप्राप्ति उसे होती है जो कामनाओंसे ग्रस्त है, जो कामना के शिकंजे से छूटा हुआ है वह कर्मफल नहीं पाता, ब्रह्मरूप से ही रहता है – यह उपनिषत् कहेगी (ब्र० ४.४.६)। सदाचार से सद्योनि, कदाचार से कुयोनि मिलती है यह भी शास्त्र की (छा० ५.१०.७) घोषणा है। अतः कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अभिमानी ही कर्मफल प्राप्त करते हैं। एवं च कर्म ऐसों के लिये सार्थक हैं ही तो उन्हें मोक्ष से क्योंकर जोड़ा जाये? ॥३७७॥

श्लोक ३४५ आदि से स्पष्ट किया कि कर्म न तो कामनानिवर्तक होकर मोक्षोपयोगी हैं और न ज्ञान से समुच्चित होकर। कर्मकाण्ड का प्रयोजन ब्रह्मकाण्ड इतने ही अर्थ में है कि सांसारिक फलों की चाहना न कर परमेश्वर प्राप्ति के लिये यदि कर्मकाण्ड का पालन किया जाये तो परमात्मज्ञान की तीव्र अभिलाषा पनपती है जो फिर पूरे वेग से ज्ञानसाधनों के अनुष्ठान में प्रेरित करती है।

कुछ चिंतकों का कहना है कि कर्मकाण्ड प्रपंच का प्रविलय करता है और प्रपंचविलय के बिना अद्वैत स्थितिरूप मोक्ष होता नहीं अतः मोक्षार्थ कर्मों का उपयोग है, जिज्ञासाप्राप्ति ही उनका उपकार हो यह नहीं। इस पक्ष को श्लोक ३८३ तक उपस्थित करते हैं।

अन्य कुछ वादी हैं जो अपनी समझ से तो गंभीर न्याय कहते हैं पर विचारने पर वे न्यायाभास ही निकलते हैं। उनका मानना है कि कर्मशास्त्र प्रपंचाभाव में तात्पर्य वाला है। निषेधयोग्य विषयों की बहुतायत होने से 'प्रपंच नहीं है' इतना ही कहना पर्याप्त नहीं अतः वेद के तत्तत्स्थल में प्रपंच के तत्तद्भेद का विलय समझाया गया है। उदाहरणार्थ 'स्वर्गकाम' के लिये याग बताने वाले वाक्य से देहात्मता का विलय समझ आता है क्योंकि इस वाक्य में यह स्पष्ट है कि स्वर्ग का उपभोग करने वाला अधिकारी देह से भिन्न है ॥३७८-३७९॥

गोदोहनेनेत्यत्रापि विलयोऽन्याधिकारिणः । अधिकृताधिकारित्वान्नान्योऽधिक्रियते यतः ॥३८०॥
रागाद्युत्थप्रवृत्तीनां निषेधेषु लयोऽञ्जसा । विधिष्वपि लयस्तासां कार्यान्तरनियोगतः ॥३८१॥
लोकेऽपि चानभिप्रेतात्पथः साक्षान्निवारणम् । मार्गान्तरोपदेशाद्वा वेदेऽप्येवं प्रतीयताम् ॥३८२॥

'स्वर्ग चाहने वाला ज्योतिष्टोम करे' आदि वाक्यों से सिद्ध है कि दृश्य देह से अन्य ही कोई भोक्ता है जो यहाँ अधिकारी माना जा रहा है क्योंकि शरीर तो यहीं जल जाना है, वह सुदूर भविष्य के दिव्य भोग नहीं भोग सकता। अतः यह प्रमा कराने के लिये कि देह आत्मा नहीं है, स्वर्गकाम-वाक्य आया है, केवल कर्म की स्वर्गोपायता बताने के लिये नहीं; वह तो आनुषंगिकरूप से बता दी गयी है। यदि वाक्य केवल उपायता बताकर कृतकार्य हो जाये तो व्यर्थ भी होगा : सभी को देहात्मता का अबाधित अनुभव है। देह से स्वर्ग नहीं मिल रहा यह भी प्रत्यक्ष है। देहेतर आत्मा प्रमाणसिद्ध नहीं होगा तो उक्त वाक्य किसे स्वर्गोपाय बतायेगा? अतः वाक्य तात्पर्यतः देहातिरिक्त आत्मा को बताता है। इसमें सर्वसंमत देहात्मतानुभव का विरोध अकिंचित्कर है क्योंकि शास्त्र प्रबलतम प्रमाण है, वह अविचारसिद्ध अनुभव का बाध करे यह संगत है जैसे स्पष्ट दीखते हुए साँप का भी बाध हो जाता है जब कोई आप्त व्यक्ति बता देता है कि वह साँप नहीं है। ऐसा भी नहीं कि अवान्तरतात्पर्य से स्वर्गोपायता बतायी न जा सके; जैसे अवान्तर तात्पर्य से देवताओं के विग्रहादि बादरायण महर्षि ने माने हैं ऐसे ही कर्मों की साधनता मानी जाये तो कोई हानि नहीं। अतः तात्पर्यतः स्वर्गकामवाक्य प्रपंच के भेदविशेष का – देहात्मत्व का – लय ही बताता है ॥३७८-३७९॥

काकतालीयन्याय से कोई एक वाक्य ही इस तरह लयबोधक हो ऐसा नहीं, अन्यत्र भी यही न्याय है–

गोदोहन-वाक्य में भी यह प्रमित होता है कि दर्शादि के अधिकारी से अन्य अधिकारी गोदोहनप्रणयन का नहीं है क्योंकि दर्शादि में अधिकृत का ही उक्त कर्म में अधिकार है, अन्य का नहीं ॥३८०॥

स्वर्गकाम का दर्शादि में अधिकार है। उसी के लिये कहा है कि यदि वह पशु चाहे तो जिस बर्तन में गाय दुही जाती है उससे वह जल-प्रणयन (=आदान) कर कर्मानुष्ठान करे। एवं च गोदोहनवाक्य भी इतने में ही तात्पर्य वाला है कि दर्शादि के अधिकारी से अन्य कोई स्वतंत्र अधिकारी गोदोहन का नहीं है, अर्थात् अन्य के अधिकार का विलय ही वाक्यार्थ है।

'नान्योऽधिक्रियते' से दर्शाधिकारी से अन्यका अनधिकार कहा गया है। कुछ टिप्पणकार 'अन्यः' का अर्थ पुत्रादि चाहने वाला समझते हैं। उनका अभिप्राय है कि पशुकाम से अन्य के अधिकारविलय में वाक्य का तात्पर्य है। तब दो का निषेध समझना पड़ेगा – दर्श-अनधिकारी का और पशु से भिन्न कुछ चाहने वाले का। सर्वथापि निषेध में तात्पर्य है, यह भाव है ॥३८०॥

निषेधवाक्य तथा नित्य-नैमित्तिक विधियाँ भी विलयपरक हैं–

निषेधवाक्यों में तो स्पष्ट ही है कि रागादि से उत्पन्न प्रवृत्तियों का लय विवक्षित है। नित्यादि विधियाँ भी कार्यान्तर में लगाकर स्वाभाविक प्रवृत्तियों के लय में ही तात्पर्य रखती हैं ॥३८१॥

नित्यादि विधि कालविशेषादि में निश्चित कार्य को कहती इसी अभिप्राय से है कि उस समय रागादि से सहज प्रवृत्तियाँ न की जायें। निषेधों से विधियों में यही फ़र्क़ है कि निषेध अन्य कुछ करने को बताये बिना लय कहते हैं और विधियाँ बाकी का लय बताने के लिये कुछेक कर्तव्यों का सहारा ले लेती हैं। जब सुबह-शाम आहुति देने को कहा तो स्वतः उस समय अन्य कार्य करने का अवसर नहीं छोड़ा। अतः वे वाक्य भी लयार्थक हैं ॥३८१॥

विधिवाक्य भी केवल लयबोध कर कृतकार्य हों तो लाघव है, कार्यान्तर-नियोग मानने में गौरव है – इस समस्या का लोकोदाहरण से समाधान यह है:

लोक में भी देखा जाता है कि अनिष्ट मार्ग से निवारण कहीं सीधे ही किया जाता है और कहीं अन्य मार्ग के उपदेश से। ऐसे ही वेद में भी विधि-निषेध का प्रवृत्तिभेद समझा जा सकता है ॥३८२॥

एवं रागादिहेतूत्थप्रवृत्तिलयवर्त्मना । आत्मज्ञानाधिकारार्था निःशेषा विधयः स्थिताः ॥३८३॥
नैतदेवं यतोऽशेषा न कर्मविधयः श्रुतौ । स्ववाक्यावगतात्कार्यादपेक्षन्ते फलान्तरम् ॥३८४॥
वेदेऽनुष्ठानतात्पर्यान्न लयो गम्यते क्वचित् । फलश्रुतेरभावो हि साध्यः स्यादफलः कथम् ॥३८५॥

कभी इतना ही कहते हैं 'ऐसा मत करो', और कभी व्यक्ति को उस कार्य से हटाने के लिये दूसरे काम में लगा देते हैं। प्रायः जहाँ पता हो कि वह चुप नहीं बैठेगा, पुनः इसी में लग जायेगा, वहाँ कार्यान्तर में नियुक्त कर दिया जाता है। ऐसे ही वेदवाक्यों की विधिमुख और निषेधमुख प्रवृत्तियाँ समझनी उचित हैं। विधियाँ केवल लयबोध करें यह विधेयलाघव होने पर भी वाक्यप्रवृत्ति के प्रतिकूल होने से असंगत है: यदि उतना ही अभिप्रेत होता तो निषेध ही कर दिया होता, कार्यान्तर न बताया होता। इससे वाक्यभेद की आपत्ति इसलिये नहीं कि कार्यान्तर में अवान्तर तात्पर्य स्वीकार्य है। वाक्यभेद वहीं होता है जहाँ परम तात्पर्य अनेक हों अथवा वाक्य का ऐसा भी अर्थ समझा जाये जो अवान्तर तात्पर्य का भी विषय न हो। यहाँ परम तात्पर्य विलय ही है और कार्यान्तर में अवान्तर तात्पर्य भी, अतः वाक्यभेद की समस्या नहीं ॥३८२॥

श्लोक ३७८ से प्रारंभ हुए मत का उपसंहार करते हैं-

इस प्रकार सारे विधि व निषेध रागादि हेतुक प्रवृत्तियों के, देहात्मतादि के लय के द्वारा आत्मज्ञान-नियोग के शेष हैं यह सिद्ध हुआ ॥२८३॥

उक्त वादी का तात्पर्य है कि आत्मज्ञान में अधिकार हो इसके लिये जो लय अपेक्षित है वह विधि-निषेधों से ही हो सकता है अर्थात् समस्त विधि-निषेधों का पालन करने पर ही ज्ञानाधिकार संभव है। 'आत्मज्ञान करना चाहिये' ऐसा शास्त्रीय नियोग (विधान, कर्तव्यबोध) स्वसिद्धि के लिये नियोज्य की अपेक्षा रखता है और नियोज्य का अवच्छेदक बनते हैं समस्त विधि-निषेध, क्योंकि जैसा नियोज्य ज्ञाननियोग को चाहिये वह तभी हो सकता है जब देहात्मतादि का विलय हो। एवं च ज्ञाननियोग का स्वरूपलाभ ही असंभव है। फलतः समुच्चय की मोक्षोपायता तथा समूचे वेद की एककाण्डता निश्चित होती है ॥३८३॥

ज्ञान के नियोग के लिये – ज्ञानाधिकार की सिद्धि के लिये – कर्मकाण्ड है, क्योंकि वह भेदविलय करता है और इस प्रकार समुच्चय ज़रूरी है – इस मत का खण्डन प्रारंभ करते हैं। उक्त मतानुयायी को बताना होगा कि कर्मविधियाँ प्रपंच का अभाव किसे समझा रही हैं: मुमुक्षु को, या स्वर्गेच्छुक को, या जो सिर्फ़ प्रपंचाभाव चाहता है उसे या उसे जो ज्ञान-नियोग का विषय [=विधेय] ढूँढ रहा है? मुमुक्षु को वे ऐसा बतावें यह संभव नहीं यह समझाते हैं-

श्रुतिमें उपलब्ध सारी कर्मविधियाँ अधिकारादिवाक्यों में कहे स्वर्गादि फल की अपेक्षा मोक्षरूप अन्य फल की आकांक्षा न रखने के कारण मुमुक्षु के प्रति प्रपंचाभाव का निवेदन करें यह असंगत है ॥३८४॥

यथाश्रुतसे अन्यत्र तात्पर्य तभी होता है जब प्रयोजनविशेष हो या यथाश्रुतमात्र में अनुपपत्ति हो। यदि कर्मविधि मोक्षरूप फल के प्रति साकांक्ष हो तब समझा जा सकता है कि वह मोक्षोपयोगी बनने के लिये प्रपंचाभाव बोधित कराती है। किन्तु जब वह स्वर्गादि फलों से ही निराकांक्ष है तो ऐसी कल्पना व्यर्थ है ॥३८४॥

स्वर्गार्थी को भी कर्मविधि प्रपंचाभाव नहीं कहेगी तथा सिर्फ़ प्रपंचाभाव कोई चाहता नहीं जिसे वह वैसा कहे – यह बताते हैं:

वेद के कर्मकाण्डभाग का तात्पर्य धर्मानुष्ठान में है क्योंकि उसीका फल बताया है अतः कर्मवाक्य कहीं भी लय नही समझाते। और जो फलरूप नहीं ऐसा प्रपंचाभाव साध्य भी कैसे होगा कि किसी को अभीष्ट हो जिसे विधियाँ विलय बतायें? ॥३८५॥

वस्तुनोऽवगतिर्नापि लयाद्भवति कुत्रचित् । अभावेऽप्युपपन्नत्वात्सुषुप्ते चाप्यनीक्षणात् ॥३८६॥
स्वाभाविकः प्रपञ्चश्चेत्स निरोद्धुं न शक्यते । कार्यश्चेत्कारणोच्छेदे कार्योच्छेदः स्वतो न हि ॥३८७॥

स्वर्गार्थी के लिये विधि मानो तो वह उनसे स्वर्गोपाय ही समझ सकता है और स्वर्गोपाय कर्म ही है, प्रपंचाभाव तो स्वर्गोपाय है नहीं कि वह उन वाक्यों से समझा जाये। अतः स्वर्गादि फल चाहने वाला यदि कर्मविधियों का अधिकारी है तब तो उनका तत्पर्य कर्म में ही रहेगा, विलय में नहीं।

सिर्फ़ प्रपंचाभाव का अभिलाषी दुर्लभ है क्योंकि न तो प्रपंचाभाव किसी साधन से सिद्ध किया जा सकता है और न वह कोई फल ही है । वह साधन-कार्य नहीं इसमें यह अनुमान हैः प्रपंचाभाव, साध्य नहीं है, क्योंकि वह अभाव है, जैसे कछुए के रोयें कोई भाववस्तु नहीं तो साध्य भी नहीं! प्रपंचाभाव को ध्वंसरूप मानने पर भी ध्वंसक की अनुपलब्धि आदि दोष आगे देंगे। ऐसे ही वह अभीष्ट नहीं इसमें यह अनुमान हैः प्रपंचाभाव, पुरुषेच्छा का विषय नहीं, अभाव होने से, जैसे पुत्रादि का अभाव। यद्यपि अनिष्ट पुत्रादि का अभाव अभिलषित हो जाता है तथापि समस्त प्रपंच की अनिष्टता संभव न होने से प्रपंचाभाव तो इष्ट हो नहीं सकता। अथवा प्रपंचाभाव की असाध्यता में ही अपुरुषार्थता को हेतु दिया है और अपुरुषार्थतया संमत पुत्राभावादि को दृष्टान्त बनाया है। सर्वथापि भाव यह है कि प्रपंचाभावमात्र कोई चाहता नहीं कि ऐसे व्यक्ति को कर्मविधियाँ प्रपंचाभाव का उपदेश दें ॥३८५॥

ज्ञान-नियोग का विषय चाहने वाला भी कर्मविधियों से प्रपंचाभाव नहीं समझेगा यह बताते हैं:

कहीं भी ऐसा नहीं होता कि केवल विलयके कारण वस्तु का यथार्थ अनुभव हो जाये क्योंकि विलय के बिना भी सही अनुभव होता है और सुषुप्ति में विलय रहने पर भी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता ॥३८६॥

जैसे स्वर्गनियोग का विषय होगा स्वर्ग का साधनभूत कर्म ऐसे ज्ञान-नियोग का विषय होगा ज्ञान का साधन श्रवणादि। आत्मज्ञान में प्रपंचाभाव को कारण कह नहीं सकते कि वह उसके नियोग का विषय बन जाये। जैसे मोतिया से दो चाँद दीखने पर भी जानकार की बात सुनकर चाँद की एकता की प्रमा हो जाती है ऐसे देहादि प्रपंच बना रहने पर भी श्रुति व गुरु के वचन से ब्रह्म की यथावत् प्रमिति हो जाती है; प्रपंचाभाव की ज़रूरत नहीं पड़ती। बल्कि प्रपंचाभाव हो तो शब्द-श्रोत्र आदि भी न रहने से ज्ञान असंभव ही हो जायेगा! तथा सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि में प्रपंच का तो अभाव ही रहता है लेकिन आत्मज्ञान होता नहीं; तब प्रपंचाभाव को ज्ञानोपाय कैसे कहा जाये? जैसे सुखानुभूति तभी हो सकती है जब दुःख न हो इसलिये सुखार्थी भी दुःखाभाव चाहता ही है, ऐसे ही यदि प्रपंचाभाव के बिना तत्त्वनिष्ठा न होती तो प्रपंचाभाव भी अभिलषणीय बन सकता था; किन्तु बात ऐसी है नहीं क्योंकि न तो अन्वय है कि प्रपंचाभाव हो तो ज्ञान अवश्य हो और न व्यतिरेक कि प्रपंचाभाव न हो तो ज्ञान भी न हो। अतः ज्ञान नियोग का विषय सिद्ध हो इसलिए भी प्रपंचाभाव अपेक्षित नहीं ॥३८६॥

किं च यदि मान भी लें कि ज्ञाननियोग प्रपंचाभाव को विषय करता है तो भी प्रश्न होगा कि अनादि प्रपंच का अभाव विषय है या सादि प्रपंच का अभाव? दोनों ही संभव नहीं यह बताते हैं–

प्रपंच अगर स्वाभाविक अर्थात् सहजसिद्ध, अनादि है तो वैसे ही विलीन नहीं हो सकता जैसे चेतन आत्मा। और यदि प्रपंच कार्य है तो उसका आत्यन्तिक लय तभी होगा जब उसके कारण का विलय हो, केवल कार्यरूप का हटना उसके आत्यन्तिक नाश का हेतु होगा नहीं। (और यह मानना अन्योन्याश्रयग्रस्त है।) ॥३८७॥

प्रपंच का कारण अज्ञान है यह तुम्हें भी मानना है, अत एव तुम कर्ममात्र से नहीं बल्कि तत्समुच्चित ज्ञान से मोक्ष मानते हो। अज्ञाननिवृत्ति ज्ञान से ही संभव है। उसी ज्ञान के लिये प्रपंचध्वंस चाहिये और प्रपंचध्वंस तभी हो जब ज्ञान हो। यदि प्रपंच का आत्यंतिक नाश ज्ञान से ही होना है तो ज्ञानार्थ अपेक्षित प्रपंचध्वंस क्या उपकार करेगा? कपाल फोड़ने के

कृत्स्नप्रपञ्चविलयः कर्तुं शक्यो न केनचित्। स्वेन्द्रियादिलयः स्वापे स्वत एव न शास्त्रतः ॥३८८॥
उत्थितस्य पुनर्भावादनुच्छेदोऽथ शङ्क्यते । आयातस्तर्ह्यनाश्वासस्त्वदभ्युपगतावपि ॥३८९॥

पूर्व घट फोड़ना तो कहीं ज़रूरी नहीं माना जाता! कारण रहते यदि कार्यरूप हट भी गया तो लाभ क्या? ज्ञानोत्पत्ति की संभावना तो कार्यकाल में ही है ॥३८७॥

यह भी जिज्ञासा होती है कि ज्ञाननियोग का विषय जो ध्वंस उसका प्रतियोगी कारण समेत सारा प्रपंच है या सिर्फ़ प्रपंच का कोई हिस्सा? उभयथा असंगति है–

ब्रह्मज्ञान से अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं जो सारे प्रपंच का सकारण विलय कर सके। (यदि केवल अपने इंद्रियादि का विलय विषय हो तो भी अनुचित है क्योंकि) अपने इंद्रियादि का विलय सुषुप्त्यादि में स्वभावतः ही हो जाता है, शास्त्रविहित किसी क्रियादि से नहीं कि वह नियोगविषय बने ॥३८८॥

यद्यपि कोई कह सकता है कि ईश्वर सर्वशक्ति है तो सकारण प्रपंच का ध्वंस कर ही सकता है, ज्ञानातिरिक्त उपाय नहीं यह कैसे? तथापि क्योंकि ज्ञाननियोग का नियोज्य ईश्वर को माना नहीं जा सकता इसलिये ईश्वरव्यापार को उक्त नियोग का विषय भी नहीं कह सकते। ईश्वर को सकारण प्रपंच का नाशक मानने पर 'नान्यः पन्था' आदि वचनों का विरोध नहीं क्योंकि सूर्यकान्त-उपारोहन्याय से उसी की कारणता उन वचनों में भी इष्ट है।

प्रपंच का कोई हिस्सा ही ध्वस्त करना अभिलषित हो तो भी घटादि का ध्वंस इष्ट नहीं कहा जा सकता अन्यथा घट फोड़ने से आत्मज्ञान होने लगेगा! अतः आध्यात्मिक इंद्रियादि का ध्वंस ही विवक्षित हो सकता है और उसके लिये कुछ क़रने की ज़रूरत नहीं, थोड़ी देर शान्ति से लेटो तो स्वतः वह हो जाता है, कर्मविधियाँ सुननी भी नहीं पड़ती, उन्हे मानना तो दूर रहा!

स्मर्तव्य है कि यहाँ जो पूर्वपक्षी है वह यह नहीं कह रहा कि तत्त्वज्ञान के लिये देहादिभिन्न आत्मा की समझ चाहिये; वह तो यह कह रहा है कि मोक्षोपयोगी ज्ञान के लिये ज़रूरी है देहादि का न होना और इसके लिये उपाय है कर्मकाण्ड! अतः विवेकादि के तुल्य ही वादी का मत है ऐसी बात नहीं। विवेक में तो यह समझना पड़ेगा कि देहादि मैं नहीं। केवल देहादि न होना पर्याप्त हो तब तो अनादि काल से न जाने कितने देहादि छूट चुके, यह देह भी छूटना है ही, इतने से ही ज्ञान हो जाता। बल्कि आवश्यक यह है कि देहादि के प्रतिभास के समय यह निष्ठा रहे कि 'मैं देहादि नहीं हूँ', तभी वाक्यार्थ समझ आयेगा ॥३८८॥

वादी को समझाते हैं –

यदि शंका करो सोकर उठने वाले के इंद्रियादि पुनः बने रहते हैं अतः सुषुप्ति में उनका आत्यंतिक नाश नहीं हुआ (और नियोगविषय वह है जिससे आत्यंतिक नाश हो, अतः इन्द्रियादि जो प्रपंचैकदेश हैं उनका विलय नियोगविषय क्यों न माना जाये? तब तो तुम्हे स्वीकृत जो विलय है वह भी आत्यंतिक नहीं है ऐसी शंका बनी रहेगी! ॥३८९॥

तात्पर्य है कि उठने पर उपलब्ध होने से यही मानोगे कि सुषुप्ति में वे अनभिव्यक्त रूप से थे, अतः तुम जिस विलय को कह रहे हो उसमें भी वे उसी तरह से नहीं हैं यह कैसे सिद्ध करोगे? अर्थात् हम यह अनुमान करेंगेः विवादास्पद प्रपंच-विलय, अनभिव्यक्त प्रपंच वाला है, विलय होने से, सुषुप्ति की तरह। यह नहीं कह सकते कि अनन्तर-अनुपलब्धि है क्योंकि अनन्तर काल तुम्हे (या किसी को भी) प्रत्यक्ष प्रमित नहीं हो सकता और अनुमेय मानो तो उक्त अनुमान ही सत्प्रतिपक्ष है। शास्त्र ऐसा विलय कह नहीं रहा। अतः यदि सुषुप्ति में प्रपंचाभाव से तुम्हे संतोष नहीं तो कर्मविधि से संपादित अभाव भी तुम्हारा उपकार कर नहीं सकेगा। जो अपेक्षित निश्चय है वह सुषुप्ति के विचार से ही संभव है ॥३८९॥

प्रपञ्चनाशनेनाथ नाश्यते भेदकारणम् । नैवं न कार्यनाशेन कारणं नश्यति क्वचित् ॥३९०॥
कारणस्याप्यविद्याया वस्तुबोधाद्विनाशतः । यतोऽतोऽविद्यानाशार्थं प्रपञ्चविलयोऽफलः ॥३९१॥
रज्जुज्ञानाद्धि सर्पादिप्रपञ्चविलयो यतः । सर्पाभासलयेऽपीयं रज्जुस्तमसि नेक्ष्यते ॥३९२॥

सुषुप्ति आदि में कारणनिवृत्ति न होने से उत्थानकाल में पुनरुद्भव संगत होने पर भी ज्ञाननियोग के तहत होने वाला प्रपंचलय तो कारणनाश भी कर देता है अतः उक्त शंका को स्थान नहीं – ऐसे परिष्कार की भी परीक्षा करनी चाहिए : कारणनाश में हेतु कौन है? – प्रपंचनाश, या ज्ञाननियोग? प्रपंचनाश को कारणनाश में हेतु कहना बनता नहीं क्योंकि कार्यनाश कहीं भी कारणनाश करता देखा नहीं जाता। कारण भी अविद्यारूप होने से ज्ञाननाश्य ही है, नियोगनाश्य नहीं। यदि अविद्या की जगह कोई वास्तविक पदार्थ ही प्रपंचहेतु हो तो नियोग से भी वह हटना है नहीं। अविद्याहानि वस्तुबोधमात्र से हो जाती है अतः ज्ञाननियोग प्रपंचप्रविलय करा कर अविद्यानिवर्तक होता है ऐसी कल्पना विफल है; लोकसिद्ध हेतुहेतुमद्भाव ही जब पर्याप्त है तब ऐसी मान्यता निराधार है। एवं च निष्फल प्रपंचविलय साधन से निष्पन्न करने योग्य न होने से नियोगविषय बनकर नियोगसाधक नहीं हो सकता। इस बात को स्पष्ट करते हैं:

अगर कहो कि प्रपंच के नाश से प्रपंचभेद का कारण भी नष्ट हो जाता है; तो ठीक नहीं क्योंकि कहीं भी कार्यनाश से कारण नष्ट होता नहीं। अविद्यारूप कारण भी वस्तुबोध से नष्ट होता है (न कि नियोग से)। इसलिये अविद्याविनाश के लिये प्रपंच का विलय किसी उपयोग का नहीं ॥३९०-३९१॥

कार्यध्वंस कारणध्वंसक नहीं हो सकता इसमें विद्यासागर का प्रयोग है: प्रपंचध्वंस अपने प्रतियोगी के (=प्रपंच के) उपादान कारण का नाश नहीं करता, क्योंकि नाशविशेष है, जैसे घटनाश। अर्थात् जो नाश होता है वह अपने प्रतियोगी के उपादान का नाशक नहीं होता। वादी नियोगबल से कारणनाशकता मानना चाहता था, उसका निरास भी दृष्टानुसार हो गया कि अविद्या-निवृत्ति विद्यासे ही होती है, नियोग से नहीं। अविद्यासे अन्य हेतु हो तब तो अनिवर्त्य ही होगा क्योंकि ब्रह्म व अविद्या दो ही हेतु संभव हैं और ब्रह्म नियोगसे या अन्य भी किसी से निवर्त्य है नहीं ॥३९०-३९१॥

प्रश्न होता है कि ज्ञान भी तो अज्ञान का समूचा नाश नहीं करता, इसीलिये तो एक बार रस्सी देख लेने पर भी कालांतर में पुनः भ्रम हो जाता है; अतः तत्त्वज्ञान ही अविद्या का समापक कैसे? उत्तर देते हैं–

क्योंकि रस्सी-ज्ञान से कल्पित-सर्पादि-प्रपंच का विलय देखा गया है (अतः तत्त्वज्ञान से अविद्याध्वंस सर्वसंमत है।) एक सर्पाभास का लय हो जाने पर भी पुनः अँधेरे में रस्सी न दीखे यह तो संभव है ही ॥३९२॥

सिद्धान्त में एक पक्ष है कि निर्विशेष अज्ञान एक होने पर भी सविशेष अज्ञान अनेक हैं अतः हर सविशेष ज्ञान से एक-एक सविशेष अज्ञान नष्ट हो जाने पर भी अन्य सविशेष अज्ञान तत्काल केवल अभिभूत रहते हैं अतः कालान्तर में पुनः अज्ञान बना रहता है; अज्ञान-व्यक्ति अन्य होने पर भी अज्ञान तो रह ही जाता है। ऐसा मानना इसलिये पड़ता है कि ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है यह नियम बना रहे। अतः रज्जु का अज्ञान हटना और पुनः उसका अज्ञात होना अनुभूयमान होने से रज्जु के अज्ञान बहुतेरे मानना संगत है। ब्रह्म का यों पुनः अज्ञान न तो अनुभूत है और न अन्यथा प्रमित, बल्कि शास्त्र तो कहता है कि सारी माया निवृत्त हो जाती है! और यह संगत भी है; क्योंकि विशेष अनेक होते हैं इसलिये सविशेष ज्ञान भी अनेक हैं तथा उनसे निवर्त्य अज्ञान भी अनेक हैं। निर्विशेष ज्ञान अनेक हो नहीं सकते क्योंकि उनका भेदक कोई होगा नहीं; यदि कोई भेदक रहे तब ज्ञान निर्विशेष नहीं रहेगा। अतः निर्विशेष ज्ञान से नाश्य अज्ञान भी एक है। इस प्रकार अज्ञानैक्य व अनन्ताज्ञान की व्यवस्था हो जाती है। यह विषय विवरण में सुव्यक्त है। अतः ज्ञानसे अविद्यानिवृत्ति का नियम है जिससे वादी का प्रश्न उत्तरित हो जाता है।

अथवा विद्यासागरानुसारी योजना समझनी चाहियेः पूर्व में कहा कि कार्यनाश क्योंकि कारणनाश में हेतु नहीं

लयनिष्ठे प्रमाणे नो वस्तु गोचरभेदतः । अथ वस्तुनि तन्मानं न लये स्यान्न च द्वये ॥३९३॥
भाव्युच्छेत्तुमशक्यस्ते भूतोऽप्युपरतः स्वतः । प्रपञ्चो वर्तमानस्तु कार्यत्वान्नश्यति स्वतः ॥३९४॥

इसलिये प्रपंचलय वृथा है। इस पर प्रश्न होता है कि तब तो नाशरूपता एक-सी होने से यह भी क्यों न कहा जाये कि कारणनाश से कार्यनाश नहीं होता? अर्थात् ध्वंस को स्वप्रतियोगिभिन्न का ध्वंसक मानना ही क्यों? अतः सिद्धांती जो यह चाहता है कि अज्ञाननाश से संसार नष्ट हो जायेगा वह भी मनोरथमात्र है। इस प्रश्न का उत्तर वार्तिक में दिया कि यह लोकदृष्ट है कि रस्सी-ज्ञान से सर्पादिलय होता है जबकि सिर्फ़ इतना समझ लेने से कि 'सामने साँप नहीं', अँधेरा रहते यह नहीं पता चलता कि 'सामने रस्सी है'। अर्थात् आप्तवचनादि से सर्पध्वंस होने मात्र से रज्ज्वज्ञानध्वंस नहीं होता जबकि रज्ज्वज्ञानध्वंस से सर्पादिध्वंस हो जाता है। अतः दृष्ट में अनुपपत्ति न हो सकने से नाशरूपता के समान रहते भी यह अंतर मानना ही पड़ेगा। वस्तुतस्तु व्यापकनाश से व्याप्यनाश स्वीकारने में कोई असंगति है नहीं और कार्य को कारण से व्याप्य ही मानना पड़ेगा।

अथवा 'प्रपंचविलयोऽफलः' में कही अफलता ही दिखायी जा रही हैः सर्प का विलय होने से पूर्व ही रज्जुज्ञान होता है जो सर्पादि का विलय कर देता है जबकि साँप देखकर उधर से मुँह मोड़ लेने पर सर्पाभास का विलय हो भी जाये तो अँधेरे में यह नहीं दीखता कि 'यह रस्सी है'! एवं च तत्त्वज्ञान ही अपेक्षित है, प्रपंचविलय वृथा ही है ॥३९२॥

अब तक समझाया कि नियोग का विषय अनादि प्रपंच का ध्वंस नहीं, सादि प्रपंच का ध्वंस नहीं, प्रपंच के हिस्से का ध्वंस नहीं और समूचे प्रपंच का ध्वंस नहीं। अब विचार करते हैं कि शास्त्रतात्पर्य सिर्फ विलय है, या सिर्फ़ आत्मवस्तु, या दोनों। तीनों पक्ष संभव नहीं।

प्रमाणभूत शास्त्र का तत्पर्य प्रपंचविलय में हो तो वस्तु निष्प्रमाणक होगी क्योंकि प्रमाणविषय से भिन्न होगी। यदि शास्त्र वस्तु में प्रमाण हो तो विलय में वह प्रमाण नहीं होगा। दोनों में प्रमाण मानना तो असंगत है ॥३९३॥

उभयत्र प्रामाण्य मानने पर वाक्यभेद होगा यह भाव है। अगत्या वाक्यभेद स्वीकार्य होता है पर प्रकृत में ऐसी कोई समस्या है नहीं। यहाँ 'वस्तु' शब्द कर्मों की फलसाधनता भी कहता है; वाक्य यदि लयार्थक होगा तो कर्म की इष्टोपायता शास्त्रीय नहीं रहेगी जिससे जन्मान्तरीय फलादि सिद्ध न होने से पारलौकिक व्यवस्था न रह सकेगी जो कि वादी को भी अनिष्ट है। आत्मवस्तु तो विवक्षित है ही ॥३९३॥

और भी विचारणीय है कि ज्ञाननियोग का विषयभूत ध्वंस होगा किसका : भावी प्रपंचका, भूत प्रपंच का या वर्तमान प्रपंच का? तीनों पक्ष अनुपपन्न हैं:

भविष्यत्-प्रपंच का ध्वंस तुमसे हो नहीं सकता, भूतकालिक प्रपंच ध्वस्त हो ही चुका है और वर्तमान प्रपंच भी कार्य होने से यथानियम ही नष्ट हो जायेगा, इसके लिये किसी नियोग की अपेक्षा है नहीं। (अतः नियोग का विषय ध्वंस संभव नहीं।) ॥३९४॥

भूत-भावी न सही, विद्यमान का ही ध्वंस नियोगविषय क्यों न हो? पेड़ ख़ुद भी नष्ट होता है तो क्या 'पेड़ काटो' यह नियोग संभव नहीं? ऐसे ही काल से भले ही प्रपंच नष्ट हो पर मुमुक्षु को ज्ञाननियोगार्थ इसे अभी ही नष्ट करना चाहिये – ऐसा मानने में क्या दोष है? दोष वार्तिककार ने 'तु' शब्द से बताया हैः जो प्रपंच वर्तमान है इसका नाश नियोगवश होना संभव नहीं अतः ध्वंस को नियोगविषय नहीं मान सकते। यह या तो प्रलयकाल में कारणभाव से रहेगा और या तत्त्वधी से बाधित होगा; और कोई तरीका नहीं कि इसे कोई जीव ध्वस्त कर सके। अतः जैसे खपुष्पाहुति नियोगविषय नहीं या समुद्रशोषण नियोगविषय नहीं ऐसे प्रपंचप्रविलय भी नहीं ॥३९४॥

श्रुतेर्विलयतात्पर्ये फलमाकस्मिकं भवेत् । फलार्था चेल्लये न स्यान्नोभयं वाक्यभेदतः ॥३९५॥
प्रपञ्चविलयेनैव सर्वानर्थप्रहाणतः । पुरुषार्थस्य संसिद्धेर्विद्यानैष्फल्यमापतेत् ॥३९६॥
अत ऐकात्म्ययाथात्म्यज्ञानादज्ञानहानतः । सिद्धे पुमर्थे विलयकल्पना निष्प्रयोजना ॥३९७॥
स्वकार्योपक्षयादेव विधीनां च परस्परम् । कुत एकाधिकारत्वमपेक्षाभावतो वद ॥३९८॥

पहले (श्लो० ३९३) जो वस्तु के संबंध में विकल्प किया था उसे स्पष्ट करने के लिये कहते हैं–

कर्मश्रुति का विलय में तात्पर्य हो तो फलप्राप्ति कर्महेतुक न होकर निर्हेतुक होगी। यदि कर्मश्रुति फलसाधनता में प्रमाण है तो प्रपंचलय निष्प्रमाणक होगा। दोनों में तात्पर्य मानना तो वाक्यभेदग्रस्त है ही ॥३९५॥

कर्मविधि विलय कहेगी तो फलकारणतया कर्म का ज्ञान न होने से उसका अनुष्ठान होगा नहीं, फिर भी सुख-दुःख तो मिलते ही रहते हैं अतः इनमें क्या हेतु बताया जा सकता है? निर्हेतुक मानने पर स्वभाववाद हो जायेगा, फलतः तुम मोक्षशास्त्री ही नहीं रह सकोगे! ॥३९५॥

कर्मविधियों का प्रपंचध्वंस में तात्पर्य मानने में और भी दोष है:

प्रपंच के विलय से ही सारे अनर्थ निवृत्त हो जाने के कारण पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेगा तो तत्त्वज्ञान निष्फल होगा ॥३९६॥

अनर्थ तो प्रपंचरूप ही है। उसकी निवृत्ति हो जाये तो स्वतःसिद्ध आत्मा ही मुक्ति है। तत्त्वज्ञान से पूर्व ही प्रपंच समाप्त हो जाये तो तत्त्वज्ञान से क्या फल होगा? और निष्फल हो तो ज्ञाननियोग ही सिद्ध नहीं होगा। किं च परम पुरुषार्थ की प्राप्ति ब्रह्मज्ञान से बतायी गयी है, वे वाक्य पीडित होंगे। अतः प्रपंचलय मानना शास्त्रविरुद्ध है ॥३९६॥

यदि कहो कि प्रपंचविलय के बाद ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति होगी, तब तो विलयप्रयास व्यर्थ ही है क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति से प्रपंचनिवृत्ति अर्थसिद्ध है :

अतः जीव-ब्रह्म की एकात्मता की यथार्थता के साक्षात्कार से अविद्या-निवृत्ति होने पर मोक्ष सिद्ध हो जाता है, प्रपंचविलय की कल्पना से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ॥३९७॥

ज्ञान को विफल मानना शास्त्रविरुद्ध है और प्रविलय को ज्ञान का कारण मानने में अन्योन्याश्रय कह चुके (श्लो० ३८७) हैं अतः विलय व्यर्थ है ॥३९७॥

जो यह मान्यता है कि कर्मविधियाँ क्योंकि ज्ञानाधिकार दिलाती हैं – ज्ञाननियोगार्थ हैं – इसलिये ज्ञान व कर्म का अधिकारी एक ही होने से समुच्चय उपपन्न है (द्रष्टव्य श्लो० ३८०-३); वह मान्यता भी अनुचित है:

विधियाँ अपने कार्यों में ही गतार्थ हैं अतः कर्मविधि व ज्ञानविधि की परस्पर अपेक्षा न होने से दोनों का एक ही अधिकारी कैसे हो सकता है, बताओ? ॥३९८॥

अंगविधि व प्रधानविधि को परस्पर आकांक्षा होने से उनका अधिकारी एक ही हो यह संगत है। जो परस्पर निरपेक्ष सफल विधियाँ हैं उनकी एकाधिकारिविषयता कहीं स्वीकृत नहीं। कर्मविधियाँ स्वर्गादि फल से गतार्थ हैं, ज्ञानविधियाँ मोक्ष से गतार्थ हैं। अतः इनमें परस्पर आकांक्षा नहीं कि ये एक अधिकारी को विषय करें जिससे समुच्चय का प्रसंग हो। यदि 'कर्म करके ज्ञान करे' ऐसी कोई श्रुति मिलती तो भी एकाधिकारकल्पना होती, किन्तु ऐसी श्रुति है नहीं।

स्मरण रहे कि सहसमुच्चय का खण्डन है, क्रमसमुच्चय का नहीं ॥३९८॥

श्लोक ३९३ में वस्तु की असिद्धि और श्लोक ३९५ में फलके प्रति कर्मकारणता की असिद्धि कहकर शास्त्रीय प्रवृत्ति की व्यर्थता सूचित की थी, उसे ही स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि नाम-रूप-कर्मात्मक प्रपंच के अभाव में तात्पर्य होगा तो

विधीनां चापि सर्वेषां निषेधवचसां तथा।
नामादिलयनिष्ठत्वे ह्यभ्युपेतेऽप्रमाणके । अनिमित्तोऽपवर्गोऽपि शास्त्रं चैवमनर्थकम् ॥३९९॥
स्वर्गादिकार्यमार्गेण मन्यसे यदि कर्मणाम्।
सोपानपङ्क्तिगत्येव हर्म्यपृष्ठाधिरोहणम्। आत्मज्ञानाधिकारानुप्रवेशित्वं भविष्यति ॥४००॥
यथैव नगराध्वस्थग्रामगत्युपदेशनम्। नगराध्वोपदेशस्य शेषत्वं प्रतिपद्यते ॥४०१॥

विधि-निषेधों की तरह तत्त्वमस्यादि भी अभावार्थक ही रहेंगे जिससे मोक्षहेतु श्रवणादि का बोधक शास्त्र न मिलने से श्रवणादि में किसी की प्रवृत्ति नहीं होगी अतः न केवल फलभोग वरन् मोक्ष भी निर्निमित्तक मानना पड़ेगा और लोकायतसमकक्षता हो जायेगी:

बिना प्रमाण के ही यदि मान लिया जाये कि विधि-निषेध वचन नामादि-प्रपंच के अभावमें तात्पर्य वाले हैं तो (स्वर्गादि ही नहीं) मोक्ष भी किसी हेतु के बिना ही प्राप्य मानना पड़ेगा तथा ऐसा स्वीकारते ही शास्त्र व्यर्थ हो जायेगा ॥३९९॥

यहाँ 'शास्त्र' से समूचा वेद समझना चाहिये अर्थात् दोनों काण्ड । फलवान् न होने से व्यर्थता होगी यह भाव है। व्यर्थ होने पर अप्रमाण तो होना स्वाभाविक है। इसी भय से वाक्यभेद माना जाये - यह भी अनुचित है क्योंकि इसी भयसे लयनिष्ठता को ही क्यों न छोड़ा जाये? जब अश्रुत, असंभव और व्यर्थ सिद्ध हो चुकी है तो वही हेय है ॥३९९॥

वादी प्रश्न करता है कि काण्डद्वय का फल मोक्ष है, उनकी व्यर्थता नहीं है, और स्वर्गादि भी मुक्ति के द्वार हैं अतः उन्हे निर्हेतु नहीं मानना पड़ता :

महल की छत पर चढ़ने वाला सीढ़ियाँ चढ़कर वहाँ पहुँचता है अतः सीढ़ी चढ़ना महल पर चढ़ने का शेष समझा जाता है, तदर्थ समझा जाता है; इसी तरह स्वीकार्य है कि मुमुक्षु स्वर्गादि शास्त्रीय फलों को पाकर अन्ततः मोक्ष पा जायेगा। एवं च अग्निहोत्रादि कर्म देहादि के विलय द्वारा स्वर्गादि प्राप्त कराकर आत्मज्ञान के अधिकार की सिद्धि में उपकारी हैं, ज्ञाननियोग के शेष हैं। नगर का रास्ता बताने के लिये कह देते हैं 'यहाँ से अमुक गाँव जाओ, वहाँ से अमुक गाँव चले जाना' इत्यादि; 'गाँव जाओ' यह कथन नगर के मार्ग को समझाने के लिये ही है, उसी का शेष है। इसी प्रकार कर्मविधियाँ भी देहादि का अभाव बताकर अपने स्वर्गादि-फलद्वारा ज्ञाननियोग की शेषभूत ही हैं, ज्ञानाधिकारसम्पादक ही हैं । [अतः शास्त्रवैयर्थ्य नहीं।] ॥४००-४०१॥

वादी का तात्पर्य है कि वेद का उपदेश मोक्षार्थ है, मोक्ष के लिये ज्ञान चाहिये और उसके लिये प्रपंचविलय। अतः वेद कर्मोपदेश देता है ताकि प्रपंचविलयपूर्वक ज्ञान संपन्न हो। पिछली सीढ़ी छूटे इसके लिये अगली सीढ़ी पर पहुँचना पड़ता है, ऐसे ही स्वाभाविक प्रवृत्ति-फलादि को विलीन करने के लिये शास्त्रीय प्रवृत्त्यादि हैं। इस तरह स्वर्गादि सुख निष्कारण नहीं, कर्मकारणक ही हैं किन्तु शास्त्रतात्पर्य उसमें नहीं, विलय में है, यह भाव है। इस बात को टीकाकार ने एक प्रयोग बनाकर रखा है: विचार्यमाण कर्मविधियाँ ज्ञाननियोग की शेष हैं (=ज्ञानाधिकारसम्पादिका हैं) क्योंकि इनका उपदेश उसे दिया गया है जो ज्ञानेच्छुक है, जो चाहने वाले को जिसका उपदेश दिया जाता है वह उसका शेष (=अर्थात् उसके लिये) होता है जैसे नगर जाने की इच्छा वाले को मार्गस्थ गाँव जाने का उपदेश नगरगमन का शेष होता है, नगरगमन के लिये होता है।

'यदि मन्यसे' - यदि ऐसा मानो तो जो दोष है वह आगे बता रहे हैं। ॥४००-४०१॥

उक्त मान्यता का दोष कहते हैं:

प्रथमतः तो यही बात नहीं है कि ज्ञानेच्छुक को कर्मोपदेश दिया हो (जिससे कर्मविधियाँ ज्ञाननियोग की शेष

नाकामितत्वाद् ग्रामादिगतेर्युक्तैव शेषता । स्वर्गादेर्न तु शेषत्वं पुरुषार्थत्वहेतुतः ॥४०२॥
अथोपच्छन्दनार्थानि स्वर्गादीनि विमुक्तये । नगराप्तौ तदध्वस्थग्रामादिगुणगीरिव ॥४०३॥

हों)। किं च रास्ते के गाँवों को पहुँचना अभिलषित न होने से नगरगति का शेष हो यह उचित है किन्तु स्वर्गादि स्वयं अभिलषणीय होते हैं अतः वे अन्यशेष नहीं हो सकते ॥४०२॥

वादी यह मानकर चला कि ज्ञानेच्छुक को कर्मोपदेश है जबकि वही बात ग़लत है। स्वर्गादि के इच्छुक को ही कर्मोपदेश है क्योंकि अधिकारवाक्य में उतना ही श्रुत है। एवं च पूर्वोक्त अनुमान में दिया हेतु स्वरूपासिद्धिग्रस्त है, हेत्वाभास ही है। 'विविदिषन्ति' श्रुति से ज्ञानेच्छुक को कर्मोपदेश क्यों न मानें? अवश्य मानो, लेकिन तब दर्शन के लिये उपदिष्ट शान्त्यादि का भी उपदेश मानना पड़ेगा और क्रमसमुच्चय ही स्वीकार सकोगे क्योंकि ज्ञान के साथ संन्यास का समुच्चय ही शास्त्रमें मिलेगा, कर्म का नहीं। किं च विविदिषावाक्य से विनियोग मानकर स्वर्गकामादि वाक्यों को स्वार्थसे प्रच्युत कर नहीं सकते, केवल विनियोगान्तर स्वीकार सकते हो। अतः स्वर्गादि फलों के साधनों के उपदेश में उनका तात्पर्य मानना ही पड़ेगा, विलय में तात्पर्य को स्थान नहीं मिलेगा। एवं च वादी को अभिमत ढंग से ज्ञानेच्छुक के लिए कर्मोपदेश नहीं है, यही कह रहे हैं, सिद्धान्तानुसार तो है ही। वादी विलय में तात्पर्य मानकर समुच्चय से मोक्ष चहता है जो ग़लत है।

उक्त अनुमान सोपाधिक भी है। ग्रामगमनोक्ति का स्वार्थ हुआ ग्राम-गमन, वह फलरूप नहीं क्योंकि नगरगमनेच्छुक की अभिलाषा का विषय नहीं; जबकि स्वर्गादि फलरूप हैं, इष्ट हैं। अन्यशेषता वहीं होती है जहाँ स्वमात्र की अफलता हो। ग्रामगति में अफलता है ही। स्वर्गादि में ज्ञानार्थी के प्रति उपदिश्यमानता हो तो भी अफलता नहीं है। तदर्थ्युद्देश्यकोपदिश्यामानत्व में तच्छेषत्व का नियम नहीं अतः अनुमान में कहा हेतु साध्य से व्याप्ति वाला नहीं है। यदि ज्ञानर्थी को उपदिष्ट कर्म विफल होते तब उक्त उपाधि साधनव्याप्त ही होती, अव्याप्त नहीं, अतः उपाधि ही न होती। किन्तु कर्म सफल हैं, स्वप्रसंग में आये अधिकारवाक्य उनके फल कहते हैं। अतः साधनाव्याप्ति स्पष्ट है। तच्छेषत्व वहीं होगा जहाँ अफलत्व है और उपदिश्यमानत्व अफलत्व के बिना भी होता है अतः उपाधिग्रस्त होने से वादी का प्रयोग ग़लत है।

विद्यासागर ने 'प्रामाणिकाफलोपदेशता' को प्रकृत में उपाधि माना है। ग्रामगति फल नहीं है जब कि स्वर्गादि फल हैं। जो उपदेश प्रामाणिक तो हो पर निष्फल को बताये वह अन्यशेष होता है, सफल को बताने वाला प्रामाणिक उपदेश अन्यशेष नहीं होता। कर्मविधियाँ प्रमाणभूत एवं सफल कर्म का उपदेश देती हैं अतः ज्ञाननियोगशेष नहीं ॥४०२॥

पूर्वपक्षी स्वाभिप्राय प्रकट करता है:

मोक्ष के लिये प्ररोचना के प्रयोजन से स्वर्गादि का कथन उसी तरह है जैसे नगर पहुँचने की प्रेरणा के लिये मार्गस्थ ग्रामादि का गुणगान होता है (अतः स्वर्गादि में अन्यार्थता ही है)। ॥४०३॥

प्रायः लोग सांसारिक सुख से विलक्षण मोक्ष सुख चाहते नहीं, उन्हे मोक्ष की ओर प्रवृत्त करने के लिये स्वर्गादि का लाभ दिखाया गया है; कर्मवाक्य स्वर्गसाधनता बताने के लिये हैं ही नहीं, वह तो प्ररोचनामात्र है। अतः स्वर्गादि अविवक्षित होने से कर्मवाक्य स्वर्ग में तात्पर्य रख नहीं सकते इसलिये ज्ञाननियोग के ही शेष हैं। एवं च कर्मविधियाँ स्वार्थ में विफल ही होने से उपाधि साधन से व्याप्त ही रही, उपाधि बन ही नहीं पायी यह अर्थ है। किसी बच्चे को अध्ययनादि के लिये नगर ले जाना पड़े तो रास्ते के ग्रामादि के भोजनादि की प्रशंसा कर एक-एक गाँव ले जाना पड़ता है व गाँवों में भोजनादि भी उसे वैसा खिलाना पड़ता है ताकि अगले दिन आगे चलने को वह उत्सुक बना रहे। ऐसे ही मोक्षकी ओर बढ़ने की प्रेरणा देने वाली कर्मविधियाँ स्वर्गादि बताती हैं व कर्म से स्वर्गादि दिला कर उनके भोग से उत्पन्न वैराग्य वाले से ज्ञाननियोग संपन्न कराकर मोक्ष दिला देती हैं ॥४०३॥

उक्त परिष्कार की ग़लती व्यक्त करते हैं :

नैवं मान्तरतः सिद्धेर्नृवाक्ये तत्समञ्जसम् । वेदे तु वक्त्रभावत्वादभिप्रायाद्यसम्भवः ॥४०४॥
यद्वा तत्रैव तात्पर्यं यत्रोपच्छन्द्य नीयते । नगराप्तौ तु माभावात्प्रयतेत पुमान्कुतः ॥४०५॥

स्वर्गोक्ति प्ररोचना के लिये नहीं है। वक्ता का अभिप्राय अन्य प्रमाण से मालूम चल जाता है और जिन ग्रामादि का वह वर्णन करता है वे भी अन्य प्रमाणों से समझ आ जाते हैं अतः पौरुषेय कुछ वाक्यों में फलकथन प्ररोचनार्थ हो यह संगत है। किन्तु वेद का तो कोई वक्ता है नहीं कि उसका अभिप्रायविशेष मानकर अन्यार्थता की कल्पना उपपन्न हो ॥४०४॥

कर्मविधि ज्ञाननियोगार्थ मानने में प्रमाण क्या? शब्देतर प्रमाण का यह विषय है नहीं कि अन्य किसी प्रमाण के बल पर ऐसा समझा जाये। प्रमाणान्तर के अविषयीभूत अर्थ में तो शेषशेषिभाव श्रुतिलिंगादि के बिना मानने पर अतिप्रसंग स्पष्ट ही है। पौरुषेय वचन के अर्थ को तो वक्ता से पूछकर भी निश्चित कर सकते हैं। उसका वह द्वितीय वाक्य ही प्रथमवाक्य की अपेक्षा प्रमाणान्तर हो जायेगा तथा तदनुसार प्रथम वाक्य अन्यशेष है या नहीं ऐसा निर्णय हो सकता है। अथवा ग्रामादिप्रशंसानंतर गन्ता की उत्सुकता होने के बाद यदि तीव्र गति से जाने को कहे तो भी समझ आ सकता है कि उसका अभिप्राय क्या था। या कोई धोखेबाज हो तो गाँवों में वह शोभा न मिलने पर समझा जा सकता है कि उसने लुभाने के लिये ही कहा था। लेकिन वेद में यों चाहे जहाँ अर्थवाद नहीं मान सकते अन्यथा कहीं भी फल मानना असंभव होकर शास्त्र व्यर्थ हो जायेगा। एवंच स्वर्गादि प्रलोभनार्थ हैं, मोक्षार्थ प्रवृत्ति के प्रेरक हैं, ज्ञाननियोग के शेष हैं, यह बात ग़लत है। ॥४०४॥

यदि कहो कि शब्द ही अन्यार्थता बता देता है तो जिज्ञासा होती है कि मार्गस्थ ग्रामों का उल्लेख नगर पहुँचने का शेष है यह समझता कौन है– वक्ता, जिसे वह कह रहा है, या जो निकट उपस्थित अन्य श्रोता है वह? इनमें वक्ता का समझना व्यर्थ है क्योंकि शब्द का प्रयोग तो दूसरे को समझाने के लिये होता है, वक्ता समझे भी तो श्रोता को अन्यार्थता का पता चल नहीं सकता। और वेद में तो वक्ता है भी नहीं। बाकी दोनों भी ग्रामोक्ति सुनकर अन्यशेषता नहीं समझ सकते:

कर्मविधियों की अन्यशेषता समझना संभव भी नहीं। जिस ग्रामादि की ओर प्रलोभित कर ले जाया जाता है उसी में तात्पर्य समझना सहज है। नगर पहुँचने की तो जानकारी ही नहीं कि श्रोता नगर जाने की कोशिश करे ॥४०५॥

जब तक यह मालूम न हो कि वक्ता प्रयोजनान्तर से ग्रामगमन कह रहा है तब तक श्रोता ग्रामोक्ति को अन्यार्थ कैसे माने और इसीलिये ग्रामप्राप्ति के बाद अन्य प्रवृत्ति कैसे करे? ज्ञात वस्तु को अज्ञात वस्तु का शेष समझना असंभव है क्योंकि शेषी को शेषता के विशेषण रूप से समझना पड़ता है। जब मुख्य श्रोता अन्यार्थता नहीं समझता और अन्यार्थ प्रयत्न करता नहीं तब निकट उपस्थित श्रोता – जो मुख्य श्रोता की प्रवृत्ति के आधार पर वक्ता का अभिप्राय समझना चाहता है, वह – ग्रामोक्ति की अन्यार्थता क्योंकर समझेगा।

तात्पर्य है कि कर्मविधि की ज्ञानशेषता प्रमाणान्तरविषय है नहीं, फिर भी माननी हो तो उसे शब्द से ग्राह्य ही मानना होगा। श्रुतिलिंगादि तो हैं नहीं यह दिखा चुके हैं। शब्द से पता तब चले जब शब्दार्थग्रहण का ऐसा रूप हो जिसमें अन्यार्थता भासे, अर्थात् शब्दार्थ समझने की कोशिश करने वाला यह समझ सके कि वाक्य स्वार्थ से अन्य में तात्पर्य वाला होता है। इसके लिये ऐसी परिस्थिति चाहिये कि वक्ता ग्रामगमन कहे और श्रोता ग्रामप्राप्ति पर विश्राम न कर अन्य विधि सुने बिना नगर की ओर चल दे, तभी अर्थग्रहण करने वाले को पता चले कि वक्ता का तात्पर्य ग्रामगमन में नहीं नगरगमन में था। ऐसा तब हो जब श्रोता पहले यह समझ पाये कि वक्ता का अन्यत्र तात्पर्य है। समस्या यह है कि श्रोता समझे कैसे ? लुभाने वाले ने नगर का तो नाम ही लिया नहीं कि श्रोता उक्त अभिप्राय समझे। यदि पहले ही वक्ता नगरप्राप्ति की शेषिता बता दे तब तो प्रलोभन ही सिद्ध नहीं होगा, दूरी आदि के भय से – या पढ़ने आदि के भय से – श्रोता ग्राम की ओर ही नहीं जायेगा कि शहर पहुँचने की नौबत आये। अतः शब्द स्वार्थमात्र का बोध कराता है, अन्यार्थता समझने के लिये प्रमाणान्तर ही

यदाऽपि वस्तुवृत्तेन नगरावाप्तिसाधनम् । ग्रामाप्तिर्नगरप्राप्तिस्तदाऽप्यर्थान्न मानतः ॥४०६॥
अर्थादपि न तात्पर्यं द्रव्यार्जनविधेरिव । शब्दमात्रानुसारेण वेदे तात्पर्यधीर्यतः ॥४०७॥

चाहिये, वे प्रमाणान्तर लोक में अनुमानादि हो सकते हैं किन्तु शास्त्रमें तो श्रुतिलिंगादि ही। शब्द अपनी शक्ति से अन्यार्थता नहीं बताता कि कर्मविधि सुनकर उसकी ज्ञानाधिकारहेतुता भास जाये। इसलिये न प्रमाणान्तर और न शब्द उक्त शेषता के आवेदक हैं ॥४०५॥

भले ही श्रोता आदि न समझें, फिर भी शेषता हो तो सकती ही है; ऐसे ही कर्मविधियों की भी क्यों न मानें? 'हो सकती है' से सर्वत्र ऐसा मान नहीं सकते अन्यथा मोक्षवाक्य भी अन्यशेष हो क्यों नहीं सकते? इसलिये शेषता को समझने का उपाय मानना ही पड़ेगा। लोक में उपाय अर्थापत्ति प्रसिद्ध है: जब ग्रामोक्ति स्वार्थमात्र में सफल न हो तब अर्थात् मान लिया जाता है कि वह अन्यार्थ है। एवं च शेषता शब्दमात्र से गम्य नहीं, अर्थापत्तिरूप अन्य प्रमाण से ही गम्य है। इसी तरह कर्मविधि की शेषता भी शब्द से सिद्ध नहीं होगी यह कहते हैं:

जहाँ वस्तुतः ग्राम पहुँचना नगरगमन का साधन मात्र होता है वहाँ भी यह बात अर्थात् ही पता चलती है, ग्रामोक्तिमात्र से नहीं ॥४०६॥

श्लोक में 'मानतः' से कर्मविधिरूप शब्द प्रमाण विवक्षित है। अभिप्राय यही है कि कर्मवाक्य वस्तुगत्या शेषबोधक हैं यह पता कैसे चले? ॥४०६॥

यदि वादी कर्मवाक्यों की भी ज्ञाननियोगशेषता अर्थात् मानना चाहे तो भी बनेगा नहीं:

कर्मविधियों का ज्ञाननियोग में अर्थात् तात्पर्य हो यह भी संभव नहीं जैसे द्रव्यार्जन की विधियों का अर्थात् भी तात्पर्य क्रतु में नहीं माना जाता। क्योंकि वेद में तात्पर्य-निश्चय सिर्फ शब्दों के उपक्रमादि से या शब्दों में व्यक्त श्रुतिलिंगादि से हो सकता है इसलिये श्रुतार्थापत्ति से अतिरिक्त कोई तरीका नहीं जो अर्थात् तात्पर्य बता सके ॥४०७॥

वाक्य से समझे अर्थ का यदि स्वयं में पर्यवसान न हो, यह लगे कि इतना ही अर्थ इस वाक्य का हो तो अमुक दोष है, तभी अर्थात् कल्पना की जाती है किसी अन्य तात्पर्य की। कर्मवाक्यों में ऐसी समस्या है नहीं, सर्वाभिलषित स्वर्गादि के साधन बताकर वे पर्यवसित हो जाते हैं। कर्मकाण्ड से जो सम्बंधविशेष अज्ञात है उसका ज्ञान श्रुत्यादि से ही संभव है, उनके बिना नहीं।

अर्थात् अन्यशेषता नहीं होती इसमें दृष्टान्त है द्रव्यार्जनविधि का : शास्त्र में विधान किया कि ब्राह्मण दान लेनां आदि तीन तरह से धन कमाये, राजा विजयादि कर धन कमाये और वैश्य खेती आदि से कमायी करे। विचार उठा कि यह द्रव्यार्जन क्रत्वर्थ है या पुरुषार्थ अर्थात् क्या क्रतु के लिये धन चाहिये या बिना क्रतुके परामर्श के भी पुरुष धन चाहता है? मीमांसादर्शन में (४.१.२) निर्णय किया कि द्रव्यार्जन पुरुषार्थ है, क्रत्वर्थ नहीं। संदेह इसलिये हुआ कि शास्त्रने अर्जनोपाय नियत कर दिये; पुरुषप्रसंनता तो चाहे जिस उपायसे कमाये धनसे हो सकती है, उपायनियम क्रत्वर्थता का सूचक है। अतः पूर्वपक्ष हुआ : द्रव्यार्जन वाक्य में कोई अधिकारी नहीं सुना गया, 'ऐसा चाहने वाला द्रव्यार्जन करे' ऐसा वाक्य मिलता नहीं। यह कल्पना करना व्यर्थ है कि धनकामना वाला उसमें अधिकारी है, क्योंकि धन में राग तो स्वतः ही धनार्जन करा लेगा, विधि की क्या ज़रूरत? यदि विधि को नियमार्थक मानेंगे तो यह स्वीकारना पड़ेगा कि जिसके लिये जिस साधन का नियमन किया है उससे अन्य साधन में यदि वह प्रवृत्त होता है तो दोषभाक् होगा – और यह मानने में गौरव है क्योंकि निषेधश्रवण के बिना ही दुरदृष्टोत्पत्ति माननी पड़ रही है। इसलिये उपादान प्रमाण से (प्रभाकर अर्थापत्ति को इस नामसे कहते हैं) यह मान लेना चाहिये कि द्रव्यार्जनविधि क्रत्वर्थ ही है; क्रतु के लिये अपेक्षित है द्रव्य और उसके लिये चाहिये साधन–इस प्रकार प्रतिग्रहादि साधन द्रव्यद्वारा क्रतु के शेष हो जायेंगे।

स्वर्गादौ यदि तात्पर्यं न स्यादैकात्म्यबोधने । मुक्तौ चेन्न भवेत्स्वर्गे वाक्यभेदान्न च द्वये ॥४०८॥
न च स्वर्गादिकार्याणां प्रयाजार्थसमानता । अनुप्रवेशः कल्प्येत येन कार्यान्तरं प्रति ॥४०९॥

सिद्धान्त है : अर्जनविधि क्रत्वर्थविधायिका नहीं क्योंकि क्रतुप्रकरण में है नहीं और न ही कोई श्रुति या लिंग ऐसा है जो अर्जन को क्रतुशेष बताये। सिर्फ क्रतु से ही सम्बद्ध होने के कारण पर्णता वाक्यप्रमाण से जुहूद्वारा क्रत्वर्थ हो जाती है (यह श्लोक ३३७ में बता चुके हैं) लेकिन धन सिर्फ क्रतु से सम्बद्ध है नहीं कि उस तरह क्रत्वर्थ हो सके। ऐसा भी नहीं कि अर्जन में क्रत्वधिकारी का अधिकार माने बिना अर्जनवाक्य व्यर्थ हो रहे हों कि अर्जन को क्रत्वर्थ मानकर उन्हे अधिकारी मिले। विहित जो प्रतिग्रहादि साधन हैं उनमें योग्यता ही यह है कि ब्राह्मणादि उन्हे निष्पन्न करें – यह बात स्मृत्यादि या शिष्टाचार से पता चल जाती है – अतः ब्राह्मणादि का ही उनमें अधिकार निश्चित होने से ब्राह्मण्यादि से अधिक किसी अधिकार की अपेक्षा ही नहीं। अतः जो धनेच्छुक उपाय खोजता हुआ अर्जन में प्रवृत्त है उसे ही शास्त्र साधनों का नियम बता देता है। एवं च सुलभ अधिकारी वाली स्वतंत्र विधि से प्रयुक्त द्रव्यार्जन वैसे ही पुरुषार्थ है जैसे नियत भोजन : भोजन पुरुषार्थ होने पर भी क्या-कब-कितना-कैसे आदि से नियमित है ही, तत्तद्वाक्य इन बातों के नियामक हैं, पर भोजन क्रत्वर्थ नहीं माना जाता।

फिर भी क्योंकि नियम है कि यथानीति अर्जित धन से ही यज्ञ करना चाहिये, अन्यायसे कमाया धन क्रतु में नहीं लगाना चाहिये, इसलिये अर्जन में क्रतुशेषता रह सकती है अतः माना जाता है कि अर्जन पुरुषार्थ ही होते हुए क्रतु का उपकारक है। इसी प्रकार कर्मकाण्ड ज्ञाननियोग का शेष नहीं होगा फिर भी ज्ञान का उपकारक हो सकता है और वह उपकार यही है कि लौकिक प्रवृत्तियों से रोककर शास्त्रीयों में लगाता है जिससे शास्त्रसंस्कार बढ़ते हैं, श्रद्धा विकसित होती है और मोक्षोपाय चित्तशुद्धि के लिये निष्काम कर्मानुष्ठान की संभावना हो जाती है। प्रत्यवाय भी नहीं लगता रहता जिससे पापाधिक्यवश मनःकालुष्य बढ़े। यह जो कहा था कि नियम मानने में गौरव है, वह भी प्रामाणिक होने से दोष नहीं क्योंकि अन्यत्र स्थापित है कि आपत् से अतिरिक्त काल में हीनवृत्ति अनाश्रयणीय है ॥४०७॥

कर्मकाण्ड ज्ञाननियोगशेष हो तो यह भी आपत्ति है:

यदि कर्मकाण्ड स्वर्गादि में तात्पर्य रखे तो अद्वैतज्ञानपरक नहीं हो सकता, मुक्ति में तात्पर्य वाला हो तो उससे यह नहीं प्रमित होना चाहिये कि कर्म स्वर्गोपाय हैं, और उभयत्र तात्पर्य तो वाक्यभेदभयसे मानना असंभव है ॥४०८॥

पहले (३९३-५) विलय में तात्पर्य मानने पर ये दोष दिये थे। श्लोक ४०० से वादी स्वर्गादि को प्रलोभनार्थ मानकर व्यवस्था बना रहा है अतः वे ही दोष इस पक्ष में भी दे रहे हैं अतः पुनरुक्ति नहीं ॥४०८॥

स्वर्गादिवचन फलश्रुति नहीं अर्थवाद हैं अतः ज्ञाननियोगशेषता में क्या दोष? यही दोष है कि वे अर्थवाद हैं ही नहीं:

प्रयाजसाध्य प्रयोजन जो कहा गया है उसके समान स्वर्गादि फल नहीं हैं कि यह कल्पना की जाये कि ये (=स्वर्गादि) मोक्षरूप कार्यान्तर में प्रविष्ट होने चाहिये अर्थात् मोक्ष के साधन हैं ॥४०९॥

प्रयाज हैं अंगयाग अतः उनका जो प्रयोजन बताया गया है कि प्रयाज करने से यज्ञ बख़्तर-बंद हो जाता है (सुरक्षित हो जाता है), वह अर्थवाद होना संगत है क्योंकि प्रयाज प्रधान न होने से फलाकांक्ष नहीं है, अंगिनिष्पादकता से ही सन्तुष्ट है। ज्योतिष्टोमादि यों ज्ञानाधिकारपरक हैं ऐसा कोई प्रमाण नहीं अतः उनका फल यथाश्रुत मानना होगा ॥४०९॥

श्लोक ३८३ में स्वाभाविक प्रवृत्तिनिरोधरूप दृष्ट उपकार से विधि-निषेधों की ज्ञानाधिकारकारणता सूचित की थी। उसका परीक्षण करते हैं:

यह भी बताना पड़ेगा कि विधि-निषेध दृष्ट उपकार द्वारा ही आत्मज्ञानाधिकार के हेतु कैसे बन जाते हैं? यदि

वक्तव्यं च कथं त्वेते दृष्टेनैवोपकारिणः। आत्मज्ञानाधिकारस्य यदि तावदिदं मतम् ॥४१०॥
रागाद्याक्षिप्तदृष्टार्थप्रवृत्तिप्रतिषेधतः। अस्त्वेवं प्रतिषेधेषु निवृत्तेरुपकारतः ॥४११॥
विधयस्तु कथं रागं निरुन्धन्तीति भण्यताम्। न हि ते परिसंख्यार्था नापि चैते नियामकाः ॥४१२॥
अत्यन्ताप्राप्तमर्थं हि विधयो बोधयन्ति नः। प्राप्तार्थो यो विधिः सोऽन्यनिवृत्तिफल इष्यते ॥४१३॥

यह मानो कि रागादि से प्रेरित दृष्ट प्रयोजनों वाली प्रवृत्तियाँ रोकने से वे वाक्य हेतु बनते हैं, तो इस प्रकार निषेधवाक्यों में ज्ञाननियोग के प्रति उपकारकता भले ही संभव हो क्योंकि निषेध से हुई निवृत्ति ज्ञानाधिकार में उपयोगी है; लेकिन यह बताओ कि विधिवाक्य राग का निरोध कैसे करते हैं? (विचार्यमाण काम्यादि) विधियाँ न परिसंख्या के लिये हैं और न नियमन करने वाली (कि साक्षात् या अर्थात् इतरत्र प्रवृत्ति से निवृत्त करें)। ये विधियाँ हमें वह बात बताती हैं जो अन्यथा अज्ञात है जबकि अन्यनिवृत्ति उसी विधि का फल स्वीकारा जाता है जिसका विषय अन्यथा प्राप्त हो ॥४१०-४१३॥

प्रतिषेध स्वाभाविक निवृत्तिमात्रार्थक इष्ट होने से उनका उपयोग मानने में कोई दोष नहीं यद्यपि यहाँ यह अभिप्रेत नहीं है कि निषेध पुरुषार्थ न होकर ज्ञाननियोगार्थ हैं; वे पुरुषार्थ रहते हुए ही द्रव्यार्जनवत् ज्ञानोपकारक हैं क्योंकि 'नाविरतो दुश्चरितात्' आदि से उनका उपकार प्रसिद्ध है। विधियाँ,ख़ासकर काम्यविधियाँ रागप्रेरित प्रवृत्ति की निरोधक मानना तो सर्वथा असंगत है। वादी कह सकता है कि रागोत्थ अनेक प्रवृत्तियाँ संभव हैं अतः काम्यविधियाँ कुछेक प्रवृत्तियों में बाँधकर अन्य प्रवृत्तियों को रोक देती हैं। उसकी इस शंका का समाधान किया कि यह वहीं संभव है जहाँ विधि या परिसंख्या हो और या नियम। अपूर्वविधि का ऐसा फल मान्य नहीं। जहाँ एकसे अधिक कार्य प्राप्त हों और विधि का इतना ही काम हो कि उनमें कुछ कार्यों को मना करना, वहाँ परिसंख्याविधि होती है; क्या करना यह बात उस विधि से नहीं पता चलती। जैसे 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' मंत्र की सामर्थ्य से सभी लगामें पकड़ना प्राप्त है अतः जब 'अश्वाभिधानीमादत्ते' घोड़े की लगाम पकड़ो कहा तो इसका इतना ही फल है कि घोड़े से अन्य गधे आदि की लगाम मत पकड़ना। एवं च यह विधि निवृत्तिपरक है। लेकिन कर्म इस तरह प्राप्त तो हैं नहीं कि बिना विधि के भी ज्योतिष्टोम, विदेशगमन, संगीतश्रवण आदि प्राप्त हों और ज्योतिष्टोमविधि केवल विदेशगमनादि की निवृत्ति करा कर कृतार्थ हो जाये। नियमविधि वह होती है जो किसी ऐसे कार्य को करना बताये जो कार्य बिना विधि के भी पता चल सके। परिसंख्या से अंतर यह है कि परिसंख्या जिसे करने को कह रही है उसे न करने से परिसंख्या का विरोध नहीं, अन्य विधि का भले ही हो: घोड़े की भी लगाम न पकड़े तो 'आदत्ते' विधि का उल्लंघन नहीं होगा, हाँ यज्ञ व्यंग रहेगा। किन्तु नियमविधि में कहा कार्य न करने से विधि का उल्लंघन माना जायेगा। उदाहरणार्थ वेद पुस्तक से बाँच कर भी सीखा जा सकता है और जानकार व्यक्ति से सुन-सुनकर भी अतः अध्ययनविधि नियम करती है कि गुरु से सुनकर ही वेद सीखा जाये। यदि ऐसा न करें तो विधि का उल्लंघन मान्य होगा। नियमविधि से भी साधनान्तर का प्रतिरोध होता है लेकिन वह अर्थतः होता है, विधिशब्द का तात्पर्य इतरनिषेध में नहीं जैसा परिसंख्या में है। स्वर्गादिफलक तत्तत्कर्म इस प्रकार विधिके बिना प्राप्त हैं नहीं कि उनका नियम मान सकें। फलतः इन्हे अपूर्वविधि मानना होगा जो सर्वथा अज्ञात का विधान करती है। अपूर्वविधि को सीधे या अर्थतः भी अन्यनिषेधक नहीं माना जाता क्योंकि उसके विधेय के समकक्ष कोई अन्य होता नहीं। इतरनिवृत्ति वहीं संभव है जहाँ तुल्य अनेक प्राप्त हों और एक का अनुष्ठान ही संभव हो। जहाँ अतुल्य की प्राप्ति है वहाँ अन्यनिवृत्ति नहीं: जैसे अग्निहोत्र और श्वास-प्रश्वास तुल्य नहीं हैं अतः अग्निहोत्रविधि से यह नहीं पता चलता कि अग्निहोत्रकाल में श्वास नहीं लेना चाहिये! अत्यन्त अप्राप्त को विषय न करने वाली नियम व परिसंख्या विधियाँ ही इतरनिवृत्तिफलक हो सकती हैं ॥४१०-४१३॥

अपूर्वविधि भी इतरनिवर्तक क्यों न हो यह प्रश्नोत्तर से स्पष्ट करते हैं:

सेवा और सांग्रहणीष्टि जैसे समानफलक हैं तो सांग्रहणीष्टि में प्रवृत्त व्यक्ति सेवा से निवृत्त होता ही है (ऐसे

सेवासांग्रहणीहावत्तुल्यकार्यतया न च। यतोऽनियतकालीनफला वैधी क्रियेष्यते ॥४१४॥
अदृष्टार्था हि दृष्टार्था रागाद्युत्थाः प्रवृत्तयः। ग्रामोपायेन सेवायाः सांग्रहण्याऽविरुद्धता ॥४१५॥
क्रियातः फलमित्येवं शास्त्रमेतावति प्रमा।
क्रमेण युगपद्वाऽतः सेवासांग्रहणीहयोः। नानुष्ठाने विरोधोऽस्ति फलभूमार्थिनः क्वचित् ॥४१६॥

रागादिप्रेरित और शास्त्रीय दोनों प्रवृत्तियाँ संसाररूप फल देती हैं अतः जो शास्त्रीय व्यवहार में प्रवृत्त होगा उसकी रागादिप्रवृत्ति अर्थतः निरुद्ध हो ही जायेगी। इसलिये अपूर्वविधि भी इतरनिवर्तक क्यों न हो)?

ऐसा स्वीकार्य नहीं। एक कार्य में संलग्न होने पर अन्य कार्य छूट जाता है इस दृष्टान्त के बल पर यह सिद्ध नहीं कर सकते कि शास्त्रीय प्रवृत्ति से स्वाभाविक प्रवृत्ति निरुद्ध होती है क्योंकि दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में अन्तर है : विधिप्रेरित क्रिया अदृष्ट का सहारा पाने के लिये की जाती है अतः यह नियम नहीं कि उसका फल तुरन्त ही मिले, जबकि रागादिप्रेरित स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ दृष्ट प्रयोजन से ही की जाती हैं। (अतः रोगी जैसे प्रार्थना भी कर लेता है, दवा भी खा लेता है ऐसे ही शास्त्रीय व स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। संसाररूप फल भले ही शास्त्रीय व स्वाभाविक क्रियाओं का हो, पर अदृष्टद्वारकता होने-न-होने के भेद से सेवा, युद्ध आदि की तरह शास्त्रीय क्रियाओं को स्वाभाविक क्रियाओं के तुल्य नहीं मान सकते।) किं च ग्रामप्राप्ति के उपायरूप से सेवा और सांग्रहणीष्टि का विरोध भी नहीं है कि इष्टिविधि सेवा को निवृत्त करे ॥४१४-४१५॥

'वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः' इत्यादि से विहित कर्म को सांग्रहणीष्टि कहते हैं जिसका फल है ग्रामपति हो जाना। राजादि की सेवा करने से भी ग्रामपतित्व प्राप्त हो जाता है। ग्राम चाहने वाला यदि इष्टि करेगा तो सेवा नहीं करेगा ऐसा वादी का मत है। किन्तु सिद्धान्ती का कहना है कि इष्टि का फल तुरंत मिलना निश्चित नहीं और सेवा इसी आशा से की जाती है कि फल तुरंत मिलेगा। कोई व्यक्ति जन्मान्तर में ग्रामपति बनने के लिये इस जन्म में राजसेवा करता नहीं। अतः इष्टि जिस फल का उपाय है और सेवा जिस फल का साधन है दोनों में अन्तर मानना पड़ेगा, भले ही ग्रामपतित्वरूप से समानता हो। किं च सेवा का फल ग्रामपतित्व होता हो ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं कि जैसे उक्त इष्टि का अवश्य ही ग्रामपतित्व फल मान्य है वैसा सेवा का माना जाये, अतः इनमें 'तुल्यकार्यता' है भी नहीं। तथा इष्टि का सेवा से विरोध भी नहीं कि वह उसे निवृत्त करे ही। इसलिये अपूर्वविधि को इतरनिवर्तक नहीं मान सकते ॥४१४-४१५॥

उक्त स्थल में निवर्तकता मानते हो तो किस तरह : १) क्या सांग्रहणीष्टि की विधि ही सेवा को निवृत्त करती है? २) या एक व्यक्ति इकट्ठे ही दोनों कर नहीं सकता इसलिये सेवा निवृत्त होती है? ३) अथवा इष्टि से ही ग्राम मिल जाने के कारण उसके लिये सेवा का उपयोग न रहने से सेवा की निवृत्ति अर्थतः होती है? तीनों संभव नहीं :

'क्रिया से फल होता है' ऐसा बताने वाला शास्त्रवाक्य इतनी ही बात में प्रमाण है (सेवा से फल नहीं होता यह भी उस वाक्य का अर्थ नहीं अन्यथा वाक्यभेद होगा)। सेवा और इष्टि इकट्ठे या क्रमशः भी की जा सकती हैं, एक व्यक्ति इनका अनुष्ठान करे इसमें कोई विरोध नहीं। किसी व्यक्ति में दोनों प्रवृत्तियाँ भी संभव हैं, जो व्यक्ति फल में विशेषता चाहे। (अतः किसी भी तरह इष्टि में सेवानिवर्तकता नहीं है।) ॥४१६॥

मीमांसा दर्शन में (६.३.२) काम्य विकृतियागों को भी सांगोपांग ही करना जरूरी है यह सिद्ध करने के लिये उन्हे काम्य प्रकृतियागों की तरह श्रुतफलका करण ही माना गया है अतः इष्टिविधि उक्त इष्टि में ग्रामलाभोपायता ही कह सकती है, अन्यनिवृत्ति नहीं कह सकती। एक व्यक्ति ही जिस दिन इष्टि करे उसी दिन अवशिष्ट काल में सेवा कर सकता है या कुछ दिन सेवा कर फिर इष्टि कर सकता है अतः ऐसा भी नहीं कि इन दोनों को करना वैसा असंभव है जैसा गंगासागर व भृगुकच्छ पहुँचना! तथा इष्टि से ही गाँव मिल जायेगा तो सेवा व्यर्थ है, ऐसा भी नहीं, इष्टि सिर्फ गाँव देगी, सेवा भी कर ली जाये तो बड़ा गाँव मिलेगा यह भी कोई समझ सकता है, या ऐसा समझ सकता है कि सेवा करने से इष्टिफलभूत गाँव शीघ्र मिल जायेगा, अतः ऐसा व्यक्ति दोनों का अनुष्ठान कर सकता है, अर्थात् निवृत्ति हो यह जरूरी नहीं ॥४१६॥

रागाद्युत्थप्रवृत्तीनां कात्स्न्येंन च विरोधतः । नैयोगिक्योऽपि नैव स्युर्द्रव्याभावात्प्रवृत्तयः ॥४१७॥
दृष्टादृष्टप्रवृत्त्योश्च न विशेषोऽस्ति कश्चन । उपायत्वेन काम्यानां रागाद्याक्षिप्तहेतुतः ॥४१८॥
प्रपञ्चाभिनिवेशित्वहेतौ तुल्येऽपि चानयोः । कं विशेषमपेक्ष्यैका चेष्टा मुक्त्यनुरोधिनी ॥४१९॥
कामोपायत्वमेवाथ नेष्टं यदि च कर्मणाम् । उक्तो न्यायः प्रहीयेत फलं चाऽऽकस्मिकं भवेत् ॥४२०॥

वैध प्रवृत्ति से स्वाभाविक प्रवृत्ति रुकती है का अभिप्राय क्या यह है कि उससे कुछेक सहज प्रवृत्तियाँ रुकती हैं या यह कि सारी ही रागमूलक प्रवृत्तियाँ उन्मूलित हो जाती हैं? अगर कुछेक ही रुकती हों तब तो उतने के लिये वैध कर्म में लगना व्यर्थ है क्योंकि वैध कर्म किये बिना भी आलस्यादि से या स्वाभाविक ही प्रवृत्तिविशेषों से कुछेक सहज प्रवृत्तियों का रुक जाना सरल है। और अगर सभी रागमूलक प्रवृत्तियों का रुकना मानो तो भी अनिष्ट है यह कहते हैं:

यदि शास्त्रीय विधियों का रागादिप्रेरित सभी प्रवृत्तियों से विरोध हो तब धन न होने से वैध प्रवृत्तियाँ भी संभव न होंगी ॥४१७॥

धनार्जन में प्रवृत्ति रागप्रेरित है। सभी रागमूलक प्रवृत्तियाँ रुकने पर धनार्जनप्रवृत्ति भी बंद हो जायेगी तो व्यक्ति के पास धन होगा ही नहीं। ऐसे में वह अग्निहोत्रादि नित्य कर्म ही कर न सकेगा तो काम्यों का प्रसंग ही कहाँ? एवं च कर्मविधियों को ऐसा मानने पर स्वव्याघातक ही मानना पड़ेगा जिससे कर्मकाण्ड ही अप्रमाण हो जायेगा क्योंकि वह कर्मसाधन में रुकावट डालते हुए कर्म करने को कहेगा तो विरुद्धार्थक ही होगा, प्रमाजनक नहीं। मीमांसक मानते हैं कि अर्जन के नियम कहे गये हैं तो भले ही यह मान लो कि उन्ही नियमों से धन कमाने से पुण्यविशेष होगा लेकिन यह नहीं मान सकते कि अर्जन की दृष्टप्रयोजनता ही नहीं है। यह श्लोक ४०७ में बता भी चुके हैं ॥४१७॥

शास्त्रीय प्रवृत्ति से सहज प्रवृत्ति का निरोध नहीं होता इसमें और भी कारण है:

जहाँ तक रागप्रेरितता और काम्य-विषयों की उपायता का प्रश्न है, लौकिक और शास्त्रीय प्रवृत्तियों में कोई फ़र्क नहीं है (कि एक से दूसरी की निवृत्ति हो) ॥४१८॥

शास्त्रीय प्रवृत्तियाँ भी कामना से ही होती हैं। यद्यपि नित्यादि में प्रायः कामना को हेतु कहते नहीं तथापि भाष्यकार अनेकत्र स्पष्ट करते हैं कि हैं वे भी काम्य ही। नित्यों को पितृलोकफलक माना गया है, मीमांसकों की तरह निष्फल नहीं। अतः उनकी काम्यता स्पष्ट है। यदि प्रत्यवायनिवर्तकमात्र भी मानें तो भी प्रत्यवायनिवृत्ति चाहने वाला उन्हे करेगा अतः काम्यता बनी ही रहेगी। अतः शास्त्रीय से लौकिक का फलतः या हेतुतः विरोध नहीं है ॥४१८॥

दोनों प्रवृत्तियाँ संसारसत्यता मानकर ही हैं:

शास्त्रीय व लौकिक दोनों प्रवृत्तियाँ प्रपंच में आग्रह पूर्वक ही होती हैं। अतः किस ख़ासियत से माना जाये कि शास्त्रीय प्रवृत्ति मुक्ति का कारण है? ॥४१९॥

लौकिक चेष्टा घर, खेत आदि का आग्रह लेकर है तो शास्त्रीय चेष्टा स्वर्ग, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का आग्रह लेकर ही है। यह भी इनमें समान ही है तो शास्त्रीय चेष्टा में कौन सी विशेषता है कि उसे मोक्षहेतु स्वीकारें? अर्थात् ऐसा मानना ग़लत है कि वैध प्रवृत्ति ज्ञाननियोगका शेष होने से मोक्ष के लिये ज्ञान से समुच्चययोग्य है ॥४१९॥

इस पर और विचार करते हैं:

यदि तुम्हे कर्मों की फलोपायता ही इष्ट न हो तो जो सिद्धान्त शास्त्रकारों ने स्थापित किया है कि काम्य विधियों में फल प्रधान है और याग गौण है, उस सिद्धान्त का विरोध होगा। इतना ही नहीं, फलप्राप्ति निर्निमित्त माननी पड़ेगी जो किसी को इष्ट नहीं ॥४२०॥

मीमांसादर्शन के छठे अध्याय के प्रारंभ में स्वर्गकाम वाक्यों पर विचार है: स्वर्ग और याग की साध्य-साधनता है

सर्वकामाशनेनाथ कृत्स्नकामलयाध्वना । यान्ति मुक्त्यानुगुण्यं चेद्विधयो वार्त्तमेव तत् ॥४२१॥
यन्निमित्ता प्रवृत्तिः स्यात्सा कथं तन्निवर्तिका । प्रवृत्तोऽपि निवर्तेत न कामोपायकर्मतः ॥४२२॥
उद्विजेताथवा ज्ञानात्सर्वपुंभोगघस्मरात् । अपि वृन्दावने शून्य इति कामिवचस्तथा ॥४२३॥

लेकिन स्वर्ग को प्रधान मानें या याग को? 'स्वर्गकाम' शब्द कर्ता का बोधक है अतः याग ही अनुष्ठेय होने से प्रधान मानना चाहिये, स्वर्ग अनुष्ठेय न होने से प्रधान भी नहीं और इसीलिये स्वर्ग-शब्द यहाँ अर्थविवक्षा से नहीं आया है, केवल कर्ता उपस्थित करने के लिये आया है। अतः कर्मविधियों को ज्ञाननियोग का ही शेष मानना उचित है यह पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त यह है: स्वर्गकामपद नियोज्य का बोधक है, कर्ता का नहीं क्योंकि कर्तृत्व तो अधिकार के अनंतर आयेगा यह नियोगवादी मानता ही है। कर्ता भले ही प्रधान हो, नियोज्य तो प्रधान होता नहीं, नियोग ही प्रधान होता है। फल का नियोग से साध्यतया संबंध होता है अत एव फलसाधक नियोग के प्रति अधिकारबुद्धि संभव है। इसलिये नियोग की अपेक्षा फल प्रधान होगा। अतः स्वर्गकामादि वाक्यों में स्वर्ग प्रधानतः विवक्षित है और याग उसके प्रति गौणरूपसे। प्रधान साध्य तो स्वर्गादि फल ही है, याग तो इसीलिये साध्य है कि फल का गुण है। एवं च कर्म का फल उन वाक्यों में विवक्षित होने से अन्यशेषता का प्रसंग नहीं। इस निर्णीत सिद्धांत का विरोध होगा यदि कर्मों में काम्योपायता ही न मानें। इतना ही नहीं, यदि अधिकारवाक्य से फलसम्बन्धबोध मानना नहीं तो ज्ञाननियोगशेषता ही कैसे सिद्ध होगी? उसे भी वाक्य से ही मानना पड़ेगा और उस वाक्य में यदि फलसंबंध विवक्षित है तो स्वर्गादिवाक्यों में क्यों नहीं? प्रमाणान्तर से ज्ञानाधिकारसमर्पकता पता चल नहीं सकती। अतः काम्यविधियाँ काम्य-फलार्थ ही हैं। किं च ऐसा न मानने पर यहाँ उपलभ्यमान एवं स्वर्गादि पारलौकिक फलों के प्रति कोई कारण रहेगा नहीं तथा अंततः स्वभाववादापत्ति हो जायेगी। ॥४२०॥

श्लोक ४१० में दृष्टोपाय से उपकार का प्रसंग उठा था। एक उपकार तो यह संभव था कि विधियाँ सहजप्रवृत्तियाँ रोकती हैं; इस पक्ष का निषेध कर दिया। दूसरा उपकार हो सकता था कि वे कामनानिवृत्ति कर देती हैं जिससे वैराग्यवान् ज्ञानाधिकारी सुलभ हो जाये। इस संभावना को उठाकर इसका खंडन करते हैं:

यदि कहो कि सारी कामनायें पूरी कर सभी कामनाओं का समापन करती हैं, इसलिये विधियाँ मुक्ति के अनुकूल मानी जानी चाहिये; तो यह बात भी निःसार है ॥४२१॥

वादी का मानना है कि विधि पुरुष को कर्म में प्रवृत्त करेगी, फल का उपभोग करायेगी और भोग से कामना निवृत्त करायेगी, तब पुरुष ज्ञानाधिकार पायेगा। पहले (३४५) प्रजापति पद की प्राप्ति को आवश्यक मानने वाले का खण्डन किया था, यहाँ उस पद को अनिवार्य न मानकर भी विधियों कोकामनाशक मानने वाले का खण्डन है ॥४२१॥

निःसारता ही व्यक्त करते हैं:

जिस फलराग के कारण वैध प्रवृत्ति होगी वह प्रवृत्ति उस राग को निवृत्त कैसे करेगी? (अपने उद्देश्य से ही विरोध कैसे हो सकता है?)। जो कर्म में प्रवृत्त हुआ है वह फलोपायभूत कर्म से निवृत्त नहीं होगा बल्कि सारे भोगों को समाप्त करने वाले ज्ञान से ही विमुख हो जायेगा! इसी अभिप्राय से कामुकों ने कहा है कि 'निर्विषय मोक्ष की अपेक्षा तो सिंहादि से रहित वृन्दावन में सियार बनना अच्छा!' ॥४२२-४२३॥

प्रवृत्ति फलेच्छा-समापिका नहीं यह स्पष्ट है। भोग भी फलराग को नष्ट नहीं करता। भोग स्वयं फलराग से प्रवृत्त है, विरागी तो भोग के लिये कोशिश करता नहीं। यदि भोग उसका निवर्तक होता तो उससे प्रवृत्त ही न होता अर्थात् राग कभी भोग के लिये प्रेरित ही न करता! किं च भोग तो राग को बढ़ाता है यह दिखा चुके (श्लो० ३४६) हैं। यदि कहो भोग करने से पूर्व वह भावी भोग फलराग को हटा देता है तब तो फलराग से होने वाली सभी प्रवृत्तियाँ कभी होगी ही नहीं क्योंकि भोग उनके प्रेरक राग को पहले ही समाप्त कर लेगा। यह शंका यद्यपि बेतुकी है तथापि भोग तीन कालों में ही रागनिवर्तक हो सकता है अतः तीनों कालों में वह वैसा नहीं करता यह सिद्ध कर रहे हैं। अथवा, देखा जाता है कि भोग सुदूर होने पर जैसा राग उत्कट होता है, भोग उपलब्ध होने पर उतना नहीं रह जाता, अतएव भोगकाल में वैसा सुख नहीं होता जैसा

उक्तं यदपि वेदेऽस्मिन्कस्यचिद्विलयः क्वचित् । तन्नातत्परतस्तूक्तेर्न देहादिलयस्ततः ॥४२४॥
श्रुतेऽपि स्वर्गतात्पर्ये कल्पना चेल्लयेऽर्थतः । तन्न प्रत्यक्षवचनाद्देहादिलयसिद्धितः ॥४२५॥
साक्षाद्धस्तिनि दृष्टेऽपि नहि हस्तिपदानुमा । अस्थूलादिवचः साक्षाद्देहादिप्रतिषेधकृत् ॥४२६॥

प्रत्याशित था। यहाँ कोई मान सकता है कि भोग ने ही प्रारंभ होने से पूर्व राग को घटा दिया। अतः इस पक्ष का भी खंडन कर दिया। राग घटता भले ही प्रतीत हो, समाप्त नहीं होता, अतएव भोग में प्रवृत्ति हो जाती है। और घटना भी एक भ्रम है। विषय के दर्शन, नैकट्य आदि से प्रिय, मोद आदि उत्पन्न होते चलते हैं अतः उतना-उतना भोग ही हो रहा है, उन आनंदांशों को बिना गिने ही कहते हैं कि अंतिम भोग से आशानुरूप सुख नहीं हुआ। भोग में प्रवृत्त व्यक्ति भोगोपायभूत कर्म से निवृत्त नहीं हो सकता बल्कि तुल्य भोग पाने के लिये पुनरपि कर्म में ही प्रवृत्त होगा। यदि कहो भोग समाप्त होने पर रागनिवर्तक है तो भी ग़लत है, वह तो रागाभिवर्द्धक ही होता है। भोगानंतर भोग को याद करते-करते ही व्यक्ति सुखी होता देखा गया है अतः भोग सुखहेतु समझा जाने के कारण राग बढा ही सकता है, घटा या नष्ट नहीं कर सकता। अत एव सुखभोग पूरा करते ही किसी को तत्त्वज्ञान की चर्चा सुनाओ तो वह झल्लाता ही है क्योंकि उसे वह सुख स्मरणरूप से बनाये रखना अच्छा लगता है, उस सुख को तुच्छ सुनना नहीं। अत एव दुःखकाल में भले ही तत्त्वजिज्ञासा हो, सुखकाल में सुखवृद्धि के उपायों की ही जिज्ञासा होती है। जिसे विवेक उत्पन्न हो चुका वह यद्यपि सुखकाल में भी जिज्ञासु रहता है तथापि वह उस सुख को तुच्छ मानने वाला होता है व इसीलिये कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता, कर्मत्यागी ही होता है। इसलिये भोग नष्ट होकर भी रागका निवर्तक नहीं।

उक्त रागिगीत पंचपादिका में (पृ० ३६४) उद्धृत है। सभी निर्विशेषमोक्षविरोधी इस बारे में एकमत हैं ही। शास्त्रदीपिका में पार्थसारथि ने भी निर्विशेष आनंद के प्रति उद्वेग व्यक्त किया है। भजनक्रिया के लोभवश दीयमान भी निर्विशेष मोक्ष छोड़ने वालों को भी इसी श्रेणि का मानना उचित है। ज्ञान को भोगविरोधी घोषित कर वार्तिकाचार्य ने 'भोग व मोक्ष दोनों करस्थ हो जायेंगे' ऐसी आशाओं पर पानी फेर दिया! हाँ भोगविशेषरूप मोक्ष उन उपासनाओं से मिल सकते हैं ॥४२२-४२३॥

प्रपंचध्वंसवादी क्योंकि ज्ञान को मोक्षहेतु मानकर उपनिषदों को विवक्षितार्थ ही मानते हैं इसलिये वेदान्तदर्शन के अनुगुण ही हैं लेकिन उनकी बातें हैं अटपटी तथा समुच्चय पर उनका आग्रह है जो ग़लत भी है अतः उनका खण्डन ज़रूरी है। अतः उन्होंने जो प्रक्रिया रची थी उसको सदोष सिद्ध करते हैं:

जो यह कहा था 'वेद के तत्तत्स्थल में प्रपंच के तत्तद्भेद का विलय समझाया गया है', वह कहना भी ग़लत है क्योंकि वेद विलय में तात्पर्य वाला नहीं है, स्वर्गादि वाक्यों से देहादिलय होता भी नहीं है ॥४२४॥

श्लोक ३७८ में वादी ने जो कहा था उसका यहाँ निरास है। कर्मकाण्ड कर्म और फल का संबंध बताकर तथा ज्ञानकाण्ड अखण्ड ब्रह्म को बताकर कृतकार्य है, विलय को दोनों ही भाग नहीं बताते। 'स्वर्गकामपदे यथा' जो कहा था, वह भी व्यर्थ है क्योंकि उस शब्द से देहादिलय समझ आता ही नहीं, सिर्फ ज्योतिष्टोमादि की स्वर्गसाधनता पता चलती है ॥४२४॥

बिना देहादि हटे स्वर्गभोग असंभव होने से स्वर्गकामवाक्य अर्थात् देहादिलय में तात्पर्य वाला क्यों न हो? इस शंका को उठाकर जवाब देते है:

यदि कहो कि शब्दमात्र से स्वर्ग में तात्पर्य भले ही समझ आये लेकिन अर्थात् लय में भी तात्पर्य है; तो वह भी उचित नहीं क्योंकि देहात्मता का विलय स्पष्ट वचनों से ही हो जाता है, उसके लिये अर्थापत्ति ज़रूरी नहीं। सामने हाथी दीख रहा हो तो कोई व्यक्ति अगल-बगल हाथी के पदचिह्नों से हाथी का अनुमान नहीं करने लगता! 'आत्मा स्थूल नहीं है' आदि वेदवचन साक्षात् ही देहादि की आत्मरूपता का निषेध कर रहे हैं तो स्वर्गवाक्य से वैसा समझने की क्या ज़रूरत? ॥४२५-४२६॥

**विपर्ययेण येऽप्याहुर्यथोक्तज्ञानकर्मणोः । एकाधिकारितां वाच्यं मानं तैर्ज्ञानसंगतौ ॥४२७॥
न तावत्प्रक्रियेहास्ति व्रीह्यादिप्रोक्षणे यथा । प्रकृतापूर्वसंबन्धलक्षणापरतः स्थितेः ॥४२८॥
व्रीहिशब्दस्य हि व्रीहिस्वरूपे तु निरर्थकम् । प्रकृतापूर्वसंबन्धं बोधयेदिति युज्यते ॥४२९॥**

यद्यपि वाचस्पति के अनुसार तर्करसिक लोग प्रत्यक्षसिद्ध को भी अनुमान से समझने को उत्सुक होते हैं तथापि यहाँ अभिप्राय है कि स्वर्गकामवाक्य का अवान्तर तात्पर्य देहातिरिक्त आत्मामें भले ही हो पर एतावता उसका मुख्य तात्पर्य यथाश्रुत ही रहेगा, बाधित नहीं हो जायेगा। अस्थूलादिवचन अक्षरब्राह्मण में (ब्र० ३.८.८) प्रसिद्ध है।

वस्तुतः वादी को अनात्मध्वंस इष्ट है जबकि सिद्धांती का मानना है कि अनात्मा में आत्मता के निश्चय का हटना पर्याप्त है। विवेक से यह निश्चय हट जाता है तो प्रतीति आकिंचित्कर है। शोधित अहमर्थ का दृढतर संस्कार अवश्य चाहिये पर उसके लिये देहादि का अभाव अपेक्षित नहीं। योगपक्षपाती लोग भी अनात्मा की अप्रतीति का बहुत महत्त्व मानते हैं किन्तु जैसा गीतागूढार्थदीपिका में व्यक्त किया है, भगवत्पूज्यपाद के मत का अनुसरण करने वाले परमहंसों की वैसी मान्यता नहीं। आचार्य ने भी परमहंसो के लिये समाधि के उपयोग का कहीं व्युत्पादन नहीं किया। एवमपि वसिष्ठ जी का कहना है कि कुछ साधक ज्ञाननिश्चय नहीं पा सकते, योगानुष्ठान कर सकते हैं अतः उन्हे अप्रतीति की ओर ध्यान देना उचित है। ज्ञानसंस्कारपूर्वक अप्रतीति होने पर शांतचित्त में अखण्ड साक्षात्कार संभव है। किन्तु ऐसे साधक व्युत्थानदशा में क्लेश पायेंगे। यह स्मरणीय है कि मुख्य पक्ष में अप्रतीति पर बल न देने का मतलब बहिर्मुखता को अनुमति देना नहीं है। समाधान और वैराग्य दोनों पर पूर्ण आग्रह तो इष्ट है ही। प्रकृत में विचार्यमाण वादी अप्रतीति ही नहीं अनात्मलय तक चहता है जो असंभव और अनुपयोगी दोनों है। ॥४२५-४२६॥

इस प्रकार प्रपंच तथा कामना का ध्वंस द्वार बनकर कर्म व ज्ञान काण्डों का संबंध स्थापित करने में असमर्थ सिद्ध हुआ।

पूर्व में (श्लो० ३३१) कहा था कि भाष्यकारीय काण्डसंबंध से अन्य किसी तरह का संबंध संभव नहीं। यह भी बात समझा तो चुके हैं, फिर भी स्पष्टतर करने के लिये पुनः विचार करते हैं:

जो कोई भी यह कहता है कि कर्म शेषी है व ज्ञान उसका शेष है अतः एक ही नियोग से प्रयुक्त हुए पुरुष को दोनों करने चाहिये; उसे भी इस तरह के सम्बन्ध में प्रमाण बताना होगा ॥४२७॥

'बताना होगा' से ध्वनित है कि वे सिर्फ़ ऐसा कह देते हैं, इसके लिये उनके पास कोई प्रमाण है नहीं। शमादि इतिकर्तव्यता सहित श्रवणादि से अतिरिक्त किसी भी साधन का समुच्चय मानने वाले सभी का यहाँ 'जो कोई' में संग्रह समझ लेना चाहिये। अतः ब्रह्मसंस्थता से अन्य कोई आश्रमकर्म भी संन्यासी के लिये आचार्य को स्वीकृत नहीं (ब्र०सू०भा० ३.४.२.२०) ॥४२७॥

उक्त संबंध में श्रुति तो है नहीं अतः प्रमाणान्तरों का उपन्यास कर निषेध करते हैं; लिंगप्रमाण श्लोक ४३५ में खण्डित होगा, पहले प्रकरण का विचार उठाते हैं:

जैसे व्रीहि आदि के प्रोक्षण की अंगता में प्रकरण प्रमाण है ऐसे ज्ञान की अंगता में नहीं। प्रोक्षणवाक्यगत व्रीहि-शब्द का तात्पर्य भूत-भावी समूचे व्रीहिमें होना संगत नहीं अतः दर्शादि के प्रकरण में आये अपूर्वसाधनभूत व्रीहिराशि में ही उसका तात्पर्य है, इसलिये यह संगत है कि प्रक्रान्त दर्शाद्यपूर्व से प्रोक्षण का संबंध प्रकरण प्रमाण बोधित कराये। (किन्तु ज्ञान स्वप्रकरणस्थ होने से ऐसे सम्बद्ध नहीं समझा जा सकता।) ॥४२८-४२९॥

दर्शादियाग के प्रकरण में चार मुट्ठी अनाज का निर्वाप (= पाकादि) विहित है और व्रीहिरूप अनाज का प्रोक्षण भी वहाँ कहा है। दर्शादिमें जिस तैयार हवि की आहुति होगी वह बनेगी व्रीहि से और आहुति पड़ने से दर्शादि का अपूर्व पैदा होगा। अतः अपूर्व से साक्षात् संबंध है हवि का और हवि का उपादान है व्रीहि, इस तरह व्रीहि का अपूर्व से सम्बंध स्पष्ट

नापि वाक्येन संबन्धो जुहूपर्णमयीत्ववत् ।।४३०।।
जुह्वाद्यव्यभिचारित्वकर्मसंगतिकारणात् । विनाऽपि प्रक्रियां तेन कर्मोपस्थापयेद् ध्रुवम् ।।४३१।।
वाक्येनैवाभिसंबन्धस्तत्र तस्येति वर्णितम् । आत्मज्ञानं तु नैवं स्यान्न तत्प्रकरणे श्रुतम् ।।४३२।।
नापि चाव्यभिचारित्वमात्मनः कर्मणेक्ष्यते । तेनास्य कर्मसंबन्धो न मानेनोपपद्यते ।।४३३।।
एवं चाज्ञातपारार्थ्ये नार्थवादः फलश्रुतिः । पृथगेवाधिकारोऽतो यथोक्तज्ञानकर्मणोः ।।४३४।।

है। निर्वापविधि उसी व्रीहि की बात कर रही है अतः अपूर्वसम्बन्ध वाला व्रीहि प्रकृत है। प्रोक्षणवाक्य का व्रीहिशब्द सारी दुनिया के व्रीहि को कहे तो व्यर्थ भी है और उसका प्रोक्षण असंभव भी! अतः वह व्रीहिशब्द उस प्रकृत व्रीहिविशेष को ही कह सकता है जैसे 'ब्राह्मणों को भोजन कराओ' में ब्राह्मणपद निमंत्रित या उपस्थित ब्राह्मणों को ही कहता है। क्योंकि प्रोक्षण जिनका करना है वे व्रीहि उक्तविधया दर्शापूर्व से सम्बद्ध हैं इसलिये प्रकरण प्रमाण यह बता देता है कि प्रोक्षण भी दर्शादि-प्रधान-अपूर्व का ही शेष है। आत्मज्ञान यों कर्म के प्रकरण में है नहीं। किं च प्रोक्षण प्रयोजनाकांक्ष है अतः प्रकरण से नियुक्त हो सकता है, ज्ञान का प्रयोजन मोक्ष प्रसिद्ध हैअतः वह ऐसे नियुक्त हो भी नहीं सकता। ।।४२८-४२९।।

वाक्यप्रमाण भी ज्ञान को शेष नहीं कहता:

जुहू की पर्णमयता (पलाशकाष्ठनिर्मितता) की तरह वाक्यप्रमाण से भी ज्ञान कर्मशेष नहीं है। जुहू क्योंकि कर्म से अव्यभिचरित सम्बन्ध वाली है अतः प्रकरण के विना भी वाक्यप्रमाण से ही कर्म को उपस्थित कर देती है। पर्णता का कर्म से सम्बन्ध वाक्यप्रमाण से ही है ऐसा मीमांसाचार्यों ने वर्णित किया है।

किन्तु आत्मज्ञान ऐसा है नहीं; वह न कर्म के प्रकरण में पठित है और न ही आत्मा का अव्यभिचरित सम्बन्ध कर्म से है। अतः श्रुत्यादि प्रमाण से ज्ञान का कर्मसम्बन्ध पता चले यह असंगत है ।।४३०-४३३।।

जुहू यज्ञसे अन्य किसी काम आती नहीं अतः जुहू क्रतुको उपस्थित कर देती है और अपने उपादान पलाशका क्रतुसम्बन्ध समझा देती है कि जुहू के उपादानरूप से विहित पलाश से निर्मित होने पर यज्ञापूर्व उत्पन्न होगा, अतः पलाश से जुहूनिर्माण भी यज्ञांग है। यह श्लोक ३३४ में विस्तार से बता चुके हैं।

आत्मज्ञान प्रोक्षण और पर्णता दोनों से विलक्षण है। कर्तव्यभूत कर्म को आकांक्षा होती है इतिकर्तव्यता की- 'कैसे किया जाये?' इस आकांक्षा को पूरा करने वाला पदार्थ ही प्रकरण द्वारा सम्बद्ध होता है। ज्ञान 'कुछ करना' तो है नहीं कि उससे यज्ञका 'किया जाना' सम्भव हो। अतः प्रकरण से वह सम्बद्ध नहीं हो सकता। इसी तरह आत्मा सिर्फ कर्म से- उसमें भी श्रौत कर्म से ही- सम्बद्ध है नहीं कि 'आत्मा' सुनते ही यज्ञ याद आ जाये और प्रोक्षण की तरह ज्ञान भी यज्ञ का अंग बन जाये ।।४३०-३।।

कुमारिलभट्ट ने (श्लो० वा० सम्बन्धाक्षेप० १०४) कहा है कि ज्ञान क्योंकि अन्यशेष है इसलिये इसका जो फल कहा गया है वह प्रशंसामात्र है, सिर्फ ज्ञान से कोई फल नहीं होता। पूर्वोक्त विस्तृत विचार से उनकी मान्यता समूल उखाड़ दी गयी है। एवं च एकनियोगप्रयुक्ततादि की संभावना न रह जाने से भाष्योक्त संबंध से अन्य संबंध असिद्ध हैं यह निगमन करते हैं:

क्योंकि किसी प्रमाण से निश्चित नहीं होता कि आत्मज्ञान किसी कर्म का शेष है इसलिये उसका फल यथाश्रुत मानना होगा, अवास्तविक अर्थवाद नहीं मान सकते। अतः श्रुतिसंमत ज्ञान और कर्म के पृथक्-पृथक् अधिकारी ही हैं ।।४३४।।

'ब्रह्मवेत्ता परम-फल प्राप्त करता है' आदि (तै० २.९) फलवचन ही स्वीकार्य हैं सिर्फ प्रशंसा नहीं क्योंकि ज्ञान भी कर्म की तरह स्वतंत्र है ।।४३४।।

अर्थाक्षेपोऽपि योग्यस्य कर्तुर्भोक्तुश्च युज्यते । न तु विध्वस्तभेदस्य स्यादौपनिषदस्य सः ॥४३५॥
प्रत्यक्षवेदवचनप्रामाण्याद्याश्रयत्वतः । आदौ संन्याससंसिद्धेर्ऋणानीति ह्यपस्मृतिः ॥४३६॥

स्थूल देहादि से भिन्न आत्मा समझे बिना पारलौकिक प्रवृत्ति अनुपपन्न होने से ऐसे आत्मा की समझ, आत्मज्ञान, प्रवृत्ति का शेष है, यह भी नहीं बनता क्योंकि औपनिषद आत्मज्ञान में यह सामर्थ्य नहीं कि वह प्रवृत्ति का अंग बने। एवं च लिंग भी शेषता में हेतु नहीं:

प्रवृत्ति की अन्यथानुपपत्ति से यही प्राप्त करा सकते हैं कि स्थूलादि से भिन्न परलोकसंबंधी कर्ता-भोक्ता आत्मा की जानकारी हो। उपनिषत्समधिगम्य आत्मा तो सारे भेदों से रहित है, उसका ज्ञान प्रवृत्ति-अन्यथानुपपत्ति से प्राप्त कराया नहीं जा सकता ॥४३५॥

अर्थापत्ति का काम है उपपादक सिद्ध करना। औपनिषद आत्मज्ञान प्रवृत्ति का उपपादक है नहीं, बल्कि उसका विरोधी ही है अतः अर्थापत्ति उसे क्योंकर सिद्ध करने लगी ? ॥४३५॥

कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान की कर्मांगता से न सही, अन्य तरह से कर्म-ज्ञान समुच्चय संभव है: वेद (तै०सं० ६.३.१०) बताता है कि व्यक्ति तीन ऋणों से अधमर्ण है तथा उनसे उऋण होना चाहिये। मनु महाराज कह गये (मनुस्मृ० ६.३५) हैं कि तीनों ऋण चुकाकर ही मोक्ष में मन लगाये, नहीं तो अधोगति होगी। अतः ऋण चुकता करने के द्वारा कर्म ज्ञान का अंगभाव पाते हैं। यद्यपि इस मत से सहसमुच्चय नहीं सिद्ध होता तथापि यह नियम निकलता है कि मोक्षोपयोगी श्रवणादि जिस जन्म में हो उसी जन्म में कर्म भी हो चुके हों। किन्तु भाष्यकार को यह स्वीकार्य नहीं। ब्रह्मसूत्रों का (३.१. अधि० १६) भी यही निर्णय है कि कर्म की ज़रूरत चित्तशुद्धि के लिये है लेकिन श्रवणाधिकार वाले जन्म में ही कर्म अनुष्ठित हों ऐसा ज़रूरी नहीं। वेदान्तशास्त्र का प्रारंभिक ग्रंथ वेदांतसार आरंभ में ही 'इह जन्मनि जन्मान्तरे वा' कहकर यह व्यक्त करता है। अतः इस मत का निरास आवश्यक है:

प्रमाणभूत स्पष्ट वेदवचन आदि के आधार पर ब्रह्मचर्य से संन्यास की सिद्धि हो जाने से 'तीनों ऋण चुकाकर' आदि स्मृति को अपस्मृति समझना पड़ेगा ॥४३६॥

जाबालोपनिषत् (४.१) स्पष्ट कहती है 'ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ले, या गृहस्थावस्था से और या वानप्रस्थावस्था से।' अतः ऋण चुकाये बिना ब्रह्मचर्यावस्था से ही संन्यास ग्रहण करना ही मुख्य श्रौत पक्ष होने से उसी जन्म में ऋण चुकाने का नियम अमान्य है। श्रुति ने ऋणापाकरण कहा है, उसी जन्म में करना तो कहा नहीं, और विरक्त ने पूर्व जन्ममें अपाकरण कर लिया यह मानने में कोई विरोध है नहीं; इसलिये ब्रह्मचर्य से संन्यास मानने पर ऋणश्रुति का विरोध नहीं। किं च ऋणश्रुति अर्थवाद है अतः संन्यासविधि से दुर्बल है, इसलिये विरोध होने पर वही बाधित होगी, विधि नहीं। वस्तुतस्तु श्रुति तो अवदान-नामक कर्म की प्रशंसा में आयी है, स्वार्थ में तात्पर्य वाली है ही नहीं। ऐतरेयभाष्यभूमिका में आचार्य ने स्पष्ट किया है 'प्राग्गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेर्ऋणित्वाऽसम्भवात् ..., प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यापि ... इष्यत एव पारिव्राज्यम्'। अत एव विवरणाचार्य भी विचारपूर्वक (पृ. ४१८-१९) श्रुति को अर्थवादमात्र और मनुवचन को अपस्मृति कहते हैं। किन्तु मनुस्मृति को अपस्मृति तभी मानना पड़ेगा जब उसका यह तात्पर्य मानें कि एक ही जन्म में ऋण चुकाना ज़रूरी है। सिद्धान्ती का तो मानना है कि ऋणापाकरण सामान्यविधि है और ब्रह्मचर्य से संन्यास विरक्त को ही विषय करने से विशेषविधि है अतः दोनों के अधिकारी व्यवस्थित हैं। फिर भी वादी का अभिमान समाप्त करने के लिये उसे अपस्मृति कहना ज़रूरी है।

श्रुति का अनुसरण करते हुए बादरायण, आचार्य आदि इस बात को स्पष्ट करते हैं कि कर्तृतादि के संस्कार जितने कम पड़ें उतना ही चित्त ज्ञानप्राप्ति के अनुकूल हो सकेगा। अत एव ब्रह्मचर्य से संन्यास पर इतना बल है। ऋण चुकाने के बाद भी संन्यास संभव है लेकिन प्रायः ऐसा संभव होना दुर्लभ है क्योंकि गृहस्थ बनने के बाद विषयास्वादन विषयत्याग करने नहीं देता। यद्यपि ब्रह्मचर्य में पूर्ण वैराग्य के बिना संन्यास ग्रहण करना भी संभव है, ज़रूरी नहीं कि जो प्रथमाश्रमसे

न च केवलकर्मभ्यो मुक्तिर्युक्त्योपपद्यते । तथा च वक्ष्यते स्पष्टमतो मुक्तिर्न कर्मतः ॥४३७॥
न चैकात्म्यपरिज्ञानमभ्यासापेक्षमिष्यते । मुक्तये भावनार्थं वा तथा चोर्ध्वं प्रवक्ष्यते ॥४३८॥
स्वतोऽनुभवतः सिद्धेरैकात्म्याख्यस्य वस्तुनः । न स्यात्सांपादिकं ज्ञानमित्येतच्चापि वक्ष्यते ॥४३९॥

संन्यास ग्रहण करे वह अवश्य पूर्ण वैराग्यवान् हो, तथापि उसके चित्त की शुद्धि के लिये उसके आश्रमकर्म ही पर्याप्त हैं अतः उसे कोई हानि संभव नहीं। वे आश्रमकर्म निवृत्तिप्रधान होने से अकर्तृ-आत्मा के बोध के अनुगुण ही रहते हैं। लेकिन विवेक-प्रेरित यत्किंचिद् वैराग्य तथा शास्त्रश्रद्धा के बिना संन्यास ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि तब मोक्षार्थ प्रवृत्ति नहीं हो पाती। यदि ऐसा व्यक्ति बहिर्मुखी हो तब अवश्य अधोगति पाता है। किन्तु यदि बाह्येन्द्रियनिरोध रख भी ले तो मन-ही-मन दुःखी रहता है कि इहलोक-परलोक दोनों के भोगों से वंचित रह गया! अतः भाष्यादिकार स्पष्ट कहते हैं कि संन्यास है विरक्त के ही लिये ॥४३६॥

कोई साहसी कहे कि कर्मों की ज्ञानाधिकारानुप्रवेशिता का विचार तब होता जब ज्ञान मोक्षहेतु होता; मोक्ष का कारण तो कर्म है, जैसा भगवान् ने भी कहा हैं 'जनकादि ने कर्म से हीं संसिद्धि पा ली थी' (गी० ३.२०); अतः जिस तरह 'अपकीर्ति नहीं सुनता' यों वर्तमानकालिक प्रयोग में कही बात फल नहीं मानी जाती, सिर्फ पर्णमयता की स्तुति होती है, उसी तरह 'आप्नोति परम्', 'ब्रह्मैव भवति, 'अतिमृत्युमेति' आदि वर्तमानकालिक प्रयोग ज्ञान की प्रशंसा है, प्रमाण होकर उसका फल नहीं कह रहे। साहसी के इस प्रयास की रुकावट करते हैं:

यह युक्तिसंगत नहीं है कि सिर्फ कर्मों से मोक्ष हो जाये। यह विषय आगे (बृ० ३.३. श्लो० ११ आदि) विस्तार से समझायेंगे। अतः इसकी कोई आशा नहीं कि कर्म से मोक्ष होगा ॥४३७॥

वर्तमानापदेश से फल न कहा जाये ऐसा नियम नहीं। 'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति' (बृ० ६.१) 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' (छा० ८.१५) आदि बहुतेरी जगह वर्तमानप्रयोगकर फल बताया गया है। किं च ज्ञानफल विद्वानों को अनुभूयमान है अतः साहस मात्र से अपलाप के योग्य ही नहीं। मोक्ष कर्म से इसलिये संभव नहीं कि वह नित्य है, कर्म के चतुर्विध फलों में उसका अंतर्भाव नहीं। गीतावचन का तात्पर्य है कि कर्म से शुद्धि पाकर ज्ञान से मुक्ति जनकादि को मिली; कर्म से मोक्ष मानने पर 'कर्म, प्रजा, धन से मोक्ष नहीं मिलता' आदि श्रुति (कैवल्य०२) विरुद्ध हो जायेगी। अतः ज्ञान ही मोक्षोपाय है और ज्ञान न कर्म का शेष है और न ही ज्ञाननियोग कर्म में प्रवृत्त करता है ॥४३७॥

कुछ विचारक अग्निहोत्रादि कर्म को तो मोक्षहेतु नहीं मानते लेकिन केवल ज्ञान को भी मोक्ष के लिये पर्याप्त न मानकर विहित ज्ञानाभ्यास को मोक्षहेतु मानते हैं। उनके मत में ज्ञान हो जाता है अभ्यास का शेष। इस मान्यता का भी संक्षेप में निषेध कर देते हैं:

ऐसा भी नहीं है कि एकात्मता की अप्रतिबद्ध अनुभूति मोक्ष के लिये अभ्यास की अपेक्षा करे और न ज्ञान इसमें विनियुक्त है कि मोक्ष के लिये अभेद की भावना की जाये। आगे (बृ० ३.३) स्पष्ट करेंगे कि अन्य किसी सहारे के बिना ही ज्ञान मोक्ष देता है ॥४३८॥

एक मत अभ्याससहकृत ज्ञान को मोचक मानता है व दूसरा ज्ञानाभ्यास को। दोनों का निषेध इस वार्तिक में कर दिया। ज्ञानेतर कुछ भी अपेक्षित होने पर श्रुतिविरोध और मोक्षनित्यत्व विरोध होगा यही संक्षेप में समझना चाहिये।॥४३८॥

स्त्री में अग्निदृष्टि की तरह (छा० ५.८., बृ० ६.२.१३) उपनिषद्-जन्य आत्मज्ञान अप्रमारूप नहीं है कि मोक्षोपाय न हो:

एकात्मता नामक वस्तु ख़ुद ही अनुभव से सिद्ध होने से आत्मज्ञान सम्पदादिरूप नहीं है। यह भी विस्तार से सिद्ध करेंगे ॥४३९॥

अन्य आहुः पदार्थत्वात्प्रमाणान्तरगम्यताम् । आत्मनो नाऽऽगमात्सिद्धिर्व्रीह्याद्यन्यपदार्थवत् ॥४४०॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितः ।
विविच्यातः स्वमात्मानं प्रत्यभिज्ञानतस्तथा । माव्यापारसमाप्तत्वान्न भूयस्तदपेक्षिता ॥४४१॥
तद्वासनानिरोधेऽतः पुमाञ्श्रुत्या नियुज्यते ॥४४२॥
मनसो वा निरोधेऽसौ न तु वस्त्ववबोधने । मानान्तरेण तत्सिद्धेर्नाऽत्र व्याप्रियते वचः ॥४४३॥

'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य के विवरण में (१.४ श्लो० १२५५ आदि) विस्तार से कहेंगे कि औपनिषद आत्मज्ञान सम्पद्रूप नहीं है। समन्वयभाष्य में भी 'न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्पद्रूपं… न चाध्यासरूपं… नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तं… नापि… कर्मांगसंस्काररूपम्…।' आदि स्पष्ट किया है। अतः महावाक्य किसी उपासना का प्रतिपादन नहीं करते । वेदान्त प्रमाजनक हैं यह 'सर्वोप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः' इस भाष्यपंक्ति की व्याख्या में (श्लो० ५५३ आदि) सम्बंधग्रंथ में भी आयेगा।

वादी ने एक अनुमान बनाने की कोशिश की थी – उपनिषत् से जन्य होने के कारण आत्मज्ञान स्त्री में अग्निबुद्धि की तरह प्रमा नहीं है। इस प्रयोग को आचार्य ने सोपाधिक बताने के लिये आत्माद्वैत को ख़ुद ही अनुभव से सिद्ध कह दिया है: तात्पर्य है कि अध्यस्त विषयक ज्ञान प्रमा नहीं होता इतना ही कह सकते हैं, उपनिषत्से जन्य सभी ज्ञान प्रमा नहीं ऐसा कहना निराधार है। आत्माद्वैतरूप विषय अध्यस्त है नहीं यह आगे कहना ही है। समन्वयभाष्यमें भी 'यथा च 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः'…तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्।' अथवा ऐकात्म्य की आनुभविक सिद्धि विद्वत्प्रत्यक्ष का उल्लेख है। समन्वभाष्यमें ही पहले यह भी कह चुके हैं 'हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मावगमादेव सर्वक्लेशप्रहानात्पुरुषार्थ-सिद्धेः। …एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः…। …तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्।' तात्पर्य है कि अद्वैत बोध अविद्यानिवृत्तिरूप होने से तथा चिन्मात्र का बाध असंभावनीय होने से तत्त्वज्ञान को प्रमा से अन्य मानना निराधार है ॥४३९॥

एक अन्य ढंग है जिससे वादी काण्डद्वयसम्बंध स्थापित करता है: वेदान्तों में वासनाओं के या मन के निरोध का विधान है ही अतः वेदान्त तथा कर्मकाण्ड उसी विधान में तात्पर्य वाले हैं जिससे दोनों में एकनियोगशेषता है। यह मत उपस्थित किया जाता है।

अन्य लोगों का कहना है : क्योंकि आत्मा किसी पदका अर्थ है इसलिये वह आगम से सिद्ध नहीं होता, अन्य प्रमाणों से सिद्ध होता है जैसे धान आदि अन्य पदार्थ। आत्मा का अनुगम और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का व्यभिचार समझने पर निजात्मा का विविक्त ज्ञान हो जाता है तथा 'जो सोया था वही मैं जगा हूँ' इस प्रत्यभिज्ञा से आत्मा की एकता भी पता चल जाती है। प्रमा का काम इतना ही है कि विषय का स्फुरण हो जाये या उसका अज्ञान हट जाये। यह काम जब उक्त प्रत्यभिज्ञादि से संपन्न हो ही चुका तब उसी के लिये शास्त्र की ज़रूरत पड़ेगी नहीं। अतः 'वाणी का मनमें निरोध करे' (कठ० १.३.१३) आदि वेदवाक्य अधिकारी पुरुष को जाग्रदादि अवस्थाओं की वासनाओं का निरोध करने में या मन का निरोध करने में नियुक्त (=प्रेरित) करते हैं। वेदान्तवाक्य वस्तु का ज्ञान कराने में तो व्यापृत नहीं हैं क्योंकि ज्ञान अन्य प्रमाणों से ही उपलब्ध हो जाता है ॥४४०-४४३॥

वादी का मानना है कि शब्दार्थ अवश्य शब्देतर प्रमाण का विषय होगा अतः धान, तिल आदि की तरह शब्द उसका अनुवादक ही हो सकता है, उसमें प्रमाण नहीं क्योंकि प्रमाणान्तर के अविषयीभूत अर्थ में ही शब्द प्रमाणभाव से प्रवृत्त होता है। द्वितीयसूत्रभाष्य में ब्रह्म जगत्कारणतया अनुमेय होने से प्रमाणान्तरगम्य है अतः शास्त्रीय कैसे – इस प्रश्न का उत्तर दिया कि इंद्रियों का विषय न होने से ब्रह्मसंबंधी हेतु का ग्रहण संभव नहीं कि ब्रह्म अनुमेय (या प्रमाणांतरगम्य) हो सके। किन्तु ब्रह्म क्योंकि पदका अर्थ है इसलिये प्रमाणान्तरविषय होना चाहिये यह वादी कहकर उक्त भाष्य पर भी कटाक्ष कर रहा है।

स्वयंज्योतिःस्वभावत्वान्निरुद्धस्वान्तवासनः । प्रमान्तरानपेक्षोऽपि स्वयमात्मा प्रकाशते ।।४४४।।
एवं कार्यमुखेनैव ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत् । वेदान्तानां प्रमाणत्वं नाक्षवद्वस्तुनीष्यते ।।४४५।।
वासनामात्रहेतुत्वादात्मनोऽनर्थसंगतेः । अन्योपाये सत्यसति निरोधादेव मुक्तता ।।४४६।।

आत्मा का पता चले कैसे? इस पर उसने तरीका बताया : अवस्थात्रय आपस में और आत्मा के व्यभिचारी हैं तथा साक्ष्य (ज्ञेय) हैं जबकि आत्मा अव्यभिचारी और साक्षी है – इस विवेचन से अनात्मा से पृथक् किया आत्मा पता चलता है। ऐसे ही प्रत्यभिज्ञासे अविकारी एक आत्मा जाना जा सकता है, 'बाल्यादिष्वपि' आदि दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में यह स्पष्ट है तथा इससे पूर्व 'राहुग्रस्त' आदि में मुखतः कहा है। इस प्रकार शास्त्र के बिना जो समझ आ सके उसके लिये शास्त्र को क्यों लगाना? ऐसा करने पर शास्त्र अनुवाद रह जायेगा। अतः शास्त्र आत्मा का बोध नहीं करता बल्कि कुछ विधान करके सफल है। विधान है वासनाओं के या मन के निरोध का ।।४४०-४४३।।

यदि सिद्धान्तानुयायी शंका करे कि शास्त्रेतर प्रमाण का विषय हो तो घट की तरह अनात्मा हो जायेगा अतः आत्मा शास्त्रैकगम्य है? तो वादी जवाब देता है :

जब अपने मन की वासनायें निरुद्ध हो जाती हैं तब किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा किये बिना भी आत्मा स्वयं भासने लगता है क्योंकि वह स्वभाव से ही स्वयंप्रकाश है, चेतन है ।।४४४।।

यह ठीक है कि अनुयायिप्रोक्त युक्ति से प्रत्यभिज्ञादि-शास्त्रेतरप्रमाणसापेक्षता आत्मा में नहीं लेकिन यह भी उचित नहीं कि अपनी प्रतीति के लिये आत्मा को शास्त्र की अपेक्षा हो क्योंकि तब आत्मा वैसे ही अनात्मा हो जायेगा जैसे घट! अतः यही मानना चाहिये कि विवेकादि से जिसने मन की सारी वासनायें हटा ली हैं उसे चित्स्वभाव आत्मा ख़ुद-ब-ख़ुद भासता है क्योंकि न भासने में कोई कारण नहीं बच गया है।

यद्यपि ये बातें मीठी लगती हैं, तत्र तत्र सिद्धान्ती के भी ऐसे वचन मिलते हैं, तथापि अंतर है कि सिद्धान्ती शास्त्रैकसमधिगम्य आत्मस्वरूप का प्रकाश शुद्ध चित्त में होता है ऐसा मानता है जबकि वादी आत्मा को शास्त्रसमधिगम्य नहीं मान रहा। अन्वयव्यतिरेकादि से आत्मा का कोई निश्चित रूप समझा नहीं जा सकता, अत एव सभी दर्शन आत्मस्वरूप में विमतियाँ रखते हैं। अवान्तरतात्पर्य से आत्मस्वरूप को शास्त्रीय मानने पर भी आत्मज्ञानमात्र से मोक्ष न होने पर मोक्ष को अनित्य स्वीकारना होगा जो श्रुति-युक्ति दोनों के विरुद्ध है। समन्वयसूत्र के द्वितीय वर्णक में इस पर विचार है ही। अतः प्रकृत वादी की बात मान ली जाये तो न आत्मस्वरूप का अवधारण होगा और न मोक्ष ।।४४४।।

विधिनिष्ठतया ही वेदान्तप्रामाण्य है, वस्तुपरतया नहीं:

इस प्रकार ज्योतिष्टोमादि वाक्यों की तरह कार्यद्वारा ही वेदांतों की प्रमाणता है। जैसे आँख रूपवस्तु में प्रमाण है ऐसे वेदान्त किसी सिद्ध वस्तु में प्रमाण नहीं ।।४४५।।

स्वाध्यायविधि समूचे वेद का ग्रहण कराती है अतः वेदांत को सफल होना पड़ेगा अन्यथा निष्फल-ग्राहक होने पर स्वाध्यायविधि अप्रमाण होकर कर्मकाण्ड भी ग्रहण नहीं करायेगी। अतः वेदान्त समाधिकर्तव्यता में तात्पर्य वाले स्वीकार्य हैं, इससे वे कार्यपरक होने से सफल हो जायेंगे। जब वेदान्त उक्त कार्य में शेष हो गये तब वे सिद्ध वस्तु में क्योंकर प्रमाण होने लगे? आँख तो किसी की शेष नहीं है इसीलिये वस्तु में प्रमाण हो जाती है। आत्मा अन्यान्य प्रमाणों का विषय है यह कह ही चुके हैं और स्वप्रकाश होने से वह प्रमाणापेक्ष हो सकता भी नहीं। अतः वेदान्त नियोगनिष्ठ ही हैं ।।४४५।।

निरोधकर्तव्यता के शेष हैं वेदांत इसमें वादी हेतु देता है:

आत्मा का दुःखादि-अनर्थ से सम्बन्ध केवल वासनाओं के कारण है अतः मोक्ष का अन्य कोई सदुपाय न होने से यही सिद्ध होता है कि निरोध से ही मोक्ष होता है ।।४४६।।

सम्भाव्यं नानपेक्षत्वं नियोगविरहात्क्वचित् । शब्दप्रवृत्तेः सिद्धे च न नियोगस्य सम्भवः ॥४४७॥
न च वस्तुनि मानत्व उदाहरणमिष्यते । विधिर्गुणार्थस्तस्यापि व्यापारविषयत्वतः ॥४४८॥

वादी का अभिमान है कि जीवन्मुक्ति नहीं होती। अतः विद्वान् में भी संसरण मानकर वह अविद्यानिवृत्ति की जगह वासनानिवृत्ति से मोक्ष मानता है। सुषुप्ति में वासनायें व्यक्त न रहने पर बंधन भी स्फुट नहीं रहता। अतः वासनानिरोध से मोक्ष संगत है। वही निरोध विधेय है। श्रवणादिमात्र से हुआ ज्ञान मोक्ष के लिये पर्याप्त है नहीं अतः जहाँ कह भी देते हैं कि ज्ञान से मोक्ष होता है वहाँ ज्ञान-शब्द वासना-निरोध को ही कहता है, उस निरोध में ज्ञान उपकारक बनता है अतः उसे ज्ञान कह देते हैं। ऐसा नहीं है कि निरोध-विधि ज्ञान के लिये हो: वह तो मोक्ष के लिये है। बल्कि ज्ञान ही निरोध के लिये अपेक्षित है ॥४४६॥

निरोधविधि के शेष होने से ही वेदांत प्रमाण है:

लोक में व वेद में प्रयोग किया जाता शब्द नियोग के बिना निराकांक्ष प्रमाण नहीं होता और सिद्धवस्तुविषयक नियोग संभव है नहीं (अतः वेदान्त प्रमाण होने के लिये विधिसम्बद्ध ही संभव हैं) ॥४४७॥

अज्ञात अर्थ बताये तभी शब्द प्रमाण हो और सिद्ध वस्तु प्रत्यक्षादिगम्य होती है, शब्द तो उसकी स्मृति ही करा पाते हैं। नित्य ही साध्यरूप जो क्रिया है– नियोग है – उसे बताने पर ही शब्द नवीन अर्थ कह सकता है। अतः प्रमाण होने के लिये वह अवश्य कार्य को बताता है। जब तक कार्यसंबंध न हो तब तक शब्द साकांक्ष बना रहेगा और साकांक्ष वाक्य प्रमाण नहीं माना जाता। नियोग का विषय भावार्थ या क्रिया ही होती है क्योंकि वह नियोग का करण है, संपादक है। सिद्ध वस्तु से नियोग निष्पन्न हो नहीं सकता। इसलिये नियोगशेष वेदांत सिद्धरूप परमात्मा का बोध कराने मात्र से प्रमाण माने नहीं जा सकते ॥४४७॥

गुणविधि भी सव्यापार गुण का विधान करती है, न कि क्रिया से असम्बद्ध गुण का, अतः उस दृष्टांत से भी आत्मा वेदान्तार्थ संभव नहीं:

गुणविधान के प्रयोजन वाली विधि भी व्यापाररहित गुण को विषय नहीं करती, अतः केवल वस्तु में प्रमाण हो ऐसा कोई उदाहरण मिलता नहीं ॥४४८॥

मीमांसा में (२.२ अधि १०) विचार आया है: 'इन्द्रियों की पुष्टि चाहने वाला दधि से होम करे' ऐसी विधि है जो अग्निहोत्रप्रकरण में मिलती है। जिज्ञासा होती है कि दधिसाधनक कोई विलक्षण कर्म विहित है या प्रकृत अग्निहोत्र में फलविशेष के साधनरूप से दधिरूप गुणमात्र विहित है। वहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि फल तो कर्म से ही होना चाहिये अतः प्रकृत अग्निहोत्र से अन्य कर्म की विधि मानो। किं च 'जुहुयात्' सुना जा रहा है इसलिये दधिहोम से इंद्रियफल होगा इसमें श्रुति प्रमाण है जब कि सिर्फ दधि से फल होगा यह वाक्य प्रमाण से – शेषशेषी के समभिव्याहार से–पता चलेगा। वाक्य से श्रुति तो बहुत प्रबल है। अतः श्रौत होने से होम की विधि अर्थात् कर्मांतर मान्य है। इस पर मीमांसासिद्धान्त यह स्थापित हुआ है: उक्त विधि कर्मांतर का विधान नहीं कर रही किन्तु प्रकृत अग्निहोत्र में दधिगुण का इन्द्रियफल के लिये विधान कर रही है। प्रकृत अग्निहोत्र की विधि में कोई साधनविशेष कहा है नहीं अतः वाक्यान्तर से साधनमात्र कहा जाना उचित है, चाहे फलविशेष के लिये भी साधन कह दिया जाये। यदि इंद्रियरूप फल न कहा होता तब दधि को प्रकृत अग्निहोत्रहोम के लिये विधेय गुण मानना ही था। अतः फल बताने से गुणविधिता में अंतर नहीं आयेगा। वेद कहीं कर्म से और कहीं गुण से फल बता देता है। इसलिये प्रकृत कर्म में इन्द्रियफलार्थ दधिगुण की विधि ही मान्य है।

इसके आधार पर शंका थी कि जैसे सिर्फ दधि में विधितात्पर्य है ऐसे सिर्फ आत्मा में क्यों न हो, सिद्ध में नियोग असंभव कैसे कहा? समाधान है कि उक्त गुणविधि दधिस्वरूपमात्र में पर्यवसित है नहीं, छींके में टँगे दही से इन्द्रियपुष्टि होगी ऐसा तो विधि कह नहीं रही! दही का होमा जाना ही इष्ट है। गुणविधि भी होमादि व्यापार से विशिष्ट गुण को विषय

किञ्चानुभूयमानस्य ह्यर्थस्य पुरुषार्थता । सर्वत्र गम्यते वेदे नानुभूतेः कथंचन ।।४४९।।
ततश्च प्रतिभामात्रं शब्दादिति न मानतः । प्रतीयमान एवातः पुरुषार्थः प्रसिद्धितः ।।४५०।।
अप्युपादीयमानं च सिद्धं वस्तु न कर्मणि । पुमर्थं साधयद्दृष्टमनिर्ज्ञाताङ्गभावकम् ।।४५१।।

करती है। अतः क्रिया से असंबद्ध सिद्ध वस्तु को वेद बताये इसमें कोई दृष्टांत नहीं ।।४४८।।

और भी कारण है कि सिद्धमात्र में वेद का तात्पर्य नहीं:

लोक में सर्वत्र देखा गया है कि अनुभूति का विषयभूत लड्डू आदि पदार्थ ही जीवों को प्रार्थित होता है अतः वेद में भी ऐसा ही मानना होगा। अनुभूति-मात्ररूप आत्मा में प्रार्थनीयता किसी तरह संभव नहीं ।।४४९।।

लोग चीज़ें चाहते हैं। सुख भी ऐसा चाहते हैं कि 'मुझे हो और ज्ञायमान हो'। अज्ञेय सुख कौन चाहता है? वेद का तात्पर्य भी सफल में ही होता है। स्वप्रकाश आत्मा का ज्ञान – अथवा स्वप्रकाश आत्मरूप ज्ञान – सफल नहीं मान सकते क्योंकि वहाँ कोई ज्ञेय है नहीं। 'आत्मा का ज्ञान' कहने पर भी आप शांकर लोग आत्मा को ज्ञेय – विषयतया व्याप्य –मानते नहीं। ज्ञेय के बिना भी वैदिक ज्ञान सफल माना जाये, यह उचित नहीं क्योंकि यथासंभव लोकानुरूप ही वैदिक भी व्यवस्था होती हैं। अतः किसी सफल नियोग का शेष होकर ही उपनिषदें प्रमाण हैं, स्वतः नहीं। निरोधक्रिया मोक्षसुख देगी यह मानने में लोकन्याय का विरोध नहीं क्योंकि क्रिया से फल लोकसिद्ध है ।।४४९।।

शास्त्र में कहीं-कहीं विज्ञान को आनंद कहकर (बृ० ३.९.२८) विज्ञानमात्र को अभिलषणीय सूचित किया है किन्तु लोकविरोधवश वे वाक्य प्रमाजनक नहीं हो पाते, आपाततः एक संभावनामात्र उपस्थित करते हैं:

क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि प्रतीतिविषय ही पुरुषार्थ (=अभीष्ट) होता है इसलिये 'विज्ञानमानन्दम्' आदि शब्दों से कोई प्रमा नहीं होती, ज्ञानमात्र होकर रह जाता है ।।४५०।।

अयोग्यतानिश्चय शाब्दधीमात्र नहीं रोकता, शाब्दप्रमिति का ही प्रतिबंधक होता है, अत एव 'यह कैसी अटपटी बात कह रहे हो!' इत्यादि प्रतिवचन संभव है। ऐसी शाब्दधी ही 'विज्ञानमानन्दम्' आदि से होती है, यह वादी का अभिप्राय है क्योंकि वह विज्ञानमात्र की पुरुषार्थता-अयोग्यता स्वीकार रहा है। अतः उसके मत में नियोग या नियोगशेष ही साधनतया अभिलषित हो सकते हैं ।।४५०।।

कोई पूछ सकता है कि जब शब्द से अनुभूतिरूप सिद्धवस्तु की पुरुषार्थता 'विज्ञानमानन्दम्' आदि में सुनाई दे रही है तब शब्द साध्यार्थक ही होता है ऐसा नियम क्यों मानना? वादी इसका जवाब देता है:

वेद से समझी जाती भी सिद्ध वस्तु जब तक श्रुत्यादि प्रमाणों द्वारा कर्मांगरूपसे न समझी जाये तब तक वह पुरुषार्थ-साधक नहीं बनती (अतः सिद्धमात्र में शब्दतात्पर्य नहीं होता) ।।४५१।।

अर्थात् शब्द से सिद्धवस्तु की पुरुषार्थता तब तक नहीं पता चलती जब तक वह कर्मशेष न पता चले। इसलिये पूर्वोक्त नियम ही संगत है।

कल्पलतानुसार पुरुषार्थभूत नियोग के अंगरूप से ही अनुभूति को पुरुषार्थ क्यों न माना जाये? इसके उत्तरमें वार्तिक आया है कि कर्मांगरूप से न समझी वस्तु पुरुषार्थ नहीं दे सकती। दधि आदि भी जो फलप्रद होते हैं वह केवल अनुष्ठीयमान होने से नहीं वरन् अंगत्वेन ज्ञायमान होते हुए अनुष्ठीयमान होने से! अतः पुमर्थसाधनता में दोनों चाहिये – अनुष्ठीयमानता व ज्ञातांगभावता ।।४५१।।

तो क्या आपके मत में विधिशेष होने से पुरुषार्थ होने के कारण आत्मा शब्द-प्रमाण से सिद्ध है? वादी कहता है कि ऐसा भी नहीं है:

अनुपादीयमानश्च न च ज्ञाताङ्गभावकः । आत्मा चेन्नास्य शेषत्वं विधिं प्रत्युपपद्यते ॥४५२॥
उपासीत स्वमात्मानमिति साक्षाद्वचःश्रवात् । तत्राङ्गभाव इति चेन्मत्पन्थानं भवानितः ॥४५३॥
क्रियाविधिपरत्वेन प्रामाण्यं वचसः स्थितम् । इति व्याचक्षते केचिन्नियोगार्थैकरागिणः ॥४५४॥
नैतत्साध्वभ्यधाय्युच्चैर्नियोगविरहादपि । कामितार्थस्य संसिद्धेर्लौकिकादेव मानतः ॥४५५॥
तद्भावभावतो लिङ्गाद्वासनैकसमाश्रयात् । ज्ञातोऽनर्थेन संबन्ध आत्मनो न तु वास्तवः ॥४५६॥

(स्वप्रकाश अनुभवस्वभाव होने के कारण) आत्मा वेद से अवगम्यमान भी नहीं है और न ही श्रुत्यादिद्वारा आत्मा की कर्मशेषता पता चलती है। अतः यह विधिशेषरूप से पुरुषार्थ हो यह भी प्रमाणसिद्ध नहीं है ॥४५२॥

निरोधविधि का शेष आत्मज्ञान भले ही हो, आत्मा नहीं। अतः आत्मा न पुरुषार्थ है और इसीलिये शास्त्रका अर्थ भी नहीं है। वादी को भय है कि आत्मा में यदि शास्त्र प्रमाण मान लिया तो शास्त्र जैसा आत्मा बताता है वैसे आत्मा की प्रमा हो जायेगी और तब कर्मप्रवृत्ति निरुद्ध हो जायेगी क्योंकि सारी प्रवृत्ति तभी तक है जब तक आत्मा के बारे में ग़लत फ़हमी है, वह कर्ता-भोक्ता माना जा रहा है। अतः वह आत्मवस्तु में शास्त्र को प्रमाण नहीं सिद्ध होने देना चाहता ॥४५२॥

यदि 'आत्मानमुपासीत' (द्रष्ट बृ० १.४.८) आदि वाक्य से आत्मा को उपासनाकर्म का शेष मानो तो सिद्धवस्तु में शास्त्र प्रमाण है यह मान्यता जाती रहेगी – ऐसा पूर्ववादी समझाता है :

यदि कहो कि 'निज आत्मा की उपासना करो' आदि स्पष्ट वाक्य सुनाई देने से आत्मा उपासनानियोग का अंग है; तब तो आप भी हमारे ही रास्ते चल दिये! यही तो हम मानते हैं कि क्रियाविधि में तात्पर्य वाला होने पर ही वचन प्रमाण होता है।

(श्लोक ४४० से यहाँ तक) इस प्रकार शास्त्रव्याख्या वे लोग करते हैं जिन्हे इसमें राग है – आग्रह है – कि शास्त्र सिर्फ़ नियोगार्थक है ॥४५३-४५४॥

तात्पर्य है कि आत्मा की शास्त्रीयताके लोभ से उसे कर्मशेष मानने पर 'मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं किं न पश्यसि!' उक्ति चरितार्थ होगी क्योंकि निरोधविधि में शेषभूत होने पर उसी विधि में शेषभूत हुए कर्मों से समुच्चय ही स्वीकारना अनिवार्य होगा ॥४५३-४५४॥

श्लोक ४४६ में जो यह प्रतिज्ञा पूर्ववादी ने की थी कि निरोध से ही मोक्ष होता है, उसका खण्डन करना आरंभ करते हैं और वेदान्तों की नियोगशेषता के मत का तिलशः निषेध करते हैं :

निरोधविधि के समर्थक आप पूर्ववादी ने ऊहापोह से जो यह कहा कि निरोध से मोक्ष होता है, वह कहना सुतरां ग़लत है क्योंकि आपको इष्ट अर्थ है 'वासनानिरोध से मोक्ष है' और इतनी बात विधि के बिना भी लौकिक प्रमाणों से पता चल जाती है ॥४५५॥

जैसे वादी ने आत्मा को प्रमाणान्तरगम्य कहकर वेदार्थ नहीं माना था (श्लो०४४४-५) वैसे उसे उक्त नियोग भी अमान्य करना होगा क्योंकि निरोध से मोक्ष होता है यह जानकारी बिना वेद के भी मिल जाती है ॥४५५॥

अनर्थ, पुरुषार्थ और दोनों के कारण कैसे पता चलते हैं यह दिखाते हैं:

आत्मा का अनर्थ से सम्बन्ध वास्तविक अर्थात् स्वाभाविक तो है नहीं क्योंकि 'उसके होने पर होगा, न होने पर न होगा'-रूप अन्वय-व्यतिरेकात्मक लिंग केवल वासनाओं का व्यापक है (आत्मा का नहीं)। अतः अनर्थहेतु वासना हैं यह बिना श्रुति के समझ आ जाता है ॥४५६॥

अनर्थ है प्रमाता बनना आदि क्योंकि उसीसे सारे दुःख हैं। अद्वैतसिद्धिमंगल में ही – और प्रकृत वार्तिक की आनंदगिरिटीकाके मंगल में भी – यह बात मुखतः कह दी है। प्रमातृतादि प्रपंच तभी होता है जब जाग्रदादि-वासनायें

तस्मात्संसारसंबन्धनिदानस्य प्रसिद्धितः । लिङ्गादेव ततस्तस्य ध्वंसेऽनर्थो निवर्तते ॥४५७॥
अन्तरेणापि वचनं बौद्धादेरिव सिद्धितः । मोक्षस्य पुरुषार्थस्य वचोऽतो निष्फलं भवेत् ॥४५८॥

प्रकटरूप से विद्यमान हैं। और जब वे विद्यमान नहीं होती तब उक्त प्रपंच भी रहता नहीं। अतः प्रकटरूप से विद्यमान वासनाओं का और अनर्थ का ही सम्बंध स्पष्ट है। वासनाओं के न रहने पर भी आत्मा तो रहता ही है लेकिन तब अनर्थ नहीं मिलता, अतः अनर्थ को आत्मा से निरुपाधिक सम्बन्ध वाला नहीं कह सकते। अनर्थ को अनात्मस्वभाव का -वासनाओं का - अनुसरण करने वाला ही समझना पड़ेगा। वासना-विशेष और अनर्थविशेष का अन्वयव्यतिरेक तो जाग्रत् में ही मिल जाता है; जिसे जिस पदार्थ की वासना नहीं वह उस पदार्थ से कष्ट का अनुभव नहीं कर पाता। दण्डादि सिर पर पड़ने से दुःख भी इसीलिये होता है कि हमें यह वासना है कि अमुक स्पर्श दुःख या अनिष्ट होता है। अत एव लकवे के रोगी को दण्ड से यदि चोट लगे तो बड़ा ख़ुश हो जाता है! सारी वासनाओं से - उनकी उद्भूत स्थिति से - रहित है सुषुप्ति दशा, वहाँ पूर्ण आनंद ही होता है, कोई अनर्थ नहीं भासता। इस प्रकार वासना से अनर्थ अनुभवसिद्ध भी है और उक्त अन्वयव्यतिरेक से अनुमेय भी क्योंकि जो जिसके होने पर हो, न होने पर न हो, वह उसी का अनुसरणकर्ता माना जाता है जैसे ऊष्मा और वह्नि। वासना रहते अनर्थ होना, वासना न रहने पर अनर्थ भी न होना - इस हेतु से निश्चित हो जाता है कि अनर्थ वासनाओं के सहारे ही टिका है।

अथवा, वासनाओं का एकमात्र आश्रय जो लिंगदेह उसी के कारण आत्मा का अनर्थ से सम्बन्ध होता है, वस्तुतः नहीं, यह बात 'तत्सत्त्वे सत्त्वं तदभावेऽभावः' इस नियमदर्शन से निश्चित होती है - यह अर्थ है। तार्किकादि आत्मा को ही संस्काराश्रय मानते हैं अतः ज़रूरी है बताना कि संस्कार आत्मा में नहीं रहते, अन्यथा संस्कारहेतुक अनर्थ बताना व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि तब भी वह आत्मा में वास्तविक ही रहेगा ॥४५६॥

अनुभव और अनुमान से ज्ञात होने पर यह बात शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकती यह स्पष्ट करते हैं:

अतः उक्त अनुभूति और हेतु से ही संसारसम्बन्ध का कारण पता चल जाने से इस विषय में वेदवचन निष्फल होगा। (हेतु न रहने पर कार्य नहीं रहता-इस) लौकिक न्याय से ही यह भी पता चल जाता है कि वासनायें ध्वस्त हो जाने पर अनर्थ निवृत्त हो जाता है। इसलिये जैसे बौद्धादि को वेदवचन से निरपेक्ष ही मोक्ष और उसके हेतु का पता चल जाता है वैसे ही निरोध को ही मोक्षोपाय मानने पर तुम्हे चल जायेगा। क्योंकि यह बात अज्ञात नहीं रहेगी इसलिये इसे बताने वाला वेदवचन निष्प्रयोजन होगा ॥४५७-४५८॥

वादी भी यह तो मानता ही है कि अन्य प्रमाण से लभ्य विषय में वेद प्रमाण नहीं होता, इसी से तो उसने आत्मा में वेद प्रमाण नहीं स्वीकारा था। अतः लिंगादि से अनर्थ हेतु व उसकी निवृत्ति का हेतु पता चलने पर वह यह नहीं मान सकता कि वेद बताता है कि अनर्थ क्यों है और उससे छुटकारा कैसे होगा। तथा यदि वेद यह नहीं बता सकता तो निरोध विधि ही सिद्ध नहीं होगी! नियमाद्यर्थक मानने पर मोक्ष को दृष्टफल नहीं मान सकते क्योंकि जैसे तुषविमोक रूप दृष्टफल में अवहनन तथा अश्मकुट्टनादि की उपायता तुल्य ही होती है, अंतर नियमादृष्ट की उत्पत्ति-अनुत्पत्ति का ही रहता है, वैसे नियोग के बिना किये निरोध से भी दृष्ट मोक्ष तो स्वीकारना ही पड़ेगा। किं च दृष्ट उपायान्तर भी मानने पड़ेंगे क्योंकि उपायान्तर न होने पर नियमादि भी व्यर्थ होंगे। अदृष्टफल मानने पर तो स्वर्गविशेष स्वीकारने की बात होगी, मोक्ष की नहीं।

केवल अनर्थ-वासना का संबंध ही दृष्ट हो, अनर्थनिवृत्ति व निरोध का नहीं, ऐसा भी नहीं है क्योंकि समाधि से वासनानिरोध और अनर्थराहित्य भी नियतसम्बन्ध वाले मालूम पड़ जाते हैं। कारण मिटाने से कार्य नहीं रहता यह लोकन्याय तो प्रसिद्ध ही है। अत एव बौद्धादि नास्तिक भी वासनानिवृत्ति आदि के लिये समाधि आदि का अभ्यास करते हैं तथा बिना वेदानुसरण किये मोक्ष के उपाय का प्रचार करते हैं। यदि निरोध ही मोक्षोपाय है तब बौद्ध का क्या अपराध? और बौद्ध ही जब मोक्षोपाय बता रहा है तब उसके लिये वेद क्योंकर व्यापार करने लगा? तात्पर्य है कि वासना को अनर्थहेतु और

व्यतीतानेकजन्मोत्थवासनानामनन्ततः । तासां निरोधोऽसंभाव्यो जन्मन्येकत्र मानवैः ।।४५९।।
साक्षादात्मावबोधेन प्रत्यग्ध्वान्तच्छिदा न चेत् । दुःखादिभावना ध्वस्ता कथं तद्भावना नुदेत् ।।४६०।।
नियोगवर्त्मना चेयं यथा मुक्तिर्न सिध्यति । स्पष्टेन न्यायमार्गेण वक्ष्यामोऽवसरे तथा ।।४६१।।
न पदार्थो न वाक्यार्थ आत्माऽयं वस्तुतो यतः । तत्प्रत्याख्यानश्रुत्यैव तद्याथात्म्यावबोधनात् ।।४६२।।

निर्वासनता को मोक्षहेतु मानने पर मोक्षोपायप्रतिपादन वेद का विषय नहीं माना जा सकने से वादी की इष्टसिद्धि असंभव है ।।४५७-४५८।।

श्लोक ४४२ में कहा था कि वासनानिरोध की विधि है। उस पर प्रश्न होता है कि क्या अतीत वासनाओं का निरोध करना है, या भावी का, या वर्तमान वासनाओं का? वर्तमान वासनाओं के निरोध की विधि व्यर्थ हैं क्योंकि ये वासनायें यहीं जायमान दीख रही हैं अतः इनका निरोध बिना विधि के भी प्राप्त है। भावी वासनायें तो प्राप्त ही नहीं कि उनके निरोध का विधान मान सकें। अतः भूतकालिक वासनाओं का निरोध ही विधेय मानना होगा और वह अशक्य होने से अविधेय है:

बीते अनेक जन्मों में उत्पन्न वासनायें अनन्त होने के कारण एक जन्म में उनका निरोध मानवों से किया जाना संभव ही नहीं (कि उसका विधान शास्त्र करे) ।।४५९।।

शक्य का ही विधान होता है, अतएव सहस्र संवत्सरयागादिमें संवत्सरशब्द दिनपरक माना गया है (जै०न्या०मा० ६.७.१३)। एक तो भूत वासनायें हैं बहुतेरी, उस पर वे अवर्तमान होने से पता भी नहीं चल सकती। अतः उनका निरोध मनुष्य कैसे करे? मुनष्येतर तो शास्त्राधिकारी है नहीं कि उस प्रजापत्यादि के लिये निरोधविधि हो! ।।५५९।।

और भी विचारणीय है कि वासनानिरोध में कारण कौन बनेगा - ज्ञान, ज्ञानाभ्यास या ज्ञानाभ्यासविषयक नियोग? तीनों पक्ष ठीक नहीं:

साक्षात्काररूप आत्मानुभव से यदि प्रत्यगात्मा के अज्ञान का विनाश न हो तो दुःखादिवासनाओं से ध्वस्त की हुई ज्ञानाभ्यास-वासनायें कार्य समेत अज्ञान को कैसे नष्ट करेंगी? यह निर्विषय कैवल्य नियोग के सहारे सिद्ध नहीं हो सकता यह उपपत्तिपूर्वक आगे स्पष्ट करेंगे ।।४६०-४६१।।

यदि वासनानिरोध भी साक्षात्कार को द्वार बनाकर मोक्षहेतु हो तब तो सिद्धान्तानुसारी बात होगी लेकिन उस पक्ष में वासनानिरोध ही मोक्ष में पर्याप्त नहीं रहेगा, आत्मज्ञान स्वीकारना पड़ेगा। यदि यह मानो कि ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति होने पर वासनानिरोध अर्थसिद्ध है, तब भी सिद्धान्त से विरोध नहीं क्योंकि तब निरोध फल होने से विधेय नहीं रहेगा। यदि ज्ञान को अज्ञान और वासनाओं का नाशक न मानकर ज्ञानभावना - ज्ञानाभ्यास से हुई वासना - को वासनानिरोधक मानो तब असंभव है। दुःखादि अनर्थ की वासना अनादि, असंजातविरोधी होने से प्रबल है, वही ज्ञानवासना को ध्वस्त कर देगी तो ख़ुद बाधित हुई ज्ञानभावना कैसे अनर्थवासना को हटा पायेगी? नियोगवश मोक्ष संभव नहीं यह श्लोक ७६१ आदि में बतायेंगे ।।४६०-४६१।।

निरोध से मोक्ष नहीं यह समझा चुके। श्लोक ४४० में शंका उठी थी कि आत्मा पदार्थ होने से शास्त्रेतर प्रमाण का विषय होना चाहिये; उसका समाधान करते हैं :

यह आत्मा वास्तव में न पदका और न वाक्य का अर्थ है क्योंकि सारे विशेषों का निषेध करने वाली श्रुति द्वारा ही आत्मा की वास्तविकता पता चलती है ।।४६२।।

पदका अर्थ नहीं क्योंकि तब प्रमाणान्तरविषयता होगी जो है नहीं, अन्यथा शून्यवादी आदि को भ्रम न होता तथा सभी दर्शन आत्मस्वरूप में विवाद न रखते। यदि आत्मा वाक्यार्थ हो तो भी उसे पदार्थ होना पड़ेगा क्योंकि ससम्बन्ध पदार्थ या पदार्थों का संबंध ही तो वाक्यार्थ प्रसिद्ध है। सम्बन्ध भी पदार्थ है ही। आत्मा तो सिर्फ इसलिये वेदार्थ है कि आरोपित सब

वासनानामभावेऽपि सुषुप्त्यादौ न मुक्तता । मानव्यापारविरहात्प्रथनं वा दृगात्मनः ॥४६३॥
सर्वानर्थाभिसंबन्धे ह्यविद्यैवास्य कारणम् । वासनानामपि युतौ सैव यस्मादपेक्ष्यते ॥४६४॥
संभाव्यतेऽनपेक्षत्वं नियोगविरहादपि । यथा तथा च वक्ष्यामः स्पष्टेन न्यायवर्त्मना ॥४६५॥

विशेषों के निषेध से वह चिदेकरस लक्षित होता है। नेत्यादि श्रुति लक्षणासे जो ज्ञान पैदा करती है उसीसे व्यंग्य होने के कारण आत्मा को औपनिषद कहते हैं – यह विद्यासागरी में व्यक्त है। आत्मा को अपदार्थ इतने अर्थ में ही कहा है कि वह प्रवृत्तिनिमित्त वाला या वाच्य नहीं है और अवाक्यार्थ यह मानकर ही कहा है कि संसर्गवाले पदार्थ या पदार्थों का संसर्ग ही वाक्यार्थ होता है। अतः निषेधों से लक्षित की तरह विधियों से लक्षित भी समझ लेना चाहिये। निषेध भी अर्थतः तो तत्त्व में पर्यवसान पाते ही हैं क्योंकि निरवधिक निषेध संभव नहीं और विधियाँ भी अर्थतः इतरव्यावृत्ति करती ही हैं ॥४६२॥

निरोध से मोक्ष में और भी दोष देते हैं:

सुषुप्ति आदि में वासनायें न रहने पर भी मोक्ष नहीं होता और प्रमाणव्यापार के बिना दृग्रूप भी आत्मा अनावृत नहीं होता ॥४६३॥

सुषुप्ति में वासना हैं यह नहीं कह सकते क्योंकि तब सुषुप्ति ही नहीं हो सकती, वासनाओं की उठा-पटक चलती रहेगी तो स्वप्न ही हो सकेगा। सुषुप्ति में यदि वासनायें कारणरूपसे स्थित मानो तब तो निरोधावस्था में भी वैसा माना ही जा सकता है। यदि कहो कि सुषुप्ति में मोक्ष इसलिये नहीं कि वहाँ वासनाओं का कारण विद्यमान है जबकि निरोधावस्था में ज्ञान से वह कारण नष्ट हो जाने से मोक्ष होता है; तब तो तुमने यही माना कि वासनाकारण के नाश से मोक्ष होता है, वासनानिरोध से नहीं! यह इष्ट हो तो हमारे ही अनुयायी रहोगे।

श्लोक ४४४ में स्वप्रकाश आत्मा का ख़ुद-ब-ख़ुद भान कहा था, उसका निषेध किया कि भानमात्र तो मोक्षहेतु है नहीं और मोक्षप्रयोजक जो अनावरण है वह बिना प्रमाणव्यापार के होगा नहीं। सुषुप्ति में भानमात्र है पर अनावरण नहीं। 'मैं हूँ' यों भान होने पर भी 'दसवाँ हूँ' ऐसा तो प्रमाण से ही पता चलता है ॥४६३॥

श्लोक ४४६ में कहा था कि आत्मा को वासनाओं के कारण अनर्थप्राप्ति होती है; उसका खण्डन करते हैं:

आत्मा के सभी अनर्थसम्बन्धों में अविद्या ही कारण है क्योंकि आत्मा को वासनासम्बद्ध होने के लिये भी अविद्या ही चाहिये ॥४६४॥

आत्मा संगरहित होने से सवासन तभी हो सकता है जब खुद को न जाने अतः अविद्या को मूल कारण माने बिना व्यवस्था संभव नहीं। किं च वासनायें तथा अन्य अनर्थों का उपादान कारण भी अविद्या ही माननी होगी। वासना तो ख़ुद कार्य है अतः उसका कोई कारण होना ही चाहिये। फिर वासनायें हैं अनन्त; सारे अनर्थभूत कार्यों में अनुगत कोई एक वासना है नहीं जो उनका कारण स्वीकार्य हो। वासना के प्रति वासनान्तर को हेतु मानने पर अनवस्था और बाह्यमत प्रवेश स्फुट है। अतः वासना समेत सारे संसार का उपादान अविद्या को मानना ही उचित है ॥४६४॥

श्लोक ४४७ में बिना नियोग के वाक्यप्रामाण्य दुर्घट कहा था; उसका निरास प्रमाणभाष्य के वार्तिक में करेंगे यह सूचित करते हैं:

नियोग के बिना भी निरपेक्ष प्रामाण्य जिस प्रकार संभव है वह आगे सोपपत्ति बतायेंगे ॥४६५॥

आगे श्लोक ५४२ से यह प्रसंग विस्तार से आना ही है। सार यही है कि अज्ञातार्थज्ञापकतामात्र से प्रामाण्यनिर्वाह होता है, कार्यपरत्व-अतत्परत्व से नहीं। बोधलक्षण ही प्रामाण्य है इसे पञ्चपादिका में (पृ० ५९५) स्फुट किया है: 'यथा कार्यमवगमयंस्तदर्थः, एवम् ऐकात्म्यमपि अवगमयंस्तदर्थो भवितुमर्हति; प्रतीतिकृतत्वात् प्रामाण्यस्य; प्रतीतिस्तु कार्यैकात्म्ययोस्तुल्या। प्रत्यक्षादिष्वप्येतदेव प्रमाणवृत्तं यद् अनवगतमवगम्यते।' ॥४६५॥

स्वानुभूतिबलादेव भवताऽपि विभाव्यते । नियोगादिः प्रमाणार्थो नानुभूतिर्नियोगतः ॥४६६॥
यस्याप्रसिद्धिर्नाज्ञानात्प्रसिद्धिर्नापि मानतः । तस्यानुभवतत्त्वस्य कुतः सापेक्षतोच्यते ॥४६७॥
स्वप्रधानात्मबुद्ध्यैव तदन्यस्य प्रसिद्धितः । कार्यबुद्धिव्यपेक्षातो नानुभूत्यात्मवस्तुनः ॥४६८॥
क्व नु प्रतीयमानस्य पुमर्थत्वं समीक्षितम् । मानान्मानफलस्यैव पुमर्थत्वसमन्वयात् ॥४६९॥

प्रामाण्यदुर्घटता में ही यह भी कहा था कि सिद्धवस्तु के बारे में नियोग हो नहीं सकता। उस पर कहते हैं कि वह कोई दोष ही नहीं है:

प्रमाणविषयभूत नियोगादि की विभावना आप भी चिदात्मा के बल पर करते हैं, वह चिदात्मा नियोग-सापेक्ष हो यह सम्भव ही नहीं ॥४६६॥

नियोगवादी चेतन है तभी विचारादि से नियोग की व्यवस्था बनाता है। अतः नियोग का साधक हुआ चेतन। वह अपनी सिद्धि में नियोग की अपेक्षा कैसे करेगा? तब तो परस्पराश्रयता होगी। रूपप्रकाशक सूर्य को ख़ुद प्रकाशने के लिये प्रकाश्यभूत रूप तो चाहिये नहीं! अतः आत्मा को नियोग विषय न करे यह तो स्वाभाविक है, दोष नहीं है। नियोगादि जड वस्तुओं की सिद्धि के लिये अनुभव चाहिये, अनुभवसिद्धि के लिये नियोग नहीं चाहिये। मूल में 'स्वानुभूति' और 'अनुभूति' शब्दों से चेतन आत्मा विवक्षित है। इन शब्दों को इसलिये रखा कि आत्मा को चिद्रूप न मानने वाले भी ज्ञान को तो नियोगापेक्षसिद्धिक नहीं ही मानते ॥४६६॥

आत्मवस्तु का अपलाप किसी तरह संभव न होने से वह नियोग या किसी की भी अपेक्षा से सिद्ध हो यह बेतुकी बात है। प्रथमतः तो शास्त्र केवल नियोगनिष्ठ हैं नहीं कि आत्मा के अज्ञात रूप का बोध न करावें; किन्तु यदि वे नियोगैकतत्पर हों तब भी आत्मसिद्धि में नियोग का कोई कृत्य है नहीं यह स्पष्ट करते हैं:

अज्ञान से जो अप्रसिद्ध नहीं हो जाता और प्रमाणों से ही प्रसिद्ध हो ऐसा भी नहीं, उस अनुभवतत्त्व को सापेक्ष कैसे कहते हो? ॥४६७॥ स्वतन्त्र-आत्मवस्तुरूप-चैतन्य से ही चेतनातिरिक्त सभी कुछ सत्ता-स्फूर्ति पाता है अतः अनुभूतिरूप आत्मवस्तु को नियोगबुद्धि की कोई ज़रूरत नहीं है ॥४६८॥

अज्ञान भी किससे सिद्ध होता है? 'मैं नहीं जानता' यही अज्ञान की सिद्धि है। अतः अज्ञान भी मुझे अप्रसिद्ध नहीं करेगा। प्रमाण में भी यह सामर्थ्य नहीं कि मुझे सिद्ध करे क्योंकि पहले मैं प्रसिद्ध हूँ तब न प्रमाण मुझमें उत्पन्न हो रहा है! अनात्मा सत्ता भी आत्मा से पाता है तो वह आत्मा को प्रसिद्ध कैसे करेगा? प्रसिद्ध करने से पूर्व सत्ता कहाँ से लायेगा? जैसे रज्जुज्ञान को सर्पज्ञान की अपेक्षा नहीं वैसे आत्मा को नियोगज्ञान की अपेक्षा नहीं है ॥४६७-४६८॥

श्लोक ४४९ में ज्ञेय ही पुरुषार्थ होता है, ज्ञप्ति नहीं – यह कहा था; इसका खण्डन करते हैं:

तुम्हे यह प्रामाणिक ज्ञान कहाँ हुआ कि प्रतीतिविषय पुरुषार्थ होता है? सही मायने में तो पुरुषार्थता रहती है प्रमाणफल में, अनुभव में ॥४६९॥

अनुभव से असम्बद्ध पदार्थमात्र तो किसी को इष्ट देखा नहीं जाता, उन पदार्थों का अनुभव ही इष्ट होता है अतः पुरुषार्थ तो अनुभव ही हो सकता है, पदार्थ तो उसके विषयरूप से या हेतुरूप से गौण पुरुषार्थ हैं। अनुकूल अनुभव को सुख कहते हैं, उसके उत्पादक तो व्यभिचारी हैं। सुख हमेशा सबको इष्ट रहता है, पदार्थों में इष्टबुद्धि बदलती रहती है। अतः अनुभव ही पुरुषार्थ है। सुषुप्ति आदि में विषय के बिना भी पुरुषार्थता स्पष्ट है अतः वादी की कल्पना कि विषय ही पुरुषार्थ हैं, निराधार है ॥४६९॥

कोई कह सकता है कि विषयानुभूति इष्ट होती है अतः विषयगत रूपादि की तरह अनुभव भी विषयपक्षीय ही होने से इष्टता विषय में ही सिद्ध होती है। इस संभावना का निरास करते हैं :

प्रतीतेर्माफलत्वाच्च कथं मेयैकनिष्ठता । माक्रियाफलयोगोऽयं यतो मातरि भोक्तरि ।।४७०।।
न चाऽऽत्मानुभवादन्यो विषयः कश्चिदिष्यते । अपि सर्वप्रमाणानां किमु वेदान्तशासने ।।४७१।।
लौकिको वैदिकः सर्वो व्यवहारो जगत्यपि । भोक्त्रर्थ एव नान्योऽतः प्रधानं भोक्तुरिष्यते ।।४७२।।
न वा अरे पत्युरिति तदेतत्प्रेय इत्यपि । निखिलेऽपि जगत्यस्मिन्प्रधानं नाऽऽत्मनोऽपरः ।।४७३।।
न प्रमाता प्रमाणं वा क्रियामेयफलानि वा । प्राधान्यायेह कल्पन्ते भोक्तुरेव प्रधानतः ।।४७४।।
आत्मनः कर्त्रवस्थाऽपि भोक्त्रर्थमिति निश्चयः । यतोऽतोऽपरमप्येतद्भोक्त्रर्थं विनियुज्यते ।।४७५।।

प्रमाण का फल होने के कारण अनुभव जड-प्रमेय में रहने वाला नहीं हो सकता। क्योंकि यह प्रमाणक्रिया के फल का सम्बन्ध है इसलिये भोक्तारूप प्रमाता में ही हो सकता है ।।४७०।।

प्रमाणफल ज्ञानात्मक होने से जडपक्षीय अर्थात् जडाश्रित संभव नहीं। जड और ज्ञान परस्पर आश्रय-आश्रयी होते नहीं, अन्यथा जड-चेतनविभाग ही लुप्त हो जाये! क्रिया का फल भोक्ता में रहता है, भोक्ता को होता है; अतः प्रमाणका फल प्रमाता में ही रहेगा। प्रमाता और प्रमाणक्रिया के फल का भोक्ता अलग-अलग तो होते नहीं। इसलिये प्रमाणक्रिया का जो औपचारिक फल है अनुभव, उसका सम्बंध भी उपचारतः आत्मा में ही रहता है, प्रमेय में प्रमाणफल (अनुभव) नहीं रह सकता। अनुभव स्वरूपतः नित्य तथा आत्ममात्र होने से उसकी फलता और आत्मीयता औपचारिक है। इस प्रकार अनुभव विषयपक्षीय ही नहीं कि रूपादिकी तरह अनुभाव्य कोटि में हो ।।४७०।।

श्लोक ४४५ में वस्तुमात्रमें वेदान्त प्रमाण नहीं – ऐसा कहा था, उसका खण्डन करते हैं:

सभी प्रमाणों का विषय अनुभवरूप आत्मा से अन्य कुछ नहीं है तो औपनिषद उपदेश का विषय आत्मवस्तु ही है इसमें कहना ही क्या! ।।४७१।।

अज्ञात चीज़ ही प्रमाणविषय हो सकती है और अज्ञात सिर्फ आत्मा हो सकता है अतः वही किसी भी प्रमाण का विषय होने लायक है। जब सभी प्रमाण उसे ही विषय कर रहे हैं तब वेदान्त उसे विषय कर रहे हैं इसमें कहना ही क्या? यह विषय श्लोक १५९-६० में आ ही चुका है, ब्रह्मसिद्धि आदि में भी वर्णित है और आगे भी आता रहेगा। अज्ञान का विषय अज्ञानभिन्न ही हो सकने से ज्ञान ही उसका विषय है और प्रमाण तथा अज्ञान समानविषयक होते ही हैं अन्यथा प्रमाणसे अज्ञान न हटेगा। सोपाधिविषयक प्रमाण निरुपाधिविषयक अज्ञान नहीं हटा पाते अतः घटज्ञान ब्रह्मज्ञान होने पर भी मोक्षप्रयोजक ज्ञान नहीं है ।।४७१।।

और भी कारण है कि वेदान्त परमात्मा में प्रमाण हैं जो नियोग से असंबद्ध परम पुरुषार्थ है:

जगत् में सभी व्यवहार, लौकिक हो या वैदिक, भोक्ता के लिये ही होता है। भोक्ता के लिये होने वाले व्यवहार से अन्य कोई व्यवहार प्रसिद्ध ही नहीं है। अतः भोक्ता की ही प्रधानता स्वीकार्य है ।।४७२।। 'पति के लिये नहीं' (बृ० २.४.५), 'यह अधिक प्रिय है' (बृ० १.४.८) इत्यादि श्रुति से भी सिद्ध होता है कि इस सारे संसार में आत्मा से अन्य कोई प्रधान नहीं है।।४७३।। व्यवहारभूमि में प्रमाता, प्रमाण, क्रिया, प्रमेय या फल प्रधानता पाने में समर्थ नहीं, क्योंकि प्रधानता भोक्ता की ही है ।।४७४।। यह निश्चित है कि आत्मा भोक्ता बनने के लिये ही कर्ता बनता है अतः भोक्ता से अन्य सभी कुछ भोक्ता के लिये ही विनियुक्त होते हैं इसमें संदेह नहीं ।।४७५।।

व्यवहार किसी के लिये ही होता है और जिसके लिये होता है वह भोक्ता है। व्यवहार स्वतंत्र – स्वयं ख़ुद के लिये, व्यवहार मात्र के लिये – तो होता नहीं और न ही वह अभोक्ता के लिये होता है। इसलिये भोक्ता ही शेषी है, प्रधान है। 'जिसके लिये सब हों जो किसी अन्य के लिये न हो वही सुख कहा जाता है' यह सुखका प्रसिद्ध अर्थ है–'यदर्थं सर्वमुपादीयते यच्च नान्यार्थं तत्सुखम्' यह विद्यासागरी में कहा है – और यह आत्मा में घट रहा है तो आत्मा ही पुरुषार्थ है

नापि चाऽऽत्मातिरेकेण वस्त्वन्यन्मानभूमिगम् । संभाव्यते यथा चैतत्तथोदर्के प्रवक्ष्यते ।।४७६।।

इसमें क्या संदेह ? यह वादी को भी मान्य है कि शब्दतात्पर्य पुरुषार्थ में होना चाहिये, इसी से वह अपूर्व में तात्पर्य मानता है; अतः आनन्दरूप प्रत्यगात्मा में वेदान्त प्रमाण हों इसमें वादी को कोई कष्ट नहीं होना चाहिये। यद्यपि भोक्ता का प्राधान्य वेदान्तप्रमेय निर्विशेषके प्राधान्य का साधक नहीं तथापि भोक्ता आत्मा ही है तथा निर्विशेष भी आत्मा ही है अतः आत्मप्राधान्य सिद्ध हो जाता है। वादी सचमुच आत्मा को भोक्ता मानता है, सिद्धान्ती उसे भ्रमवश भोक्ता मानता है यह भेद रहने पर भी दोनों आत्मा को भोक्ता मानते हैं ही अतः भोक्ता की प्रधानता सिद्ध होने से सिद्धान्ती की अभीष्टसिद्धि होना उचित है। 'पति के लिये वह प्रिय नहीं, आत्मा के लिये वह प्रिय है', 'पुत्र, धन आदि सभी की अपेक्षा आत्मा अधिक प्रिय है' आदि वक्ष्यमान श्रुतियाँ आत्मशब्द से उदाहरणार्थ भोक्ता को कहकर ही दार्ष्टान्त निर्विशेष की आनंदरूपता कहती हैं अन्यथा न तो वचनभंगी संगत होगी और न उन वाक्यों से आत्मा की आनंदरूपता ही पता चल सकेगी। दृश्य से द्रष्टा में आकर ही साक्षी तक पहुँचा जा सकता है, त्वम्पदवाच्य को द्वार बनाकर ही प्रत्यक् को लक्ष्य किया जा सकता है। इन वाक्यों से स्वाभाविक स्वार्थिता व्यक्त होती है लेकिन वह तथ्य होने से वेदान्ती को इससे लज्जा नहीं, बल्कि इसे छिपाने को ही वह मिथ्याचार मानता है। श्रुति तो खुलकर कहती है कि अपने से अन्य को प्रिय समझने वाला बँधता है, रोता है। इसलिये हेत्वन्तरके बिना ही प्रिय होने से आत्मा ही परमानंद है, मोक्षरूप पुरुषार्थ है। भोक्तृत्व भ्रम होने के कारण उसे ही वस्तुतः प्रधान मानना ग़लत फ़हमी है पर उसके सहारे आत्मा को प्रधान समझ सकते हैं यह ख़्याल रखना चाहिये। प्रमाता भी हम भोगार्थ बनते हैं, अनिष्ट भोग हो तो प्रमासे भी बचते हैं, प्रिय भ्रमों को ही बनाये रखना चाहते हैं! यहाँ 'फल'-शब्द लभ्यमान द्रव्यादि के लिये है, अनुभूतिरूप फल के लिये नहीं। कर्मों के हम कर्ता भी इसीलिय बनते हैं कि उन कर्मों के फल भोगें। जब हमारी कर्तृता ही प्रधान नहीं तो पुत्रादि बाह्य वस्तुओं का प्राधान्य कैसे हो सकता है? जो तो कभी-कभी अनात्मा को प्रधान मान लिया जाता है वह भ्रमवश ही है : विद्यारण्यस्वामी ने तो वहाँ भी समझाया है कि अनात्मा में आत्मताबुद्धिरूप भ्रमसे ही प्रधानता प्रतीत होती है। इस प्रकार आत्मा की पुरुषार्थता सिद्ध होने से वेदान्तों का आत्मतात्पर्य सुसंगत हो जाता है ।।४७२-४७५।।

यदि आत्मा से अन्य कुछ प्रमाणसिद्ध होता तब उसके प्राधान्य की शंका भी उठ सकती थी; जब वैसा कुछ प्रामाणिक है ही नहीं तब आत्मा से अन्यको प्रधान कहने का प्रसंग ही कहाँ? :

यह बात आगे (१.४.२२१-२७३) स्पष्ट समझायेंगे कि यह संभव नहीं है कि आत्मा से अन्य कोई वस्तु प्रमाण का विषय बने ।।४७६।।

श्रोत्रादि के विषय शब्दादि प्रसिद्ध हैं, आत्मा नहीं किन्तु वह प्रसिद्धि प्रतीतिमात्रवश है, विचारानुसारी नहीं, यह आगे स्पष्ट होगा ।।४७६।।

'तस्यास्य कर्मकाण्डेन सम्बन्धोऽभिधीयते' इस भाष्यवाक्य की व्याख्या श्लोक ३१३ से ४७६ तक की गयी। इसमें यह बताया कि उदयास्तवर्जित अनुभव ही प्रत्यगात्मरूप ब्रह्म है, वही परमपुरुषार्थ है और वेदान्त तात्पर्यतः उसकी प्रमा कराते हैं अतः उपनिषदें निरोधविधि की शेष नहीं हैं। पूर्वकाण्ड चित्तशुद्धि में विनियुक्त है, शुद्धचेता का ज्ञान में अधिकार है। इस विषय में 'विविदिषन्ति' श्रुति मुख्य प्रमाण है कि काण्डद्वय उक्तविधया ही सम्बद्ध हैं, अन्य किसी तरह नहीं।

आगे भगवान् शङ्कर ने कहा है 'सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः' अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान से पता न चलने वाले इष्टप्राप्ति-उपाय तथा अनिष्टनिवृत्ति-उपाय प्रकाशित करने में यह सारा वेद तात्पर्य वाला है। इस पंक्ति का आशय स्पष्ट करने के लिये जिन शंकाओं को इसमें समाहित किया गया है उन्हे उपन्यस्त कर तब व्याख्या शुरु करेंगे। इस प्रकार श्लोक ४७७ से १०२२ तक 'सर्वोऽपि' इत्यादि भाष्य का ही वार्तिक है। अतः सम्बन्धभाष्य के वाक्यों में यही वाक्य सबसे ज़्यादा वार्तिकों से अलंकृत है।

अनादृत्य यथोक्तार्थं नियोगार्थैकरागतः । केचित्कार्यैकनिष्ठत्वं वेदान्तानां प्रचक्षते ।।४७७।।
कार्यैकमात्रनिष्ठत्वात्प्रमाणस्याऽऽगमात्मनः । कुत ऐकात्म्यनिष्ठत्वं त्वया यदुदितं पुरा ।।४७८।।
नहि तस्यानपेक्षत्वं सिद्धवस्त्ववबोधनात् । यतो मानान्तरमितं सिद्धं वस्त्विति भण्यते ।।४७९।।
शब्दसामर्थ्यनियमो लोकादेवावगम्यते । लोके मान्तरसिद्धोऽर्थः कार्यायैवाभिधीयते ।।४८०।।

पूर्वोक्त अधिकारिभेद, विषयभेद, फलभेद तथा विविदिषाद्वारक सम्बन्ध और उपनिषत्सिद्ध एकात्मता – इन सबको अप्रामाणिक मानकर नियोगवादी मीमांसक क्या कहते हैं, यह बताते हैं:

नियोगरूप अर्थ में अतिशय राग वाले कुछ मीमांसक पूर्वोक्त बातों की उपेक्षाकर वेदान्तों को सिर्फ़ कार्यपरक बताते हैं ।।४७७।।

यद्यपि इस पक्षको वार्तिककार खण्डित कर आये हैं तथापि और भी तरह से नियोगपक्ष स्थापित किया जाता है तथा भाष्यवाक्य उन तरहों का भी निरास करने जा रहे हैं इसलिये अधिक विवक्षा से नियोगवादी का पुनः कथन उपन्यस्त हो रहा है ।।४७७।।

'तत्त्वमसि' आदि से एकात्मता सिद्ध है ऐसा मानना वादी अनुचित बताता है:

आगमरूप प्रमाण क्योंकि सिर्फ़ कार्यमात्र में तात्पर्य वाला है इसलिये जो तुमने (सिद्धान्ती ने) पहले एकात्मता में तात्पर्य कहा था वह कैसे? ।।४७८।।

वादी का कहना है कि विधिवाक्य की तरह सभी प्रमाणवाक्य कार्य में तात्पर्य वाले होते हैं। वाक्यभेद भय से कार्य की तरह वस्तु में भी तात्पर्य हो यह संभव नहीं यह 'सिर्फ़' से ('एक') कहा। 'मात्र' से बताया कि यदि कार्य का अंग वस्तु होगी तो भी वह कार्यपक्षीय ही समझी जायेगी। भव्य अर्थात् कार्य के लिये भूत अर्थात् सिद्ध का उपदेश हो सकता है लेकिन कार्यनिरपेक्ष सिद्धमात्र का शास्त्र उपदेश नहीं कर सकता यह तात्पर्य है ।।४७८।।

आगम क्यों सिद्धार्थक नहीं हो सकता? यह समझाता है:

सिद्ध वस्तु का प्रकाशन करने से शास्त्र निरपेक्ष प्रमाण नहीं हो पायेगा क्योंकि सिद्ध वस्तु वही कही जाती है जो (प्रकृतशब्दापेक्षया) अन्य प्रमाण से प्रमित हो ।।४७९।।

मानान्तरगोचरविषयकता होने पर उस अन्य प्रमाण से विरोध होने पर शास्त्र गुणार्थवाद रह जायेगा और विरोध न होकर उसके अनुकूल ही बताने पर अनुवादरूप अर्थवाद रह जायेगा, यह भाव है। नियोग तो अन्य प्रमाणों का विषय है नहीं, जैसा कि शालिकमिश्र ने कहा है 'क्रियादिभिन्नं यत् कार्यं वेद्यं मानान्तरैर्न च। अतो मानान्तरापूर्वमपूर्वमिति गीयते ।। (प्र० पं० पृ० ४४१)।। अतः कार्यपरक होने पर शास्त्र का प्रामाण्य निरपेक्ष रहेगा ।।४७९।।

कार्यपरता में यह भी हेतु है कि शब्दशक्ति कार्यान्वितविषयक है:

शब्द की शक्ति किस अर्थ से नियत है यह लोक से ही समझा जाता है और लोक में कार्य के प्रयोजन से ही प्रमाणान्तरसिद्ध वस्तु कही जाती है ।।४८०।।

प्रत्यक्षादि से उपलभ्यमान वस्तु को शब्द से कहने की ज़रूरत ही तब पड़ती है जब कुछ कार्य कहना हो जिसमें उस वस्तु का सम्बन्ध हो। सड़क पर गड्ढा है और दीख भी रहा है; ऐसे में यदि कहा जाता है कि 'रास्ते में गड्ढा है' तो मतलब यही है कि वक्ता चाहता है कि श्रोता कुछ करे – या उसे भर दे, या उसके पास से दूसरा रास्ता निकाल दे और अन्य कुछ नहीं तो उससे बचकर निकल जाये! यदि श्रोता से ऐसी कोई आकांक्षा न हो तो व्यर्थ ही कोई बोलता नहीं रहेगा। इसलिये नियोगवादी का मानना है कि सभी शब्द कार्य से सम्बद्ध होते हैं। फलतः वैदिक शब्द भी कार्यान्वित का ही बोध करा सकते हैं ।।४८०।।

न प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां शून्यस्य वचसो यतः । कश्चिदर्थोऽत्र दृष्टोऽतो वस्तुनि स्यान्न मानता ।।४८१।।
सम्बन्धावगमो नापि शब्दाद् भूतार्थवाचिनः । प्रवर्तकात्प्रवृत्त्यार्थे प्रत्ययो ह्यनुमीयते ।।४८२।।
ततः शब्दस्य सामर्थ्यं प्रतीतेरवधार्यते । कार्यैकविषयैवेयं वाक्यस्यातः प्रमाणतः ।।४८३।।
क्रियाकारकसम्बन्धो वाक्यार्थो यैरपीष्यते । अनुवादविसम्वादात्तेषामुक्तेरमानता ।।४८४।।

इतना ही नहीं, शब्द उस अर्थ में प्रमाण होता है जिसमें तात्पर्य हो, तात्पर्य उसमें हुआ करता है जो पुरुषार्थ हो, पुरुषार्थ वह होता है जो प्रवृत्ति या निवृत्ति से सम्पाद्य हो, प्रवृत्ति-निवृत्ति तब होती हैं जब विधि-निषेध उपलब्ध हों और विधि-निषेध विषय कर सकते हैं सिर्फ़ कार्य को; इसलिये भी वेद सिद्ध वस्तु का प्रतिपादक नहीं हो सकता :

क्योंकि लोक में प्रवृत्ति या निवृत्ति न बताने वाले वचन का कोई प्रयोजन नहीं देखा गया है इसलिये वस्तुमात्रविषयक होने पर शब्द प्रमाण नहीं हो सकता ।।४८१।।

अर्थात् सिद्धार्थता मानने पर वेदान्त निष्फल होंगे और निष्फल शास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता। यद्यपि पहले (श्लो० ४६९ आदि) इस का जवाब दे चुके हैं तथापि शब्दशक्ति के सम्बंध में विचार वहाँ नहीं आया था ।।४८१।।

शब्द का अर्थ तभी समझ आता है जब किसी प्रवृत्ति के साथ शब्द उपलब्ध हो, अप्रवर्तक शब्द का अर्थ उसे नहीं समझ आ सकता जो अभी उस शब्द का अर्थ जान नहीं पाया है। अतः शब्द कार्यान्वितवाची ही है:

सिद्धार्थवाचक शब्द से शब्द-अर्थसम्बन्ध समझ नहीं आता क्योंकि प्रवर्तकवाक्य से होने वाली प्रवृत्ति को लिंग बनाकर प्रवर्तकार्थविषयक ज्ञान अनुमित होता है और तब निश्चित होता है कि प्रवर्तकबुद्धि उत्पन्न करने में शब्द सामर्थ्यशाली है। इसलिये यह प्रामाणिक है कि वाक्य से होने वाली प्रतीति कार्य को ही विषय करती है ।।४८२-४८३।।

मीमांसक की शक्तिग्रहप्रक्रिया यह है: बालक सुनता है कि दादा ने पिता से कहा 'गाय बाँध दो।' वह देखता है कि पिता ने गाय बाँध दी। अब बच्चा विचार करता है – पिता की यह प्रवृत्ति तभी हुई है जब इन्हे प्रवर्तक ज्ञान हुआ, क्योंकि यह सोची-समझी प्रवृत्ति थी जैसे मैं जब सोची-समझी प्रवृत्ति करता हूँ तब मुझे भी कोई प्रवर्तक ज्ञान होता है। फिर वह यह सोचता है कि दादा जी के कहने पर ही यह प्रवृत्ति हुई, वे चुप थे तब नहीं हो रही थी, अन्य समय में भी जब दादा आदि ऐसे ही शब्द बोलते हैं तब पिता आदि ऐसी ही प्रवृत्ति करते हैं, अतः ज़रूर वह प्रवर्तक ज्ञान दादा आदि द्वारा कहे गये शब्दों से होता है। इस प्रकार उसे यह सामान्यतः निर्णय हो जाता है कि शब्द की सामर्थ्य प्रवर्तक अर्थ में है। फिर वह नाना वाक्य सुनता रहता है और नाना प्रवृत्तियाँ देखता रहता है तो उसे धीरे-धीरे हर शब्द का पृथक्-पृथक् अर्थ भी पता चलने लगता है और यह ज्ञान हो जाता है कि लिङ् आदि आज्ञार्थक शब्द प्रवर्तकमात्र के वाचक हैं तथा बाकी शब्द प्रवर्तक से सम्बद्ध अर्थों के वाचक हैं। इसलिये बालक शब्दशक्ति कार्यसम्बद्ध ही समझ पाता है। पद जब कार्य ही उपस्थित करेंगे तो वाक्यार्थ कार्य से अछूता कैसे रह सकता है? यद्यपि बाद में कोश, परिभाषा आदि बाँचकर बिना प्रवृत्ति दीखे भी शक्तिग्रह होता है तथापि प्राथमिक ग्रह क्योंकि कार्य में हुआ और यह सामान्य नियम प्रतीत हो गया कि शब्द प्रवर्तकार्थ में (कार्य में) ही समर्थ है, इसलिये कोशादिसे समझते हुए भी वह अध्याहार या लक्षणा से कार्यांश जोड़ ही लेगा! – इस प्रक्रिया के बल पर ही वह यहाँ का विचार चला रहा है ।।४८२-४८३।।

प्रश्न होगा : क्रिया-कारकों का सम्बंध वाक्यार्थ है, उसी में वाक्य प्रमाण है, उसे सिर्फ कार्य में प्रमाण कैसे कहा? वादी उत्तर देता है:

जो लोग मानते हैं कि क्रिया और कारकों का सम्बन्ध वाक्यार्थ है, उनके मत में उक्ति अर्थात् शब्द प्रमाण नहीं हो पायेगा क्योंकि [वह संबंध प्रमाणान्तर का विषय होने से यदि प्रमाणान्तरानुसारी होगा तो शब्द] या अनुवाद रह जायेगा, या (प्रमाणान्तर का) विसंवाद होने से अप्रमाण होगा ।।४८४।।

मान्तरानुप्रवेशित्वं कार्यस्य तु न शङ्क्यते । शब्दादेव हि कार्यार्थप्रतिपत्तिर्न लोकतः ।।४८५।।
प्रवर्तनां वदञ्शब्दः प्रवर्तक इतीर्यते । ज्ञापकत्वात्प्रमाणस्य प्रेरयन् कारको भवेत् ।।४८६।।
शब्दात्प्रवर्तनाबुद्धौ रागादिर्न च शङ्क्यते । रागादिः प्रेरणाकारी प्रेरणाज्ञापको ध्वनिः ।।४८७।।

कुलाल, दण्ड, चक्रादि कारकों का घटनिर्माणादि क्रियासे सम्बन्ध प्रत्यक्षादिगम्य है, वही शब्दार्थ हो तो शब्द प्रमाण नहीं होगा। फलतः शब्द को उक्त सम्बन्ध से अन्य ही अर्थ में प्रमाण स्वीकारना चाहिये, वही नियोग है ।।४८४।।

नियोग भी कार्य है और पूर्वोक्त रीति से (४८२-३) बच्चे ने कार्य को अनुमान से समझा है, तब कार्यरूप नियोग भी प्रमाणान्तर का विषय होने से नियोगार्थक मानने पर भी अप्रामाण्य क्यों नहीं? इसका जवाब देता है :

यह शङ्का नहीं की जा सकती कि नियोग अन्य प्रमाणों का विषय है क्योंकि कार्यरूप अर्थ की समझ शब्द से ही होती है, लोक से नहीं ।।४८५।।

पूर्वदर्शित (श्लो० ४७९) शालिकश्लोक में नियोगरूप कार्य को क्रिया से अन्य और प्रमाणान्तर का अविषय कह चुके हैं। वाक्य उसी नियोग को प्रमित कराता है अतः प्रमाण है। नियोग कार्य भले ही हो, लौकिक कार्यों की तरह वह शब्देतर प्रमाण से गम्य नहीं है। जैसे क्रियाकारकसम्बंध, या क्रिया भी, प्रत्यक्षादिगम्य है लेकिन विधीयमान सम्बन्ध, या होमादि क्रिया, शब्दैकप्रमेय स्वीकार्य है क्योंकि शब्द से पता चलने के बाद ही अनुष्ठानादिकाल में उसकी प्रत्यक्षादिगोचरता होती है, वैसे ही नियोग में लौकिककार्य से यह अंतर है कि वह शब्दैकगम्य है। बालक भी शब्द और प्रवृत्ति के अन्वयव्यतिरेक से प्रवर्तक को समझता है अतः प्रवर्तक का (=कार्य का) ज्ञान शब्द से ही होता है, अन्य प्रमाण से नहीं। यह बात श्लोक ४९९ में स्पष्ट करेंगे। इस प्रकार लिङ् आदि विधायक शब्दों से प्रतीयमान नियोग में ही वाक्य को प्रमाण मानना उचित है ।।४८५।।

शबर स्वामी कह गये हैं कि क्रिया में प्रवृत्त करने वाले वचन को विधि कहते हैं। इससे लगता है वे लिङादि शब्दों को ही प्रवर्तक मानते हैं, उनसे अतिरिक्त किसी नियोग को नहीं। अतः नियोग को प्रवर्तक कहना आपके भाष्यकार के प्रतिकूल कैसे न होगा? नियोगवादी जवाब देता है:

लिङादि शब्द क्योंकि प्रवर्तना का कथन करता है इसलिये भाष्य में 'प्रवर्तक' कह दिया गया है। ऐसा इसलिये स्वीकारना पड़ेगा कि प्रमाण ज्ञापक ही होता है, यदि शब्द प्रेरणा करे तब तो कारक हो जायेगा ।।४८६।।

अभिप्राय है कि घटशब्द का जैसे कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ वाच्य है ऐसे ही लिङादि का वाच्य है प्रवर्तना या नियोग। अन्यथा लिङादि का कोई अर्थ ही न रहेगा! अतः भाष्यकार ने केवल वाच्य-वाचक के अभेदोपचार से 'प्रवर्तक' कह दिया है; 'बात मानना' का अर्थ यही होता है कि बात का जो अर्थ हो - कुछ करना या छोड़ना -उसे संपन्न करना, केवल यह स्वीकार लेना कि वह बात है 'बात मानना' नहीं कहा जाता। शब्द को प्रवर्तक मानने पर वह रागादिकी तरह कारक हो जायेगा, ज्ञापक न रहकर प्रमाण भी नहीं हो पायेगा जबकि शब्द प्रमाणतया इष्ट है। यद्यपि कई प्रतिक्रियायें सहज ही ज्ञानमात्र से हो जाती हैं, रागादि उद्बुद्ध होने का अवसर ही नहीं होता, तथापि शब्द को कारक मानने में स्पष्ट दोष यह है कि बहुतेरे लोग विधि सुनकर भी प्रवृत्त होते नहीं। यदि शब्द कराने वाला होता तो सभी अधिकारियों से करा लेता। विधिको अर्थितादि की ज़रूरत होने से यदि वह सर्वत्र अवसर न भी पाये तो भी निषेधों को तो सभी से निषिद्धाचार छुड़ा देना चाहिये! उक्त शबरवाक्य में विधिशब्द निषेधका संग्राहक तो स्वीकृत ही है। अतः शब्द को साक्षात् प्रवर्तक नहीं मान सकने से भाष्यको औपचारिक ही स्वीकारना होगा जिससे नियोगवाद पर भाष्यविरोध का लांछन संभव नहीं ।।४८६।।

अब नियोगवादी स्थापित करने जा रहा है कि लिङादि का वाच्य जो प्रवर्तक है वह रागादि नहीं, उनसे विलक्षण कार्य या नियोग ही है:

यह शंका नहीं की जा सकती कि शब्द से हुए प्रवर्तनाज्ञान में विषय तथा रागादि ही भासते हैं (नियोग नहीं); क्योंकि रागादि तो प्रेरणा के निर्वर्तक हैं जबकि लिङादि शब्द प्रेरणा के केवल ज्ञापक हैं ।।४८७।।

आज्ञापितार्थनिष्पत्तौ कृतिमत्त्वेक्षणात्प्रभोः । रागाद्यर्थस्य चासिद्धौ कर्तृवृत्तिर्न रागतः ॥४८८॥
स्वामिकोपप्रसादादिहृदयाकूतवेदनात् । नापि श्रोतुः प्रवृत्तिः स्याच्छब्दात्कोपाद्यवेदनात् ॥४८९॥
लिङादयो न कोपादेः स्मर्यन्ते प्रतिपादकाः । मानान्तरमिताः सन्तस्ते हि पुंसां प्रवर्तकाः ॥४९०॥

रागादि होने पर शब्दावगत प्रेरणारूप प्रवर्तक प्रवृत्ति का हेतु बन जाता है अतः रागादि को 'प्रेरणाकारी' या 'प्रेरणानिर्वर्तक' कह देते हैं। विद्यासागर जी लिखते हैं 'शब्दात् प्रतिपन्नस्य प्रवर्तकस्य जनको रागादिरित्यर्थः', अर्थात् रागादि नियोग को प्रवर्तक बनने में सहायक होते हैं, रागादि न होने पर कार्यबोध रहते हुए भी अधिकारी को प्रवृत्त नहीं कर पाता यह तात्पर्य है। ऐसा इसलिये वादी मान रहा है कि उसके अनुसार सर्वत्र रागादि प्रवर्तक उपलब्ध नहीं होते तथा लिङादिका कोई निश्चित वाच्य मानना ही चाहिये।

रागादि भले ही अप्रवर्तक हों, लिङादि ही क्यों प्रवर्तक न हो जायें, उनका भी प्रवृत्ति से अन्वयव्यतिरेक मिलता है और क्योंकि वे कारक नहीं हैं इसलिये उन्हे वैसे प्रवर्तक का निर्वर्तक नहीं कहा जा सकता जैसे रागादि को? इसका उत्तर यही है कि लिङादि को प्रवर्तक मानते ही कारक मानना होगा और इसका दोष पूर्वश्लोक में कह चुके हैं।

कल्पलतामें रागादि के आदिशब्द से इष्टसाधन का ग्रहण किया है। रागादि को प्रेरणाकारी सुनकर प्रश्न होता कि जब प्रेरणा रागादि से ही संपन्न हो रही है तब शब्द का क्या काम? इसका उत्तर दिया कि शब्द उस प्रेरणा का बोधक है ॥४८७॥

प्रांभाकर लौकिक शब्दों को अनुमानसे गतार्थ करने की क्षमता रखता है अतः वह यह मान भी ले कि लोक में रागादि ही प्रवर्तक होते हैं तो भी उसे हानि नहीं क्योंकि वह शब्द के अर्थरूप प्रवर्तक को नियोग मानता है, प्रवर्तकमात्र को नहीं। इसलिये यह स्पष्ट करता है कि आज्ञावश बहुधा रागादिके बिना भी प्रवृत्ति देखी जाने से आज्ञा-शब्दों का अर्थ रागादि नहीं हो सकता :

यह देखा जाता है कि रागादि-पदार्थ न रहने पर भी मालिक ने जो करने की आज्ञा दी है नौकरादि उस काम को करने के लिये प्रवृत्ति करते हैं अतः कर्ता की प्रवृत्ति राग से (ही) होती हो ऐसा नहीं ॥४८८॥

जो करने को कहा गया उसमें नौकर को कोई राग नहीं, फिर भी आज्ञा के प्रभाव से ही कृति अर्थात् प्रवृत्ति करता है अतःआज्ञा-शब्दोंसे होने वाली प्रवृत्ति रागपूर्वक हो यह नियम न होने से उन शब्दों का अर्थ रागादि नहीं कह सकते ॥४८८॥

श्रोता का रागादि चाहे प्रवर्तक न हो, वक्ता का कोपादि तो प्रवर्तक हो सकता है, उसे ही लिङर्थ क्यों न माना जाये? इसका वादी समाधान देता है :

मालिक के गुस्सा, प्रसंनता आदि मनोगत अभिप्रायों की जानकारी से श्रोता (नौकरादि) की प्रवृत्ति होती हो यह भी संभव नहीं क्योंकि उसकी आज्ञा-रूप शब्द से गुस्से आदि का पता नहीं चलता। लिङादि आज्ञाबोधक शब्द क्रोधादि के बोधक हैं ऐसा कहीं कोशादि में नहीं कहा गया है! प्रमाणान्तर से जब क्रोधादि समझे जाते हैं तभी वे नौकरादि लोगों के प्रवर्तक बनते हैं। मालिक के कहे वाक्य में आये 'धिक्!', 'अङ्ग!' आदि शब्द चिह्न बनकर उसके क्रोधादि का अनुमान कराते हैं ॥४८९-९०॥

शंका करने वाले का कहना था कि विधि सुनकर मालिक का मनोभाव पता चलता है और वह मनोभाव नौकर को प्रेरित करता है। समाधान करने वाले ने समझाया कि शब्द से - विधिशब्द से - मनोभाव नहीं जाना जाता क्योंकि विभिन्न, परस्पर विरुद्ध, मनोभाव रहने पर भी आज्ञाशब्द वे ही रहते हैं। यद्यपि ऐसा होता ज़रूर है कि मालिक की मनोदशा भाँपकर भी नौकर कई काम कर लेता है तथापि वह भाँपना लिङादिश्रवणसे नहीं होता। 'तुझे धिक्कार है!' 'अरे ! ख़ुशी का मौका है, यों कर' आदि शब्द अथवा बोलने का लहज़ा - काकु - या ओठ फड़फड़ाना, आँखों की तरलता आदि इस बात को

धिगङ्गाद्यभिधानैस्तु लिङ्गभूतैरिहेङ्गिताः । रागादयो नियोगस्य सिद्ध्यै विषयसाधनाः ॥४९१॥
अत एव च रागादिसंसृष्टोऽपि विविच्यते । लोडाद्यर्थो व्रजेत्युक्तो याति स्वार्थं विना यतः ॥४९२॥
ननु दानादिसंबद्धमहावाक्यानुमानतः । गच्छेत्याद्येकदेशोक्तौ लोभादेव प्रवर्तते ॥४९३॥
महावाक्यप्रयोगेऽपि पदार्थप्रविवेचने । पुंस्प्रवृत्तिस्तु दृष्टेयं लोडादेरेव नान्यतः ॥४९४॥
लोडादेरेव श्रवणाद्यत्र रागाद्यसंभवः । बालः प्रवर्तते तत्र ज्ञायते प्रेरणार्थता ॥४९५॥

सूचित करते हैं कि वक्ता का मनोभाव क्या है। अतः इन तरहों से जानकर नौकर काम कर लेते हैं इससे यह नहीं सिद्ध होता कि विधिशब्द मालिक या वक्ता के क्रोधादिके बोधक हैं। मालिक के क्रोधादि प्रवर्तक भले ही हैं, शब्द का अर्थ बनकर - लिङादिवाच्य होकर - प्रवर्तक नहीं हैं क्योंकि वे लिङादिशब्दों का अर्थ ही नहीं हैं ॥४८९-९०½॥

यदि लिङादि शब्द, श्रोता के रागादि और वक्ता के क्रोधादि प्रवर्तक नहीं हो सकते, सिर्फ कार्य ही प्रवर्तक हो सकता है तब 'रागादि प्रेरणा के निर्वर्तक हैं' यह (श्लो० ४८७) कैसे कहा? प्रेरणानामक नियोग क्रिया से निष्पन्न होता है, उसे रागादिजन्य क्यों कहा? वादी उत्तर देता है:

क्रिया सम्पन्न कराने वाले होने से रागादि नियोग-निष्पत्ति में उपकारक होते हैं ॥४९१॥

लिङर्थ-निष्पादक क्रिया को नियोग का विषय कहा जाता है। लिङादि सुनकर पता चले नियोग को निष्पन्न करने के लिये जरूरी क्रिया करने में रागादि प्रेरक बनते हैं अतः परम्परया हेतुकोटिमें रहने से उन्हे 'प्रेरणाकारी' कहा जाता है। विषयभूत क्रिया के लिये भी रागादि आवश्यक नहीं हैं यह दिखा चुके हैं अतः उन्हे कारण मानना असंभव है ॥४९१॥

कहीं रागादि व कहीं कार्य प्रवर्तक माना जाये यह अनुचित है, प्रवर्तकता एकत्र ही रहनी चाहिये, अन्यथा लिङादि की वाच्यता अव्यवस्थित रहेगी, अतः कार्य को ही लिङर्थ मानना चाहिये यह निगमन करता है:

'जाओ।'—यों जिसे आज्ञा दी जाती है वह जाने में किसी राग के बिना भी चला जाता है इसलिये विधिशब्दों का अर्थ जिन स्थलों पर रागादि के साथ भी मिलता है वहाँ भी रागादि से अलग कर समझा जा सकता है ॥४९२॥

ऐसा तो है नहीं कि हमेशा ही रागादि ही लिङादिका अर्थ प्रतीत हो सकें। इसलिये जहाँ रागादि के बिना लिङर्थ प्रतीत होता है वहाँ उसका स्वरूप समझकर जहाँ रागादि-सहित वह उपलब्ध हो वहाँ भी उसे पहचानना संभव है। कई बार वक्ता का भी राग तो है न भेजने में लेकिन किसी अन्य से प्रयुक्त होकर उसे कहना पड़ता है 'जा।' श्रोता भी यह समझता है पर फिर भी चला जाता है। अतः आज्ञा का अर्थ अलग ही मानना उचित है और उसे ही हम नियोग कहते हैं यह मीमांसकका तात्पर्य है ॥४९२॥

शंका-समाधान से इसे और स्पष्ट करता है:

'मैं जो अज्ञायें दूँ उन्हे मानोगे तो वेतनादि दूँगा' यह महावाक्य है। इसका हिस्सा है 'जाओ' आदि आज्ञा। अतः 'जाओ' सुनकर श्रोता को महावाक्य का अनुमान होता है इसलिये वहाँ लोभ से ही प्रवृत्ति क्यों न मानी जाये? ॥४९३॥ उत्तर है कि हिस्सा ही नहीं, जहाँ महावाक्य ही कहा गया हो वहाँ जब यह विवेक करते हैं कि प्रवृत्ति नियोग से हुई कि राग से, तब यही निश्चय होता है कि पुरुषप्रवृत्ति लोडादि-विधिशब्द के अर्थरूप नियोग से ही हुई है, रागादि से नहीं। जहाँ रागादि असंभव हैं फिर भी विधिशब्द सुनते ही बालक प्रवृत्ति करता है वहाँ स्पष्ट हो जाता है कि विधिशब्दों का अर्थ रागादि से विलक्षण प्रेरणा ही है ॥४९३-४९५॥

शंकावादी के अनुसार 'जाओ' सुनकर श्रोता अनुमान करता है कि वक्ता 'जाओ तो वेतनादि यथासमय मिलता रहेगा' इतना कहने के लिये संक्षेप में 'जाओ' कह रहा है अतः वेतनादि पाने के लिये ही वह जाता है, नियोग उत्पन्न करने नहीं। अनुमान इस तरह होता है- इस वाक्य का तात्पर्य श्रोता को फलप्राप्ति होने में है क्योंकि यह आप्तवाक्य है

आह मानान्तरेणासौ किल नार्थोऽवगम्यते । शब्दाच्च ज्ञायतेऽज्ञातसंबन्धादिति चित्रता ॥४९६॥
यद्यनिर्ज्ञातसंबन्धोऽप्यर्थं शब्दः प्रबोधयेत् । को द्वेषोऽस्मासु भवतो येनोपालम्भ ईर्यते ॥४९७॥
यदाऽवगम्यते नान्यत्प्रवृत्तेः कारणान्तरम् । शब्दश्च गम्यते स्पष्टस्तदाऽर्थः प्रविविच्यते ॥४९८॥
अन्वयव्यतिरेकौ तु वाक्यार्थज्ञानपूर्वकौ । वाक्यार्थस्तु तदायत्तो नेत्यन्येभ्यो विशिष्टता ॥४९९॥

जैसे पिता के वाक्य।

नियोगवादी का कहना है कि सारा महावाक्य सुनकर भी प्रवृत्ति नहीं होती जबकि 'जाओ' सुनने पर होती है, महावाक्य में भी जब विधिशब्द आता है तब प्रवृत्ति हो जाती है; इससे यही समझना चाहिये कि विधिशब्दों का अर्थ ही प्रवृत्ति का हेतु या प्रेरणा है। बच्चे की ग़लती पर उसे पीटने के लिये गुरु उसी से कहते हैं 'जा, दण्डा ला।' वहाँ दण्डा लाने में बच्चे को तनिक भी रागादि संभव नहीं। फिर भी बेचारा जाता है, दण्डा लाता है। अवश्य उसने 'जा, ला' सुनकर कुछ समझा है जो रागादि तो है नहीं, प्रवर्तक ज़रूर है। ऐसे स्थलों पर विधिशब्दों का अर्थ स्पष्ट हो जाने से अन्यत्र भी सांकर्य संभव नहीं ॥४९३-४९५॥

वेदान्तप्रामाण्यवादी नियोगवादी से पूछता है:

हम पूछते हैं: (श्लोक ४८५ के आपके कथन से) निश्चित है कि वह नियोगनामक वस्तु शब्दातिरिक्त प्रमाण से नहीं समझी जाती। अतः विधिशब्द और नियोग का वाच्यवाचक सम्बन्ध जानने का उपाय नहीं। शब्द वाचकतया किससे सम्बद्ध है यह पता हुए बिना भी (नियोगरूप) अर्थ का बोध करा देता है यह बड़ी विचित्र कल्पना है! यदि आपको यह मानना ही है कि जिसका अपने वाच्य से सम्बन्ध नहीं जाना गया है वह शब्द भी अर्थ सुस्पष्ट समझा सकता है तब हम से ही आपको क्या द्वेष है जो हमें यह उल्हाना दे रहे हैं (कि ब्रह्मादि शब्दों का शक्तिग्रह संभव नहीं और संभव हो तो प्रमाणान्तरविषयता के कारण वाक्य प्रमाण नहीं रहेगा)? ॥४९६-४९७॥

शंका स्पष्ट है: नियोगपदार्थ को जानें तब शब्द का उससे संबंध निश्चित हो। नियोगपदार्थ को जानें कैसे जब वह शब्देतरप्रमाण का विषय नहीं? बिना शक्तिग्रह के शब्द भी प्रवृत्त करता नहीं अत एव देववाणी से अनभिज्ञ को चाहे लिङ्-लोट्-तव्यत् इकट्ठे भी सुना दें तो वह प्रवृत्ति करता नहीं! और अगर वैदिक लिङादि का कोई ऐसा माहात्म्य है कि अधिकारी को शक्तिग्रह के बिना ही प्रवर्तकबोध करा देते हैं तब वैसा ही माहात्म्य ब्रह्मादि शब्दों का क्यों न हो कि विवेकादिसंपन्न को वे भी परमात्मबोध करा दें? ॥४९६-४९७॥

नियोगवादी जवाब देता है:

जब प्रवृत्ति में और कोई कारण मिलता नहीं तथा शब्द उसमें हेतु बन रहा है ऐसा समझ आता है तब उस शब्द का अर्थ स्पष्ट पता चल जाता है ॥४९८॥ वाक्यार्थभूत नियोग का ज्ञान होने के बाद अन्वयव्यतिरेकवश नियोग में लिङादि का शक्तिग्रह होता है। वाक्यार्थ तो प्रमाणान्तरके अधीन है नहीं, यही नियोगरूप वाक्यार्थ की अन्यों से विशेषता है ॥४९८-४९९॥

आज्ञा सुनी और प्रवृत्ति हुई। इस स्थल में खोजने पर अन्य प्रवर्तक मिला नहीं तो यही मानना पड़ता है कि आज्ञाशब्द ने किसी प्रवर्तक वस्तु का बोध कराया। वह वस्तु प्रमाणान्तर से उपलब्ध नहीं होती अतः संज्ञाशब्दार्थों से उसकी विलक्षणता भी पता चल जाती है। अतः नियोग विधिशब्दार्थ समझना कठिन नहीं।

प्रश्न होता है कि उक्तविधया विधिशब्द कार्यमात्रका - प्रवर्तकमात्र का - बोध भले ही करावे, नियोग का बोध कैंसे? नियोग में यह भी तो ख़ासियत है कि वह प्रमाणान्तर का अविषय है। अतः विधिशब्द जब कार्यमात्र का बोध करायेगा तब योग्यतावश वह किसी प्रमेयभूत प्रवर्तक में ही पर्यवसित होगा, जहाँ प्रवर्तकता क्लृप्त है वहीं लिङर्थता का निश्चय

कर्तव्यताविवक्षैव नृवाक्येभ्योऽपि गम्यते । विवक्षाया न कार्यत्वं शब्दार्थविषया हि सा ।।५००।।

करायेगा, नियोग को लिङर्थ कैसे बतायेगा?

उत्तर है कि बालक पहले तो 'ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति'-रूप लिंगसे पता लगाता है कि दादा की बात सुनकर होने वाली पिता की प्रवृत्ति ऐसी है जिसके पहले प्रवृत्त्यभाव के विरोधी का ज्ञान हुआ है। फिर बालक यह निर्णय करता है कि प्रवृत्त्यभावका विरोधी वह पदार्थ पिता ने दादा के शब्द से ही समझा। तब, पिता ने शब्द से जिसे समझा उस प्रवर्तक-पदार्थ में लिङादि की शक्ति है ऐसी जानकारी बालक को होती है। अतः ज्ञातशक्तिक लिङादि नियोग-बोधक हैं फिर भी शक्य नियोग क्योंकि शब्द से ही ग्राह्य हुआ इसलिये मानान्तर का अविषय रहा : बालक ने अनुमान से यही समझा कि पिता ने शब्द से प्रवर्तकज्ञान पाया है अतः प्रवर्तकज्ञान का हेतु शब्द ही प्रमित हुआ अन्य कोई प्रमाण नहीं।

यदि इस पर भी असंतोष हो कि शब्दार्थतया ही सही पर प्रवर्तक का अनुमान हो तो गया; तब नियोगवादी का कहना है कि शुद्ध नियोग केवल शब्दगम्य है यद्यपि आज्ञा-प्रार्थनादि से उपहित नियोग अनुमानादि से पता चलता है। लोक में पिता की इच्छाविशेष आज्ञा तथा कार्य, दोनों का पता पिता-प्रोक्त विधिशब्द से लगता है। अतः लोक में कार्यपदार्थ की उपलब्धि आज्ञादि-पदार्थों से संवलित रूपमें होती है। जैसे राहु शास्त्रगम्य है, उसका प्रत्यक्ष चन्द्रसम्बंधीरूप से तो हो सकता है लेकिन केवल निज रूपसे नहीं; ऐसे ही आज्ञादि पदार्थों से मिले-जुले नियोग का अनुमान होकर अन्वय-व्यतिरेक से उन व्यभिचारी पदार्थों से पृथक् किये केवल नियोगपदार्थ को शब्द से ही समझा जा सकता है। संज्ञाशब्दों के अर्थ, जैसे घटादि, शब्देतर प्रमाणों से परिच्छिन्न होते हैं, उस तरह निष्कृष्ट नियोग नहीं, यही उसकी मानान्तरानधिगति है। इसलिये नियोग में प्रमाणांतर की गति उपाधिद्वारा ही है, स्वरूपतः तो वह वैदिक ही है, प्रमाणान्तर का विषय नहीं। इस प्रकार नियोगपक्ष संगत है।

ब्रह्मादिपदार्थ उपाधिद्वारा भी प्रमेय नहीं हैं यह नियोगवादी का अभिमान है। इसका अपनोदन आगे (श्लो० ८६१ आदि) करेंगे ।।४९८-४९९।।

वादी ने दिखाया कि रागादि को विधिशब्दों का अर्थ नहीं मान सकते। कुछ विचारक विवक्षा - बोलने की इच्छा - विधिशब्दों का अर्थ है ऐसा कहते हैं। यदि वह संभव हो तो भी नियोग उन शब्दों का अर्थ नहीं होगा अतः उस पक्ष का यहाँ खण्डन किया जा रहा है। विवक्षा को सभी शब्दों का अर्थ प्रमाणवार्तिक में (३.२१३-१४) धर्मकीर्ति ने माना है। उनका कहना है कि शब्दों का और अर्थों का परस्पर अविनाभावसम्बंध - एक होने पर दूसरे का ज़रूर होना, एक न होने पर दोनों न होना - तो है नहीं अतः शब्दों से अर्थ का निश्चय नहीं होता, वे शब्द तो केवल वक्ता के अभिप्राय के सूचक होते हैं क्योंकि वक्ता के अभिप्राय से ही शब्दों का अन्वयव्यतिरेक मिलता है।

विवक्षा की - और विवक्षित की - शब्दार्थता सिद्धान्ती को भी इष्ट नहीं यह श्लोक ५९४ में व्यक्त होगा। यहाँ तो नियोगवादी ही उस पक्ष का खण्डन कर रहा है:

पुरुषों द्वारा उच्चरित वाक्यों से भी कर्तव्यता की विवक्षा ही समझ आती है। विवक्षा क्योंकि शब्द के अर्थ को विषय करती है इसलिये विवक्षा ही कर्तव्यता है ऐसा नहीं कह सकते ।।५००।।

लिङादि सुनकर वक्ता का अभिप्राय यही समझ आता है कि 'उसे अमुक क्रिया की कर्तव्यता की विवक्षा है'; अतः शब्दगम्य विविक्षा में कर्तव्यता विशेषण है; फलतः विवक्षा और कर्तव्यता में अंतर मानना ही पड़ेगा। इतना ही नहीं, विवक्षा का विषय होगा शब्दार्थ जबकि कर्तव्यता ख़ुद के बारे में बताती है, वह कहती है 'मुझे निष्पन्न करो' (कार्य, नियोग संपन्न करो), चाहे इसके लिये क्रिया ही करनी पड़े। अतः दोनों में अंतर है। कर्तव्यताविशिष्ट विवक्षा को शब्दार्थ मानना गौरवग्रस्त है; विवक्षा तो अन्यथा भी पता चल जाती है और कभी नहीं भी पता चलती है लेकिन लिङादि से कार्यता तो पता चलती ही है, अतः शब्दार्थ उसे ही मानना उचित है।

विवक्षा को शब्दार्थ मानने में यह दोष भी है कि विवक्षा इच्छाविशेष है अत: किसी चेतन में ही होगी। नियोगवादी वेद को ईश्वरवाणी तो मानता नहीं इसलिये जीवों की इच्छा वेदार्थ होने लगेगी जो असंगत है क्योंकि तब वेद का अर्थ ही नहीं किया जा सकेगा, कोई भी जीव किसी भी विवक्षासे कोई भी शब्द बोलने लगेगा!

सिद्धान्ती को विवक्षापक्ष अनिष्ट है का भी यही तात्पर्य है कि वह वेदार्थ को यथापरम्परा स्वीकारता है। उसके मत में ईश्वर प्रजापति को वेद और वेदों का अर्थ दोनों प्रदान करते हैं तथा प्रजापति प्रतिकल्प परम्पराप्रवर्तन कर देते हैं, अत: अविच्छिन्न परंपरानुसारी अर्थ ही वेदार्थ होता है। इसलिये ईश्वरेच्छारूप मानना चाहें तो कोई हानि नहीं: ईश्वरेच्छा को जानने का हमारे पास यही उपाय है कि उनसे उपदिष्ट की परम्परा वालों से पूछें। शब्दार्थ का शक्तिरूप संबंध कहकर उस शक्ति को मायारूप सिद्धान्ती मानता ही है (बृ० वा० ४.३.१७८४) अत: ईश्वरेच्छा भी मायावृत्ति ही होने से कोई दोष नहीं: हाँ मायामात्र से काम चले तो उसकी वृत्ति में गौरव किसी को लग सकता है। यद्यपि विवरणकार ने शब्दों में अर्थबोधन की सामर्थ्य को स्वाभाविक तथा पुरुषप्रयत्न के अननुसारी कहा है तथापि उनका अभिप्राय वैदिक शब्दों के अर्थनिश्चय में जीवस्वातन्त्र्य के निषेध में ही है। वेदेतर शब्दों को नि:शक्ति मानकर संकेत स्वीकारना हो तब तो बात अलग है, अन्यथा लौकिक शब्दार्थसम्बंध लोकाधीन तथा वैदिक ईश्वरेच्छा या परम्परा के अधीन स्वीकारने में अनुपपत्ति नहीं। जो तो यह समस्या कुछ लोग उठाते हैं कि कोई भी स्वयं को पारम्परिक कह कर अर्थांतर बोल देगा; वह स्वाभाविक शक्ति मानने पर भी है ही क्योंकि श्रुत्युक्त पश्वादि शब्द 'स्वभावत:' पिष्टपरक हैं इसका निषेध कैसे होगा? बहुतेरों की समझ का सहारा उभयत्र तुल्य है। प्राचीन प्रयोग का अवलम्ब लें तो प्रश्न होगा कितना प्राचीन? और उतना ही प्राचीन क्यों? इत्यादि। अत: अधिक काल्पनिकताओं के बिना ही गौतम का सामयिकता-पक्ष माना जा सकता है यद्यपि तदनुसार सब शब्दों के लिये ईश्वर के विभिन्न प्रयत्न मानने व्यर्थ हैं, केवल श्रौत अर्थ के लिये ईश्वरोपदेश अपेक्षित है। सर्वथापि जीवविवक्षा श्रौतशब्दों का अर्थ नहीं है ।।५००।।

प्रश्न होता है कि पहले वक्ता को कुछ विवक्षित होता है तब वह शब्द बोलता है यह सर्वत्र देखा जाने से शब्दार्थभूत जो कर्तव्यता है वह भी अवश्य विवक्षित ही रही होगी, एवं च विवक्षित को ही शब्दार्थ मानने में क्या आपत्ति है? उत्तर है :

विवक्षा के अधीन शब्द का अर्थ नहीं होता क्योंकि विवक्षा पते चलने से पहले ही शब्दार्थ प्रतीत हो जाता है ।।५००½।।

वक्ता की इच्छा से शब्द का अर्थ हो तो व्यवहार असंभव - सा हो जायेगा क्योंकि कोई सागरविवक्षा से हिमगिरि बोलेगा, कोई अरण्य! धर्मकीर्ति ने कहा (प्रमाणवा० ३.३२८) है कि शब्द-अर्थ को नियमित करती है विवक्षा और संकेत इस बात का प्रकाशन करने वाला है; संकेत अर्थात् आचार्यादिद्वारा यह बताना कि अमुक शब्द अमुक अर्थ में विवक्षित होता है। किन्तु वादी पहले सिद्ध कर आया है कि शब्द अपनी सामर्थ्य से अर्थबोधक होता है, विवक्षा से नहीं। अतएव जिसे अर्थ नहीं पता वह बिना विवक्षा के भी बोलता है तो श्रोता को अर्थज्ञान हो ही जाता है। श्रोता को गृहीतशक्ति होना तो सहकारी है। यह स्वयं वार्तिककार श्लोक ८७४ आदि में स्पष्ट करेंगे। विवक्षा और कर्तव्यता में इसीलिये भेद मानना ज़रूरी है कि लिङादिशब्द सुनते ही कर्तव्यता तो पता चल जाती है, जबकि विवक्षा बाद में पता चलती है: कर्तव्यता कह रहे हैं तो ज़रूर इन्हे वह विवक्षित है- यों अनुमानादि से ही विवक्षितता का पता चलेगा तथा उसके लिये हेतुरूप से कर्तव्यता का ज्ञान पहले चाहिये ।।५००२।।

शंका होती है कि उक्त विचार से यह तो स्वीकार्य है कि लिङर्थ - या शब्दार्थ - विवक्षारूप नहीं, लेकिन प्रैष आदि को लिङर्थ क्यों न मानें, नियोग रूप अलौकिक पदार्थ को लिङर्थ क्यों मानें? बड़ा व्यक्ति किसी छोटे व्यक्ति को कोई काम करने को कहे तो उसे 'प्रैष' कहते हैं, बराबरी का व्यक्ति वही कहे तो 'आमंत्रण' तथा छोटा उसी बात को कहे तो 'अध्येषण' कहते हैं। तीनों में काम करने की आवश्यकता द्योतित होती है, अत एव प्रार्थनादि को यहाँ छोड़ दिया है। लोक

तद्वशान्नतु शब्दार्थः स हि पूर्वं प्रतीयते । अतः प्रैषादिसंसृष्टोऽप्यर्थः सिद्धो विवेकतः ॥५०१॥
शब्दार्थोपाधयो ह्येते पुरुषाशयपातिनः । प्रैषादयो न शब्दार्था न चानेकार्थता मता ॥५०२॥
अभिप्रायवतोऽभावादभिप्रायानुपातिनः । शङ्क्यतेऽपि न वेदे तु कार्यं वाच्यमिति स्थितम् ॥५०३॥
प्रयोगविधिशेषत्वात्तन्मूला एव नाऽऽशयात् । वेदे प्रैषास्तु ये दृष्टा अग्नीदग्नीनितीदृशाः ॥५०४॥

में लिङादि का प्रयोग तीन ही तरह के लोग करते है अतः प्रैषादि को लिङर्थ समझना लौकिक प्रयोगानुसारी है। नियोगपरक लिङ् केवल शास्त्रीय है अतः शंका है। वादी समाधान करता है:

क्योंकि वक्ता के अभिप्राय के ज्ञान से पूर्व ही शब्दार्थ का ज्ञान हो जाता है इसलिये लोक में यद्यपि लिङर्थ प्रैषादिसे मिला-जुला उपलब्ध होता है तथापि प्रैषादि से पृथक् हुआ सिद्ध हो जाता है। लिङादिशब्दों के अर्थभूत नियोग की उपाधियाँ हैं ये प्रैषादि। ये पुरुष के अभिप्राय के अंतर्गत आने वाले होने से शब्द के अर्थ नहीं हो सकते। और यह भी स्वीकृत है नहीं कि एक शब्द के अनेक अर्थ हों (तब एक लिङ् के प्रैष, आमंत्रण आदि अनेक अर्थ कैसे होंगे?) ॥५०१-५०२॥

अभिप्राय है कि प्रैषादि में भी अनुगत अंश तो नियोग ही है। शालिकनाथ ने पंचिका में (वाक्य० २. श्लो० ११; पृ० ४३०) कहा है कि प्रैषादि का भेद प्रवर्त्य की (उद्दिष्ट श्रोता की) अपेक्षा से है, अर्थ की अपेक्षा से नहीं। नियोग से अलग हुए प्रैषादि तो कुछ हैं नहीं जो प्रवृत्तिहेतु बन जायें अतः उनमें अनुगत को ही लिङर्थ मानना ज़रूरी है। प्रवर्त्य-भेद से प्रयोगभेद होने पर प्रैषादि को नियोग से अलग कर समझा जाता है, अतः वही लिङ् कभी प्रैष का तथा कभी आमंत्रण का बोधक हो जाता है। इसीलिये लिङ्को अनेकार्थक मानने की आपत्ति भी नहीं क्योंकि प्रैषादि को नियोग की उपाधि मान लिया जाता है। इसमें प्रसिद्ध दृष्टान्त है 'दृतिहरि' : इसके अर्थ में पशुत्व को उपाधि कहते हैं। सीधे तो यह शब्द 'चमड़ा ढोने वाले' को कहता है लेकिन प्रयोग इस शब्द का तभी होता है जब 'ढोने वाले' में पशुत्व हो; अर्थात दृतिहरि से कहा तो पशु जाता है पर प्रवृत्ति निमित्त पशुत्व नहीं है। उसी तरह लिङादि का वाच्य नियोग है लेकिन लोक में वह नियोग प्रैषादि से उपहित ही मिलता है। अतः प्रैषादि लिङर्थ नहीं हो जाते, जैसे पशुत्व दृतिहरिशब्द का वाच्य नहीं हो जाता। वेद का तो वक्ता न होने से प्रैषादि की संभावना भी नहीं है। लिङादि को प्रैषादि में शक्त मानने पर विनिगमनाविरह से प्रैष, आमंत्रण आदि बहुतेरे अभिप्रायों में इकट्ठे ही शक्त कहना होगा और अपौरुषेय वेद में बिना प्रैषादि के भी उन्हे कार्यार्थ में शक्त कहना होगा, इस प्रकार व्यर्थ गौरव होगा। इसलिये सर्वानुगत कार्य में ही लिङादि को शक्त मान लेना चाहिये ॥५०१-५०२॥

वेद की अपौरुषेयता मान्य होने से लिङादि विधिशब्द नियोगार्थक ही संभव हैं यह निगमन करता है:

वेदवाक्यों का कोई अभिप्राय वाला वाक्ता है नहीं अतः अभिप्राय के अन्तर्गत आने वाले प्रैषादि की लिङादिशब्दार्थता की शंका भी संभव नहीं। तब लिङादि का वाच्य क्या है? कार्य (नियोग) ही उनका वाच्य निश्चित होता है ॥५०३॥

लोक में प्रैषादि को और वेद में कार्य को वाच्य मानने में वैरूप्य होगा तथा लोक-वेद में शब्द-अर्थ समान होने का उत्सर्ग पीडित होगा अतः प्रैषादि में भी अनुगत कार्य ही लिङादि का वाच्य है ॥५०३॥

वेद में भी अध्वर्युप्रभृतिक प्रैषादि सुने जाते हैं जैसै 'हे अग्नीत्! अग्निविहरण आदि कार्य करो' (तै० सं० ६.३.१) इत्यादि। वहाँ वक्ता का अभिप्राय क्यों नहीं माना जा सकता? उत्तर है:

वेद में जो 'अग्नीत्! अग्नियों को-' इत्यादि प्रैष सुने जाते हैं वे तो सांग-प्रधान कर्म के प्रवर्तक नियोग के अंग होने से उस नियोग के ही व्यापार हैं, उनका उच्चारण कर रहे ऋत्विक् के अभिप्राय से कहे हुए नहीं हैं ॥४०४॥

यज्ञकाल में अध्वर्यु आदि ऋत्विक् जो आज्ञायें अन्य ऋत्विक् आदि को देते हैं वे वस्तुतः वेदाज्ञायें ही हैं, न कि वक्ता

प्रैषादिभ्यो यथैवेयं भिन्ना कर्तव्यतेक्ष्यते । शब्दशक्तिवशात्तद्वत्क्रियादेरपि वीक्ष्यताम् ॥५०५॥
नानिष्पन्नस्वभावोऽपि भावः कर्तव्यता यतः । लडादिश्रवणात्तस्या अप्रतीतिर्लिङादिवत् ॥५०६॥

ऋत्विक् आदि की जिस प्रकार नाटक के पात्रों का परस्पर संलाप वस्तुतः नाटकलेखक का ही अभिप्राय व्यक्त करता है न कि नटों का, उसी प्रकार वेदविहित कर्म करते हुए जो कथोपकथनादि है वह वैदिक ही है, ऋत्विक् आदि के मनोभाव से उसका संबंध नहीं। प्रधान कर्म तथा उसके सभी अंगों को निष्पन्न करना जिस वाक्य से पता चलता है वह प्रयोगविधि कहा जाता है। यह वाक्य आनुपूर्वी में नहीं मिलता बल्कि विभिन्न वाक्यों को संकलित कर समझना पड़ता है क्योंकि तभी सांग-प्रधान में प्रवृत्ति संभव है। उस प्रयागे विधि ने जो नियोग कहा उसके निष्पादन के लिये ही उक्त प्रैषादिका उच्चारण करना पड़ता है। अत एव वही बात अन्य संकेतादि से नहीं कही जाती। यदि वक्ता का अभिप्राय ही व्यक्त करना होता तब तो संकेतादि से भी व्यंगता न मानी जाती। अतः प्रैषादि का कथन उस नियोग के लिये ही है यही स्वीकार्य है। फलतः प्रैष सुनकर अग्नीध्र आदि ऋत्विक् को भी नियोगप्रेरितता ही समझ आती है, ऐसा नहीं लगता कि 'देवदत्तादि अमुक ऋत्विक् मुझ पर हुक्म चला रहा है!' इसलिये वेद में श्रुत प्रैषादि अभिप्रायपरक नहीं हैं ॥५०४॥

प्रश्न हो सकता है कि भले ही प्रैषादि को लिङ्र्थ न मानो पर क्रिया को लिङर्थ क्यों न माना जाये जबकि सामान्य लोग क्रिया को ही कार्य कहते हैं? अथवा फल भी साध्य है तो वही क्यों न लिङर्थ माना जाये? फलपक्षका उत्तर श्लोक ५०९ में देगा, पहले वादी क्रियापक्ष का उत्तर देता है:

शब्द की शक्ति के निर्धारण में लाघवादि के अनुसन्धान से जैसे नियोगशब्दित कर्तव्यता प्रैषादियों से भिन्न समझी जाती है वैसे उसे क्रिया आदि (=फल) से भी भिन्न समझ लेना चाहिये ॥५०५॥

'जा-ओ', 'खा-ओ' आदि में क्रिया धातु से ही प्रतीयमान है, उसी को 'ओ' से कहना व्यर्थ है तथा 'जाना, खाना' से अतिरिक्त 'ओ' का अर्थ प्रतीत भी होता है अतः 'ओ' को क्रियावाचक ही मानना ग़लत है। 'ओ' का अर्थ दोनों प्रयोगों में एक ही है, क्रियायें अलग-अलग कही गयी हैं। फल तो सर्वत्र विधिस्थल में पता चले यह ज़रूरी भी नहीं कि उसे लिङ्वाच्य कह सकें ॥५०५॥

नियोग साध्यैकस्वभाव है और क्रिया भी साध्य ही है अतः क्रिया से अन्य कोई नियोग क्यों मानना? क्रिया ही लिङर्थ क्यों न हो? इसका समाधान अपूर्वाधिकरण के (मी०सू० २.१.२) अनुसार दिया जाता है:

साध्यस्वभाव होने पर भी क्रिया को कर्तव्यतारूप (=नियोगरूप) नहीं स्वीकार सकते क्योंकि (वर्तमानादि कालों के द्योतक) लट् आदि सुनने पर कर्तव्यता की प्रतीति नहीं होती जैसी लिङ्आदि विधिशब्द सुनने पर होती है (जबकि क्रिया की प्रतीति लट्आदि सुनने पर भी होती है) ॥५०६॥

'जा रहा है' और 'जा-ओ' के अर्थ में स्पष्ट भेद है अतः विधायक शब्दों का अर्थ क्रिया है यह कैसे माना जाये?

मीमांसा में इस सम्बंध में यह विचार है : 'स्वर्गेच्छुक यज्ञ करे' यों विधि सुनी जाती है जो अधिकारी और फलसाधन दोनों बताती हुई प्रेरित करती है। वहाँ 'करे' आदि लिङ् से क्या यज्ञरूप क्रिया ही कही गयी है या उससे अन्य कोई 'कार्य' नामक वस्तु? - यह संशय हुआ। पूर्वपक्षी ने कहा: जिस शब्द की जिस अर्थ में व्युत्पत्ति हो रखी है - शक्तिग्रह हो चुका है - वह अर्थ उससे प्रतीत होता है। लोक में यही देखा गया है कि 'करो' इत्यादि लिङ् सुनकर कोई न कोई क्रिया ही की जाती है अतः क्रिया से ही लिङ् का संबंध समझ आता है, प्रमाणान्तर से अगम्य अलौकिक नियोग से नहीं। अतः वेद में लिङादि से क्रिया ही कर्तव्यरूप से कही जा रही है। इसका जवाब सिद्धांती का यह है: क्रियासे अन्य ही अपूर्वपदार्थ - नियोग - श्रुति में लिङादि का अर्थ है। 'स्वर्गेच्छुक याग करे' -यहाँ 'करे' किसी ऐसी चीज़ को कह रहा है जो स्वर्ग के अनुकूल है, स्वर्ग देने में समर्थ है; जैसे 'रोटी चाहने वाला घास छीले' सुनकर यही पता चलता है कि रोटी मिलने का उपाय कहा जा रहा है अतः 'घास छीलना' इस क्रिया का रोटी मिलने से सम्बंध न दीखने पर भी सम्बंधकी कल्पना हो जाती है।

ननु कालोपबन्धोऽत्र कार्यबुद्धिविघातकृत् । नैतत्संदेह एवात्र विवेकाभावतस्तव ॥५०७॥
कालोपबन्धः किन्त्वत्र कार्यबुद्धिविघातकृत् । किं भावात्कार्यता भिन्ना लडादिर्यां न भाषते ॥५०८॥
कर्तव्यः कट इत्यादावव्यापारेऽपि कार्यता । वीक्ष्यतेऽतः पृथग्भावात्फलाच्च प्राक्प्रतीतितः ॥५०९॥

'स्वर्गेच्छुक' शब्द नियोज्य का समर्पक है; विधि सबसे पहले विधेय (नियोज्य) चाहती है, 'कोई मुझे मानने वाला हो' यह उसकी प्रथम ज़रूरत है। उसके बाद ही उसे फलादि से प्रलोभित कर वह विषयभूत क्रिया में प्रेरित करती है। वह नियोज्य ही 'स्वर्गेच्छुक' शब्द से कथित है। लिङ् अपना अर्थ इस तरह बतायेगा कि वह अर्थ उस नियोज्य से सम्बद्ध भी हो क्योंकि नियम है 'स्वसम्बन्धित्वेन कार्यबोद्धा नियोज्यो भवति'– 'नियोज्यः स च कार्यं यः स्वकीयत्वेन बुद्ध्यते' (वाक्यार्थमा० २.१८)–अतः नियोज्य से सम्बद्ध होने योग्य वस्तु ही लिङर्थ संभव है कारण कि योग्यों का ही परस्पर अन्वय होता है। यागक्रिया तो पूर्णाहुत्यादि के साथ ही समाप्त हो जाती है अतः वह स्वर्गानुकूल – स्वर्ग देने वाली – नहीं समझी जा सकती इसलिये स्वर्गेच्छा से अवच्छिन्न नियोज्य से उसका अन्वय संगत नहीं। यद्यपि लोक में क्रियारूप कार्य में लिङ् व्युत्पन्न है तथापि 'स्वर्गेच्छुक'–इस नियोज्यार्थकशब्द के साथ आया वैदिक लिङ् क्रियाबोधक हो न सकने से क्रियातिरिक्त कार्य का बोधक हो जाता है। नियोज्यान्वय की अनुपपत्तिमूलक लक्षणा यह नहीं है क्योंकि वैदिक लिङ् की शक्ति ही क्रिया से अन्य कार्य में है तथा पूर्वदर्शित रीति से लौकिक लिङ् भी उसी कार्य में शक्त है। वैदिक स्थल में तो नियोज्य से एकवाक्यता तादृश शक्तिग्रह में सहायक हो जाती है। वह क्रियातिरिक्त कार्य ही अपूर्वशब्द से कहा जाता है। अपूर्व तब तक रहता है जब तक स्वर्गलाभ नहीं हो जाता अतः वह स्वर्गानुगुण है। क्योंकि अपूर्व स्थायी वस्तु है – फल मिलने तक रहनेवाली चीज़ है – इसलिये अस्थायी क्रियाका अवान्तरव्यापारमात्र नहीं कह सकते; ऐसा भला कहाँ होता है कि कुल्हाड़ी तो नष्ट हो जाये पर उद्यमन-निपतन (उसकी उठा-पटक) चलता रहे! अतः वेद में क्रिया से अन्य ही अपूर्ववस्तु लिङ् का (विधिवाचकों का) शक्यार्थ है। ऐसा न मानने पर विधान व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि यह प्रत्यक्षदृष्ट है कि कालान्तरभावी स्वर्ग तक यागक्रिया रहती नहीं है जबकि कारण को कार्यपर्यन्त रहना पड़ता है अन्यथा धागे नष्ट होने पर भी कपड़ा बनने लगे! इसलिये क्रिया को कार्यता नहीं मान सकते ॥५०६॥

कर्तव्यता और क्रिया को एक ही मानने वाला शंका करता है कि 'पकाता है' इस वर्तमानकालिक अर्थात् लट् के प्रयोग में क्योंकि वर्तमानकाल पाकरूप अर्थ का विशेषण बन जाता है इसलिये कर्तव्यता का ज्ञान नहीं होता; यद्यपि पाकरूप क्रिया ही कर्तव्य भी है ज़रूर पर कर्तव्यरूप से उसे समझ नहीं पाते क्योंकि वर्तमानकाल वहाँ विशेषण बना बैठा है। इस प्रकार कार्यताज्ञान के प्रतिबंध से व्यवस्था संभव होने पर कार्य को पदार्थांतर क्यों मानना? शंकापूर्वक समाधान इस तरह है :

लट् आदि के श्रवणस्थल में कार्य के ज्ञान को रोकने वाला कालरूप विशेषण क्यों न मान लिया जाये? ऐसा नहीं मान सकते क्योंकि इस तरह से केवल संदेह हो सकता है, तुम्हे इस बात का विवेक नहीं हो सकता कि यहाँ कार्यज्ञान न होने में कालरूप विशेषण हेतु है या कार्यता क्रिया से भिन्न कोई वस्तु है जिसे लट् आदि नहीं कहते हैं ॥५०७-५०८॥

लट् सुनकर कार्यबोध न होना दो हेतुओं से संभव है: कार्यबोध में कोई रुकावट होना या कार्यबोधक पद ही विद्यमान न होना। निर्णय कैसे हो कि इनमें कौन सा हेतु वहाँ उपस्थित है? ॥५०७-५०८॥

यदि संदेहवश क्रिया-नियोग का अभेद संभव नहीं तो संदेहवश ही उनका भेद भी असम्भव क्यों नहीं? अर्थात् वे भिन्न हैं यही निश्चय कैसे? नियोगवादी जवाब देता है:

'चटायी बनानी चाहिये' आदि स्थलों पर क्रिया से अतिरिक्त चटायी वस्तु में कार्यता समझ आती है अतः वह क्रिया से पृथक् है। और फलज्ञान से पूर्व ज्ञात हो जाने के कारण कार्यता फल से भी पृथक् है ॥५०९॥

ननु कर्मणि कृत्योऽयं तयोरेवेति शासनात् । मैवं प्रैषादिवद्यस्मादुपाधित्वादवाच्यता ॥५१०॥
प्रैषादिष्वपि कृत्यानां तथा च स्मरणं मुनेः । कृत्यानां युक्तितोऽपि स्यान्नैव कर्माभिधायिता ॥५११॥
यथा कटं करोतीति कर्ममात्रावबोधनम् । कर्तव्यः कट इत्यत्र तथैव स्यान्न चेक्ष्यते ॥५१२॥

'चाहिये' अर्थात् तव्यप्रत्यय कार्यार्थक है। वह जैसे भावरूप (=क्रियारूप) कार्य को कहता है – जैसे 'जगना चाहिये, नाचना चाहिये' आदि में – वैसे ही क्रिया से अतिरिक्त चटायी आदि कर्म को – क्रियाविषयको भी कहता है क्योंकि, पाणिनि ने दोनों अर्थों में तव्यादि का विधान किया है। बनायी जाने की योग्यता चटायी में है जिसे 'चाहिये' कहता है। अतः 'चाहिये' का अर्थ क्रिया के साथ ही मिले ऐसा नियम न होने से क्रिया व कार्य का विवेक सुकर है। इसलिये 'यजेत' आदि में प्रकृति का – यज-धातु का – अर्थ क्रिया है तथा प्रत्यय का अर्थ नियोग है यही मान्य है।

पूर्व में (श्लो० ५०५)यह पक्ष आया था कि फल ही लिङर्थ क्यों नहीं? उसका यहाँ उत्तर दे दिया। 'गाँव जाओ' सुनते ही कार्यका बोध हो जाता है जबकि जाने का क्या फल होगा यह वाद में पूछने आदि पर पता चलता है अतः फल से कार्य स्पष्ट ही अलग है ॥४०९॥

'कर्तव्यः कटः' (चटायी बनानी चाहिये) इस उदाहरण पर प्रश्नोत्तर है:

'तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः' इस पाणिनिसूत्रानुसार (३.४.७०) यहाँ तव्यरूप कृत्यप्रत्यय कर्मार्थक है (कार्यार्थक है ही नहीं)? ऐसी बात नहीं है क्योंकि भाव और कर्म तो कृत्यप्रत्ययों के वाच्य हैं ही नहीं, वे केवल कृत्यके अर्थभूत कार्य की उपाधि हैं, जैसे प्रैषादि ॥५१०॥

शंका का आशय है कि पाणिनि ने क्रिया और कर्म इन दो अर्थों में तव्यादि का विधान किया है अतः 'कर्तव्यः कटः' स्थल पर वह कर्मार्थक है। उसे इसी स्थल पर कार्यार्थक कैसे मान रहे हो? और यदि प्रकृत स्थल में वह कर्मार्थक नहीं है तव 'अव्यापारभूत अर्थ में कार्यता सुनायी देती है' (श्लो० ५०९) यह कथन कैसे?

समाधान का अभिप्राय है कि जैसे प्रैषादि में प्रत्ययार्थता का उपचार माना था (श्लो० ५०२) वैसे भाव (=क्रिया) और कर्म में भी मान लेने से प्रत्ययवाच्य तो कार्य ही रहता है। तथा औपाधिकार्थविकल्प से प्रत्यय का अलग-अलग विधान पाणिनि ने कर दिया है अतः 'कर्तव्यः कटः' में कर्मौपाधिकता स्वीकारने से व्याकरणविरोध नहीं ॥५१०॥

नियोगवादी व्याकरण के अनुसार ही विचार चलाता है:

किं च पाणिनि मुनि ने प्रैष आदि अर्थों में भी कृत्यप्रत्ययों का विधान किया है (इसलिये क्रिया और कर्म ही उन प्रत्ययों के वाच्य नहीं हो सकते। अनेक वाच्य मानना भी अनुचित है अतः पाणिनिका अभिप्राय उपाधियों में औपचारिक वाच्यता से उपपन्न कर लेना चाहिये)।

युक्तिसे भी यह सही नहीं लगता कि कृत्यप्रत्यय कर्म के वाचक हों। यदि कृत्य का वाच्य कर्म हो तो जैसे 'कटं करोति' (चटायी बनाता है) में द्वितीयाविभक्ति से सिर्फ कर्म का पता चलता है वैसे ही 'कर्तव्यः कटः' में भी चलना चाहिये, किन्तु चलता नहीं है ॥५११-५१२॥

युक्ति यह है कि 'कर्तव्यः कटः' सुनकर केवल कट की कर्मता ही नहीं उसकी साध्यता भी पता चल जाती है। व्याकरणविधि तो प्राधान्य से भी उपपन्न है, कर्म प्रधानतः प्रतीत होता है अतः तदनुसार वचन-लिंगादि हो जायेंगे। किं च कृत्यों का कर्म अर्थ मानने पर प्रैषादि अर्थ नहीं होने चाहिये क्योंकि जहाँ तक हो सके एक शब्द के अनेक अर्थ नहीं माने जाते जबकि प्रैषादिको भी कृत्यों का अर्थ पाणिनि ने (३.३.१६३) कहा है। अतः स्वीकार्य है कि पाणिनि वाच्य को नहीं कह रहे। वैसे, वाच्यार्थप्रतिपादन व्याकरण का क्षेत्र है भी नहीं यह मीमांसक ही नहीं वैयाकरणों को भी स्वीकार्य है ॥५११-५१२॥

कर्तव्यत्वादभीष्टत्वसिद्धौ कर्मार्थलाभतः । साक्षादनभिधानेऽपि न द्वितीया प्रसज्यते ॥५१३॥
न चाभीष्टत्वकार्यत्वमभिन्नं व्यतिरेकतः । इच्छेदेष्टव्यमित्येवं तत्रापि प्रत्ययो यतः ॥५१४॥
तस्मात्कर्तव्यतावेशात्क्रिया वा यदि वा फलम् । कारकं चाऽपि कार्यत्वं लभते न स्वतन्त्रतः ॥११५॥

वैयाकरण शंका करता है: यदि कृत्य कार्यवाचक है तो कर्म उससे उक्त नहीं होगा। ऐसी परिस्थिति में 'कटं कर्तव्यः' यह अनिष्ट प्रयोग होना चाहिये क्योंकि कट कर्मतया विवक्षित है और कर्म-अर्थ उक्त है नहीं। नियोगवादी समाधान करता है :

कर्तव्यता के कारण अभीष्टता सिद्ध होने पर कर्मरूप अर्थ का लाभ हो जाने से कृत्यसे साक्षात् उक्तता न होने पर भी (अर्थात् उक्तता के कारण) द्वितीयाविभक्ति के प्रयोग का अनिष्टप्रसंग नहीं होता ॥५१३॥

तात्पर्य है कि कृत्य का वाच्य कर्तव्यता है, अनिष्ट में कर्मता होती नहीं अतः कर्तव्यता की अन्यथानुपपत्ति इष्टतारूप कर्मता का ज्ञान करा देती है। 'अनुक्त होने पर द्वितीया होती है' में 'अनुक्त' से दोनों समझने चाहिये - साक्षाद् अनुक्त तथा सामर्थ्य से भी अनुक्त। प्रकृत में सामर्थ्य से कर्म-अर्थ उक्त ही है अतः अनुक्तता न होने से 'कटं कर्तव्यः' यह अनिष्ट प्रयोग क्यों होगा? ॥५१३॥

इष्टता व कार्यता का भेद नियोगवादी व्यक्त करता है:

यह नहीं कह सकते कि अभीष्टता और कार्यता अभिन्न हैं क्योंकि ये पृथक्-पृथक् प्रसिद्ध हैं। 'इच्छा करे' 'इच्छा करनी चाहिये' इत्यादि स्थलों में देखा गया है कि इष्टता से अतिरिक्त कार्यरूप अर्थ में प्रत्यय है ॥५१४॥

जब कहते हैं 'धर्म जानने की इच्छा करे' तब इष्टता को ही 'करे' का भी अर्थ नहीं कह सकते। इच्छा का विषय होना इष्टता है, इच्छा स्वयं का विषय तो हो नहीं सकती! यदि 'इच्छा करे' में 'इच्छा' से कही गयी और 'करे' से कही गयी इच्छायें अलग-अलग मानें तब तो 'करे' से कही इच्छा को भी किसी से विषय होना पड़ेगा और अनवस्था होगी। अर्थात् 'इच्छेत्' का अर्थ होगा 'इच्छानिष्ठ-इच्छाविषयता' या 'इच्छाविषयताविशिष्ट इच्छा'। 'इच्छा' कहने से काम नहीं चला तब 'इच्छेत्' कहा। 'इच्छा' कहने से क्यों काम नहीं चला? इसीलिये कि वह इच्छाविषय नहीं बनी थी जबकि वाक्ता चाहता था कि श्रोता को इच्छा इच्छाविषय बने। लेकिन 'इच्छेत्' में जो इच्छाविषयक दूसरी इच्छा कही गयी है वह स्वयं यदि इच्छाविषय नहीं है तब तो पहले वाली ही समस्या है और यदि उसे पुनः तीसरी चाहिये तो अनवस्था है। आत्माश्रयादि भी क्रमशः समझ लेने चाहिये।

किं च इच्छा में कर्तव्यता की विषयता देखी भी जाती है, चूर्ण आदि खाकर खाने की इच्छा उत्पन्न की जाती है। अतः इष्टता व कार्यता में भेद है ॥५१४॥

यदि कार्यता को क्रियादि से पृथक् मानते हो तो बताओ क्रियादि में सामान्य लोगों को कार्यताज्ञान क्यों होता है?

इसलिये क्रिया, फल या कारक में कार्यता इसी से प्रतीत होती है कि वे कर्तव्यता से उपाधितया सम्बद्ध होते हैं। क्रियादि में स्वतः कार्यता नहीं है ॥५१५॥

प्रैषादिप्रसंग में यह कह चुके हैं। 'कर्तव्यतावेशात्' अर्थात् कर्तव्यता में उपाधिरूप से प्रविष्ट होने के कारण ॥५१५॥

अलौकिक कार्य की लिङर्थता न सहकर कोई शंका करता है:

प्रश्न होता है : जैसे लोक में प्रमाणान्तरसिद्ध क्रिया से सम्बद्ध ही कार्य ग्रहण किया जाता है, उससे रहित नहीं, वैसे ही वेद में भी फलसाधनरूप यागादि की ईहा अर्थात् चेष्टा से सम्बद्ध कार्य ही समझ आता है, कार्यमात्र अर्थात् यागादि से असम्बद्ध कोई वस्तुविशेष नहीं। इसलिये जैसे 'आरोग्य चाहने वाला पथ्य खाये'- इस वाक्य का अर्थ

लोकवन्नु वेदेऽपि कार्यमात्रं न गम्यते । साधनेहानुबन्धस्य वेदे कार्यस्य बोधनात् ॥११६॥
ततश्चाऽऽरोग्यकामस्य पथ्यभोजनवाक्यवत् । मानान्तरप्रवेशेन सापेक्षत्वं प्रसज्यते ॥५१७॥
अतः प्रैषादितुल्योऽयं क्रियाफलनिबन्धनः । नियोगस्तदसंवादाच्चित्रादौ ते विहन्यते ॥५१८॥
मैवं मानान्तरावेशाल्लोके प्रैषाद्युपाधिकम् । कार्यं प्रयोजनार्था च प्रवृत्तिरिति युज्यते ॥५१९॥
साध्यसाधनसंबन्धविषयत्वं पुमर्थतः । नियोगस्यात एवात्र कर्तृत्वेन नियुज्यते ॥५२०॥
स्वत एव प्रवृत्तत्वात्कर्तुरेवाधिकारिता । पदं चाऽऽरोग्यकामादि भवेत्कर्तृविशेषणम् ॥५२१॥

प्रमाणान्तर का विषय होने से सापेक्ष है वैसे ही 'याग करे' इत्यादि वाक्य भी सापेक्ष होगा क्योंकि यह भी ऐसे साध्यसाधनसम्बन्ध को कह रहा है जो प्रमाणान्तर का विषय है। अतः 'याग करे' आदि नियोग अर्थात् विधि भी प्रैषादि के समान है और अलौकिक वस्तु न कहकर क्रियाफलसम्बन्ध को ही विषय करता है। इस स्थिति में जब चित्रादि स्थल पर प्रमाणान्तर का विरोध होता है, या उससे बाध होता है, तब तुम्हारे वेदवाक्य का प्रामाण्य नष्ट हो जायेगा ॥५१६-५१८॥

आरोग्यादि के लिये पथ्यविधान का प्रामाण्य इस पर निर्भर करता है कि पथ्यभोजन से आरोग्य प्राप्त हो। यदि विहित पथ्य या दवा भी खाते रहें पर रोग न हटे तो उस विधान को प्रमाण नहीं मान सकते। ऐसे ही चित्रायाग पशुप्राप्ति के लिये विहित है। कोई व्यक्ति चित्रा याग करे किन्तु फल उसे न मिले तो अवश्य उसे विधि में अप्रामाण्यनिश्चय होगा कि पशुलाभ के असाधनीभूत याग में यह विधि उसकी साधनता बताती है। जब दृष्टफलक विधियों में अप्रामाण्य पता चला तब सारे ही वेद का अप्रामाण्य समझने में कोई विलम्ब नहीं होगा।

चित्रादि स्थल पर मानान्तर का विरोध अर्थात् प्रमाणान्तर से पता चले कि याग से अन्य ही कोई कारण बन रहा है पशुलाभ का; और प्रमाणान्तर से बाध अर्थात् पशु मिले ही नहीं, जो दो-चार थे वे भी मर गये!

लोक में जब विधिको फलसाधनविषयक ही देखा है तब वेद में भी उसे तद्विषयक मानना संगत है और नियोगविषयकी - यागादिकी - फलसाधनता चित्रादि स्थलों पर प्रमाणान्तरगोचर है अतः विसंवाद उसी तरह विधि का अप्रामाण्य संपन्न करेगा जिस तरह दवा आदि की विधि का अप्रामाण्य स्पष्ट हो जाता है जब फ़ायदा नहीं होता। चित्राफलभूत पशु प्रत्यक्षयोग्य हैं अतः उनका न मिलना भी अनुपलब्धिगम्य है ही। इस प्रकार लोकानुसार यह भी मान्य है कि लिङ् का विषयभूत कार्य विनियोग से अवच्छिन्न है तथा वह विनियोग प्रमाणान्तर का गोचर होता है; फलतः वैदिक लिङ् का निरपेक्ष प्रामाण्य नहीं हो सकता तथा प्रमाणान्तरविरोध होने पर अप्रामाण्य भी होगा। (विनियोग अर्थात् फलसाधनता)। शास्त्र और लौकिक प्रमाणों को समकक्ष रखते ही यह शंका सहज है।॥५१६-५१८॥

कार्यवादी लौकिक नियोग की उक्त परिस्थिति सँभालते हुए वेद की स्वतंत्र प्रमाणता के आधार पर परिहार करता है। वैदिक व्यवस्था श्लोक ५२२ आदि से कहेगा, पहले लौकिक की बात कहता है:

संपूर्ण या अंशतः भी वेद की अप्रमाणता का कोई प्रसंग नहीं है। लोक में कार्य प्रैषादि से उपहित होता है और उसमें प्रमाणान्तरगम्य फलोपायता भी प्रधान होती है। यह भी उचित है कि लोक में शब्दप्रेरित प्रवृत्ति भी प्रयोजनसिद्धि के लिये होती है ॥५१९॥ लौकिक नियोग फल-उपाय-सम्बन्ध को, अर्थात् विनियोग को, विषय करे यह ठीक ही है क्योंकि वह (=लौकिक नियोग) तभी पुरुषार्थ (=अभिलषित) हो सकता है। इसीलिये लौकिक नियोग में नियोज्य वह होता है जो कर्ता बन चुका है। लौकिक स्थल में बिना नियोग के प्रवृत्त हो चुकने पर जो कर्ता हो चुका है वह अधिकार भी पाता है। 'आरोग्य चाहने वाला' आदि शब्द भी कर्ता का विशेषण बनता है, (नियोज्य का नहीं) ॥५१९-५२१॥

वेदे तु सकलाक्षादिप्रमाणागोचरत्वतः । साध्यसाधनताज्ञानं नियोगादेव नान्यतः ॥५२२॥
तथा ह्यकारकः कामी स्वर्गकामपदार्पितः । नियोगात्कर्मसंबन्धे पश्चाद्यातीह कर्तृताम् ॥५२३॥

वेद में इससे विलक्षण स्थिति है : वहाँ फलोपायता का ज्ञान नियोगवश होता है, अन्य तरह से नहीं क्योंकि वहाँ गम्यमान फलोपायता प्रत्यक्षादि सभी वेदेतर प्रमाणों का अविषय है ॥५२२॥

लौकिक विधि पुरुष करता है अतः विधेय की प्रमितिपूर्वक ही कर सकता है जिससे निश्चित है कि विधि का जो अर्थ है वह प्रमाणान्तर के योग्य है। अतः प्रैषादि से उपहित कार्य में – जो लोक में लिङादिका वाच्य है – प्रधानता होती है विनियोग की, अर्थात् जिसमें कार्यता है उसमें फलोपायता भी होनी चाहिये, और वह विनियोग अन्य प्रमाणों से ज्ञेय भी होना ज़रूरी हो जाता है क्योंकि प्रमाणविरोध होने पर विधि अप्रामाणिक हो जाती है। लोक में विधि सुनकर प्रवृत्ति भी फल के लिये ही होती है। हरड़ खाना रोगविशेष का निवर्तक है यह अन्वय-व्यतिरेकादि प्रमाणों से समझ आ जाता है अतः उसकी इस विशेषता से अवच्छिन्न नियोग – 'हरड़ खाओ' इस विधि का वाच्य – उस विशेषता को बताये यह उचित है।

प्रमाणान्तर से ज्ञेय विनियोग को (फलसाधन को) विषय करने वाला होने से ही लौकिक नियोज्य वह बनता है जो कर्ता हो : तात्पर्य है कि लौकिक फलसाधन में प्रवृत्ति विधि से ही हो ऐसा नियम नहीं क्योंकि फलसाधनता प्रत्यक्षादिगम्य है। अतः प्रमाणान्तरवश प्रवृत्ति होने पर जो कर्ता बना उसमें नियोज्यता आती है। श्रोता को लगता है 'मैं कर तो इस लिये रहा हूँ कि फलसाधनता प्रत्यक्षादि से निश्चित है किन्तु इनके कहने से प्रेरित अवश्य हुआ हूँ।' भले ही उस प्रत्यक्षादि का विशिष्य ज्ञान श्रोता को (और संभवतः वक्ता को भी!) न हो, फिर भी विश्वास यही रहता है कि अवश्य किसी प्रत्यक्षादि से साधनता प्रमित हुई है। अतः 'उक्त अनुष्ठान से मैं फल पाऊँगा क्योंकि यह भी प्रत्यक्षादिप्रमित है कि इस अनुष्ठान का कर्ता फल पाता है' ऐसा बोध होने से कर्ता ही अधिकार से भी युक्त होता है। इस प्रकार लौकिक विधि में कर्ता का ही नियोज्यत्व और अधिकारित्व से अन्वय होता है। इसीलिये 'आरोग्येच्छुक' आदि को कर्तृपरक ही माना जाता है।

वेद में गति न्यारी ही है! वैदिक विधि जिस क्रियादिको भी बताती है उस क्रियादि में फलसाधनता प्रत्यक्षादि से तो पता चल नहीं सकती। वहाँ तो वैदिक विधि की ही अन्यथाऽनुपपत्ति से फलसाधनता भी पता चलती है : यदि याग स्वर्गोपाय न होता तो स्वर्गेच्छुक के लिये उसका विधान शास्त्र न करता – इस अर्थापत्ति से ही याग को स्वर्गसाधन मानना पड़ता है। इसलिये फलसाधनता को अवच्छेदक मान भी लें तो भी प्रमाणान्तर-विषयता का प्रसंग न होने से लोकतुल्यता और अप्रामाण्य नहीं हो सकते ॥५१९-५२२॥

अब समझाते हैं कि वेद में पहले नियोज्यान्वय होकर तब अधिकारान्वय और फिर कर्तृ-अन्वय होता है। अतः 'स्वर्गकाम' आदि को कर्ता का विशेषण नहीं, नियोज्यार्पक माना जाता है।

क्योंकि ऐसा है इसलिये 'स्वर्गकाम' शब्द से कहा कामनावान् व्यक्ति (पहले ही) कर्तारूप से अन्वित नहीं होता है। नियोग से कर्मसम्बन्ध पा चुकने के बाद धात्वर्थभूत क्रिया के प्रति वह कर्ता बनता है ॥५२३॥

वैदिक साधनता प्रमाणान्तर का विषय नहीं अतः नियोग भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा रख नहीं सकता, अर्थात् साधनता की प्रामाणिकता के सहारे नियोग की प्रामाणिकता हो नहीं सकती। इसलिये सीधे ही वेद से नियोग सिद्ध हो जाता है। नियोग कार्यरूप है, जिस श्रोता को समझ आता है 'यह मेरा कार्य है' वह उस का नियोज्य होता है। नियोग को सर्वप्रथम नियोज्य की ही आकांक्षा होती है क्योंकि उसके बिना नियोगका स्वरूपलाभ दुर्लभ है। अतः स्वर्गकामपद नियोज्य का समर्पक हो जाता है। इस प्रकार कामनावान् का पहले अन्वय नियोज्यरूप से ही हो सकता है।

वह नियोज्य फिर यह समझता है कि यागादि कर्म पर उसका अधिकार है क्योंकि वह कर्म नियोग का विषय और करण है। नियोगज्ञान में धात्वर्थ भी कथंचिद् भासता ही है अतः धात्वर्थ नियोग का विषय कहा जाता है तथा नियोग की उत्पत्ति धात्वर्थ के अधीन होती है इसलिये उसे नियोग का करण भी कहा जाता है। 'क्योंकि कार्य मेरा है इसलिये उसके

कामस्य च प्रधानत्वात्तत्प्राधान्यानपायतः । पुंविशेषणता तस्माद्भोगी कामी न कारकः ॥५२४॥
अप्रवृत्तप्रवृत्तेश्च कारकत्वं न युज्यते । प्रवृत्तस्य णिचोक्तिः स्यात्पचन्तं पाचयेद्यथा ॥५२५॥

विषयादि पर मेरा अधिकार है' ऐसा नियोज्यको प्रतीत होता है। इस प्रकार वह कामनावान् नियोज्य बनने के बाद अधिकारी बनता है।

इसके बाद वह सोचता है कि 'यह यागादि कर्म यदि मेरे कार्य का उत्पादक है तो मैं इसे संपन्न करूँ'; अब जाकर वह यागक्रिया के प्रति कर्ता बनता है। कर्ता परेशान होकर भी क्रिया करता है अतः उसे क्रिया के प्रति गौण समझना संगत है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक स्थल में 'स्वर्गकाम' आदि शब्द कर्तारूप से अन्वित न होकर नियोज्यपरतया अन्वित होते हैं, अधिकार और कर्तृ अन्वय बाद में होते हैं। अतः लौकिक विधिसे सर्वथा विपरीतता है ॥५२२॥

और भी कारण है कि 'स्वर्गकाम' आदि शब्द कर्ता के विशेषण नहीं होने चाहिये :

कामना प्रधान होने से उसे इसी तरह पुरुष का विशेषण बनाना पड़ेगा कि उसकी प्रधानता बनी रहे अतः वेद में कामना से विशेषित नियोज्य अधिकारी होता है, कामना वहाँ कर्ता का विशेषण नहीं बनती ॥५२४॥

कामना क्योंकि फल को विषय करती है इसलिये प्रधान है। वह पुरुष का विशेषण बने तो भी उसे अपनी प्रधानता बनाये रखनी चाहिये। कर्ता तो क्रिया के प्रति गौण होता है, यदि कामना उसका विशेषण बने तो सुतरां गौण हो जायेगी। दूसरी तरह अधिकारी तो प्रधान होता है क्योंकि उसका फल पर स्वामित्व होता है; यदि कामना अधिकारी का विशेषण बनती है तो उसकी प्रधानता सुरक्षित रहती है। अतः 'स्वर्गकाम' आदि शब्द कर्ता के विशेषण नहीं, अधिकारी के ही होते हैं ॥५२४॥

यह जो क्रम निर्णीत हुआ कि वैदिक विधिस्थलों पर पहले नियोज्यतया अन्वय होता है, तदनन्तर अधिकारी रूप से और तब कर्तृतया, इसी में और भी हेतु है:

(वैदिक यागादि में) क्योंकि अप्रवृत्त की प्रवृत्ति होती है इसलिये भी पहले कर्तृत्व होना संगत नहीं। यदि प्रवृत्त की प्रवृत्ति होती तो नियोग का कथन णिच्-से होना चाहिये था जैसे पकाने में प्रवृत्त को उसमें प्रवृत्त करने वाले का कथन णिच्-से होता है ॥५२५॥

प्रयोजककर्ता का उल्लेख णिच्प्रत्ययसे होता है! लिङ्वाच्य नियोग यदि प्रयोजककर्ता हो तो उसे भी णिच् से कथित होना चाहिये था जबकि होता वह लिङ् से उक्त है। प्रयोजककर्ता वहाँ होता है जहाँ प्रवृत्ति करने वाला पूर्वोक्त न्याय से प्रत्यक्षादि प्रमाणवश प्रवृत्त हुआ हो अर्थात् लौकिक साधनानुष्ठान में ही प्रयोजक संभव है। शास्त्रीय प्रवृत्ति ऐसी नहीं अतः नियोग जिसे प्रवृत्त करता है वह प्रमाणान्तर से अप्रवृत्त ही होता है। एवं च नियोज्य बनने से पूर्व उसमें कर्तृत्व आये कहाँ से? लोक में तो प्रमाणांतर से आ जायेगा, पर वैदिक में यह संभव नहीं। अतः यहाँ अप्रवृत्त की प्रवृत्ति अर्थात् प्रमाणान्तरवश कर्ता न बने हुए की प्रवृत्ति होने से कर्तृ-अन्वय पूर्वक नियोज्यान्वय असंभव है।

लोक में यदि प्रवृत्त की (लब्धकर्तृभाव की) प्रवृत्ति होती है तो वहाँ क्यों लिङर्थ को णिच् से नहीं कहा जाता? इसलिये कि वहाँ लिङर्थ नियोग में प्रवर्तकता है नहीं! प्रवृत्ति जब मानान्तरसिद्ध है तब नियोग क्यों उसके लिये प्रयास करे? लौकिक वाक्यों का अर्थ होता है वक्ता का ज्ञान अर्थात् श्रोता समझता है कि 'यह व्यक्ति अमुक बात जानता है।' लौकिक लिङ् सुनकर भी वक्ता का ज्ञान ही पता चलता है। इतना जरूर है कि लौकिक लिङ्स्थल में जो वक्तृज्ञान समझ आता है वह प्रवृत्ति में द्वार बन जाता है; प्रवृत्ति तो प्रमाणान्तरवश होती है पर वाक्य से वक्तृज्ञान की समझ उसके प्रति द्वार (या सहकारी) बन जाती है। इतना फ़र्क लडादि से लौकिक लिङादि में होने पर भी क्योंकि लौकिक लिङ् से उक्त नियोग प्रवृत्तिहेतु नहीं इसलिये उसे णिच् से कहा जाये इसका प्रसंग भी नहीं।

अक्रियाकर्तृसंबन्धे ननु षष्ठी प्रसज्यते । नैवं नाम्नोः सदा योगे षष्ठीयं शैषिकी यतः ॥५२६॥
क्रियाकारकयोगे च द्वितीयादिर्लडादि तु । स्यात्प्रातिपदिकार्थस्य भावार्थेनेत्यसङ्करः ॥५२७॥
नीलोत्पले तु नामार्थावपहाय परस्परम् । भेदमेकात्मतां यातावििति षष्ठी न सम्मता ॥५२८॥

जब कर्तृतया अन्वय प्रथमतः होना असंभव निश्चित है तब स्पष्ट है कि वेद में कामना अधिकारी का विशेषण है, कर्ता का नहीं ॥५२५॥

उक्त अन्वयरीति में 'स्वर्गकामः' की प्रथमा के विषय में प्रश्नोत्तर से वादी स्पष्टीकरण देता है:

नियोग और स्वर्गकाम का संबंध क्रिया के प्रति कर्ता का सम्बंध नहीं है तो स्वर्गकामशब्द में षष्ठी क्यों नहीं होनी चाहिये? इसलिये कि शेषाधिकार की यह षष्ठी हमेशा नामों के मध्य होती है (और नियोग तो लिडर्थ है, नामार्थ है नहीं) ॥५२६॥

अधिकारान्वय अर्थात् स्वामित्वेन संबंध। जैसे जिस धनादिपर स्वामित्व होता है उससे देवदत्तादिका सम्बंध षष्ठी से कहा जाता है वैसे ही यदि स्वर्गकाम पद अधिकारि-विशेषण है तो 'स्वर्गकामस्य यजेत' ऐसा कहा जाना चाहिये था – यह प्रश्न है।

उत्तर है कि विचार्यमान षष्ठी नामों में – संज्ञाओं में – विहित है जबकि 'यजेत' यह कोई नाम तो है नहीं, सुबन्त नहीं है। अतः अधिकारिरूप से अन्वित होने पर भी 'यजेत' के साथ आये 'स्वर्गकाम' पद में षष्ठी होने की संभावना नहीं ॥५२६॥

प्रसंगवश अन्य विभक्तियों की और लकारों की व्यवस्था नियोगवादी समझाता है:

क्रिया व कारकों का सम्बंध बताने में द्वितीया आदि विभक्तियाँ काम में आती हैं। प्रातिपदिकार्थ का धात्वर्थ से सम्बंध बताने में लट् आदि लकार काम में आते हैं। इस प्रकार सुप्-विभक्तियों और तिङ्विभक्तियों के अर्थ विविक्त बने रहते हैं ॥५२७॥

क्रियाके प्रति कर्तृतया सम्बन्ध प्रथमासे, कर्मतया सम्बंध द्वितीया से इत्यादि यथाव्यवस्था समझ लेना चाहिये। धातु व प्रत्यय से भिन्न सार्थक शब्दस्वरूप प्रातिपदिक कहा जाता है, सरलता के लिये उसे संज्ञा समझ लेना चाहिये। धात्वर्थ कहते हैं क्रिया को। इनका सम्बंध लकारों से कहा जाता है। वर्तमानतादि से परिच्छेद को लट् आदि तत्तत् लकार बताते हैं। तात्पर्य है कि पूर्वोक्त षष्ठीप्रसक्ति की शंका व्यर्थ है ॥५२७॥

कोई पूछे कि नामों का परस्पर संबंध यदि षष्ठी से कहना चाहिये तो 'नीला कमल' यह प्रयोग न होकर 'कमलका नीला' यही प्रयोग होना चाहिये? इस पर नियोगवादी स्पष्ट करता है:

'नीला कमल' आदि स्थलों पर दोनों नामों के अर्थ आपसी भेद छोड़कर एकात्मता पा चुके हैं अतः षष्ठी से उनका संबंध नहीं कहा गया ॥५२८॥

तात्पर्य है कि उक्त स्थल पर नीलशब्द सिर्फ़ गुण उपस्थित नहीं कर रहा और कमलशब्द भी सिर्फ़ द्रव्य उपस्थित नहीं कर रहा अतः दोनों पदों के अर्थ एकमेक हुए उपस्थित हो रहे हैं। इसी से इनका संबन्ध षष्ठीसे – अर्थात् 'नील का कमल' या 'कमलका नील' इस तरह – नहीं कहा जा रहा। अभिप्राय है कि जो नामार्थ, प्रातिपदिकार्थ, युतसिद्ध हों उनका संबंध षष्ठी से कहा जाता है जबकि अयुतसिद्ध नामार्थों का समान-विभक्ति में उल्लेख हो जाता है। 'युतसिद्ध' उन दो को कहते हैं जो आपस में सम्बंधी हों लेकिन एक-दूसरे के बिना पृथक् आश्रयों में आश्रित भी हों, जैसे घड़ा और पानी। जिनमें ऐसा संभव न हो और परस्पर संबंधी हों वे अयुतसिद्ध कहे जाते हैं जैसे गुण व गुणी – नीला और कमल।

स्मरणीय है कि जहाँ अभेदांश विवक्षित होगा वहीं विशेषण-विशेष्यतया एक विभक्तिकता होगी, भेदविवक्षा में तो

लिङर्थे युज्यमानस्य कर्मत्वं न च कामिनः । अक्रियात्वान्नियोगस्य द्वितीया चेद्भवेत्तथा ॥५२९॥
तस्मादकारकः कामी स्वनियोगप्रसिद्धये । नियुज्यमान एवेह विषयं साध्यमीक्षते ॥५३०॥
राजादिषु प्रसिद्धश्च नियोगः साध्यगोचरः । भावार्थस्य च साध्यत्वमिति तेनापि युज्यते ॥५३१॥

षष्ठी हो ही सकती है जैसे 'नीले रंग का कमल' या 'कमल का नीला रंग'।

प्रकृत में तो इतना ही तात्पर्य है कि नियोग व नियोज्य का सम्बन्ध षष्ठीप्रोक्त हो ऐसा नियम नहीं कह सकते ॥५२८॥

शंका होती है षष्ठी न सही, स्वर्गकामपद में द्वितीया क्यों नहीं? स्वर्गकाम से उक्त नियोज्य नियोगद्वारा प्रेरित किया जाता है अर्थात् नियोग नामक प्रेरणा का कर्म है। क्रिया के व्याप्य अर्थात् विषय में द्वितीया देखी जाती है जैसे 'गाँव को जाता है' आदि। ऐसे ही 'स्वर्गकामं यजेत' ऐसा प्रयोग क्यों नहीं? नियोगवादी समाधान करता है:

लिङर्थ नियोग में प्रेर्यरूप से सम्बद्ध होने वाला स्वर्गेच्छुक नियोग का कर्म - अतः द्वितीया के योग्य - नहीं बन जाता क्योंकि नियोग कोई क्रिया तो है नहीं! यदि नियोग क्रिया होता तब भले ही नियोज्य में द्वितीया होती ॥४२९॥

सकर्मक क्रियाओं को ही कर्माकांक्षा होती है। नियोग तो क्रिया से साध्य अपूर्व पदार्थ है, वह क्रिया ही नहीं कि कर्माकांक्ष हो। अतः नियोग नामक प्रेरणाके विषय का वाचक होने पर भी स्वर्गकामपद द्वितीयान्त नहीं होगा। स्वर्गेच्छुक का संबंध मालिक की हैसियत से - अधिकारितया - होगा ॥५२९॥

नियोज्य-अधिकार-कर्तृ- यह अन्वयक्रम नियोगवाद में निर्णीत हुआ, इसीका वह उपसंहार करता है:

इसलिये नियोज्यतया अन्वित होता हुआ स्वर्गादिकामी, कर्ता बनने से पहले ही अपने नियोग को सत्ता में लाने के लिये यहाँ (=लिङ् के ज्ञानमें) जो विषय (=क्रिया) है उसे अपने द्वारा साध्य (=अनुष्ठेय) समझ लेता है ॥५३०॥

जब नियोग से नियोज्यतया संबंध होता है तब तक कर्तृताबोध संभव ही नहीं यह दिखा चुका हैं अतः नियोज्य होकर स्वामिरूपसे - अधिकारिरूप से - सम्बंध होता है; 'यह मेरा है' इस तरह समझा गया नियोग तब तक विद्यमान नहीं हो सकता जब तक उसके विषय और करण को संपन्न न कर लिया जाये। अतः अधिकारी अपने नियोग को विद्यमान बनाने के लिये विषयादि खोजता है। तब वह लिङादि विधिशब्दों द्वारा धात्वर्थरूप क्रिया में प्रेरित होता है क्योंकि वह लिङादिवाच्य नियोग की विषय और करण होती है। नियोगप्रतीति बिना क्रिया को विषय किये संभव नहीं अतः क्रिया नियोग का विषय कही जाती है तथा नियोग की उत्पत्ति में क्रिया ही प्रयोजक बनती है इसलिये उसकी करण भी कही जाती है। ऐसी क्रिया को वह नियोज्य अधिकारी अपने द्वारा साध्य या अनुष्ठेय समझ लेता है क्योंकि उसके बिना उसका नियोग विद्यमान नहीं हो सकता ॥५३०॥

साध्य ही विषय हो सकता है इसे उपपन्न करता है:

राजाज्ञादि में प्रसिद्ध है कि नियोग साध्य को (=क्रिया को) विषय करता है। क्रिया ही साध्य होती है इसलिये नियोज्य अधिकारी क्रिया से भी कर्तृतया सम्बद्ध हो जाता है ॥५३१॥

राजाकी आज्ञा से कोई न कोई क्रिया ही करनी पड़ती है यह देखा गया है अतः आज्ञार्थभूत नियोग का विषय साध्यरूप क्रिया ही संगत है। जहाँ दधि आदि द्रव्य का भी विधान है वहाँ भी धात्वर्थभूत होमादि से विशिष्ट हुए द्रव्यादिका ही होने से विध्यर्थ का धात्वर्थ से व्यभिचार नहीं। यद्यपि दूध से दही बनाया जाता है अतः दही भी साध्य कह दिया जाता है तथापि यह स्पष्ट है कि साक्षात् साध्य तो क्रिया ही होती है, द्रव्य में तो उसके द्वारा साध्यता आती है। अतः यही संगत है कि क्रिया ही साध्य हो। यह शंका उचित नहीं कि स्वर्गाभिलाषी का नियोग और याग दोनों से सम्बंध क्यों; कारण कि स्वर्गेच्छुक स्वर्गसाधन चाहता है, वह है नियोग लेकिन अनुत्पन्न नियोग तो स्वर्ग देगा नहीं अतः उसे उत्पन्न करने के लिये स्वर्गकाम व्यक्ति नियोग से सम्बद्ध होने के बाद धात्वर्थ याग से भी सम्बद्ध हो जाता है। इस प्रकार दोनों से संबंध

अविवक्षितमप्येवं लिङ्गसङ्ख्यं विवक्ष्यते । पश्चाद्विषयसिद्ध्यर्थं कारकादि च यच्छ्रुतम् ॥५३२॥

आवश्यक है, अन्यतर से संबंध पर्याप्त नहीं कि विकल्प हो सके : केवल धात्वर्थ तो तुरंत नष्ट हो जाता है अतः स्वर्गोपाय न हो सकने से केवल उससे सम्बन्ध पर्याप्त नहीं और केवल अर्थात् अनुत्पन्न नियोग भी फलप्रद न होने से उसी से (=अनुत्पन्न नियोग से ही) सम्बन्ध (=अधिकार, स्वामित्व) पर्याप्त नहीं ॥५३१॥

लिङ्पदका अर्थ तो स्पष्ट हुआ लेकिन 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य का तात्पर्य क्या है? नियोगवादी के अनुसार उसका तात्पर्य नियोग में ही है। यदि ऐसा है तो 'स्वर्गकाम'-पद में आये पुल्लिंग और एकत्व संख्या को विवक्षित नहीं मान सकते क्योंकि नियोग और स्वर्गकाम परस्पर अन्वित हैं, स्वर्गकाम में गुणभूत लिंग-संख्या तो नियोग से अन्वित हैं नहीं कि स्वर्गकामान्वित नियोग की प्रतीति में लिंग-संख्या भी प्रतीत हो सकें। इसलिये यह नियम संभव न होगा कि एक ही पुरुष यजमान हो सकता है, स्त्री को व दो-चार को इकट्ठे भी यजमान बनने में कोई प्रतिबंध नहीं हो सकता। इस समस्या को पश्वेकत्वाधिकरणन्याय से (मी०सू० ४.१. अधि० ५-६) वादी सुलझाता है:

उक्त ढंग से वाक्य नियोगपरक होने के कारण यद्यपि लिंग और संख्या प्रतिपाद्य नहीं हैं तथापि वे ग्रहणयोग्य ही हैं और प्रत्ययार्थभूत नियोग की प्रतीति के बाद धात्वर्थ की निष्पत्ति के प्रयोजन से वे कारकादि भी ग्राह्य हैं जो संनिधि में श्रुत्युक्त हैं ॥५३२॥

प्रतिपादन का मुख्य विषय न होने पर भी श्रुति में कहे लिंग-संख्या को छोड़कर अन्य लिंगादि की कल्पना ग़लत होने से श्रुति में प्रयुक्त लिंगादि ही ग्राह्य हैं। बिना लिंगादि के तो नियोज्यादिका लाभ नहीं होना क्योंकि वह किसी न किसी लिंगादि वाला ही होगा। अतः जब लिंगविशिष्ट समझना ही है तो श्रुत लिंग से ही विशिष्ट को समझना चाहिये। इसी तरह यदि फलादि की अविवक्षा ही हो तो अनुष्ठान संभव नहीं क्योंकि क्रिया-कारक-फलादि के बिना अनुष्ठान होता नहीं, अतः इन्हे भी विवक्षित मानना ज़रूरी है। फिर भी वाक्यभेद इसलिये नहीं कि वाक्य का साक्षाद् अर्थ तो नियोग है और कारकादि उसके अर्थात् सिद्ध होने वाले अर्थ हैं।

इस परिहार में आश्रित न्याय का यह संक्षेप है: 'अग्नीषोमीयं पशुम्' 'कपिञ्जलान्' इत्यादि में एकत्व, बहुत्वादि विवक्षित है या नहीं यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि पशुका-पशुत्वावच्छिन्न का या कपिंजलत्वावच्छिन्न का - कऱणतया नियोग से सम्बन्ध होना है, एकत्वादिका नहीं क्योंकि एकत्वादि तो पशु के गुणभूत हैं; अतः नियोगान्वयके अयोग्य एकत्वादि को विवक्षित नहीं मान सकते। सिद्धान्त है कि जैसे लोक में 'पशुमानय' (पशु लाओ) सुनकर 'एक पशु माँगा जा रहा है' यह पता चलता है अतः बहुतेरे पशु नहीं लाये जाते उसी तरह वैदिक शब्दों में भी संख्यादि से विशिष्ट अर्थ भासने से संख्यादि विवक्षित हैं। इस प्रकार जैसे पशु की संख्या विवक्षित है वैसे 'स्वर्गकामः' में भी एकत्व विवक्षित होने से एक प्रयोग में यजमान एक ही होगा। 'देशः कालो निमित्तं च फलं संस्कार्यमेव च' - इन पाँच को अनुपादेय मानते है और इनके विशेषणभूत संख्या को अविवक्षित मानते हैं जैसे 'ग्रहं संमार्ष्टि' में संस्कार्य ग्रहपात्रका एकत्व विवक्षित नहीं; किन्तु स्वर्गकाम नियोज्य होने से उपादेय ही है अतः इसकी संख्या अविवक्षित नहीं। यदि यह पद केवल फलार्थक होता - 'यागस्य फलं स्वर्गः' यह विधिवाक्य का अभिप्राय होता - तब भले ही इसकी संख्या उपेक्ष्य होती लेकिन जब इसे नियोज्यपरक माना तब वह संभावना नहीं।

इसी प्रकार पशु का लिंग विवक्षित है कि नहीं - इस संशय पर पशु चाहे पुरुष हो या स्त्री, अनुष्ठान में अंतर न पड़ने से उसका लिंग अविवक्षित मानना चाहिये यह पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त यही है कि जहाँ अनुष्ठान में फ़र्क न भी पड़े वहाँ भी उक्त लिंग विवक्षित है क्योंकि पशु उपादेय द्रव्य होने से पशुविशेष का निश्चय ज़रूरी है और लिंग उस निश्चय में हेतु बनता है। करण पशु बनेगा लेकिन जैसे किसी संख्या वाला ही वह मिलेगा वैसे ही किसी लिंग वाला ही मिलेगा अतः संदेह होगा कि 'किंलिंगक पशु चाहिये?' इसके निवारणार्थ श्रुतलिंगत्याग व अश्रुतकल्पना अयोग्य होने से यताश्रुत को विवक्षित मानना

ततश्च स्वर्गकामो यः स्वनियोगं स साधयेत् । केन यागादिनिर्वृत्त्येत्येतच्छास्त्रात्प्रतीयते ॥५३३॥
न चानपनयन्यागः कामिनः स्वर्गकामिताम् । साधनं स्वाधिकारस्य भवतीह कथंचन ॥५३४॥
अनुन्मृदितकामो हि पूर्वावस्थाऽविशेषतः । निष्पादिताधिकारोऽपि नियोगार्हः पुनर्भवेत् ॥५३५॥
अधिकारः स्वसिद्ध्यर्थमतः कामस्य साध्यताम् । यागेनाऽऽपाद्य संसिध्यन्विषयस्यैति साध्यताम् ॥५३६॥

चाहिये। ऐसे ही 'स्वर्गकाम' पद में पुल्लिंग भी विवक्षित है – यजमान पुरुष ही होगा। (यह बात अलग है कि विध्यंतरवश दम्पतिका सह-अधिकार ही है) ॥५३२॥

लिंग, संख्या, कारक व फल विवक्षित होने से यह निष्कर्ष निकलाः

इसलिये विधिवाक्य से यह प्रतीत होता हैः 'जो स्वर्ग चाहे वह अपने नियोग को सम्पन्न करे। किस उपाय से? यागादि के अनुष्ठान से।' ॥५३३॥

फल विवक्षित माना अतः 'स्वर्गकामो यजेत' में कहे याग का अधिकारी स्वर्गेच्छुक होगा, चाहे जो चाहने वाला नहीं। ऐसे ही वह पुरुष और एक भी होना पड़ेगा, अनेक या स्त्री आदि स्वतंत्रतापूर्वक अधिकारी नहीं होंगे। पत्नीरूपसे ही स्त्रीका अधिकार होगा, अकेले नहीं। कर्तृकारक भी विवक्षित होने से यह भी पता चल जाता है – नियोज्य ही क्रियाद्वारा अपने नियोग को उत्पन्न करे, ऐसा नहीं कि नियोज्यसे अन्य ही कोई व्यक्ति क्रिया कर ले। इसीलिये यजमान का प्रतिनिधि नहीं होता यही उत्सर्ग है। करण और इतिकर्तव्यता (= करने का ढंग) भी विवक्षित है अतः 'समस्त अंगों समेत प्रधान याग के अनुष्ठान से नियोग उत्पन्न करे' यह भी विधि से पता चल जाता है। इस प्रकार वाक्यार्थ भले ही नियोग हो पर पार्ष्ठिक अन्वय से बाकी सब भी उसी वाक्य से पता चल जाता है ॥५३३॥

प्राभाकर नियोग को सर्वप्रधान मानता है। यागादि नियोग के साधन हैं यह जब स्वीकारा तो प्रश्न स्वाभाविक है कि फिर स्वर्ग का साधन कौन है? यदि नियोग को स्वर्गसाधन मानें तब स्वर्ग ही प्रधान हो जायेगा, नियोग की प्रधानता चली जायेगी। इस परिस्थिति में वह लौकिकन्याय का सहारा लेता है कि वेतन देने पर भी प्रधान तो मालिक ही रहता है, वेतन इसी लिये है कि मालिक की ज़रूरत पूरी हो। ऐसे ही नियोग याग से स्वर्गादि फल होने देता है फिर भी है प्रधान ही क्योंकि नियोग उत्पन्न किया जाये इसीलिये वह फल होने देता है! नित्यकर्मों में भले ही नियोगसिद्धिमात्र फल हो लेकिन काम्यादि में प्राभाकर भी नियोगसिद्धि द्वारा फलप्राप्ति मानता ही है। अतः फलप्राप्ति में अनुकूल बनने पर भी नियोग प्रधान है इस बात को समझाता हैः

स्वर्गादिफलेच्छुक के लिये विहित याग कामनावान् की स्वर्गादिकामना को यदि पूरा न करे तो वह स्वविषयकनियोग का साधन किसी तरह नहीं बन सकता ॥५३४॥ यदि याग कर चुकने पर भी नियोज्य की कामना पूरी न हो तो याग करने से पहले की स्थिति ही बनी रहने से जैसे वह पहले नियोगयोग्य (=नियोज्य) था वैसे ही नियोग उत्पन्न करने के बाद भी बना रहेगा! (जब कि यह अस्वीकार्य है।) ॥५३५॥ इसलिये नियोग अपनी सिद्धि के अनुकूल नियोज्य की प्राप्ति के लिये काम्य स्वर्गादि में याग की साध्यता आपादित करा कर संसिद्ध होते हुए विषयभूत यागादि धात्वर्थ का साध्य हो जाता है ॥५३६॥

नियोज्य कामना से अवच्छिन्न है। याग उसकी कामना पूरी करने वाला न हो तो यागसाध्य नियोग को उत्पन्न कर न पायेगा क्योंकि तब कोई याग करेगा ही नहीं! अतः याग को नियोग द्वारा स्वर्ग उत्पन्न करके स्वर्गेच्छा पूरी करनी पड़ेगी। किंच ऐसा न करे तब तो जैसे प्रागभावको कारण न मानने पर घटोत्पत्ति के द्वितीयादि क्षणों में भी घटोत्पत्ति का प्रसंग होता है ऐसे ही नियोज्य बेचारा जीवनभर याग ही करता रह जायेगा! आखिर नियोग की ज़रूरत ही इसलिये पड़ी थी कि कालान्तर में होने वाले फल के लिये शीघ्र नष्ट होने वाला याग अकेला पर्याप्त नहीं है। अतः नियोग को फललाभ के सर्वथा अनुकूल

नानन्तरफलाभावे विसंवादोऽत्र शङ्क्यते। क्रियासाध्ये फले स स्याल्लिङर्थस्त्वक्रियात्मकः ॥५३७॥
प्रत्यर्थिनि च शब्देऽस्मिन्नाभावोऽनुपलब्धितः। मानाभावे ह्यसौ मानमानन्तर्यं त्वचोदितम् ॥५३८॥
अतः कृताधिकारोऽपि यो विद्यादकृतार्थताम्। तस्य शास्त्रानभिज्ञत्वान्नाधिकारोऽत्र वैदिके ॥५३९॥

होना पड़ेगा। नियोज्य जब याग करेगा तब नियोग उत्पन्न होगा लेकिन याग वह करे इसके लिये याग को फलसाधक बनना पड़ेगा। याग को यह सामर्थ्य नियोग प्रदान करता है अतः यह प्रधान तो बना ही रहता है क्योंकि फलप्रापकत्व भी इसीलिये है कि नियोग सिद्ध हो सके ॥५३४-५३६॥

श्रुत फल स्वीकारने पर एक समस्या खड़ी हो जाती है: भले ही कालान्तरभावी स्वर्गादि की साधनता प्रमाणान्तर का अविषय होने से कोई प्रमाण यागादि की उपायता का विरोध न करे, लेकिन जो फल यहीं होने वाले बताये गये हैं, जैसे पशु पुत्रादि, उनमें प्रत्यक्षादि की विषयता होने से प्रमाणान्तर विरोध होने पर – अर्थात् याग करने पर भी फल न मिलने पर – विधि में अप्रामाण्य कैसे नहीं आयेगा? नियोगवादी अपने ढंग से समाधान सुझाता है :

क्रियासमाप्ति के अनन्तर फल न होने पर स्पष्ट जो प्रमाणान्तरविरोध है वह भी चित्रादिविधि की अप्रमाणता में कारण नहीं बन सकता। क्रियासे साध्य फल होने पर क्रियासमाप्ति के अनन्तर फल की अनुपलब्धि प्रमाणविरोध हो सकता है लेकिन नियोग क्रियारूप तो है नहीं (कि नियोगसाध्य फल भी क्रिया के अनंतर ही उपलब्ध ज़रूर हो)! ॥५३७॥

तात्पर्य है कि जहाँ अपूर्वद्वारक फल कहा गया है वहाँ तुरंत न मिलना साधन की कमज़ोरी नहीं बता सकता। जब लौकिक वेतन भी महीना भर काम करने के बाद ही मिलता है, और कभी-कभी तो हेतुविशेषवश कई महीनों बाद भी मिलता है!, तब अलौकिकद्वारक फल का तुरंत न मिलना क्या आश्चर्य? ॥५३७॥

यद्यपि नियोग अपूर्व होने से प्रत्यक्षादि – के अयोग्य है अतःमान सकते हैं कि याग हो गया तो ज़रूर नियोग उत्पन्न हो गया, तथापि पशु आदि फल तो योग्य होते हुए जब मिल नहीं रहा तब उस वाक्य की प्रमाणता कटेगी क्यों नहीं? इसके उत्तर में नियोगवादी कहता है:

शब्दात्मक इस (विधिवाक्यरूप) विरोधी प्रमाण के रहते उपलब्धि न होने से यह नहीं सिद्ध होता कि याग से फल नहीं होता क्योंकि जहाँ भावसमर्पक प्रमाण न हो वहीं अनुपलब्धि प्रमाण होती है। क्रियासमाप्तिके तुरन्त बाद फल होता है यह तो श्रुति ने कहा नहीं है! ॥४३८॥

अभिप्राय है कि स्वतः प्रमाणता मान्य होने से श्रुति याग में साधनता प्रमित कराती है तो अनुपलब्धि की प्रवृत्ति नहीं होगी। आँख से घड़ा दीखे तो कैसे कहा जाये कि अनुपलब्धि से घटाभाव सिद्ध है? याग में साधनतारूप भाव को विधि प्रमित करा रही है अतः फल की अनुपलब्धि से याग की असाधनता नहीं सिद्ध हो सकती। यह तो वाक्य ने कहा नहीं कि याग से तुरंत फल होगा, उसने इतना ही कहा कि उससे फल होगा अवश्य। अतः साधनता में मानान्तरविरोध शंकित नहीं किया जा सकता। मिलेगा पशु, पर कब – इसका प्रतिबंध नहीं ॥५३८॥

कोई कह सकता है कि जो इतना विचार न कर पायेगा वह तो वाक्यप्रामाण्य के प्रति संशयालु हो ही सकता है? इस पर नियोगवादी की घोषणा है:

क्योंकि जिसने नियोग उत्पन्न कर लिये उसे फल मिलना अवश्यंभावी है इसलिये जो नियोग संपन्न कर चुकने पर भी यह समझे कि वह फलभोग करने वाला नहीं है वह शास्त्र से अनभिज्ञ होने के कारण वैदिक कर्म में अधिकारी ही नहीं है! ॥५३९॥

'विद्वान् यजते' इत्यादि वाक्यों से शास्त्र को सही तरह समझने वाले को ही कर्माधिकार होने से ऐसे नासमझ को अधिकार ही नहीं कि उसका संशय वेदप्रामाण्य को सांशयिक भी बना सके।

मन्त्रार्थवादनाम्नां च कार्यार्थानुप्रवेशतः । प्रामाण्यं न स्वतस्तस्मात्कार्ये वेदस्य मानता ।।५४०।।

इस प्रसंग में यह जान लेना चाहिये कि वेदान्ताचार्यों की व्यवस्था में जिन कर्मों का फल तुरंत होना ज़रूरी है लेकिन नहीं होता, वहाँ यही मानना चाहिये कि कर्म में कोई त्रुटि हुई है। संक्षेपशारीरकमें (३.३५०) कहा है 'अभ्यग्रशुष्यदखिलौषधिकस्य पुंसो वृष्टिप्रदेष्टिरधिकारवशादिहैव।' जिसकी खेती सूख रही है वह कारीरी इसलिये तो करता नहीं कि जन्मान्तर में वर्षा हो! अतः कारीरि के अधिकारवाक्य में कही वृष्टि को यहीं होने वाला फल मानना पड़ेगा अन्यथा वह कर्ता का काम्य न होने से फल ही नहीं रह जायेगा। अतः इस श्लोक की टीका में मधुसूदन स्वामी कहते हैं 'तदनुपलम्भे त्वङ्गवैकल्यं कल्पनीयमिति भावः।' ।।५३९।।

स्वर्गकामादि विधिवाक्य उक्त तरह से नियोग में तात्पर्य वाले भले ही हों लेकिन जिनका स्वार्थ विवक्षित नहीं वे मंत्रादि कार्यपरक न होने से यह कैसे कि समूचा वेद कार्यनिष्ठ है? इसका जवाब नियोगवादी मंत्राधिकरण के (मी. १.२. आधि. ४) न्याय से देता है:

मन्त्र, अर्थवाद और नामधेय भी कार्यरूप अर्थ से सम्बद्ध होकर ही प्रमाण होते हैं, उसके बिना नहीं। इसलिये वेद कार्य के बारे में ही प्रमाण है ।।५४०।।

शंका का अभिप्राय है कि मंत्रादिका जब कोई विवक्षित अर्थ नहीं तब कार्य भी उनका अर्थ कहना संभव नहीं अतः वेदमात्र को कार्यपरक कहना ग़लत होगा। समाधाता का तात्पर्य है मंत्रादि प्रमाण हैं लेकिन कार्यसंबंधी रहते हुए ही अतः उनको वेदकार्यपरता के व्यभिचारका स्थल नहीं बना सकते। अनुष्ठेय पदार्थों की याद दिलाने वाले मंत्र हैं, अनुष्ठानादि की स्तुति आदि करने वाले हैं अर्थवाद तथा नाम तो हैं ही अनुष्ठेयों के; अतः सबका विधि से एकवाक्यत्व होने के कारण उनका भी तात्पर्य कार्य से बहिर्भूत नहीं है।

मीमांसादर्शन में (१.२.४) विचार आया है: श्रुति आदि ने जिनका विनियोग (=फलोपायत्व) बताया है उन अर्थों का (=द्रव्य, क्रियादि का) बोध कराने में समर्थ जो मंत्र हैं उनके अर्थों को विवक्षित माना जाये या नहीं – यह संशय है। **पूर्वपक्ष है:** यदि मंत्रों का अर्थ विवक्षित हो तो अर्थ की सामर्थ्यरूप लिंग से ही मंत्रों का विनियोग पता चल जाने के कारण जो उनका विनियोग बताने वाले ब्राह्मणवाक्य हैं वे व्यर्थ हो जायेंगे, ब्राह्मण वाक्यों का अर्थ अविवक्षित मानना पड़ेगा। अतः विनियोग को ब्राह्मणवाक्य से ही मानना चाहिये; जिन द्रव्य-क्रियादि अर्थों का अभिधान (=प्रकाशन) करने में मंत्र समर्थ हैं उन्ही के प्रकाशन में मंत्रों का विनियोग जब ब्राह्मणवाक्य कर रहा है तब मंत्रों का अर्थ विवक्षित मानना व्यर्थ है, मंत्रों का उच्चारण हो इतने से ही क्रत्वादिका उपकार हो जाता है। इस प्रकार मंत्र विवक्षितार्थक हों तो ब्राह्मण व्यर्थ और ब्राह्मण विवक्षितार्थक हो तो मंत्र व्यर्थ होते हैं अतः दोनों ही अविवक्षितार्थक सिद्ध हो जाते हैं। जब शब्दार्थ विवक्षित नहीं तो उस शब्द को उस अर्थ में प्रमाण नहीं कह सकते। मंत्र और ब्राह्मण दोनों जब अप्रमाण हैं तब प्रयोगशास्त्र – जो इन्ही का मिला-जुला एक वाक्य होता है – भी अप्रमाण ही हो जाता है। इसका उत्तर सिद्धान्ती ने यों दिया है: लोक में शब्द जब अर्थबोध के लिये प्रयुक्त होते हैं तो मंत्र में भी वे अर्थपरक हैं यह स्वतः सिद्ध है क्योंकि लौकिक और वैदिक शब्द अलग-अलग नहीं माने जाते। अर्थसामर्थ्य से प्राप्त विनियोग का अनुवाद ही ब्राह्मणवाक्य करे तो भी उसमें अर्थविवक्षा न मानने की ज़रूरत नहीं; अनुवाद ज्ञातज्ञापक होने से अनधिगतांश में प्रमाणलक्षणरहित होने पर भी विवक्षितार्थ तो होता ही है। लिंगज्ञान में ही प्रामाण्य की दृढता का संपादन अनुवादरूप अर्थवाद कर देता है अतः निष्प्रयोजन भी नहीं और ग़लत बात न कहने वाला होने से प्रमाणबाधित तो नहीं ही है। इस प्रकार मंत्र व ब्राह्मणवाक्य दोनों प्रमाण हैं अतः इनका मिला-जुलारूप प्रयोगशास्त्र भी प्रमाण ही है। इसलिये मंत्र विवक्षितार्थ हैं तो ज़रूर प्रश्न होगा कि वे कार्यार्थक हैं या नहीं? उत्तर है कि उक्त तरह से मंत्रों में जब श्रुत्यादिविनियुक्तार्थप्रकाशन-सामर्थ्य माना तभी स्पष्ट हो गया कि कार्यशेष होने से ही उनमें प्रमाणता है क्योंकि वे उस अर्थ को प्रमित कराते हैं जो कार्यप्रयोजनार्थ विनियुक्त है। विनियोग कार्यशेष समझ चुके हैं अतः विनियुक्त भी कार्यशेष ही है और उसकी प्रमितिका शेष मंत्र हुआ तो वह कार्यशेष है इसमें कहना ही क्या!

वेदान्तानामतो वाच्यं कार्यार्थानुप्रवेशनम् । प्रामाण्यं वा निषेद्धव्यमत्र प्रतिविधीयते ॥५४१॥
निःशेषमातृतद्वृत्तिजन्मनां तद्विलक्षण-। स्वतःसिद्धात्मसंबोधव्याप्तिर्वस्त्वनुरोधतः ॥५४२॥

अर्थवाद भी कार्यशेषरूप से ही प्रमाण हैं यह भी मीमांसा में (१.२.१) स्थापित है। वहाँ भी यह विचार है: अर्थवाद में कहे कारण की अपेक्षा करके विधि पुरुष को नियुक्त करती है या नहीं? यदि अपेक्षा है तो विधि की निरपेक्षता जाती है और यदि विधि को अर्थवाद की अपेक्षा नहीं तो वह व्यर्थ होकर अप्रमाण होता है। सिद्धांत है: अर्थवाद तो कर्म के प्राशस्त्य को उपलक्षित करता है और विधि से एकवाक्यतापन्न होकर 'यह प्रशस्त कर्म करो' यों पुरुष की नियुक्ति में काम आता है। अतः वह भी कार्यसम्बन्ध से ही स्वार्थ में – अपने वाच्य आदि अर्थ में – प्रमाण है।

इतना ज़रूर है कि मंत्र-अर्थवादादि का यदि कार्य से सम्बंध छूट जाये तो वे स्वबोध्य अर्थ में प्रमाण भी नहीं रहेंगे क्योंकि फिर वे निष्फल हो जायेंगे। प्रमाण होने के लिये साफल्य चाहिये और वह कार्यसम्बन्ध से ही मिलता है। हर हालत में मंत्र-अर्थवाद विवक्षितार्थक और कार्यपरक हैं इतना निश्चित है।

इसी तरह नामधेयों की भी कार्यार्थकता है क्योंकि वे भी विधि के अंतर्गत आ जाते हैं। उद्भिद् आदि शब्द कर्म के नाम हैं यह निश्चित (मी. १.४. अधि.२) है अतः उनकी आख्यात से समानाधिकरणता संभव है अर्थात् आख्यातोक्त अर्थ के वे परिच्छेदक बन सकते हैं। प्रश्न है कि ऐसे वे नामपद धर्म में प्रमाण हैं या नहीं? फल, करण और करने का ढंग – इनमें से कुछ बताने वाले न होने के कारण नामधेयों को धर्म में प्रमाण नहीं कह सकते, यह पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त है: जब विधि सारे वेद के अध्ययन की कर्तव्यता कहती है तो यह ज़रूरी है कि सारा ही अध्ययन पुरुषार्थफलक हो। वेद में ही उद्भिद आदि नाम आये हैं तो वे भी पुरुषार्थप्रद होने चाहिये। 'उद्भिदा यजेत' आदि में प्रत्यक्ष है कि नामों का विधि में अन्तर्भाव है क्योंकि लिङ्के विषयभूत धात्वर्थका परिच्छेदक होने से वह लिङ् के ही अन्तर्गत आ जाता है। नामधेयपद गुणभूत द्रव्यादि के विधायक नहीं यह विस्तार से समझाकर उन्हे नामात्मना ही कार्यशेषतया प्रमाण स्वीकारा है। अतः नामों को भी अकार्यार्थता की निश्चयभूमि नहीं कह सकते। फलतः सारा ही वेद कार्य में प्रमाण है यही सिद्ध हुआ ॥५४०॥

श्लोक ४७७ से प्रतिज्ञात कार्यैकनिष्ठता को उपपन्न कर निगमन करते हुए वेदान्ती के सामने कार्यवादी समस्या रखता है और सिद्धान्ती अपना उत्तर प्रारंभ करता है:

इसलिये यही कहना होगा कि वेदान्त कार्यरूप अर्थ से संबंधित हैं और या वे प्रमाण हैं इसी का निषेध करना होगा!

इस पर अब उत्तर दिया जाता है : ॥५४१॥

शब्द कार्यपरतया ही प्रमाण है और वेदत्वावच्छिन्न भी कार्यपरक है इसलिये वेदान्त कार्यपर हैं ही, वेद होने से भी वे कार्यार्थक हैं। – यह शंकक का तात्पर्य है।

सिद्धान्ती पूर्वोक्त सभी हेत्वाभासों के परिहार की प्रतिज्ञासे स्पष्ट कर देता है कि न नियोग प्रामाणिक है, न शब्दमात्र की कार्यार्थकता और न समूचे वेद की कार्यपरता अतः वेदान्त परमात्मा में ही प्रमाण है। ॥५४१॥

कार्यसम्बन्ध न होने पर वेदान्त अप्रमाण दो ही कारणों से हो सकते हैं –(१) उनका कोई विषय (=प्रमेय) नहीं होगा; या (२) सिद्धार्थ में (अकार्यभूत अर्थ में) शब्द की सामर्थ्य ही नहीं है कि शब्द से उसका प्रकाशन हो। द्वितीय विकल्प का उत्तर श्लोक ५५२ से प्रारंभ करेंगे, पहले प्रथम पक्ष का उत्तर देते हैं:

सभी प्रमाताओं के तथा उनकी रागादि वृत्तियों के जन्म आत्मा से व्याप्त ही होते हैं क्योंकि आत्मवस्तु ही अपरिच्छिन्न है। वह आत्मा प्रमाताओं से, उनकी वृत्तियों से तथा दोनों की विशेषताओं से विलक्षण है, स्वातिरिक्त किसी से सिद्ध नहीं है, व्यापक है, चिद्रूप है ॥५४२॥

वियद्वस्तुस्वभावानुरोधादेव न कारकात् । वियत्संपूर्णतोत्पत्तौ कुम्भस्येव दृशा धियाम् ॥५४३॥
घटदुःखादिरूपत्वं धियां धर्मादिहेतुतः । निर्हेतुत्वात्मसंबोधरूपित्वं वस्तुरूपतः ॥५४४॥

आत्मा कहते ही हैं व्यापक को अतः अनात्मा को अवश्य उससे व्याप्त होना पड़ेगा। किं च अनात्मा जन्मादि विक्रियाओं वाला होने से व्याप्यस्वरूप ही है। और भी, अनात्मा की सिद्धि आत्मव्याप्ति से ही संभव है अतः उसे व्याप्त होना ही पड़ेगा। विक्रियावान् होने से ही अनात्मा स्वतः सिद्ध नहीं हो सकता। तात्पर्य है कि अनात्मा का साक्षी जो आत्मा है वह वेदान्तों का प्रमेय होने से निर्विषय होने से वेदांत प्रमाण नहीं यह कहना ग़लत है।

प्रमाताओं से यहाँ आत्माभासयुक्त बुद्धियाँ कही हैं। यदि इसमें यह दोष लगे कि बुद्धि में आभास पड़ता है यही अभी कहाँ सिद्ध है कि पक्ष निश्चित हो; तो कल्पलता का सीधा अर्थ ले लेना चाहिये, 'माता अहङ्कारः'। तात्पर्य तो वही है पर यथाप्रसिद्ध अहंकार कह देने से पक्ष की प्रसिद्धि के लिये यत्न नहीं करना पड़ेगा। सुषुप्त्यादि के बाद अहंकार का जन्म सर्वानुभूत है। वह जन्म भी ज्ञात होता है अतः स्वविलक्षण चैतन्य को सिद्ध करता है। वही चैतन्य साक्षी है और उसी का याथात्म्य वेदांतप्रमेय है। कुछ लोग जड दृश्य से इतर चेतन नहीं मानना चाहते; भासमान चेतन को भी वे दृश्यान्तःपाती कहते हैं। किन्तु इसमें उनके पास कोई प्रमाण है नहीं। सौषुप्त आत्मा का भी कोई निषेध नहीं कर सकता क्योंकि अबाधित प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'जो मैं सोया था वही जगा हूँ'। अतः अनात्मसिद्धि को अनात्मासे उपपन्न करने में अनवस्था अनिवार्य होने से, स्वप्रकाश आत्मा स्वतःसिद्ध होते हुए अनात्मसाधक है यही संगत है। 'आत्मासे व्याप्त' का अर्थ है आत्मा के विषयभाव को प्राप्त या आत्मा में तादात्म्येन अध्यस्त। वृत्त्यंश का स्वरूपतः और आभासांश का संसर्गतः अध्यास प्रसिद्ध है ॥५४२॥

शंका होती है कि यदि आत्मा अनात्मा को व्याप्त करे तो वैसे ही कूटस्थ न होगा जैसे ग्रामादि को व्याप्त करने वाला चैत्रादि। चैत्र की ग्रामव्याप्ति अर्थात् चैत्र में ग्रामातिरिक्तसंबंध रहते ग्रामसंबंध रहना। अथवा विद्यासागर का दृष्टांत स्पष्टतर है: बुद्धि घटादि को व्याप्त (=विषय) करती है तो ख़ुद भी परिणाम वाली है, ऐसे ही व्याप्त करने वाला होगा तो आत्मा भी परिणामी होगा। इसका समाधान बताते हैं:

घड़ा पैदा होने पर आकाश से भरा हुआ ही होता है लेकिन यह आकाश के स्वभाव के कारण है, न कि आकाशगत किसी सक्रियता के कारण; ऐसे ही बुद्धियाँ, उनकी वृत्तियाँ और उनके धर्म दृग्रूप आत्मा से व्याप्त हुए ही रहते हैं लेकिन इसके लिये आत्मा का स्वभाव ज़िम्मेदार है, उसे यह संपादन करने के लिये अपनी कूटस्थता नहीं छोड़नी पड़ती ॥५४३॥

बुद्धिशब्द पूर्वोक्त साभास-उपाधिपरक या अहंकारपरक है। धर्मशब्द उनकी विशेषताओं को कहता है। घड़े में ही उत्पत्ति आदि विकार होते हैं, लगता भले ही है कि उसमें आकाश भी पैदा हो गया; ऐसे ही विकार उपाधिगत है, लगता उपहित में है। अतः वेदांतप्रमेय कूटस्थ ही है ॥५४३॥

बुद्धि आदि तो विकारी होकर ही विषयव्याप्ति में समर्थ हैं पर आत्मा उसके बिना ही व्यापनशील है:

बुद्धियाँ घटाकार दुःखाकार आदि बनती हैं धर्मादि के कारण जबकि बुद्ध्यादि की आत्मसम्बोधरूपिता निष्कारण है, केवल आत्मवस्तु का स्वभाव ही उसे सम्पन्न करता है ॥५४४॥

आत्मसम्बोधरूपिता अर्थात् आत्मरूप सम्बोध से - चैतन्यसे - रूपित होना, निरूपित या व्याप्त होना।

कल्पलतानुसार शंका का रूप यह अनुमान था - जैसे बुद्धि की विषयव्याप्ति बुद्धि में विकार लाती है ऐसे सभी व्याप्तियाँ लाती हैं अतः आत्मा की बुद्ध्यादि-व्याप्ति भी आत्मा में विकार लायेगी। श्लोक में 'निर्हेतु' कहकर उक्त प्रयोग में कार्यता उपाधि कही है। बुद्धिकी विषयव्याप्ति कार्य है जबकि आत्मा की बुद्धिव्याप्ति कार्य नहीं है। कार्यभूत व्याप्ति विकारप्रवर्तक होती है, स्वाभाविकव्याप्ति नहीं, यह अभिप्राय है।

शास्त्रप्रकाशिकाकार ने स्पष्ट किया है कि बुद्धि और घटादि विषय दोनों परिच्छिन्न हैं अतः इनके परस्पर संपर्क के लिये विकार ज़रूरी है। उस विकार में हेतु भी चाहिये और वह है धर्माधर्म, यह आगे (२.४.श्लो.३४७ आदि) और स्पष्ट होगा। धर्माधर्म भी साभास बुद्धि के ही विकारविशेष हैं क्योंकि तभी कर्तृत्व-भोक्तृत्व का सामानाधिकरण्य संगत होता है; कर्तृत्वका संस्कारविशेष ही अदृष्ट – मान लेने से तज्जन्य भोक्तृत्व भी बुद्धिवृत्ति में संभव हो जाता है। बुद्धि भी ईश्वर की व्यापक उपाधिका – मायाका – एक स्थलविशेष होने से ईश्वरनियंत्रित उसी तरह है जैसे माया, इसमें 'केनेषितम्' आदि श्रुति प्रमाण है। अतः ईश्वरोपाधिगतसंस्काररूपता अदृष्ट की जैसी सिद्धांत में मानी गयी है वह उपपन्न हो जाती है। बुद्धि चाहे घटाद्याकार में बदले चाहे दुःखाद्याकार में, बदलने के लिये उसे अदृष्ट तो चाहिये ही और वह जब बुद्धिविकाररूप है तब यह निश्चित है कि बुद्धि विकारद्वारा ही – विकृत होकर ही – विषय का, घट-दुःखादिका, आकार ग्रहण कर सकती है। यद्यपि विषयाकारता स्वयं विकार है तथापि तात्पर्य है कि बुद्धि की विषयाकारता को आत्मा की अनात्मव्याप्ति के तुल्य योगक्षेम वाला मानने की यदि शंका की जाये तो भी यह अंतर रहेगा कि बुद्धिव्याप्ति विकारसापेक्ष, अदृष्टरूप-विकारकारणक, है जबकि आत्मव्याप्ति ऐसी नहीं है। हेतु तो निर्विवाद होता है, साध्य की विद्यमानता विचारणीय होती है। विषयव्याप्ति को हेतु बनाकर विकार सिद्ध करने चले हैं तो व्याप्ति को ही विकार नहीं कह सकते क्योंकि हेतु ही साध्य नहीं हो सकता। अतः आत्मा में और बुद्धि में विषयव्याप्ति है इतना मानकर विचार करना पड़ेगा कि आत्मा में विकार है या नहीं। अवश्य ही विषयव्याप्ति से अन्य ही कोई विकार विचारणीय होगा। वही अन्य विकार बुद्धि में अदृष्ट है जब कि आत्मा में नहीं – यह आचार्य आनंदगिरि का अभिप्राय है।

आगे वे विचार करते हैं कि बुद्धि आत्मा से व्याप्त है का मतलब क्या? दर्पण सूर्य से व्याप्त होता है तो वह सूर्याकार भासता है, ऐसे ही बुद्धि आत्मा का आकार ग्रहण करे तभी कह सकते हैं कि वह आत्मा से व्याप्त है क्योंकि स्वच्छद्रव्य व्यापक का आकार ग्रहण किया करता है। यदि घटदृष्टांत में ही बैठाना हो तो यों समझना चाहिये कि दर्पण की मुखाकारता यही है कि मुखको दर्पणस्थरूप से प्रतीत कराये। ऐसे ही घट भी आकाशाकार कहा जा सकता है। जब बुद्धि को घटादि आकार अदृष्ट के सहारे लेने पड़ते हैं तो वह आत्माकार भी उसी के सहारे लेती होगी, फलतः जैसे घटाद्याकार ग्रहण न की हुई बुद्धि माननी पड़ती है क्योंकि आकार के पहले आकारी रहना ज़रूरी है और सकारण वस्तु कादाचित्क होती है, ऐसे ही आत्माकार भी ग्रहण न की हुई बुद्धि माननी पड़ेगी जिससे वह उस समय आत्मव्याप्त भी नहीं सिद्ध होगी और स्वतंत्र सत्तादि वाली होकर द्वैतप्रसंजिका बन बैठेगी। इसका जवाब वार्तिक में दिया 'निर्हेतु' कहकर : बुद्धि जो चिदाकार वाली है वह अदृष्ट के फलस्वरूप नहीं है बल्कि बुद्ध्यादि को हमेशा व्याप्त कर रहने वाले व्यापक आत्मा के स्वरूप के अनुरोध से ही है। आत्मा से व्याप्त है तो बुद्धि आत्माकार है ज़रूर लेकिन यह आकार ऐसा नहीं है जिसे बुद्धि ने ग्रहण किया हो, बल्कि बुद्धि जब भी होती है तब इस आकार वाली होती है। अनात्माकारों से इस आकार में यह फ़र्क है कि इस आकार का कादाचित्कत्व केवल इसलिये है कि आकारी कादाचित्क है। जैसे नमकीन या मीठा बनने के लिये बेसन को हेतु चाहिये लेकिन चणे के स्वाद वाला बनने के लिये कोई हेतु नहीं चाहिये, चाहे हैं तीनों ही स्वाद, ऐसे ही आकाररूप होने पर भी यह भेद है। जैसे चणारूप कारण से बेसनरूप कार्य सदा व्याप्त है ऐसे ही आत्मा से बुद्धि भी सदा व्याप्त है। जैसे आकाश घड़े से घिरा हुआ कहा जाता है ऐसे ही आत्मा भी बुद्धि से व्याप्त कहा जाता है, वहाँ बुद्धि की आत्माकारता ही आत्मा की बुद्धिव्याप्ति है। घट में जगह होना इसीलिये है कि उससे घिरे आकाश का स्वरूप ही जगह है, वैसे ही बुद्धि से व्याप्त आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है कि बुद्धि आत्माकार होती हैं। अतः न यहाँ विषयभूत आत्मा में कोई विकार चाहिये और न बुद्धि में कोई विकार चाहिये यह स्पष्ट हो जाता है। इसीलिये त्वम्पदार्थ का विवेक इतना ज्यादा कठिन है कि बहुतेरे विचारक भी बुद्धि से विलक्षण आत्मा मानने को तैयार नहीं। सुषुप्ति का अनुभव भी आखिर सोपाधिक दशा में ही है अतः वह भी उपाधि से अस्पृष्ट आत्मा को कैसे समझाये? उपाधि के बदलने पर भी उस बदलाव को व बदली उपाधि को जानने वाला इसी तरह उपाधिविलग आत्मा संभावनीय है; जानकारी तो उसकी शास्त्र से ही होगी। अतः शास्त्र का प्रमेय असंभव नहीं, यह भाव है ॥५४४॥

बुद्धितद्वृत्तिभावोऽयमभावश्चाप्यनन्यमात् । यतः सिद्धायते सोऽर्थो ज्ञेयः सिद्धः स्वतः सदा ॥५४५॥
ननु प्रमाणविरहात्स्वतःसिद्धो यदीष्यते। वचसो बुद्धबोधित्वादप्रामाण्यं प्रसज्यते ॥५४६॥
मैवमप्रतिपन्नत्वादनुभूत्यैव वस्तुनः। तद्व्युत्पत्तेः पुरा साक्षाद्बोधो व्युत्पत्तिमात्रतः ॥५४७॥

श्लोक ५४२ में आत्मा को स्वतः सिद्ध कहा था लेकिन जब घटादि को स्फूर्ति देने वाला प्रमाता इसकी अपेक्षा रखता है कि स्वयं वह प्रमाता किसी अन्य से (आत्मा से) स्फूर्ति पाये तब प्रमाता को स्फूर्ति देने वाला होने से आत्मा भी किसी अन्य से स्फूर्ति क्यों न चाहेगा? इसका उत्तर है :

बुद्धियों के और उसकी वृत्तियों के होने और न होने जिससे प्रकाश की आभा का अनुभव करते हैं वह वस्तु हमेशा स्वतः सिद्ध समझी जानी चाहिये क्योंकि ख़ुद को विषय करने वाले किसी प्रकाश के बिना ही वह भासमान है ॥५४५॥

सभी बुद्धियों का (अहंकारों का) होना प्रकाशित होता है, पता चलता है; उनका न होना भी प्रकाशित होता है; उनकी वृत्तियों के भी होने-न-होने का पता चलता ही रहता है। यह 'प्रकाशित होना' ही उनका 'सिद्धायते' मानो सिद्ध होना कहा गया है। वास्तव में सिद्ध तो वही है जो कभी असिद्ध न हो, अतः कादाचित्क सिद्धि वालों को 'मानो सिद्ध होने वाला' ही कहा जा सकता है। अतः इसकी टीका में आनंदगिरि स्वामी 'मानाभासमनुभवतः' लिखते हैं। मान शब्द ज्ञानपरक है। सिद्धान्त में अप्रमा क्योंकि अज्ञान ही है इसलिये ज्ञान को प्रमार्थक मान शब्द से कहना संगत ही है। स्वतः सिद्ध अर्थात् स्वापरोक्षव्यवहारयोग्य रहते हुए प्रकाश्य न होना। क्योंकि आत्मा प्रकाशित नहीं होता — आत्मा 'का' पता नहीं चलता, जैसे घट का चलता है — इसीलिये वह प्रकाश है और यही मूल है कि उसकी गैर जानकारी बनी रहती है! इस श्लोकयोजना में 'अनन्यमात्' भावप्रधान है, 'अनन्यमत्वात्' अर्थ है। विकल्पतः 'जिस स्वप्रकाश से सिद्धवत् होता है वह वस्तु...' इत्यादि योजना स्पष्ट है ॥५४५॥

प्रश्न स्वाभाविक है कि स्वतः सिद्ध वस्तु को वेदान्तसिद्ध तो नहीं कह सकते अतः उसके बारे में कहने वाले वेदांत अनुवाद होने से अप्रमाण क्यों नहीं? इसी को उठाकर उत्तर देते हैं :

यदि स्वतः सिद्ध को प्रमाण के बिना ही भासने वाला मानते हो तब वेदान्तवचन ज्ञातज्ञापक होने से अप्रमाण क्यों नहीं हो जायेंगे? ॥५४६॥

उक्तविधया वे अप्रमाण नहीं होंगे क्योंकि आत्मवस्तु के बारे में वेदान्तजन्य ज्ञान से पूर्व वह वस्तु नहीं जानी गयी है, और यह सर्वानुभवसिद्ध है कि 'मैं अज्ञ हूँ, ख़ुद को नहीं जानता'। वेदान्तश्रवणादि से ही आत्मा का अपरोक्षानुभव होता है (अतः वेदांत आत्मा में प्रमाण हैं।) ॥५४७॥

आत्मा की गै़र जानकारी अविवादास्पद है। वेदांत उस अज्ञान को हटाते हैं। प्रमाण सर्वत्र यही करता है — अज्ञाननिवृत्ति। अतः आत्मा के अज्ञान की निवृत्ति करने वाला वेदांत प्रमाण कैसे नहीं होगा? यह नहीं कि वेदान्त आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान न दे पायें; क्योंकि शब्द भी अपरोक्ष ज्ञान कराने में समर्थ है, बशर्ते अर्थ अपरोक्ष हो; और आत्मा अपरोक्ष है ही।

अज्ञान शंकनीय नहीं, तथापि कोई कह सकता है, 'मैं स्वयं को जानता हूँ; कर्ता-भोक्ता आदि मैं हूँ।' लेकिन उससे जब कोई अन्य कहता है, 'तुम ग़लत कहते हो, तुम मोटे-पतले, काले-गौरे हो।' तब वह नहीं मानता, कहता है, 'नहीं, तुम्हे ग़लतफ़हमी है!' बस इसीसे सिद्ध हो जाता है कि वह भी अज्ञान मानता है, ख़ुद को न सही दूसरे को तो मानता ही है। अतः वह स्वयं भी शंकित अज्ञानी हो ही जाता है ॥५४६-४७॥

आत्मा को स्वप्रकाश कहें, फिर उसकी जानकारी वेदान्तश्रवण का फल होने से कादाचित्क मानें और उसका अज्ञान अनादि मानें यह तो युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि स्वप्रकाश होने से अज्ञान होना ही नहीं चाहिये। तथापि अनुभूयमान होने से ऐसा ही मानना पड़ता है :

बोधाबोधौ यतो दृष्टौ स्वानुभूत्यनुसारतः। दृष्टे चानुपपन्नत्वं किंबलादभिधीयते ॥५४८॥
सुषुप्तादेश्च संसिद्धिर्मात्रादिविरहेऽपि या। साऽपीहान्तरसंबुद्धमेयमात्रव्यपाश्रयात् ॥५४९॥
न चाभावप्रमाणात्सा सति मातर्यभावमा। मात्राद्यभावसंसिद्धिः कथं मात्रादिपूर्विका ॥५५०॥

क्योंकि स्वयं को होने वाली अनुभूति के अनुसार ज्ञान व अज्ञान भास रहे हैं (इसलिये इन्हें मानना लाज़्मी है और इसी से वेदान्तों का प्रामाण्य सुरक्षित है)। किं च जो भास रहा है उसे किस बल पर असंगत कहा जा सकता है? ॥५४८॥

अनादि अज्ञान तो पूर्वोक्त तरह से सर्वप्रसिद्ध है और वेदान्तफलरूप तत्त्वज्ञान भी विद्वानों को अनुभूयमान है। अनुभूयमान को असंगत कहने का यही तात्पर्य निकलता है कि वह मिथ्या है और कूटस्थ चिद्रूप प्रत्यगात्मा में कादाचित्क ज्ञान एवं अनादि अज्ञान मिथ्या है यह तो हमें स्वीकार ही है। 'किस बल पर' अर्थात् यदि मिथ्यात्व के बल पर कहते हो तो इष्ट है और अन्य किसी बल पर कहो तो ग़लत होगा क्योंकि ग़लत-सही का निर्णायक तो अंततोगत्वा अनुभव ही होगा ॥५४८॥

अज्ञान ज्ञान का विरोधी है। वह उसी ज्ञान का सहारा लेकर मानो उसी के प्रसाद से विजय पाये यह कैसे? विरोधी कभी साधक (सत्ता-स्फूर्ति देने वाला) या आश्रय तो होता नहीं? इसका उत्तर देते हैं :

व्यवहारभूमि में सुषुप्ति, मूर्च्छादि भासते हैं जबकि उन परिस्थितियों में प्रमाता आदि होते नहीं; अतः उनका वह भासना उसी वस्तु के सहारे संभव है जो प्रत्यक् है तथा अज्ञायमान किन्तु अनुभवरूप है ॥५४९॥

सुषुप्ति आदि में 'मैं स्वयं को जान रहा हूँ' ऐसा स्फुट भान कोई नहीं मानता फिर भी सुषुप्ति आदि हैं प्रत्यक्ष। अतः ज्ञानविरोधी होते हुए भी वे ज्ञान से सिद्ध हैं। ऐसे ही अज्ञान भी ज्ञान से सिद्ध है।

'इहापि अज्ञानेऽपि' इस कल्पलता के अनुसार दार्ष्टान्त भी श्लोक में ही कह दिया है ॥५४९॥

सुषुप्ति आदि को अनुपलब्धिगम्य क्यों न मानें? प्रमाता आदि रहते विषयज्ञान होना चाहिये, नहीं होता तो प्रमाता आदि नहीं हैं — इस प्रकार विषयज्ञान न होना रूप उपलब्ध्यभाव से प्रमाता आदि का अभाव प्रमित हो जायेगा। प्रमाता आदि का अभाव ही सुषुप्ति आदि है। अतः प्रकाशात्मक वस्तु के सहारे उनकी सिद्धि क्यों माननी? उत्तर देते हैं :

सुषुप्ति आदि की सिद्धि अभावप्रमाण से नहीं होती। क्योंकि प्रमाता रहते ही अभावप्रमा हो सकती है (जबकि सुषुप्ति में प्रमाता होता नहीं)। किं च, प्रमाता आदि का अभाव उन्हीं प्रमाता आदि से सिद्ध हो कैसे सकता है? ॥५५०॥

सोकर उठा याद करता है 'सो रहा था, कुछ पता नहीं चला।' यह स्मृति तभी हो सकती है जब सोते समय अनुभव रहा हो। वह अनुभव अनुपलब्धि से हुआ हो यह संभव नहीं क्योंकि उस अवस्था में प्रमाता तो था नहीं कि प्रमाणव्यापार होता। अतः स्वप्रकाश अनुभव से ही स्वापसिद्धि मानना अनिवार्य है। ऐसे ही उससे अज्ञान भी स्फूर्ति पा जाता है। इनमें विरोध भी नहीं कि साधकतादि अयुक्त हो, क्योंकि विरोध तो वाक्यजन्य ज्ञान का है, ज्ञानमात्र का नहीं। किं च, स्व को स्व के अभाव का साधक कौन मानेगा! ऐसे ही प्रमाता आदि का अभावरूप सुषुप्ति आदि को प्रमाता आदि से सिद्ध होने वाला भी कौन कह सकता है! सौषुप्त प्रमाता को अन्य मानें और जिसका अभाव सुषुप्ति है उसे अन्य मानें तो वह सौषुप्त प्रमाता किससे सिद्ध होगा? आत्माश्रयादि क्रम से अनवस्था का भय होने पर उसे स्वप्रकाश मानना होगा। वह आत्मवस्तु है, यदि 'द्वितीय प्रमाता' नाम से उसे कहना हो तो कोई हर्ज़ नहीं। सर्वथापि उस अनुभवरूप प्रत्यक्तत्त्वसे ही अज्ञान भासित होता है ॥५५०॥

वेदान्तों का प्रमेय सुस्थित होने से वे प्रमाण हैं इसे कैमुतिकन्याय से कहते हैं :

यमप्रमीयमाणानि नानात्मानं प्रमिण्वते। वस्तुवृत्तानुरोधेन कथं तत्राप्रमावचः ॥५५१॥
अमीमांसक इत्युच्चैरमीमांसक इत्यतः। आक्षिपन्ति यदज्ञानात्तच्छान्त्या उत्तरं वचः ॥५५२॥
सर्वोऽपि वेद इत्यादि यथोक्तपरिहारकृत्। गुरुराह वचः स्पष्टं दृढन्यायोपबृंहितम् ॥५५३॥
मानस्वभावमाश्रित्य सर्वोऽपीत्याद्युदीरणम्। काण्डद्वयसमाख्या हि तत्प्रमेयानुरोधतः ॥५५४॥

(प्रत्यक्षादि प्रमाण) जिसे प्रमित न कराते हुए जड चीज़ों की प्रमा नहीं कराते, क्योंकि उस वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है; उस वस्तु के बारे में वेदान्त वचन प्रमाण कैसे न होंगे? ॥५५१॥

प्रत्यक्षादि कहलाने वाले प्रमाण वृत्तिमात्र होने से जड हैं और उनके रूपादि विषय तो जड ही प्रसिद्ध हैं अतः इन प्रमाणों से प्रमेयों का स्फुरण तभी हो सकता है जब स्वयं स्फुरने वाला आत्मा इन्हें स्फुरित कराये। यही आत्मवस्तु का स्वभाव यहाँ विवक्षित है। रूपादि प्रमेयों की प्रमा कराना तभी संभव है जब प्रमा को स्फुरण देने वाला आत्मा तिरोहित न हो। अतः हर प्रमा आत्मज्योति में प्रमाण होती है। जब सकल प्रमाण आत्मा को प्रमित करा रहे हैं तब तात्पर्यतः उसे ही प्रतिपादित करने वाले वेदांत उसे कैसे नहीं प्रमित करायेंगे? प्रत्यक्षादि केवल रूपादि का बोध कराकर कृतार्थ हो जाते हैं फिर भी आत्मा में तो वे प्रमाण बनते ही हैं, तब जो महावाक्यादि वेदान्तवचन अन्य किसी प्रमेय से निराकांक्ष नहीं हैं वे आत्मा का यथार्थ ज्ञान करायेंगे इसमें कहना ही क्या!

विद्यासागरी में कहा है 'प्रत्यक्षादीनि ·· स्वयं जडत्वादनात्मानं प्रमातुं नेशते, विषयेषु अधिष्ठानतयाऽनुगतचैतन्यावरणभङ्गे-नैवाऽनात्मनः साधनीयत्वात्।' घट का प्रकाश ख़ुद घट से नहीं और न वह हमारी वहाँ पहुँची इंद्रिय-मनोवृत्ति से है क्योंकि वह भी भौतिक ही है। अतः वहाँ उपस्थित चेतन को ढँके बैठा जो आवरण है उसे हटाना ज़रूरी है, तभी चित्प्रकाशसे घड़ा स्फुरेगा। अविद्यानिवृत्ति प्रमाणकृत्य है। आत्मा की अविद्या निवृत्त किये बिना घट की प्रमा करा सकना प्रमाणवृत्ति के लिये असंभव है अतः आत्मप्रमा कराते हुए ही वह घटप्रमा कराती है यह अर्थ है ॥५५१॥

श्लोक ५४२ में द्वितीय विकल्प था कि सिद्धार्थ में शब्दसामर्थ्य ही नहीं कि वेदांत सिद्धात्मबोधक हों। भाष्य पंक्ति, 'सर्वोऽपि' इत्यादि, इस आक्षेप का जवाब देती है। पंक्ति श्लोक ४७७ में आ चुकी है : 'सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्या-मनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः।' यह पंक्ति उक्त आक्षेप का परिहार है यह बताते हैं:

अनुभवसिद्ध जिस अज्ञान के कारण वे नियोग-वादी ऊँची आवाज़ में मुझ वेदान्ती पर आक्षेप करते हैं 'वह अविचारशील होता कौन है (वेद से आत्मा की सिद्धि मानने वाला)?' — उस अज्ञान की निवृत्ति के लिये 'सारा ही वेद' आदि अगला भाष्यवाक्य है। गुरुदेव ने सारिष्ठ युक्तियों से पुष्ट स्पष्ट वाक्य कहा है जो पूर्वोक्त नियोगवादी की शंकाओं का परिहार कर देता है॥ ५५२-५५३॥

प्रथम पंक्ति का पदच्छेदपूर्वक अन्वय है : 'अमी मां "स कः अमीमांसकः?" इति उच्चैः आक्षिपन्ति।' अथवा उपालंभ द्योतन के लिये "अमीमांसकः! अमीमांसकः' इत्युच्चैराक्षिपन्ति' यों पुनरुक्ति है। श्लोक में 'यत्' पद 'यस्माद्' अर्थ में है; 'यद् अतः अज्ञानात् तच्छान्त्यै' यह संबंध है। वे आक्षेप करते हैं क्योंकि सचाई की उन्हें जानकारी नहीं, अज्ञान है। उसे हटाना गुरुवाक्य का प्रयोजन है। 'गुरु' कहकर वक्ता की आप्तता बता दी, 'स्पष्ट' से बताया कि उनका वाक्य संशय-विपर्यय से अकलंकित ज्ञान पैदा करता है और 'सारिष्ठ' से कहा कि उसे सहारा देने वाली युक्तियाँ निर्दुष्ट हैं ॥५५२-५३॥

प्रश्न होता है कि कर्मकाण्ड व ज्ञानकाण्ड दोनों की जब विषयवस्तु विभिन्न है तब भाष्यकार दोनों को मिलाकर 'सारा वेद' ऐसे क्यों कह रहे हैं? उत्तर देते हैं :

प्रमाण के स्वभाव के आधार पर 'सारा ही वेद' आदि कहा। काण्डों के भेद की प्रसिद्धितो उनके प्रमेय के अन्तर के कारण है ॥५५४॥

मानं हि व्यञ्जकं लोके सिद्धे तच्च स्वकारणात् । स्वतः सिद्धेऽथवा नित्यं मेयमात्रं विशिष्यते ॥५५५॥

प्रमाण का स्वभाव है अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होना और सारे वेद में यह स्वभाव है ही अतः दोनों काण्ड इस दृष्टि से एक ही हैं कि वे अज्ञात अर्थ को बताते हैं। प्रमाणान्तर से वेद का वैशिष्ट्य सूचित करते हुए एकराशीकरण का प्रयोजक है 'अतीन्द्रियार्थप्रमापकत्व।' धर्म व ब्रह्म दोनों अज्ञात अर्थ तो हैं ही, अतींद्रिय भी हैं। इसके काण्डों का भेद प्रमाणदृष्टि से नहीं बल्कि प्रमेय की दृष्टि से है : कर्मकाण्ड साध्यविषयक है और ब्रह्मकाण्ड है सिद्धविषयक। जैसे आगदृष्टि से एक होने पर भी उनमें क्या किया जाता है — इसके भेद से श्रौताग्नि व श्मशानाग्नि का भेद होता है, वैसे समझ सकते हैं; या शब्दराशि वही होने पर भी ग्रंथभेद होते हैं, ऐसे समझ सकते हैं ॥५५४॥

शंका होती है कि आँख आदि प्रमाण कारकरूप से प्रसिद्ध हैं, अतएव 'आँख से देखता हूँ' आदि तृतीया-प्रयोग होता है, फिर यह कैसे कहा कि प्रमाण का स्वरूप बोधकत्व ही है? समाधान करते हैं :

विषय चाहे अपने कारणों से सिद्ध होने वाला हो या स्वतः सिद्ध हो, उसे विषय करने वाला प्रमाण तो बोधक ही होता है (कारक नहीं)। स्वतः सिद्धि व कारणतः सिद्धि का फर्क प्रमेय में ही होता है (इससे प्रमाण का स्वभाव नहीं बदल जाता) ॥५५५॥

सिद्ध अर्थात् विद्यमान। घटादि अपने कारणों से विद्यमानता पाते हैं अर्थात् कार्य हैं जबकि आकाशादि को अकार्य मानने वाले उन्हें स्वतः सिद्ध मानते हैं। आँख चाहे घड़ा देखे और चाहे आकाशादि देखे (अथवा अन्य योग्य स्वतःसिद्ध वस्तु जाति, काल आदि देखे), वह केवल बोध उत्पन्न करती है; उसके बोधकत्व में इससे क्या अंतर आता है कि घट कार्य है व आकाश नहीं? ऐसे ही प्रमाणभूत शास्त्र धर्म को — कार्य को, किंतु यहाँ कार्य से पारिभाषिक नियोग नहीं कह रहे—विषय करे या सिद्ध ब्रह्म को, इससे शास्त्रस्वभाव में अंतर नहीं।

वस्तुतस्तु आँख को प्रमाण इसलिये कहते हैं कि वह प्रमाण उत्पन्न करती है; चक्षु आदि से उत्पन्न ज्ञान ही प्रमाण शब्दार्थ है, चक्षुरादि गुणवृत्ति से प्रमाण कहे जाते हैं। अतः आँख आदि की कारकता से कोई विरोध नहीं। किं च विभक्तिप्रयोग व्याकरणानुकूल होने से साधु होता है, वस्तुस्वभाव से नहीं। व्याकरण में धात्वर्थमात्र को क्रिया कहते हैं और उसे उत्पन्नादि करने वालों के लिये विभक्तियाँ प्रयोग करते हैं। सभी धात्वर्थ क्रिया हैं नहीं, जैसे स्था, गडि आदि। ऐसे ही ज्ञान भी व्याकरण मे क्रिया है तो उसके कारणों में अर्थात् प्रमाणों में कारकत्व प्रसिद्ध होने से क्या विरोध? प्रमाण की अकारकता का अर्थ है कि प्रमाण किसी क्रिया के साक्षाज्जनक नहीं होते और यहाँ 'क्रिया' से ज्ञान विवक्षित नहीं है। कार्य को सत्ता में लाये — वही कारक होता है। ज्ञान ऐसा तो करता नहीं, अन्यथा ज्योतिष्टोमवाक्य से हुआ ज्ञान ही पर्याप्त हो जायेगा, यज्ञ क्यों करना? वस्तु सिद्ध तो होगी — सत्ता में आयेगी — अपने कारणों से, या आकाशदि की तरह स्वतः सिद्ध होगी, ज्ञान या प्रमाण तो उसे उत्पन्न करेगा नहीं, अन्यथा हर घटप्रमा नवीन घट पैदा करने लगेगी! कारक और व्यंजक (बोधक) में यही अंतर है कि कारक उसे विषय करता है जिसे वह सत्ता में लायेगा जबकि व्यंजक उसे विषय करता है जो सत्ता प्राप्त करता है, व्यंजक विषय को सत्ता प्राप्त कराता नहीं है। व्यंजक का विषय सत्ता चाहे ख़ुद पाये और चाहे स्वकारणों से पाये लेकिन व्यंजक से तो नहीं ही पायेगा। प्रत्यक्षस्थल में तो प्रमाण से स्वतंत्रसत्ता वाला प्रमेय मानना ही होगा क्योंकि प्रमाणसंबंध होने से पूर्व संबंधी-विषय को विद्यमान रहना पड़ेगा। साध्यवस्तु का भी अपरोक्ष तभी होता है जब वह सिद्ध हो चुकती है; जब तक चलने की क्रिया साध्य है तब तक नहीं दीखती, जिस समय वह 'हो' जाती है तभी दीखती है। अतः प्रत्यक्ष तो स्पष्ट ही व्यंजक है, कारक नहीं। धर्मादि साध्य का वाक्य से जो परोक्ष ज्ञान होता है वह भी उसे साध्यतया ही बताता है और साध्यता को तो सिद्धवस्तु ही मानना पड़ेगा, अन्यथा अनवस्था होगी। अनुगत होने से भी जाति की तरह साध्यता को सिद्ध मानना होगा। 'साध्य' व्यक्ति का परोक्ष ज्ञान भी सामान्याकार से ही होता है, विशिष्य तो होता नहीं अत एव उसकी विशेषतायें नहीं भासतीं, और सामान्याकार को सिद्ध ही मानना पड़ेगा। अतः ज्ञान उसी को विषय करता है जो स्वतः या कारणतः सत्ता पाता है तथा यही हेतु है कि एक ही वस्तु एक ही विषय

अतः सर्वोऽपि वेदोऽयं प्रमाणत्वैकहेतुतः। प्रकाशनपरो ज्ञेयः सिद्धसाध्यात्मवस्तुनः ॥५५६॥
एकवाक्यत्वतो यद्वा सर्वोऽपीत्यादि भण्यते। पुरुषार्थावसायित्वाद्वेदाधीतिविधेरिति ॥५५७॥
निःशेषसुखसंप्राप्तेः सर्वानर्थह्नुतेस्तथा। मुक्तेरर्वाक्पुमर्थोऽन्यो नेह कश्चित्समीक्ष्यते ॥५५८॥

के प्रति कारक और व्यंजक बने यह संभव नहीं। आत्मा स्वतः सिद्ध वस्तु है, धर्म क्रियासिद्ध है — यों प्रमेय में विशेषता होने पर भी उनके प्रमाणरूप से वेद की एकरूपता संगत है।

कल्पलता की योजना है : लोक में देखा गया है कि प्रमाण व्यंजक होता है और व्यंजकता सिद्धविषयक ही होती है — सिद्ध चाहे स्वतः हो या कारणतः। इसलिये (=व्यंजक होने से) प्रमाण के लिये प्रकाश्य वही बचता है जो मेय अर्थात् अज्ञात-वस्तु है ॥५५५॥

जैसे लौकिक प्रमाण कारक नहीं वैसे वेद भी:

इसलिये प्रमाणता ही मुख्य हेतु है जिससे यह समझ लेना चाहिये कि यह सारा ही वेद सिद्धरूपवस्तु के और साध्यरूपवस्तु के प्रकाशन में तत्पर है ॥५५६॥

ज्ञानकाण्ड सिद्धवस्तु का प्रकाशक और कर्मकाण्ड साध्यवस्तु का प्रकाशक है यह तात्पर्य है। आत्ममात्र स्वतोव्यक्त होने पर भी अखण्डानंद अव्यक्त होने से वेदान्तों को प्रमेयलाभ में दिक्क़त नहीं यह श्लोक ५४२ आदि में कह चुके हैं ॥५५६॥

अब 'सर्वोऽपि' आदि पंक्ति के तीन और अर्थ करेंगे। पहली व्याख्या एकवाक्यता के अभिप्राय से है : शंका होती है कि प्रमाणों के स्वभाव की बात करो तब तो प्रत्यक्षादि का भी वही स्वभाव होने से वेद के दो काण्डों को ही मिला कर 'सर्वोऽपि' कैसे कह सकते हैं? दोनों काण्डों की ही कोई ख़ास विशेषता को सामने रखकर ही इनको एक कोटि में गिना जाये यही उचित होता है। इसका समाधान करते हैं:

अथवा काण्डद्वय की एकवाक्यता होने से इन्हें मिलाकर 'सर्वोऽपि' आदि कहा है। अध्ययनविधि के बल से निश्चित है कि काण्डद्वय पुरुषार्थ में गतार्थ होते हैं अतः इनकी एकवाक्यता होने से इन्हें मिलाकर कहना संगत है ॥५५७॥ समस्त सुख की सम्यक् प्राप्ति और सारे अनर्थ का समापन — यही पुरुषार्थ है तथा मोक्ष से कम कुछ नहीं दीखता जो ऐसा हो। (अतः वही पुरुषार्थ है।) ॥५५८॥

'इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहार'-इस पद में कहे इष्टप्राप्ति व अनिष्टपरिहार मोक्ष ही हो सकते हैं क्योंकि इष्ट से परिच्छिन्न किसी का ग्रहण करें इसमें प्रमाण नहीं, कारण कि कोई विशेषण दिया नहीं है; तथा अनिष्ट भी सारे अनर्थ को कहता है क्योंकि उसमें भी सीमा करने वाला कोई शब्द नहीं। अध्ययनविधि से वेदग्रहण को सफल होना ज़रूरी है अन्यथा विधि अप्रमाण होगी। चाहे अक्षरग्रहणमात्र को द्वार मानें और चाहे इसी विधि से अर्थज्ञान को भी द्वार मानें, हर हालत में वेदग्रहण को फल देना पड़ेगा। फल यही है 'इष्टप्राप्ति-अनिष्टपरिहार'। अतः इस एक फल देने वाले काण्डद्वय की एकवाक्यता वैसे ही संगत है जैसे एक स्वर्ग देने वाले प्रयाजादि और दर्शादि वाक्यों की एकवाक्यता होती है। मोक्ष ही सकल इष्टों का लाभ और समस्त अनर्थों की हानि है। स्वर्गादि तो आदि-अंत वाले हैं अतः फलाभास ही हैं। यदि स्वर्गादि ही मिले तो अध्ययनविधि को सफल नहीं कह सकते क्योंकि वे फलाभास हैं, फल हैं ही नहीं! अतः जैसे 'दिल्ली का रास्ता' यों जिसे कहें वह दिल्ली से असंबद्ध ही किसी जगह पहुँचाने वाला हो तो वह कथन ग़लत होता है ऐसे ही पुरुषार्थप्रद उपाय जो वेदाध्ययन वह यदि अपुरुषार्थ ही दिला कर रह जाये तो अध्ययनविधि अप्रमाण होगी ही। इसलिये काण्डद्वय क्योंकि मोक्षरूप फल देते हैं इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अन्य इनकी इस ख़ासियत से इन्हें इकट्ठा किया गया है ॥५५७-५५८॥

असिद्धार्थस्य वा सिद्धिरनुभूत्येकमात्रतः। सर्वोऽपीति वचः सिद्धिः सर्वा ह्यात्मैकसंविदः ॥५५९॥
यद्वाऽनवगतोऽतोऽन्यः संभाव्यो नाऽऽत्मनस्ततः। सर्वोऽपीति वचः प्राह तथा चोर्ध्वं प्रवक्ष्यते ॥५६०॥

अब 'सर्वोपि' आदि की दूसरी वैकल्पिक व्याख्या करते हैं: मोक्षफलक होने से एकवाक्यता सुनते ही प्रश्न उठा कि पूर्व में (श्लो० ३८४) ऊहापोह से सिद्ध किया था कि काण्ड अलग-अलग हैं अतः वे विभिन्न वाक्य हैं, तब यहाँ उन्हे एक वाक्य कैसे कहा? यद्यपि इसका उत्तर अन्यत्र दिया है कि अवान्तर वाक्य विभिन्न हैं और विविदिषाश्रुत्युक्तविनियोगवश एक महावाक्यता भी है तथापि उस चर्चा का यहाँ अवसर न होने से इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये एकवाक्यता वाली व्याख्या छोड़कर अलग ही व्याख्या करते हैं:

अथवा 'सर्वोपि' आदि वचन का यह अर्थ है: असिद्ध अर्थ की सिद्धि अद्वितीय-अनुभवरूप से ही होती है क्योंकि जिस अद्वितीय आत्मरूप अनुभव से (जड वस्तुओं की) सिद्धि होती है वह अनुभवरूप सिद्धि ही सब कुछ है ॥५५९॥

असिद्ध अर्थात् ख़ुद सत्ता-स्फूर्ति से रहित जड प्रपंच। उसकी सिद्धि अर्थात् सत्ता और स्फूर्ति। अनुभव अद्वितीय है क्योंकि उसकी सद्वितीयता औपाधिक ही दीखती है। जड की सत्ता-स्फूर्ति अनुभवरूप से होती है, अनुभवसे अभिन्न होना ही जड का सत्ता में आना और स्फुरना है। वह अभिन्न होना सच्चा न हो सके यह बात अलग है। ऐसा है इसलिये कि जड स्वयं तो सत्ता-स्फूर्ति वाला है नहीं और अनुभव से अन्य कुछ है नहीं जो जड को सत्ता-स्फूर्ति दे सके क्योंकि अनुभव अद्वितीय है और उससे अन्य फिर जड ही है। अतः यही स्वीकार्य है कि अनुभव से अभेद संपन्न न हो सकने से जड की सिद्धि ही न होगी! विषय क्योंकि अनुभव से स्वतंत्र होकर मिल सकता नहीं अतः अनुभव में विषय का अंतर्भाव युक्तियुक्त है। यद्यपि अनुभवमात्र और विषयानुभव में फ़र्क है तथापि क्योंकि विशिष्ट को स्वरूप से अतिरिक्त नहीं माना जाता - लाल घड़ा घड़े से अलग नहीं होता - इसलिये विषयानुभव भी अनुभव से अतिरिक्त नहीं है। इस प्रकार 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' आदि छान्दोग्यश्रुति का तात्पर्य ही इस 'सर्वोऽपि' आदि वाक्य का अर्थ है। 'इदन्तया दृश्यमान सारा प्रपंच एतदात्मता वाला है, यह आत्मा ही प्रपंच का वास्तविक स्वरूप है' यह उक्त श्रुति का अर्थ है। आरंभणाधिकरण (ब्र० सू० २.१.६.१४) भी कार्य की कारण से अनन्यता को प्रतिपादित करता है, उससे भी 'सर्वोऽपि' आदि का उक्त अर्थ प्रमाणित होता है।

इस अर्थ में भाष्यपंक्ति का अभिप्राय यों है: 'सर्वोपि अयम्'-यह सारा प्रपंच 'वेदः'-वेदनरूप, अनुभवरूप है। वह अनुभव 'प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतः'-रूपादिरहित होने से शब्देतर प्रमाण का विषय होने के अयोग्य है। वही अनुभव 'इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायः'-इष्टरूप से, इष्टप्राप्तिरूप से, इष्टनिवृत्तिरूप से, अनिष्टरूप से, अनिष्टप्राप्तिरूप से, अनिष्टनिवृत्तिरूप से तथा इन सबके साधनरूप से अवस्थित है। और वह 'प्रकाशनः' प्रकाशरूप है, सब को प्रकाशित करता है। तथा वही 'परः' परम है, अविद्या और उसके कार्यों से परे है। ऐसा चिन्मात्र प्रत्यगात्मा ही सारा प्रपंच है, यह तात्पर्य है।

यद्यपि यह प्रौढियोजना है तथापि इसे भाष्य में संगत कर लेना चाहियेः बृहदारण्यकग्रंथ का कर्मकाण्ड से संबंध बताने की प्रतिज्ञा की। ग्रंथ का संबंध प्रतिपाद्यद्वारक ही होता है अतः पहले उपनिषत् का प्रतिपाद्य बात दिया वह आत्मा जो सर्वरूप है। क्योंकि वह इष्टप्राप्ति-अनिष्टपरिहाररूप है अथवा क्योंकि पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है इसीलिये सब लोगों को वही अभीष्ट है - स च प्राप्तिपरिहारौ च, तयोः; परम तथा उक्त प्राप्ति-परिहार सबको इष्ट हैं। वह लोकसिद्ध न होने से आगम से अन्वेषणीय है। इत्यादि आगे का भाष्य समझ लेना चाहिये ॥५५९॥

अब तीसरी वैकल्पिक व्याख्या करते हैं: पूर्व व्याख्या में वेदशब्द के रूढार्थ को छोड़ा गया है जो अनुचित है क्योंकि यथासंभव रूढार्थ का ही ग्रहण करना चाहिये, अतः भाष्योक्ति का अर्थान्तर बताते हैं:

अथवा क्योंकि इस आत्मा से अन्य कुछ भी अज्ञात होना संभव नहीं इसलिये 'सर्वोऽपि' आदि वचन कह रहा है (कि सारे वेद का तात्पर्य उसे बताने में ही है)। आत्मासे अन्य अज्ञात नहीं हो सकता यह आगे बतायेंगे ॥५६०॥

यद्धेतुकं प्रमाणत्वं वेदान्तानां समर्थ्यते। तेनैव हेतुना कर्मकाण्डस्यापि प्रमाणता ॥५६१॥
वेदान्तानाममानत्वं येन वा हेतुनोच्यते। तेनैव हेतुना कर्मकाण्डस्यापि प्रसज्यते ॥५६२॥
अपि सर्वप्रमाणानि स्वप्रमेयाभिसंगतेः। प्रमामेवेह कुर्वन्ति प्रामाण्यं यान्ति नान्यथा ॥५६३॥

आगे (१.४. श्लो० २१५ आदि में) यह समझायेंगे कि आत्मा से अन्य सब अज्ञानमय होने से अज्ञात, अज्ञानविषय नहीं हो सकता। अतः आत्मा ही अज्ञात है। सम्बन्धग्रंथ में श्लोक १००२ में भी यह विषय व्यक्त होगा।

इस योजना में वेदशब्द ग्रंथपरक ही है। 'प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतः' यह हेतुगर्भविशेषण है। उसकी पुमर्थता कही 'इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायः' विशेषण से। ऐसा जो ब्रह्मरूप आत्मा है उसके 'प्रकाशनपरः' प्रकाशन में, बोधन में, तात्पर्य वाला सारा ही वेद है; यह अर्थ है।

विद्यासागर जी ने प्रथम वैकल्पिक व्याख्या में यह शंका उठाई थी कि ज्योतिष्टोमादि जब स्वर्गादि में विनियुक्त हैं तो उनका मोक्ष में विनियोग मानकर एकवाक्यता कैसे? और इसके समाधान में दूसरी वैकल्पिक व्याख्या (श्लो० ५५९) है यह बताया था, अर्थात् प्रथम व्याख्या के परित्याग में वह कारण है। अब तीसरी व्याख्या के अवतरण में वे कहते हैं कि मीमांसान्याय से (४.३.६) सिद्ध है कि स्वर्गादि में विनियुक्त यागादि भी वाक्यवशात् अन्यत्र विनियुक्त हो सकते हैं अतः एकवाक्यता वाली प्रथम व्याख्या उचित कही जा सकती है – यह शंका कर व्याख्यान्तर किया जा रहा है। अर्थात् इस तरह एकवाक्यता और भिन्नवाक्यता दोनों माननी पड़ेंगी जो इष्ट नहीं अतः अलग व्याख्या की गयी है ॥५६०॥

जिज्ञासा होती है कि जब इतने ढंगों से भाष्यपंक्ति का अर्थ हो सकता है तब सिद्धार्थ में वेदांत प्रमाण हैं यही बताने के लिये यह पंक्ति है ऐसी प्रतिज्ञा (श्लो० ५४२ आदि में) क्यों की? इसका उपशम करते हैं:

जिस कारण से वेदान्त प्रमाण हैं यह समर्थित किया जाता है उसी कारण से कर्मकाण्ड भी प्रमाण सिद्ध हो जाता है ॥५६१॥ और वादी जिस कारण से वेदान्तों को अप्रमाण कहने की कोशिश करेगा, कर्मकाण्ड भी उसी कारण से अप्रमाण हो जायेगा ॥५६२॥

तात्पर्य है कि अज्ञातज्ञापकत्व को प्रामाण्य में हेतु सिद्ध करना इस प्रयोजन से है कि एक ओर तो औपनिषद सिद्धान्त में कर्मकाण्ड का प्रामाण्य अक्षुण्ण रहे और दूसरी ओर वादी यह अर्धजरतीन्याय न लगा सके कि पूर्वकाण्ड प्रमाण है, उत्तर काण्ड नहीं! वेदान्ती तो कर्मकाण्ड को यथावत् प्रमाण मानता है क्योंकि कर्मों की फलसाधनता अज्ञात है जिसे कर्मकाण्ड ज्ञात करा देता है। काण्डों के आपसी विरोध से यदि एक काण्ड को अप्रमाण कहा जायेगा तो विनिगमनाविरह से दूसरा ही कैसे प्रमाण बच सकेगा? सुन्दोपसुन्दन्याय का अवतार होगा। विद्यासागरी में मनोरम ढंग से यही कहा है कि यदि शाबरभाष्य के आधार पर वेदान्तों को अप्रमाण कहते हो तो शाङ्करभाष्य के आधार पर कर्मकांण्ड को ही क्यों अप्रमाण नहीं कह देते! अभिप्राय यही है कि वेद की प्रमाणता एक-सी है, काण्डभेद तो विषयभेद से है। अतः 'सर्वोपि' आदि का प्रयोजन यही समझाने में है कि अज्ञातज्ञापकता से प्रामाण्यनिर्वाह होते उसमें कार्यपरता का व्यर्थ निवेश करना अनुचित होने से धर्म में कर्मकाण्ड की तरह ब्रह्म में ब्रह्मकाण्ड प्रमाण है क्योंकि सिद्धार्थ में शक्तिग्रह भी उपपन्न है ॥५६१-५६२॥

प्रामाण्य में कारण है अज्ञातज्ञापकत्व, वह वेदांतों में उपलब्ध है अतः प्रत्यक्षादि की तरह उनमें प्रामाण्य भी स्वीकार्य है:

किं च सभी प्रमाण अपने प्रमेयों से सम्बन्ध होने पर उन प्रमेयों के विषय में प्रमा उत्पन्न करते हुए ही प्रमाणता पाते हैं, और किसी तरह नहीं ॥५६३॥

'अनवगतार्थाधिगन्तृत्वेन प्रामाण्यमित्यर्थः' यह कल्पलता ने संक्षेप कर दिया है। वार्तिक का कहना है कि प्रत्यक्षादि

विधिनैवैकवाक्यत्वं यतो मन्त्रार्थवादयोः। ततो दर्शननिष्ठत्वं न तयोरुपपद्यते ॥५६४॥

कोई भी ज्ञानसाधन प्रमाण इसीलिये कहा जाता है कि वह योग्यविषयक प्रमा उत्पन्न करता है। वह कार्यादिविषयक हो तब प्रमाण है ऐसा जब प्रमाणान्तर के लिये नहीं माना जाता तो शास्त्र के लिये भी नहीं माना जायेगा।

प्रमाणता का स्पष्टार्थ शास्त्रप्रकाशिका में किया है: सफल, निश्चित और अबाधित ज्ञान की कारणता ही प्रमाणता है। जिस में यह कारणता होगी वह अवश्य प्रमाण होगा। वेदान्त क्योंकि अज्ञात अद्वैतात्मा का ज्ञान कराते हैं इसलिये इन्हे प्रमाण मानना ही होगा कारण कि यदि अपने प्रतिपाद्य के बारे में ये प्रमाण न हों तो ये अज्ञातज्ञापक भी न हो सकेंगे जबकि अज्ञातज्ञापक हैं ज़रूर। इनकी अज्ञातज्ञापकता स्वरस है यह आगे कई जगह स्पष्ट किया जायेगा। प्रथमाध्याय के चतुर्थब्राह्मण में अव्याकृतप्रक्रिया में भाष्यकार कहेंगे 'किञ्च भोः! पृच्छामस्त्वाम् – आत्मस्वरूपान्वाख्यानपरेषु वाक्येषु फलवन्निश्चितं च विज्ञानमुत्पद्यते न वा?' इत्यादि। उसके वार्तिक में इस पर काफी विचार है, प्रकृतोपयोगी वहाँ का वार्तिक है 'फलवन्निश्चितज्ञानजन्म प्रामाण्यकारणम्। तादृग्यत्रास्ति तन्मानं, नास्ति यत्र न तन्मितिः' ॥१.४.९०५-६॥ द्वितीयाध्याय में भी वार्तिक है 'स्वप्रमेयप्रमोत्पत्त्यनुत्पत्त्येकहेतुके। प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वे नान्यथा ते प्रसिद्ध्यतः' ॥२.१.५४३॥ अतएव सर्वज्ञगुरु ने कह दिया है 'मानान्तराऽनधिगतं परिनिष्ठितं यद्वेदः समर्पयति चेतसि तत्परः सन्। तत्तथ्यमेव भवतीति समाश्रयस्व श्रेयस्करो विधिगिरोऽवगतो यथैव' ॥१.२९४॥ इसी तरह 'मानान्तरानधिगते विषयेऽवबोधं कुर्वत् प्रमाणमिति मानविदां प्रसिद्धिः' (१.२९८), 'अज्ञातमर्थमवबोधयदेव मानम्' (२.८) इत्यादि।

इस प्रकार 'सर्वप्रमाणानि' में प्रमाणपद ज्ञानसाधनार्थक है। जो ज्ञानसाधन अज्ञात-अर्थ से सम्बन्ध होने पर उस अर्थ के विषय में फलवद्-निश्चित-अबाधित ज्ञान उत्पन्न करता है वह प्रमाण होता है यह वार्तिकार्थ है ॥५६३॥

कोई यह अनुमान करे कि : मंत्रादि वाक्य विधिरहित हैं और स्वार्थ में प्रमाण नहीं हैं, अतः सभी विधिरहित वाक्य स्वार्थ में प्रमाण नहीं हुआ करते, वेदान्त भी विधिरहित वाक्य हैं तो वे भी स्वार्थ में प्रमाण नहीं हैं! – तो यहाँ 'स्वार्थ में विफलता' उपाधि है यह बताते हैं:

क्योंकि मंत्रों और अर्थवादों की विधि से ही एकवाक्यता होती है इसलिये उनका तात्पर्य अपने प्रतीयमान अर्थ में हो यह संगत नहीं है ॥५६४॥

मंत्रादि की विधियों से एकवाक्यता श्रुति-लिंगादि प्रमाणों से पता चल जाती है। प्राभाकर भी इनकी विधि से पदैकवाक्यता मानते हैं। अतः मंत्रादि का तात्पर्य विधिमें है यह जब प्रमाणित है तब वाक्यभेद के भय से उनका अक्षरार्थ तात्पर्यतः अभिप्रेत नहीं है यह मानना युक्त है। उनके अक्षरार्थ से कोई फल होगा नहीं क्योंकि फल तो उनके क्रत्वंगतया प्रयोग से होना है। किन्तु वेदांत तो इस तरह विधि से एकवाक्यता वाले नहीं हैं, इनका तो अपना ही अर्थ सफल है। अतः मंत्रादि का स्वार्थ में अप्रमाण होना इसलिये नहीं कि वे विधिरहित वाक्य हैं, बल्कि इसलिये है कि उनका स्वार्थ विफल है; एवं च उक्त अनुमान सोपाधिक है ॥५६४॥

पूर्व श्लोक में कहा कि मंत्र और अर्थवाद का स्वार्थ में अप्रामाण्य इसलिये है कि उनका स्वार्थ विफल है, उनके स्वार्थ में पुरुपार्थरहितता है। किन्तु यदि ऐसा कहोगे तो वादी कहता है कि रात्रिसत्राधिकरणन्याय का (४.३. अधि० ८) विरोध हो जायेगा क्योंकि वहाँ स्थापित किया है कि अर्थवाद का स्वार्थ भी फल हो सकता है।

वहाँ यह विचार है: रात्रिसंज्ञक एक सत्रयाग है जिसके फल का विधि में उल्लेख तो नहीं पर अर्थवाद में कह दिया है 'जो यह सत्र करते हैं वे प्रतिष्ठा पा जाते हैं।' प्रश्न है कि अनुक्तफलक होने से इसका फल स्वर्ग ही मानें या अर्थवाद में कही प्रतिष्ठा को ही फल मान लिया जाये? पूर्वपक्ष है कि 'प्रतिष्ठा पाते हैं' यह वर्तमानकालिक कथन वैसा ही है जैसा पर्णतावाक्य में 'न स पापं श्लोकं शृणोति' अतः जैसे वहाँ उसे फल नहीं मानते वैसे यहाँ भी नहीं मानना चाहिये। किं च यह वचन अर्थवाद होने से केवल स्तुति है, इसे फलपरक मानना ग़लत है। अतः स्वर्ग ही इस सत्र का फल मानना

अर्थवादोक्तितो याऽपि प्रतिष्ठाकामिकल्पना। विध्यर्थसंगतावेव साऽपि नैव ततोऽन्यतः ॥५६५॥
विध्यर्थशेषभावश्च ततश्चार्थान्तरोक्तिता। ऐकार्थ्याद्वचसोऽशक्या विरुद्धद्व्यर्थकल्पना ॥५६६॥

चाहिये। सिद्धान्त है: अत्यन्त असंनिहित – अर्थात् दूरवर्ती किसी कर्म के फलरूप से श्रुत, रात्रिसत्रके प्रकारण में अश्रुत, स्वर्ग की कल्पना की अपेक्षा संनिहित और योग्य इस प्रतिष्ठा को ही फल मान लेना चाहिये, भले ही यह वचन है अर्थवाद। यदि रात्रिसत्र के प्रकरण में किसी तरह फल न भासता तब तो स्वर्ग को फल मानना ठीक था पर जब अर्थवाद से फल की प्रतीति हो रही है तो इसे छोड़कर स्वर्ग की कल्पना व्यर्थ है।

अतः 'मंत्रार्थवादयोः दर्शननिष्ठत्वं न' (५६४) कहने पर इस अधिकरण का विरोध स्पष्ट है क्योंकि अर्थवाद का स्वार्थ जो प्रतिष्ठा उसे फल अतः विवक्षित माना है। किसी अर्थवाद को स्वार्थ में प्रमाण व किसी को अप्रमाण यह मनमानी तो ठीक न होगी। अतः यह भी नहीं कह सकते कि रात्रिसत्रार्थवाद से अन्यों को ही 'मंत्रार्थवादयोः' में कहा है!

इस का समाधान करते हैं:

और जो अर्थवादकथन के आधार पर कल्पना की जाती है कि प्रतिष्ठा चाहने वाला उस सत्रविशेष का अधिकारी है वह भी तभी जब विध्यर्थ नियोग के संबंध से अर्थवाद प्रमाण बन चुकता है। ऐसा नहीं कि नियोगसंबंध छोड़कर स्वतंत्र ही प्रमाण मानकर अर्थवाद से अधिकारकल्पना की जाती है ॥५६५॥

अतः उक्त न्याय से भी यही निकला कि अर्थवाद के स्वार्थ में प्रामाण्य अर्थवाद से नहीं बल्कि विधिवशात् है। इसलिये ठीक ही कहा कि मंत्र-अर्थवाद दर्शननिष्ठ नहीं हैं। विद्यासागर ने स्पष्ट किया है 'स्वार्थप्रमाणवशाद् न तद्ग्रहणम्, विधिशेषत्वेन प्रामाण्यबलादेव तद्ग्रहणाद्'। एवं च स्वार्थ में साफल्य को शास्त्रके प्रामाण्य के लिये ज़रूरी कहना उचित है ॥५६५॥

ऐसा क्यों न हो कि अर्थवाद विध्यर्थ के – नियोग के – शेष भी हों अर्थात् नियोग में तात्पर्य वाले भी हों और स्वार्थ में भी तात्पर्य रखें ताकि अर्थवाद से अधिकारकल्पना को विधिद्वारक न मानना पड़े क्योंकि विधि और फल दोनों में अर्थवाद प्रमाण रहेगा? उत्तर देते हैं:

विध्यर्थभूत नियोग में तथा नियोग से अन्य जो स्वार्थ उसमें इस प्रकार दो में तात्पर्य नहीं मान सकते क्योंकि वाक्य की एकार्थता स्वीकार्य है। अतः अर्थवाद के दो विरुद्ध अर्थ हैं यह कल्पना नहीं कर सकते ॥५६६॥

'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' यह मीमांसाचार्य का स्पष्ट उद्घोष होने से उक्त विधया नियोग व अधिकार उभयत्र तात्पर्य अस्वीकार्य है। नियोग व फल में विरोध यही है कि फल काम्य होता है, नियोग नहीं। कोई अपने सिर पर कर्तव्य का बोझ नहीं चाहता, वह तो शास्त्र बलात् लादता है! पर फल तो सब चाहते हैं।

तब क्या अर्थवादादि के स्वार्थ से अर्थवादादि को कोई प्रयोजन नहीं है? ऐसा हो तो अर्थवादादि विधिसे भी एकवाक्यता नही पायेंगे क्योंकि सर्वथा निरर्थक पदसमूह का विधि से पदैकवाक्यत्व होना संभव नहीं। अर्थवादों के स्वार्थ से ही प्राशस्त्यादि द्योतित होता है। अगर उनका स्वार्थ अविवक्षित हो तो यह कैसे संभव है?

उत्तर है कि अर्थवाद का महातात्पर्य तो है विध्यर्थ में और उस विध्यर्थ के द्वारा अवान्तरतात्पर्य है स्वार्थ में। अर्थात् अर्थवाद चाहता तो विध्यर्थ का ही प्रतिपादन करना है पर उसके लिये ज़रूरी होने से स्वार्थ भी कह देता है। इस विषय में संक्षेपशारीरक (१.४६६-६९) काफी स्पष्टता लाता है।

अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने महान् व अवान्तर तात्पर्यों का यह स्वरूप कहा है: 'निरुपाधिकशेषिबुद्धिफलत्वं महातात्पर्यम्। प्रधानबुद्धिफलत्वाऽविरोधेन अर्थान्तरबुद्धिफलत्वम् अवान्तरतात्पर्यम्।' प्रकृत में निरुपाधिक शेषी है नियोग जबकि स्वार्थ है अर्थान्तर। इसलिये ऐसा नहीं कि अर्थवाद का स्वार्थ प्रतीत होना कोई दोष है, लेकिन अर्थवाद का निवेश इसलिये नहीं

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥५६७॥

है कि उसका स्वार्थ प्रतीत हो। उसका निवेश तो इसीलिये है कि नियोग को उसकी ज़रूरत है। वह ज़रूरत पूरी करने के लिये स्वार्थ भी बताना पड़ता है, यह बात अलग है ॥५६६॥

जब अर्थवाद का अवान्तरतात्पर्य स्वार्थ में माना तो जिज्ञासा हुई कि जैसे मुख्यतात्पर्यविषय में अर्थवाद प्रमाण ही होता है ऐसे ही क्या अवान्तरतात्पर्य विषय में भी वह प्रमाण ही होता है? समाधान यह है कि कुछ अवान्तर विषयों में अर्थवाद प्रमाण होता है, कुछ में नहीं भी होता। इसमें व्यवस्था क्या है – यह बताते हैं:

अर्थवाद तीन तरह का माना गया है: १) प्रमाणान्तर का विरोध हो तो गुणार्थवाद होता है; २) प्रमाणान्तर से ज्ञात को कहने वाला अर्थवाद अनुवाद कहा जाता है; तथा ३) जो प्रमाणान्तर से विरुद्ध भी न हो और जिसका अर्थ प्रमाणान्तर से ज्ञात भी न हो वह अर्थवाद भूतार्थवाद कहा जाता है ॥५६७॥

अर्थवाद के पहले तो दो प्रकार हैं–१) भूतार्थवाद - वे अर्थवाद जिनका स्वार्थ सत्य होता है और २) अभूतार्थवाद – जिनका स्वार्थ सच्चा नहीं होता। भूतार्थवाद फिर दो तरह का होता है– १क) जिसमें प्रमाणान्तर का न समर्थन है न विरोध और १ख) जिसमें प्रमाणान्तर का समर्थन है।

'आदित्य यूप है' (तै०ब्रा० २.१.५.२) आदि अभूतार्थवाद है क्योंकि इसका स्वार्थ सच्चा नहीं है। किन्तु वेद झूठी बात तो कह नहीं सकता इसलिये इस तरह के अर्थवाद गुणवाद होते हैं, गौणीवृत्ति से कथन करते हैं। ऐसे वाक्यों के बारे में मीमांसा में (१.४. अधि० १५) विचार उठा कि क्या ये अर्थबोधक हैं या इनसे निश्चित ज्ञान संभव नहीं? **पूर्वपक्षी** ने कहा कि यथाश्रुत अर्थ तो प्रत्यक्षबाधित होने से विवक्षित हो नहीं सकता तथा किसी गुण का सम्बन्ध भी प्रतीत होता नहीं कि प्रशंसा समझी जाये अतः ऐसे वाक्य कोई निश्चय नहीं करा सकते। **सिद्धांत** है कि तेजस्विता आदि सादृश्य को निमित्त बनाकर आदित्यशब्द गौणी वृत्ति से यूपपरक होने से वाक्य का स्वार्थ प्रत्यक्षबाधित नहीं अतः अर्थबोधक ही है। बालक को सिंह कहने की तरह यूप को आदित्य कहना है। अतएव ऐसे वाक्य गुणवाद कहे जाते हैं। इनका यथाश्रुतमात्र अर्थ सच्चा न होने पर भी गौणीवृत्ति से सच्चा अर्थ इनसे समझना पड़ता हैं ताकि ये बाधितार्थक न रह जायें।

जो अर्थ ज्ञात हो उसे ही कहने वाला वाक्य अनुवाद नामक भूतार्थवाद होता है। ज्ञातज्ञापन व्यर्थ होने से इसका तात्पर्य प्रशंसा में हो जाता है। तैत्तिरीय संहिता में (५.२.९) कह दिया है 'गाय-घोड़ों से अन्य तो ग़ैरजानवर हैं, गाय-घोड़े पशु हैं।' यह वाक्य संगत अर्थ कहता है या नहीं? इस पर भी मीमांसा में (१.४. अधि० १६) चर्चा आयी है। **पूर्वपक्षी** को इस वाक्य से कोई प्रशंसा समझ नहीं आयी अतः उसने कहा कि इसे संगत अर्थ का बोधक नहीं मानना चाहिये। तब **सिद्धांती** ने कहा कि प्रशंसा समझी जा सकती है अतः इसका अर्थ संगत ही है: 'ग़ैरजानवर' से यह तो कह नहीं रहे कि अन्यों में पशुत्व ही नहीं है; क्योंकि यह बात प्रत्यक्षादि से विरुद्ध होगी। अतः 'ग़ैरजानवर' का इतना ही मतलब है कि जानवर से साध्य कार्य अन्य जानवरों से नहीं हो पाता। किं च अन्यों को ग़ैरजानवर कहने से ही गाय-घोड़े जानवर हैं यह समझ आ जाता है, फिर 'गाय-घोड़े पशु हैं' यह अनुवाद है, ज्ञातज्ञापक है अतः जिस पशुत्वका अन्यों में निषेध किया उसे यह गाय-घोड़ों में कह रहा है अर्थात् जानवर से साध्य कार्य करना इनमें मुख्य होता है यह मतलब निकलता है। जैसे 'गाँव में और कोई धनवान् नहीं, देवदत्त धनवान् है' का यह मतलब नहीं कि अन्यों के पास कौड़ी-पैसे भी नहीं हैं, बल्कि इतना ही अर्थ है कि अन्यों से उधारादि नहीं मिल सकता, यही धनिकार्य है, देवदत्त से मिल सकता है। दूधादि भोजन और यात्रादि ये पशुकार्य जितने बढ़िया गाय व घोड़े से होते हैं उतने अन्यों से नहीं – इस प्रकार उक्त वाक्य प्रशंसा में तात्पर्य वाला होने से संगत अर्थ कहकर अर्थवाद हो जाता है। अतः यह निर्णय है कि अनुवाद प्रशंसापरक होता है; जैसे आँख से लड्डू दीखने पर भी 'यह लड्डू है' कहते हैं तो तात्पर्य होता है कि लड्डू बढ़िया है, वैसे समझना चाहिये।

विधिशेषोऽपि यद्यर्थमर्थवादः समर्पयेत्। अद्वैतविधिनाऽऽक्षिप्ता वेदान्ता नेति का मितिः ॥५६८॥

तीसरा अर्थवाद वह भूतार्थवाद है जो प्रमाणांतर के समर्थन और विरोध दोनों से बचा हुआ है। उसका स्वार्थ जैसा कहा है वैसा ही स्वीकार्य होता है। वेद में 'सृष्टियों का उपधान' करने को कहा गया है। यहाँ सृष्टिशब्द उन ईंटों को कहता है जिनके उपधान अर्थात् स्थापन में ऐसे मंत्रों का प्रयोग होता है जिनमें 'सृष्टि'-शब्द आता है। अतः 'सृष्टिमान् आसामुपधाने मन्त्रः' इस विग्रह से सृष्टिपद ईंटपरक है। पाणिनि ने व्यवस्था दी है 'तद्वानासामुपधाने' (४.४.१२५)। किन्तु स्थापना तो बहुतसी ईंटों की करनी है, उनमें कुछ ईंटें भले ही सृष्टि हैं लेकिन अन्य ग़ैरसृष्टि भी हैं। अतः सृष्टिपद को अनुवादक नहीं मान सकते क्योंकि उपधेयतया ज्ञानमात्र का ज्ञापक नहीं, केवल एकदेश का ज्ञापक है। इसलिये यह वाक्य संगत अर्थ नहीं कहता – यह पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त हैः बहुतेरी ईंटें सृष्टि हैं अतः सृष्टिपद सभी ईंटों का लक्षक है। अभिधेयसंबंध यह है कि सृष्टियों का – सृष्टिसंज्ञक ईंटों का – भी उपधान – क्रियासे संबंध है व ग़ैरसृष्टियों का भी। अतः लक्षणा संभव है। इसलिये सृष्टिपद शक्ति व लक्षणा से सभी ईंटों का बोधक होकर अनुवाद हो इसमें कोई विरोध नहीं हो सकता। आगे प्रश्न होगा कि आख़िर सृष्टिशब्द से ही यहाँ ईंटे क्यों कही गयी? उत्तर है कि सृष्टिशब्द से कहने का प्रयोजन है सृष्टिवाच्य ईंटों की स्तुति। जैसे ब्राह्मणों को अगस्त्यकुलीन कहने पर अगस्त्यकी महिमा प्रकट होती है वैसे यहाँ जिनके नाम से ग़ैरसृष्टियाँ भी समझ आ जाती हैं वे सृष्टियाँ श्रेष्ठ हैं यह पता चल जाता है। अतः सृष्टिपद अर्थवाद है। यहाँ 'सृष्टीरुपदधाति' में सृष्टिशब्द उक्त विग्रह से इष्टकाविशेषों का वाचक है। यह बात मानान्तरलभ्य या मानान्तरविरुद्ध नहीं है कि वे ईंटें सृष्टिशब्दार्थ हैं। किन्तु उन्हें सृष्टिशब्द का अर्थ बताना ज़रूरी इसलिये है कि आगे प्रशंसा आयी है जिसमें सृष्टिशब्द का प्रयोग कर दिया है। यदि यहाँ ईंटों को सृष्टिशब्द से न कहते तो यह समझ नहीं आता कि वहाँ प्रशंसा किनकी है। अतः यह वाक्य सच्चा अर्थ बता रहा है और वह अर्थ प्रमाणान्तर के समर्थन – विरोध से रहित है। तथापि है यह अवान्तर अर्थ ही, मुख्य अर्थ तो नियोग ही है। इस तरह त्रिविध अर्थवाद मीमांसाशास्त्र के प्रथमाध्याय में प्रसिद्ध हैं।

इस वार्तिक को स्वयं भाष्य में अभिप्रेत समझना चाहिये। देवताधिकरण में (१.३.३३) भगवान् भाष्यकार लिखते हैं, 'यत्र सोऽवान्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति तत्र तदनुवादेनार्थवादः प्रवर्तते। यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धः, तत्र गुणवादेन। यत्र तु तदुभयं नास्ति तत्र किं प्रमाणान्तराभावाद् गुणवादः स्याद् आहोस्वित् प्रमाणान्तराऽविरोधाद् विद्यमानवाद इति? प्रतीतिशरणैर्विद्यमानवाद आश्रयणीयो न गुणवादः।'

अनुवाद का सरल स्थल 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' आदि तथा भूतार्थवाद का देवताविग्रहबोधक वाक्य हैं। वादी को स्वीकृत स्थलों से ही उसे त्रैविध्य समझाया जा सकता है अतः व्याख्याकारों ने मीमांसाप्रसिद्ध स्थल ही लिये। वहाँ न्याय स्थापित होने के बाद ही देवताविग्रहादि सिद्ध हो पायेंगे अन्यथा देवतावाक्यों का स्वार्थ भी गौणादिपरतया ही उपेक्षणीय हो जायेगा ॥५६७॥

भूतार्थवादप्रसंग का प्रकृत में उपयोग दिखाते हैं:

जब विधिशेष होने पर भी अर्थवाद स्वार्थका बोधक हो जाता है तब तत्त्वज्ञान के हेतुरूप से प्राप्त वेदान्त स्वार्थबोधक नहीं हैं इसमें क्या प्रमाण हो सकता है? ॥५६८॥

अर्थात् वेदान्तों से अद्वैत का ज्ञान हो रहा है तब साहसमात्र से उन्हे अज्ञापक कैसे कहोगे? अतः सिद्ध अर्थ में शब्द प्रमाण मानना अनिवार्य है। जब अमुख्य तात्पर्य में भी शब्द प्रमाण हो सकता है तब मुख्यतात्पर्य में क्यों न होगा? देवताविग्रहादि सिद्ध वस्तुएँ जब अन्यपरक वाक्य से सिद्ध हो रही हैं तब तत्परक वाक्य से भी अद्वैत इसीलिये प्रमित न हो कि वह सिद्ध वस्तु है, यह बात सर्वथा अप्रामाणिक है। 'अद्वैत – तत्त्व का ज्ञान नहीं होता' यह कहना तो विद्वदनुभवसे विरुद्ध है। वह ज्ञान कारणापेक्ष है और ज्ञापक बनता है वेदान्तवाक्य। अतः अद्वैत ज्ञान की जरूरत पूरी करने से सिद्धार्थक वेदांतवाक्य व्यर्थ नहीं हैं।

प्रत्यक्षाद्यभिधानेन सर्वमानोपलक्षणम्। मान्तरं नाऽऽगमादन्यद्यदैकात्म्यावबोधकृत् ॥५६९॥

कल्पलता में स्पष्ट किया है कि अज्ञातज्ञापक होने से तत्त्वमस्यादि वाक्य यहाँ अद्वैतविधि हैं। उनसे आक्षिप्त हैं 'तरति शोकम्' आदि वेदान्तवाक्य क्योंकि उत्पत्तिविधि से फल अर्थसिद्ध होता है जिसे अधिकारवाक्य कथित करता है। एवं च विधिसिद्ध का ही विशिष्ट कथन करने वाले फलवाक्य अवश्य प्रमाण हैं।

अथवा 'अद्वैतविधि' से तत्त्वमादि लेने पर उन्हें समझना तभी संभव है जब 'सदेव' आदि सारी उपनिषत् का अर्थ समझा जाये अतः उनसे आक्षिप्त हुआ कि सारा वेदान्त विवक्षितार्थक है। विधि की ज़रूरत पूरी करने से प्रमाण होता हुआ वेदान्त भूतार्थ में भी प्रमाण हो जाता है क्योंकि वेदान्तों का अवयवार्थ भी प्रमाणांतरगोचर न होने से उनसे समर्थन या विरोध से बचा रहता है। अथवा अद्वैतविधिका मतलब है वादी को स्वीकृत जो अद्वैतज्ञानविधि, उसका शेष यदि तत्त्वमादि को मान लें, तो भी भूतार्थवाद ही संभव होने से सिद्ध अद्वैत का शब्द से अवगम मना नहीं किया जा सकता यह वार्तिकार्थ समझना चाहिये। इस दृष्टि से 'अपि' और 'यदि' का स्वारस्य भी हो जाता है। टीका के बोधशब्द को उपास्तिपरक लगा सकते हैं।

सर्वथापि जब यह सिद्ध हो गया कि दर्शननिष्ठ न होने पर भी (श्लो० ५६४) जब अर्थवादादि सिद्धार्थबोध करा सकते हैं और वह बोध प्रमा हो सकता है (श्लो० ५६७), तब प्रतीयमान स्वार्थ में तात्पर्य वाले सफल वेदान्तवाक्य सिद्धार्थप्रमिति कराते हैं इसमें कहना ही क्या! इस प्रकार 'सर्वोऽपि अयं वेदः' इस भाष्य से यह सिद्ध किया कि वेदान्त ब्रह्म में प्रमाण हैं। यह व्याख्या ज़रूरी थी अन्यथा सर्वशब्दप्रयोग से भ्रम हो जाता कि भाष्यकार वेदान्तों को भी प्रसिद्ध इष्टों की, पशु-पुत्रादि की, प्राप्ति आदि के उपायों का ही प्रकाशक मानते हैं! इस संभावना को हटाने के लिये ही वार्तिककार ने श्लो० ५५८-६० से वेद की ब्रह्मार्थता भाष्यवाच्य है यह प्रतिज्ञा कर सिद्धार्थकता को मीमांसान्यायों से उपपन्न करने का प्रसंग उपस्थित किया ॥५६८॥

आगे भाष्यकार कहते हैं 'प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगते' त्यादि। कहना चाहिये था केवल अनवगत, जैसे 'अर्थेऽनुपलब्धे' जैमिनि ने (१.१.५) कहा है, लेकिन भाष्य में कहा प्रत्यक्ष और अनुमान से अनवगत (अज्ञात)। इससे लगता है कि भाष्यकार मानते हैं कि ब्रह्म उपमानादि का विषय है। अतः ब्रह्म वेदान्तों का अपूर्व विषय रहा नहीं इसलिये उपमानादि का संवादी हो तो अनुवादमात्र रहकर अप्रमाण होगा और उनसे विरुद्धार्थक हो तब तो गुणवाद हो ही जायेगा; हर हालत में स्वार्थ में प्रमाण तो रह सकेगा नहीं। इस समस्या का समाधान वार्तिककार करते हैं:

प्रत्यक्षादि अर्थात् 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' कहने से सभी प्रमाण उपलक्षित किये गये हैं क्योंकि आगम से अन्य कोई प्रमाण नहीं है जो एकात्मता का बोध कराता हो ॥५६९॥

जैसे 'कौवों से दही बचाना' कहा जाये और सुनने वाला दही को बिल्ली, कुत्ते आदि से न बचाये वैसी ही वादी की शंका है! भाष्याभिप्राय यही है कि किसी भी प्रमाण से जो न पता चले वह शास्त्र से पता चलता है। दो का नाम तो प्रमुख होने से ले लिया। चार्वाक को छोड़कर बाकी सभी विचारक इन दो को तो प्रमाण मानते ही हैं अतः सर्वसंमत प्रमाणों का उल्लेख कर दिया।

जब उपलक्षणा से सभी प्रमाण कहे तो वादी पूछता है कि क्या शास्त्र भी उनमें आ गया? तब तो शास्त्र से भी अनवगत को शास्त्र से अवगत कहना होगा जो विरुद्ध बात है! इसलिये वार्तिक में स्पष्ट किया कि ऐकात्म्यावबोधक से अतिरिक्त प्रमाण ही उपलक्षणा से गृहीत हैं। जैसे 'दवा ले जाओ, खाना कुछ मत।' इस वैद्यवाक्य का यह अर्थ नहीं कि दवा भी मत खाना, वैसे ही 'वेदः प्रकाशनपरः' कहते हुए जब प्रकाश्य विषय को 'अनवगत' कह रहे हैं तब यह अर्थ नहीं कि उसे वेद का भी अविषय कह रहे हों ॥५६९॥

उपलक्षणा किसी समानता से होती है जैसे 'दही बिगाड़ने वाला होना' - इस समानता से कौवा-शब्द अनेकों का उपलक्षण होता है। प्रत्यक्षादि की उपलक्षणा में समानता है प्रमाणता की, अतएव 'सर्वमानोपलक्षणम्' कहा और यह भी

सिद्धेऽनवगते यस्मात्पुरस्ताद्व्यापृतिर्मितेः। मानादज्ञाततासिद्धौ स्यादन्योन्यसमाश्रयः ॥५७०॥
तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य विरोधोऽतो न केनचित्। सर्वाश्रयत्वात्संवित्तेस्तथाऽऽत्मन्यप्रवृत्तितः ॥५७१॥

कहा कि आत्माद्वैत में 'मान्तरम्' – अन्य प्रमाण की विषयता नहीं है। इस प्रकार जब प्रत्यक्षादिको प्रमाणपदवी पर आरूढ कर दिया तब वे शास्त्र के प्रतिद्वन्द्वी होने में सक्षम हो गये और अद्वैतागम का प्रत्यक्षादि से विरोध अतिप्रसिद्ध है, तब वेदांत अद्वैत ब्रह्म में प्रमाण कैसे? उत्तर है कि प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य व्यवहार क्षेत्र में ही है, तत्त्वतः या परमार्थतः वे प्रमाण नहीं हैं, जब कि तत्त्वमादि आगम वास्तविकता को विषय करता है अतः अद्वैतशास्त्रका प्रत्यक्षादि से विरोध नहीं है। प्रत्यक्षादि वास्तव में, प्रमाण क्यों नहीं? इसलिये कि उनके योग्य कोई तत्त्वतः अज्ञात अर्थ ही नहीं जो प्रमेय बने! यह समझाते हैं:

क्योंकि पहले अज्ञात अर्थ सिद्ध होने पर तब प्रमाण की प्रवृत्ति होती है (इसलिये प्रत्यक्षादि की प्रवृत्ति से पूर्व उसके विषय की अज्ञातता जाननी पड़ेगी। किन्तु) यदि वह अज्ञातता प्रमाण से सिद्ध हो तो अन्योन्याश्रय दोष होगा (अतः अज्ञात अर्थ सिद्ध न होने से निष्प्रमेयक प्रत्यक्षादि तत्त्वतः प्रमाण नहीं हो सकते) ॥५७०॥

प्रमाण का विषय वही होगा जो अज्ञात है। किन्तु विषय अज्ञात है यह सिद्ध कैसे हो? सिद्धि यदि प्रमाण से हो तो वह प्रमाण कौन-सा? जिस प्रत्यक्ष के विषय की अज्ञातता सिद्ध करनी है वही प्रत्यक्ष अज्ञातता में प्रमाण है या कोई प्रमाणान्तर है? यदि वही है तो संभव नहीं क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति के लिये अज्ञाततासिद्धि चाहिये और वह सिद्धि तब हो जब प्रमाण प्रवृत्त हो – इस प्रकार सिद्धि – प्रवृत्ति में इतरेतराश्रितता होने से न सिद्धि होगी, न प्रमाण – प्रवृत्ति। यदि प्रमाणान्तर से अज्ञाततासिद्धि मानें तो भी यह समस्या बनी ही रहेगी क्योंकि वह प्रमाणान्तर प्रवृत हो इसके पूर्व भी अज्ञातता की सिद्धि अपेक्षित होगी ही जो उस द्वितीय प्रमाण से पूर्वन्याय से ही असंभव है। जब प्रमाणमात्रकी प्रवृत्ति विषयाज्ञातताकी सिद्धि के सापेक्ष है तब अज्ञाततासिद्धि प्रमाण से हो ही नहीं सकती। अज्ञाततासिद्धि चाहिये इसलिये कि अज्ञातार्थक को ही प्रमाण माना गया है। इस विषय में प्रकृत वादी की, मीमांसक की, संमति है। ऐसा भी नहीं हो सकता कि ज्ञानसाधनतया प्रवृत्त हो जाये और बाद में अज्ञाननिवृत्ति के बल पर साधन में प्रामाण्य हो जाये, क्योंकि मीमांसक स्वतःप्रामाण्यवादी है, वह अन्यके आधार पर प्रामाण्य मानेगा नहीं। अतः अज्ञातता को सिद्ध करना ही होगा।

प्रमाण से न सही, अनुभव से ही अज्ञातता सिद्ध हो तो क्या हानि है? यही हानि है कि शाङ्करसिद्धान्त प्रतिष्ठित हो जायेगा! मीमांसक तो यह नहीं मान सकता कि अनुभव से ही अज्ञातता सिद्ध हो जाती है क्योंकि अनुभव ख़ुद से अन्य उसी को सिद्ध कर पाता है जो अनुभव में कल्पित होता है। यदि अज्ञातविषय को अनुभवसिद्ध कहोगे तो यह स्वीकारना होगा कि जड विषय और उसकी अज्ञातता अनुभव में कल्पित हैं। कल्पितविषयक प्रत्यक्षादि को वास्तविक प्रमाण नहीं कह सकोगे! अतएव शाङ्करप्रक्रिया में प्रमाणों को अज्ञातज्ञापक तो वैसे ही कह दिया है जैसे मीमांसक कहता है लेकिन यहाँ प्रत्यक्षादि में तात्त्विक प्रमाणता संभव नहीं मानी गयी है। अद्वैत आगम के सामने यह समस्या इसलिये नहीं कि वह चिद्विषयक है और चित् स्वप्रकाश है तथा उसकी अज्ञातता अनुभव से सिद्ध मानी जाती है क्योंकि वह है ही चित् पर कल्पित। अज्ञातता कल्पित होने पर भी आत्मा वास्तविक होने से प्रमाण तत्त्वावेदक हो जाता है। जड विषयों में यह व्यवस्था इसलिये संभव नहीं कि अज्ञातता का भान विषयनिरूपिततया ही हो सकने से विषयभान भी मानना पड़ेगा जो प्रमाण से तो होगा नहीं अतः अनुभव से ही होगा और तब विषयको भी अनुभव पर कल्पित मानना अनिवार्य होगा। श्रीमान् विवरणाचार्य ने इसका काफी ख़ुलासा किया है ॥५७०॥

प्रत्यक्षादि पारमार्थिक प्रमाण नहीं, इसका फल यह निकला –

इसलिये 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यका किसी से विरोध नहीं है। अनुभव सबका अधिष्ठान है इसलिये भी विरोध नहीं और प्रत्यक्षादि आत्मा को विषय ही नहीं करते इस कारण से भी उनका आत्मागम से विरोध नहीं है ॥५७१॥

कृत्स्नेष्टार्थस्य संप्राप्तिः कृत्स्नानर्थह्नुतिस्तथा। आत्मस्वरूपान्नान्यत्र संभाव्या सा हि मानतः ॥५७२॥

प्रत्यक्षादि प्रमाण और उनके विषय सभी अनुभूति में कल्पित हैं अतः अनुभूति को विषय करने वाले प्रमाण का आरोपित प्रत्यक्षादि से बाध संभव नहीं। कल्पित सर्पसे अधिष्ठानीभूत रस्सी विषाक्त कैसे हो? किं च आत्मा को विषय करें तभी आत्मविषयक शास्त्र से प्रत्यक्षादि का विरोध हो, लेकिन जब प्रत्यक्षादि रूपादिमान् को ही विषय करते हैं तब रूपादि से रहित आत्मा को वे विषय कर ही कहाँ सकते हैं कि शास्त्र के प्रतिद्वंद्वी बनें? यद्यपि भाष्यकार धर्मसे ब्रह्म का वैलक्षण्य बताते हुए शास्त्रेतरगम्यता स्वीकारते हैं तथापि उन्होंने आगे (ब्र० सू० २.१.६ में) स्पष्ट किया है कि उनका अभिप्राय 'श्रुत्यादयः अनुभवादयः' से किनके संग्रहका है: 'न विलक्षणत्व'-अधिकरण में (२.१.३) छठे सूत्र के भाष्य में वे कहते हैं 'यदुक्तं परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुरिति; तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद् हि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम्। आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत्। ... यदपि श्रवणव्यतिरेकेण मननं ...। नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः संभवति। श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते।' अतएव श्रुत्यादि के आदि से लिंग, वाक्यादि का या स्मृति, इतिहासादि का ही संग्रह टीकाकारों ने किया है। अनुभवशब्द का अर्थ भामतीकारने ब्रह्मसाक्षात्कार ही किया है। अनुभवादि के आदि से श्रुत्यनुकूल अनुमानादि ही लिये जा सकते हैं अन्यथा द्वितीयाध्याय के उक्त भाष्य का विरोध होगा। अतः शास्त्र से स्वतंत्र रहकर मानान्तर की गति अद्वैततत्त्व में भाष्यकार को इष्ट नहीं। शास्त्र से प्रमित होने पर साधनान्तर अनुवाद द्वारा उसे मंडित करें यही संभव है, उसका विरोध कर पायें यह नहीं ॥५७१॥

पूर्वोक्त विचार से सिद्ध हुआ कि प्रमाणान्तरविरोध न होने से अप्रामाण्य प्रसक्त नहीं है जिसकी निवृत्ति के लिये अद्वैतवाक्य को विधि की शरण लेनी पड़े। फिर भी यह शंका बनी रहेगी कि 'इन वाक्यों का स्वार्थ विफल होगा', क्योंकि अन्यत्र विधिवाक्य ही सफल देखे गये हैं। अतः यह शंका हटाने के लिये तो अद्वैतवाक्य को विधि से सम्बन्ध स्थापित करना ही होगा। वादी ने जब कहा था कि वेदान्त विधिहीन होने से अप्रमाण हैं तब सिद्धान्ती ने 'स्वार्थ में निष्फलता' उपाधि कही थी (श्लो० ५६४)। उस पर वादी कह रहा है कि वेदान्त भी स्वार्थ में निष्फल ही हैं अतः 'विधिरहितवाक्यत्व'-रूप साधन की व्याप्ति (उपाधि में) बनी रहती है क्योंकि व्यभिचारस्थल मिलता नहीं; वेदान्तों को ही व्यभिचारस्थल मानकर उपाधि दी थी लेकिन उनमें स्वार्थ-साफल्य ही कहाँ सिद्ध है? यह तो कह नहीं सकते कि वेदान्तों से ही सिद्ध होता है कि वे स्वार्थ में सफल हैं! क्योंकि उनका स्वार्थसाफल्य उन्ही के प्रामाण्य पर आश्रित होगा और उनका प्रामाण्य उनके स्वार्थसाफल्य पर – यों इतरेतराश्रय हो जायेगा। अतः क्लृप्तसाफल्य जो विधि उसी के संबंध से वेदान्तसाफल्य सिद्ध होने के पश्चात् वेदान्त में प्रामाण्य निःशंक होने से वेदान्तों का विधि से सम्बन्धविच्छेद कथमपि अशक्य है। – इस आक्षेप का भी परिहार करते हैं:

समस्त इच्छित अर्थों की सम्यक् प्राप्ति तथा सारे अनर्थों की निवृत्ति (–यह मोक्षरूप फल) आत्मस्वरूप से अन्यत्र संभव नहीं है और यह फलप्राप्ति प्रमाण से ही हो जाती है ॥५७२॥

तात्पर्य है कि आत्मा ही पुरुषार्थ है यह युक्तियों से सिद्ध कर चुके हैं (श्लो० ४६९ इत्यादि) अतः ज्ञात आत्मतत्त्व ही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ है इसमें संदेह का अवसर नहीं। और किसी चीज़ का मिलना आत्ममिलन से बढ़कर नहीं है। आपस्तम्बादि कवियों ने भी यही माना है। लोक में जब मिथ्यात्मा शरीरादि के लाभ के लिये धनादि अन्यान्य सुख भी छोड़ दिये जाते हैं तब मुख्यात्मा के लाभ के सामने अन्य लाभ घटकर रहें इसमें कहना ही क्या! अतः आत्मलाभ कराने वाले वेदान्त को स्वार्थ में विफल कैसे कहोगे कि उपाधि साधनव्यापक हो सके? वेदान्तों का स्वार्थसाफल्य युक्ति-समर्थित होने से व्यभिचारस्थल सुलभ है अतः साधनाऽव्यापकता ही है। वेदप्रामाण्य औत्सर्गिक है, साफल्यादि-उपाधिवश तो है नहीं; हाँ वैफल्यादि से वह प्राप्त-प्रामाण्य तिरस्कृत हो सकता है; यही स्वतःप्रामाण्यवादी को मानना पड़ेगा। वेदान्तवाक्य भी औत्सर्गिक प्रामाण्य से पुष्ट होकर 'तरति शोकम्' (छा० ७.१.३) आदि से जब महावाक्यों को स्वार्थसफल सिद्ध कर देते हैं तब वेदान्तों को विधि का मुख देखने की ज़रूरत कहाँ रह जाती है? अतः वेदान्तों से ही

इत्येवमादिभाष्यार्थः क्रमेणैकात्म्यवस्तुनि। यत्नेन वक्ष्यते न्यायात्पूर्वपक्षनिरासतः ॥५७३॥
वेदान्तवचसां स्वार्थे प्रामाण्यं न विहन्यते। मानलक्षणसद्भावाज्ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत् ॥५७४॥

उनके स्वार्थसाफल्य की सिद्धि में भी अन्योन्याश्रय नहीं। यदि शंकित-अप्रामाण्य कहो तब तो विधि में भी वह बना रहता है क्योंकि लोक में बहुतेरी विधियाँ निष्फल तथा बहुधा दुःखफलक भी देखी गयी हैं एवं शास्त्रमें भी नित्यादि से कोई इष्टलाभ कर्मकांडी भी नहीं मानता तथा श्येनादि विधि भी अर्थतः अनर्थकर मानी गयी है, इसलिये स्वर्गकामादि में भी शंका कौन रोक सकता है? बल्कि 'अमृता अभूम' 'स्वर्गे लोकेऽमृतत्वं भजन्ते' आदि का कृतकानित्यत्वयुक्ति सहकृत 'न कर्मणा अमृतत्वम्', 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन', 'नास्त्यकृतः कृतेन' श्रुतियों से बाध ही हो जाता है, तब विधिप्रामाण्य ही क्यों शंकित नहीं होगा?

सर्व-इष्ट-लाभ और सर्वानिष्टहानि - इन दो रूपों वाला फल क्योंकि आत्मरूप है इसलिये विधिसापेक्ष हो नहीं सकता क्योंकि वैधफल अनात्मत्व से व्याप्त है जैसा स्वर्गादि में क्लृप्त है। यदि वैध हो तो अनात्मा होकर जड-परिच्छिन्न-दुःख ही हो जायेगा, मोक्ष ही नहीं रहेगा। प्राप्तप्राप्ति क्योंकि प्रमाणातिरिक्तसाधनक नहीं होती इसलिये यह फललाभ केवल प्रमाण से संभव है, विधिविषयभूत क्रियादि से नहीं।

यदि कहो-मोक्ष भी फल होने के कारण स्वर्गादि की तरह विधि के ही अधीन है तो हेतु व्यभिचारी है। रज्जुज्ञान से भयनिवृत्ति फल सब को अनुभूत है लेकिन वह किसी विधि के अधीन नहीं। ऐसे ही 'घर में अमुक जगह धन गड़ा है' इस ज्ञानमात्र से ही प्रसन्नता देखी जाती है, चाहे अभी पर्याप्त संपत्ति होने से उस गड़े धन की कोई जरूरत पड़ने की संभावना भी न हो। अतः मानसाफल्य विवादास्पद नहीं।

हमारे गुरुचरणों का तो कहना है कि सुखलाभ ही फल है ऐसी कोई मनु-आज्ञा तो है नहीं! अतः चित्-लाभ, ज्ञानलाभ भी फल ही है। बल्कि जिज्ञासा से आतुर को ज्ञान में ही फलबुद्धि होना उचित है। अतः प्रमाण में अफलत्व कहा ही नहीं जा सकता। इसी न्याय से यह भी समझा जा सकता है कि शून्यवादादि से आत्म-असत्त्व पाया हुआ व्यक्ति सत्-लाभ को भी फल ही स्वीकारेगा। लाभ तो अनावरणार्थक प्रसिद्ध ही है: अनावृत होना ही 'मिलना' है ॥५७२॥

यद्यपि भाष्यकार ने कह तो दिया कि वेदान्त व्यापक चिन्मात्र में प्रमाण हैं तथापि श्लोक ४७७ से ५४१ तक जो पूर्वपक्ष के समर्थक हेतु कहे थे उनका जवाब न मिलने तक भाष्यार्थ में दृढता कहाँ जिसकी प्रतिज्ञा श्लोक ५५३ में की थी! अतः अब वार्तिककार पूर्वपक्षपरीक्षा आरंभ करने जा रहे हैं अतः प्रतिज्ञा करते हैं:

प्रमाणान्तर से अविरुद्ध और प्रमाणान्तर के अविषय अद्वैत-आत्मवस्तु, में सफल वेदान्त तात्पर्य वाले हैं - यह जो भाष्यार्थ बताया उसे युक्ति के सहारे क्रमशः पूर्वपक्षखण्डन द्वारा समझायेंगे ॥५७३॥

भाष्य में निहित दृढ न्यायों को व्यक्त कर आगे बताया जायेगा, यह तात्पर्य है। श्री आनंदपूर्णमुनीन्द्र यहाँ संक्षेप में बताते हैं कि पाँच तरह से अप्रामाण्य संभव है - १) मिथ्याज्ञान का जनक होने से, २) निष्फल होने से, ३) प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखने से, ४) अनुवादरूप होने से या ५) अविवक्षितार्थक होने से; इनमें से कोई भी प्रकार वेदान्तों का अप्रामाण्य नहीं प्राप्त करा सकता यह 'सर्वोऽपि' आदि भाष्य के अर्थरूप से कहकर अब पूर्वपक्षनिरासमुख से कहा जायेगा ॥५७३॥

श्लोक ४७९ में पूर्ववादी ने कहा था कि सिद्धवस्तु प्रमाणान्तर के योग्य होती है अतः उसमें वेदान्त प्रमाण नहीं हो सकते। उसका जवाब देते हैं:

वेदान्तवाक्यों की स्वार्थ में प्रमाणता होने में कोई रुकावट नहीं क्योंकि प्रमाण का लक्षण जैसे ज्योतिष्टोमादि-विधिवाक्यों में है वैसे ही वेदान्तवाक्यों में भी ॥५७४॥

सिद्ध वस्तु होने पर भी आत्मा प्रमाणान्तरयोग्य नहीं है यह कह ही चुके हैं (श्लो० ४६७) तथा आगे भी

नैव कार्यैकनिष्ठानि व्यवहारे वचांसि हि। नियमेन प्रयुज्यन्त इत्यत्र मितिरस्ति ते ॥५७५॥
दिष्ट्या त्वं वर्धसे भद्र जातः पुत्रस्तवर्धिमान्। इति नेदं प्रवृत्त्यर्थं वचो नापि निवृत्तये ॥५७६॥
सुखाद्युत्पत्तिहेतूनि दृश्यन्तेऽकार्यवन्त्यपि। वचनानि व्रज ग्राममित्यादीनि यथा तथा ॥५७७॥
सुख्येधीति न चानेन प्रवृत्तिरुपदिश्यत। सुखीभवनमस्यार्थान्नोपदेशव्यपेक्षया ॥५७८॥

(१.४.८६८ आदि में) कहेंगे अतः अज्ञातज्ञापकतारूप प्रमाणलक्षण रहते अप्रामाण्य असंभव है ॥५७४॥

वादी ने श्लोक ४८० में कहा था कि शब्दमात्र ही कार्यपरक होने से सिद्धवस्तु में शब्द प्रमाण नहीं हो सकता; उसका उत्तर देते हैं:

जानकारों के व्यवहार में प्रयोग किये जाने वाले शब्द नियमतः कार्यरूप अर्थ ही कहते हैं इसके लिये तुम्हारे पास कोई प्रमाण नहीं हैं ॥५७५॥

कोई शब्द कार्यार्थक भले ही हो लेकिन सब शब्द कार्यार्थक हैं इसमें कोई प्रमाण नहीं। वस्तुतः कोई शब्द पारिभाषिक कार्य में तात्पर्य वाला नहीं हो सकता यह तो दिखा ही चुके हैं ॥५७५॥

लौकिक शब्दप्रयोग नियमतः कार्यार्थक नहीं होता इसे समझाने के लिये सिद्धार्थक प्रयोग का उदाहरण देते हैं :

'अरे भले आदमी! भाग्य से तुम बधाई के पात्र हो, तुम्हारा नवजात पुत्र सौभाग्यशाली है।'– यह वचन न प्रवृत्ति के लिये है, न निवृत्ति के लिये ॥५७६॥

कोई कहे कि पुत्रजन्म बताने वाला वाक्य भी कुछ करने आदि में तात्पर्य रखता होगा? तो उसकी असंभवता बता दी कि प्रवृत्ति आदि बोधक लिङादि शब्द इसमें न होने से वैसा कहना ग़लत है ॥५७६॥

श्लोक ४८१ में वादी ने कहा था – जो शब्द प्रवृत्ति या निवृत्ति न कहे वह सफल नहीं होता अतः पुत्रजन्मवाक्य भी निष्फल होने से अप्रमाण होगा तो इसी न्याय से वेदान्त भी अप्रमाण हो जायेंगे। इस संभावना को हटाने के लिये पुत्रजन्मवाक्य को भी सफल बताते हैं:

जैसे 'गाँव जाओ।' आदि वचन प्रवृत्ति के हेतु बनते हैं ऐसे ही विधिरहित पुत्रजन्मादि वाक्य भी सुखादि की उत्पत्ति के प्रति कारणता वाले देखे ही जाते हैं ॥५७७॥

उक्त वाक्य सुनकर पिता को सुख होता ही है, तब वाक्य निष्फल कैसे? बल्कि यदि ऐसा वाक्य न बोलकर चुप रह जायें तब पिता को बुरा लगता है कि इसने ऐसे मौके पर भी बधाई तक नहीं दी! अतः सफलता होने से विधिवाक्य की तरह सिद्धपरक वाक्य भी प्रमाण ही होता है।

'सुखाद्युत्पत्तिहेतूनि' में हेतुशब्द भावप्रधान है; हेतुत्वं येषां तानि यों यह 'वचनानि' का विशेषण है अतः नपुंसक लिंग का प्रयोग उचित है। विद्यासागर ने यह बहुव्रीहि बनाया है 'सुखाद्युत्पत्ति फलतया हेतुः प्रवृत्तौ येषां तानि' अर्थात् जिनकी प्रवृत्ति के प्रति हेतु है सुखादि की उत्पत्ति, वे वचन। अर्थ में अंतर नहीं है, सिद्धार्थक वाक्य भी सफल होते हैं यही तात्पर्य है ॥५७७॥

नियोगरसिक मानना चाहता है कि उक्त वाक्य 'सुखी होवो' इस विधिके संबंध से ही सफल है। उससे पूछना चाहिये कि सुखी होने की विधि क्या सुख के उपाय में प्रवृत्ति करने को कहती है या सुखी होने के लिये प्रवृत्ति करने को कहती है? दोनों ही संभव नहीं यह बताते हैं :

'सुखी होवो' – इस विधि से सुखोपाय के प्रति प्रवृत्ति तो कही नहीं जा रही (क्योंकि पुत्रजन्मरूप उपाय तो संपन्न हो ही चुका है) और पुत्रजन्म सुनने में ही यह विशेषता है कि पिता सुखी हो जाता है, सुखी होने के लिये वह किसी विधि का इन्तज़ार नहीं करता ॥५७८॥

विशेषोऽस्ति प्रवृत्तेश्चेत्तात्पर्यं वचसोऽपि च। नैवं सुखादिसंभूतावर्थवत्त्वोपपत्तितः ॥५७९॥
आनर्थक्यभयादेव श्रुतादन्यत्र कल्प्यते। तात्पर्यं प्रोक्षणाद्युक्तेर्न स्वतन्त्रेऽधिकारवत् ॥५८०॥

अतः सुखी होने की विधि निर्विषय होने से असंभव है यह तात्पर्य है। अन्यत्र ऐसी विधि साधनकर्तव्यता में या प्रतिबंधनिरसन में पर्यवसित हो भी जाये लेकिन प्रकृत स्थल में तो सर्वथा व्यर्थ है ॥५७८॥

वादी कहता है कि पुत्रजन्म बताने वाले का भीतरी भाव है 'जातकर्म संस्कार करो।' अतएव पिता भी उक्त वाक्य सुनकर संस्कार करने चल पड़ता है। इस प्रकार पुत्रजन्मवाक्य का तात्पर्य उस सफल प्रवृत्ति में ही मानना चाहिये जो इस वाक्य को सुनने से पूर्व नहीं थी और इसे सुनकर हो गयी। अतः यह वाक्य भी कार्यपरक ही है। यह शंका उठाकर समाधान करते हैं:

इस वाक्य का भी (जातकर्मसंपादनादिरूप) प्रवृत्तिविशेष में तात्पर्य क्यों न हो? ऐसा नहीं है क्योंकि सुखोत्पत्ति आदि से ही इसकी सार्थकता संगत हो जाती है ॥५७९॥

तात्पर्य है कि प्रमाण होने के लिये साफल्य चाहिये, वह जब सुखोत्पत्ति से ही मिल जाता है तो कोई कारण नहीं कि अश्रुत कल्पना कर वाक्य को उस कल्पित विधि का उपसर्जन बनायें। यदि गत्यंतर न होता तो प्रामाण्य के लिये अध्याहारादि भी किये जाते लेकिन व्यर्थ ही ऐसा करने पर चाहे जिस वाक्य का चाहे जो अर्थ होने लगेगा।

किं च जातकर्म में पिता की प्रवृत्ति पुत्रजन्म वाक्य से होती भी नहीं। वह तो 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपति पुत्रे जाते' (तै०सं० २.२.५) आदि विधि से होती है। अतएव श्रद्धालु अधिकारी ही जातकर्म करता है, पुत्रजन्म सुनने वाले सब पिता तो करते नहीं। अतः इस प्रवृत्तिविशेष में पुत्रजन्मवाक्य का तात्पर्य मानना संभव ही नहीं है ॥५७९॥

नियोगपक्ष के समर्थक हृदय से लौकिक शब्द को वैदिक शब्द के समान शब्दप्रमाण में गिनते नहीं अतः कहते हैं कि पुत्रजन्मवाक्य भले ही स्वार्थ में तात्पर्य रखे पर इसे दृष्टांत बनाकर तत्त्वमस्यादि को स्वार्थ में तात्पर्य वाला नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका स्वार्थ से अन्यत्र तात्पर्य उसी प्रकार समझा जाना संभव है जिस प्रकार प्रोक्षणवाक्य का तात्पर्य परमापूर्व में समझा जाता है। इस संभावना को भी हटाते हैं:

प्रोक्षणादिवाक्य का तात्पर्य श्रुत प्रोक्षणादिमात्र से अन्यत्र परमापूर्व में इसीलिये माना जाता है कि वे वाक्य व्यर्थ (=निष्फल) न रह जायें। अवघातादि का भी किसी स्वतंत्र अपूर्व में तो साक्षात् सम्बंध होता नहीं है। अतः 'स्वर्गकामो यजेत' आदि अधिकार वाक्य की तरह 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का भी स्वार्थ में ही तात्पर्य है ॥५८०॥

प्रोक्षणादिवाक्यों का विचार मीमांसादर्शन में (९.१.२) आया है: विधि आती है : जिन ऊखल और मूसल का प्रोक्षण किया जा चुका है उनसे धान कूटना चाहिये। संशय है कि ऊखलादि के प्रोक्षण का प्रयोजक कौन है – कूटना है? या अपूर्व है? पूर्वपक्ष है कि कूटना प्रयोजक है क्योंकि प्रोक्षण इसलिये करना है कि कूटना हो सके। कर्तव्यरूप अपूर्व तो प्रकरण से पता चलता है जबकि कूटना तो इसी वाक्य में कहा गया है। प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है यह छठे अध्याय में (पा० ३. अधि० ९) स्थापित हो चुका है। अतः अपूर्व की बजाये कूटने को प्रयोजक मानना चाहिये। इस पर सिद्धान्त है: प्रोक्षण अपूर्वप्रयुक्त ही है क्योंकि अपूर्व ही सफल है। निष्फल जो कूटना उससे प्रयुक्त इसे नहीं मान सकते। कूटने का भी प्रोक्षण से संबंध इसीलिये है कि कूटने का अपूर्व से सम्बंध है, अतः लौकिक उपयोग की कुटाई के लिये प्रोक्षण कहाँ होता है? प्रोक्षण भी संस्काररूप से अपूर्वसंबंध पा जाता है क्योंकि प्रोक्षण इसीलिये किया जाता है कि अपूर्व उत्पन्न हो जाये। नियोगवादी का कहना था कि प्रोक्षणवाक्य में यद्यपि अपूर्व नहीं कहा गया फिर भी इसका तात्पर्य अपूर्व में ही माना – प्रोक्षणजन्य अपूर्व उत्पन्न करो यह अभिप्राय निकाला; ऐसे ही तत्त्वमस्यादि में भले ही कार्य न सुना जाये फिर भी तात्पर्य किसी कार्य में ही मानना चाहिये। वेदान्ती ने उत्तर दिया कि प्रोक्षणवाक्य का स्वार्थ – जल छिड़कना – तो निष्फल था अतः सफल होने के लिये उसने अपूर्व की शरण ली सो ठीक है किन्तु तत्त्वमस्यादि वाक्यों

का स्वार्थ ही सफल है अतः ये किसी अन्यसे प्रयुक्त होने की अपेक्षा ही नहीं रखते कि अपेक्षापूर्ति के लिये इनका स्वार्थ से अन्यत्र तात्पर्य कल्पित किया जाय।

वादी कहता है कि प्रोक्षणादि की तरह न सही, अवघात (कूटने) आदिकी तरह ही ज्ञान का अपूर्वसंबंध मान लो। अवघात जैसे भावार्थ है – धात्वर्थ है – वैसे ही तत्त्वमादिवाक्य से जन्य ज्ञान भी ज्ञाधातु का अर्थ है ही। अतः जैसे अवघात में प्रवृत्तिविषयता का प्रयोजक अपूर्व होता है अर्थात् विधि के कारण अवघात में प्रवृत्ति होती है, वैसे ही ज्ञान की भी प्रवृत्ति, विषयता अपूर्वप्रयुक्त होनी चाहिये अर्थात् विधिवशात् ही ज्ञान में प्रवृत्ति होनी चाहिये। इस प्रकार ज्ञान अपूर्व का शेष ही मानना उचित है। इस आक्षेप के समाधानार्थ वार्तिक में कहा कि अवघातादि का किसी स्वतंत्र अपूर्व में तो साक्षात् संबंध होता नहीं किन्तु संस्कारकर्म के रूप में सम्बंध होता है। ऐसे तत्त्वमादिवाक्यीय ज्ञान का संस्कार कर्म के रूप में कार्यसंबंध नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान स्वतंत्र, अर्थात् अन्वय की अपेक्षा रखे बिना, ही फलकारण हो जाता है और फल के बारे में विधि संभव नहीं यह कह चुके हैं (क्योंकि फल तो उद्देश्य होता है)। अवघातादि के अपूर्वसंबंध का विचार मीमांसा में (२.१. सूत्र० ६) आया है :

अवघातादि नियोग के विषय हैं या संस्कारकर्म हैं? – यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि याग की तरह धात्वर्थ होने से आवघातादि को भी सीधे ही अपूर्व से संबद्ध माना जा सके तो द्रव्य-संस्कार के द्वारा सम्बंध मानना – अर्थात् परंपरा-संवंध मानना – ठीक नहीं अतः इन्हे भी नियोगविषय ही मान लेना चाहिये। सिद्धान्त है कि ये संस्कार कर्म ही हैं। 'व्रीहीनवहन्यात्' यहाँ 'व्रीहीन्' में द्वितीया श्रुति है। द्वितीया और चतुर्थी शेषित्वबोधिका एवं तृतीया, पंचमी व सप्तमी शेषत्वबोधिका होती हैं यही सामान्य नियम है। अतः यहाँ व्रीहिरूप द्रव्य की प्रधानता समझ आती है और अवघात में उसके प्रति गौणता। इतना ही नहीं, यह लोकसिद्ध भी है कि चावल के लिये धान कूटा जाता है, अर्थात् कूटने के प्रति चावल निकलना प्रधान है यह लोकसिद्ध भी है। इच्छा भी अवघात करने की नहीं, चावल पाने की है, इससे भी वही प्रधान है। इस प्रकार की गुणभूत क्रियायें प्रधान से सम्बंध द्रव्यादि के सहारे ही पाती हैं और प्रकृत में भी अपूर्वसम्बंधी द्रव्य के संस्कारकर्मरूप से अवघात का अपूर्व से संबंध संगत हो रहा है। अतः सामान्य नियम छोड़कर इसका सीधे ही अपूर्वसंबंध मानना ठीक नहीं। इसलिये अवघात को नियोगविषय नहीं माना जा सकता।

वादी पुनः शंका करता है कि अवघातादि का चावल-निकलना रूप उपकार दृष्ट होने से वे संस्कारकर्म हों पर प्रोक्षणादि का तो दृष्ट फल है नहीं अतः उन्हे तो नियोगविषय मानना चाहिये और तब उसी तरह अद्वैतज्ञान भी दृष्टोपकारक न होने से नियोगविषय ही होगा। अद्वैतज्ञान का दृष्ट उपकार इसलिये नहीं कि ज्ञान होने पर भी संसार पूर्ववत् दीखता रहता है। इस प्रकार पुनः प्रोक्षणादितुल्यता से ज्ञान में नियोगविषयता की शंका का समाधान करने के लिये वार्तिक में कहा कि तत्त्वमादि की समानता अधिकारवाक्यों से है, प्रोक्षणवाक्यों से नहीं। वस्तुतस्तु प्रोक्षणादि भी नियोगविषय नहीं हैं; संस्कारकर्म ही हैं अतः साक्षात् अपूर्वसंबंध न होने से वे पूर्वोक्त अवघातादि की तरह नियोगविषय नहीं हो सकते। यह भी पूर्वतंत्र में (२.१. सूत्र ९-१०) निश्चित कर दिया गया है: व्रीहिप्रोक्षणादि नियोगविषय हैं या संस्कारकर्म? यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि दृष्ट उपकार न होने से नियोगविषय इन्हे मानना चाहिये। अतः जैसे प्रधानभूत दर्शादि से अपूर्वोत्पत्ति में उपायभूत प्रयाजादि उनके प्रति गौण होते हैं ऐसे ही प्रोक्षणादि प्रधान हैं तथा उनके अपूर्वसम्बंध के लिये अपेक्षित उपकार को व्रीहि संपन्न करता है अतः वही प्रोक्षणादि के प्रति गुणभूत होगा। इस पर सिद्धांत है: जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' में द्वितीया श्रुति है वैसे ही 'व्रीहीन् प्रोक्षति' में भी अतः अवघातादिकी तरह प्रोक्षणादि भी संस्कारकर्म ही है, साक्षात् अपूर्वसम्बद्ध नहीं कि नियोगविषय हों। इसलिये 'ज्ञानं नियोगविषयः दृष्टोपकाररहित्ये वाक्यीयत्वात् प्रोक्षणवत्' इस प्रयोग में दृष्टान्त साध्यविकल है यह तात्पर्य है। हेतु का विशेषण भी पक्ष में स्वरूपासिद्ध होने से विशिष्ट हेतु भी स्वरूपासिद्ध ही है। ज्ञान का फल दृष्ट होता है यह अनेकत्र कह चुके हैं। अतः जैसे फलबोधक वाक्य का स्वार्थ में तात्पर्य इष्ट है वैसे तत्त्वमादि का भी मान्य है यह भाव है ॥५८०॥

किंचोपायेऽप्रवृत्तः सन्पुरुषोऽयं प्रवर्त्यते। ज्ञातोपायत्वतो यद्वा विधिनोपेयसिद्धये ।।५८१।।
तत्रेह तावन्नोपाये पुत्रजन्मादिलक्षणे। तस्य निष्पन्नरूपत्वान्नाप्युपेये सुखे तथा ।।५८२।।
न व्यापारान्तरं यस्मात्सुखार्थं किंचिदीक्ष्यते। पुत्रजन्मोक्तिमात्रेण पुरुषार्थावसानतः ।।५८३।।
किंचाध्यस्ताहिदष्टस्य तद्विषव्याप्तचेतसः। स्रगियं न फणीत्युक्ते दृष्टा विषनिराक्रिया ।।५८४।।
मा भैषीरिति चोक्तेऽपि न नियोगः प्रतीयते। स्रगुक्तेरेव निःशेषसाध्वसध्वंसलाभतः ।।५८५।।

श्लोक ५७६-५७८ में पुत्रजन्मवाक्य प्रवर्तक नहीं है यह कहा था। उसी का अब विस्तार करते हैं। तत्त्वमादि को अधिकारविधितुल्य माना तो प्रामाण्यकी तरह विधिता भी प्राप्त हुई अतः सिद्धार्थकता-उपाधि से विधिता को दूर रखने के लिये प्रामाण्यमात्र में दृष्टान्त बताना है अतः सिद्धार्थकवाक्य का प्रसंग फिर उठा है।

विद्यासागरी में अवतरणिका यों बनायी है: पहले-पहल शब्द की व्युत्पत्ति व्यवहार से होने के कारण कार्य में ही शक्तिग्रह होता है अतः पुत्रजन्मादिवाक्य में भी कार्य को अध्याहार से समझ लेना स्वाभाविक है जैसे जिसने प्रथमतः काले केशों को ही केश समझा है वह केशशब्द से काले केश स्वभावतः समझ लेता है और सुनहरी, भूरे या सफेद केशों को समझने के लिये उसे विशेषण की ज़रूरत रहती है। अतः पुत्रजन्मवाक्य भी सिद्धार्थक का दृष्टांत बनने में अक्षम है। – इस शंका का अब समाधान है –

यह भी विचारणीय है कि 'सुखी होवो' आदि द्वारा यह श्रोता पुरुष क्या उस पुत्रजन्मरूप सुखोपाय में प्रवृत्त किया जा रहा है जिसमें अभी यह अप्रवृत्त है? या क्योंकि उपाय बिना विधिके भी ज्ञात ही है इसलिये उपेय-सुख की सिद्धि के लिये प्रेरित किया जा रहा है? ।।५८१।। उपाय है पुत्रजन्म, वह निष्पन्न हो चुका है अतः उसमें विधि प्रेरित कर नहीं सकती। और न उपेयरूप सुखकी सिद्धि के लिये प्रेरणा देना संगत है क्योंकि वह भी पुत्रजन्म की तरह उत्पन्न हो ही चुका है (कारण कि पुत्रजन्मवाक्य सुनते ही सुख उत्पन्न हो गया) ।।५८२।। यह भी नहीं देखा जाता कि इस विधि को सुनकर सुख के लिये श्रोता कोई अन्य चेष्टा करे अतः इस विधि से पुत्रजन्मातिरिक्त कार्य में भी प्रेरणा नहीं मानी जा सकती। सुखलाभार्थ अन्य चेष्टा वह करता इसलिये नहीं है कि पुत्रजन्म के कथन को सुनकर ही सुखरूप पुरुषार्थ संपन्न हो जाता है ।।५८३।।

सुखलाभ के हेतु कई होते हैं, पुत्रजन्म संपंन हो चुका तो अन्य ही किसी में प्रवृत्ति मान लो – इस संभावना का खंडन किया कि प्रकृत वाक्य से संबद्ध सुखहेतु हो सकते हैं पत्नी ने आराम से प्रसव किया, शुभ नक्षत्र में जन्म हुआ, इत्यादि, किन्तु ये सभी तो हो चुकी घटनाये हैं, इनके लिये अब बेचारा पिता प्रयास क्या करेगा? और वाक्य से असंबद्ध किसी क्रिया में प्रवृत्ति मानो तब तो किसी भी वाक्य का कुछ भी अर्थ करने लग जाओगे! अतः 'सुखी होवो' यह विधि ही प्रकृत में अनुपपन्न है ।।५८१-५८३।।

श्लोक ५७७ में 'सुखादि की उत्पत्ति में हेतुभूत' वाक्य कहे थे; वहाँ आदि पद दुःखनिवर्तक वाक्य का संग्राहक था। वैसे वाक्य का दृष्टांत देकर बताते हैं कि जैसे सुखोत्पादकताहेतु से अप्रवर्तकवाक्य प्रमाण हो सकता है वैसे ही दुःखनिवर्तकता हेतु से भी; अथवा भ्रमनिवर्तकतया प्रामाण्यसमर्थन संभव है यह कहते हैं :

और भी; भ्रम से दीखे साँप से डसे व्यक्ति को मनमें लगता है कि जहर चढ़ता जा रहा है। तभी उसे कोई विश्वस्त आदमी कहे 'यह माला है, साँप नहीं!' तो एक ही बार में सारा जहर उतर जाता है, यह लोकसिद्ध है ।।५८४।। ['माला है, साँप नहीं'-वाक्य को भी यदि 'मत डरो' इस विधि का शेष मानो तो भी समझ लो कि] 'मत डरो' ऐसा कहने पर भी किसी नियोग की, कर्तव्य की, प्रतीति नहीं होती। जब 'माला है, साँप नहीं' इस कथन से ही सारा डर मिट चुकता है तब किस फलसिद्धि के लिये नियोग प्रतीत हो! ।।५८५।।

बल्कि सर्पबाधक ज्ञान न कराकर लाखों बार भी 'मत डरो, मत डरो' विधि करने से कोई भी व्यक्ति डरना छोड़

न्याय्यो नियोगस्तत्रैव यत्र बुद्ध्वाऽस्य कार्यताम्। अनन्तरं प्रवृत्तिः स्याद्विषये तस्य सिद्धये ॥५८६॥
इह त्वैकात्म्यवाक्येषु तत्त्वमात्रावबोधतः। सद्यः पुमर्थसंसिद्धेः कार्यसिद्धिर्न वीक्ष्यते ॥५८७॥
कुतूहलवतां तद्वन्निर्वृत्ताख्यानमात्रतः। दृष्टा नराणां निःशेषकुतूहलनिराक्रिया ॥५८८॥
वस्तुमात्रावसायित्वात्तद्वचांसि न कानिचित्। उपादानाय वाऽलं स्युर्नापि हानाय तद्विदः ॥५८९॥

नहीं पाता यही अनुभवसिद्ध है। अतः ऐसे स्थलों पर विधि ही अप्रमाण है, सिद्धार्थकवाक्य ही प्रमाण है यह ध्वनितार्थ समझना चाहिये। यह बात पञ्चपादिका में भी व्यक्त है: 'अनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठी भवन्ति' इस भाष्य का अभिप्राय बताते हुए आचार्य कहते हैं 'अतः श्रूयमाणा अपि विधयः केवलप्रमाणवस्तुपरतन्त्रे ज्ञानेऽकिञ्चित्करत्वात् कुण्ठी भवन्ति।' (पृ० ६५२) पहले ही वे बता चुके हैं कि जहाँ इष्ट भ्रममात्र से अप्राप्त हो और भ्रममात्र से ही अनिष्ट प्रतीयमान हो वहाँ इष्टलाभ और अनिष्टनिवृत्ति 'भ्रान्तिमात्रव्यवहितत्वात् न तदपनयादन्यत् पुरुषार्थत्वेनापेक्षते। तदपनयश्च तत्त्वज्ञानाद्भवति, नान्यथा।' (पृ० ५९७) अतः विधि भी तभी तक अप्रामाण्य के कलंक से बची है जब तक वह अपुमर्थविषयक नहीं है; जब अधिकार वाक्योक्त फल में भी दुःखताप्रमिति दृढ हो जाती है तब विधि में इष्टोपायपरता न दीखने से वह भी प्रमाण नहीं रह जाती। वस्तुतस्तु अधिकारी की योग्यता से व्यवस्था है : जैसे कामुक को अद्वैतवाक्य में प्रामाण्य नहीं लगता, ऐसे विरक्त को विधियों में! यद्यपि वह चित्रा की पशुफलता में संदेह नहीं करता तथापि चित्रावाक्य इष्टोपाय का बोधक है ऐसा नहीं मान सकता, यह तात्पर्य है। यह बात श्रीमान् शङ्करानन्द स्वामी ने गीतातात्पर्यबोधिनी में स्पष्ट की है कि कामनापीडित मीमांसकों ने ही शास्त्र का – शास्त्रैकदेश का ही सही–अभिप्राय पशु – स्वर्गादि समझ रखा है! इन चंचल फल्गु वस्तुओं की ओर प्रेरित करने के लिये भगवती श्रुति का अवतार हुआ ही नहीं है।

किन्तु समझ लेना चाहिये कि अत्यन्त विषयासक्त व्यक्ति को शास्त्र में श्रद्धालु बनाने के लिये गुडजिह्विकान्याय से काम्यफलों के उपाय बताना भी ज़रूरी होता ही है अतः श्रुति भी तुच्छ किन्तु लोगों को अभीप्सित फलों के उपाय वैसे ही बता देती है जैसे सिद्धान्तवैज्ञानिक भी तकनीकी – विनियोगों को संभावित कर देते हैं ॥५८४-५८५॥

उक्त ध्वनितार्थ को स्वयं व्यक्त करते हैं :

उसी वाक्य को नियोगपरक मानना संगत हो सकता है जिससे नियोग की साध्यता समझने के बाद नियोग की उत्पत्ति के लिये उसके विषयभूत धात्वर्थ में प्रवृत्ति हो ॥५८६॥ यहाँ अद्वैतबोधक वाक्यों से तो केवल आत्मयाथार्थ्य समझने से ही तुरन्त मोक्षप्राप्ति हो जाने से कार्योत्पत्ति (साध्यरूप से) प्रतीत ही नहीं होती ॥५८७॥

नियोगवादी कह सकता है कि लौकिक वाक्य भले ही बिना प्रवर्तक हुए सफल हों पर शास्त्रीय तो वैसे नहीं होते होंगे; इस कथन की असारता बताने के लिये कहा कि यहाँ भी वाक्यार्थ समझने मात्र से फललाभ हो जाता है और कर्तव्य कोई प्रतीत होता नहीं तो बलात् भी कार्यपरक इन्हे कैसे समझा जाये? 'सद्यः' से कहा कि स्वर्ग तो मिलेगा यह तुम आशा ही दिखाते हो जबकि हम तुरन्त फललाभ का उपाय बता रहे हैं अतः संदेह हो तो अजमा कर देख लो। जैसे ही साधनों से संपन्न होकर ब्रह्मनिष्ठ से श्रवण करोगे, तुरंत मोक्ष पा जाओगे, न पाओ तब खण्डन करने आना! ॥५८७॥

जिज्ञासा मिटाना भी फल हो सकता है यह दिखाते हैं :

जैसे भ्रमवश दुःखी का दुःख प्रमापकवाक्य से दूर हो जाता है ऐसे ही जो लोग कुतूहल से परेशान होते हैं उन्हे भी जो घटना घटी उसकी जानकारी मात्र से, कोई कार्य किये बिना, उस परेशानी से छुटकारा मिल जाता है यह लोगों में देखा गया है ॥५८८॥ बहुत कुछ वचन ऐसे ही होते हैं जो वस्तुमें ही तात्पर्य रखते हैं अतः उन्हे सुनने वाले किसी ग्रहण या त्याग में प्रवृत्त नहीं हो सकते ॥५८९॥

कुतूहल से सभी तरह की जिज्ञासायें समझनी चाहिये, कल्पलता ने उदाहरण दिया है 'देशान्तरगत-बन्धु-विषय-कुतूहलवताम्'। अख़बार पढ़ने के लिये अत्यधिक उतावली प्रायः देखी जाती है जबकि पूर्ण निश्चय है कि दूर देशों की

यत्रापि च प्रतीयेते हानादाने वचःश्रवात्। अयं चोराकुलः पन्था देशोऽयं निधिमानिति ।।५९०।।
तत्रापि नैव शब्दस्य व्यापारः सिद्धवेदनात्। कृतार्थत्वान्नरस्यापि रागादेव प्रवृत्तितः ।।५९१।।
कामैकपाशाकृष्टः सन्निच्छयैव प्रवर्तते। निवर्तते च तद्द्वेषान्न शब्दव्यापृतेर्नरः ।।५९२।।

घटनाओं से हमें कोई भी प्रवृत्ति-निवृत्ति करनी है नहीं! सुबह पहले-पहल अखबार न मिले तो उचक-उचक कर देखते रहते हैं 'अब आया, अब आया।' अतः कार्य से असंबद्ध जिज्ञासा भी बहुत परेशान करती ही है। जैसे ये लौकिक कुतूहल हैं ऐसे ही शास्त्रीय कुतूहल भी बने रहते हैं जिनकी निवृत्ति शास्त्रों के अध्ययन से होती रहती है। दार्शनिकों के कौतूहल और उनकी निवृत्ति ऐसे ही होते हैं; यज्ञ के ढंग में कोई अंतर नहीं आना है, फिर भी भावनावादी और नियोगवादी की मान्यताओं की जिज्ञासा से विद्वान् आकुल देखे जाते हैं। इसी प्रकार बहुतों की समस्या होती है 'रावण के माता-पिता का नाम क्या था?' इसकी जानकरी मिलने पर वे कोई कार्य तो करेंगे नहीं। हाँ, उनकी समस्या का हल हो जायेगा। इसलिये लोक-वेद में ऐसे वाक्य सिद्ध-अर्थ में ही प्रमाण होते हैं ।।५८८-५८९।।

वादी सवाल उठाता है: सभी सिद्धार्थक वाक्य प्रवृत्ति-निवृत्ति फलक न होते हों ऐसी बात नहीं। कोई भूखा बैठा हो और उसे घर का मालिक कह दे, 'अरे! इस बर्तन में इमरती रखी हैं।' तो भूखा तुरन्त उन्हे लेकर खाने में प्रवृत्त हो जाता है। या कोई पड़ा हुआ लिफाफा उठाने लगे और कह दो, 'यह तो फटा हुआ है।' तो वह उठाने से निवृत्त हो जाता है। अतः क्योंकि बहुत-से सिद्धार्थकवाक्य भी प्रवृत्त्यादिफलक होने से विधि-आदि में तात्पर्य वाले होते हैं इसलिये सभी वाक्यों को – और तत्त्वमस्यादि वाक्यों को भी – कार्यपरक ही मानना उचित है। तात्पर्य है कि 'कार्यपरं वाक्यत्वात्' में साध्यार्थकत्व को उपाधि नहीं दे सकते क्योंकि उक्त स्थलों में सिद्धार्थकत्व रहते हुए भी कार्यपरत्व रहने से कार्यपरत्व-साध्यपरत्व की व्याप्ति नहीं मिलेगी। यही शंका उठाकर इसका समाधान करते हैं :

'इस रास्ते में चोर घात लगाये बैठे हैं', 'इस जगह प्रभूत धन गड़ा है' इत्यादि वचन सुनकर जहाँ निवृत्ति या प्रवृत्ति देखी भी जाती है वहाँ भी प्रवृत्त्यादि के लिये शब्द का कोई व्यापार नहीं होता है क्योंकि शब्द का काम वैसे ही पूरा हो चुकता है जैसे ही वह वास्तविकता व्यक्त कर देता है। पुरुष की भी जो प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है वह राग-द्वेष से ही होती है (न कि उक्त वाक्य से)। केवल कामना के शिकंजे में फँसा हुआ वह अपनी इच्छासे ही प्रवृत्त होता है या विषय के प्रति द्वेष के कारण निवृत्त होता है, उक्त वाक्यों से उसे कर्तव्यबोध या निवृत्तिबोध होता हो जिससे वह प्रवृत्त या निवृत्त हो ऐसा नहीं है ।।५९०-५९२।।

समाधान का आशय है कि उदाहरणस्थलों में भी सिद्धार्थकवाक्य तो कार्यपरक नहीं ही है। अतएव श्रोता को यह लगता भी नहीं कि 'यह मुझे रोक रहा है' या 'यह मुझसे खुदवा रहा है' तथा जो वीर होता है वह हथियार लेकर गर्मजोशी से उसी रास्ते पर प्रवृत्त भी हो जाता है या जो वैराग्यवान् होता है वह निधि वाला स्थान छोड़कर अन्यत्र ही जा बसता है! अतः इन स्थलों पर प्रवृत्ति-निवृत्ति स्पष्ट ही राग-द्वेष से है न कि वाक्य से क्योंकि न प्रवर्तक-निवर्तक शब्द सुना गया है और न वाक्यों से एकरूप प्रवृत्ति आदि प्रतीत ही हो पाती हैं। इस तरह उक्त उपाधि संगत है यह भाव है। वस्तुतस्तु यहीं नहीं, सर्वत्र प्रवृत्त्यादि में प्रेरक रागादि ही हैं, शब्द नहीं। भट्टकुमारिल ने भी माना है 'न हि विधिशतेनापि तथा पुरुषः प्रवर्तते यथा लोभेन!' (तंत्रवा० पृ० ९६०)। अतः जैसे मीमांसाभाष्यकार भी श्येनविधिको अभ्युपायबोधन में ही तात्पर्य वाला मानते हैं, कार्यपरक नहीं, वैसे ही सब कर्मविधियों में समझना चाहिये। काम्यविधियों में तो नियोगवादी भी प्रवृत्ति कामना से ही मानता है, अतएव वृत्तिधर्मों की विधियाँ अनित्य हो जाती हैं; इसलिये जब भाष्यकार नित्यादि को भी पितृलोकादिफलक मानकर काम्य सिद्ध कर देते हैं तब सभी विधियाँ अपनी प्रवर्तनशक्ति खो बैठती हैं।

प्रवृत्ति कराने के लिये शब्द का व्यापार क्या है? वादी की मान्यता है कि नियोग का – कर्तव्य का – बोधन ही विधिका व्यापार है जो विधिजन्य होकर विधिजन्य प्रवृत्ति का जनक बनता है। इसी तरह निषेध का व्यापार है

नन्वप्रयुक्तमप्येतद्वक्त्रा वाक्यं विवक्षितम्। न गन्तव्यं पथाऽनेन गृहाणेमं निधिं तथा ॥५९३॥
मैवं न वक्त्रभिप्रायाच्छब्दार्थत्वं प्रकल्पते। शब्दसामर्थ्यतो यस्मात्तादर्थ्यं नान्यहेतुकम् ॥५९४॥
भवद्भिरपि चैवैतदभ्युपेयं प्रयत्नतः। वक्तृतन्त्रे हि शब्दार्थे न विश्वासः श्रुतेर्भवेत् ॥५९५॥

निवृत्तिबोधन क्योंकि यह स्वीकार है कि निषेध का पर्यवसान उस उदासीनता में होता है जो प्राप्त क्रिया की निवृत्ति वाली है। अर्थात् 'रास्ते पर जाना' प्राप्त क्रिया थी, चोराकुलता सुनकर उस क्रिया से विमुखता हो गयी, इस विमुखता के समय जो उधर जाने में अनुत्साह है वह निषेध का अर्थ है। यह उदासीनता आत्मरूप ही है अतः निषेधवाक्य सिद्धार्थक हैं यह तो सिद्धान्ती मानता है 'नौदासीन्यं पृथगिह भवेदात्मचिन्मात्ररूपात् सिद्धे वस्तुन्यवसितमतो वेदवाक्यं निषेधे' (सं०शा० १.४१५) किन्तु नियोगवादी निषेध का अर्थ कर्तव्यरूप ज्ञानविशेष मानता है 'अनाद्यजग्धेश्च निवृत्तिरिष्टा विशिष्टदन्तोष्ठनिविष्टसंवित्' (सं० शा० १.४२६) – अदन के अनर्ह के भक्षणसे निवृत्ति नामक पदार्थ अभिप्रेत है वह है विशिष्ट-दन्तोष्ठविषयक ज्ञान; अभक्ष्य का चर्वणादि न करते हुए होना ही यह विशिष्ट होना है। सर्वथापि विधि या निषेध के अर्थ की समझ ही उनका व्यापार है जिससे वे प्रवृत्त या निवृत्त करते हैं।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि सिद्धार्थक वाक्य प्रेरक नहीं होता अतः वेदान्ताक्य भी बिना प्रेरक हुए प्रमाण हो सकते हैं ॥५९०-५९२॥

अब विचार करते हैं कि क्या विवक्षा शब्द का अर्थ बन सकती है? यद्यपि पहले (श्लो० ५०० आदि में) निर्धारित हो चुका है कि ऐसा संभव नहीं है, तथापि स्वपक्षके उपपादन में व्यग्र वादी वह भूल कर अथवा छल का प्रयोग करते हुए शंका करता है :

'इस रास्ते मत जाओ', 'यह खजाना ले लो' – ये वाक्य कहे न होने पर भी वक्ता को विवक्षित हैं (अतः वस्तुमात्र में तात्पर्य नहीं) ऐसा क्यों न माना जाये? ॥५९३॥

अर्थात् निषेध और विधि वक्ता को इष्ट हैं इतने से ही यह क्यों न माना जाये कि उक्त सिद्धार्थक वाक्य भी इन निषेध या विधि में ही तात्पर्य वाले हैं? वादी के मनका पाप यह है कि लौकिक वाक्य में जब वक्ता की इच्छा के अनुसार तात्पर्य का नयन हो जायेगा तब वेद में वक्ता तो है नहीं अतः 'क्रियार्थत्वात्' आदिन्याय से सभी वाक्य कार्यपरक हैं यह महाधिकार घोषित कर यज्ञप्रकरण से दूर पड़े वेदान्तों को भी कार्यपरक बना दियां जायेगा ॥५९३॥

किन्तु जागरूक सिद्धान्ती उसकी आशाओं पर पानी फेर देता है :

ऐसा नहीं मान सकते क्योंकि वक्ता के अभिप्राय से शब्द का अर्थ निर्णीत नहीं माना जा सकता। शब्द की समार्थ्य से – शक्ति आदि से – उसका अर्थ प्रतिबद्ध होता है। शब्द का अर्थ कौन होगा इसमें शब्दसामर्थ्य से अन्य कोई हेतु संमाननीय नहीं है ॥५९४॥

पूर्वोक्त (श्लो० ५०१ आदि) प्रसंग स्मर्तव्य है। इस प्रकार यदि वक्ता को विधि आदि विवक्षित हों तो भी 'देशोऽयं निधिमान्' इस निराकांक्ष वाक्य का उनमें तात्पर्य स्वीकारा नहीं जा सकता ॥५९४॥

शब्दसामर्थ्य से अर्थ नियत है यह मीमांसक को भी मानना अनिवार्य है –

आपको भी कोशिश करके यही मानना पड़ेगा क्योंकि यदि शब्दों के अर्थ वक्ता के अधीन होंगे तो (जिसका कोई वक्ता आपको स्वीकार नहीं उस) श्रुति पर विश्वास नहीं हो पायेगा ॥५९५॥

मीमांसक श्रुतिका कोई वक्ता मानता नहीं जिसकी विवक्षा से वैदिक शब्दों का अर्थ निर्णीत हो। अतः उसे शब्द में ही अर्थबोधकता की योग्यता मानना ज़रूरी है। कोशिश अर्थात् इस मान्यता में आने वाले तर्कविरोधों का परिहार भी उसे करना पड़ेगा।

नानाविधपुमर्थाप्तिरपि वक्तुः समीहिता। तस्या अपि त्वदुक्त्यैवं शब्दार्थत्वं प्रसज्यते ॥५९६॥
प्रवृत्तिं वा निवृत्तिं वा यदाऽभिप्रेत्य चेतसा। किंचिज्जिज्ञास्यते ज्ञात्रा प्रत्यक्षादिप्रमाणतः ॥५९७॥
अभिप्रेताऽपि न तदा प्रवृत्तिर्यदि वेतरा। प्रत्यक्षादिप्रमेयेति शक्या वक्तुं विपश्चिता ॥५९८॥
इतश्चाभ्युपगन्तव्यमेतत्तुल्येऽपि वस्तुनि। एकस्य हानधीस्तस्मिन्नुपादित्सा परस्य च ॥५९९॥
शब्दार्थत्वे हि सर्वेषामादानायैव धीर्भवेत्। नोपेक्षायां प्रहाणे वा न चानेकार्थता मता ॥६००॥

कल्पलतिकाकार ने यह प्रयोग दिया है 'लौकिकः शब्दो न विवक्षितगमकः शब्दत्वाद् वैदिकशब्दवत्।' उनका तात्पर्य है कि यदि मीमांसक यह भेद मानने का प्रयास करे कि लोक में ही शब्दार्थ वैवक्षिक होता है तो उसे रोका जा सके। जब शाब्द बोध लोक व वेद में एक-सा होता है तथा उभयत्र 'मैंने सुना' या 'शब्द से जाना' ऐसा ही अनुव्यवसाय होता है तब एकत्र शब्द को प्रमाण तथा अपरत्र अनुमापक यह अर्धजरतीय असंगत है यह भी अभिप्राय है। अतः ऐसा मानने वाले के प्रति वैदिक शब्द भी शब्द होने से लौकिक की तरह अप्रमाण है – ऐसा प्रयोग करना चाहिये। विविध वक्ताओं के अलग-अलग अभिप्रायों से एक शब्द सर्वार्थक होने लगेगा आदि दोषान्तर भी समझने चाहिये यह मूल के 'हि' शब्द से द्योत्य है ॥५९५॥

ऐसा न मानने पर यह भी समस्या होगी:

वक्ता को तो विविध पुरुषार्थों का लाभ भी अभीष्ट है; आपके कथनानुसार तो वह सब भी शब्द का अर्थ होने लगेगा! ॥५९६॥

अर्थात् वक्ता की समस्त कामनायें घटपद का वाच्य मानना पड़ेगा! यदि कहो कि 'अमुक शब्द से अमुक अर्थ समझा जाये' ऐसी इच्छा नियामिका है तो प्रश्न होगा कि उस इच्छा का नियामक कौन? अनियमित होने पर शब्दार्थ-व्यवस्था चौपट होगी यह स्पष्ट है। यदि अन्य नियामक हैं तो वही पर्याप्त हो जायेगा, बीच में इच्छा का प्रवेश किस लिये। अतः शब्दसामर्थ्य से समुपस्थाप्य अर्थ ही उस शब्द का अर्थ होता है ॥५९६॥

विवक्षा से शब्दार्थ न होने में उदाहरण देते हैं :

जब कोई ज्ञाता मनमें यह सोचकर कि प्रवृत्ति या निवृत्ति करनी है, प्रत्यक्षादि से कोई विषय जानने की कोशिश करता है तब अभिप्रेत होने पर भी प्रवृत्ति या निवृत्ति प्रत्यक्षादि की प्रमेय बन जाती है ऐसा कोई समझदार व्यक्ति नहीं कह सकता ॥५९७-५९८॥

'लिखना है' यह निर्णय कर कलम झटक कर देखते हैं उसमें नीली स्याही है या काली। यहाँ जब स्याही के रंग का प्रत्यक्ष होता है तो उसमें 'लिखना' तो प्रत्यक्ष हो नहीं जाता, भले ही तब भी अभिप्रेत है ही। इन्द्रिय का जिससे संबंध होगा वही प्रत्यक्ष होगा, मनोगत प्रवृत्ति-निवृत्ति की अभिलाषा को स्याहीप्रत्यक्ष का विषय कैसे कहा जाये! इस प्रकार यह तात्पर्य है कि जैसे विवक्षित अर्थ प्रत्यक्षादिका प्रमेय नहीं बनता वैसे प्रमाण होने से शब्द का भी विषय नहीं बन सकता ॥५९७-५९८॥

शब्दार्थ को वैवक्षिक न मानने में और भी युक्ति देते हैं :

और भी कारण है कि सामर्थ्यवश ही शब्दार्थता माननी चाहिये : शब्दगम्य वस्तु एकरूप होने पर भी एक व्यक्ति की बुद्धि उसे छोड़ने की बनती है जबकी दूसरा उसे लेने को उत्कंठित हो उठता है। यदि विवक्षित को शब्दार्थ मानो तो उस शब्द से सभी को ग्रहण करने की ही बुद्धि बननी चाहिये, उपेक्षा या त्याग की नहीं। एक शब्द विरुद्ध अनेक अर्थ युगपत् व्यक्त कर सके यह तो माना नहीं गया है ॥५९९-६००॥

'यहाँ खजाना है' सुनकर संन्यासी को लगता है 'यहाँ से चल देना चाहिये', रागी को लगता है 'खोद कर

न च प्रवर्तकत्वेऽपि वाक्यस्याङ्गीकृते त्वया। शक्यो विधायिनोऽन्येषां पदानां वक्तुमन्वयः ॥६०१॥
किं स्वार्थमात्रनिष्ठत्वमुत कार्यैकनिष्ठता। पदार्थमात्रसंसर्गपरता किंत्वितीर्यताम् ॥६०२॥

निकालना चाहिये', आलसी को 'कौन खोदे! गड़ा है तो पड़ा रहने दो, मुझे क्या?' यदि वक्ता का अभिप्राय शब्दार्थ होता तो वक्ता तो इनमें से किसी एक अभिप्राय से ही बोला होगा, वही अभिप्राय सभी को प्रतीत होता। किन्तु होता नहीं। अतः अभिप्राय को शब्दार्थ नहीं कह सकते। यह नहीं मान सकते कि तीनों ही भाव विवक्षित थे, क्योंकि वक्ता में इकट्ठे ही वैराग्य और रागादि हो नहीं सकते तथा बिना उनके, उक्त प्रकार के भाव मनमें आ नहीं सकते कि विवक्षित हो जायें। प्रायः तो वक्ता कह भी देता 'जो सोचकर कहा था वह समझा नहीं पाया।' अतः शब्द ने वक्ता के अभिप्राय से अन्य ही कुछ कह दिया यही प्रतीत होता है। इसलिये शब्दार्थ को विवक्षित से अलग मानना ही पड़ेगा, भले ही बहुतेरी जगह अर्थ विवक्षित भी हो जाये ॥५९९-६००॥

इस प्रकार बताया कि 'मत डरो' आदि विधिवाक्य भी विध्यर्थभूत कार्य में तात्पर्य वाले नहीं (श्लो० ५८५) अतः वाक्यों को सिद्धार्थक ही मानना चाहिये, इष्टसाधनता सिद्ध वस्तु है जिसमें विधि का तात्पर्य उपपन्न है। इसलिये ऐसा कोई नियम नहीं कि वाक्य प्रवर्तक होता है।

यदि मान भी लें कि वाक्य प्रवर्तक होता है अर्थात् नियोग हुआ करता है, तो भी तुम नामशब्दों का अन्वय कैसे करोगे? यह पूछते हैं:

यह स्वीकार कर लेने पर भी कि वाक्य प्रवर्तक होता है, विधायक से अतिरिक्त पदों का अन्वय तुम नहीं बता सकते ॥६०१॥

तात्पर्य है कि लिङादि भले ही प्रवर्तकार्थक हों, घटादि तो होंगे नहीं अतः पदमात्र का कार्यसंबंध होता है ऐसा कहना असंभव होने से तत्त्वमादि सिद्धार्थक हों इसमें कोई समस्या नहीं रहेगी ॥६०१॥

वादी की असमर्थता ही व्यक्त करते हैं :

क्या पदों की शक्ति सिर्फ़ स्वकीय अर्थ में होती है? या पद कार्यैकनिष्ठ होते हैं? अथवा पद शक्ति से उस अर्थ को कहते हैं जो किसी-न-किसी अन्य पदार्थ से सम्बद्ध होता है? – यह बताओ ॥६०२॥

मान लिया कि किसी बुज़ुर्ग की आज्ञा सुनकर कोई काम किया जाता देखकर बालक शब्दार्थ समझता है लेकिन यह बताओ कि वह अर्थ ही उसे भासता किस तरह का है?

१) प्रथम विकल्प यह संभव है कि शब्द का अर्थ अकेला भासता है, अन्य किसी से उसका संबंध नहीं भासता। अर्थात् बच्चा घटशब्द से कम्बुग्रीवादिमान् वस्तु ही समझता है, यह नहीं कि वह वस्तु अन्य किसी से सम्बद्ध होनी ही चाहिये। यह मानने वाले भाट्ट लोग हैं जो अभिहितान्वयवादी कहलाते हैं। इनके अनुसार पदसामर्थ्य का विषय संसर्गरहित स्वार्थ होता है।

'कार्यैकनिष्ठ' से तीन विकल्प घोषित हैं : अतः

२) द्वितीय विकल्प है कि सभी पदों की शक्ति एकमात्र कार्यवस्तु में है जो सर्वत्र संबद्ध है। अर्थात् जैसे सब घटों से संबद्ध होने से घटपद को घटत्व में शक्त मानते हैं, वैसे क्योंकि कार्य सभी से संबद्ध रहता है इसलिये उसे ही पदों का वाच्य मान लिया जाये। इस व्याख्या में 'एक' शब्द का अर्थ है अनुगत। 'कार्ये एकस्मिन् निष्ठता।'

३) तीसरा विकल्प है कि पदों की शक्ति है कार्यसम्बन्धी स्वार्थ में। न केवल स्वार्थ और न केवल कार्य, वरन् कार्य से सम्बद्ध स्वार्थ का भान शब्द से होता है। 'एक' का मतलब अनुगत, अतः 'कार्येण अनुगते निष्ठता' यह विग्रह है। यही प्राभाकर का मुख्य पक्ष है।

स्वार्थमात्रावसायित्वे वाक्यार्थप्रत्ययः कुतः। वैयर्थ्यं च प्रयोगस्य व्यवहाराक्षमत्वतः ॥६०३॥

४) चौथा विकल्प है कि कार्यसम्बन्ध से संबंधित को शब्दशक्ति विषय करती है। जब कार्यवादी ने कहा कि सब पद कार्यसम्बद्ध को विषय करते हैं तब प्रश्न हुआ कि फिर 'कार्य'-यह पद भी कार्यसम्बद्ध को विषय करेगा, एवं च असंभव होगा क्योंकि कार्यान्तर उसे भी मान्य नहीं। इस पर उसने परिष्कार किया कि शक्ति 'कार्यान्वयान्वयी' को विषय करती है, अर्थात् कार्य का संबंध जिसमें रहता है उसे शब्द कह रहे है। कार्य का जो घटादिसे संबंध है वह द्विष्ठ होने से कार्य में भी रहेगा ही अतः कार्यान्तर मानने का प्रसंग ही नहीं। यह सारसंग्रह में (१.१३०) मधुसूदनस्वामी ने स्पष्ट किया है। इस व्याख्या में 'कार्य' का मतलब है कार्यसम्बन्ध। अतः 'कार्येण=कार्यसम्बन्धेन एकस्मिन्=सम्बद्धे निष्ठता' यह विग्रह है।

इस प्रकार 'कार्यैकनिष्ठता' से कहे तीन पक्ष हो गये।

५) पाँचवा विकल्प है कि पद शक्ति से जो स्वार्थ उपस्थित करते हैं वह प्रतीत होते समय ऐसा लगता है कि अन्य किसी न किसी योग्य वस्तु से सम्बद्ध भी है। वह योग्य अन्य वस्तु कार्य भी हो सकती है और सिद्ध भी। यह पक्ष सिद्धान्ती को इष्ट है। संक्षेपशारीरक में (१.३४४ आदि) में इसे उपपादित किया है। विवरण में (पृ० ६५९ आदि में) भी यही सिद्धांत स्थापित है।

पदशक्ति के विषय यों पाँच तरह कहे जा सकते हैं। अब इनकी परीक्षा करेंगे ॥६०२॥

प्रथम विकल्प में दोष दिखाते हैं :

यदि पद सम्बंधबोध न कराते हुए सिर्फ स्वकीय अर्थ का कथन कर कृतार्थ हो जायें तब वाक्य का अर्थ किस हेतु से पता चलेगा? (वाक्यार्थबोधक का निरूपण न होने पर) व्यवहारनिर्वाहमें असमर्थ होने से वाक्य-प्रयोग व्यर्थ होगा! ॥६०३॥

पदार्थों का सम्बंध वाक्यार्थ होता है। अगर पद सम्बंधवाचक न हों, केवल पदार्थ का बोध करा पायें तो वाक्यार्थ का ज्ञान किससे होगा? यह मानना तो अनुचित है कि पदार्थों से वाक्यार्थज्ञान होता है क्योंकि ऐसा मानने पर वाक्यार्थज्ञान को शाब्दबोध नहीं मान सकेंगे। यद्यपि अभिहितान्वयवादी की मान्यता यही है कि पदसे पदार्थ और उनसे वाक्यार्थ जाना जाता है तथापि इसमें यह दोष भी है ही कि एक तो वाक्यार्थ शब्दप्रमाणक नहीं रहता और दूसरी बात यह कि पदार्थ नामक एक अतिरिक्त प्रमाण भी मानना पड़ता है जो वाक्यार्थ को प्रमित कराये! संक्षेपशारीरक में (१.३७०-८०) इस पक्ष पर विचार किया गया है। भाट्ट कहते हैं कि वाक्यार्थ - बोधक पदार्थ क्योंकि शब्दबोधित हैं इसलिये वाक्यार्थ को भी शाब्द मान लेना चाहिये; किन्तु यह बात वैसी ही है जैसे कोई कहे कि वह्नि का अनुमान करानेवाला धूम आँख से दीखता है तो आग को भी आँख से दीखा मान लो!

कोई कह सकता है कि पदार्थबोध पदों से होता है ऐसे ही वाक्यार्थबोध वाक्य से हो जायेगा। वाक्य कहते हैं पद-समूह को; अतः अवश्य प्रश्न होता है कि वाक्य यदि वाक्यार्थ का ज्ञान कराता है तो इसमें उसे पदों की सामर्थ्य अपेक्षित है या नहीं? यदि है, तब तो जब पद ही सम्बंध नहीं कह सकते तो वाक्य ही कैसे कहेगा? यद्यपि कहीं-कहीं अवयव असमर्थ होने पर भी अवयवी समर्थ हो जाता है जैसे धागे कच्चे होने पर भी बँट कर रस्सी बन जाने पर वह पक्की होती है, तथापि वाक्य बनाने वाले पदों का न तो ऐसा कोई संबंध निरूपित होता है जो उनके सम्मिलित रूप को विशेष योग्यता प्रदान करे और न वाक्य में शक्ति मानी ही जाती है कि यह संभावना भाट्ट खड़ी करे। यदि मानो कि पदसामर्थ्य से निरपेक्ष रहकर ही वाक्य वाक्यार्थ का बोध करा देता है, तब पदों का शक्तिग्रह व्यर्थ होगा!

अभिहितान्वयवादी कहेगा कि पदसामर्थ्य अन्वितार्थ में मानने पर वाक्य ही व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि वाक्यार्थभूत अन्वय तो पद से ही कह दिया गया। अतः वाक्यसार्थक्य के लिये अन्वय को पद से ज्ञेय मान नहीं सकते। इसके उत्तर में समझ लेना चाहिये कि वाक्यतात्पर्य से अन्वय-विशेष का पता चलता है जबकि पद से अन्वय-सामान्य का पता चलता

पदार्थमात्रसंसर्गे कार्यार्थविरहेऽपि ते। व्यवहारस्य संसिद्धेर्व्यर्था कार्यप्रकल्पना ।।६०४।।
कार्यैकव्यतिषङ्गे च वाक्याद् भूतानुवादकात् । प्रतीतिः स्यान्न वाक्यार्थे स्यादुक्तेर्व्यर्थताऽपि च ।।६०५।।

है, जैसे बाहर हल्ला सुनकर इतना ही पता चलता है 'भीतर कोई है', दरवाज़ा खोलकर आँख से पता चलता है 'देवदत्त और यज्ञदत्त हैं।' इसलिये पद से अन्वितबोध मानने पर भी वाक्य व्यर्थ नहीं होता। बल्कि यह दोष तो अभिहितान्वयवाद में ही आता है : जब तुम पद को अनन्वितार्थक मानते हो तब यह स्वीकार ही रहे हो कि अन्वितार्थ के अभिधान में पद असमर्थ हैं। ऐसा होने पर सम्बद्ध पदार्थों का बोध कराने के लिये पदों का प्रयोग हो नहीं सकेगा अतः पदों का भी परस्पर सम्बद्ध रूप से उच्चारण नहीं होगा क्योंकि पदों का आपसी सम्बंध उनसे बोध्य पदार्थसंबंध के ही अधीन होता है। जब पदों को सम्बद्धरूप से नहीं कह सकते तो वाक्य नामक वस्तु ही कहाँ रहेगी! समन्वित पदों का समुदाय ही तो वाक्य है, अनन्वित पदों का समूह तो वाक्य होता नहीं। पदों की शक्ति के सहारे अर्थबोध कराने वाला वह वाक्य पदार्थसम्बंध बता पायेगा इसकी संभावना ही तब कहाँ रह जाती है? यह कह नहीं सकते कि पदार्थमात्र के बोधन के लिये वाक्यप्रयोग होता है क्योंकि यह सभी को इष्ट है कि 'विशिष्ट–सम्बद्ध–अर्थ के बोध के प्रयोजन से ही वाक्यप्रयोग जनसमुदाय में हुआ करता है' (ब्रह्मसिद्धि.पृ० १११)। इस तरह स्वार्थमात्र में पदसामर्थ्य मानना अनुचित है।

अथवा 'प्रयोगस्य' का मतलब 'पदोच्चारणस्य' है। संसर्गवान् अर्थ के व्यवहार में हेतुभूत जो संसर्गी अर्थ का भान, वह यदि पद से होना नहीं तो पद बोलना ही क्यों? विद्यासागर लिखते हैं 'पदानां पदार्थमात्रधीजननसामर्थ्ये श्रोतुः संसृष्टार्थधीः संसृष्टव्यवहारहेतुः न स्यात्, अतश्च प्रयोक्तुः प्रयोगानर्थक्यमित्यर्थः।' वादी कहेगा कि प्रत्येक पद अपर्याप्त होने पर भी वाक्य उक्त धी का जनक हो जायेगा; तब पूर्व दर्शित दोष प्राप्त होते हैं ।।६०३।।

अन्तिम – पाँचवाँ – पक्ष सिद्धान्ती को इष्ट होने पर भी वादी के लिये इष्ट नहीं यह दिखाते हैं :

यदि मानो कि पदार्थमात्र का संबंध पद से ज्ञात हो जाता है तब तो सम्बन्धी यदि कार्यरूप अर्थ नहीं होगा तो भी कथनादि व्यवहार संभव हो जाने से तुमने जो यह कपोलकल्पना कर रखी है कि पदार्थरूप से कार्य भासता ही है, वह व्यर्थ होगी ।।६०४।।

'पदार्थमात्र' में 'मात्र' का तात्पर्य है कि कार्य हो या सिद्ध इससे फर्क नहीं, कोई भी योग्य पदार्थ होना चाहिये। इस पक्ष में नियोगवादी का मत नहीं बचेगा क्योंकि जहाँ सिद्ध ही योग्य होगा वहाँ कार्य पदार्थ नहीं हो पायेगा, जबकि उसे नियमतः उसे पदार्थ मानना है। 'योग्य कार्य से अन्वित में शक्ति होती है' यह कहने में गौरव है, 'योग्य' कहना ही पर्याप्त है। सर्वज्ञमुनि ने यही कहा है 'योग्येतरान्वितनिमित्तकशब्दशक्तिव्युत्पत्तिरेव यदि सम्भवभागिनी स्यात्। आश्रीयते किमिति कार्यसमन्वितेऽर्थे शब्दस्य शक्तिरसदर्थविशेषणेन ।।' १.३४७।।

द्वितीय से चतुर्थ तक के तीन पक्ष कार्यवादी के अनुसार हैं अतः उनका विस्तृत खण्डन होगा इसलिये प्रथम व पंचम का पहले विचार कर लिया; यह कल्पलता का अभिप्राय है 'मध्यमं बहुवक्तव्यमुल्लङ्घ्य अन्ते दोषमाह'। अर्थात् सूचीकटाहन्याय से यहाँ ग्रंथ चला है ।।६०४।।

अब पूर्वोक्त विकल्प-पंचक के द्वितीय विकल्प का विचार करते हैं। एक ही कार्यवस्तु सर्वत्र अनुगत होने से सब पदों का अर्थ है ऐसा मानने पर सभी पद परस्पर पर्याय हो जायेंगे, यह दोष है, क्योंकि तब घटार्थ के लिये पटशब्द का प्रयोग भी उचित होने लगेगा।

इसके साथ ही तृतीय विकल्प में भी दोष दिखाते हैं कि कार्यान्वित में ही सामर्थ्य हो तो सिद्धार्थक वाक्यों से शाब्दबोध ही नहीं होगा :

यदि इकलौते कार्य में सभी शब्दों का संबंध मानो या उस एक कार्य से सम्बद्ध अर्थों में ही शब्दों को शक्त मानो तो यथाभूत वस्तु का अनुवाद सुनने पर वाक्यार्थविषयक प्रतीति न हो सकेगी और ऐसे कथन व्यर्थ भी होने लगेंगे ।।६०५।।

कार्यान्तरस्य चाभावात्कार्यार्थैकाभिधायिनः। संबन्धो न भवेदन्यैः साधनाद्यभिधायिभिः ॥६०६॥

सिद्धार्थक वाक्य से शाब्दबोध होना तो दोनों पक्षों में असंभव होने से दोनों में समान दोष है। वादी इसे इष्टापत्ति नहीं कह सकता क्यों पहले ही दिखा चुके हैं कि 'रस्सी है, साँप नहीं' आदि से बोध होता है ॥६०५॥

इस प्रकार नामपदों की शक्ति का विचार कर दिखाया कि कार्यवादी के अनुसार उसकी व्यवस्था नहीं बनती। अब 'कार्यान्वयान्वयी में सामर्थ्य है' इस चतुर्थ विकल्प के निरास के लिये कार्यपद की शक्ति का परीक्षण करते हैं :

जिन शब्दों को आप कार्यरूप अर्थ का ही अभिधायक मानते हैं उनका भी कार्यसम्बद्ध शक्य से सम्बंध हो नहीं सकता क्योंकि शक्यभूत कार्य से अतिरिक्त सम्बन्धिरूप कोई अन्य कार्य आप मानते नहीं। जब विधिवाचक पद का ही शक्तिग्रह नहीं होगा तो साधनादि के वाचक नाम पदों से उसका अन्वय संभव ही नहीं ॥६०६॥

यहाँ प्रश्न है कि कार्यवाचकतया अभिमत लिङादि पदों की क्या कार्यान्वित में शक्ति है? या अनन्वित कार्य में? या सिद्धान्वित कार्य में? इनमें प्रथम पक्ष इसलिये संभव नहीं कि वादी एक वाक्य में दो कार्य तो मानता नहीं कि एक कार्य अन्वयका प्रतियोगी बन जाये और दूसरा अनुयोगी। न वह दूसरा पक्ष स्वीकारेगा क्योंकि यदि अनन्वित कार्य शक्य होगा तो अनन्वित सिद्ध भी होने लगेंगे जैसा विद्यासागर ने प्रयोग से कहा है 'विवादपदानि पदानि न कार्यान्वितस्वार्थे नियतसामर्थ्यानि पदत्वात् कार्यपदवत्'। तृतीय पक्ष भी अतएव वादी को अनिष्ट है।

यह जो सूक्ष्मेक्षिका थी कि कार्यान्वयान्वयी में शक्ति मानने से कार्यद्वय की समस्या नहीं होगी, वह भी विचारसह नहीं क्योंकि यह बताओ कि इसमें अन्वय को विशेषण मानते हो कि उपलक्षण? यदि विशेषण मानो तो दो अन्वय मानने पड़ेंगे – एक विशेषणरूप अन्वय और दूसरा उसका अर्थ से अन्वय! इतना ही नहीं, एक ही कार्य को इकट्ठे ही अन्वय का विशेषण भी मानना पड़ेगा और विशेष्य भी, क्योंकि कार्य है ही एक; जबकि यह भी कहीं होता नहीं कि एक ही वस्तु एक के ही प्रति इकट्ठे ही विशेषण और विशेष्य हो। यदि अन्वय को उपलक्षण मानो तब तो कार्य को शक्य मान ही नहीं पाओगे क्योंकि तब तुम्हारा तात्पर्य निकलेगा कि कार्य से उपलक्षित जो अन्वय उसका अन्वयी शक्य होता है, और ऐसा कहने पर कार्य आता है उपलक्षण कोटि में, अतः शक्य नहीं हो पायेगा। अतः यह सूक्ष्मेक्षिका भी व्यर्थ की है। न्यायरत्नदीपावलीकार का मत दिखाते हुए चित्सुखाचार्य ने (चित्सु०पृ० १५०) इन विकल्पों का वर्णन किया है। यद्यपि वहाँ पूर्ववादी ने इन विकल्पों का जवाब देने की कोशिश की है तथापि इस पक्ष में अतिगौरव स्पष्ट होने से चित्सुखाचार्य ने (पृ० १५६) इसका संक्षिप्त खण्डन कर दिया है। गौरवरूप दोष ही इस मत में सर्वज्ञात्मचरण ने दिखाया है 'अन्वीयमानवचनत्वमतोपपत्तौ कार्यान्वयान्वयिविशेषणगीर्वृथैव' (१.३४९)। इसलिये श्लोक ६०२ में उठाया चौथा विकल्प खण्डित हो गया।

जब लिङादि की ही शक्ति निरूपित नहीं हो पा रही तब न तो दधि आदि नाम पदों का लिङ्पद से अन्वय होगा – क्योंकि शक्त ही पद होता है और उन्हीं का अन्वय होता है – और न लिङर्थभूत कार्य से दधि–आदि अर्थों का सम्बंध होगा। अतः नियोगवादी न कार्यपद की और अतएव न नामपदों की शक्ति समझा सकता है।

इस प्रकार आनंदगिरिस्वामी ने 'सम्बन्धो न भवेत्' की आवृत्ति मानकर तीन अर्थ किये: १) कार्यपद का अनन्वित स्वार्थ से संबंध नहीं होगा। २) कार्यपद का सिद्धार्थान्वित स्वार्थ से सम्बंध नहीं होगा। ३) कार्यपद का कार्यान्वयान्वयी स्वार्थ से सम्बंध नहीं होगा। इनके अतिरिक्त चौथा अर्थ पूरे द्वितीयार्ध का है कि कार्यपद का नामपदों से अन्वय नहीं होगा।

तात्पर्यार्थ इतना ही है कि अवश होकर मानना पड़ेगा कि कार्यपद की शक्ति इतरान्वित स्वार्थ में है। और तब सिद्धान्ती कहेगा कि नामपदों के बारे में भी यही स्वीकारो, उनके लिये इतर को केवल कार्य ही मानना अनुचित है।

यद्यपि शालिकमिश्र ने कहा है 'लिङादिप्रत्ययो नियोगार्थमेवाभिदधाति, प्रकृतिस्तद्विषयम्, पदान्तराणि च विषयविशेषणं नामधेयम्, नियोज्यं चाभिदधति सन्ति नियोगार्थप्रतीतौ व्याप्रियान्ते।' (प्र०पं०पृ० २३६) एवं भवनाथ ने नयविवेक में

कार्यान्वयित्वे सर्वेषामपि चेह परस्परम्। पदार्थानामसंबन्धोऽनपेक्षत्वाद्भवेद् ध्रुवम् ॥६०७॥
नियोगो न प्रतीयेत विशिष्टविषयस्तथा। तदा चैकपदार्थस्य नियोगः साध्यतामियात् ॥६०८॥

(पृ० ४४) कहा है 'कार्यान्वितस्वार्थाभिधानेऽन्येषां, लिङादिस्तु कार्याभिधाने व्युत्पद्यते।' अतः कार्यपदशक्य में कार्यान्वय की उन्हे ज़रूरत नहीं यह शंका की जा सकती है; तथापि जैसा अनुपद ही कह चुके हैं, कार्यपद की अनन्वित स्वार्थ में शक्ति मानते ही शब्दमात्र की ही वैसी ही शक्ति माननी पड़ेगी क्योंकि भेदभाव का कोई आधार नहीं है। किं च कार्यपद यदि अनन्वित कार्य का वाचक होगा तो कार्य का अन्वय भी वाच्य नहीं हो पायेगा। यदि कार्य का अन्वय नामपदों का ही वाच्य मानें तो भी कार्यपद अनन्वितवाचक होने से निराकांक्ष रहेगा अतः उसका पदान्तरों से अन्वय ही नहीं होगा। अतः यदि प्राभाकरों का वही सिद्धान्त है, जैसा कि उक्त वचनों से प्रतीत होता है, तो उसका भी यहाँ आनंदगिरिस्वामी ने निरास कर दिया है ॥६०६॥

कार्यान्वित अर्थ में शक्ति मानने में अन्य भी दोष है :

वाक्य में आये सभी पद यदि कार्यसम्बद्ध होंगे तो कार्यसंबंध से ही निराकांक्ष हुए पदार्थों का परस्पर सम्बंध नहीं ही होगा ॥६०७॥

जब कार्यान्वित ही शक्य होगा तब वह कार्य से ही सम्बद्ध हुआ रहेगा, पदार्थान्तर से सम्बद्ध होने की जरूरत ही कहाँ? पदार्थान्तर सम्बंध वास्तव में हो तो भी पदोक्ततया तो कवल कार्यसम्बद्ध ही रह पायेगा। फलतः कार्यान्वित के वाचक पदों का भी परस्पर अन्वय नहीं होगा क्योंकि उन्हे कार्येतर अर्थों की आकांक्षा ही नहीं होगी। इसमें अन्यान्य दोष तो आगे दे ही रहे हैं, एक स्पष्ट दोष होगा कि 'भूतले यो घटस्तस्मिन् यज्जलं तदानय' – यहाँ भूतल और घट का सम्बंध भासेगा ही नहीं! ऐसे ही जहाँ षष्ठ्यन्त पद कारकतया प्रयुक्त नहीं होगा वहाँ उसका शक्य ही दुर्लभ हो जायेगा क्योंकि कार्य से संबंध होगा नहीं और पदार्थान्तर की आकांक्षा मानी नहीं जा रही है।

मूल में 'पदार्थानाम्' कहा है; किन्तु शंका हो सकती है कि पद भले ही कार्यान्वित को कहे, पदार्थ का पदार्थान्तरों से सम्बंध तो पद नहीं रोकेगा; 'लाल' का मतलब मोटा तो नहीं होता, फिर भी 'लाल घड़ा' कहने से यह तो नहीं समझते कि घड़ा मोटा नहीं है! अर्थात् पदार्थ भले ही बहुतों से अन्वित है पर पद उसे केवल कार्यान्वितरूप से कहता है। इस शंका के समाधानार्थ टीकाकारने 'पदार्था येषां तानि' यों पदार्थशब्द को पदपरक मानकर 'पदानाम्' अर्थ किया है। 'पदानां (यो) मिथः शाब्दः सम्बन्धः (स) न स्यात्' यह टीका में अन्वय समझना चाहिये अर्थात् पदों का जो परस्पर अन्वय होता है, वह न हो पायेगा ॥६०७॥

नियोगवादी कहेगा कि भले ही पद परस्पर अन्वित न हों, विशिष्य व्यवहार तो इतने से ही हो जायेगा कि सब कार्य से अन्वित हैं ही, अर्थात् परस्पर भी उनका परंपरा संबंध है ही। इस संभावना पर कहते हैं :

यदि पद परस्पर सम्बद्ध न हों तो विशिष्टविषयक नियोग की प्रतीति असंभव हो जायेगी। इतना ही नहीं, प्रत्येक पदार्थ से नियोग साध्य होने लगेगा! ॥६०८॥

'सोमेन यजेत' आदि में तुम्हे भी मान्य है कि सोमविशिष्ट याग विहित है। जब सोम और याग का परस्पर संबंध नहीं तो सोमविशिष्ट याग की प्रतीति होगी नहीं अतः उस विशिष्ट याग को विषय करने वाला नियोग भी प्रतीत नहीं हो सकेगा। जो तुमने कार्यद्वारक परंपरासंबंध संभावित किया है वह भी यहाँ संभव नहीं क्योंकि विषयान्वित होकर ही कार्य की प्रतीति लिङादि से होती है इसलिये नियोगप्रतीति के लिये विषयप्रतीति अपेक्षित है; यदि बिना सोमविशिष्ट याग के ज्ञान के ही नियोग प्रतीत हो जाये तो यह विधि विशिष्टविषयक ही सिद्ध नहीं होगी क्योंकि इसकी विशिष्ट विषयकता का कारण तुम नियोगप्रतीति की अन्यथानुपपत्ति को ही मानते हो – उक्त वाक्य से नियोगप्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से सोम को यागका विशेषण होना चाहिये यही तुम्हारा कहना है। यदि पहले ही नियोग प्रतीत हो गया तो अनुपपत्ति क्या बची

अथ सोमादिसंबद्धे यागादौ विषये मतः। नियोगः कस्ततः पूर्वं सम्बन्धे हेतुरुच्यताम् ॥६०९॥
सिद्धेऽसति विशिष्टे न विषये कार्यमिष्यते। अथ क्रियैव प्राक्कार्यात्सिद्धं नो यत्समीहितम् ॥६१०॥

जिसके लिये यह वैशिष्ट्य माना जाये! अतः कार्यान्वयी अर्थ को शक्य मानना तुम्हारे लिये भी समस्या ही खड़ी करेगा। यह विषय संक्षेपशारीरक में (१.३५२) तथा वहाँ टीका में और भी स्पष्ट है।

किं च सोमपद कार्यान्वित सोमका वाचक मानने पर सोम-पदार्थ का सीधे ही कार्यसम्बंध मानना पड़ेगा; ऐसे ही याग का भी कार्यसंबंध होगा; तब यह कैसे कहोगे कि कार्य की उत्पत्ति सोमविशिष्ट याग से होगी? सोमद्रव्य से भी तुम्हे कार्योत्पत्ति मान लेनी पड़ेगी क्योंकि उसका क्रियासंबंध हुए बिना ही तुम उसका कार्य से संबंध मान रहे हो। अतः पड़ा हुआ भी सोम कार्योत्पत्ति करता रहेगा! और भी, विद्यासागर कहते हैं 'सोमेन यागेन वेति', कार्य के दो उपाय इस वाक्य में होने से तुम्हे विकल्प मानना पड़ेगा कि चाहे सोम से नियोग पैदा करो या याग से करो! यह भी अनिष्ट ही है। अतः तुम्हारी प्रक्रिया सर्वथा बेकार की है ॥६०८॥

कार्यवादी कहता है: सोम और याग – इन एक-एक पदार्थों में नियोगान्वय की योग्यता नहीं है अतः सोमादिपदों से प्रतीयमान नियोगान्वय की अन्यथानुपपत्ति से इनका परस्पर सम्बन्ध समझ लिया जाता है जिससे नियोग की विशिष्ट विषयता – सोमविशिष्ट याग की कार्यहेतुता – उपपन्न हो जाती है। वादी की यह बात उठाकर विचार करते हैं :

यदि यह मानते हो कि सोमादि से सम्बन्धित यागादि को नियोग विषय करता है तो यह बताओ कि नियोगान्वय से पहले सोम व याग के संबन्ध में हेतु क्या है? ॥६०९॥

तुम्ही ने कहा कि अकेले तो सोम तथा याग नियोग से सम्बद्ध होने के अयोग्य हैं, अतः नियोग से सम्बद्ध होने से पूर्व ही उन्हे आपस में सम्बद्ध होना पड़ेगा ताकि वे नियोगान्वय के योग्य बन सकें क्योंकि तुम्ही ने माना कि उनका परस्पर अन्वय नियोगान्वययोग्यता के लिये ही है। प्रश्न है कि यह जो परस्पर अन्वय है इसमें कोई कारण है या नहीं? यदि कारण है तो क्या योग्यतादि ही कारण है या अन्य कुछ? यदि योग्यता संनिधि आदि से ही अन्वय हो जाने लगेगा तो तुम्हारा नियोग-आग्रह निर्वीर्य हो जायेगा। अतः योग्यतादिमात्र से अन्वय तुम सहन करोगे नहीं। यदि योग्यतादि से अन्यं ही कोई कारण है तो क्या वह क्रियारूप है या क्रिया से अन्य? यदि क्रिया से अन्य हो तो कारक या फल ही हो सकता है और उन्ही के बल पर अगर सोम व याग का अन्वय संभव हो तो नियोग व्यर्थ हो जायेगा। क्रिया से अन्य तो कारक व फल ही प्रसिद्ध हैं जो संबंधकारण हो सकते हैं, अतः इन्हे मानोगे तो तुम्हारा नियोग किस काम का? क्रिया को सम्बंधहेतु मानने में तथा संबंध को निर्हेतुक मानने में दोष अगले श्लोक से देंगे ॥६०९॥

सम्बन्ध में कोई हेतु नहीं है – ऐसा कहो तो सम्बंध नित्य मानोगे या कादाचित्क? नित्य हो तो सोमशब्द यागान्वित सोम में शक्त मानना पड़ेगा न कि कार्यान्वित में क्योंकि कार्यान्वय तो अनित्य है अतएव तुम्हे कार्यान्वय के लिये यागान्वय अपेक्षित हुआ। यदि यागान्वय को हेतु न कहकर प्रयोजक ही कहो, तो भी सोम और याग जब अनित्य हैं तब इनका संबंध कैसे नित्य होगा? किं च तब याग से रहित सोम तथा सोम से रहित याग नहीं रहेंगे, अतः एक सोम याग से अन्य सभी याग लुप्त हो जायेंगे! इसलिये इनका संबंध कादाचित्क ही हो सकता है और कादाचित्क वस्तु का यदि कोई कारण नहीं तो वह वस्तु उत्पन्न होती नहीं यह न्याय्य है। जब सम्बंध होगा नहीं तब तुम्हारा नियोग भी होगा कैसे –

विशिष्ट विषय सिद्ध न होने पर निर्विषयक कार्य मानना पड़ेगा जो तुम्हे भी स्वीकार नहीं। और अगर कहो कि कार्यसंबंध से पूर्वभावी सम्बंध में क्रिया ही हेतु है; तब जो हम (योग्येतरान्वयवादी) चाहते हैं वही सिद्ध हुआ! ॥६१०॥

विशिष्ट विषय अर्थात् सोमविशिष्ट याग। वही नियोग का विषय है। अतः नियोगप्रतीति के लिये उसकी प्रतीति अनिवार्य है। 'सिद्धे' का मतलब है 'प्रतीते' यह कल्पलता में स्पष्ट है।

तदेतरत्तदर्थमित्येवं चैतत्समञ्जसम्। विषये यदि कार्यत्वं कार्यावगमपूर्वकम् ॥६११॥
कार्ये कार्यान्तराभावात्कार्यबुद्धिः कुतो भवेत्। तदभावादनुष्ठेयो विषयोऽपि न ते भवेत् ॥६१२॥
कार्यार्थता ततश्चेष्टा हीयेतानुष्ठितिं विना। अथ कार्यान्तराभावेऽप्यस्य कार्यत्वमिष्यते ॥६१३॥

क्रिया को अन्वयहेतु मानने पर तो कार्यान्वित में शक्ति नहीं रहेगी, अन्यान्वित में ही माननी होगी जो नियोगवादी के लिये अनिष्ट है, सिद्धांती को इष्ट है ॥६१०॥

अन्यान्वित में शक्ति है यह बात तुम्हारे भाष्यकार भी मानते हैं –

'तब अन्य उसके लिये होंगे' यह वचन भी इतरान्वित में शक्ति मानने पर ही संगत होगा ॥६१० $\frac{1}{2}$ ॥

मीमांसादर्शन में (२.१.१) विचार हुआ कि क्या हर पद धर्म का वाचक है या वाक्य में आये सभी पद एक धर्म कहते हैं? पूर्वपक्ष हुआ कि हर पद से अलग-अलग धर्मों की उक्ति मानी जाये। तब सिद्धान्ती ने अपना पक्ष रखा कि वाक्यार्थभूत धर्म एक ही है और उसका वाचक भी एक ही पद होता है, बाकी पद उसके शेषरूप से अन्वित होंगे। ऐसा मानने में लाघव होता है। शावरभाष्य है 'प्रतिपदं धर्म इत्येवं प्राप्ते; उच्यते – यदैकस्मादपूर्वं तदाऽन्यत् तदर्थं भविष्यति। एवमल्पीयस्यदृष्टानुमानप्रसङ्गकल्पना भविष्यति। तस्मादेकमपूर्वम्।' (पृ० ३३७)। यदि पद योग्यान्वित अर्थ का बोध न करायें तो वे अन्यशेष कैसे होंगे? जिसका उन्हे शेष बनना है उससे मिलने के पूर्व पदों को अपने अर्थ कहने पड़ेंगे, अन्यथा तो निरर्थक शब्द भी शेष होने लगेंगे! अतः शबरवाक्य भी यही मानकर चला है कि शब्दों की शक्ति इतरान्वित में होती है, कार्यान्वित में शक्ति मानकर यह भाष्य नहीं प्रवृत्त हुआ है। किं च सूत्रकार ने ही 'भावार्थाः कर्मशब्दाः, तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, एष ह्यर्थो विधीयते' (२.१.१) भावार्थशब्दों से विधेय धर्म के कथन की प्रतिज्ञा कर प्रश्न उठाया 'सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत्?' (२.१.२) और जबाब में नाम तथा आख्यात का भेद बताकर आख्यातों से ही धर्मप्रतीति मानी 'तस्मत्तेभ्यः प्रतीयेत' (२.१.४)। अतः नामशब्द भी कार्यसम्बंध कहते हैं यह बात सूत्रों के भी अनुगुण नहीं है ॥६१० $\frac{1}{2}$॥

अब यह समझायेंगे कि विषयकी (धात्वर्थ की) कर्तव्यता नियोग के अधीन नहीं है।

वादी कहता है कि श्लोक ५१५ में वह बता चुका है कि स्वयं क्रिया की जो कर्तव्यता है वह नियोग के कारण है। अतः कारकों का अन्वय यदि प्रारंभ में क्रिया के कारण हो जाये तो भी क्योंकि क्रिया कार्यता से विशिष्ट है इसलिये कारक भी कार्य से अस्पृष्ट नहीं रह सकेंगे। एवं च क्रियान्वित में शक्ति हो तो भी कार्यान्वय की सुरक्षा हो सकती है। इसका समाधान करते हैं :

यदि विषय में – यागादि में – कार्यता के लिये कार्यज्ञान चाहिये तो कार्य के बारे में 'यह कार्य (=कर्तव्य) है ऐसा बोध कैसे होगा? क्योंकि कार्यान्तर तो तुम मानते नहीं! और जब नियोग में (=कार्य में) ही कार्यताबुद्धि नहीं होगी तब तुम्हारे अनुसार विषय भी अनुष्ठेय नहीं हो पायेगा! ॥६११-६१२॥

आशय है कि नियोग के विषयभूत यागादि की कार्यता के लिये जब नियोगज्ञान को हेतु मानोगे तो यह नियम स्वीकार करना पड़ेगा कि कार्यताज्ञान के लिये नियोगज्ञान चाहिये। अतः नियोग के बारे में 'यह मेरा कार्य है' ऐसा ज्ञान भी आकांक्षा रखेगा किसी नियोग के ज्ञान की लेकिन नियोग दो हैं नहीं कि दूसरे नियोग के ज्ञान से पहले नियोग की कार्यता पता चल सके। इसलिये 'नियोग कार्य है' यह ज्ञान संभव नहीं होगा और तब क्रिया में कार्यता सुतरां नहीं पता चलेगी क्योंकि तुम्हारी मान्यता है कि धात्वर्थ का अनुष्ठान नियोग की कार्यता के ज्ञान के अधीन होता है अर्थात् नियोग की कार्यता पता चलने पर उसके संपादनार्थ धात्वर्थ अनुष्ठेय होता है ॥६११-६१२॥

विषय (धात्वर्थ) भी कार्य नहीं रहने से यह दोष होगा :

जब विषयतया अभिमत यागादि का अनुष्ठान नहीं होगा तब उनकी नियोगशेषता नहीं हो पायेगी जबकि इष्ट तुम्हे है कि वे नियोगशेष हों ॥६१२ $\frac{1}{2}$ ॥

विषयस्यापि कार्यत्वं स्वत एव भवेत्तथा। विषयोऽकार्यरूपत्वात्स्वसिद्ध्यै यद्यपेक्षते ॥६१४॥
कार्यं तदपि विषयमीक्षेतासाध्यरूपतः। कार्येऽपि कार्यतैवं च भवेद्विषयहेतुका ॥६१५॥
अन्योन्याश्रयता च स्यान्न च कार्यप्रधानता। पुंव्यापारव्यपेक्षायां स्वसिद्धौ कार्यमुच्यते ॥६१६॥
यागादिः स च नो कार्यं स्वतः कार्यैकरूपतः। कार्यस्यैव न कार्यत्वमकार्ये कार्यतेष्यते ॥६१७॥

विषय जब अनुष्ठेय नहीं होगा तब उसका अनुष्ठान कोई क्यों करेगा? और बिना अनुष्ठित हुए वह नियोगोत्पादक न होने से नियोगशेष कैसे होगा ॥६१२ ॥

वादी कहता है कि जैसे अन्यों को मीठा बनने के लिये शक्कर चाहिये लेकिन शक्कर को तो मीठा होने के लिये कुछ नहीं चाहिये, ऐसे ही यागादि की कार्यतां का हेतुभूत नियोग ख़ुद अपनी भी कार्यता का हेतु हो जायेगा, अतः नियोगान्तरगवेषणा का प्रसंग नहीं। अर्थात् यागादि में कार्यत्व नियोगशेषतया है जबकि नियोग में वह स्वतः ही है। यह प्रश्न उठाकर उत्तर देते हैं :

यदि अन्य कार्य (= नियोग) न होने पर भी इसकी (= नियोग की) कार्यता मानते हो तब इसी तरह विषय में (= धात्वर्थ में) भी कार्यता स्वतः ही हो जायेगी, (नियोग की क्या ज़रूरत!) ॥६१३ $\frac{१}{२}$ ॥

अर्थात् लिङादि से कार्य पता चले, फिर उसकी कार्यता पता चले, फिर उसकी संपन्नता के लिये धात्वर्थ की कार्यता पता चले – इतनी लम्बी प्रक्रिया का क्या प्रयोजन; सीधे ही लिङादि से विषय की कार्यता पता चल जाये तो भी कोई अनुपपत्ति नहीं। अतः तुम्हारा कल्पित नियोग पदार्थ व्यर्थ है ॥६१३ $\frac{१}{२}$॥

इस पर और प्रश्नोत्तर है :

विषय कार्यरूप न होने से अपनी सिद्धि के लिये कार्य की अपेक्षा करता है (अतः स्वतःकार्यता उसमें नहीं है), यदि यह प्रश्न करो; तो उत्तर है कि कार्य भी अपनी सिद्धि के लिये विषय की अपेक्षा रखता ही है अतः वह भी स्वयं अकार्यरूप ही है। ऐसा होने पर कार्य में कार्यता के प्रति हेतु मानना पड़ेगा विषय को लेकिन तब अन्योन्याश्रय होगा तथा कार्य की प्रधानता नहीं रह जायेगी ॥६१४-६१५ $\frac{१}{२}$ ॥

विषय स्वतः कार्य इसीलिये नहीं मानते कि वह आयासात्मक होने से क्लेशरूप है अतः विषय संपन्न किया जाये (= धात्वर्थ में प्रवृत्ति हो) इसके लिये विषय में कार्यता चाहिये जिसे तुम नियोग से लाते हो। लेकिन कार्य भी तो स्वयं कोई फल है नहीं, अतः वही स्वतः कार्य कैसे? फलहेतु होने से कार्यता मानते नहीं और मानो तो उसीसे याग ही कार्य हो जायेगा, पृथक् कार्य रहेगा नहीं। किं च स्वसिद्धि अर्थात् अपनी उत्पत्ति के लिये जो अपेक्षित हो तदधीन स्व की कार्यता मानने पर कार्य भी स्वोत्पत्ति के लिये विषयापेक्ष है तो कार्य की भी कार्यता विषयाधीन मानो। किन्तु ऐसा मानते ही अन्योन्याश्रय स्फुट है। किं च यदि कार्य भी अन्याधीन कार्यता वाला होगा तो विषयतुल्य बन जायेगा, उसकी प्रधानता जाती रहेगी ॥६१४-६१५ $\frac{१}{२}$ ॥

अभी तो नियोग और याग की तुल्यता ही कही; अब बताते हैं कि याग ही कार्य है, नियोग नहीं :

जिसे अपनी उत्पत्ति के लिये पुरुषव्यापार की अपेक्षा होती है उसे कार्य कहते हैं अतः यागादि ही कार्य होता है, तुम्हे स्वीकृत जो नियोग है वह नहीं क्योंकि तुम उसे स्वतः कार्य मानते हो (पुरुषव्यापार के अधीन नहीं मानते)। किं च कार्यशब्दित नियोग ख़ुद ही कार्यतारूप है तो उसकी कार्यता मानना संभव ही नहीं। जो स्वयं अकार्य हो उसी में विधि आदि के कारण कार्यता मानी जा सकती है। शौक्ल्य में शुक्लता तो नहीं आ जाती, (शौक्ल्यभिन्न) पटादि में ही शुक्लता का विधान होता है। (ऐसे ही अकार्य की ही कार्यता हो सकती है।) ॥६१६-६१७ $\frac{१}{२}$ ॥

न शौक्ल्ये शुक्लतापत्तिः पटादेः सा विधीयते। घटकार्ययजत्यादि स्वस्वभावतया स्थितम् ॥६१८॥
सिद्धसाध्यादिभेदेन स्वशब्देनाभिधीयते।
यदा तदा ध्वनेर्न स्यादज्ञातार्थावबोधने। विशेषः कश्चिदित्येवं न प्रवृत्तिर्विधेर्भवेत् ॥६१९॥
अवबुद्धे तु शब्दार्थे पुरुषार्थानुरोधतः। स्वत एव प्रवृत्तिः स्यान्न शब्दान्नार्थतस्तथा ॥६२०॥

वादी नियोग की कार्यता पुरुषचेष्टा के परतंत्र नहीं मानता क्योंकि तब नियोग भी घटतुल्य होने से सदा कार्यैकरूप नहीं रहेगा। अतः नियोग में ही कार्यता संभव नहीं है! विद्यासागरी में बताया है कि कृतिसाध्य को कार्य कहते हैं। साक्षात् कृतिसाध्यता तो धात्वर्थ में ही होती है और परंपरा से वह फल में भी रहती है जबकि नियोगवादी न धात्वर्थको और न फल को कार्य मानता है। यदि वह कहे कि कृतिविषयता के अवच्छेदक को कार्य मानेगा – कृति का विषय धात्वर्थ, उसमें कार्यतालक्षण नियोग है अतः कृतिविषयता का अवच्छेदक हुआ नियोग, वही कार्य है; तो दोष होगा कि कृति का विषय घट भी होने से घटत्वादि की तरह नियोग भी शास्त्रेतर प्रमाण के योग्य मानना पड़ेगा अतः अपूर्व नहीं रह जायेगा।

किं च कार्यता को ही नियोग कहते हो। फिर नियोग की कार्यता का क्या मतलब? ख़ुद का ख़ुद तो हो नहीं सकता, आत्माश्रय होने से; तथा दो कार्यतायें तुम मानते नहीं। कल्पलता में विकल्प किया है : कार्यतावान् को नियोग कहते हो या कार्यत्व को ही? यदि कार्यतावान् को कहो तब उसे पदशक्य नहीं मान सकते क्योंकि तुम भी आकृति को पदशक्य मानते हो, आकृतिमान् व्यक्ति को नहीं। और कार्यता ही नियोग हो तो यही दोष है कि कार्यता में कार्यता नहीं रह सकती। यदि राहु के सिर की तरह कार्यता की कार्यता औपचारिक हो तब तो औपचारिक कार्यता से होने वाली याग की कार्यता भी औपचारिक ही होगी! स्वयं कार्यता सफेदी की जगह है; उसमें कार्यता मानने का मतलब है सफेदी में सफ़ेदी मानना, जो व्यर्थ की बात है। कपड़े आदि में ही सफेदी होती है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध और यौक्तिक है ॥६१६–६१७[२]॥

इस प्रकार निश्चित हुआ कि कार्य को कार्य कहना बनता नहीं, यागादि को ही कार्य कहा जा सकता है। अतः श्लोक ५१५ में कही बात खण्डित हो गयी। एवं च क्रिया-कारकों का अन्वय नियोग के अधीन न होने से कार्य की अपेक्षा रखे बिना ही अन्वित अर्थ में पदशक्ति माननी पड़ेगी। एवं च यह फल निकला :

घट, नियोग, याग आदि अपने असाधारण रूपों में स्थित रहते हुए अपने वाचक शब्दों द्वारा सिद्ध, साध्य या उनके शेष किसी न किसी योग्य से अन्वित हुए कहे जाते हैं तो शब्द चाहे सिद्ध कहे या साध्य, उसकी अज्ञातज्ञापकता में अंतर नहीं आता। इसलिये प्रवृत्ति नियोगाधीन होती है यह संगत नहीं। शब्दार्थ समझ लेने पर पुरुषार्थवशात् स्वतः ही प्रवृत्ति होती है, न लिङादि शब्द से और न उनके अर्थभूत नियोग से ॥६१८–६२०॥

घट से सिद्ध द्रव्यादि समझने चाहिये। याग सभी क्रियाओं का उपलक्षण है। आदि में गुण, अंश, अवस्था आदि का ग्रहण है। घटशब्द घट-अर्थ को कहता है लेकिन घट स्वभावतः जैसा है वैसा ही उसे कह देता है। घट मृदात्मक है तो शब्द इसमें कोई परिवर्तन नहीं लगता, उसे वैसा ही रहने देता है। लेकिन शब्द घटमात्र न कहकर उसे योग्येतर से निर्भिन्न – बिँधा हुआ अर्थात् अन्वित रूप से कहता है क्योंकि विशिष्ट व्यवहार ही चिकीर्षित होने से तदनुरूप ही व्याहार संगत है यह श्लोक ६०३ में कह आये हैं। अतः प्रवृत्ति में नियोग कारण नहीं, प्रवृत्ति तो फलरागादि क्लृप्त कारणों से ही होती है जैसा श्लोक ५९१ में भी बताया था। इस प्रकार शब्द सिद्ध कहे या साध्य, उसकी प्रमाणता एक – सी ही माननी अनिवार्य होने से वेदान्तों के अप्रामाण्य की संभावना नहीं ॥६१८–६२०॥

अब तक बताया कि नियोग प्रवर्तक नहीं भले ही वह स्वभावतः साध्यरूप हो। अब कहेंगे कि न नियोग साध्य है और न उसका कोई स्वरूप ही समझा जा सकता है। यह बात श्लोक ६३१ तक चलेगी।

साधनादित्रयाद्वाह्यं पुरुषार्थबहिष्कृतम्। क एतत्साधयेद्धीमान्किं वा रूपमितीर्यताम् ॥६२१॥
न तावत्प्रेरणा कार्यं कार्यार्थविषया हि सा। नाऽऽन्तरोऽपि प्रयत्नःस्यान्मानान्तरगतेस्तथा ॥६२२॥
न क्रिया कर्तृसंबन्धात्फलं नानिष्टरूपतः। कारकं नाप्यसिद्धत्वान्नाप्यन्यदनिरूपणात् ॥६२३॥

साधनादि तीनों से अन्य तथा पुरुषार्थ से भी अन्य इस नियोग को कौन बुद्धिमान् उत्पन्न करेगा? यह भी बताओ कि इसका स्वरूप क्या है? ॥६२१॥

साधन अर्थात् यागादि, इतिकर्तव्य अर्थात् प्रयाजादि और फल – इन तीन के लिये ही कोई चेष्टा होती है। नियोग तीनों नहीं है। उसकी फल या फलसाधनता नहीं यही स्पष्ट किया उसे पुरुषार्थ से भिन्न कहकर अथवा यह कहा कि स्वर्गादि फलरूप तो नहीं ही है, स्वयं भी वह सुखरूप या दुःखनिवृत्तिरूप नहीं है।

नियोग् के आठ संभावित स्वरूप हो सकते हैं: १) प्रेरणा, २) मानसिक प्रयत्न अर्थात् शारीरिक क्रिया का प्रेरक मनोभाव, ३) क्रिया, ४) फल, ५) कारक अर्थात् क्रिया का जनक, ६) या इनसे अन्य ही कोई पदार्थ! ७) तीनों कालों से असंबद्ध रूप से जिसका कथन किया जाये, अर्थात् विधिशब्द का अर्थ (= लिङर्थ) तो भासता है पर भूत आदि किसी काल से वह संबंधित नहीं भासता अतः वह अर्थ ही नियोग है, ८) अथवा कोई इन्द्रियातीत वस्तु ॥६२१॥

इन्ही संभावनाओं का खण्डन करते हैं:

प्रेरणा को कार्य नहीं कह सकते क्योंकि वह तो कार्यरूप अर्थ को विषय करती है। मानसिक प्रयत्न भी नियोग नहीं क्योंकि वैसा हो तो उसमें शब्दातिरिक्त प्रमाण की गति माननी पड़ेगी ॥६२२॥

वैदिक प्रसंग में प्रेरणा को शब्द का ही एक व्यापार कह सकते है जो नियोग को विषय करे। और विषय से विषयकर्ता अलग होता है अतः प्रेरणा को नियोग नहीं मान सकते। वस्तुतः प्रेरणा, प्रवर्तना, शब्दभावना – ये पर्याय हैं। प्राभाकर प्रेरणा को नियोग नहीं मानता। शालिक मिश्र ने तो शब्दव्यापार मानने वालों पर व्यंग्य कसा है 'लिङादिव्यापारस्य तु प्रवृत्तिहेतुत्वाश्रयणं देवाः प्रतिपद्यन्ताम्! पिशितचक्षुषा मानुषा वयं नेयतीं प्रमाणभूमिमवगाहितुं क्षमाः।' (प्र०पं०पृ० ४१९)। अर्थात् ऐसा व्यापार अप्रामाणिक है। क्योंकि नियोगवादी को यह पक्ष अभिमत नहीं अतएव 'तावत् हि' शब्दों का प्रयोग किया कि इतना तो तुम भी मानते ही हो कि प्रेरणादि नियोग नहीं हैं। यहाँ विचार तो इसलिये उठा लिया कि सभी संभावनायें हटायी जा सकें।

दूसरा पक्ष था यत्न का। 'यजेत' सुनकर श्रोता के मनमें एक विकारविशेष होता है जो आगे क्रिया (= याग) कराता है, वही नियोग हो – यह संभावना थी। यह भी प्राभाकर को इष्ट नहीं है यह शालिक ग्रंथ से (प्र०पं०पृ० ४२६) समझना चाहिये। प्रयत्न को नियोग मानने में एक तो यह दोष है कि प्रयत्न हो जाता है क्रिया से पहले ही, क्योंकि क्रिया उसका कार्य है, अतः क्रिया के बाद सत्ता में आने वाला नियोग प्रयत्न हो नहीं सकता; दूसरा दोष यह भी है कि मानसव्यापार जैसे कामना, क्रोधादि मानसप्रत्यक्ष होते हैं अतः प्रयत्न भी प्रत्यक्ष हो जाता है जिससे इसकी अपूर्वता नहीं रहती ॥६२२॥

क्रियादि विकल्पित अर्थ भी नियोग कहने योग्य नहीं :

क्रिया नियोग नहीं है क्योंकि क्रिया का सम्बंध होता है कर्ता से। स्वयं इष्टरूप न होने से नियोग को फल भी नहीं कह सकते। और न वह कारक ही है क्योंकि क्रियाकाल में साध्य ही रहता है तथा इनसे अन्य भी कोई प्रामाणिक वस्तु नहीं जो नियोग कही जाये ॥६२३॥

इस प्रकार तीसरे से छठे तक के विकल्प खण्डित हुए।

क्रिया का सम्बन्ध होता है कर्ता से जब कि नियोग तो नियोज्य से संबद्ध होता है। यह बता चुके हैं (श्लो० ५२३ आदि में) कि पहले नियोज्यान्वय होता है, फिर अधिकारान्वय और तब कर्तृ-अन्वय। अतः कर्तृ-अन्वय से सुपूर्व संपन्न

न च कालत्रयास्पर्शवाच्यत्वं कार्यलक्षणम्। घटशब्दाद् घटे मा भूत्कालास्पर्शेन कार्यता ॥६२४॥
नियोगोऽपि नियोज्यस्य व्यापारः स कथं भवेत्। अतीन्द्रियो लिङाद्यर्थः सिद्धिश्चास्य कथं भवेत् ॥६२५॥

होने वाला नियोज्यान्वय कैसे होगा यदि कर्तृनिष्ठ क्रिया नियोग हो? पंचिकाकार ने (पृ० ४३२) भी 'ननु क्रियैव कार्यतयोच्यताम्' आदि से नियोग की क्रियारूपता खण्डित की है।

कारक इसलिये नहीं मान सकते कि कारक को क्रिया से पूर्वभावी होना पड़ता है जबकि नियोग है उसके बाद होने वाला। किं च कारक सिद्धरूप होने से मानान्तरगम्य होते हैं अतः भी नियोग कारक नहीं है ॥६२३॥

प्राभाकरैकदेशी मानते हैं कि नियोग कालत्रय से असम्बद्ध होता है। 'प्रवृत्त्यभावस्य विरोधि कार्यं कालत्रयानन्वितमाहुरेके' ऐसा सर्वज्ञगुरु ने (१.१३२) बताया है। केवल प्रवृत्त्यभावविरोधी तो रागादि भी होते हैं अतः कालासंबंध कहा। इस मत का खण्डन करते हैं :

कालत्रय के असम्बंधीरूप से वाच्य को भी कार्य मानना संगत नहीं अन्यथा घटशब्द से कहे जाने वाले घट में काल के असम्बंध के कारण कार्यता होने लगेगी! ॥६२४॥

नियोग का काल से असंबंध कहने का तात्पर्य हो सकता है कि १) नियोगवाचक लिङादि जब नियोग का ज्ञान कराते हैं तब उन शब्दों के कारण नियोग से किसी काल का संबंध नहीं भासता, अर्थात् प्रवृत्तिनिमित्त में कालसंबंध नहीं है; अथवा यह कि २) नियोग चीज़ ही ऐसी है कि उसका काल से संबंध नहीं होता।

यदि प्रथम तात्पर्य अभिप्रेत है तब तो घटादि में अतिव्याप्ति है क्योंकि घटशब्द भी घटार्थमात्र का वाचक है, उसके किसी काल से सम्बंध का वाचक नहीं। यदि घटपद ही उसकी कालसम्बद्धता कह दे तो 'घड़ा है' या 'था' या 'होगा' यों पदान्तर व्यर्थ होंगे। ऐसा भी नहीं कि सामान्यतः कालसंबंध तो घटशब्द ही कह दे और 'है' आदि कालविशेष का संबंध बतायें; क्योंकि जब एक शब्द एक अर्थ का वाचक स्वीकारा जाता है और पृथुबुध्नोदराकार आदि अर्थ घट-शब्द का अनिवार्य है तब उसका एक अन्य अर्थ 'कालसम्बन्ध' भी मानना ग़लत है। किं च यदि सभी वाचक कालसंबंध कहें तब तो शशशृंगादिशब्द भी वाच्य का कालसंबंध कहने लगेंगे। इन शब्दों का वाच्य है ही नहीं ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि विकल्पवृत्ति योगियों को भी मान्य है एवं कौमारिल भी शब्द से असदाकार ज्ञान मान लेता है। यह भी नहीं कह सकते कि जैसे आकृति और व्यक्ति दोनों वाच्य हैं फिर भी अनेकार्थता नहीं है ऐसे कालसंबंध भी वाच्य हो जाये; क्योंकि सिद्धांत में वाच्य तो आकृति ही है, व्यक्ति तो लक्ष्य होता है। स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या, कारक – इन्हे ही अन्यों ने भी प्रातिपदिकार्थ संभावित किया है, कालसंबंध को नहीं। इसलिये शब्दतः कालसंबंधराहित्य लक्षण घटादि में अतिव्याप्त है।

यदि द्वितीय तात्पर्य से अभिप्राय हो तब हमारे लिये बहुत अच्छा है क्योंकि काल से अतिरिक्त ऐसी जड वस्तु जिसका काल से कोई सम्बंध नहीं होता, अत्यन्त असत् ही मानी जाती है! अतः तब नियोग भी खपुष्पतुल्य होगा। यह कहना अनुचित है कि 'काल से अतिरिक्त' की तरह 'नियोग से अतिरिक्त' भी जोड़ लेना चाहिये; क्योंकि नियोग ही अभी सिद्ध कहाँ हुआ है कि उसका निवेश हो सके ॥६२४॥

अंतिम पक्ष था – अतीन्द्रिय वस्तुविशेष नियोग है। अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष व तन्मूलक प्रमाणों की अविषयता है तथा प्रामाणिक वस्तु है क्योंकि शब्दगम्य है यह अभिप्राय है। इसका भी खण्डन करते हैं :

नियोज्य का व्यापार होते हुए भी नियोग अतीन्द्रिय कैसे होगा? अतः नियोग से अन्य ही लिङादिका अर्थ मानना पड़ेगा। किं च नियोग की उत्पत्ति कैसे होगी? ॥६२५॥

अतीन्द्रियता के खण्डन में यह अनुमान विवक्षित है : नियोग अतीन्द्रिय नहीं है क्योंकि पुरुषव्यापार है, जो पुरुष-व्यापार होता है वह इन्द्रियातीत नहीं होता जैसे चलना, हवि गिराना आदि। यद्यपि वादी साक्षात् कृतिसाध्य से अथवा

सिद्धिर्विषयसिद्धौ चेन्नैवं स्यात्कर्मणा न हि। आप्त्युत्पत्त्यादिकं शक्यमनारोप्यस्वभावतः ॥६२६॥
कार्यं स्वेनाऽऽत्मना सिद्धं पुमर्थं साधयेद्यदि। सर्वदा तस्य तादृक्त्वात्पुमर्थः सर्वदा भवेत् ॥६२७॥
पुंव्यापारप्रसिद्ध्याऽथ सिद्धं स्वार्थकरं मतम्। तस्यानाधेयरूपत्वान्न कदाचित्फलं भवेत् ॥६२८॥

क्रिया से अतिरिक्त होने के कारण नियोग की अतीन्द्रियता सुरक्षित रखने का प्रयास कर सकता है तथापि क्योंकि पूर्व में ही यह कह चुके हैं कि पुरुषव्यापार से अन्य कोई स्वरूप नियोग का नहीं इसलिये उसका वह प्रयास निष्फल होगा ऐसा कल्पलता का अभिप्राय है। वैसे प्राभाकर नियोग को कृतिसाध्य मानता ही है 'कार्यं च कृतिसाध्यं, कृतिश्च पुंसां प्रयत्न एव' ऐसा शालिकवचन (प्र०पं०पृ० ४४०) है। इस प्रकार नियोग का स्वरूप असिद्ध किया।

'किं च' आदि से अब यह विचार करते हैं कि नियोग की सिद्धि अर्थात् उत्पत्ति भी संभव नहीं, नियोग का साधक कोई नहीं है ॥६२५॥

यागादि को नियोगसाधक नहीं मान सकते यह स्पष्ट करते हैं :

विषय अर्थात् धात्वर्थ सम्पन्न हो जाने पर नियोग की उत्पत्ति क्यों न हो ? नहीं हो सकती क्योंकि कर्म से (= क्रिया से) नियोग की प्राप्ति, उत्पत्ति आदि होना संभव नहीं, कारण कि नियोग माना ही ऐसा जाता है जिस पर किसी अतिशय का आधान नहीं होता ॥६२६॥

क्रिया तो उत्पत्ति, प्राप्ति, संस्कार या विकार ही कर सकती है। नियोग को नित्य साध्यरूप मानने से प्राभाकर उस पर कोई अतिशय हो सकता है ऐसा नहीं स्वीकारते। अतः यागक्रिया से नियोग सिद्ध नहीं हो सकता। नियोगवादी का अभिप्राय है कि एक वाक्य में एक ही नियोग वाच्य होता है। वेद नित्य है। यदि नियोग उत्पत्त्यादि वाला हो तो जिस किसी देवदत्तादिने जब उसे उत्पन्न कर दिया तब बाद में होने वाले यज्ञदत्तादि उसे कैसे उत्पन्न कर सकेंगे? उत्पादित हो चुके घट को तो पुनः उत्पन्न किया नहीं जा सकता। घटान्तर की तरह नियोगान्तर मान नहीं सकते अन्यथा आनन्त्य व्यभिचार रूप दोषों से उसे वाच्य मानना असंभव हो जायेगा। जबकि प्राभाकर मानता उसे लिङादि का वाच्य ही है यह प्रकरणपंचिका (पृ० ४३०) आदि में स्पष्ट है। अतः उन्हे मानना पड़ेगा कि नियोग उत्पत्त्यादि विकारों से रहित है। यद्यपि घटपद भी घटत्ववाचक होने से 'घट बनाओ' में भी यही समस्या है तथापि यहाँ लक्षणा से घटपद व्यक्तिबोधक हो सकता है किन्तु 'न विधौ परः शब्दार्थः' न्यायवशात् विधि में लक्षणा मानना संभव नहीं। किं च लक्ष्यमाण घटव्यक्ति तो प्रत्यक्षसिद्ध है, ऐसे कार्य तो शब्देतरप्रमाणका विषय है नहीं अतः कार्यविशेष की लक्षणा संभव भी नहीं क्योंकि कार्यविशेष के सद्भाव में प्रमाण ही नहीं। मानांतर तो वादी भी नहीं मानता और शब्द से तो निर्विकार नियोग प्रमित होता है अतः विकारी नियोग में कोई प्रमाण न होने से घटतुल्य व्यवस्था असंभव है ॥६२६॥

नियोग का कोई साधक नहीं इतनी ही समस्या नहीं है, यह भी दिक्कत है कि नियोग को स्वर्गादि का साधक भी मान नहीं सकते :

स्वरूपतः विद्यमान कार्य यदि स्वर्गादि को सिद्ध करे (= दिला दे), तो पुरुषार्थरूप स्वर्गादि हमेशा होने चाहिये क्योंकि स्वरूपतः तो कार्य हमेशा है ही ॥६२७॥ यह कह नहीं सकते कि पुरुषव्यापार से सत्ता पाने पर ही कार्य फलप्रद होता है क्योंकि बता चुके हैं कि वह बदलने वाली वस्तु तो है नहीं कि पुरुषव्यापार से उसमें कोई विशेषता आ जाये। अतः इस प्रक्रिया में फललाभ असंभव है ॥६२८॥

श्लोक ५३७ में नियोग को स्वर्गादि का साधक बताया था। उस पर कथन है कि स्वरूपतः तुम नियोग को नित्य मानते हो अतः फल हमेशा होते रहना चाहिये और विषयजन्य अतिशय का निरास पूर्व श्लोक में हो चुका है अतः उसके सहारे फल की आशा संभव नहीं। शालिकनाथ ने (प्र०पं०पृ० ४४४) कहा है कि सहकारी की कमी से नियोग तुरंत फल नहीं देता अर्थात् नियोग से अन्य जो स्वर्ग की सामग्री है उसका अभाव फलाभाव में हेतु है; इस प्रकार फल की सनातनता

की आपत्ति का यदि परिहार किया जाये; अर्थात् घट की कादाचित्कता से यह तो नहीं सिद्ध होता कि सनातन मिट्टी उसका कारण नहीं है!; तो इसका उत्तर आनंदगिरि स्वामी ने दिया है : जब नियोग अपने लिये नियोज्य चाहकर फलप्राप्ति करा सकता है तो ज़रूर उसे फलसामग्री बटोरने में भी समर्थ मानना पड़ेगा, अन्यथा सामग्री कभी भी एकत्र न हो यह भी संभव होने से कभी भी फल नहीं मिल सकेगा! यदि सामग्री एकत्र होने में कारणान्तर मानने हों तब तो नियोग व्यर्थ होगा।

पूर्वत्र यद्यपि वादी ने नियोग में केवल फलानुकूलता मानकर इस समस्या से बचने की कोशिश की थी तथापि वैसा मानने पर याग को ही पर्याप्त फलहेतु मान लेना पड़ेगा, नियोग की ज़रूरत क्या? फल तक रहने वाला कुछ होना चाहिये इतना ही कहा जा सकता है और वह मतान्तर में भी मान्य है; जैसा नियोगवादी कह रहा है वह हर हालत में व्यर्थ हो जाता है।

पंचिकाकार ने (पृ० ४५२) बताया है कि कृति से निर्वर्त्य रूप से कार्य की प्रतीति होती है क्योंकि लिङादि प्रधानरूप से कार्य का अभिधान करते हुए उसके गुणरूप से कृतिका भी अभिधान करते हैं; प्रधान वाच्य एक होने से अनेकार्थता नहीं है। कृति अवश्य ही भावार्थ से (क्रिया से) सम्बद्ध होती है। अतः कृति और कार्य के संबंध में भावार्थ का बहिष्कार असंभव है। फलतः 'प्रयत्नाऽविनाभावी भावार्थः प्रयत्नाऽभिनिर्वर्त्यम् अपूर्वमवच्छिनत्ति; अवच्छेदकतयैव विषयभाव:' अर्थात् अपूर्व का अवच्छेदक बनना ही उसका विषय बनना है। तथा 'यो हि यया कृत्याऽन्यार्थप्रवृत्तया विषयी क्रियते स एव तत्र करणम्' यह न्याय है; जैसे उद्यमन-निपातन काटने के लिये कुल्हाड़ी को विषय करते हैं तो कुल्हाड़ी ही करण होती है; अतः पुरुषप्रयत्नरूप कृति अपूर्व के प्रयोजन से जिस भावार्थ को विषय करती है वही करण भी बन जाता है। इस प्रकार सिद्धांत है 'यदेव विषयीभूतं तदेव कारणं, नान्यत्' (पृ० ४५४)। अतः नियोगवादी कह सकता है कि भले ही नियोग नित्य रहे फिर भी अवच्छेदक न होने से वह फल नहीं देता जैसे नित्य होने पर भी आकाश में पानी तभी भर सकते हैं जब घटरूप अवच्छेदक हो। अर्थात् 'पुंव्यापारप्रसिद्ध्या' का मतलब है पुंव्यापार से अवच्छिन्नता पाकर।

किन्तु यह सूक्ष्मेक्षिका भी नियोगवादी का हित नहीं साधती। धात्वर्थ से कार्य का अवच्छेद होना किसे कहते हैं? संयोगादि तो संभव नहीं। एककालता भी यहाँ अवच्छेद नहीं क्योंकि तब क्रियासमाप्ति के बाद नियोग अनवच्छिन्न ही बना रहेगा, फलोत्पादक नहीं हो पायेगा। धात्वर्थ शरीर में रहेगा, धात्वर्थध्वंस भी शरीर में ही रहेगा, अतः क्रिया या उसके ध्वंस से निरूपित होना यदि अवच्छेद मानो तो यह निरूपण संभव नहीं क्योंकि निरूपण भी सम्बन्धसापेक्ष होता है जबकि नियोग का इनसे सम्बंध है नहीं। वादी ने 'स्वनिर्वर्तकव्याप्यता' सम्बंध माना था अर्थात् कार्य के निर्वर्तक प्रयत्न से क्रिया व्याप्य रहती है यही कार्य और क्रिया का सम्बंध है; किन्तु निर्वर्तकता से क्या विवक्षित है? नित्य नियोग के प्रति कृति की निर्वर्तकता अवच्छेदप्रयोजकत्व ही हो सकता है। अतः निर्वर्तकसापेक्ष अवच्छेदकता होने पर अन्योन्याश्रय होगा जिससे उक्त सम्बंध अनुपयोगी है। पुंव्यापारध्वंस से उपलक्षित होने को अवच्छेद कहो तो क्योंकि उपलक्षितत्व वास्तविक नहीं हुआ करता इसलिये तुम्हे अवास्तविक को फलोपकारी मानना पड़ेगा जो तुम जगत्सत्यतावादी के यहाँ अमान्य है। किं च उपलक्षण भी सम्बंध से ही होता है, अन्य नहीं तो भी ज्ञानाश्रित सम्बंध तो चाहिये ही अर्थात् घर और कौवे का कोई न कोई सम्बंध हुए विना कौवे से घर उपलक्षित नहीं होता, अन्य सम्बंध न होने पर भी यदि घरज्ञान और कौवाज्ञान सम्बद्ध हैं तो भी कौवा घर का उपलक्षण हो सकता है। किन्तु नियोग से तो क्रियादि का कैसा भी सम्बंध नहीं है। यदि 'मैंने नियोग संपन्न कर लिया' ऐसा कर्तृज्ञान सम्बंध मानो तो वह सम्बंध भी प्रामाणिक नहीं क्योंकि तुम ही कहते हो कि याग पुरुष में संस्कार का कारण बनता है इसमें कोई प्रमाण नहीं (प्र०पं०पृ० ४३९) जबकि यदि ज्ञान मानोगे तो संस्कार मना नहीं कर पाओगे। अतः धात्वर्थ में अवच्छेदकता और करणता दोनों ही असंभव होने से पुंव्यापारप्रसिद्धि के सहारे भी फलप्रदता की आशा नहीं ॥६२७-६२८॥

और भी कारण है कि नियोग में किसी विशेषता का आना संभव नहीं :

संभाव्यमानसिद्धेर्हि यागादेः कार्यता मता। व्योमतत्पुष्पयोर्न स्यात्सिद्धात्यन्ताप्रसिद्धयोः ॥६२९॥
कर्तव्यो याग इत्येवं यागाद्भिन्ना यथेक्ष्यते। कर्तव्यं कार्यमित्येवं ततोऽपि व्यतिरिच्यते ॥६३०॥
कार्यकर्तव्यता कार्येत्येवमेवातिरिच्यते। तस्मान्न वस्तुधर्मोऽयं शब्दादेव प्रकर्षतः ॥६३१॥
अतो यदेव साध्यार्थसाधनत्वेन गम्यते। वेदात्तदेव साध्यत्वात्कार्यं नान्यत्ततः पृथक् ॥६३२॥

जिसकी उत्पत्ति संभव हो ऐसे यागादि को ही कार्य माना जाता है। जो हमेशा सिद्ध है जैसे आकाश और जो अत्यन्त अप्रसिद्ध है जैसे खपुष्प, उन दोनों को ही कार्य नहीं माना जाता ॥६२९॥

कार्य त्रिकालावस्थायी है अतः उसे कार्य कहना ही नहीं बनता। कृतिसापेक्ष को ही कार्य कह सकते हैं। श्लोक ६२४ में कहे ढंग से नियोग खपुष्पसम होने से भी कार्य नहीं है। कल्पलता में स्पष्ट किया है कि प्रागभावप्रतियोगी ही कार्य होता है।

इस प्रकार सिद्धि अर्थात् उत्पत्ति और उससे उपलक्षित सभी अतिशयों के आधान के अयोग्य होने से भी कार्य को अनारोप्यस्वभाव अर्थात् अनाधेयरूप मानना ज़रूरी है यह सिद्ध हुआ ॥६२९॥

वादी कहता है कि यागादि चाहे उत्पाद्यादि हों फिर भी उनका स्वरूप कार्यता हो यह संभव नहीं क्योंकि यागादि धात्वर्थ और कार्यता का पृथक्-पृथक् अनुभव होता है – याग कर्तव्य है, अपादान (= पृथक्करण) कर्तव्य है, दान कर्तव्य है इत्यादि में स्पष्ट ही धात्वर्थ और कार्यता का विविक्त अनुभव है। इसलिये कार्यता को धात्वर्थेतर नियोग का ही स्वरूप मानना उचित है। इसका जवाब है :

'याग कर्तव्य है' यहाँ जैसे याग से भिन्न कार्यता अनुभव में आती है वैसे ही 'कार्य कर्तव्य है' – यहाँ कार्य से भी उसका भेद अनुभूयमान है ही ॥६३०॥ इसी तरह कार्य की कर्तव्यता भी कार्य होगी; इस प्रकार बढ़ोतरी होकर अनवस्था होगी। इसलिये कार्यता को वस्तु का स्वभाव या धर्म नहीं कह सकते, केवल कहने को ही यह वस्तु से अलग है ॥६३१॥

वादी को मान्य है कि कार्य भी कार्य अर्थात् कृतिविषय या 'करने योग्य' होता है अतः 'कार्य कर्तव्य है' इस बुद्धि का वह अपलाप नहीं कर सकता। वह यह कह सकता है कि कार्य का स्वरूप भले ही कार्यता न हो – क्योंकि स्वरूप हो तो 'कार्य कर्तव्य है' में पुनरुक्ति होगी – फिर भी कार्य का धर्म तो हो सकती है। ऐसे वह क्रिया का धर्म नहीं क्योंकि क्रिया तो क्लेशात्मक है। क्रिया में कार्यताप्रतीति तो इसीलिये हो जाती है क्रियासाध्य नियोग में कार्यता है। अतः वादी से पूछना पड़ता है कि नियोगधर्मभूत कार्यता को कार्य मानते हो या नहीं? यदि मानो तब पुनः यही प्रश्नोत्तर चलते रहेंगे, अनवस्था होगी। यदि कहो कि कार्यता कार्य नहीं है, तब तो जैसे 'सुरापान कार्य नहीं है' ऐसे ही कार्यता भी होगी! फिर उसे कौन धार्मिक व्यक्ति संपन्न करेगा? इसलिये कार्यता को नियोग का धर्म मानना भी अनुचित है।

फिर भी व्यवहार होता ही है अतः इसे काल्पनिक ही मानना पड़ेगा। याग से अतिरिक्त 'कार्य'-नामक किसी वस्तु का लक्षण-प्रमाण तो है नहीं लेकिन व्यवहार होता है 'याग कार्य है' आदि अतः कार्य को 'वाचारंभण' होने से मिथ्या ही मानना उचित है।

विद्यासागरी के अनुसार 'शब्दादेव प्रकर्षतः' का अर्थ है कि कार्य की खासियत यही है कि उसे शब्द से कहा जा सकता है जैसे शशशृंग, गगनकुसुम आदि ॥६३०-६३१॥

अतः वेद से जो साध्य अर्थ के साधनरूप से समझा जाता है वही यत्नसाध्य होने से 'कार्य' है, उससे अन्य कुछ नहीं ॥६३२॥

लिङादिः प्रेरणावाची कुतः कार्यमितीर्यताम्। विषयत्वेन नाऽऽक्षेपो भावार्थो विषयो मतः ॥६३३॥

स्वर्गकामादि वाक्यों से पता तो चलता है 'कुछ करना चाहिये' अतः कार्य पदार्थ तो मान्य है किन्तु क्योंकि 'याग करना चाहिये' आदि ही पता चलता है अतः यागादि ही कार्य हैं यही स्वीकार्य है। 'साध्य अर्थ' का मतलब है प्राप्य फल। यागादि ही अपने और फल के मध्यवर्ती अपूर्व द्वारा फलप्रद हो जाता है, पारिभाषिक नियोग की कोई संभावना नहीं। अपूर्व का भी विशेष विचार करते हैं तो वह ईश्वरातिरिक्त कुछ नहीं है यह स्वयं ग्रंथकार कहेंगे (३.८.श्लो० १५१)।

श्लोक में 'ततः नान्यत् पृथक्' यों अन्य एवं पृथक् दो शब्दों का प्रयोग देखकर कल्पलताकार ने बताया है कि वार्तिककार कह रहे हैं कि न तो नियोग में यागादिका अन्योन्याभाव रहता है और न ही उसमें पृथक्त्व गुण रहता है जो उसे यागादि से अलग बनाये रखे। शास्त्रप्रकाशिका में अभिप्राय कहा है कि नियोग को यागादिका स्वरूप मानें तो भी उसका निर्वचन संभव नहीं और अलग मानें तो भी संभव नहीं।

इस प्रकार नियोगवादानुसार नामपदों का अन्वय संभव नहीं, कार्यपद का वाच्य निरूपित नहीं हो पाता, नियोग न संभव है, न उसमें प्रमाण है, न उसका लक्षण बन पाता है, न वह याग से संपन्न हो सकता है और न फल दे सकता है – यह सिद्ध कर दिया ॥६३२॥

वेद जब लिङादि का प्रयोग कर रहा है तो उनके अर्थभूत नियोग का युक्ति से खण्डन कैसे होगा? वह यागादि को ही विषय करने वाला है यह कहना अनुचित है क्योंकि यागादि तो 'यजेत' आदि में यज – इस प्रकृति भाग से ही कह दिये जाते हैं, वे पुनः प्रत्यय के भी अर्थ क्यों होने लगे? इस प्रश्न पर भाट्टमत का उत्तर उपस्थित करते हैं :

लिङादि का वाच्य है प्रेरणा, नियोग को कैसे उनसे गम्य कहते हो? प्रेरणा के विषयरूप से भी नियोग को आवश्यक नहीं कह सकते क्योंकि प्रेरणा का विषय धात्वर्थ माना जाता है ॥६३३॥

'प्रेरणा' से शाब्दी भावना विवक्षित है, आगे इसका खण्डन करना है। भट्टानुयायी मानते हैं कि शब्द का एक व्यापार – विशेष है जिसे वे 'शाब्दी भावना' नाम देते हैं तथा उसमें आर्थीभावना अर्थात् पुरुषप्रवृत्ति भाव्य रहती है, लिङादि का ज्ञान ही करण बनता है और अर्थवाद प्रतिपाद्य प्राशस्त्य का ज्ञान इतिकर्तव्यता होती है। यह व्यापार अलौकिक ही है ऐसा कुछ भाट्ट मानते हैं जैसे न्यायसुधाकार। कमलाकर भट्ट ने मीमांसाकुतूहल में भी अलौकिक ही माना है। पार्थसारथि आदि अन्य भाट्ट लौकिक मान्य व्यापारों से काम निकालने के पक्ष में हैं। भावना के बारे में श्रीगीतागूढार्थदीपिका में (१८.१८) पर्याप्त ख़ुलासा है। प्रवर्तना, प्रेरणा, विधि, शाब्दभावना आदि को कुमारिलमत में पर्याय समझ सकते हैं। पुरुषप्रवृत्ति के अनुकूल जो व्यापार हो वही प्रवर्तना है। वैदिक लिङ् से पुरुषप्रवृत्ति होती है अतः लिङ् का कोई व्यापार मानना पड़ता है। लिङ् का शक्य प्रवर्तना है तथा लिङ् प्रवृत्ति के प्रति भी हेतु है। लिङ् अपना ज्ञान कराकर ही प्रवर्तना का ज्ञान करा सकता है और तदनंतर ही प्रवृत्ति में हेतु बन सकता है। प्रवृत्ति वह तभी करा सकता है जब यह जानकारी हो कि लिङ् प्रवृत्तिवाचक शक्ति वाला है इसमें प्रवृत्ति का कथन करने की सामर्थ्य है। इस जानकारी के हेतुभूत व्यापार तीन होते हैं – लिङ्ज्ञान (लिङ् को कान से सुनना), शक्तिज्ञान (यह स्मरणरूप होगा, अर्थात् शक्ति याद आयेगी), और शक्तिविशिष्ट लिङ् का ज्ञान (अर्थात् प्रवृत्ति का ज्ञान कराने की शक्ति लिङ् में है – यह ज्ञान)। इनमें प्रथम या द्वितीय का नाम शाब्दीभावना है। जो कहा था कि इस भावना का करण है स्वज्ञान, वह तीसरे व्यापार को कहा था अर्थात् शक्तिविशिष्ट लिङ्ज्ञान करण है। इस प्रकार क्लृप्त व्यापारों से ही काम चल जाता है। सर्वज्ञगुरु ने सरल शब्दों में कहा है 'लिङ्लोडादेः पुंप्रवृत्त्यंशनिष्ठो व्यापारो यस्तं विदुर्भावनेति' (१.३८८) अर्थात् लिङादि का पर्यवसान होता है पुरुषप्रवृत्तिमें, इसके लिये लिङादिका जो व्यापार है वही शाब्दभावना है। यह व्यापार चाहे लिङ् का श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष मान लिया जाये और या लिङ् की प्रेरणा में शक्ति का स्मरण मान लिया जाये, यह गूढार्थदीपिका में स्पष्ट किया है।

प्रेरणाऽपीह नैव स्यादज्ञातज्ञापनात्पृथक्। समस्तकार्यदोषोक्तिप्रसङ्गान्मित्यभावतः ॥६३४॥
न स्वरूपं लिङादीनां प्रेरणाज्ञापकत्वतः। अन्योन्यरूपभेदेऽपि प्रेरणानुगमात्तथा ॥६३५॥
शक्तेरनभिधेयत्वात्तद्व्यापारोऽपि नेष्यते। प्रेरकाभावतो वेदे तद्व्यापारोऽपि नेरणा ॥६३६॥

इसी भावना के अभिप्राय से यहाँ वादारंभ है। प्रेरणा का कोई विषय होता है, 'अमुक काम में प्रेरित किया जा रहा हूँ' ऐसा अनुभव होता है अतः भावना का विषय ही नियोग हो जाये? इसका उत्तर दिया कि यह तो धात्वर्थ यागादि से ही गतार्थ है क्योंकि यागादि में ही प्रेरित किया जा रहा है। अतः नियोग को कोई स्थान नहीं ॥६३३॥

अब इस मत को सदोष बतायेंगे। सिद्धांती तो इष्टोपायता को ही लिङादि का अर्थ मानता है अतः प्रेरणा को लिङादि का शक्य नहीं स्वीकार सकता। प्रश्न होता है कि प्रेरणा क्या अज्ञातज्ञापन को ही कहते हैं या और ही किसी को? यदि अन्य ही कुछ है तब तो पूर्वोक्त दोष ही होंगे

अज्ञातज्ञापन से अन्य ही कुछ प्रेरणा है यह यहाँ नहीं मान सकते क्योंकि कार्य के बारे में बताये सभी दोष ऐसी प्रेरणा पर भी लगेंगे। किं च ऐसी प्रेरणा में कोई प्रमाण भी नहीं है ॥६३४॥

'यहाँ' अर्थात् लिङादि में। अज्ञातज्ञापन से अन्य जैसे नियोग मानना दोषग्रस्त है ऐसे ही प्रेरणा भी हो जायेगी। श्लोक ६२१ अदि से जो कार्य पर दोष दिये थे वे प्रेरणा पर भी दिये जा सकते हैं। जो पूर्वोक्त ढंग से व्यापारत्रय में से द्विविध व्यापारों में अन्यतम की प्रेरणारूपता संभावित की थी वह भी प्रेरणा में प्रमाण नहीं। अज्ञात - ज्ञापनरूप क्लृप्त फल से उपपत्ति होते चेतनधर्मतया प्रसिद्ध प्रेरणा को शब्द में मानना अप्रामाणिक है ॥६३४॥

अज्ञातज्ञापन से अन्य जो यह प्रेरणा है वह क्या लिङादि का स्वरूप है, या उनकी कोई शक्ति है, या कोई ख़ास व्यापार है? स्वरूपपक्ष का खण्डन करते हैं -

लिङादि का स्वरूप प्रेरणा को नहीं मान सकते क्योंकि तुम उन्हे प्रेरणा का वाचक मानते हो (और वाच्य से वाचक अलग होता ही है)। किं च लिङादि तो परस्पर विभिन्न रूपों वाले मिलते हैं जबकि प्रेरणा का रूप सर्वत्र एक ही है अतः स्वरूपपक्ष अनुचित है ॥६३५॥

प्रेरणा को वाच्य मानकर फिर उसे वाचक लिङादि का स्वरूप नहीं कह सकते जैसे घटपदार्थ को घटपदस्वरूप नहीं कह सकते। यदि कहीं वाच्य - वाचक एक हो सकें तो भी लिङादि स्थल में वह मान्य नहीं क्योंकि तब प्रश्न होगा कि लिङ् लोट्, लेट्, तव्यदादि बहुतेरे शब्द हैं जो प्रेरणावाचक तुम्हे मान्य हैं, उनमें किसका स्वरूप इसे मानोगे? सबका तो मान नहीं सकते क्योंकि इनके शब्दस्वरूप तो सर्वथा विभिन्न प्रकार के हैं ॥६३५॥

लिङादिकी शक्ति को या व्यापार को प्रेरणा कहो तो भी ठीक नहीं -

शक्ति वाच्य नहीं होती (अतः वाच्य मानते हुए उसे शक्ति नहीं कह सकते) तथा प्रेरणा को लिङादि का व्यापार भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि कोई प्रेरक नहीं है इसलिये प्रेरक का व्यापाररूप प्रेरणा वेदस्थल में अस्वीकार्य है ॥६३६॥

यहाँ 'शक्ति' का मतलब शक्यबोधक सामर्थ्य नहीं है बल्कि प्रसिद्ध अर्थ, ताकत, बल आदि विवक्षित है। वादी मान सकता है कि जैसे आग में जलाने की शक्ति होती है ऐसे ही लिङादि में एक बल है जिसे प्रेरणा कहते हैं। किन्तु ऐसा मानने पर आपत्ति यह आयेगी कि जैसे 'आग' शब्द का अर्थ पदार्थगत शक्ति नहीं होता, पदार्थ ही होता है, ऐसे ही प्रेरणा भी लिङादि का वाच्य नहीं रह जायेगी। तात्पर्य है कि हर बार विधि की जाती है तो क्या शक्ति सुनी जाती है या शक्तिमान्? यदि शक्ति सुनें तब तो वह एक ही होने से कोई एक विधि मान लेने से सभी विधियाँ मानी जा चुकी हैं ऐसा कहना पड़ेगा! एक समय अग्निहोत्र कर लिया तो सकल नित्यनैमित्तिक काम्य विधियाँ गतार्थ हो जायेंगी! और यदि

शक्तिमान् को लिङ्वाच्य कहोगे तो क्या शक्ति – शक्तिमान् का अभेद है या भेद? – यह प्रश्न उठेगा। अभेद हो तब तो वाच्य – वाचकता संभव नहीं यह स्वरूपपक्ष का दोष आ जाता है। भेद मानने पर भी वाच्यता नहीं आयेगी। घटशब्द घटपदार्थ को विषय करे इसमें प्रयोजक है घटत्व तो वह घटत्व घटशब्द का वाच्य नहीं होता, अन्यथा 'घटत्व' में पुनरुक्ति होगी। ऐसे ही प्रेरणारूप प्रयोजक यदि लिङ् शब्द में है तो भी वह लिङ्वाच्य नहीं हो सकता। यद्यपि सिद्धांती भी आकृति को वाच्य मानता है तथापि उसे त्व-आदि स्वार्थ में मानने से कोई परहेज़ नहीं। जैसे तेलशब्द यद्यपि तिलविकार का वाचक है तथापि प्रचुर प्रयोग सरसों, मूंगफली, नारियल आदि में भी होता है अतएव 'तिलका तेल' ऐसा प्रयोग उचित हो जाता है, उसी प्रकार क्योंकि घटपद प्रचुरतः व्यक्ति में प्रयुक्त होता है इसलिये घट के वाच्य को कहने के लिये भी उसे त्व – आदि की सहायता लेनी पड़ जाती है। किन्तु इसी तरह लिङ् का वाच्य शक्ति है और सर्वत्र लक्षणा से लिङर्थ का बोध होता है यह वादी को मान्य नहीं क्योंकि विधि में लक्षणा उसे अस्वीकार है। अतः लिङादिशब्दगत बलविशेष को प्रेरणा कहना असंगत है।

यदि प्रेरणा को व्यापार कहो तो भी वह किसका व्यापार है – लिङादि का, या किसी प्रेरणाकर्ता का? यदि लिङादिका हो तो वह स्पंदरूप (क्रियारूप) है या यत्नरूप (यत्नको भाट्ट भी नैयायिक की तरह आत्मगुण मानते हैं)? यत्नरूप तो वह हो नहीं सकता क्योंकि लिङ् कोई चेतन वस्तु नहीं है। और न ही वह स्पंदरूप मान सकते हो क्योंकि शब्द को तुम विभु मानते हो 'वर्णात्मकास्तु ये शब्दा नित्याः सर्वगताश्च ये' इत्यादि तुम्हारे ही आचार्य कह गये हैं। स्वरूपतः विभु न मानो तो भी विभुत्वगुण वाला मानोगे ही, शब्द को द्रव्य मानने से तुम उसमें गुण मानते ही हो; संख्या, परिमाण और संयोग – ये तीन गुण तुम्हे वर्णात्मक शब्द में इष्ट हैं; परिमाण तुम्हे महत् ही मानना होगा, तभी सर्वगतता संभव होगी। अतः विभु वस्तु में स्पंदरूप व्यापार कैसे होगा? किं च व्याकरणाधिकरण में तंत्रवार्तिककार ने कहा है 'नित्यत्वाद् मूर्त्यभावाच्च' (पृ० २०७ आ०आ०) अतः तुम वर्ण को अमूर्त भी मानते हो; स्पंद तो मूर्त में ही होता है, अमूर्त में कैसे होगा? 'मीमांसाशास्त्रकुतूहलम्' में (पृ० २५) कमलाकर भट्ट ने बताया है कि कुछ विचारक प्रेरणा को शक्तिरूप मानते हैं, कुछ लोग इष्टसाधनता को तथा कुछ लोग उसे पदार्थान्तर मानते हैं। उन्होंने शक्तिपक्ष में दोष दिया है 'शक्तेः सिद्धरूपत्वेन अव्यापारत्वात्', अर्थात् शक्ति में व्यापारलक्षण नहीं घटता। इष्टसाधन पक्ष भी इसीलिये उन्हे अमान्य है, 'तस्यापि भावकव्यापारत्वाभावेन भावनात्वाऽयोगात्।' अतः पदार्थान्तरपक्ष में भी वही दोष प्रकृत में शास्त्रप्रकाशिकाकार ने दिखाया है कि लिङ्जन्य होते हुए लिङ्जन्यका जनक ऐसा कोई स्पंद और यत्न से अतिरिक्त व्यापार भी दिखाया नहीं जा सकता।

यह जो भाट्टों ने प्रक्रिया रच रखी है कि स्वज्ञान, शक्तिज्ञान तथा शक्तिविशिष्टस्वज्ञान ये तीन व्यापार हैं जिनसे लिङ् कारगर हो जाता है और इनमें प्रथम या द्वितीय को भावना समझना चाहिये; वह भी असंगत है। भाट्ट मानता है कि पुरुषप्रोक्त लिङ् का भावनारूप व्यापार नहीं होता, वहाँ पुरुष ही प्रेरक होता है; केवल वैदिक लिङ् का यह व्यापार होता है। इस अर्धजरतीय को कौन सहन करेगा! संक्षेप शारीरक में (१.३९६-९७) यही स्पष्ट किया है। यदि कथंचित् लौकिक में भी भावना मान्य हो तो भी स्वज्ञान या शक्तिज्ञान में लिङ् की जनकता का अवधारण कैसे होगा? नित्य और विभु लिङ् को अधिकाधिक आकाश की तरह साधारण कारण भले ही कह लो, उसे असाधारण कैसे बताओगे? किं च शक्तिज्ञान में हेतु तुम्ही मानते हो व्यवहार को। तब शक्तिसंस्कार वाला पुरुष प्रथमतः ही विशिष्टज्ञान क्यों नहीं कर लेगा? अतः प्रथम दोनों व्यापार ही मानना व्यर्थ है। और तृतीय व्यापार को शक्ति कहो तो करण किसे बताओगे? पुनश्च – व्यापार को करण की आकांक्षा मानते हो, यह भी बेतुका है। करण व्यापारवान् होता है। यदि व्यापार भी करण की आकांक्षा करे तो उस करण में पुनः व्यापार चाहिये, इस प्रकार अनवस्था होगी। अतः वह कल्पना भी भावना को समझाने में पर्याप्त नहीं। प्रकरणपंचिका में (पृ० ४२०) शालिकनाथ ने भी 'लिङादेस्तादृशो व्यापारो विद्यत इत्यत्र न किञ्चन प्रमाणम्' आदि से भावना की व्यापाररूपता का अनेक तरह निरास किया है।

अतः समीहितोपायतया वस्त्ववबोधयन्। अबुद्धं प्रेरको वेदो ज्ञापना प्रेरणा मता ॥६३७॥
तथा च वस्तुयाथात्म्यज्ञापनेन प्रमाणता। न प्रेरकतया सा स्यात्प्रत्यक्षादेरनीक्षणात् ॥६३८॥
निष्पादितनियोगस्य वेदप्रामाण्यतो यथा। नियमेन फलं तद्वत्साधनानुष्ठितेर्भवेत् ॥६३९॥

लिङादि का न सही, प्रेरणाकर्ता का ही व्यापार हो – यह भी नहीं बनता। वेद को अपौरुषेय मानते हो अतः कोई प्रेरणाकर्ता वहाँ है ही नहीं। वेद स्वयं प्रेरणा करे, यह भी संभव नहीं क्योंकि स्पंदादिरूप व्यापार अयुक्त कह चुके हैं तथा चेतन तुम वेद को मानते नहीं। इस प्रकार प्रेरणा को व्यापार मानने की आशा छुड़ा दी गयी है ॥६३६॥

श्लोक ६३४ में विकल्प था कि प्रेरणा को अज्ञातज्ञापनरूप मान लो। वादी यदि वही स्वीकारकर वेद को प्रेरक कहना चाहे तो सिद्धान्ती को स्वीकार ही है :

इसलिये इष्टोपायरूप से अज्ञात वस्तु को इष्टोपायरूप से बताते हुए वेद प्रेरक बनता है क्योंकि ज्ञापन को ही प्रेरणा माना गया है ॥६३७॥

तात्पर्य है कि वेद की प्रेरकता इतनी ही है कि वह साध्यसाधनसंबंध को प्रमित करा देता है। जिस साध्य को अधिकारी चाहता है उसके साधन का अनुष्ठान कर लेगा, अन्यथा उपेक्षा कर देगा। प्रवृत्ति में तो हेतु कामना ही है। श्रुतिने ही घोषित किया है 'यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते' (बृ० ४.४.५) ॥६३७॥

वादी अभिप्राय न समझकर शंका करता है कि वेद को प्रेरक मानते हो तो उसका प्रामाण्य तभी मान पाओगे जब वह प्रेरक बने, वेदान्त तो प्रेरक बनते नहीं अतः उनमें प्रामाण्य कैसे बचाओगे? समाधान करते हैं :

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि वस्तु की यथार्थता के ज्ञापन से प्रमाणता होती है, प्रेरक होने से नहीं। प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं, प्रेरक नहीं; ऐसे ही बिना प्रेरक हुए वेद प्रमाण है ॥६३८॥

अर्थात् वेद को प्रेरक भी हमने इतने ही अर्थ में कहा था कि वह इष्टोपाय का प्रमापक है। अज्ञातज्ञापना को ही प्रेरणा मानने पर वस्तुतः तुम्हे भी यही स्वीकारना पड़ेगा अतः तुम यह पक्ष ग्रहण नहीं कर सकते अन्यथा अपनी मान्यतायें छोड़कर उत्तरमीमांसक बन जाओगे ॥६३८॥

इष्टसाधनता लिङर्थ है यह स्पष्ट करते हैं :

जैसे वेद की प्रमाणरूपता के आधार पर उत्पादित नियोग से नियमतः फल मानते हो वैसे ही साधन के (= यागादि के) अनुष्ठान से मान्य है ॥६३९॥

वेद ने यागादि का अनुष्ठान करने को कहा है अतः याग का फल अवश्य होगा यह वेदप्रामाण्य से ही मानना उपपन्न है। मध्यस्थ व्यापार समझने के लिये चाहिये तो अपूर्व को समझा जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि यागादि में जो इष्टोपायता है वही लिङादि का अर्थ है। भाट्टों में पार्थसारथि आदि यद्यपि इष्टसाधनता को वाच्य मानते हैं तथापि वे प्रेरणारूपता को छोड़ते नहीं, सिर्फ़ ज्ञापकता न मानकर शास्त्र में कारकता भी चाहते हैं अतः प्रकृत सिद्धांत से भेद रहता है। ब्रह्मसिद्धिकार मंडनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में (३.१०३) तथा विधिविवेक में (श्लो० २६,३०) इष्टसाधनता को ही विध्यर्थ मानने का समर्थन किया है। इस मत का शालिक ने (प्र०पं०पृ० ४२८) तथा भाट्टों ने भी तत्र – तत्र विरोध किया है।

भगवान् भाष्यकार ने जो यह कहा है 'या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति' (जिज्ञासासूत्र) उसका तात्पर्य कल्पतरु में व्यक्त किया है 'साक्षाद् भावनायाः, तदवच्छेदकत्वद्वारेण चार्थाद् धात्वर्थस्य इष्टोपायतां बोधयति विधिः, बोधयित्वा च तत्रेच्छामुपाहरति, इच्छंश्च पुरुषः प्रवर्तते; तदनेन क्रमेण नियुञ्जाना चोदना धर्ममवबोधयतीत्यर्थः।' (पृ० ७०)। विवरणाचार्य ने नवमवर्णक में कहा है 'धात्वर्थकर्तव्यतालक्षणम् इष्टसाधनत्वमेव

विसंवादोऽपि नाऽऽशङ्क्यो नियोगार्थे यथा तथा। वैदिकत्वादुपायेऽपि नृतन्त्रे व्यभिचारिता ॥६४०॥
नानन्तरफलो यागो दृष्टो लोकेऽपि हि क्वचित्। अतः सामान्यतो दृष्टं क्रियात्वादित्यदूषणम् ॥६४१॥

प्रत्ययार्थः' (पृ० ६७०) अतः उनके अनुसार भी उक्त भाष्य में 'नियुंजाना' से 'इष्टसाधनता बताते हुए' यही अर्थ होगा। पद्मपादाचार्य ने स्पष्ट किया है कि विधि तब तक प्रेरित नहीं कर सकती जब तक विषय का (धात्वर्थ का) ज्ञान न हो अतः वह उसे भी बता देती है (पृ० ४३४); एवं च वधि इष्टसाधनता तथा विषय दोनों को बताती है – इतना ही प्रकृत भाष्यका निष्कृष्ट अर्थ है। अतः सिद्धान्त में विधि की प्रेरकता उस तरह स्वीकार नहीं जैसा मीमांसक मानते हैं। इष्टोपायताबोधन को विधि का प्रयोजन मानना लोकसिद्ध भी है यह कल्पतरु में (पृ० ७०) सोदाहरण सिद्ध किया है अतः मीमांसक इस पक्ष पर जो शंकायें उठाते हैं वह सहज में ही समाहित हो जाती हैं। कृतिसाध्यताज्ञानादि के निवेश-प्रवेश भी कोई गंभीर तर्क नहीं हैं क्योंकि वेद को प्रमाण मान लेने पर वे सब बातें अर्थलभ्य हैं, उन्हे वाच्य मानने की जरूरत नहीं। प्रमाणभूत पुरुष भी अधिकारी के योग्य उपाय को ही उसके लिये इष्टसाधनतया प्रकाशित करता है तो परम प्रमाण वेद के बारे में कहना ही क्या ॥६३९॥

यदि याग ही इष्टोपाय हो तो याग पूरा होते ही फल मिलना चाहिये जैसे तृप्ति का उपाय है भोजन करना तो भोजन पूरा होने के साथ ही तृप्ति हो जाती है। किन्तु याग से यों तुरंत फल मिलता नहीं अतः यह मत ग़लत है। इस समस्याका समाधान करते हैं:

जैसे नियोग को विध्यर्थ मानने पर विसंवाद की शंका अनुपपन्न है वैसे ही इष्टोपायता को विध्यर्थ मानने पर भी क्योंकि उपायरूपता का पता केवल वेद से लगा है। फल की अवश्य उपलब्धि का अनियम पौरुषेय वाक्यों में ही होता है ॥६४०॥

विसंवाद अर्थात् फलानुपलंभ से फलाभाव की प्रमिति का विरोध : साधनानुष्ठान के बाद फल न मिलने से निश्चय होना चाहिये कि जिसका अनुष्ठान किया वह साधन ही नहीं होगा। ऐसा मानने पर वेद अप्रमाण होगा। नियोगपक्ष में इस शंकाका समाधान श्लोक ५३७ आदि में वादी कर चुका है, उसे यहाँ दृष्टांत बना लिया है। तात्पर्य है कि जैसे नियोग भी उत्पन्न तो पूर्णाहुति के अनंतर हो जाता है लेकिन फल तुरंत नहीं दे पाता फिर भी तुम इसीलिये विसंवाद नहीं मानते कि वेदरूप प्रमाण से विहित है, वैसे ही प्रमाणतः विदित होने से हम भी यह नहीं मानते कि फल तुरंत मिलना चाहिये। जैसे कृषि, गर्भ आदि वपनादि के अगले ही क्षण तैयार नहीं होते वैसे ही यागादि भी तुरंत फल न दें तो कोई विसंवाद नहीं कहा जा सकता। वादी ने नियोग की क्रियाभिन्नता का सहारा लिया था किन्तु सिद्धांती का कहना है कि तुम्हे भी बौद्धादि के नियोग को कालान्तरफलक तो मानना नहीं है, अतः अवश्य नियोग में प्रामाणिकता को विशेषण कहोगे, तब लाघववश उसे ही पर्याप्त मानो। हम भी याग की इष्टोपायता वेद का ही प्रमेय कह रहे हैं अतः जैसे नियोग प्रमाणांतरविषय न होने से प्रमाणान्तर के सहारे अपलाप्य नहीं वैसे ही इष्टोपायता भी विसंवादगोचर नहीं हो सकती। इसलिये लिङादि का अर्थ फलोपायता ही है। यह जो कहा कि क्रिया में अनंतरफलता होनी चाहिये, वह भी कृष्यादि में अनैकान्तिक है। पुरुष-प्रोक्त उपाय तो सफल – विफल दोनों देखे जाते हैं अतः वैफल्य देखकर शंका हो भी सकती है कि वास्तव में वह उपाय है या नहीं, लेकिन वेदोक्त उपायता तो शंका के अयोग्य है। वैसे तो लौकिक उपायों में भी बहुधा इन्तज़ार करनी पड़ती है, आनन-फानन में निर्णय नहीं हो सकता। अतः 'यागादिः अनन्तरफलः क्रियात्वात् मर्दनवत्' इस प्रयोग में क्रियात्वहेतु व्यभिचारी है यह तात्पर्य है। किं च साफल्य के लिये यह प्रयोग है 'यागादिर्ह सफलः प्रामाणिकोपायत्वात् संमतवत्' ॥६४०॥

उक्त व्यभिचार ही दिखाते हैं –

लोक में भी ऐसी बहुतेरी क्रियायें देखी जाती हैं जो तुरंत फल नहीं भी देती; अतः यागादि (और मर्दनादि) में क्रिया की समानता देखकर तुरन्त फलित होने का अनुमान ग़लत है ॥६४१॥

स्वसामर्थ्याद्यथा कार्यं कालास्पृष्टं प्रभाषते। लिङादिर्यागमप्येवं वक्ष्यतीत्यविशिष्टता ॥६४२॥

मर्दन अर्थात् तेलमालिश, उससे आराम तुरंत मिलता है। लोक में नौकरी आदि कई क्रियाओं का तुरंत फल नहीं भी मिलता अतः यह नियम नहीं कि क्रिया तुरंत फल ही दे। वस्तुतः चोट आदि के उपचाररूप से किया मर्दन भी तुरंत फल नहीं देता, कुछ घंटों का व्यवधान रखकर ही देता है अतः दृष्टान्त को साध्यविकल भी दिखा सकते हैं।

विद्यासागर ने प्रश्न उठाया है कि सिद्धान्ती यह कैसे कह सकता है कि उपायता प्रामाणिक है जबकि यही विचार्यमाण है कि प्रामाणिक किसे मानें – नियोग को, प्रेरणा को या उपायता को? उत्तर यह समझना चाहिये कि नियोगादि मानने पर भी इष्टोपायता का बोध तो मान्य ही है; केवल इसीमें मतभेद है कि वह वाच्य है या नहीं; सिद्धांती का कहना है कि प्रमाणप्रयुक्त बोध को अबाधित होने पर प्रामाणिक मानने में लाघव है अतः इष्टोपायताज्ञान को प्रामाणिक कहने में दोष नहीं। अबाधित होने मात्र से निश्चित प्रामाण्य वाले ज्ञान का जब शास्त्र हेतु पड़ रहा है तब वह ज्ञान शास्त्रीय ही मानना पड़ेगा। वादी भी चाहे वाच्य न माने पर इष्टोपायताज्ञान शास्त्रप्रयुक्त मानता ही है। अतः यदि सामान्यतो दृष्टादि से विरोध संभव होता तब भले ही उपायता की प्रामाणिकता शंकनीय थी लेकिन जब सामान्यतो दृष्ट संभव नहीं रहा तो प्रामाणिक उपायता में क्या संदेह? अतः सिद्धांती ने 'वैदिकत्वादुपायेऽपि' में सर्वसंमत बात कही है ॥६४१॥

वादी पूछता है : आपको इष्ट जो उपायता है वह क्या काल से सम्बद्ध है या नहीं? यदि हो तो भूतादि किसी विशिष्ट काल से ही संबद्ध होने से सर्वदा अनुष्ठेयता असंभव होगी। और न हो तो श्लोक ६२४ में नियोग पर दिये दोष इस पर भी लागू होंगे। सिद्धांती जवाब देता है :

लिङादि जैसे अपनी सामर्थ्य से काल से असंबद्ध कार्य का कथन कर देते हैं ऐसे ही यागादि को भी कह देंगे। अतः इष्टसाधनतापक्ष में यह कोई असाधारण गुण नहीं है कि काल-असंबद्ध ज्ञान होता है ॥६४२॥

लडादि का वर्तमानतादि में विधान होने से वे स्वसामर्थ्य से कालबोध कराते हैं किन्तु लिङादि को कालवाचकरूप से विहित ही नहीं किया गया है अतः वे अपना अर्थ कालसंबद्धरूप से नहीं बताते। विधि आदि अर्थों में लिङ् का प्रयोग पाणिनि ने कहा है। विधि का अर्थ इष्टोपायता है। अतः यही लिङ् से पता चलेगी, कालिकता नहीं। अतः कालसम्बन्धप्रयुक्त दोष प्राप्त ही नहीं। यह जो कहा था कि कालसंबंध न होने पर श्लोक ६२४ वाले दोष प्राप्त होंगे, वह भी कहना ग़लत है। नियोग को वादी स्वरूपतः ही कालासंबद्ध मानता है अतः नृशृंगतुल्यता आती है जबकि हम याग को स्वरूपतः तो कालिक मानते हैं, उसकी इष्टोपायता को ही काल से असीमित कहते हैं, अतः नियोग के दोष यहाँ नहीं आ सकते। इष्टोपायता से विशिष्ट याग तो नियोगतुल्य ही हुआ; अर्थात् स्वरूपतः कालिक होने पर भी विशेष की अकालिकता से विशिष्ट भी अकालिक होगा तो नियोग की तरह असत् ही होगा? – यह भी शंका अनुचित है। इष्टोपायता तो स्वर्गकामादि वेदवाक्य से प्रमित है अतः असत् नहीं हो सकती। यह कह नहीं सकते कि नियोग वाक्यप्रमित है क्योंकि वादी उसे अलौकिक मानता है फलतः लिङादिका उसमें शक्तिग्रह ही असंभव है तो वाक्यार्थ उसे मान ही नहीं सकते। यह जो वादी ने कल्पना की है कि आज्ञादि से उपहित नियोग में शक्तिग्रह होकर केवल नियोग वाक्यार्थतया भांस जायेगा; वह कल्पना भी ठीक नहीं क्योंकि सर्वत्र यही देखा गया है कि शक्तिग्रह केवल से होता है और वाक्य का अर्थ विशिष्ट होता है जैसे घटपद की शक्ति तो केवल घट से संबद्ध पता चलती है जबकि वाक्य से पता चलने वाला संबंधादि विशिष्ट घट को विषय करता है। अतः नियोग में भी शक्ति माननी चाहिये केवल में तथा अलौकिक मानने पर यह संभव नहीं। इस विषय में सर्वज्ञगुरु के विचारों का (१.३५७-५८) अनुसंधान कर लेना चाहिये। यह वादी मानता नहीं कि नियोग लक्ष्यार्थ है क्योंकि वह विधिमें लक्षणा नहीं स्वीकारता। तात्पर्य है कि यदि पूछो ब्रह्म भी अलौकिक है तो वही कैसे शब्दगम्य होगा? तो हमारा उत्तर है कि ब्रह्म शक्तिवृत्त्या शब्दगम्य नहीं है; शक्ति लौकिक बृहत् में बनी रहे तो भी लक्षणा से ब्रह्म पता चल जाता है। किन्तु यह तरीका तुम्हे अनुमत नहीं। सिद्धान्ती को तो इष्टोपायता में शक्तिग्रह संभव है क्योंकि लोक में भी इसी

साक्षादेव च संबन्धः साध्यसाधनयोर्भवेत्। नातिरिक्तलिङाद्यर्थव्यवधानविडम्बना ॥६४३॥

अर्थ में लिङादि का प्रयोग होता है। कल्पतरु में (पृ० ७०) इसे सुस्पष्ट कर दिया है। यह प्रश्न नहीं उठता कि यदि लोकसिद्ध इष्टोपायता ही लिङ् कहेंगे तो अपूर्वता नहीं होगी; क्योंकि वेदवाक्य के तात्पर्यरूप से समझी इष्टोपायता पदार्थमात्र तो है नहीं, वह तो यागीयरूप से समझी गयी है – याग में जो इष्टोपायता है वह समझी गयी है, तथा यागीय इष्टोपायता लौकिक है नहीं, अपूर्वता वाली (= प्रमाणांतरानधिगत) ही है। आखिर यागादि को धर्म मानने पर मीमांसक का भी तो यही परिहार है 'द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते। तेषामैन्द्रियकत्वेपि न ताद्रूप्येण धर्मता॥ श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते। ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः॥ (श्लो० वा० २.१३-१४)। जैसे पौधे हम सभी देखते हैं लेकिन हम वैद्य नहीं हैं जबकि उन्ही पौधों को दवायीरूप से जानने वाला वैद्य होता है, ऐसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। एवं च यागीय इष्टोपायता वाक्य का अभिप्रेतार्थ होने से पदार्थ की अपेक्षा विक्षलण है अतः अपूर्वता सुरक्षित है ॥६४२॥

इष्टोपायता को विध्यर्थ मानने में लाघव भी है –

(लिङादि का अर्थ समीहितसाधनता मानने पर) फल से उपाय का साक्षात् ही सम्बन्ध हो जायेगा, लिङादि के अर्थरूप नियोगनामक अतिरिक्त पदार्थ का व्यवधान मानने की विडम्बना नहीं होगी ॥६४३॥

वेद जब याग को फलोपाय कह रहा है तो उचित यही है कि याग में ही उपायता प्रतिपाद्य मानी जाये क्योंकि तब वेदवाक्य का अर्थ बिना किसी अश्रुतकल्पना के निश्चित होगा। जब नियोग को प्रत्ययार्थ मानते हैं तब याग और फल के बीच में वह व्यवधान बन जाता है, उनका श्रूयमाण साक्षात् सम्बंध छोड़ना पड़ता है, यह एक विडम्बना ही है। साक्षात् संबंध संभव रहते परंपरा – संबंध की कल्पना अनुचित है।

याग – फलसम्बंध की उपपत्ति के लिये ही नियोग माना जाता है, संबंध अन्यथा बन सके तो नियोग असिद्ध है। यदि नियोग स्वतंत्र प्रमाण से निश्चित होता, उसका व्यवधान प्रमित होता, तब तो याग और फल के बीच उसे स्थान देने के लिये उसे प्रत्ययार्थ मान भी सकते थे। किन्तु नियोग यों मानान्तरगम्य है नहीं। प्रत्ययार्थतया भी वह प्रामाणिक नहीं क्योंकि लौकिक लिङ् को प्राभाकर नियोग में प्रमाण मानता नहीं और केवल वैदिक पदार्थ में शब्द की शक्ति का ग्रहण असंभव है। अतः वैदिक लिङ् नियोगार्थक है यह प्राभाकर का वचन होने से स्वयं उसे ही प्रमाणतया इष्ट नहीं। तब नियोग में प्रमाण ही क्या है? अतः उसका व्यवधान मानना वैसी ही विडम्बना है जैसे प्रसिद्ध किस्से में 'अदृश्य' वस्त्रों सें बेचारे राजा को सजा – धजा कर नगर में नंगा घुमाना!

भावनावाद में भी प्रत्ययार्थ को भावना मानना इसी तरह अनुचित है। जब 'यागेन इष्टम्' यह संबंध मानना ही है तब तृतीया से कही करणता व्यापार समेत ही उपस्थित हो जाती है, फिर व्यापाररूप भावना को प्रत्ययार्थ मानना व्यर्थ है, अन्यलभ्य न होने पर ही शब्दार्थता मान्य होती है। प्रश्न होगा कि तब सिद्धार्थक और साध्यार्थक वाक्यों में क्या अंतर रहा? उत्तर है कि क्रियाबोधक वाक्य साध्यार्थ है और निष्क्रियविषयक वाक्य सिद्धार्थक है। यह संक्षेपशारीरक में (१.४८८-९२) स्पष्ट होता है। एवं च क्रिया को इष्टोपाय कहने पर वाक्य साध्यार्थक रहेगा तथा अक्रिया को इष्टोपाय कहने वाला सिद्धार्थ हो जायेगा। ज्ञान क्रिया नहीं है यह कई जगह व्यक्त किया गया है। इससे द्रव्यादिविधियाँ सिद्धार्थक होंगी – ऐसी शंका नहीं कर सकते क्योंकि श्लोक ४४८ मे कहे ढंग से वे विधियाँ द्रव्यांगकक्रिया को विषय करती ही हैं। यदि ज्ञान को क्रिया मान लें तो भी श्रोतव्यादि विधियाँ साध्यार्थक हैं यह स्वीकार्य है, लक्षणवाक्य, महावाक्य आदि तो सिद्धार्थक ही निश्चत होंगे।

इस प्रकार इष्टसाधनतापक्ष को समर्थित किया गया। 'विडम्बना' की जगह 'विलम्बना' ऐसा विद्यासागर का पाठ संभावित है। अर्थ तो यही है क्योंकि व्यवधान को ही उन्होंने विलंब बताया है ॥६४३॥

'लाल से खरीदे' इत्यादि (तै० सं० ६.१.६) विधि में लाल – गुण का खरीदनाक्रिया से संबंध गाय – द्रव्य के

साक्षादसति संबन्धे पारम्पर्यं न तु क्वचित्। गतौ सत्यां, तदप्यत्र नान्यत्रेवोपलभ्यते ॥६४४॥
श्रुत्या क्रयाभिसंबन्धो व्यवच्छिद्यैव साधनम्। अरुणः साधको दृष्टो नानपेक्षो वृथा च सः ॥६४५॥
यागः कार्याभिसंबन्धोऽप्यनुत्पाद्य फलं न ते। कथंचित् साधयेत् कार्यं तच्च नास्तीत्यसाधकः॥६४६॥
न चान्या व्यापृतिस्तस्य कार्यसिद्धौ त्वयेष्यते। फलानुत्पत्तितस्तस्मान्न कार्येणापि संगतिः॥६४७॥

व्यवधान से ही मान्य है अतः प्रकृत में ही क्यों व्यवधान को असह्य समझना? उत्तर है :

व्यवधान के बिना सम्बन्ध संगत न होने पर व्यवधान स्वीकारा जाता है, जहाँ सीधे ही संबंध बन सके वहाँ तो कहीं भी व्यवधान माना नहीं जाता। 'लाल से खरीदे' आदि में जैसे साक्षात् संबंध असंगत प्रतीत होता है वैसे स्वर्गकामादि वाक्यों में होता नहीं कि संबंध की संगति व्यवधान द्वारा बैठायी जाये ॥६४४॥ अरुण-गुण तृतीया श्रुति से खरीदने से सम्बद्ध प्रतीत होते हुए भी पशु के विशेषण रूप से ही खरीद का उपाय समझ आता है, उसका विशेषण बने बिना नहीं क्योंकि तब वह व्यर्थ ही रह जायेगा ॥६४५॥

'अरुणया क्रीणाति' (लाल से खरीदे) में अरुण गुण है जिसका क्रय से सम्बंध तृतीया विभक्ति बता रही है। किन्तु क्योंकि गुण का क्रिया से संबंध संभव ही तब है जब वह द्रव्यविशेषण हो इसलिये 'लाल से खरीदे' सुनकर 'लालरंग की किसी चीज़ से खरीदे' यही समझ आता है। यदि द्रव्यविशेषण न बने तो गुण का क्रियासंबंध असंभव होने से उसका विधान ही व्यर्थ हो जायेगा। अतः यहाँ द्रव्यव्यवधान से सम्बंध मान्य है। यह बात मीमांसादर्शन में (३.१.३) चर्चित है। किन्तु स्वर्गकामादि वाक्यों में जब साक्षाद् अन्वय संभव दिखा चुके हैं तब व्यवधान मानना विडम्बना ही है!

द्वितीय श्लोक का टीकोक्त अन्वय है-'अरुणः श्रुत्या क्रियाभिसम्बन्धः (तत्सम्बद्धोऽपि) साधनं (= पशुम्) व्यवच्छिद्यैव साधको दृष्टः, अनपेक्षो न; च (= यतः तथात्वे) स वृथा।' ॥६४४-६४५॥

अब तक बताया कि याग का फल से संबंध नियोग द्वारा नहीं होता। अब कहते हैं कि नियोग का व्यवधान मान लें तो भी कोई फ़ायदा नहीं –

याग नियोगान्वित हो तो भी फलको उत्पन्न किये बिना तुम्हे अभिमत नियोग को किसी तरह सिद्ध (= उत्पादित) नहीं कर सकता और याग होते ही फल मिलता है नहीं अतः याग को नियोग का साधक नहीं स्वीकार सकते ॥६४६॥ कार्य की सिद्धि में याग का अन्य कोई व्यापार तुम्हे इष्ट है नहीं। इसलिये फल की अनुत्पत्ति के कारण उसका नियोग से भी सम्बंध नहीं बन सकता ॥६४७॥

याग का नियोगसम्बन्ध यही है कि वह नियोग को सिद्ध करता है, नियोग उत्पन्न कर देता है। किन्तु इस नियोगोत्पादन में याग का अवान्तर व्यापार क्या है? व्यापाररहित करण तो तुम मानते नहीं कि कह सको याग बिना व्यापार के ही नियोग पैदा कर देता है क्योंकि तब तो बिना नियोग के स्वर्ग ही पैदा होना संभव हो जायेगा! अतः व्यापार तुम्हे मानना पड़ेगा। फलोत्पत्ति को ही तुम याग का व्यापार कह सकते हो क्योंकि याग से ही फल और नियोग होंगे तथा नियोगोत्पादन में नियोज्य लगे इसमें कारण बनेगा फल; यही तुम्हारी प्रक्रिया है। अन्य कोई व्यापार तुम मान नहीं सकते क्योंकि तब उसी व्यापार से स्वर्गलाभ हो जायेगा, नियोग ही व्यर्थ पड़ेगा! जब फलोत्पत्ति को व्यापार कहोगे तो नियोगोत्पत्ति से पूर्व ही फलोत्पत्ति माननी पड़ेगी क्योंकि सर्वत्र व्यापारों में यही नियम दीखता है। ऐसा तो होता नहीं कि कुल्हाड़ी से पेड़ कट जाये और कुल्हाड़ी चलानारूप व्यापार बाद में किया जाये! लेकिन एक तो याग पूरा होते ही फल मिलता नहीं अतः व्यापार के अभाव में नियोग सिद्ध होगा कैसे? और दूसरी बात, यदि फल मिल ही गया तो फिर नियोग सिद्ध होकर करेगा क्या! अतः जब याग से नियोग सिद्ध ही होगा नहीं तो याग का नियोग से सम्बन्ध भी रहेगा नहीं। एवं च नियोग की कल्पना निरर्थक है। यदि करणताको पारिभाषिक मानकर व्यापारापेक्षा का निषेध किया जायेगा तो वैदिक फलसाधनता को ही पारिभाषिक मानकर नियोग का ही अपलाप क्यों न कर लिया जायेगा? अहोबलसूरि ने 'वाक्यार्थरत्न'

अथ शास्त्रप्रमाणत्वाददृष्टाऽप्यभ्युपेयते। फलोत्पत्तिर्ममाप्येवं तथा सति भविष्यति ॥६४८॥
मम शास्त्रप्रमाणत्वात्पश्चादपि भवेत्फलम्। पूर्वं तु भवतो न्याय्यं तदभावे ह्यसाधकम् ॥६४९॥
कार्यसिद्ध्या फलावाप्तावशेषफलसंभवः। सकृत्करण एव स्यात्कार्यस्याभेदतस्तव ॥६५०॥

नामक प्राभाकर प्रकरण रचा है जिसमें (पृ० ४८-४९) बताया है कि करणत्व और साधनत्व में फ़र्क है : करण में क्रियाद्वारकता होती है क्योंकि करण एक कारक है और 'क्रियां कुर्वद्धि कारकम्' यह मान्य है। इससे विलक्षण साधनत्व तो कारणत्वका अवान्तर भेद है जिसका उन्होंने लक्षण किया 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वक्षणवर्तित्वम्।' इसमें क्षणनिवेश हटाकर इष्टसाधन में सिद्धांती घटा लेगा तो व्यापारस्थानीय नियोग को अवकाश कहाँ रहेगा? ॥६४६-६४७॥

वादी कह सकता है कि शास्त्रप्रामाण्य के अनुरोध से मान लेंगे कि फलहेतुभूत अदृष्ट याग से उत्पन्न हो जाता है जो व्यापार बनकर नियोग उत्पन्न कर देगा। किन्तु तब सिद्धांती कहेगा कि अदृष्ट से ही फल होगा तो वह अदृष्ट बीच में नियोग क्योंकर उत्पन्न करने लगा? अतः पूर्वोक्त न्याय से (श्लो० ४३९) वह कहता है कि दीखे चाहे नहीं, याग पूर्ण हो जाने पर शास्त्रप्रामाण्य से हम मान लेंगे कि फल उत्पन्न हो चुका! इस संभावना को उपस्थित कर सिद्धांती जवाब देता है।

यदि अनुपलभ्यमान फललाभ को भी शास्त्रप्रमाण के बल पर तुम स्वीकारते हो तो हम इष्टसाधनतावादी भी वैसा कह देंगे ॥६४८॥ बल्कि हम क्योंकि शास्त्र के अनुसार याग से फल मानते हैं तो सुदूर भविष्य में भी फल हो जायेगा, कोई विरोध नहीं आता, लेकिन तुम्हारे मत के अनुसार तो यही न्यायसंगत है कि (नियोगोत्पत्ति से) पहले ही फल मिल जाये क्योंकि उसके बिना याग नियोग का साधक नहीं होगा ॥६४९॥

वादी को तो कार्योत्पत्ति तुरंत चाहिये अतः फल भी तुरंत अपेक्षित हो जाता है जबकि सिद्धांती तो केवल फलहेतुता शास्त्र से मानता है अतः उसे तुरंत फल की ज़रूरत नहीं। लोक में भी वैद्य की बात मानकर आमला या त्रिफला खाकर शान्ति से सो जाते हैं, तुरंत फल की कोई आशा नहीं रखते। अतः सिद्धांती की व्यवस्था तो वेद में भी यों ही संगत हो जायेगी पर नियोगवादी शास्त्रप्रामाण्य से फल मानेगा तो अनुपलंभ उसे अवश्य परेशान करेगा कारण कि नियोग के लिये फल ज़रूर चाहिये और पश्वादि फल योग्य होते हुए उपलब्ध न हों तो उनका अभाव मानना पड़ेगा। शब्दरूप भावावेदक प्रमाण है इत्यादि जो वादी ने कहा था (श्लो० ५३८) वह भी व्यर्थ की बात है : वह नियोग को वाक्यार्थ मानकर यह कहेगा कैसे कि फल में शब्द प्रमाण है? फल को तो उसने कार्य की साध्यता की अनुपपत्ति से माना था – नियोज्य को फल न मिले तो वह कार्य को सिद्ध नहीं करेगा अतः उसे फल मिलता है यह मानना चाहिये; अतः शब्द को फलसद्भाव में प्रमाण कह नहीं सकता। और अपरोक्षयोग्य फल के विषय में परोक्षज्ञानजनक अर्थापत्ति से अपरोक्षज्ञान – जनक अनुपलब्धि ही प्रबल होगी। अभाव का प्रत्यक्ष मानो तब तो यह और भी स्पष्ट है। प्राभाकरमत में अनुपलब्धि छठा प्रमाण मान्य नहीं है यह प्रसिद्ध ही है। पंचिका में अमृतकलाप्रकरण में षष्ठ प्रमाण का विस्तृत खण्डन है।

बिना फलके यदि याग से नियोग नहीं सिद्ध होता और फल अनुपलंभपराहत है तो ऐसा क्यों न मान लें कि नियोग को उत्पत्त्यर्थ याग अपेक्षित ही नहीं है? ऐसा इसलिये मत मानो कि तब याग व्यर्थ हो जायेगा! और यदि कहो कि फल के लिये याग चाहिये नियोग के लिये नहीं अतः याग व्यर्थ नहीं है; तब नियोग व्यर्थ हो जायेगा!! यदि याग से फल होने में नियोग को प्रयोजक कहो तो नियोग को याग से सिद्ध मानोगे या उसे नित्य मानोगे? याग से तो पूर्वोक्त रीति से वह सिद्ध होगा नहीं और नित्य मानो तो कार्य क्योंकर होगा? ॥६४९॥

नियोग से फल मानने में भी दोष है –

कार्यसिद्धि से फलप्राप्ति हो तो एक बार करने पर ही सारे फल मिल जाने चाहिये क्योंकि तुम्हारे मत में कार्य एक ही है ॥६५०॥

अनुबन्धाभिसंबन्धात्फलं चेत्स्याद्व्यवस्थया। तत एव न कार्यात्स्यात्तदा तद्भावभावतः ॥६५१॥
औपाधिकश्च मिथ्या स्यात्साध्यसाधनलक्षणः। व्यवहारः श्रुतेर्ज्ञातः परमार्थैकवादिनः ॥६५२॥
एवं ते कर्मकाण्डेऽपि कार्यं तावन्न युज्यते। ऐकात्म्ये तु यथा नास्ति विशेषेणोच्यते तथा ॥६५३॥

कार्य को शक्य (=वाच्य) मानने के लिये उसे एक तथा एकरूप मानना ज़रूरी है और तब यह दोष स्पष्ट है कि कार्योत्पत्ति हो गयी तो फिर अगले दिन अग्निहोत्र क्यों करना? पिष्टपेषण व्यर्थ होता है ॥६५०॥

नियोगवादी के परिहार को संभावित कर निरस्त करते हैं –

अनुबंधों के (= धात्वर्थों के) अभिसंबंध से (= उपाधितया विद्यमान होने से) यदि विभिन्न फलों की व्यवस्था मानोगे तो फल अनुबंधों से ही मानने पड़ेंगे, कार्य से नहीं क्योंकि अनुबंध और फल का अन्वय-व्यतिरेक मिल जायेगा ॥६५१॥

यदि वादी कहे कि जैसे आज्ञा अनुज्ञा आदि विभिन्न हैं ऐसे अग्निहोत्रनियोग, चित्रानियोग, अश्वमेधनियोग आदि विभिन्न होने से फलव्यवस्था हो सकती है तो सिद्धांती का कहना है कि तब फलकारणता अग्निहोत्रादि में ही निश्चित होगी क्योंकि फल उन्ही का अनुविधान करेगा! अनुबंध से व्यतिरिक्त स्वतंत्ररूप से न नियोग मिलेगा न उससे होने वाला कोई फल, तब यह कैसे माना जाये कि नियोग से फल होता है? तात्पर्य है कि यदि नियोग प्रमाणसिद्ध होता और व्यक्तिभेद रहते अनुगत जाति की तरह सब विधियों से प्रतीत होता तथा उसका फलसम्बंध प्रामाणिक होता तब तो उसे कम-से-कम वैदिक फलों के साधारण कारणों में गिना जा सकता था जैसे लट्टू, पंखा आदि से होने वाले रोशनी, हवा आदि कार्यों में बिजली को साधारण कारण मान लेते हैं; किन्तु जब नियोग और उसकी सफलता में कोई प्रमाण नहीं तब यह भी मानना असंभव है ॥६५१॥

किं च उपाधिभेद से नियोग को विभिन्न मानने पर और भी समस्या उठ जायेगी –

तुम कहते फिरते हो कि सभी कुछ पारमार्थिक सत्य है किन्तु साध्यसाधनरूप व्यवहार औपाधिक मानोगे तो मिथ्या ही होगा और श्रुति से तुम्हे मिथ्या का ज्ञान मानना होगा (जो तुम्हारे लिये विषपान से भी ज़्यादा दुष्कर है!) ॥६५२॥

प्राभाकर तो रज्जुसर्प का भ्रम भी मानने को तैयार नहीं! उसके अनुसार ज्ञान या ज्ञेय, कुछ भी मिथ्या नहीं होता। यद्यपि भाट्ट, तार्किक आदि सभी मिथ्या से परहेज़ रखते हैं तथापि कम से कम भ्रम मानते हैं जिसके सहारे मिथ्यात्व की दवा उनके गले उतारी जा सकती है। नियोगवादी तो इसी भय से भ्रम ही नहीं मानता, कि एक बार मौका मिला तो मिथ्यात्व' धर-दबोचेगा! ऐसी परिस्थिति में बेचारा यह कैसे माने कि नियोग में औपाधिक भेद है। औपाधिक तो स्फटिक – लौहित्य की तरह मिथ्या ही होता है। यद्यपि प्राभाकर रक्त – स्फटिक ऐसा एक ज्ञान नहीं मानता तथापि अभेदव्यवहार मानता है और उसका बाध भी मानता है। अतः उसी तरह नियोगभेद का ज्ञान भले ही न माने, उपाधि और नियोग के अलग – अलग ही ज्ञान माने, फिर भी व्यवहार तो मानेगा, तभी फललाभ के व्यवहार की व्यवस्था होगी, और उपहित नियोगों के अलगावका व्यवहार बाध्य होने से उसे यह स्वीकारना पड़ेगा कि बाध्य साधन का प्रतिपादन वेद ने किया है जो वह कभी नहीं मानेगा। प्राभाकर को ग्रहण और स्मृति का ही भेद-अग्रह हो ऐसा नहीं, दो अलग – अलग ग्रहणों का भेद भी वह नहीं समझ पाता, तभी तो ऐसा व्यवहार कर पाता है 'शंख पीला है'। यह बात भामती में (पृ० २७) स्पष्ट है। इस बात को मनमें रखकर 'व्यवहार' शब्द भगवान् वार्तिककार ने रखा है ॥६५२॥

कर्मकाण्ड में न सही, ज्ञानकाण्ड में ही नियोग होवे? इस पर कहते हैं :

इस प्रकार जहाँ संभावना हो सकती है उस कर्मकाण्ड में भी तुम्हे अभिमत कार्य संगत नहीं है तो एकात्मताविषयक ज्ञानकाण्ड में उसकी असंभवता का क्या कहना! विशेष हेतुओं से इसे और स्पष्ट करेंगे ॥६५३॥

प्रतिपत्तिविधिस्तावन्नाऽऽत्मा द्रष्टव्य इत्ययम्। तस्य भावार्थनिष्ठत्वाद्वस्तुन्यनुपपत्तितः ॥६५४॥

वादी का भाव यह था कि ज्ञानकाण्ड में फल को दृष्ट माना जाता है अतः फलद्वारक नियोग संभव है और फललाभपर्यन्त धात्वर्थ की आवृत्ति मानने से कार्यवाद संगत हो जायेगा। ज्ञानकांड में भी नियोग असंभव है इसे विस्तार से कहने जा ही रहे हैं लेकिन सिद्धांती ने सूचित कर दिया कि विधिप्रधानकाण्ड ही जब नियोगार्थक नहीं रहा, इष्टसाधनबोधनमात्र में पर्यवसित हुआ, तब ज्ञानकाण्ड तो सुतरां सिद्धार्थक ही होगा क्योंकि इसका विषय एकात्मता है ही ऐसा जहाँ कार्यता हो नहीं सकती, वह तो भेद रहते ही संभव है। संक्षेपशारीरक में भी उपसंहार ऐसे ही किया है 'न कर्मकाण्डेऽपि ततो नियोगो न भावनाप्युक्तनयेन तस्मिन्। न तद् द्वयं वेदशिरःसु तस्मात्ततो न कार्यार्थपराणि तानि॥' (१.४००) ॥६५३॥

'आत्मा द्रष्टव्यः' (आत्मा का दर्शन करना चाहिये) इस विधि के रहते (तव्य-प्रत्यय विधिवाचक होता है) ज्ञानकांड में नियोग से कैसे बचोगे? इस पर सिद्धांती पूछता है कि इस विधि से तुम वस्तुविषयक नियोग मानते हो या वस्तुज्ञान-विषयक? ज्ञाननियोग पक्ष का श्लोक ६५६ से जवाब देंगे, पहले वस्तुविषयक नियोग का निरास करते हैं।

'आत्मा द्रष्टव्य' यह प्रतिपत्ति की विधि हो सकती है, न कि वस्तु की, क्योंकि विधि भावार्थ को विषय करती है। विधि की वस्तुविषयता अनुपपन्न है ॥६५४॥

शास्त्रप्रकाशिकानुसार मूल में 'न' के बाद 'वस्तुविषयः' का अध्याहार कर लेना चाहिये। कल्पलताकार ने 'प्रतिपत्तिविधिः' इस शब्द में प्रतिपत्ति - पद की प्रतिपत्तिविषय में लक्षणा मानी है अतः प्रतिपत्तिविधि का अर्थ ही हुआ आत्मविधि। तब अध्याहार नहीं करना पड़ता। अर्थ दोनों हालतों में एक ही है।

यद्यपि वादी विधि को साध्यार्थक ही मानता है, वस्तुविषयक नहीं, तथापि यदि वह कहे 'आत्मा विधिविषयः शास्त्रविषयत्वाद् यागवत्' तो भावार्थता उपाधि होगी यह तात्पर्य है। वादी उक्त अनुमान से विधिविषयता कहकर आत्मा की वस्तुरूपता का अपलाप करना चाह सकता है, एक कूटस्थ आत्मा की जगह प्रक्रियाशृंखला को आत्मा मानने की संभावना उपस्थित कर सकता है ताकि ज्ञानकाण्ड की जड़ ही उखड़ जाये क्योंकि नित्य आत्मा ही न होगा तो वेदांत अनर्थक ही रहेंगे। ऐसी स्थिति में कर्मकाण्ड की आवश्यकता और बढ़ती जायेगी क्योंकि कुछ-न-कुछ करते रहने से ही आत्मा बचा रहेगा, करना छोड़ते ही आत्मा नष्ट हो जायेगा। यद्यपि अस्तिकों में ऐसी मान्यता नहीं तथापि क्षणिकविज्ञानवादी एवं कुछ आधुनिक पाश्चात्य चिंतक इसी तरह की कल्पनायें उपस्थित करते हैं। समाजशास्त्री मीड ने जडाद्वैत का ऐसा ही प्रतिपादन किया है जिसमें जड-चेतन को जड की प्रक्रियाओं का ही नाम स्वीकारा है। अतः वार्तिककार इस संभावना का निराकरण सूचित कर रहे हैं। क्रिया क्योंकि पूर्वापरीभावरूप है (सं० शा० १.४९२) यह प्रत्यक्ष है (विवरण पृ० ६५१) और क्योंकि वह स्वातिरिक्त में (द्रव्य में) ही उपलब्ध होती है इसलिये क्रिया को पदार्थान्तर मानना ही पड़ेगा। संयोगविभागपरंपरा को क्रिया नहीं कह सकते, क्रमशः संयोगादिके प्रति जो हेतु है वह क्रिया है। वह हेतु यदि जडस्वरूप हो तो हमेशा क्रिया होगी, या कभी नहीं होगी क्योंकि कादाचित्क में कोई कारण नहीं रहेगा। कादाचित्कता प्रत्यक्ष है अतः क्रिया को जड से विलक्षण मानना ही पड़ेगा अर्थात् उसे अपने कादाचित्कत्वमें स्वतंत्र मानना होगा; अतः जडाद्वैत की संभावना नहीं रहेगी। क्रिया में स्वातंत्र्य मानना है तो जडमें ही मान लें - यदि ऐसा कहो तब चेतन का ही नामान्तर जड हो जायेगा और चिदद्वैत ही स्थापित रहेगा। यद्यपि इस दृष्टि से जो प्रत्यक्ष है वह संयोगविभागपरंपरा होने से क्रिया नहीं है क्योंकि क्रिया उसके हेतु को माना तथापि प्रत्यक्षलिंगक होने से प्रत्यक्षत्व का उपचार हो जाता है। वस्तुतस्तु प्रकृत क्रिया आत्म-प्रत्यक्ष या अपरोक्ष है अर्थात् हमें अपरोक्ष है कि हमारे देहादिके पूर्वापरीभावका हेतु हम हैं। इस तरह क्रिया का पर्यवसान ज्ञान में होता है जिससे जडभिन्न चेतन नकारना संभव नहीं। यद्यपि प्रत्यभिज्ञा से स्थायी आत्मा सिद्ध करते हैं तथापि उससे स्थायी उपाधि ही सिद्ध हो सकती है, अतएव चोट आदि से उपाधि बिगड़ने पर प्रत्यभिज्ञा नहीं होती तथा

सिद्धेऽसिद्धेऽथ वैकात्म्ये विधिर्नैवोपपद्यते। नाऽऽकाशे नापि तत्पुष्पे पुंव्यापारानपेक्षता ॥६५५॥
न विधिर्दर्शनेऽपि स्यादन्योन्याश्रयदोषतः। दर्शनाद्विधिसंसिद्धेर्विधेर्दर्शनसिद्धितः ॥६५६॥

जन्मान्तर की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। इसलिये स्वसाक्षिकत्वलक्षण स्वातन्त्र्य ही आत्मसाधक हो सकता है और अतएव आत्मा अप्रमेय ही माना गया है। प्रमाण उसे संभावित ही कर सकते हैं। जहाँ परिणाम – परिस्पंद को क्रिया कहा है वहाँ भी कार्य में कारणवाचीशब्द का उपचार मानना चाहिये। वास्तविक क्रिया तो आत्मा ही कहा जा सकता है। एवमपि सभी प्रसिद्ध वादी जड – चेतन का अंतर स्वीकार कर चलते हैं तो क्रिया का ऐसा परिष्कार निष्प्रयोजन हो जाता है, अतएव आचार्यों ने उसे पूर्वापरीभाव या परिस्पंदादि रूप समझाया है। आत्मा के क्रियात्व में निष्क्रियत्वादि श्रुतियों के विरोध की शंका भी अतएव निरस्त हो जाती है : परिणामादि क्रियाओं का राहित्य ही श्रुति कह रही है। बल्कि उक्त क्रिया की आत्मरूपता में 'प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा' (कौ० ३.२), 'प्राणस्य प्राणः' (केन० १.२), 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४.४.१८), 'या प्राणेन संभवति' (कठ० ४.७) 'यतश्चोदेति सूर्यः' (कठ० ४.९), 'प्राणशरीरनेता' (मुं० २.२.७) 'येन वा वाचं व्याकरोति' (ऐ० ३.१) 'प्रेरितारम्' (श्वे० १.६) 'तेनेशितं कर्म विवर्तते ह' (श्वे० ६.२), 'आरभ्य कर्माणि' (श्वे० ६.४), 'स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६.८) आदि श्रुतियाँ ही प्रमाण हैं। अतः विधिकी आत्मविषयता के निराकरण के व्याज से आचार्य ने आत्मनिरास की संभावनाओं का ही निराकरण किया है ॥६५४॥

विधि वस्तुविषयक नहीं हो सकती यही समझाते हैं –

ऐकात्म्य (= अद्वितीय आत्मा) यदि सिद्ध है तो वैसे ही उसे विषय नहीं कह सकते जैसे आकाश को। और यदि वह असिद्ध है तो भी आकाशपुष्प की तरह विधिविषय नहीं हो सकता। सिद्ध और असिद्ध दोनों ही पुरुषव्यापार की अपेक्षा नहीं रखते ॥६५५॥

दोनों में अयोग्यता होने से पुरुषव्यापार की विषयता नहीं अतः उसके लिये पुंव्यापार का विधान संभव नहीं। यद्यपि यागादि में भी यही विकल्प होगा क्योंकि सिद्ध और असिद्ध दो ही कोटियाँ संभव हैं, तथापि वार्तिककार यथाप्रतीति साध्य को कोट्यंतर मानकर विधिगोचर स्वीकार रहे हैं क्योंकि वास्तव में तो विधिगोचर कुछ भी नहीं मानना है। अतएव भाष्यकारने विधि को अज्ञों के लिये प्रवृत्त माना है जिन्हे साध्य की प्रतीति है ॥६५५॥

'आत्मा द्रष्टव्यः' यह आत्मविषयक विधि नहीं हो सकती तो दर्शनरूप क्रियाकी विधि हो जाये? इस पर प्रश्न उठेगा कि क्या केवल दर्शन विहित है या आत्मदर्शन? केवल दर्शन मानोगे तब तो घटदर्शन से ही विधि संतुष्ट होने लगेगी! आत्मदर्शन को विहित मानना भी असंगत है –

दर्शनविषयक विधि भी नहीं बनेगी क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा – दर्शन से विधि संपन्न हो पायेगी व दर्शन हो पायेगा विधि से ॥६५६॥

ब्रह्मदर्शन का विधान करने पर ब्रह्मको पूर्वतः ही ज्ञात मानना पड़ेगा क्योंकि न्याय है 'नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः', विशेषणज्ञान के बिना विशिष्टज्ञान नहीं होता। अतः तात्पर्य निकलता है कि ब्रह्म ज्ञात हो तभी उसके ज्ञान की विधि की जा सकती है! और ब्रह्मज्ञान होगा क्यों? तो कहोगे कि ब्रह्मज्ञानकी विधि है इसलिये। इस तरह अन्योन्याश्रय है। अतः ब्रह्मविशिष्ट दर्शन की विधि संभव नहीं। इस विषय पर बहुत कोटियाँ आगे वार्तिककार को उठानी हैं।

ऐसा भी नहीं हो सकता कि वेदान्तों से ही ब्रह्मज्ञान भी हो जाये और उस ज्ञान में कर्तव्यबोध भी हो; क्योंकि विधि और वस्तु दोनों को वाक्यीय मानने पर वाक्यभेद होगा तथा वस्तु को वाक्यीय न मानने पर उसे अप्रामाणिक कहना होगा एवं तब अप्रामाणिक – विषयक दर्शन का विधान असंगत होगा। अदृष्ट – फलक दर्शन मानने पर आत्मा नित्यादि नहीं सिद्ध होगा और मोक्ष तो असंभव होगा ही, परलोक संबंधी आत्मा भी सांशयिक हो जाने से कर्मप्रवृत्ति भी रुक जायेगी।

[म.अ.सं. संस्करण में वार्तिक में 'वित्तेः' ग़लत छपा है, 'विधेः' पाठ है।] ॥६५६॥

न च यूपादिवच्छक्यं वेदेनैव समर्पणम्। ऐकात्म्यस्य स्वतः सिद्धेः साध्यत्वाद्यूपवस्तुनः ॥६५७॥

शंका है : यूप आदि अलौकिक वस्तुए हैं, लोक में कोई चीज़ 'यूप' नहीं कही जाती, वेद में ही इस शब्द का प्रयोग है। विधि मिलती है 'यूप में पशु बाँधे।' क्योंकि यूप से विशिष्ट बंधन विहित है इसलिये यूप की जानकारी चाहिये। लौकिक वस्तु न होने से प्रत्यक्षादि से यूप क्या है यह पता नहीं चलता। किन्तु वेद में ही वाक्यान्तर मिलते हैं 'यूप खैर का होता है। यूप को तराशो, अठपहलू बनाओ' आदि। 'यूपं तक्षति' वाराहश्रौतसूत्र में (१.६.१.१५) वाक्य है (द्रष्टव्य मीमांसा – उद्धरण – कोश, पुणे)। इन वाक्यों से पता चलता है कि खैर आदि विहित काष्ठों का विशिष्ट खंभा यूप कहाता है। इस जानकारी के बाद यूपविशिष्ट बंधन की विधि संभव हो जाती है। इसी प्रकार द्रष्टव्य – विधिका अंगभूत ब्रह्म भी 'सत्यं ज्ञानम्' आदि वाक्य से पता चल जायेगा और तब ब्रह्मविशिष्टदर्शन विहित होना संगत रहेगा। वाक्यभेद इसलिये नहीं कि वस्तु में (आत्मा में) अवांतरतात्पर्य है जबकि विधि में प्रधानतात्पर्य। [म.अ.सं. संस्करण में टीका में 'यूपादिलौकिकोऽर्थः' छपा है जैसा आनंदाश्रमीय मुद्रित पाठ है। किन्तु आनंदाश्रमसंस्करणमें 'यूपादिरलौकिकोर्थः' यह पाठांतर दिया है तथा यहाँ उपयुक्त प्रतीत होता है। यथामुद्रित में लौकिक शब्द का अर्थ है आत्मातिरिक्त, दृश्य वस्तु; आत्मा वैध होने पर भी शास्त्रीय हो सकता है जैसे यूपादि अनात्मवस्तु – यह तात्पर्य है।]

यद्यपि सर्वज्ञगुरु कहते हैं 'लोकप्रसिद्धार्थपदान्तराणां समीपसङ्कीर्तनतोऽपि शक्तिः। ब्रह्मादिशब्दस्य सुखावसेया यथा हि यूपादिगिरस्तथैव॥'१.२९०॥ तथा अद्वैतसिद्धिकार आदि ने भी इस रीति से स्पष्टीकरण किया है तथापि वार्तिककार बतायेंगे कि पदार्थमात्र लोक-मान से परिज्ञात हैं (श्लो० ८६२), वाक्यार्थ में अपूर्वता है, अतः वे यहाँ पदार्थों को शास्त्रसमर्पित नहीं मान रहे। 'प्रत्यगात्म-प्रसिद्धेः' यह अध्यासभाष्य यहाँ अनुसंधेय है। किं च वादी 'सत्यादिवाक्य अवान्तरतात्पर्य से आत्मबोधक हैं' यह कह रहा है और यह अस्वीकार्य होने से आचार्य इस पक्ष का उन्मूलन कर रहे हैं। सर्वज्ञादि के अनुसार अविविक्त अर्थ लोकमान से ज्ञात होने पर भी लक्ष्यभूत अर्थ अवान्तरवाक्यों से समर्पित है एवं वे अवान्तर वाक्य महावाक्य के शेष हैं, न कि किसी विधि के; अतः भाष्य-वार्तिक आदि से उनके व्याख्यान का कोई विरोध शंकनीय नहीं है। इस प्रकार चतुर्थ सूत्र में द्वितीय वर्णक का पूर्वपक्ष अभिप्रेत कर वार्तिककार सिद्धान्त सुनाते हैं –

यूपादि की तरह ऐकात्म्य का वेद से समर्पण नहीं हो सकता क्योंकि ऐकात्म्य स्वतः सिद्ध है। यूपवस्तु तो साध्य होने से विधिशेषतया बोध्य हो सकती है (ब्रह्म सिद्ध है अतः वैसे क्योंकर बोध्य होने लगा?) ॥६५७॥

'यूपादिवत्' में यूपादिसादृश्य विधिशेषतया समर्पण में है यह शास्त्रप्रकाशिकाकार ने कहकर सूचित कर दिया कि शेषतया न मानो तो यूपादिदृष्टान्त अनुपपन्न नहीं। परमात्मा स्वयंप्रकाश होने से उसे जानने के लिये वेद बाँचने की क्या ज़रूरत? यह अभिप्राय है। यूप तो विधिशेष होने योग्य है अतः शेषतया उपदेशार्ह है जबकि आत्मा अयोग्य है। यूप का आकारविशेष साध्य है, भले ही लकड़ी रूप से वह सिद्ध हो; किन्तु आत्मा तो किसी तरह भी साध्य है नहीं कि उसका विधेयतया अर्थात् विधिशेषरूप से समर्पण संभव हो। आत्मा की स्वतः सिद्धि इसलिये कही कि सत्यादि वाक्यों से आत्मा का ज्ञान यदि पूरा ही हो जाये तो विधि व्यर्थ होगी। यूपस्थल में तो यूप का ज्ञान होने के बाद उसे तैयार कर उसमें पशु बाँधना है, जबकि द्रष्टव्यमें केवल दर्शन विहित मान सकते हो; अतः सत्यादि वाक्यों से दर्शन हो जाये तो विधि से क्या किया जायेगा! इसलिये कहना पड़ेगा सत्यादि वाक्य आत्मा का सामान्य ज्ञान करायेंगे और विधि विशेषज्ञान के लिये प्रेरित करेगी। किन्तु वार्तिककार कहते हैं कि सामान्य ज्ञान तो सबको है ही, उसके लिये सत्यादिवाक्य की अपेक्षा है ही नहीं ॥६५७॥

विधिशेषरूप से ब्रह्म सत्यादिवाक्यों से बोध्य नहीं यह सिद्ध हो गया। यदि विधिशेष हुए बिना वह वाक्यगम्य है यह स्वीकारो तब तो शांकर सिद्धांत ही पर्यवसित हो गया –

सिद्धं चेद्दर्शयेद्वेदः प्रसिद्धं दर्शनं तथा। तन्निष्ठं च भवेद्वाक्यं व्यर्थता च विधेस्तदा ॥६५८॥
सर्वमात्मेति वाक्यस्य न च वस्तुन्यसंभवः। येनार्थस्यासमाप्तत्वात्क्रियेताध्याहृतिः पदे ॥६५९॥
आत्मा ब्रह्मेति विज्ञानं विधिं नैव व्यपेक्षते। यस्मात्तच्छ्रुतवाक्यस्य स्वयमेवोपजायते ॥६६०॥

यदि वेद सिद्ध वस्तु की प्रमा करा दे तो विश्वप्रसिद्ध शाङ्कर दर्शन ही स्थापित हो गया। सिद्धबोधक होने पर वाक्य का तात्पर्य भी उसी में रहेगा, विधि में नहीं। तथा जब वाक्य से ही बोध हो जायेगा तो बोध की विधि व्यर्थ ही होगी ॥६५८॥

वाक्य सिद्धार्थ का ज्ञान कराये एवं उपक्रमादि से तत्परक भी सिद्ध हो तो उसे विधिशेष नहीं कह सकते। अर्थात् वस्तु में अवान्तरतात्पर्य नहीं मान सकते प्रधान तात्पर्य ही मानना पड़ेगा। यूपादिवाक्य तो उपक्रमादि से यूपपरक नहीं सिद्ध होते, यह भाव है।

सत्यादि को अवान्तरवाक्य कहते हैं। महावाक्यघटक पदों के अर्थ बताने वाले का नाम अवान्तर वाक्य है। सत्यादि वाक्य उतने ही प्रयोजन से प्रवृत्त हैं अर्थात् महावाक्यार्थ में अन्वय के योग्य पदार्थों को बताने में ही तात्पर्य वाले हैं। उनकी विधिशेषता नहीं है। 'अधीहि भगवो ब्रह्मेति' से जिज्ञासित होने से सत्यमादि वाक्य उसे बताने मात्र से कृतार्थ है ॥६५८॥

सिद्धार्थक वाक्य में विधि अध्याहार्य भी नहीं :

'सब आत्मा है' इस वाक्य का बोधोत्पादकत्व असंभव तो है नहीं कि साकांक्षता होने से विधिपद का अध्याहार किया जाये ॥६५९॥

'दरवाज़ा' इतना ही सुनकर आकांक्षा बनी रहती है अतः 'खोलो' इत्यादि योग्य पदान्तर अध्याहार से समझ लिया जाता है। किन्तु जहाँ निराकांक्ष ज्ञान हो जाये, जैसे 'यह राजा है' आदि (द्रष्टव्य सं०शा० १.२८१) वहाँ अध्याहार नहीं होता। अधिकारी को वेदान्तवाक्य सुनकर निराकांक्ष बोध हो जाता है अतः अध्याहार की संभावना नहीं। संभावना होती भी है योग्य पदांतर के अध्याहार की, न कि विधि का ही अध्याहार चाहिये। अतः वेदांत में विधि समझना अनर्थक है। श्लोक ७०० आदि में इस बात का और स्पष्टीकरण करेंगे ॥६५९॥

अब बताते हैं कि ज्ञान-विधि संभव नहीं। विधेय ब्रह्मज्ञान कौन-सा है : शब्दश्रवण से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान? या भावना (उपासना)? या साक्षात्कार? इनमें भावना और साक्षात्कार पक्षों का विचार सौ श्लोकों बाद होगा। पहले शाब्दज्ञान की विधि पर विचार करते हैं। यहाँ छह संभावनायें हैं: i) शाब्दज्ञान उत्पन्न हो इसलिये विधि है; ii) उत्पन्न हुए ज्ञान के विषयका निश्चय हो इसलिये विधि है; iii) वाक्य तात्पर्यवान् हो सके इसलिये विधि है; iv) ज्ञान सफल हो इसके लिये विधि है; v) ब्रह्म अन्य प्रमाणों का विषय न बने इसलिये विधि है; या vi) पदों के अर्थों का आपसी सम्बंध स्थापित हो सके इसके लिये विधि है? इनमें प्रथम संभावना का निरास करते हैं :

'आत्मा ब्रह्म है' यह विज्ञान विधि की अपेक्षा नहीं ही करता है क्योंकि जिसने वाक्य सुना है उसे यह विज्ञान स्वयं ही हो जाता है ॥६६०॥

आत्मा से प्रत्यक्तत्त्व तथा विज्ञान से प्रमा विवक्षित हैं। 'स्वयं ही' अर्थात् वाक्य से ही। अथवा 'स्वयम्' से प्रमा की क्लृप्त सामग्री समझनी चाहिये ॥६६०॥

उक्त बात में दृष्टांत देते हैं -

यजेतेतिविधिज्ञानं न विध्यन्तरमीक्षते। विध्यन्तरेऽनवस्था स्यान्न चायं कर्मणि स्थितेः ॥६६१॥
प्रतिपन्ने विधेयार्थे प्रवृत्तिः फलमिष्यते। प्रवृत्तेश्च विधिज्ञानमेवमन्योन्यसंश्रयः ॥६६२॥
बोधेऽस्मिञ्शब्दतो जाते न प्रवर्त्योऽफलत्वतः। अनुत्पन्ने च नितरां प्रवृत्तेर्हेत्वसंभवात् ॥६६३॥

'यजेत' इस विधि के ज्ञान के लिये कोई अन्य विधि नहीं चाहिये। यदि अन्य विधि की ज़रूरत पड़े तो अनवस्था होगी। 'यजेत'-यही विधि अपने ज्ञान की विधि-आकांक्षा मिटा सके यह भी संभव नहीं क्योंकि यह तो कर्म को (याग को) विषय करती है, (स्वज्ञान को नहीं) ॥६६१॥

'स्वर्गकामो यजेत' आदि विधियों से जो यह पता चलता है कि याग करना चाहिये, वह जानकारी किसी विधि से नहीं होती क्योंकि अव्वल तो ऐसी विधियाँ मिलती नहीं कि 'स्वर्गकामविधिं जानीयात्', 'पशुकामविधिं जानीयात्' इत्यादि, और अगर मिलें तो भी प्रश्न होगा कि उन्ही विधियों की जानकारी किस विधि से होगी! अतः विधिज्ञान को विधि से होने वाला मानने पर अनवस्था होगी। स्वाध्यायविधि से अन्य विधियों का ज्ञान मानो तो भी स्वाध्यायविधिका ज्ञान किस विधि से होगा? अतः यह पक्ष भी संभव नहीं। यदि कहो कि याग को कर्तव्य बताने वाली 'यजेत' यह विधि ही विधिज्ञान में भी प्रवृत्त कर देती है; तो भी अनिष्ट होगा क्योंकि तुम विधिका विषय यागादि धात्वर्थ मानते हो, ज्ञान को नहीं, अन्यथा विधिज्ञान से ही स्वर्ग मिल जायेगा तो याग व्यर्थ होगा! विषयद्वय मानो तो वाक्यभेद होगा ही। अतः मानना होगा कि 'यजेत' यह वाक्य ही कर्तव्यताज्ञान पैदा कर देता है। तब महावाक्य ही ब्रह्मज्ञान पैदा कर देंगे, विधि की क्या ज़रूरत? ॥६६१॥

इसी पक्ष में और भी दोष दिखाते हैं –

विधिका फल माना जाता है कि समझे हुए विधेय धात्वर्थ को सिद्ध (= निष्पन्न) करने वाली प्रवृत्ति की जाये। यदि प्रवृत्ति से विधेय का ज्ञान होगा तो अन्योन्याश्रय दोष व्यक्त है ॥६६२॥

यागादि धात्वर्थ की जानकारी रहते जब 'यजेत' विधि सुनी जाती है तो यही इसका फल है कि श्रोता याग को संपन्न करे। अर्थात् विधिजन्य प्रवृत्ति से पूर्व विधेय धात्वर्थ का ज्ञान ज़रूरी होता है, अन्यथा 'क्या करूँ?' यही प्रश्न हो सकता है, न कि याग में प्रवृत्ति। अब यदि विधेय की जानकारी के लिये विहित प्रवृत्ति की ज़रूरत हो तब तो अन्योन्याश्रय है ही : विधेयज्ञान से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से विधेयज्ञान। ब्रह्मज्ञान की विधि मानोगे तो यही परिस्थिति बनेगी क्योंकि विधेय जो ब्रह्मज्ञान उसकी जानकारी के लिये विशेषणभूत ब्रह्मका ज्ञान चाहिये तथा वही ज्ञान तब हो पायेगा जब वैधप्रवृत्ति हो; अतः यह विधि असंभव है। श्लोक ६५६ में कहा दोष उत्पत्ति में था अर्थात् ज्ञान की और विध्यर्थ की उत्पत्ति अन्योन्याश्रयग्रस्त कही थी; यहाँ ज्ञप्ति में दोष है अर्थात् विधिज्ञान और विधेयके ज्ञान में अन्योन्याश्रय है।

'प्रवृत्तेश्च विधिज्ञानम्' में विधिका अर्थ है विधि का विषय ॥६६२॥

यह भी सोचना चाहिये कि वाक्य से ब्रह्म का ज्ञान होता है या नहीं? दोनों हालतों में विधि व्यर्थ है –

शब्द से यदि ब्रह्मविषयक बोध हो जाये तो विधि से पुरुष उसके लिये प्रवृत्त नहीं किया जा सकता क्योंकि बोधरूप फल हो ही चुका है। और यदि शब्द से ब्रह्मज्ञान होता ही नहीं तब तो विधि पुरुषको प्रवृत्त करे यह और भी असंभव है क्योंकि प्रवृत्ति का हेतुभूत ज्ञान ही अनुपस्थित है ॥६६३॥

यदि ब्रह्मबोधकवाक्यों से ही ब्रह्मज्ञान हो जाये तो विधि की ज़रूरत नहीं यह स्पष्ट है। और यदि उन वाक्यों से ब्रह्मज्ञान न हो तब ब्रह्मज्ञान की विधि असंभव है क्योंकि इस विधिका विषय जो ब्रह्मज्ञान वह हो ही कैसे सकेगा? जैसे यागज्ञान यागप्रवृत्तिमें हेतु है ऐसे ब्रह्मज्ञान का ज्ञान ब्रह्मज्ञान में प्रवृति का हेतु है। जब ब्रह्मज्ञान वाक्य से होना नहीं तब ब्रह्मज्ञान का ज्ञान कैसे होगा और उसके विना ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्ति कैसे होगी? ज्ञान के बिना तो विधि भी प्रवृत्त कर नहीं

अथ निश्चयसिद्ध्यर्थमुत्पन्नेऽपि प्रवर्त्यते। स निश्चयो वः किं शब्दादथान्यस्मादितीर्यताम् ॥६६४॥
शब्दाद्यदि तदेवेदमायातं पूर्वदूषणम्। अन्यस्मिन्निष्यमाणे च सापेक्षत्वं प्रसज्यते ॥६६५॥
अविवक्षितनुत्त्यर्थमथात्र विधिरिष्यते। अयं ज्ञेयोऽर्थ इत्युक्तौ स्याद्विवक्षितधीर्यतः ॥६६६॥
नैवमुत्सर्गतो यस्माच्छब्दानां लोकवेदयोः। विशिष्टार्थैकनिष्ठत्वं स्वतो न विधिहेतुतः ॥६६७॥

सकती, अन्यथा याग सीखने की ज़रूरत ही न पड़े, यागज्ञान के बिना ही विधि से यागप्रवृत्ति हो जाये! किं च शाब्दज्ञान की विधि का मतलब ही है कि शब्द से ब्रह्मज्ञान उत्पन्न करो। लेकिन जब शब्द से ब्रह्मज्ञान होना ही नहीं तो विधि काहे की हो सकेगी? असंभवार्थक विधि ही अप्रमाण हो जायेगी। यदि विधिप्रेरित होकर शब्दश्रवण से ज्ञान होता है, बिना विधिप्रेरणा के वही शब्द ज्ञान नहीं कराता ऐसी कल्पना करो; तो बताना पड़ेगा कि विधि का न होगा – अर्थात् विधिप्रेरित हुए बिना सुनना – क्या शब्दसामर्थ्य प्रतिबद्ध करता है या बोद्धा की सामर्थ्य को? अव्वल तो विधिप्रेरितता का अभाव इसीलिये कुछ नहीं कर सकता कि अभाव है; कुछ कर सकता है यह मान लें तो भी शब्द की शक्ति को नहीं रोक पायेगा क्योंकि वह शब्दनिष्ठ है जबकि प्रेरितता का अभाव पुरुष की श्रवणप्रवृत्ति में है। अतः बोद्धा की सामर्थ्य रोकता है यही कह सकोगे। उसमें प्रश्न होगा कि यह रुकावट दृष्टद्वारा होती है कि अदृष्टद्वारा? दृष्टद्वारा तो कह नहीं सकते क्योंकि कोई ऐसा द्वार बताया नहीं जा सकता। अदृष्टद्वारा हो तब भी वह अदृष्ट फल को ही रोक पायेगी, दृष्ट फल को नहीं; जैसे अवैध अवहनन से तुषविमोक तो रुकता नहीं; तथा शब्द से ब्रह्मज्ञान दृष्ट फल स्वीकार्य है। अतः बिना विधि से प्रेरित हुए किया श्रवण भी इसे रोक नहीं सकता ॥६६३॥

अब द्वितीय विकल्प उठाते हैं :

यदि कहते हो कि ज्ञान उत्पन्न होने पर भी निश्चय पाने के लिये पुरुष को विधि प्रवृत्त करती है; तो बताओ कि तुम्हारे मत में वह निश्चय शब्द से ही होता है या अन्य किसी प्रमाण से? ॥६६४॥ यदि शब्द से मानो तब तो पूर्वोक्त दोष ही प्राप्त होगा, और यदि प्रमाणांतर स्वीकारो तो वेद को प्रमाणान्तर-सापेक्ष मानना पड़ेगा ॥६६५॥

वादी भी वेद को स्वतः प्रमाण मानता है। इस विषय में बादरायण और जैमिनि का ऐकमत्य है कि वेद को प्रमाणांतर की अपेक्षा नहीं, 'तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' यह मीमांसासूत्र (१.१.५) है। यदि निश्चयोत्पत्ति के लिये प्रमाणांतर चाहिये हो तब तो सापेक्षता हो जायेगी जो उसे अनिष्ट है।

शाब्दज्ञान होने पर भी जो निश्चयाभाव रहता है उसमें हेतु है दोष। यह अद्वैतरत्नरक्षणमें (पृ० ३२-३४) स्पष्टतर है। दोष को ही पुरुषापराध शब्द से सर्वज्ञमुनि ने कहा है। पुरुषापराध की पंचविधता मधुसूदनस्वामी ने संक्षेपशारीरकटीकामें (३.१) विस्तार से समझायी है। अतः सिद्धांती को स्वीकृत साधना से शास्त्र में सापेक्षता की संभावना नहीं। अतएव उत्तमाधिकारी को सकृत् श्रवण से ज्ञान मान्य है। वादी इस प्रक्रिया को अपना नहीं सकता क्योंकि तब उसे भी इसी तरह श्रवणमात्रसे ज्ञान स्वीकारना पड़ेगा ॥६६४-६६५॥

वाक्य का तात्पर्य आत्मवस्तु में हो सके इसलिये विधि चाहिये – इस तृतीय विकल्प का खण्डन करते हैं :

यदि कहो कि यहाँ विधि इसलिये चाहिये ताकि वस्तु अविवक्षित है यह संभावना हट जाये, क्योंकि 'ज्ञेय अर्थ यह है' यों कह देने पर विवक्षित अर्थ का ज्ञान हो जाता है ॥६६६॥ तो यह कहना भी अनुचित है। कारण है कि लोक में और वेद में यह स्वारसिक नियम है कि पद योग्यान्वित अर्थ को विषय करते हैं। इसमें वे स्वयं समर्थ हैं, किसी विधि के कारण वे ऐसा करते हों यह बात नहीं है ॥६६७॥

वादी का कहना था कि 'आत्मा को जानो' सुनकर पता लगेगा कि आत्मबोधक वाक्य आत्मप्रतिपादक हैं। अन्यथा वे वाक्य आत्मप्रतिपादनार्थ हैं यह पता नहीं लगेगा। सिद्धांती ने उत्तर दिया कि पदों का स्वार्थसमर्पकत्व तो पदशक्ति पर

अविशिष्टश्च वाक्यार्थस्तथा लौकिकवैदिक- । वाक्ययोर्गम्यते यस्माद्विधिर्नातो विवक्षितः ॥६६८॥
अपि दृष्टार्थतैकात्म्ये कर्मस्विव न भिद्यते। वेदाधीतिविधेस्तस्माद्विधिरत्र निरर्थकः ॥६६९॥

निर्भर है, विधि पर निर्भर है नहीं। अतः आत्मविषयक वाक्य में आये पद भी बिना विधि के ही अपने बोध्य अर्थों को उपस्थित कर लेंगे। वाच्य अर्थ योग्येतरान्वित होता है यह पूर्व में सविस्तर कह चुके हैं अतः वार्तिक में 'विशिष्टार्थ' कह दिया। इस प्रकार अर्थबोधन में पदों को विधि नहीं चाहिये यह कहा ॥६६६-६६७॥

वाक्य भी वाक्यार्थ का बोध कराने के लिये विधि की अपेक्षा नहीं करता यह कहते हैं -

पदों की तरह वाक्य भी लोक व वेद में एक ही ढंग से अर्थ कहता है अतः जैसे बिना विधि के लौकिक वाक्य विशिष्ट अर्थ में तात्पर्य रखता है वैसे ही वैदिक वाक्य भी। अतः विधि को विवक्षित नहीं मान सकते ॥६६८॥

'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (१.२.४०) यह जैमिनीयों का सिद्धान्त है। अतएव कर्मविनियुक्त होने पर भी मंत्र अर्थबोध करा पाते हैं। एवं च अर्थबोध कराने में विनियुक्तत्व न हेतु है, न प्रतिबंधक। आत्मवाक्य भी स्वार्थबोध करा सकते हैं, रुकावट कुछ नहीं है। इसलिये वाक्यतात्पर्यनिर्धारणार्थ विधि को अभिप्रेत मानना अनर्थक है क्योंकि बिना विधि के तात्पर्यसमर्पण रुकता नहीं ॥६६८॥

किं च कर्मकाण्डी अध्ययनविधि को दृष्टफलक मानता है, मंत्रग्रहणपूर्वक अर्थज्ञान ही उसका फल है। तब ज्ञानकाण्ड की श्रुतियाँ भी इस दृष्टफल को उत्पन्न करने से रोकी नहीं जा सकती -

वेदाध्ययन की विधि जैसे कर्मकाण्ड में दृष्टार्थ है वैसे ऐकात्म्यकाण्ड में भी। वह विधि दोनों काण्डों को एक तरह से ही विषय करती है, अलग-अलग तरह से नहीं। अतः ज्ञानकाण्ड में ब्रह्मज्ञानविषयक विधि निष्प्रयोजन है ॥६६९॥

स्वाध्यायविधि सारे वेद को पढने के लिये कहती है; कर्मकाण्ड को दृष्ट फल के लिये पढो, ज्ञानकाण्ड को ब्रह्मज्ञान के लिये पढो ऐसी विभिन्न प्रवृत्ति तो उसकी है नहीं क्योंकि ऐसा मानने के लिये कोई आधार नहीं। अतः जब सारा वेद और उसका अर्थ समझने के लिये कह दिया तो ज्ञानकाण्ड का अर्थ ही कैसे इस विधिं की अपेक्षा करेगा कि 'आत्मा का दर्शन करो'? इसलिये यह विधि बेकार है, वेदान्तों का स्वार्थ में तात्पर्य है यह तो अध्ययनविधि से ही लभ्य है, जैसे कर्मवाक्यों का कर्म में तात्पर्य उसी विधि से मान्य है।

जिनके मत में स्वाध्यायविधि अक्षरग्रहण की ही है वे अर्थज्ञान के लिये कोई विधि नहीं मानते क्योंकि वह तो स्वतः ही होता है जैसा गुरुमतानुसारी प्रथमाधिकरणन्यायमालाविस्तर में कहा है 'साङ्गवेदाध्यायिनो निगमनिरुक्तव्याकरणैर्व्युत्पन्नस्य पौरुषेयग्रन्थेष्विव वेदेऽपि अर्थावबोधः स्वतएव प्राप्नोति।' किन्तु जो वेदार्थ का विचार है, मीमांसा है, उसका प्रयोजक वे फल को मानते हैं: वेदाध्ययन का फल है स्वकीय धर्म का सही निश्चय ताकि सही अनुष्ठान हो सके, और वह बिना विचारपूर्वक धर्म समझे नहीं होता इसलिये मीमांसा करनी अनिवार्य हो जाती है। यह प्रकरणपंचिका के शास्त्रमुख में (पृ० २६-२८) भी व्यक्त है। वहाँ यह भी स्पष्ट कहा है कि विचार को आक्षेपलभ्य मानना चाहिये 'यच्च तदर्थावबोधाख्यं प्रयोजनं तत्र केवलाध्ययनसाध्यमित्यध्ययनविधिरेव स्वप्रयोजनसिद्धये विचारमाक्षिपति।' आचार्य पद्मपादने भी इनके मत का कथन किया है (पृ० ३६७) 'फलप्रयुक्तएवार्थावबोधः।' एवं च स्वाध्यायविधि को चाहे अर्थग्रहण पर्यन्त साक्षात् ले जायें या अर्थात्, उभयथापि वेदवाक्यों की स्वार्थबोधकता का अपलाप नहीं होता। अतः आत्मज्ञान की विधि होने पर ही आत्मवाक्यों का स्वार्थ समझ आयेगा ऐसी संभावना नहीं की जा सकती।

आपातार्थ समझ कर आत्ममीमांसा करनी जरूरी है या नहीं? यह प्रश्न अवश्य उठ सकता है। आचार्यों ने बताया है कि श्रोतव्यविधि मीमांसा का विधान करती है। 'आत्मनः ... श्रवणेन ... सर्वं विदितम्' (बृ० २.४.५) कहा होने से सर्वज्ञता

विधेर्विध्यन्तरेऽभीष्टे कृत्स्नोऽर्थोऽप्यविवक्षितः। पूर्वोक्तेनैव न्यायेन नैव कल्प्यो विधिस्ततः ॥६७०॥
मतं पुमर्थसिद्ध्यर्थं ज्ञानस्य विधिरिष्यते। फलस्य विध्यधीनत्वादुपेक्षाफलताऽन्यथा ॥६७१॥
ज्ञेयव्याप्त्यतिरेकेण न विज्ञानात्फलान्तरम्। इष्यते कर्मवन्नातस्तदर्थं विधिकल्पना ॥६७२॥
यदाऽपि मातरि फलं तदाऽपि विधिनाऽत्र किम्। मातृमानप्रमेयादौ तत्सिद्धेर्विधिना विना ॥६७३॥

चाहने वाला श्रवण कर लेगा। जो यह फल नहीं चाहता वह आत्ममीमांसा नहीं करेगा। किन्तु एतावता उसे आत्मवाक्यों का स्वार्थ आपाततः नहीं भासेगा ऐसा नहीं कह सकते। कुछ एकदेशी श्रोतव्यविधि नहीं मानते किन्तु वे विचारप्रवृत्ति का समर्थन इसीसे कर लेते हैं कि स्वाध्यायविधि जब सारे वेद का अर्थज्ञान करने के लिये कह रही है तो वेदान्तज्ञान भी वही करा लेगी और उसके लिये ज़रूरी होने से विचार कर्तव्य हो जाता है। यह भामती में (पृ० ७८) स्पष्ट है ॥६६९॥

यह कहने पर कि स्वाध्यायविधि से मान्य है कि वेदवाक्यों का स्वार्थ विवक्षित है, वादी प्रश्न करेगा कि पहले (श्लो० ६६७) कहा था कि शब्द को अपना अर्थ कहने में विधि की ज़रूरत नहीं होती, उस सिद्धांत का विरोध क्यों न होगा? उत्तर है कि स्वाध्यायविधि से स्वार्थपरतानिश्चय तो वादी की मान्यता को स्वीकार कर कह दिया है, वास्तव में वह सिद्धांती को इष्ट नहीं, पूर्वोक्त (६६७) सिद्धांत ही उचित है।

विधि की स्वार्थपरता के लिये अन्य विधि अपेक्षित हो तो सारे ही वेद का अर्थ अविवक्षित मानना पड़ेगा! अतः पहले कही युक्तियुक्त व्यवस्था के अनुसार तात्पर्यसिद्धि के लिये विधि की कल्पना नहीं ही करनी उचित है ॥६७०॥

अध्ययनविधि का स्वार्थ में तात्पर्य है इसका नियामक यदि अन्य विधि को मानोगे तो अनवस्था होगी तथा 'मूलहानिकरी अनवस्था' न्याय से स्वाध्यायविधि ही स्वार्थ में तात्पर्यरहित हो जायेगी फलतः सारा ही स्वाध्याय अर्थात् वेद अविवक्षितार्थक मानना पड़ेगा! यदि स्वाध्यायविधि का स्वार्थ में तात्पर्य बिना अन्य विधि के मानो तो सारे ही वेद का उसी तरह मानना संगत होगा, स्वाध्यायविधि से वेद विवक्षितार्थक है ऐसा मानना व्यर्थ हो जायेगा। इसी तरह ज्ञानविधि भी व्यर्थ है ॥६७०॥

चौथा विकल्प (शलोक ६६० में) था कि पुरुषार्थता के लिये विधि चाहिये। अब उस पर विचार करते हैं :

यदि मानते हो कि फल विधिनिमित्तक होता है, विधि न हो तो फल विवक्षित नहीं होता, अतः ज्ञान पुरुषार्थ है यह सिद्ध हो सके इसके लिये विधि चाहिये ॥६७१॥ [तो वह मानना भी ठीक नहीं।] ज्ञेय को व्याप्त कर लेने से अतिरिक्त कोई फल विज्ञान का माना नहीं जाता, [और ज्ञेयव्याप्ति के लिये विधि की ज़रूरत पड़ती नहीं।] जैसे कर्मका फल कर्ता को ही होता है ऐसे ज्ञान का फल ज्ञाता को ही होगा, अतः ज्ञेयगत किसी फलविशेष की संभावना नहीं जिसके लिये विधि की कल्पना की जाये ॥६७२॥ और जब प्रमाता में ही फल होना है तो इसमें विधि से क्या प्रयोजन! प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि सामग्री समवधान होने पर अनुभवरूप फल बिना विधि के ही सिद्ध हो जाता है ॥६७३॥

वादी का मत था कि यागादि इसीलिये सफल हैं कि उनकी विधि है अतः ज्ञान भी तभी सफल होगा जब उसकी विधि मानी जाये।

सिद्धान्ती का कहना है कि ज्ञानका फल तो विषयनिश्चय ही है और इसके लिये विधि नहीं चाहिये यह श्लोक ६६४ आदि में कह चुके हैं। 'ज्ञेय को व्याप्त करना' अर्थात् ज्ञेयसम्बंधी अविद्या निवृत होना। ज्ञान विषय का अवभासक होता है तथा अवभासक होने का यही मतलब है कि वह विषय के सत्ता प्रकारकसंशयादिका विरोधी हो, विषयके बारे में 'है या नहीं?' ऐसे संशयादि को हटा दे। सारसंग्रहानुसार (३.६१) 'तत्सत्ताप्रकारकसंशयादिविरोधित्वं तदवभासकत्वम्' यह

निश्चित होता है। कल्पलतानुसार ज्ञेयव्याप्ति का अर्थ है प्राकट्य; भाट्ट ज्ञान का फल ज्ञाततोत्पत्ति या प्राकट्य मानते हैं, किन्तु वे भी उसे विधिकृत नहीं मानते, यह तात्पर्य है। ज्ञाता में होने वाले ज्ञान का फल ज्ञेय पर मानना अनुचित है क्योंकि जैसे कर्मफल कर्ता को मानते हैं, स्वर्गादि को फलप्राप्ति होगी ऐसा नहीं मानते, वैसे ज्ञानफल भी ज्ञाता को होगा यह मानना संगत है – यह 'कर्मवत्' से शास्त्रप्रकाशिका में विवक्षित माना है। यद्यपि सिद्धांत में भी अपरोक्षज्ञान से विषयगत आवरण की निवृत्ति मानी गयी है – प्रमाण ज्ञातताजनक होते हैं ऐसा तत्त्वदीपन में (पृ० ५२) कहा है – तथापि टीकाकार का तात्पर्य है कि वहाँ भी विषयावच्छिन्न चैतन्य ही फलाश्रय होता है और अपरोक्ष स्थल में विषयावच्छिन्न एवं अन्तःकरणावच्छिन्न में अभेद स्थापित हो चुकता है जिससे फल ज्ञातृनिष्ठ ही रहता है। अत एव एक व्यक्ति को अपरोक्ष होते समय भी अन्य व्यक्ति को यदि उसी वस्तु का परोक्ष ज्ञान कराया जाये तो उसे विषयभान नहीं हो जाता। यदि विषयगत ही आवरण होता और नष्ट हुआ होता तो सभी के लिये विषय अनावृत होना चाहिये था। इसीलिये विवरणोपन्यासकारने (पृ० १६) कहा है कि अवस्थाऽज्ञान व्यासज्यवृत्ति होकर विषयचैतन्य और साक्षी दोनों पर रहते हैं। न्यायरत्नावली (पृ० ११५-१६) को भी यही अनुकूल लगा है। अतः ज्ञान का फल ज्ञाता में ही होना उचित है ज्ञेय में नहीं। जो तो कुछ आधुनिक भौतिकवादी ज्ञान से ज्ञेय के व्यवहार में अंतर का वर्णन करते हैं वह तो वृत्तिज्ञान से सम्बद्ध हो सकता है क्योंकि भौतिक होने से वृत्ति का भौतिक पदार्थों पर असर पड़ना संगत है। किन्तु यह अन्तर ज्ञानफल नहीं है। ज्ञानफल तो अज्ञाननिवृत्ति ही है 'ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकम्' (पंचाप. पृ० २७)।

यदि 'कर्मवत्' का ऐसा गंभीर तात्पर्य न मानना हो तो विद्यासागरी का अर्थ समझना चाहिये – जैसे कर्म का कालांतरभावी फल माना जाता है ऐसे ज्ञान का प्राकट्यातिरिक्त फल नहीं माना जाता। अर्थात् कर्म को व्यतिरेकी दृष्टान्त समझ लेना चाहिये।

ज्ञानफल ज्ञाता में ही संभव है यह स्थापित हुआ। किन्तु इसके लिये भी विधि क्यों न अपेक्षित हो? इसलिये कि ज्ञान का फल है स्फुरण, अनुभव, और ज्ञाता के साधक (= सिद्धिकर्ता) रूप से वह स्फुरण नित्यसिद्ध है, विधिकृत नहीं है। तात्पर्य है कि विधि से यदि फल ज्ञाता में होगा तो भी ज्ञाता को फलोत्पत्ति से पूर्व सिद्ध होना पड़ेगा। वह सिद्धि जिससे होती है वही तो फल है! अतः ज्ञाता में फल को विधितः मानना संभव नहीं। यदि कहो कि ज्ञाता में फल सनातन भले ही हो पर उसका सम्बन्ध प्रमेयादि से हो सके इसके लिये विधि चाहिये; तो यह कथन ठीक नहीं क्योंकि जिस न्याय से उसे ज्ञाता का सदा भासक मानना पड़ा उसी न्याय से प्रमेयादिका भी साधक मानना पड़ेगा : प्रमेय में फलसम्बंध विधिकृत मानने पर भी प्रमेय को सम्बंध से पूर्व सिद्ध मानना होगा और सिद्धि जिससे होती है वही तो फल है! अतः विधि की कोई, जरूरत नहीं। यह प्रश्न नहीं उठता कि यदि प्रमेयादि का भी फल से सदा सम्बंध है तब 'ज्ञान हुआ' का मतलब क्या? क्योंकि आवरण की निवृत्ति या अभिभव ही उसका मतलब है और वह विधिकृत नहीं है। यही बीज है विवरणादि के इस सिद्धांत का कि प्रपंच आत्माधिष्ठित न हो तो ज्ञातृज्ञेयादि प्रतिकर्मव्यवस्था संभव नहीं हो सकती।

'मातृमानप्रमेयादौ तत्सिद्धेः' का टीकानुसार यही अर्थ है कि जैसे विधिके बिना ही प्रमाता में 'तत्सिद्धि' है वैसे प्रमाण-प्रमेय, कर्ता कर्मादि में भी हो जायेगी। 'तत्सिद्धि' का अर्थ है फल का भान। 'मातृमानप्रमेयादौ' में सप्तमी निरूपणार्थक है : प्रमातृनिरूपित फलभान की तरह प्रमाणादिनिरूपित फलभान संभव है, विधि नहीं चाहिये, यह तात्पर्य है। कल्पलता में भी यही कहा है 'मानफलस्यानुभवस्य मातृमानमेयकर्तृक्रियादिसाधकत्वेन स्वत एव भानादित्यर्थः।'

एवमपि 'मातृमानप्रमेयादौ' का अर्थ 'सामग्री एकत्र हो जाने पर' और 'तत्सिद्धेः' का अर्थ 'फलसिद्धि हो जाने से' यह भी स्वरस है।

विचार का निष्कर्ष इतना ही है कि ज्ञान का जो कोई भी फल है वह विधिसापेक्ष नहीं है अतः ज्ञान सफल हो सके इसके लिये विधि व्यर्थ है। यह अलग चर्चा आयेगी कि ज्ञान का फल स्वतः पुरुषार्थ है या नहीं। सिद्धांत में तो ज्ञान का फल मोक्षरूप परमपुरुषार्थ है ही। इस प्रकार चतुर्थ विकल्प की परीक्षा पूरी हुई ॥६७१-६७३॥

अथापि कार्यविरहात्सिद्धार्थमनुवादकम्। वचो नैव प्रमाणं स्यात्तस्य मान्तरसंगतेः ॥६७४॥
विध्यर्थाङ्गीकृतौ त्वेतदनपेक्षं प्रमाणताम्। अश्नुते मान्तराभावाज्ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत् ॥६७५॥
वस्तु मान्तरयोग्यं चेद्विधौ सत्यपि तत्तथा। अथ तन्मान्तरायोग्यं विध्यभावेऽपि तत्तथा ॥६७६॥
किं वाक्यस्यानुवादत्वं सिद्धेऽर्थे मान्तरेण वा। मिते तत्र न पूर्वस्मिन्सिद्धेप्यर्थेऽनुवादता ॥६७७॥
मानान्तरानधिगतं सिद्धं वस्त्ववबोधयत्। मानं किं नानपेक्षं स्यात्पुमर्थश्च स्वरूपतः ॥६७८॥

पाँचवाँ विकल्प था कि ज्ञानविधि इसलिये माननी चाहिये ताकि ब्रह्म प्रमाणान्तर के अयोग्य बना रहे। इस पक्ष का विचार श्लोक ६९९ तक चलेगा। पहले इस पक्ष को उपस्थित करते हैं –

उक्त ढंगो से विधि अनपेक्षित होने पर भी यह कारण है कि उसकी ज़रूरत है : नियोग न होने पर केवल यथाभूत अर्थ का कथन करने वाला वचन अनुवादक होता है, प्रमाण नहीं क्योंकि नियोग से असंबद्ध सिद्ध वस्तु शास्त्रेतर प्रमाण का विषय होती है ॥६७४॥ सिद्धार्थवाक्य में विध्यर्थ को (= नियोग को) शेषी मान लेने पर वह वाक्य निरपेक्ष प्रमाण हो जाता है क्योंकि अब उसका विषय प्रमाणान्तर के योग्य नहीं रह जाता। अतः विधिसम्बद्ध सिद्धार्थवाक्य वैसे ही प्रमाण हो जाता है जैसे ज्योतिष्टोमादि वाक्य ॥६७५॥

अर्थ सिद्ध होने से मानान्तरयोग्य होने पर भी नियोगस्पर्शित्व से अर्थात् कार्यान्वयितया तो अयोग्य हो जाता है। जैसे व्रीहि प्रत्यक्ष होने पर भी प्रोक्षित व्रीहि की यज्ञोपयोगिता प्रत्यक्ष नहीं, शास्त्रीय ही है, वैसे समझना चाहिये। [टीका में 'शेषत्वेन' छपा है। आनंदाश्रम में पाठान्तर दिया है 'शेषित्वेन', वही संगत है।] अतः ब्रह्म यदि विधि से अछूता रहा तो मानांतरयोग्य होने लगेगा जिससे तत्प्रतिपादक वाक्य प्रमाण नहीं रहेंगे, इसलिये उसका विधिसंबंध चाहिये ॥६७४-६७५॥

सिद्धान्ती सीधा-सा जवाब देता है –

वस्तु यदि प्रमाणान्तर के योग्य है तो विधि रहते भी बनी रहेगी, और अगर वस्तु प्रमाणान्तर के योग्य नहीं है तो विधि न होने पर भी वैसी ही रहेगी! ॥६७६॥

तात्पर्य है कि विधि से वस्तु के स्वरूप में तो अंतर आ नहीं जायेगा, अतः उक्त विभीषिका बालनियमनार्थ ही है। विद्यासागर कहते हैं कि यहाँ अभिप्रेतार्थ है कि 'अनात्मत्वं मान्तरगोचरत्वे प्रयोजकं, न सिद्धत्वम्' ॥६७६॥

सिद्धार्थवचन अनुवादक ही हो यह भी नहीं बनता –

वाक्य अनुवाद है यह क्या इस पर निर्भर करता है कि वह सिद्धार्थ को विषय करता है या इस पर कि वह उसे विषय करता है जो प्रमाणान्तर से ज्ञात है? इनमें प्रथम विकल्प ठीक नहीं क्योंकि यह संभव है कि सिद्धार्थ-विषयक होने पर भी वाक्य अनुवाद न हो ॥६७७॥ जो सिद्ध वस्तु प्रमाणान्तर से विषय नहीं की गयी है उसे समझाने वाला वाक्य निरपेक्ष प्रमाण नहीं क्यों होगा? (यह भी नहीं कि सिद्ध वस्तु का ज्ञान पुरुषार्थ न होने से ज्ञापक वाक्य में प्रामाण्य न रहे, क्योंकि आत्मवाक्यों का विषय) निजरूप होने से पुरुषार्थ (= प्रिय, सुख) भी है ॥६७८॥

यद्यपि प्रामाण्य में पुरुषार्थता का संबंध नहीं, अन्यथा दुःख की प्रमा निष्करण हो जायेगी, तथापि शास्त्रविशेष पुरुषार्थ होता है यह वादी की मान्यता स्वीकार कर कहा कि वेदान्तों में तो यह प्रामाण्यप्रयोजक भी है ही क्योंकि वेदान्तजन्य आत्मज्ञान सुखानावरण ही है।

अनुमान यह है : शास्त्रभिन्न प्रमाणों के अविषय सिद्ध पदार्थ का बोधक वाक्य, निरपेक्ष प्रमाण है क्योंकि अनधिगत के अबाधित ज्ञान का उत्पादक है, जैसे प्रत्यक्षादि। वादी का प्रयोग है : सिद्धार्थक शास्त्रवाक्य स्वार्थ में अप्रमाण है, क्योंकि उसका स्वार्थज्ञान पुरुषार्थ नहीं है, जैसे रुद्ररोदनादि वाक्य। इस पर सिद्धान्ती ने कहा कि हेतु पक्ष में नहीं है,

पुंबुद्धिविषयो ह्यर्थो मानान्तरमपेक्षते। अभावात्पुरुषस्येह न तु सिद्धोऽपि वैदिकः ॥६७९॥
न च सिद्धत्वमात्रेण शङ्क्यते मान्तरं क्वचित्। शङ्क्यमानस्य मानस्य तुल्या सापेक्षता यतः ॥६८०॥

स्वरूपासिद्धि दोष है ॥६७७-६७८॥

वैदिक वाक्य सिद्धार्थक रहने पर भी अनुवाद नहीं होता –

(पौरुषेय वाक्य का) अर्थ क्योंकि वक्ता की बुद्धिका विषय – अर्थात् वक्ता को ज्ञात – होना चाहिये इसलिये (पौरुषेय वाक्य को) प्रमाणान्तर की अपेक्षा रहती है। वेद में क्योंकि वक्ता पुरुष है नहीं इसलिये सिद्धविषयक भी वैदिक वाक्य मानान्तरापेक्ष अर्थात् अनुवाद नहीं होता ॥६७९॥

उसी का वाक्य प्रमाण होता है जिसने वाक्यार्थ की प्रमा कर रखी है अतः लौकिक वाक्य प्रमाण होने के लिये प्रमाणांतरापेक्ष हो यह ठीक है। वेद तो ऐसा है नहीं जिसके अर्थ को किसी अन्य प्रमाण से जानकर इसका उच्चारण किया गया हो, अतः वेद यदि सिद्धार्थ भी कहे तो मानान्तरापेक्ष है नहीं कि अनुवादता की संभावना हो।

अनुमानविधया यहाँ पूर्वपक्ष है : विवादास्पद वाक्य अनुवादक है क्योंकि सिद्धार्थक है जैसे 'नदीतट पर फल पड़े हैं' यह आप्तवाक्य। सिद्धान्ती ने इसमें उपाधि दी 'अन्य प्रमाण की अपेक्षाकर अपने अर्थ का बोध कराना'। नदीतटेत्यादि वाक्य के प्रामाण्य के लिये यह अपेक्षा है कि वक्ता ने उक्त अर्थ किसी प्रमाण से जाना हो। अतः साध्यव्याप्ति स्पष्ट है। वेद में ऐसा वादी को भी इष्ट नहीं अतः साधनव्याप्ति नहीं है। कल्पलता में 'पुरुषप्रणीतवाक्यता' उपाधि कही है, वह भी उचित है। शास्त्रप्रकाशिकाकार का अभिप्राय है कि व्याप्तिग्राहक प्रमाण सापेक्ष अनुमान, सादृश्यनिवेदकप्रमाणसापेक्ष उपमान (या तार्किकों के अनुसार 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य के प्रामाण्य की अपेक्षा से होने वाला गवयशब्दवाच्यता का ज्ञान), कार्यकारणताबोधक प्रमाणसापेक्ष अर्थापत्ति तथा प्रतियोगिज्ञापकप्रमाणसापेक्ष अनुपलब्धि (क्योंकि जिसे प्रतियोगी प्रमित नहीं है उसे उसका अभाव प्रमित नहीं हो पायेगा, 'क्या नहीं है'–यही उसे पता नहीं तो 'वह नहीं है' कैसे जानेगा?) – ये सब भी पौरुषेयवाक्य के तुल्य ही हैं। किं च भ्रान्त का 'पुरोवर्तिरजतज्ञानवान् अहम्' यह अनुभव भ्रम है अतः इसका विषय रजतज्ञान भी भ्रम है किन्तु जब वह व्यक्ति कहता है 'मैंने इसे चाँदी ही समझा था' तब उसका वाक्य प्रमाण है क्योंकि उसने सच ही पुरोवर्ती को चाँदी समझा था। यहाँ पौरुषेयवाक्य प्रमाण तो है किन्तु प्रमाणान्तर की अपेक्षा से नहीं। अतः स्वप्रामाण्य के लिये प्रमाणान्तरसापेक्ष होने को उपाधि कहना सम्यक् है ॥६७९॥

सिद्ध वस्तु है तो ब्रह्म को प्रमाणान्तरगम्य ही क्यों न मान लिया जाये? इस शंका का समाधान करते हैं –

कहीं भी यह शंका नहीं की जाती कि सिद्ध होने से वस्तु प्रमाणान्तर का विषय हो। (तथापि संभावना की बात करो तो) जिससे संभावना हो रही है वह प्रमाण भी उतना ही सापेक्ष है जितना शब्द अतः (वह भी निश्चित संभावना उपस्थित नहीं कर सकता ताकि शब्द का प्रामाण्य कुण्ठित हो सके)। ॥६८०॥

घटरूप सिद्धवस्तु है, प्रत्यक्षगोचर है, किन्तु सिद्ध होने से यह नहीं मान सकते कि वह प्रमाणान्तर का भी विषय है। अतः जडता को ही इसमें नियामक मानना पड़ेगा। शास्त्रेतरमानविषयता जडता से अवच्छिन्न है, सिद्धता से नहीं। यह नहीं कह सकते कि नियोग जड होने पर भी मानान्तरगम्य नहीं है क्योंकि श्लोक ६९२ आदि में बताने जा रहे हैं कि वह भी प्रमाणान्तर का विषय ही मानना पड़ेगा।

कुसुमांजलिकार ने कहा है 'यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते। विपक्षस्य कुतस्तावद् हेतोर्गमनिकाबलम्॥' अतएव सन्दिग्ध अनैकान्तिकता भी दोष होता है। अर्थात् प्रकृत में शंकितोपाधि भी अनुमिति को प्रतिबद्ध कर देती है। अतः ब्रह्म प्रमाणान्तरगम्य है – यह निश्चय न हो सकने पर भी शंका तो हो ही सकती है क्योंकि 'ब्रह्म मानान्तरगम्य है, सिद्ध होने से, घटकी तरह' इस प्रयोग से उसकी मानान्तरगम्यता प्राप्त हो जाती है। एवं च सिद्धार्थवाक्यत्व-हेतु में

(श्लो० ६७९) मानान्तरयोग्यविषयकता को उपाधि इसी से कहा था कि ब्रह्मवाक्य मानान्तराऽयोग्यविषयक है, किन्तु जब ब्रह्म भी योग्यरूप से शंकित हो गया तब यह भी संभावना कोटि बन ही गयी कि उपाधि साधनव्याप्त ही है, अव्याप्त नहीं; फलतः उसकी उपाधिता शंकित हो जाती है। इसलिये अनुवादकत्वानुमान निरस्त नहीं हो जाता।

इसका समाधान वार्तिक में यह किया कि वाक्यगम्य ब्रह्म की मानान्तरसापेक्षता की शंका वाक्यसापेक्ष है – ब्रह्म को वाक्य से समझकर तब यह शंका उठ रही है। वाक्य में मानान्तरसापेक्षता तभी होगी जब ब्रह्म मानान्तरयोग्य हो और वह योग्यता शंकित भी तभी होगी जब वाक्य से ब्रह्म उपस्थापित हो। इस तरह इस सापेक्षता में वाक्य की अपेक्षा बनी हुई है। तथा वाक्य की मानान्तरसापेक्षता की संभावना जिस अनुमान से हो रही है वह अनुमान स्वयं वाक्यसापेक्ष है। अब यह कैसे निर्णय हो कि मानांतरापेक्षा की संभावना होने से वाक्य अप्रमाण है या वाक्यसापेक्ष होने से वह संभावना कराने वाला अनुमान ही अप्रमाण है? बल्कि शब्द तो अज्ञात ब्रह्म का अबाधित ज्ञान कराते हुए उपलब्ध है जबकि उसकी सापेक्षता केवल शंकित है, अतः शब्द ही प्रबल होगा और मानांतरयोग्यविषयता से बचा रहेगा। तात्पर्य है कि 'सिद्धत्वान्मानान्तरगम्यम्' का सत्प्रतिपक्ष हो जायेगा 'चेतनत्वान्मानान्तराऽगम्यम्', अतः शंकित साधनव्याप्ति की तरह साधनाव्याप्ति भी शंकित हो जायेगी। तब उपाधि कारगर बनी रहेगी क्योंकि शंका को शंकांतर से शंकित कर दिया गया।

अथवा, वाक्य को मानान्तरसापेक्ष कहने पर उस अन्य को तो प्रमाण मान रहे हो, शब्द को अनुवाद कह रहे हो। किन्तु विपरीत भी कह सकते हैं – शब्द प्रमाण है और ज्ञान का वह साधनान्तर ही अनुवादस्थानीय है।

अथवा महामहोपाध्याय हरिहरकृपालु ने इस अंश की व्याख्या वार्तिकसारानुवादमें (पृ० ३०५) की है: 'शब्द की स्वार्थ में प्रमाणान्तर के प्रवेश की संभावना से यदि प्रमाणता न हो, तो मानान्तरगम्य अर्थ में शब्दप्रमाण की संभावना से मानान्तररूप से इष्ट ही में अनुवादकत्व क्यों नहीं मानते? शब्द की अपेक्षा से मानान्तर को ही अप्रमाण मानना उचित है क्योंकि शंकित मानान्तर की अपेक्षा से अशंकित शब्द प्रत्यक्ष होने से प्रबल है।' अर्थात् 'शङ्क्यमानस्य मानस्य' – जिसकी शंका की जा रही है वह प्रमाणान्तर भी शब्दसापेक्ष है ऐसी शंका की जा सकती है।

तात्पर्य है कि 'ब्रह्म मानान्तरगम्यम्' कहने से यह तो मान ही लिया कि वह शास्त्रप्रमाणगम्य है, अन्यथा 'मानान्तर' कहना नहीं बनेगा। यदि विवक्षित हो कि ब्रह्म मानान्तरगम्य ही होता है, शास्त्रगम्य नहीं, तो प्रश्न होगा कि ब्रह्म किसे कहते हो? सत्यादिवाक्यार्थ तो तुम उसे मान नहीं रहे अतः उन वाक्यों का प्रयोग कर नहीं सकते और अन्य कोई प्रमाण दिखा नहीं सकते। तब तो पक्ष से ही हाथ धो बैठोगे। यदि कहो कि सत्यादिवाक्य से अनूदित को ब्रह्म कहते हो तब बताना पड़ेगा कि किसकी अपेक्षा से इस वाक्य को अनुवादक कहते हो? प्रमाणविशेष तो मिलेगा नहीं अतः सामान्यतोनुमान करोगे कि ब्रह्म अवश्य प्रमाणांतरयोग्य है, सिद्ध होने से, घड़े की तरह। किन्तु पक्षबोधक शब्द इसका उपजीव्य होगा अतः यह अनुमान शब्द को अप्रमाण नहीं होने देगा। यदि 'अनुवादकं सिद्धार्थकत्वात्' कहते हो तो व्यभिचार है क्योंकि पहले बता चुके हैं कि अज्ञातार्थक वैदिक वाक्य अनुवाद नहीं हो सकता क्योंकि वेदवाक्यमात्र प्रमाणान्तरपूर्वक नहीं है तथा अवधारितार्थक ही अनुवाद होता है। यह श्लोक ५६७ में कह आये हैं।

किं च अनुवादक मानने पर ब्रह्म को प्रमेय मानना पड़ेगा तभी प्रमाणान्तरविषय वह बनेगा। शब्द प्रमाण का निषेध कर रहे हो, प्रमाणान्तर बता नहीं पा रहे, अतः निष्प्रमाण ही वह प्रमेय हो जायेगा! अनुमेय वह नहीं क्योंकि अप्रत्यक्ष है तथा अनुमान प्रत्यक्षापेक्ष होता है। शास्त्रापेक्ष अनुमान हो तब तो अनुमान ही अनुवाद हो जायेगा। अतएव अर्थापत्ति भी नहीं मान सकते। यदि स्वप्रकाश होने से शब्द को अनुवाद कहो तब तो प्रमाणान्तरगोचर कैसे कह सकोगे? यदि मानो कि स्वप्रकाश होने से अप्रमेय है अतः शब्द प्रमाणविषय नहीं तो बताओ क्या वह स्वरूपतः अप्रमेय है या परिच्छेदव्यावृत्तरूप से भी अप्रमेय (स्वप्रकाश) है? स्वरूपतः ही हो तो हर्ज़ा नहीं, शब्द उसे अपरिच्छिन्नरूप से बता सकता है। यदि इस रूप से भी वह स्वप्रकाश है तब तो तुमने परिच्छेद को मिथ्या मान ही लिया! अपि च, स्वप्रकाश भी प्रमेय तो हो ही सकता है, चिद्भास्य भले ही न हो। जिसकी अविद्याकी निवृत्ति का प्रयोजक हो सकता है वह प्रमेय होता है; स्वप्रकाश की भी

**न च सापेक्षताऽप्यस्ति मितेर्मानत्वतः क्वचित्। मान्तरानवबुद्धं हि बोधयन्मानमुच्यते ॥६८१॥
मानान्तरानपेक्षं चेन्मानं मेयं प्रबोधयेत्। मानमेव तदा तत्स्यान्नातोऽन्यन्मानलक्षणम् ॥६८२॥
अथ मानान्तरापेक्षं तन्मानं मेयबोधकम्। द्वयोरेकक्रियावेशात्तथाऽप्यन्यानपेक्षता ॥६८३॥**

अविद्या है ही, अतएव तार्किक 'स्वप्रकाश नहीं है' ऐसा समझता है, और उस अविद्यानिवृत्ति का प्रयोजक भी शब्द होता ही है, अतएव तुम स्वप्रकाशवादी तार्किक को उपदेश देते हो; इसलिये उसके प्रमेय होने में कोई आपत्ति नहीं है। यही बात वृत्तिव्याप्ति-फलाऽव्याप्ति से श्रीविद्यारण्यजी ने कही है ॥६८०॥

सिद्धार्थक – आत्मबोधक – वेदवाक्य स्वार्थ में प्रमाण अवश्य है –

कोई प्रमाण सापेक्ष नहीं होता अतः वेद भी प्रमाण होने से सापेक्ष नहीं है। प्रमाण कहते ही उसे हैं जो उसका बोध कराये जिसे अन्य प्रमाण से समझा नहीं गया है ॥६८१॥

तात्पर्य है कि आत्मार्थक वाक्य को प्रमाण कहो तो सापेक्ष कहना नहीं बनता क्योंकि कोई भी प्रमाण सापेक्ष हुआ नहीं करता; और अप्रमाण उन वाक्यों को कह नहीं सकते क्योंकि वे अन्य प्रमाणों के अविषय आत्मा का वर्णन करते हैं। वेद को उत्सर्गतः प्रमाण मानने वाला वादी अकस्मात् उसके एकदेश को प्रमाण नहीं कह सकता। सिद्धपरता और अपुरुषार्थता का निवारण हो चुका। अब वह यही कह सकता है कि असंभवार्थक होने से वे वाक्य अप्रमाण हैं। किन्तु उनकी असंभवार्थकता वह सिद्ध कैसे करेगा? प्रत्यक्षादि का तो ब्रह्म अगोचर स्वयं शास्त्र से कहा जा रहा है अतः प्रत्यक्षादिविरोध को वादी उपस्थित कर नहीं सकता जैसे कोई यह नहीं कह सकता 'वायु नहीं है, अचाक्षुष होने से, अचाक्षुष घट की तरह।' तर्क की काट सिद्धान्त कर ही देता है। जो तो शास्त्रप्रमाणवादी नहीं है उससे यहाँ विवाद चल नहीं रहा। उसे तो अबाधित प्रत्यभिज्ञादि के आधार पर एवं प्रतिकर्मव्यवस्थान्यथानुपपत्ति और स्वप्रकाशत्वसिद्धि आदि द्वारा निरुद्धगतिक करके शास्त्रप्रवण बनाना पड़ेगा ॥६८१॥

अज्ञातज्ञापक होने पर प्रमाण होता ही है –

प्रमाणान्तर से अनिवेदित प्रमेय का प्रबोध कराने वाला ज्ञानसाधन प्रमाण ही होता है क्योंकि प्रमाण का यही लक्षण है ॥६८२॥

इस विषय में न्यायचन्द्रिका (पृ० ३८) की उक्ति स्मर्तव्य है 'अस्माकं ज्ञानत्वप्रमात्वयोः तुल्यवृत्तित्वात् प्रमात्वस्य अनवगतयथार्थत्वौपाधिकधर्मत्वात्तुल्यवृत्तित्वमविरुद्धम्।' बिन्दुकार ने 'सर्वप्रमाणानां चाज्ञातज्ञापकत्वेनैव प्रामाण्यात्।'(सि०बि० पृ० ९६) कहकर इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। एवं च वादी यदि ऐकात्म्य को अन्यतः प्रमित माने तो उसका सिद्धांतभंग है क्योंकि तब भेदमिथ्यात्व स्वतः प्राप्त होगा और न माने तो ऐकात्म्यबोधक वाक्यों का प्रामाण्य स्वतः प्राप्त है ॥६८२॥

श्लोक ६७७ में 'मानान्तरेण वा मिते वाक्यस्यानुवादकत्वम्' यह प्रश्न रखा था। ब्रह्म प्रमाणांतरगम्य न होने से ऐसा अनुवादकत्व ब्रह्मवाक्य का नहीं यह कह चुके। अब बताते हैं कि किसी तरह यदि प्रमाणान्तर ब्रह्म को बतायें तो भी वाक्य अनुवादक तब तक नहीं हो सकता जब तक वाक्य उस प्रमाणांतर की अपेक्षा न रखे। प्रमाणांतर है – इतने मात्र से अनुवादकता नहीं होती; प्रमाणान्तरसापेक्षता से ही अनुवादकता होती है। अतएव वह्निविषयक प्रत्यक्ष व अनुमान दोनों प्रमाण रहते हैं। यह स्पष्ट करते हैं –

यदि कहो कि जो ज्ञानसाधन प्रमाणान्तरसापेक्ष होकर प्रमेय का बोध कराता है वह अनुवाद होता है; तो भी जहाँ दो प्रमाण परस्पर अनपेक्ष रहकर एक वस्तु का बोध कराते हैं वहाँ दोनों में अनुवादता नहीं आ जाती ॥६८३॥

अर्थात् सापेक्षकी अनुवादता मान्य है लेकिन प्रकृत में सापेक्षता है नहीं यह तुम्हे स्वीकृत है क्योंकि तुम वेद को

निरपेक्ष मानते हो।

भगवान् वार्तिककार ने वादी की सभी दलीलें निस्तेज कर दी! वादी सिद्धवस्तु की मानान्तरयोग्यता के बल पर ही ब्रह्म को वेदार्थ होने से बचाने की कोशिश करता है क्योंकि उसे भय है कि तब मानान्तरसंवाद की आकांक्षा बनी रहेगी। आचार्यों का कहना है कि परम प्रमाण वेद पर भरोसा करो, उसका प्रतिपाद्य क्योंकि वास्तविक है इसलिये प्रमाणान्तर भी उसे वैसा ही कहेंगे जैसा वेद कह रहा है। विसंवाद का भय मत करो। सच्चा गवाह विपक्षी से डरता नहीं, भले ही जिरह में सक्षम न हो पाये। वेदार्थ सत्य है यह निश्चय है अतः प्रमाणान्तर उसका विरोध करें तो वे ही ग़लत हैं इस धैर्य से उनकी परीक्षा करनी चाहिये, न कि वेद को प्रमाणान्तरभीरु बनाकर किसी दुर्ग में छिपाने का व्यर्थ प्रयास करना चाहिये। धर्म तो प्रमाणान्तर के अयोग्य है अतः भले ही उनसे पर्दे में रहे! किन्तु परशिव के लिये यह उपरोध चलेगा नहीं। वस्तुतस्तु भगवान् भाष्यकार – तथा पुराणकार भगवान् वेदव्यास – धर्म की वेदैकप्रमितता के आग्रही हों ऐसा नहीं लगता। पुराण, और यहाँ तक कि तंत्र भी धर्मज्ञापक हैं यह शांकरों को मान्य है। इसमें श्रुतिकल्पनान्याय भी अवतरित नहीं होगा : वेद स्वाधिकारी के लिये धर्म बताता है, अनधिकारी के लिये नहीं यह वैदिक मानते हैं। पुराण व तंत्र बहुतेरे धर्म उनके लिये घोषणापूर्वक बताते हैं जो वेद के अनधिकारी हैं। उन धर्मों के लिये श्रुति का अनुमान कैसे होगा? क्योंकि हो जाये, तो वे धर्म भी अधिकारियों के लिये ही रह जायेंगे, जबकि कहा उन्हे अनधिकारियों के लिये गया है। इसलिये इन्हे स्वतंत्र ही धर्म में प्रमाण माने बिना व्यवस्था नहीं बन सकती। पुराणादि स्वयं कहते हैं कि वेदाधिकारी के लिये वैदिक धर्म ही उचित है। बादरायण महर्षि ने अतएव 'ज्यायः' शब्द का प्रयोग (३.४.३९) करके सूचित किया है कि मनःशोधन चाहने वाला भी यदि अधिकारी है तो वैदिक धर्म पालन करने की पूरी कोशिश करे। अतएव वेदाधिकारी के लिये यदि पुराणादिप्राप्त धर्म वेदविरुद्ध हो तो अवश्य वेदोक्त धर्म प्रबल होगा, क्योंकि पुराण स्वयं यह मानता है। किन्तु वेदानधिकारी के लिये वेद कुछ कहता नहीं अतः वेदविरोध भी संभव नहीं। फलतः उनके लिये पुराणादिबोधित धर्म सम्यक् है। इस प्रकार वेद का प्रबलतमत्व भी स्वीकृत है तथा पुराणादि का स्वतंत्र क्षेत्र भी। आधुनिक तथाकथित वेदाधिकारी भी यदि अग्निहोत्रादि को अपना इष्टोपाय न मान पाये तो वह अधिकारी कैसे कहा जाये, क्योंकि श्रद्धा को अधिकारिविशेषण सभी मानते हैं। उसे यदि शालग्राम का पूजन इष्टोपाय लगे, यही उसकी श्रद्धा हो, तो वह पुराण का ही अधिकारी है। अतः ऐसे व्यक्ति के लिये भी पुराणादि से श्रुतिकल्पना तक का प्रयास निरर्थक है। पुराण स्वयं उसे कहता है कि उसे वेद पर श्रद्धालु होना चाहिये, वैदिक धर्म का पालन करना चाहिये; अतः पुराणश्रद्धा से जब उसे वेदश्रद्धा हो जायेगी तब वह वेदाधिकारी होगा तथा तब वह स्वतः ही पुराण के क्षेत्र से बाहर निकल जायेगा।

श्रुतिका निरपेक्ष प्रामाण्थ संमत है। अतः जो श्रुति को परम प्रमाण स्वीकार कर उसके विरोध से दूर रहते हुए यथा-संभव उसके अनुकूल ही बनते हैं, वे जिसे धर्मरूप से प्रतिपादित करते हैं उसे वेदानधिकारी के लिये एवं उन उपदेष्टाओं के अधिकारी के लिये धर्म मान लेना चाहिये। अतः पुराण की तरह उपपुराणादि, स्थलपुराणादि भी स्वाधिकारी के लिये धर्मग्रंथ हैं। जो वेदविरोधी हो, उसे अप्रमाण मान सकते हैं क्योंकि औत्सर्गिक प्रामाण्य वाले वेद में अप्रमाणबुद्धि रूप भ्रम उसमें रहने से वह अनाप्त है।

वस्तुतस्तु 'सर्वस्य श्रद्धा भवति' (गी० १७.३) तथा 'यो यो··· श्रद्धया' (गी० ७.२१) एवं 'मयैव विहितान्' (गी० ७.२२) आदि से तो यही मान्य है कि जिसे वेदविरुद्ध में श्रद्धा है उसके लिये वह भी धर्म ही है। उससे भी उसे उपयुक्त फल मिलता है और उसे भी यदि वह ईश्वरप्रसंनतार्थ करे तो चित्तशुद्धि पा सकता है। यदि किसी का धर्म काफ़िर का क़त्ल करने को कहता है तो दूसरा भी यह क्यों भूलता है कि उसका धर्म आततायी को बिना विचारे मार डालने को कहता है? अतः वह भी स्वधर्मपालन करे और आततायी को समाप्त करे; केवल काफ़िर को मारने को धर्म मानते हों ऐसा तो है नहीं, काफ़िर अपने आततायी को मारे यह भी धर्म मानते हैं। अतः गोहत्यादि में भी यही न्याय लग जाता है। एवं च धर्म के क्षेत्र में भी ज़रूरी नहीं कि वेद ही अकेला प्रमाण हो।

अथानधिगताभावादुत्तरस्याप्रमाणता। तत्सद्भावात्तु पूर्वस्य ज्ञानस्यास्तु प्रमाणता ॥६८४॥
मातोऽनधिगतत्वस्य सिद्धिः स्यादथवाऽन्यतः। स्वतो वा ज्ञाततायाश्च कुतः सिद्धिरितीर्यताम् ॥६८५॥
अज्ञातत्वस्य माव्याप्तेः पूर्वमेव प्रसिद्धितः। ततश्च मानतः सिद्धिर्नाज्ञातत्वस्य कुत्रचित् ॥६८६॥

तथापि प्रायः भाष्यकारादि सभी आचार्य यह मानकर चलते हैं कि धर्म में वेद ही निरपेक्ष प्रमाण है, यह स्मरण रखना चाहिये। तथा वे व्यास, मनु आदि को प्रमाण मान लेते हैं जबकि बुद्ध, महावीरादि को नहीं, यह भी याद रखना चाहिये। संभवतः वे अपने सम्बोध्य अधिकारियों को दृष्टि में रखकर ऐसा करते हों।

ब्रह्म के विषय में तो हर हालत में अनुभव और तर्क भाष्यादिकार स्वीकारते हैं। यदि वेद और अनुभव में विवाद होगा तो पहले अनुभव परीक्षणीय है क्योंकि वह अपना प्रमाव्यभिचार रज्जुसर्प, स्वप्न आदि अनंत स्थलों पर दिखा चुका है। भाष्यसिद्धान्ती का यह निश्चय है कि इस परीक्षा में वह अनुभव ही भ्रम निकलेगा और आत्मा की प्रमारूप अनुभूति वही होगी जो महावाक्यार्थ है। अतएव इस विषय में आगमान्तर, पुरुषवचन आदि सभी मानोपायों की प्रवृत्ति से कोई भय नहीं है। ज्ञान के उपायांतरों को प्रमाण मानने से वही डरेगा जिसे अपने प्रमेय की वास्तविकता पर शंका है। जिसे ऐसी शंका नहीं वह जानता है कि प्रमेय के अननुरूप ज्ञान कराने वाला साधन अवश्य सदोष है और परीक्षा द्वारा उसका दोष व्यक्त हो जायेगा।

इसीसे यहाँ वार्तिकाचार्य ने वादी के पक्ष का आधार समाप्त कर दिया है। ब्रह्म हो भले ही मानान्तरगम्य, किन्तु शास्त्र तो मानान्तर की अपेक्षा से ब्रह्मबोधक है नहीं कि अनुवाद हो ॥६८३॥

अनेक प्रमाण एक प्रमेय की प्रमा करायें यह संभव है, अतः एतावता अनुवादलक्षण अप्रामाण्य नहीं होता यह स्पष्ट करते हैं –

यदि कहो कि प्रथम प्रमाण से प्रमेयाधिगम हो चुकने से अज्ञात अर्थ बचा नहीं कि द्वितीयादि ज्ञानोपाय अज्ञातज्ञापकरूप प्रमाण हों, तथा प्रथम ज्ञानोपाय के लिये अनधिगत विषय होने से वही प्रमाण होना चाहिये; [तो यह भी नहीं बनेगा।] ॥६८४॥

द्वितीयादि प्रमाणों की प्रवृत्ति से पूर्व अर्थ अज्ञात होने से प्रथम प्रवृत्त ज्ञानोपाय प्रमाण है जबकि ज्ञातज्ञापक द्वितीयादि नहीं, यह तात्पर्य है। यद्यपि द्वितीयादि का भी प्रमेय वह है तथापि प्रथम ज्ञानोपाय के लिये तो विषय अज्ञातरूप से ही उपस्थित था अतः उसकी प्रमाणता निराबाध है ॥६८४॥

उक्त मत में ज्ञातता और अज्ञातता का निरूपण संभव न होने से वह मत ठीक नहीं यह व्यक्त करते हैं –

(प्रथम प्रमाण की प्रवृत्ति से पूर्व विषय की) अज्ञातता की सिद्धि प्रमाण से होती है, नित्य–अनुभव से (= साक्षी से) होती है, या स्वतः होती है? यह भी बताओ कि ज्ञातता की सिद्धि कैसे होती है? ॥६८५॥

ज्ञातता का अभाव अज्ञातता है अतः ज्ञाततासाधक ही अज्ञातता सिद्ध कर देगा – इस संभावना से द्वितीय प्रश्न है ॥६८५॥

अज्ञातता पूर्वोक्त तीनों तरह सिद्ध नहीं हो सकती –

प्रमाणव्यापार से पहले ही अज्ञातता की प्रसिद्धि अपेक्षित होने से यह नहीं हो सकता कि अज्ञातता प्रमाण से सिद्ध हो 'प्रमाण से ही सिद्धि होती है' ऐसा मानने वाले तुम यह भी नहीं कह सकते कि नित्यानुभव से अज्ञातता सिद्ध हो जाती है। अज्ञातता को स्वतः सिद्ध तो तुम्हारे व हमारे सिद्धांतों में माना नहीं गया कि तुम तृतीय विकल्प की शरण ले सको ॥६८६॥

मानव्याप्तिक्षमं चेत्स्यादज्ञातत्वं घटादिवत्। वास्तवं स्यात्तदा रूपमज्ञातं च सदा भवेत् ॥६८७॥

पहले सिद्ध हो कि अर्थ अज्ञात है तभी उसे प्रमाण विषय कर सकता है यह मानना पड़ेगा जब तुम अज्ञातज्ञापकता को प्रामाण्य के लिये आवश्यक कहोगे। अतः अज्ञातता प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकती। अज्ञाततविषक प्रमाण तभी प्रवृत्त होगा जब अज्ञातता की अज्ञातता निश्चित हो; इस प्रकार अनवस्था होगी यह अभिप्राय है। नित्यानुभव से उसकी सिद्धि तुम्हे मान्य नहीं क्योंकि तब विषय को ज्ञान में कल्पित मानना पड़ता है, यह श्लोक ५७० में कह ही आये हैं। स्वतः भी अज्ञातता सिद्ध होती है यह तुम्हे स्वीकार नहीं, तुम उसे स्वप्रकाश नहीं मानते।

कल्पलतिका में 'प्रसिद्धितः' का अर्थ किया है 'अपरोक्षतः' अर्थात् प्रमाणव्यापार से पूर्व ही अज्ञातता अपरोक्ष है अतः उसे प्रमाणफल नहीं कह सकते।

शास्त्रप्रकाशिकाकार ने श्लोक में ही तीनों विकल्पों का निरास दिखाया है। 'पूर्वमेव प्रसिद्धितो नाद्यः। ततः= नित्यानुभवादपि न सिद्धिः, यतो मानतः सिद्धिरिति वो मतम्। कुत्रचिद्=उभयोर्वादिनोर्मतयोः अज्ञातत्वस्य न स्वतः सिद्धिरिति तृतीयपक्षोप्यसम्भवी।' यह टीकाकार की योजना है ॥६८६॥

और भी युक्ति देते हैं कि अज्ञातता प्रमाणसिद्ध नहीं है –

अज्ञातता यदि प्रमाणविषय हो सके तो घटादि की तरह वास्तविक ही होगी और तब अज्ञात रूप हमेशा अज्ञात रहना पड़ेगा! ॥६८७॥

प्रमाणनिवर्त्य वस्तु तो कल्पित ही हो सकती है। अतः अज्ञातता प्रामाणिक मानने पर वह प्रमाणव्यापार के बाद भी बनी रहेगी! विद्यासागर ने यहाँ यह अनुमान विवक्षित माना है 'अज्ञातत्वं न निवर्तकजातीयप्रकाश्यं निवर्त्यत्वात् तमोवत्।' अंधेरा रोशनी से निवर्त्य है अतएव रोशनी से प्रकाश्य नहीं, ऐसे ही प्रमाण से निवर्त्य अज्ञातता उससे प्रमेय नहीं।

ज्ञातता की भी इसी तरह सिद्धि असंभव समझ लेनी चाहिये। विषय भी अपनी प्रमा के प्रति हेतु होने से पूर्वसिद्ध चाहिये अतः ज्ञातता से प्रमाणसंबंध होने से पूर्व ज्ञातता सिद्ध होनी चाहिये फलतः वह प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती। परोक्षप्रमा में विषय कारण न मानो और ज्ञातता को परोक्षप्रमाण से सिद्ध कर लो – यह भी दुराशा है क्योंकि नित्य परोक्ष ज्ञातता सिद्ध नहीं हो पायेगी, ज्ञान से ही व्यवस्था बन जायेगी, उससे अन्य ज्ञातता की संभावना नहीं है। ऐसे ही नित्यानुभव से ज्ञातता सिद्ध नहीं कह सकते क्योंकि तुम्हारे मत में नित्यानुभव से कुछ भी सिद्ध नहीं है। ज्ञातता को स्वप्रकाश भी मान नहीं सकते, उसे प्रत्यक्ष ही माना जाता है; स्वप्रकाश होने पर प्रमाता उसे विषय ही नहीं कर पायेगा तो आगे तल्लिंगक अनुमित्यादि भी असंभव होंगे। भाट्ट 'ज्ञातोऽयम्' इस प्रत्यक्ष के आधार पर ज्ञाततासिद्धि मानता है। यदि यह प्रत्यक्ष ही ज्ञातता को विषय करता है तब तो पूर्वोक्त दोष है ही कि प्रत्यक्षज्ञान में विषय कारण होने से पूर्वसिद्ध चाहिये। यदि इस प्रत्यक्ष की अन्यथानुपपत्ति विवक्षित है तो सिद्धान्तानुसार अज्ञाननिवृत्ति से उपपत्ति संभव होने से ज्ञातता सिद्ध नहीं होगी। ज्ञातता को कुछ मीमांसक पदार्थान्तर मानते हैं, कुछ नहीं। इस पर अतिसंक्षिप्त चिन्तन मीमांसाकुतूहल में (पृ० ३२-३३) व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। किन्तु प्रकृत में स्पष्ट है कि ज्ञातता की सिद्धि किसी तरह संभव नहीं।

यदि ज्ञातता नहीं होती तो ज्ञान का फल क्या है? असत्त्वापादकाविद्या की निवृत्ति ही उसका कृत्य है। अतएव ज्ञान का अर्थ श्रीमान् ब्रह्मानन्द जी ने न्यायरत्नावली में (पृ० ९८) किया है 'ज्ञानत्वं तु – असत्त्वापादकत्वरूपजातिविशेषाश्रयाज्ञान-विषयत्वाऽभावप्रयोजकविशिष्टचित्त्वम्।' चित् की 'विशिष्टता' को तीन-चार तरह से वहाँ समझाया है जिसका अवश्य अनुसंधान कर लेना चाहिये ॥६८७॥

जैसे संशय, भ्रम आदि प्रसिद्ध होते हैं ऐसे अज्ञातत्व हो जाय? इस संभावना का समापन करते हैं –

तथा संशयमिथ्यात्वबुद्ध्योरेष यथोदितः । न्यायो वाच्यस्ततः सर्वो व्यवहारो न सिध्यति ॥६८८॥
अज्ञातत्वाविशेषेऽपि मानानां यदि मानता । ज्ञातस्याज्ञाततोऽन्यत्वात्तत्र स्यात्किं न मानता ॥६८९॥

जैसे अज्ञातता के बारे में कहा ऐसे ही यह न्याय संशय और भ्रम में भी समझ लेना चाहिये। अतः तुम्हारे मत से सारा व्यवहार अनुपपन्न रह जाता है ॥६८८॥

संशयादि को स्वतः और साक्षी से तो वादी सिद्ध होने वाला मानता नहीं तथा प्रमाणसिद्ध माने तो प्रमाण से निवृत्त नहीं होंगे। यदि वह कहे कि संशयादि प्रमाणनिवर्त्य नहीं हैं तो व्यवहार का अपलाप होगा क्योंकि यह आनुभविक है कि 'मुझे इस विषय में अब पूर्ण निश्चय है, अज्ञान, संशय या भ्रम नहीं रहे।' किं च संशयादि का व्यवहार भी वादिमत में अनुपपन्न है क्योंकि 'मुझे संशय है' आदि व्यवहार होता है जबकि वादी के अनुसार संशय की सिद्धि (= ज्ञान) संभव है नहीं ॥६८८॥

वादी द्वारा वाच्य एक संभावना उठाकर उसका परिहार करते हैं –

यदि प्रमाणव्यापार से पूर्व और अनंतर अज्ञातता बनी रहे फिर भी प्रमाणों की प्रमाणता पर कोई आँच न आये तब क्योंकि ज्ञातता अज्ञातता से अन्य है (अज्ञातता को हटाती नहीं) इसलिये ज्ञातविषयक प्रमाण में भी प्रमाणता क्यों न रहेगी? ॥६८९॥

पूर्वपक्षी का कहना था कि प्रमाणव्याप्ति से पहले की तरह पीछे भी वस्तु में अज्ञातता रहे इससे प्रमाण की प्रमाणता में कोई विरोध नहीं, व्यवहार तो प्रमाणसत्त्व या प्रमासत्त्व से हो जायेगा। तात्पर्य है कि 'अज्ञातो घटः, संशयितो घटः' आदि व्यवहारान्यथानुपपत्ति से अज्ञातता प्रामाणिक है अतः श्लोक ६८७ में जो दोष दिया था कि 'प्रामाणिक हो तो प्रमाण से निवृत्त नहीं होनी चाहिये' वह दोष नहीं क्योंकि इष्ट ही है। 'ज्ञात' व्यवहार से ज्ञातता एक नया धर्म घट में आता है, इसका अज्ञातता से ऐसा विरोध नहीं है कि उसे हटा ही दे। वह धर्म इतना ही करता है कि स्वकाल में (ज्ञातताकाल में) 'अज्ञातः' इस व्यवहार को प्रतिबद्ध कर देता है। एवं च अज्ञातता सिद्ध हो जाने से प्रथम प्रमाण ही प्रमाण है, द्वितीयादि अनुवाद हैं।

सिद्धान्ती ने जवाब दिया कि जब अज्ञातता बनी ही रही तब द्वितीयादि प्रमाणों को भी अज्ञातताविशिष्ट विषय मिल गया अतः वे भी प्रमाण ही होंगे, अनुवाद क्योंकर होने लगे? यह नहीं कह सकते कि ज्ञातताऽभावविशिष्टविषयक प्रमाण में ही प्रमाणता है; क्योंकि ज्ञातताऽभाव को अज्ञातता से अन्य नहीं सिद्ध कर सकते। 'अज्ञातइतिव्यवह्रियमाणविषयक ही प्रमाण होता है' यह भी अनुचित होगा क्योंकि तब अनुमित वह्नि को विषय करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं हो पायेगा! यदि प्रत्येक प्रमाण का निवेश करो – 'प्रत्यक्षेणाज्ञातइतिव्यवह्रियमाणविषयक ही प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है' इत्यादि – तब भी शब्द तो स्वविषय में प्रमाण बना ही रहेगा, चाहे उसका विषय प्रमाणांतरगम्य हो। अतः जब एक बार यह मान लिया कि प्रमाण से प्रमेय की अज्ञाततानिवृत्तिरूप अतिशय नहीं होता तब जैसे अज्ञातताविशिष्टविषयक प्रथम प्रमाण में प्रामाण्य है वैसे ही द्वितीयादि में भी। यदि यह नियम करो कि ज्ञातताविशिष्टविषयक को प्रमाण नहीं मानोगे तब भी ज्ञाततामात्र होने पर प्रमाणायोग्यता कहोगे तो देवदत्तदृष्ट घट में यज्ञदत्तका प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं होगा अतः तत्तत् ज्ञातता कहनी पड़ेगी जिसका सार यही निकलेगा कि स्वजन्यज्ञाततविशिष्ट को विषय करने पर स्वमें प्रमाणता नहीं होती; जब तक ज्ञातता उत्पन्न हो नहीं तब तक प्रामाण्य वैसे ही हो नहीं सकता, अन्यथा सभी सर्वदा सर्वज्ञ मानने पड़ेंगे! एवं च ज्ञातता से पूर्व और पश्चात् दोनों हालतों में प्रामाण्य असंभव हो जायेगा। अतः ऐसी अनर्गल कल्पनायें नहीं की जा सकती ॥६८९॥

प्रमाणान्तरविषयविषयक शब्द मानने पर शब्द में यदि निरपेक्षताहानि कहो तो प्रतिबंदी से उत्तर देते हैं –

एकार्थोपनिपातित्वात्सापेक्षत्वं यदीष्यते। तथा च सर्वमानानां सापेक्षत्वं प्रसज्यते ॥६९०॥
एकस्यामपि सत्तायां सर्वाक्षाणां प्रमाणता। द्रव्ये त्वक्चक्षुषोस्तद्वत्प्रसज्येताप्रमाणता ॥६९१॥

यदि कहो कि 'एकार्थोपनिपाती' होने से शब्द सापेक्ष हो जायेगा तब तो सभी प्रमाण सापेक्ष होने लगेंगे! ॥६९०॥

'एकार्थोपनिपाती' अर्थात् प्रमाणान्तरविषयता और शब्दविषयता का सामानाधिकरण्य। उपनिपात = विषय करना। एक = समान। अतः प्रमाणान्तर के उपनिपात के समान अर्थ पर उपनिपात करना – यह अर्थ है। 'अन्य प्रमाण से प्रमित अर्थ को शब्द विषय करे'– यह तात्पर्य है।

उत्तरका अभिप्राय है कि प्रत्यक्षयोग्य वह्नि का अनुमान तथा अनुमानयोग्य वह्नि का प्रत्यक्ष भी सापेक्ष मानने पड़ेंगे अतः प्रमाण नामक पदार्थ ही अमान्य हो जायेगा। यह कह नहीं सकते कि शब्द में ही निरपेक्षतालक्षण प्रामाण्य है अन्यत्र अज्ञातज्ञापकत्वमात्र पर्याप्त है; क्योंकि जब अज्ञातज्ञापकत्व से उभयत्र प्रामाण्योपपत्ति संभव है तब शब्दप्रामाण्य के लिये नैरपेक्ष्यरूप विशेषण व्यर्थ है। सापेक्ष शब्द अप्रमाण है यह सिद्ध हुआ भी नहीं कि उसकी व्यावृत्ति ज़रूरी हो। लाल घड़ा देख कर आया व्यक्ति कहता है 'घड़ा लाल है' तो क्या उसका वाक्य अप्रमाण हो गया! वेद में नैरपेक्ष्य है यह उभयवादिसंमत है यह श्लोक ६७९ में बता ही चुके हैं। अतः एक विषय में अनेक प्रमाण नहीं हो सकते यह मान्यता ही ग़लत है, यह प्रतिबंदी का तात्पर्य है।

सिद्धान्त में भी 'अनधिगत अबाधित ज्ञान प्रमा है' आदि मान्य है तथा अपूर्वता को तात्पर्यलिंग माना है। कारण यह है कि ज्ञान का कार्य है अज्ञाननिवृत्ति अतः ज्ञान तभी प्रवृत्त होगा जब उससे निवर्त्य अज्ञान मौजूद हो। अतएव यावद्वृत्तिभावी एक ज्ञान मानते हैं और द्वितीय वृत्ति के लिये नाश्य अलग अज्ञान स्वीकारते हैं क्योंकि पल्लवाविद्यायें (तूलाविद्यायें) अनंत हैं। अथवा अज्ञानवृत्तियों का ही घटादिज्ञान से नाश है और अज्ञानवृत्तियाँ अनंत हैं। अथवा वृत्ति से अज्ञानाभिभव ही होता है अतः द्वितीयादिज्ञानों के लिये अभिभव करना रूप कार्य उपस्थित है। शास्त्र में अपूर्वता तात्पर्यग्राहक इसलिये है कि 'अर्थेऽनुपलब्धे' से जैमिनि-बादरायण दोनों ने स्वीकार लिया है कि मानान्तर से ज्ञेय के लिये शास्त्रप्रवृत्ति अनुपपन्न है। अतः स्मृतिकार भी कहते हैं कि प्रत्यक्ष – अनुमान से अनवगम्य का बोध कराने को शास्त्र है। आप्त उपदेष्टा भी उसी बात को समझाने की कोशिश करता है जिसे यों ही सब नहीं जान पाते, तो परम आप्त वेद भी ऐसा ही करेगा इसमें कहना ही क्या! किं च अपूर्वता को तात्पर्यग्राहक ही मानते हैं प्रामाण्यहेतु तो मानते नहीं। इसे प्रामाण्यप्रयोजक भी नहीं कह सकते : लिंगप्रामाण्य के बिना श्रुतिकल्पना नहीं होती अतः लिंग से प्रमित को विषय करने वाली कल्पित श्रुति को भी प्रमाण मानने पर अपूर्वता का आग्रह कैसे रख सकते हैं? एवं च अनेक प्रमाण एक को विषय कर सकते हैं यह वार्तिकसिद्धान्त सुसंगत है। अद्वैत आत्मा अनधिगत है इसमें तो – संदेह नहीं, अन्यथा साधकप्रवृत्ति आदि न होती, अतः शास्त्र में – कम-से-कम अद्वैतशास्त्रमें – अज्ञातज्ञापकत्व है ही ॥६९०॥

शब्द को प्रमितबोधक कहने पर वादी प्रमाणान्तरों को शब्दविषयविषयक मान ही रहा है अतः उनकी 'एकार्थोपनिपातिता' उसे स्वीकृत है ही। अन्यत्र भी एक विषय अनेक प्रमाणों का गोचर होता है यह दिखाते हैं –

सत्ता एक ही है लेकिन सभी इंद्रियाँ उसके विषय में प्रमाण मानी जाती हैं। द्रव्य के विषय में त्वगिन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय दोनों प्रमाण हैं। यदि प्रमाणान्तरगोचरविषयकता अप्रामाण्यप्रयोजक हो तो इन सब को अप्रमाण स्वीकारना पड़ेगा जो अनिष्ट है ॥६९१॥

अतः यही कहना होगा कि भले ही समानविषयक हैं लेकिन एक-दूसरे की अपेक्षा से प्रवृत्त नहीं हैं अतः प्रमाण हैं। यह बात शब्द के बारे में भी समझी जा सकती है। अपौरुषेय वेद सिद्धार्थप्रतिपादन भी अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा से नहीं करता। अतः सिद्धवस्तुरूप ब्रह्म में तात्पर्य वाले वेदान्तों का निरपेक्ष प्रामाण्य अक्षुण्ण है ॥६९१॥

नियोगे लौकिके चाऽपि हरीतक्यादिभक्षणे। मानान्तरासंभवेन प्रसज्येतानपेक्षता ॥६९२॥
नैष दोषो नरज्ञानपूर्विका विनियोगधीः। येन लोकेऽस्त्यतोऽपेक्षा वेदे तु स्याद्विपर्ययः ॥६९३॥
नैवं सत्यनपेक्षत्वं वचसः कार्यसंश्रयात्। पुंबुद्धिपूर्वकत्वेन यतः सापेक्षतोच्यते ॥६९४॥

श्लोक ६७५ में पूर्वपक्षी ने नियोग को प्रमाणान्तर के अयोग्य कहकर तद्विषयक वाक्य के निरपेक्षप्रामाण्य का समर्थन किया था। उसकी परीक्षा करते हैं : नियोग प्रमाणान्तर के अयोग्य है इसमें कारण क्या उसका नियोगत्व ही है या वैदिकनियोगत्व? प्रथम पक्ष में अतिप्रसंग बताते हैं –

(यदि नियोग होने मात्र से उसे मानान्तर के अयोग्य मानोगे तो) 'हरड़ खाओ' आदि लौकिक नियोग में भी प्रमाणान्तर संभव न रह जाने से निरपेक्षता होने लगेगी! ॥६९२॥

आपत्ति यह होगी कि वैद्यक शास्त्र पढ़ना व्यर्थ हो जायेगा ॥६९२॥

वैदिकनियोगत्व को मानान्तराऽयोग्यत्व का प्रयोजक मानते हैं अतः यह दोष नहीं इस तात्पर्य से वादी कहता है –

यह दोष नहीं। लोक में क्योंकि (नियोग सुनकर) ऐसे विनियोग का ज्ञान होता है जिस विनियोग को वक्ता पहले जान चुका है इसलिये (लौकिक नियोग में) प्रमाणान्तर की अपेक्षा रहती है। वेद में तो इससे विलक्षण प्रक्रिया है (अतः वहाँ निरपेक्षता है।) ॥६९३॥

विनियोग अर्थात् साध्यसाधनसम्बन्ध। 'हरड़ खाओ' सुनकर रोगी को पता चलता है 'हरड़ खाना मेरे रोग को मिटायेगा', अर्थात् नियोग का विषय जो हरड़ खाना, उसका विनियोग पता चलता है। यह विनियोग कि 'अमुक रोग में हरड़ उपचार है', वक्ता को पहले से ज्ञात होता है, तभी वह बोलता है। यहाँ आप्त वक्ता की आज्ञा समझनी चाहिये; क्योंकि बहुधा लोग अन्दाज़े ही दवा बता देते हैं जिन वाक्यों से भी रोगी को नियोग और विनियोग का ज्ञान (भ्रम) होता है। उन स्थलों की यहाँ चर्चा नहीं। जहाँ तो प्रयोगात्मक प्रयास होता है वहाँ वैद्य और रोगी दोनों की प्रवृत्ति संभावना से होती है, विनियोगप्रमा से नहीं, यह समझना चाहिये। अतः विनियोगप्रमाजनक नियोगवाक्य क्योंकि वक्ता की प्रमा के सापेक्ष है इसलिये लौकिक नियोग में निरपेक्षता नहीं।

वेद में तो नियोग सुनकर श्रोता को यह नहीं लगता कि 'क्योंकि यह मेरा इष्टोपाय है इसलिये विधीयमान है' बल्कि यह लगता है कि 'क्योंकि मेरे लिये विधीयमान है इसलिये इष्टोपाय है', अतः लोक से उल्टा ढंग हुआ। शास्त्रीय विनियोग (अर्थात् यागादि की इष्टोपायता) प्रमाणान्तरगम्य है नहीं अतः शास्त्रीय नियोग भी विनियोगप्रमापूर्वक नहीं हो सकता। एवं च निरपेक्षता स्पष्ट है।

विद्यासागर तो कहते हैं कि लौकिक विधि में विनियोग ही पता चलता है, नियोग नहीं, अतः सापेक्षता है। वैदिक विधि से नियोग पता चलता है अतः निरपेक्षता है। यद्यपि प्रभाकरदृष्ट्या यह अर्थ भी संगत है तथापि 'विपर्ययः' शब्द का पूर्ण स्वारस्य इस व्याख्या में नहीं रहता। इस व्याख्या में 'विपर्ययः' का मतलब होगा अनपेक्षा, जो अपेक्षा से विपरीत है। वस्तुतस्तु पूर्व में स्पष्ट हो चुका है कि प्राभाकर नियोग का आज्ञादि से उपहित रूप से ज्ञान लोक में भी मानता है अतः यथाश्रुत योजना ही उचित है ॥६९३॥

अनपेक्षता उक्त प्रकार से वैदिक नियोगत्व से प्रयुक्त मानने पर वादी ने जो मूल दोष दिया था वह वेदान्ती पर लागू नहीं हो सकेगा यह बात सिद्धान्ती कहता है –

यदि ऐसा है तो 'कार्यविषयक होने से निरपेक्षता है' यह बात नहीं सिद्ध होगी क्योंकि तुम सापेक्षता में हेतु बता रहे हो 'पौरुष ज्ञान की कारणता' को (न कि सिद्धता को।) ॥६९४॥

वादी चाहता तो था सिद्धार्थक की सापेक्षता कहना लेकिन उसने बताया यह कि लौकिक नियोग क्योंकि

नैवं नियोगनिष्ठत्वाद्वेदे तेनानपेक्षता। सापेक्षत्वं च लोके स्याद्विनियोगप्रधानतः ॥६९५॥
नैवं शब्दार्थयोरैक्यं यदा स्याल्लोकवेदयोः। तदा न शक्यते वक्तुं वैलक्षण्यं तयोरिति ॥६९६॥

विनियोगज्ञान में कारण होता है इसलिये सापेक्ष है। अतः सिद्धार्थता तो सापेक्षता में हेतु हुई नहीं और नियोगविषयता भी निरपेक्षता से अव्यभिचरित सम्बन्ध वाली रही नहीं। इस प्रकार वादी पर प्रतिज्ञाहानि दोष लगा। वेदान्त तो विनियोगधीपूर्वक हैं नहीं – क्योंकि अपौरुषेय हैं – अतः इनकी निरपेक्षता यथावत् रह गयी ॥६९४॥

प्रतिज्ञाहानिरोबचने के लिये पूर्वपक्षी कहता है –

ऐसा मत कहो। वेद में क्योंकि लिङादि नियोगविषयक हैं और नियोग को प्रमाणान्तर की अपेक्षा होती नहीं है इसलिये वाक्य की निरपेक्षता है। पौरुषेय वाक्यों में तो लिङादि विनियोगविषयक होते हैं और विनियोग को प्रमाणान्तर की अपेक्षा होती है इसलिये वाक्य सापेक्ष हुआ करते हैं ॥६९५॥

वादी का अभिप्राय है कि नियोगपरता को ही निरपेक्षता में प्रयोजक मानो। लौकिक लिङ् नियोगबोधक भले ही हों, तात्पर्य उनका विनियोग में है अतः नियोगपरता के अभाव से ही वहाँ भी निरपेक्षता का अभाव है ॥६९५॥

लोक वेदाधिकरण में (पू०मी० १.३. अधि० १०) प्रथम वर्णकानुसार सिद्ध है कि लोक व वेद में शब्दार्थ एक-सा मानना चाहिये क्योंकि शब्दसामर्थ्य लोक में ही जानी जाकर वेदज्ञान करा पाती है। यदि लोक में अन्य अर्थ हो और वेद में और ही कोई अर्थ हो तो वैदिक शब्द का अर्थ ही समझना असंभव हो जायेगा। प्रायः शब्द भी व्रीहि, यव, पय आदि ऐसे हैं जो वेद और लोक में एक-से हैं। यदि लौकिक लिङ् को विनियोगपरक और वैदिक को नियोगपरक कहोगे तो उस अधिकरण का विरोध होगा यह बात सिद्धांती समझाता है –

यह कहना ठीक नहीं। जब लोक और वेद में शब्द-अर्थ की एकता मानते हो तब यह नहीं कह सकते कि वैदिक व लौकिक लिङ् का अर्थ अलग-अलग है ॥६९६॥

यद्यपि इसी से घबरा कर वादी ने 'विनियोगप्रधानतः' कहा था, तथापि सिद्धांती का तात्पर्य है कि लौकिक लिङ् का विनियोगप्राधान्य होने पर वैदिक लिङ् में भी उसे ही प्रधान मानना पड़ेगा, नियोग में तात्पर्य नहीं मान सकोगे। किंच लिङ् की शक्ति नियोग में मानकर उसे विनियोगपरक तो लक्षणा से ही कह सकते हो तो लक्षणाबीज बताना पड़ेगा। वादी जो भी शब्दगत बीज कहेगा वह वेद में भी मिल जायेगा और यदि वक्तृगत बताता है तो विवक्षानुसारी वाक्यार्थ मानना पड़ेगा जो उसे कथमपि अमान्य है यह पहले विचार हो भी चुका है ॥६९६॥

इस प्रकार 'कार्य प्रमाणान्तर के अयोग्य है अतः उसका प्रतिपादक वाक्य निरपेक्ष है' इस बात को निराधार बता दिया।

अब विचार करते हैं कि सिद्ध को सापेक्ष कहते हो तो 'सिद्धि' से क्या मतलब है : स्वतः या परतः ज्ञान को, स्फूर्ति को, सिद्धि कहते हो? अर्थात् सिद्धवस्तु प्रमाणान्तर से क्या सत्ता पाती है इसलिये सापेक्ष होती है या उससे स्फूर्ति पाती है इसलिये सापेक्ष होती है? इनमें यदि स्वतः स्वरूपलाभ या स्वतः स्फुरण सिद्धि हो तब तो प्रमाणान्तर-सापेक्षता का प्रसंग ही नहीं होता। यदि प्रमाण से स्वरूपलाभ या स्फूर्ति कहते हो तो भी सिद्ध वस्तु जब प्रमाण से सत्ता या स्फूर्ति पा चुकी तभी सिद्ध कही जायेगी और क्योंकि सत्ता या स्फूर्ति की प्राप्ति हो चुकी है इसलिये अब अपेक्षा नहीं रहेगी, प्राप्त के लिये फिर सापेक्षता रहती नहीं। किं च स्फूर्ति के लिये प्रमाणान्तर की जरूरत भी नहीं क्योंकि यह काम तो शब्द ही संपन्न कर देगा। अतः प्रमाणान्तर से साध्य कोई काम किसी हालत में नहीं होने से सिद्ध को सापेक्ष कहना व्यर्थ है यह बताते हैं –

स्वरूपलाभः सिद्धश्चेत्स्वतो वा यदि वाऽन्यतः। स्वरूपेऽनुपयोगित्वान्न प्रमाणव्यपेक्षणम् ॥६९७॥
अभिव्यक्तोऽथ सिद्धोऽयं स्वतो वा यदि वाऽन्यतः। अभिव्यक्तस्य भूयोऽपि निष्फलं मान्तरेक्षणम् ॥६९८॥
तस्मान्न सिद्ध इत्येव संभाव्येत प्रमान्तरम्। नरोक्तौ मान्तरापेक्षा तेन मान्तरसंभवः ॥६९९॥
क्रियां विना न संसर्गः पदार्थानामथोच्यते। क्रियैवापेक्ष्यतां तर्हि किं न सिद्धं विधिं विना ॥७००॥
क्रियां चापेक्ष्यमाणाऽपि न या काचिदपेक्ष्यते। योग्यत्वहेतुतस्तर्हि साऽस्त्येवास्यादिका श्रुतौ ॥७०१॥

स्वतः या परतः (= प्रमाणतः) स्वरूपलाभ यदि सिद्धि हो तो प्रमाण की अपेक्षा नहीं होगी क्योंकि (प्राप्त हो चुके) स्वरूप में अब प्रमाण का कोई उपयोग नहीं रहा ॥६९७॥ यदि सिद्ध उसे कहो जो स्वतः या परतः (= प्रमाणतः) अभिव्यक्त (= स्फुरित) होता है तो भी जो अभिव्यक्त हो चुका उसे फिर प्रमाणान्तर की ज़रूरत नहीं क्योंकि अब वह व्यर्थ है ॥६९८॥ इसलिये वस्तु सिद्ध है एतावता प्रमाणान्तरापेक्ष है यह नहीं कह सकते। पुरुषवचन प्रमाणान्तर - सापेक्ष होते हैं अतः पुरुषवचन का विषय प्रमाणान्तरयोग्य हो यह संभव है ॥६९९॥

इस प्रकार ब्रह्म प्रमाणान्तर के अयोग्य हो सके इसलिये विधि मानो यह विकल्प (६७४-९९) परीक्षापूर्वक निरस्त हुआ ॥६९७-६९९॥

श्लोक ६६० में शाब्दज्ञान की विधि मानने के छह कारण संभावित किये थे, उनमें पाँच कारण वेदान्तों में विधि मानने को उपपन्न नहीं कर सकते यह बताकर अब छठे कारण को भी इस काम में असमर्थ सिद्ध करना है। पदार्थों का आपसी संबंध हो इसलिये विधि मानो – यह था छठा विकल्प। 'विधि' से लिङादि भी कहे जा सकते हैं और केवल विधीयमान क्रिया भी। लिङादि यदि विवक्षित हों तो जो दोष आते हैं उन पर श्लोक ७२१ से प्रकाश डालना प्रारंभ करेंगे। अभी यह मानकर विचार करते हैं कि विधि का मतलब है क्रिया। वादी का भाव है कि यदि पदार्थसंबंध के लिये क्रिया को स्थान मिला तो क्रियाविषयक विधि का प्रवेश सुलभ हो जायेगा। किं च कात्यायनादि के अनुयायी क्रियावाचक शब्द से ही वाक्य को पूर्ण मानते हैं। यदि वाक्य को निराकांक्ष करने के लिये क्रिया रखी जायेगी तो उसे ही विधेय मानने में रुकावट नहीं होगी। अतः इस पक्ष का निरास आवश्यक है।

यदि कहते हो कि पदार्थों का संबंध क्रिया के बिना नहीं होता तो भले ही क्रियाकी ज़रूरत रहे, विधि के बिना क्या बिगड़ रहा है? ॥७००॥ क्रिया की आवश्यकता होने पर भी चाहे जो क्रिया तो चाहिये नहीं, जिसमें योग्यता हो वही क्रिया अपेक्षित है। वेदान्तश्रुति में 'असि' ('हो') आदि योग्य क्रियायें हैं ही ॥७०१॥

'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि में क्रिया पद हैं ही जिनसे वाक्य निराकांक्ष है अतः क्रियाकी ज़रूरत हो तो भी कल्पना कर विधेय क्रिया – प्रसंख्यानादि – प्रवेश नहीं पा सकती यह अर्थ है।

पंचपादिका में (पृ० ६६४) स्पष्ट किया है कि क्रिया के बिना भी अन्वय होता है। अतः यहाँ वार्तिक अभ्युपेत्यवाद है। यह बात संक्षेपशारीरक से (१.२८०-८३) निश्चित होती है।

वाक्य में क्रियावाचक शब्द और वाक्यार्थ में क्रियाघटितत्व होना चाहिये यह मान लेने पर भी योग्य शब्द और योग्य क्रिया ही स्वीकार हो सकती है। 'तुम ब्रह्म हो' – यहाँ 'हो' यह क्रियावाचक शब्द है ही अतः 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वाक्यार्थ भी 'होना' – रूप योग्य क्रिया से घटित ही है। परिस्पन्द – परिणाम या पूर्वापरीभूतता को ही क्रिया मानने पर 'है' आदि क्रिया नहीं होंगे अतः यहाँ धात्वर्थरूप पारिभाषिक क्रिया समझनी चाहिये। परिस्पंदादि ही क्रिया हों तब तो 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि हिमालयः' (कु० १.१), 'न क्षमं भवति तत्त्वविचारे मत्सरेण हतसंवृति चेतः' (शिशु० १०.३५) आदि वाक्य भी असंगत हो जायेंगे क्योंकि इनमें 'अस्ति', 'भवति' ही क्रियापद हैं। अतः योग्य क्रिया ही वाक्यार्थघटक मानने पर 'होने' को भी क्रिया स्वीकारना पड़ेगा यह तात्पर्य है ॥७००-७०१॥

अकर्मकत्वादस्यादेर्न तावत्कर्म विद्यते। अभूतभवनं चार्थे नित्यत्वादात्मनश्च न ।।७०२।।
असंसृष्टात्मबोधित्वान्नापि संसर्गधीरतः। स आत्मेत्यभिसंबन्धान्नापि सत्ता सतोच्यते ।।७०३।।

क्योंकि फल उस क्रिया से मिलता है जिसका विधान किया गया हो इसलिये जो भी क्रिया वेदांतों में हो उसका भी विधान तो मानना ही चाहिये – यह शंका है। इस पर विचार उठता है कि यहाँ 'है' आदि से कही 'होना' क्रिया को विहित मानकर जो फल होगा वह क्या है : कुल्हाड़ी चलाने से कर्मकारक पेड़ कट जाता है, ऐसे ही यहाँ कर्मकारक में कोई विशेषता आती है जिसे फल कहना चाहते हो? या यह मानते हो कि कोई अविद्यमान वस्तु (द्रव्य-गुण आदि) विद्यमान हो जायेगी? या जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध का ज्ञान होना फल मानते हो? तीनों पक्षों में दोष देते हैं –

'असि' ('हो') आदि अकर्मक क्रियायें हैं अतः इनका कर्म तो है ही नहीं (कि कर्म में पैदा होने वाली विशेषता फल हो सके)। आत्मा क्योंकि कूटस्थनित्य है इसलिये वाक्यार्थरूप आत्मामें कोई नवीनता भी नहीं ही आनी है (कि अविद्यमान वस्तु का विद्यमान हो जाना रूप फल संभव हो) ।।७०२।। वाक्य क्योंकि सर्वसम्बंधवर्जित आत्मा का तात्पर्यतः ज्ञान कराता है इसलिये (जीव-ब्रह्म के) सम्बंध का ज्ञान भी फल नहीं हो सकता। 'वह आत्मा' इस वाक्य में क्या संबंध नहीं कहा? नहीं कहा। 'सदेव' आदि से सत्ताजाति भी (ब्रह्मरूप) नहीं कही जा रही है ।।७०३।।

जिसमें क्रिया रहे उससे भिन्न वस्तु पर क्रियानिमित्तक परिवर्तन हो तो क्रिया सकर्मक, अन्यथा अकर्मक होती है। यह पारिभाषिक रीति है। वस्तुतः 'घटं पश्यति' में दर्शन से घटनिष्ठ परिवर्तन समझना मुश्किल ही है। किं च 'गया' सुनकर अवश्य जिज्ञासा हो 'कहाँ?' यह भी नियम नहीं, 'चोर भाग गया' 'बिजली गयी' आदि सुनने पर भी निराकांक्ष बोध अनुभव-सिद्ध है। अतः कर्ता को इष्ट या अनिष्ट वस्तु के उल्लेख के बिना जहाँ क्रियाका निराकांक्ष भान न हो वहाँ उसे सकर्मक, अन्यथा अकर्मक समझना चाहिये। इसलिये यद्यपि 'कहीं तो गया ही होगा' इत्यादि रूप से साधारणतः कर्म समझा भी जा सकता है – और 'बिजली भी कहीं गयी ही होगी' इत्यादि भ्रम भी कर्म को विषय कर सकता है – तथापि ऐसे प्रयोग अकर्मक या तत्तुल्य ही रहते हैं। अतः 'आग बुझ गयी' से सब को कोई कर्म नहीं उपस्थित होता, कुछ विचारक ही यहाँ 'व्यापकभाव को' यों कर्म जोड़ने की कोशिश कर सकते हैं। अतः श्रोता की जिज्ञासा पर सकर्मकता-अकर्मकता निर्भर है यही लोकसिद्ध है। हर हालत में 'हो' सुनकर 'हूँ' ज्ञान होता है तथा यहाँ कर्मजिज्ञासा नहीं होती अतः यह अकर्मक क्रिया है इसमें संदेह नहीं। एवं च कर्मगत विशेषता को फल मानो तो यहाँ असंभव है यह अर्थ है।

ऐसा भी नहीं कि अभी जीव ग़ैरब्रह्म हो और वाक्य सुनकर उसी में कोई खासियत हो जाये जिससे वह ब्रह्म हो जाये। अतः द्वितीय संभावना भी यहाँ नहीं। श्रुति ने कह दिया है 'ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्म होता है' (बृ० ४.४.६)। [उदाहृत श्रुति में 'अप्येति' का सही तात्पर्य समझना हो तो संक्षेपशारीरक (१.३०७ इत्यादि) पढ़ना चाहिये।]

तीसरा विकल्प था कि जीव-ब्रह्म के संबंध का ज्ञान फल मान लें। वह इसलिये असंभव है कि इनके किसी संबंध को तत्त्वमादि वाक्य कह ही नहीं रहे। ये वाक्य तो अद्वैतपरक हैं। इनके पदों का अन्वय अतएव 'सम्यक्' है 'सम्यगन्वयः समन्वयः। अथ केयं सम्यक्ताऽन्वयस्य? पदानां परस्परानवच्छिन्नार्थानाम् अनन्याकांक्षाणाम् अव्यतिरिक्तैकरसप्रातिपदिकार्थमात्रान्वयः' से भगवान् पञ्चपादिकाचार्य ने (पृ० ५७५) यह स्पष्ट किया है।

वादी एक रास्ता निकाल सकता है : 'सदेव सोम्य' आदि श्रुति ब्रह्म को सत् कह रही है और सत् कहते हैं सत्ता जाति को। 'स आत्मा' आदि वाक्य 'सः' से कहे सत्ताजातिरूप ब्रह्म का आत्मा अर्थात् जीव से सम्बन्ध ही बताता है। यही 'तत् त्वम् असि' की स्थिति है। हर सामान्य किसी-न-किसी विशेष से सम्बंध वाला होता है जैसे घटत्व का घटों से सम्बन्ध होता है। अतः वेदान्त भी संसर्गार्थक ही हैं : ब्रह्म सामान्य है, जीव विशेष है और इनका तादात्म्य वाक्य से बताया जा रहा है। वादी का भाव है कि संसर्ग संभव होने से संसर्गबोधन को फल मान सकते हैं तथा यह फल क्योंकि 'असि'-

शब्दाद्यगोचरोऽर्थोऽतो लक्षणापाश्रयाच्छ्रुतौ। सदित्यादिपदैरात्मा साक्षान्नः प्रतिपाद्यते ।।७०४।।

रूप वैदिक क्रिया से होगा इसलिये क्रियाको विधेय भी मानना पड़ेगा क्योंकि यह व्याप्ति है कि वही वैदिक क्रिया फलप्रद होती है जिसकी विधि हो। किं च जीव-ब्रह्म का तादात्म्य सिद्ध हो जाने पर अभेद वास्तविक न होने से चिन्तनका, उपासना का, विषय भी बना रहेगा क्योंकि तादात्म्यज्ञान तो मोक्ष दे नहीं पायेगा। एवं च भेदाभेदवाद का (तथा विशिष्टाद्वैत का) प्रवेशद्वार खुल जायेगा।

इस रास्ते पर कोई न भटके इसलिये वार्तिक में स्पष्ट किया कि सत्ताजाति सत्पदार्थ नहीं है, कम-से-कम 'सदेव' आदि में तो नहीं ही है। आत्मा में सामान्य-विशेषभाव मानने पर वह जड हो जायेगा क्योंकि घट-घटत्वादि जडों में ही वह भाव देखा गया है। ब्रह्म चेतन है अतः सामान्यविशेषभाव से रहित है। तद्रूप कहा गया जीव भी उस भाव से रहित ही है। इसलिये 'स आत्मा' आदि महावाक्य तादात्म्यबोधक हों यह असंभव है।

श्लोकार्थ यों समझना चाहिये - वाक्य असंसर्गी आत्मा का बोधक है अतः उससे संसर्गज्ञान नहीं होता। आत्मा असंसर्गी कैसे है? क्योंकि 'स आत्मा' कहकर आत्मा का ब्रह्म से 'अभिसम्बंध' अर्थात् अभेद बताया गया है। ब्रह्म भी सत्सामान्य होने से संसर्गी क्यों नहीं? क्योंकि सत्-शब्द सत्सामान्य को नहीं कहता।

अनुवाद में 'अभिसंबंध' को तादात्म्यरूप मानकर 'अभिसम्बन्धात् संसर्गधीः किं न स्यात्?' ऐसी साध्याहार योजना स्पष्टार्थता के लिये है।

अथवा-'स': अर्थात् सत्पदार्थ क्योंकि आत्मा से अभिन्न कहा गया है इसलिये सत्-शब्द से सत्ता कही भी नहीं जाती कि महावाक्य सत्तासम्बंध बताये - यह उत्तरार्धार्थ है।

अथवा 'अभिसम्बन्ध' अर्थात् वाक्य। पदार्थों का अभिलषित संबंध ही वाक्यार्थ होने से बोध्य-बोधक का अभेदोपचार होता है। अतः 'स आत्मा इति अभिसम्बन्धाद् न संसर्गधीः (तस्य) असंसृष्टार्थबोधित्वात्।' तब प्रश्न हुआ कि 'अस्तिर्भवन्तीपरः प्रयोक्तव्यः प्रथमपुरुषेऽगम्यमाने' इस कात्यायनवार्तिक से (पा० २.३.१ पर) 'स आत्मा अस्ति' यह वाक्य बनेगा तो अस्त्यर्थभूत सत्ता का सम्बन्ध ही वाक्यार्थ होगा; अर्थात् 'सः' का अर्थ और 'आत्मा' का अर्थ भले ही अद्वितीय हो जिससे दो पदार्थ न होने के कारण पदार्थसंसर्ग वाक्यार्थ न बन पाये, लेकिन 'अस्ति' तो है ही अतः उसके अर्थ का संसर्ग क्यों वाक्यार्थ नहीं बनेगा? इसका उत्तर दिया 'सतापि सत्ता नोच्यते।' अस्-धातु को ही यहाँ सत् कहा है क्योंकि वह उसका वाचक है। एवं च 'अस्ति'-शब्द भी यहाँ सत्ता को नहीं कहता। वास्तव में तो 'अस्ति' की ज़रूरत नहीं है, अगर जोड़ भी लें तो वह वाचोयुक्ति ही रहता है जैसा आचार्य विद्यारण्य ने कहा है 'सदासीदिति… मैवं, लोके तथेक्षणात् ॥ कर्तव्यं कुरुते…' (पंच० २.३६-३७)। इस तरह वाक्यत्वसंसिद्धि के लिये क्रिया ज़रूरी होने पर भी विधि को अवकाश नहीं यह बताया ।।७०२-७०३।।

यदि वाक्य में आये 'सत्' आदि शब्द सत्तासामान्य और उसके तादात्म्य वाले विशेष को नहीं कहते तो कहते क्या हैं? बताते हैं -

शब्द आदि का अविषय जो अर्थ है (वही वेदान्तप्रतिपाद्य है)। क्योंकि यह शब्दशक्ति से कहा जाने के अयोग्य है इसलिये श्रुति में आये 'सत्' इत्यादि पदों से लक्षणा द्वारा आत्मा का अपरोक्षत्वेन हमारे लिये प्रतिपादन किया जा रहा है ।।७०४।।

यहाँ स्पष्ट है कि महावाक्य ही नहीं अवान्तरवाक्य भी लक्षणावृत्ति से ही परमात्मबोध कराते हैं। अतएव सर्वज्ञमुनि ने बहुत विस्तार से यह समझाया है (१.१७६ आदि) कि अवान्तरवाक्य किस तरह अखण्डार्थक है। इस विषय में संक्षेपशारीरक (१.२२६ आदि) द्रष्टव्य है। मधुसूदन स्वामी उस ग्रंथ की टीका में (१.५२६) रहस्योद्घाटन करते हैं कि सभी लक्षणवाक्य अखण्डार्थक होते हैं।

यदाऽपि मानयोग्यत्वं सत्त्वं तच्च प्रतीयते। तदाऽपि वस्तुपरता नाऽऽगमस्य विहन्यते ॥७०५॥
मान्तरेणापि संबद्धमर्थं वाक्यं प्रबोधयत्। मानतां न जहात्येव जगत्याप्तवचो यथा ॥७०६॥

'लक्षणापाश्रयात्' कहा होने से यह शंका नहीं करनी चाहिये कि नवीन आचार्यों ने 'तात्पर्याधीनत्वाच्छब्दवृत्तेः' (सि०बि०) के सहारे बिना लक्षणा के जो आत्मबोध शब्द से माना है वह असंगत है। न्यायरत्नावली में (पृ० ८९) यह समझा दिया है कि 'जहदजहल्लक्षणा हि शक्यैकदेशशक्तिरेव।' अतः संज्ञा में ही अंतर है, अर्थ एक ही है; 'लक्षणा' कहकर प्राचीनों को जो विवक्षित है वही नवीनों को 'शक्यैकदेशशक्ति' से अभिप्रेत है ॥७०४॥

अभी तक, वस्तु का स्वरूप ही सत्त्व है, ब्रह्मवस्तु से अन्य सत्ता-नामक कोई धर्म नहीं, इस स्वसिद्धान्त का अनुसरण करते हुए वेदान्त सच्चिदानंदरूप प्रत्यग्ब्रह्म का तात्पर्यतः प्रतिपादन करने से सापेक्ष नहीं हो जाते यह बताया।

प्राभाकर 'मानमितत्व' या 'मितियोग्यत्व' को सत्त्व मानते हैं (द्रष्टव्य सं० शा० १.४९३-९५)। प्रकरणपंचिका के 'जातिनिर्णयः' प्रकरण में (पृ० ९७) भी यह स्पष्ट है। वहाँ टिप्पणकार ने बताया है कि प्रभाकर प्रमाणसम्बन्ध को सत्त्व मानते थे, उस पर आक्षेप हुए तो शालिकमिश्र ने योग्यताघटित लक्षण बना लिया। शालिक ने सत्ता को 'प्रमाणसम्बन्धयोग्यता' कहा है।

प्रौढिवाद से, यदि यह भी सत्त्वलक्षण हो तो भी वेदान्त आत्मार्थक होने पर सापेक्ष नहीं हो जायेंगे यह वर्णन करते हैं –

'प्रमाणयोग्यता सत्ता है' यह जब मान लेते हैं तब भी वेदान्तों से सत्ता की प्रतीति होने पर शास्त्र का तात्पर्य वस्तु में ही बना रहता है ॥७०५॥

सत्ता का अर्थ किया प्रमाण-योग्यता। जिस वस्तु में सत्ता है उसमें प्रमाणयोग्यता है, यह तात्पर्य हुआ। योग्यता तो वस्तुका स्वरूप ही हो सकती है अन्यथा अनवस्था होगी। अतः सत्ता को विषय करने का मतलब भी वस्तु को विषय करना ही रहा! प्रमाणयोग्यता जिसका स्वरूप है ऐसी वस्तु को बताने के लिये वेदांत प्रमाणान्तर की अपेक्षा तो रखते नहीं। वे तो स्वयं प्रमाण होने से वस्तुप्रकाशन में समर्थ हैं। प्रमाणान्तर तो वस्तुस्वरूपभूत योग्यता के उपलक्षण ही हैं अतः वस्तु की या योग्यता की प्रमिति से बहिर्भूत ही बने रहेंगे ॥७०५॥

यदि कहो प्रमाणयोग्यत्व को सत्त्व मानने पर प्रमाण को योग्यता का उपलक्षण नहीं विशेषण स्वीकारेंगे अतः सत्त्वबोधक वाक्य प्रमाणान्तर का उल्लेख करते हुए ही योग्यतारूप सत्त्व बता सकेगा; योग्यता जब प्रमाणविशिष्ट होगी तब विशेषणज्ञानपूर्वक ही विशिष्टज्ञान हो सकेगा; इस प्रकार सत्त्व बताने पर वेदान्त सापेक्ष हो जायेंगे। तो इस पर जवाब देते हैं कि फिर भी वेदांत प्रमाण बने ही रहेंगे –

प्रमाणान्तर से सम्बद्ध अर्थ को भी बताते हुए वाक्य प्रमाण बना ही रहता है जैसे लोक में आप्तवाक्य प्रमाण होता है ॥७०६॥

आप्तवाक्य प्रमाणविषयीभूत अर्थ का बोधक होने पर भी प्रमाण ही है। ऐसे ही यदि मान भी लें कि प्रमाणान्तर से विशिष्ट योग्यता रूप सत्त्व को वेदान्त विषय करते हैं तो भी इनकी प्रमाणता बनी ही रहेगी। विद्यासागर ने बताया है कि 'अभिनव प्राभाकर' अनुवादक को भी प्रमाण मान लेते हैं। अतः तात्पर्य समझना चाहिये कि वार्तिककार अबाधितार्थकता को प्रामाण्य का घटक मानना जरूरी बता रहे हैं, अनधिगतार्थकता पर अधिक अभिनिवेश नहीं है ॥७०६॥

दृष्टान्तभूत लौकिक आप्तवाक्य में निरपेक्ष प्रामाण्य नहीं ऐसे ही वेदान्तों में भी न होगा? इस शंका को मिटाने के लिये बताते हैं कि आप्तवाक्य को भी वक्तृज्ञान में निरपेक्ष प्रमाण माना ही जाता है। शबरस्वामी ने कहा है 'अपि च पौरुषेयाद् वचनाद् 'एवमयं पुरुषो वेद' इति प्रत्ययः, न 'एवमयमर्थः' इति।' (पृ० १८) अतः भट्टकुमारिल ने भी कहा है

'वक्तृधीराप्तवाक्येषु गम्यते' (श्लो.वा.चोदना १६२)। वाक्याधिकरणवार्तिक में भी कहा है 'यत्र क्वचन विज्ञातान् पदार्थान् प्रतिपद्य हि। दूरदेशादिवार्तासु नाप्तोक्ते धीर्विहन्यते॥' (श्लो० २४२)। यद्यपि 'जन्म तुल्यं हि बुद्धीनाम् आप्ताऽनाप्तगिरां श्रुतौ' (वहीं २४६) से बताया है कि शाब्दबोध तो आप्त व अनाप्त दोनों की बात सुनकर एकसा होता है और स्वतः प्रामाण्यवादी होने से मीमांसक उसे प्रमा भी मानेगा तथापि उनका मानना है कि आप्ततानिश्चय होने पर तो औत्सर्गिक प्रामाण्य बना रहता है बल्कि आप्तोक्ततालिंगक अनुमान से पुष्ट भी हो जाता है, लेकिन वह निश्चय न होने पर तुरन्त संशय से ग्रस्त होकर अप्रमाणतुल्य बन जाता है और अनाप्तता का निश्चय हो तो बाधित भी हो जाता है। यह द्वितीयसूत्र के श्लोकवार्तिक में वर्णित है।

बृहती में भी 'किं च पुरुषवचनाद् विज्ञातोऽयमनेनार्थ इति निश्चयो भवति, न पुनः प्रमाणान्तरबुद्धिरुपजायते' कहकर उक्त भाष्य अवतरित किया है। प्राभाकरों का मानना है कि आप्त-अनाप्त साधारण यही है कि शब्द का सम्बन्ध वक्ता के अभिप्राय से हो अर्थात् वक्ता के अभिप्राय के अनुसार शब्दप्रयोग होता है। उस शब्द में कहा अर्थ सही हो यह ज़रूरी नहीं क्योंकि अनाप्तशब्द का अर्थ सही नहीं होता। इसलिये वाक्य से वाक्यार्थसिद्धि अर्थात् वाक्यार्थप्रमिति नहीं हो सकती, वह तो अनुमान से ही होगी : वक्ता की आप्तता से वाक्यार्थ की प्रमा अनुमितिरूप होगी। अतः लौकिक शब्द में प्राभाकर वैशेषिकतुल्य है। अपौरुषेय वेद में क्योंकि यों अनुमान नहीं हो सकता अतः वैदिकशब्द स्वतः प्रमाण है यह प्राभाकर की विशेषता है, वैशेषिक वहाँ भी ईश्वर की आप्तता से काम निकाल सकता है। इस विषय में ऋजुविमला में शालिक ने कहा है 'सर्वत्र पौरुषेयेण वचसा न साक्षादर्थ एव प्रतीयते, पुरुषेच्छापरतन्त्रत्वात्। असत्यप्यर्थे पुरुषा वाक्यानि प्रयुञ्जाना दृश्यन्ते। तेन अर्थं प्रति नियमाभावाद् न तेभ्योऽर्थसिद्धिः। वक्तुरभिप्रायं तु स्वकारणं सूचयेयुः। स चाभिप्रायः प्रमाणपूर्वकश्चेत् ततस्तस्य प्रमाणस्य प्रमाऽविनाभावात् तन्मुखेन वाक्यार्थे निश्चयानुमानमेव।' (पृ० २१ चौखम्बा)। तथा 'प्रसिद्धं हि कारणं वाक्यस्य वक्तृबुद्धिः, अतस्तत्कल्पना; कार्यतः कारणानुमानम्। अप्रसिद्धं च कारणमर्थः, ततस्तदवगतिर्नानुमानम्।' (पृ० २५)। जहाँ तो अनाप्ततानिश्चय हो वहाँ वक्तृज्ञान भी पता नहीं चलता 'प्रतारका अन्यथा जानन्तोऽप्यन्यथा वाक्यानि प्रयुञ्जते, तथा प्रमादिनो दुष्टसामग्रीकाश्च अन्यवाक्यविवक्षायाम् अन्यदेव वाक्यमुच्चारयन्ति। तेषां वाक्यद् वक्तृबुद्धिरपि निश्चेतुं न शक्यते, दूरेणार्थः!' (वहीं)। अतः प्राभाकर इतना अवश्य मानेगा कि लौकिक आप्तवाक्य वक्तृज्ञान की प्रमिति (अनुमितिरूप) कराता है। अतः शाबरोक्ति के अनुसार दोनों प्रस्थान इस विषय में एकमत हैं कि लौकिक आप्तवाक्य वक्तृज्ञान में निरपेक्ष प्रमाण है अर्थात् सद्धेतु है –'विमतं वक्तृज्ञानपूर्वकम् आप्तवाक्यत्वात् सम्मतवत्' यह प्रयोग उचित है यह तात्पर्य है। इसलिये आप्तवाक्य भले ही वाक्यार्थ में निरपेक्ष प्रमाण न हो – भाट्टमत में अनुमानसापेक्ष हो तथा गुरुमत में वाक्यार्थ केवल अनुमेय ही हो, वाक्यप्रमेय न हो – फिर भी वक्तृज्ञान में निरपेक्ष प्रमाण है यह मीमांसकसंमत होने से 'जगत्याप्तवचो यथा' यह दृष्टान्त उचित है। इसी तरह वेदान्तवाक्य भी निरपेक्ष प्रमाण हैं यह उदाहरण का विवक्षितांश है। अर्थात् वेदान्त वक्तृज्ञान में तो प्रमाण हो नहीं सकते क्योंकि मीमांसक उनका वक्ता किसी को मानता नहीं, अतः वेद स्वार्थ में ही प्रमाण हैं यह स्वीकारना पड़ेगा।

'वेदान्ता निरपेक्षप्रमाणम् अनाप्तान्यवाक्यत्वाद् आप्तवाक्यमिव' यह प्रयोग समझना चाहिये। अतः 'प्रमाणान्तर-सम्बद्धार्थकत्व' उपाधि नहीं बन सकती क्योंकि साधनव्यापक रहेगी। आप्तवाक्य निरपेक्षप्रमाण भी है और प्रमाणान्तर-सम्बद्धार्थक भी। अतः प्रमाणान्तरसम्बद्धार्थकता होने-न होने से निरपेक्ष प्रामाण्य व्याहत नहीं होता। इसीलिये वे स्वार्थ में प्रमाण भी हो जायेंगे क्योंकि उसे रोकने के लिये मीमांसक यही कहता था कि सिद्धरूप स्वार्थपरक हों तो मानान्तरयोग्य विषयक होने से सापेक्ष हो जायेंगे। अब वह दोष तो रहा नहीं। अतः 'सिद्धार्थवेदवाक्यं स्वार्थपरं वेदवाक्यत्वात् संमतवत्' यह प्रयोग होगा। इसमें कार्यपरता उपाधि नहीं क्योंकि अनुकूल तर्करहित है व पक्षेतरतारूप है। किं च वेद में जहाँ कार्यपरता नहीं है वहाँ स्वार्थपरता नहीं है यह व्याप्ति भी कहाँ सिद्ध होगी? अतः कार्यपरताऽभाव से स्वार्थपरताऽभाव का अनुमान करने पर 'स्वार्थ में फलराहित्य, अन्यशेषत्व' आदि उपाधियाँ बनी रहेंगी जिनके कारण मूलोपाधि व्यर्थ हो जायेगी। इस विषय में तत्त्वप्रदीपिकादि में बहुत विचार है।

ज्ञातः सोऽर्थो मयेत्यत्र नाऽऽप्तवाक्यं विहन्यते। मानान्तरव्यपेक्षत्वाद्विहन्येतार्थनिश्चितौ ॥७०७॥
मायोगेऽपि न मानत्वमनाप्तवचसः क्वचित्। तेनाऽऽप्तवाक्यं मायोगे मानादर्थेऽपि निष्ठितम् ॥७०८॥

वार्तिकाचार्य समझाते हैं कि वाक्य से वक्तृज्ञान की भी प्रमा होगी यह निश्चित करना संभव नहीं। 'असौभाग्यं धत्ते' सुनकर क्या प्रमा करेंगे – वक्ता क्या यह जानता है कि 'असौ भाग्यं धत्ते'? या यह कि 'वह सौभाग्यरहित है' अतः वक्तृज्ञान का भी अनुमान मुश्किल है। हाँ, इतना ज़रूर कह सकते हैं कि 'इस वाक्य से मैं यह समझा हूँ'। जहाँ अनाप्ततानिश्चय होता है वहाँ तो वाक्य से समझ आने वाली संभावनायें कई हो सकती हैं लेकिन जहाँ आप्ततानिश्चय होता है वहाँ वाक्य के स्वार्थ से अन्य अर्थ न भासने से ख़ुद को जो निश्चित अर्थ पता चलता है उसमें वह वाक्य कारण बना इसमें संदेह नहीं। श्रोता को 'मयेदं ज्ञातम्' ऐसी जो प्रमिति हुई उसका उत्पादक वाक्य ही है क्योंकि वाक्य से ही इसका अन्वय-व्यतिरेक है। अतः इसमें वह वाक्य प्रमाण भी कहा जा सकता है।

अथवा आप्त वक्ता को जो यह अनुभव है 'मैंने यह अर्थ समझा है' उससे उसका वाक्य नियत संबंध वाला होने से उसके ज्ञान में निश्चित प्रमाण है – यों मीमांसकरीति से ही वार्तिककार कह रहे हैं।

'मैनें वह अर्थ जाना है' – ऐसे वक्तृज्ञान के विषय में आप्तवाक्य का प्रामाण्य बना ही रहता है। वाक्य के अर्थ के प्रामाणिक निश्चय के लिये आप्तवाक्य भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखता है अतः उसका अर्थविषयक प्रामाण्य निरपेक्ष नहीं हो पाता ॥७०७॥

'वह अर्थ' वाक्यप्रतिपाद्य अर्थ। पूर्वदर्शित रीति से वाक्य वक्तृज्ञान में निरपेक्ष प्रमाण है लेकिन वाक्यार्थ में नहीं क्योंकि उसके लिये ज़रूरी है कि वक्ता ने वाक्यार्थ को प्रमासे विषय किया हो, भ्रमादिज्ञान से नहीं। अतः वाक्यार्थ में आप्तवाक्य सापेक्ष ही है। श्लोकवार्तिक में (२.१६७) कहा है कि वक्ता के ज्ञान के प्रमात्व के व्यवधान से वाक्य वाक्यार्थ का ज्ञान कराने पर भी उस ज्ञान के निश्चित प्रमात्व के प्रति उदासीन रहता है। तात्पर्य है कि वाक्य से वाक्यार्थ भासता ज़रूर है और उस ज्ञान में औत्सर्गिक प्रमात्व भी है लेकिन वह प्रमात्व निश्चित तभी होता है जब यह निश्चय हो जाये कि वक्ता ने प्रमाण से ही वह अर्थ जाना था। इसलिये आप्तवाक्य का अर्थ में सापेक्ष प्रामाण्य होने पर भी वक्तृज्ञान में निरपेक्ष प्रामाण्य मीमांसक-संमत है अतः पूर्वश्लोकोक्त दृष्टान्त समीचीन है यह भाव है ॥७०७॥

प्रश्न होगा कि आप्तवाक्य भी यदि अर्थ में निरपेक्ष प्रमाण नहीं है तो अनाप्तवाक्य के तुल्य क्यों नहीं? उत्तर देते हैं –

अनाप्त वाक्य का वक्तृज्ञानविषयक प्रामाण्य भी कभी नहीं होता। इस तरह क्योंकि आप्तवाक्य वक्तृज्ञान के बारे में प्रमाण है इसलिये उसके द्वारा अर्थ में भी प्रमाण हो जाता है ॥७०८॥

पहले दिखा चुके हैं कि अनाप्त लोग अन्य ज्ञान रखते हुए अन्य ढंग का वाक्य कह देते हैं। इसलिये अनाप्तत्वेन निश्चित वाक्य से वक्तृज्ञान भी प्रमित हो नहीं सकता। यह अंतर है।

जब आप्तवाक्य से वक्तृज्ञान पता चलता है तब वह वाक्यार्थ से विशिष्ट हुआ ही पता चलता है अर्थात् वाक्यार्थविषयक ज्ञान रूप से प्रमित होता है। 'कमरे में घड़ा है' इस आप्तवाक्य से यही वक्तृज्ञान अनुमित होता है 'इसे कमरे में घड़ा होने की जानकारी है'। क्योंकि वाक्य इस ज्ञान में प्रमाण है इसलिये वाक्य ही अर्थ में भी प्रमाण हो गया, कारण कि ज्ञान अर्थ से विशेषित है; विशिष्टविषयक प्रमाण को विशेषण-विशेष्य-सम्बन्धों में प्रमाण मानना पड़ता है। आनंदगिरि स्वामी ने इसे 'स्वमत' कहा है अर्थात् वार्तिककार बता रहे हैं कि लौकिक आप्त वाक्य को वाक्यार्थ में निरपेक्ष प्रमाण मान सकते हैं, वक्तृज्ञान की जानकारी व्यापारस्थानीय हो जायेगी। लोकव्यवहार इसी तरह चलता भी है। न वक्ता अपना ज्ञान बताने के लिये वाक्य बोलता है और न श्रोता ही वाक्य से वक्तृज्ञान का अनुमान करता है या अर्थ का ही अनुमान करता है। अर्थ बताने के लिये ही वाक्य प्रयोग होता है और श्रोता भी वाक्य से अर्थ ही समझता है। अतः यद्यपि शब्द में अर्थावबोधकता होने से वह वाक्यार्थज्ञान उत्पन्न करता है जो स्वतः ही प्रमाण है यही राजमार्ग है, तथापि

एवं च सति वेदान्ता यदि मानमलौकिकम्। प्रबोधयन्ति विध्वस्तनिखिलद्वैतगोचरम् ।।७०९।।
कथं तेषाममानत्वं तदा स्यादाप्तवाक्यवत्। अर्थसिद्धिश्च मासिद्धौ सिद्धैवेति न साध्यते ।।७१०।।

मीमांसकरीति से विचार करने पर भी वाक्य को अर्थ में प्रमाण मानना हीं पड़ेगा यह अभिप्राय है।

श्लोकवार्तिक में (२.१६७) कहा है कि वक्तृज्ञान के हेतु की सम्यक्ता अर्थात् प्रमाणता के निश्यच से वाक्यार्थ में वाक्य के प्रामाण्य की स्थापना होती है, निश्चय होता है। सार इतना ही है कि आप्तवाक्य वक्तृज्ञान द्वारा वाक्यार्थ में प्रमाण है ही।

प्रकृत श्लोक में 'मायोगेऽपि' अर्थात् 'वक्तृज्ञान के विषय में भी'। तथा उत्तरार्ध में 'मायोगे' अर्थात् वक्तृज्ञान के विषय में ।।७०८।।

दृष्टान्त का समर्थन कर विचाराधीन बात स्पष्ट करते हैं –

जब अनाप्तेतर वाक्य की उक्तविधया प्रमाणता है तब वेदान्त वाक्य मनोवृत्ति उत्पन्न करते हैं यह यदि मानना ही है तो इन्हे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। वेदान्त ऐसी अलौकिक वस्तु का प्रबोध कराते हैं जिसमें सारा ही द्वैतनामक विषय बाधित हो चुका है। ऐसी परिस्थिति में इन्हे अप्रमाण कैसे कहा जाये? आप्तवाक्य की तरह इन्हे प्रमाण मानना ही पड़ेगा। जब वेदान्तों से उक्त प्रमा संपन्न होती है तब ब्रह्मरूप अर्थ भी अनावृत हो जाता है अतः उसके प्रकाशन के लिये कोई प्रमाण अपेक्षित नहीं है ।।७०९-७१०।।

वेदवाक्य वक्तृज्ञान का अनुमापक तो नहीं होगा लेकिन वह भी यह बता सकता है कि विवक्षित या प्रतिपिपादयिषित, तात्पर्यविषयीभूत, अर्थ क्या है तथा यह भी कि वह अर्थ वास्तविक है। अर्थात् 'वाक्य ज्योतिष्टोमकी इष्टोपायता में तात्पर्य वाला है' एवं 'ज्योतिष्टोम इष्टोपाय है' ये दो ज्ञान वेदवाक्य से भी संभव हैं। प्रथम ज्ञान वक्तृधीज्ञान के स्थानापन्न हो जायेगा और वेदप्रमाण्य के कारण द्वितीयज्ञान अर्थज्ञानरूप होगा, अर्थविषयक निश्चित प्रमा होगा। अतः टीका के 'द्विविधा वेदान्ताः' का अर्थ है उक्त दो ज्ञानों के उत्पादक वेदान्तवाक्य। पूर्व में वादी ने सिद्धार्थक होने से अप्रामाण्य की शंका की थी। आप्तवाक्य में व्यभिचारी होने से सिद्धार्थकत्व को अप्रामाण्य में हेतु नहीं कह सकते यह बता दिया। अतः वेदान्तजन्य ज्ञान प्रमाण ही होगा यह मानना पड़ेगा। कम-से-कम 'वेदान्तवाक्य अमुकतात्पर्यक हैं' यह प्रमा तो वे उत्पन्न कर ही देंगे। और तब पूर्वोक्त न्याय से वह 'अमुक' अर्थ भी वाक्यप्रमेय ही सिद्ध होगा।

वेदान्तवाक्य मनोवृत्तिरूप ज्ञान उत्पन्न करते हैं तो उसी तरह अप्रमाण क्यों नहीं जैसे 'आग बर्फ़ की दवा है' आदि वाक्य? तात्पर्य है कि हर हालत में अपूर्वतालक्षण प्रमाण्य तो नहीं ही रहेगा। इसका उत्तर दिया 'अलौकिक' कह कर। लौकिक सिद्धार्थकत्व ही अनुवादत्व में प्रयोजक है यह अभिप्राय है। कार्य को वादी अलौकिक मानता है। अद्वैत तत्त्व अलौकिक इष्ट ही है। अतः अलौकिकविषयक वेदवाक्य अपूर्वतालक्षण प्रामाण्य वाला है यही लघुभूत मान्यता उचित है। 'आग बर्फ़ की' आदि तो लौकिकविषयक वाक्य है अतः अपूर्वता वाला न हो तो हानि नहीं। एवं च 'वेदान्ता न मानं सिद्धार्थत्वाद् अग्निर्हिमस्येत्यादिवत्' में लौकिकविषयकत्व उपाधि है। अग्निरित्यादि लौकिकविषयक होने से अमान हैं तथा वेदान्त लौकिकविषयक नहीं है। अतः 'अलौकिकविषयकत्वात्कार्यवाक्यवत्' यह प्रतिप्रयोग सुगम है। वेदान्त जिस मनोवृत्तिरूप ज्ञान को उत्पन्न करते हैं वह अलौकिक है क्योंकि उसका विषय अलौकिक है : निखिल द्वैत ही लौकिक है तथा वह उस आत्मा में है नहीं जिसे वृत्ति विषय करती है।

अथवा स्वरूपज्ञान को ही यहाँ 'मान' कहा है। घटविषयक यथार्थ व्यवहार का कारण ज्ञान घटप्रमाण कहा जाता है। अद्वैतविषयक यथार्थ व्यवहार का कारण स्वरूपज्ञान है अतः उसे प्रमाण कहना संगत है। यह कल्पलता में स्पष्ट है 'स्वरूपज्ञानमैकात्म्यव्यवहारकारणम् अलौकिकप्रमाणं द्रष्टव्यम्।' वही द्वैतात्मक गोचर अर्थात् विषय से रहित है। न उसमें कोई विषय है और न विषयता ही है। विषयता भी द्वैतरूप ही है, आश्रयसापेक्ष होती है। ऐसा प्रपंचरहित तत्त्व ही

किंच सिद्धत्वसंबन्धादैकात्म्ये मान्तरानुमा। यथैवं कार्यतायोगान्नियोगेऽप्यनुमा न किम् ॥७११॥
नियोगस्यापि कार्यत्वं प्रेषणाध्येषणादिभिः। समं तद्वर्त्मनैवास्य संबन्धग्रहणं यतः ॥७१२॥
परायत्तात्मलाभत्वं नियोगस्येह कार्यता। कार्यैर्मान्तरगम्यैः सा न कथंचिद्विशिष्यते ॥७१३॥

अलौकिक प्रमाण है जो वेदान्तों से जाना जाता है, जिसका प्रबोध वे कराते हैं।

इस तरह जैसे आप्तवाक्य से वक्तृज्ञान का पता चलते हुए ही वक्तृज्ञान के विशेषणीभूत अर्थ की भी प्रमिति होती है वैसे ही वेदान्तों से जब 'अलौकिक प्रमाण' होता है तब उसका विशेषण ब्रह्म भी सिद्ध हो जाता है। यद्यपि प्रमाण के विशेषणरूप से ब्रह्म को वेदान्तों का प्रमेय मानने पर लगता है कि वेदान्त और ब्रह्म के मध्य में प्रमाण का व्यापार है अतः ब्रह्म में वेदान्त निरपेक्ष प्रमाण नहीं है, तथापि अलौकिक प्रमाण और ब्रह्म की सिद्धि एक ही बात होने से वेदान्तों को किसी व्यवधान का सामना नहीं करना पड़ता। ब्रह्मकी सिद्धि अर्थात् ज्ञप्ति, अज्ञानहानि। वेदान्तों से अलौकिक प्रमाण होना ही ब्रह्मसंबंधी अज्ञान की निवृत्ति होना है। अतः व्यवधान नहीं है। जब वृत्ति को अलौकिक प्रमाण लेते हैं तब भी वृत्ति स्वकाल में स्वसमानविषयक अज्ञान नहीं रहने देती अतः ब्रह्मरूप अर्थ की सिद्धि है ही। जब स्वरूपज्ञान को अलौकिक प्रमाण लेते हैं तब भी यही बात है। स्वरूपज्ञान भी निष्प्रपंच होता है, 'विध्वस्तनिखिलद्वैतगोचर' होता है, तभी ब्रह्म सिद्ध है, कालान्तर में या व्यापारान्तर से नहीं। अतः उक्त अलौकिक प्रमाण से अन्य और कुछ न होने से वेदान्त ब्रह्म में प्रमाण हैं।

एवं च ब्रह्मविषयक निरपेक्ष प्रमाणता वेदान्तों में यही है कि ये वृत्तिरूप अलौकिक प्रमाण के जनक होते हैं या विध्वस्तनिखिलद्वैतगोचर स्वरूपज्ञान रूप अलौकिक प्रमाण के ज्ञापक होते हैं।

'मासिद्धौ' का कल्पलतिका में अर्थ है 'स्वरूपबोधस्य वाक्यजन्यबुद्धिवृत्तिव्याप्तौ सत्याम्' ॥७०९-७१०॥

श्लोक ७०५ से चला विचार यह मानकर था कि 'प्रमाणयोग्यत्व' सत्त्व है। वैसा मानने पर भी वेदान्तप्रामाण्य अखण्डनीय है यह बताया। प्रमाण वृत्तिरूप हो तो वेदान्तश्रवणजन्य अखण्डाकारवृत्ति के योग्य ही ब्रह्म है अतः वही सत्त्वपदार्थ है; किं च सभी वृत्तियों के वह योग्य है क्योंकि वृत्ति जन्य होने से जड है इसलिये जडभिन्न को ही विषय कर सकती है, इस तरह भी ब्रह्म मानयोग्यतालक्षण सत्त्व है। यदि प्रमाण को ज्ञानरूप मानें तो भी चिदात्मा ब्रह्म ही सत्त्व है : यद्यपि स्व को स्व का विषय नहीं कह सकने से ब्रह्मरूप सत्त्व को ब्रह्मरूप प्रमाण के योग्य कहना बनता नहीं तथापि क्योंकि जो यद्विषयक अविद्यादिकी निवृत्ति का प्रयोजक होता है वही तद्विषयक ज्ञान होता है इसलिये द्वैताभावोपलक्षित ब्रह्म ब्रह्माज्ञाननिवृत्ति का प्रयोजक होने से उक्त विषयविषयिभाव घट जाता है। यह पूर्वश्लोक में बताया।

अब 'प्रमाणयोग्यत्व' की सत्त्वता का मत छोड़कर स्वसिद्धान्तानुसार विचार करते हैं। स्वमत में ब्रह्मवस्तु का स्वरूप ही सत्त्व है। ऐसे ब्रह्म में वेदान्तों की निरपेक्ष प्रमाणता स्वीकार्य है इसे कारणान्तर से सिद्ध करते हैं। युक्ति इतनी ही है कि सिद्धता से प्रमाणान्तरविषयता का कोई सम्बंध नहीं कि ब्रह्म सिद्ध होने पर प्रमाणांतरगम्य कहा जाये।

और भी; जैसे अद्वैतात्मा में सिद्धता होने से प्रमाणान्तरगम्यता का अनुमान करते हो वैसे ही नियोग में भी कार्यता होने से प्रमाणान्तरगम्यता का अनुमान क्यों नहीं होगा? ॥७११॥ नियोग में भी कार्यता का होना वैसा ही है जैसा प्रेषणा अध्येषणा आदि में क्योंकि कार्यताद्वारा ही नियोग का लिङ्सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है ॥७१२॥ जिसकी स्वरूपसिद्धि अन्य से हो वह कार्य होता है और यह नियोग में है ही क्योंकि नियोज्यव्यापार से उसका स्वरूपलाभ तुम्हे मान्य है। किं च लोक-वेद उभयत्र नियोग उत्पाद्य है यह प्रतीति भी होती है (अतएव 'मैं उसे उत्पन्न करूँ' ऐसी प्रेरणा लिङ् सुनकर होती है)। प्रमाणान्तरगम्य घटादि में जो कार्यता है उससे नियोग की कार्यता में कोई फ़र्क नहीं है ॥७१३॥ जो तो तुम नियोग की कार्यता का विलक्षण स्वरूप बताते हो वह प्रैषादि

यत्त्वसाधारणं तस्य कार्यत्वमिति भण्यते। लौकिकेष्वपि कार्येषु तन्नैव विनिवार्यते ॥७१४॥
अथासाधारणज्ञानपरिच्छेद्यत्वमिष्यते। तच्च सर्वपदार्थानां न दण्डैर्विनिवार्यते ॥७१५॥

लौकिक कार्यों में भी मना नहीं किया जा सकता (अतः वह वैदिक लिङ् का विलक्षण अर्थ नहीं है) ॥७१४॥ यदि कहो सिर्फ़ कार्यता के ज्ञान का विषय बनना नियोग की ख़ासियत है तो वह भी प्रैषादि-अर्थों में विद्यमान ही है (क्योंकि प्रैषादिशब्दों से कार्य ही वाच्य होता है) ॥७१५॥

सिद्धान्ती का कहना है कि तुम प्रयोग करते हो 'एकात्मता अवश्य शास्त्रेतर प्रमाण का विषय है क्योंकि सिद्धवस्तु है जैसे घटादि।' तो कहो इस प्रयोग में क्या दोष है 'नियोग अवश्य शास्त्रान्य प्रमाण का विषय है क्योंकि कार्य है जैसे प्रैष, घट आदि?' अतः यदि नियोगवाक्य निरपेक्ष प्रमाण है तो वेदान्त क्यों नहीं? यह तो कह नहीं सकते कि नियोग कार्य नहीं है क्योंकि तुम लिङादि की शक्ति कार्य में ही मानते हो। यह भी नहीं हो सकता कि प्रैषादि कार्य न हों क्योंकि तुम ही स्वीकारते हो कि लिङ् का शक्तिग्रह प्रैषादि के सहारे होता है। प्रैषादि में भी लिङर्थ कार्य ही है यह तुम्हे मान्य है। यह विषय श्लोक ५०० आदि में स्पष्ट किया गया था। कार्य उसे ही कहते हैं जो अपने स्वरूप से रहने के लिये किसी अन्य की अपेक्षा करे। घट का स्वरूप है कम्बुग्रीवादिमत्त्व, या जलधारणादिसामर्थ्य, या घटइतिव्यवहर्तव्यत्व; ऐसे अपने स्वरूप से रहने के लिये घट को कुम्हारादि के व्यापार भी चाहिये तथा उपादानभूत मिट्टी भी; अतएव घट कार्य है। मिट्टी को साधारणतः कार्य नहीं कहते क्योंकि उसका जो स्वरूप है – पंचगुणवत्त्वादि – उस रूप से रहने के लिये उसे किसी अन्य की ज़रूरत पड़े यह लोक में देखा नहीं जाता। अतएव नहर को कार्य कहते हैं, नदी या सुमुद्र को नहीं। ऐसा कार्य नियोग भी है, उसे भी नियोज्य के व्यापार की ज़रूरत है जिसके बिना नियोग अनुत्पन्न ही रहता है। यद्यपि नियोग को उपादानकारण भी चाहिये और नियोगवादी उसका कोई उपादान नहीं बता सकता यह उसके मत में दोष है तथापि वह अलग वाद का विषय होने से यहाँ नहीं उठाया है। प्राभाकर उसे आत्मसमवायी मानता है फिर भी आत्मसंस्काररूप नहीं मानता! (प्रकरण पं० पृ० ४३९-४०)। वह उसे आत्मगुण कहता है (प्र०पं०पृ० ३३०), आत्ममनःसंयोग से ही उत्पन्न होने वाला तथा आगमैकगम्य स्वीकारता है। किं च यद्यपि मनका आत्मा से संयोग अनादि है तथापि धर्माधर्म की अपेक्षा से है (पृ० ३३२) तथा देहों से भी वह सम्बद्ध होता है धर्मादिवश ही – अदृष्टसापेक्ष जो आत्ममनःसंयोग उससे उत्पन्न जो कर्म उसी की कृपा से देहसंबंध होता है। शरीरग्रहण में अदृष्ट क्योंकि कारण है इसीलिये तत्तद् आत्मा का तत्तत् शरीर ही भोगायतन बनता है 'यदीयाभ्यां धर्माधर्माभ्यां यानि शरीरेन्द्रियाणि उपात्तानि तानि तस्यैव भोगसाधनानि' (पृ० ३४४)। सुख-दुःख भी आत्मसमवायी ही हैं (पृ० ३४६)। इस प्रकार अदृष्टरूप कार्य का उपादान आत्मा तथा निमित्त मन होगा। किन्तु 'अपहतपाप्मा' 'अपापविद्धम्', 'न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान्', 'न लिप्यते कर्मणा पापकेन', 'न लिप्यते लोकदुःखेन' आदि श्रुतिविरोध होने से आत्मा अदृष्टसमवायी संभव नहीं। 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' न्यायसे भी धर्मादि को आत्मा का गुण नहीं मान सकते। भगवान् ने सुख-सुःख क्षेत्रधर्म कहे हैं (१३.६) अतः वे आत्मधर्म नहीं और इसलिये उनके हेतुभूत धर्माधर्म भी आत्मा में नहीं होंगे अन्यथा वैयधिकरण्य होगा। किं च संस्कारातिरिक्त आत्मविशेषगुण स्वकाल में ज्ञान के अव्यभिचारी होते हैं अर्थात् जब वे होते हैं तब उनकी जानकारी रहती ही है, यह सुखादिमें स्पष्ट है। अतः संस्कारभिन्न अदृष्ट भी ज्ञायमान होना चाहिये, जो वह है नहीं, अतः वह आत्मा का विशेष गुण भी नहीं हो सकता। जो तो अदृष्ट और उसके आत्मसमवाय को शास्त्र से सिद्ध करने की कोशिश है वह उपहासास्पद है। कार्यपद जैसे अदृष्टार्थक नहीं है वैसा अनेक बार स्पष्ट कर चुके हैं तथा आत्मा को अदृष्टसमवायी बताने वाला न तो कोई वाक्य वेद में है और यदि हो तो भी प्राभाकर उसे प्रमाण मानेगा नहीं क्योंकि वह कार्य से अन्य में शब्द को प्रमाण नहीं स्वीकारता। अतः यद्यपि नियोग की कार्यता इसलिये भी खण्डनीय है कि इसका उपादान दुर्लभ है तथापि यह प्रसंग वार्तिक में यहाँ उठाया नहीं है, अन्यत्र इस बात को स्पष्ट किया है।

न केवल नियोग का 'परापेक्ष स्वरूपलाभ' रूप कार्यत्व वादिसंमत है वरन् प्रतीयमान भी है। लोक में 'करो' सुनकर

प्रमाणायत्तमेतावत्स्वप्रमेयावभासनम्। कार्यताऽकार्यता वाऽत्र मेयायत्ता न मानतः ॥७१६॥

प्रतीत होता है कि 'मेरी चेष्टा से कार्य उत्पन्न होगा', ऐसे ही 'याग करो' सुनकर भी लगता है कि 'यागनिर्वर्तक व्यापार से पुण्य पैदा होगा'।

इस तरह प्रैषादि और घटादि जैसे कार्य हैं वैसे ही नियोग भी अतः घटादि की तरह ही इसे प्रमाणान्तरगम्य होना चाहिये।

प्राभाकर मानता है कि कार्य है कृतिका उद्देश्य,कृतिसाध्यता तो केवल उसकी उपाधि है; जबकि प्रैषादि का अर्थ कृति का उद्देश्य नहीं होता बल्कि फल ही उद्देश्य होता है। अतः कार्य की प्रैषादि से विलक्षणता होने से उनके समान कार्यता इसमें नहीं है, इसलिये प्रमाणान्तरगम्यता भी संभव नहीं है।

किन्तु घट में तो कृत्युद्देश्यता भी है ही! अतः घट के समान ही कार्यता माननी पड़ेगी और प्रमाणान्तरगम्यता भी सिद्ध हो जायेगी। किं च नियोग को कृतिका उद्देश्य कहना भी ग़लत है, स्वर्गादि फल ही वहाँ भी उद्देश्य है। बची कृतिसाध्यता, तो वह प्रैषादि में भी विद्यमान है। अतः प्रैषादि से विलक्षण कार्यता नियोग में है भी नहीं कि पूर्वोक्त शंका उठ सके। लिङादि शक्ति से कार्य कहते हैं यह मानकर प्रैषादि का अर्थ कार्य नहीं है यह कहना ग़लत होगा अतः कार्यताज्ञान की विषयता को नियोग की विशेषता नहीं मान सकते। यदि प्रैषादि का अर्थ प्रेरणादि से उपहित होने के कारण उनसे अनुपहित कार्य वैदिकलिङ्जन्य ज्ञान का विषय है यह अन्तर कहो तो भी ऐसी असाधारण कार्यता को मानान्तरागम्यता से व्याप्त कहाँ दिखाओगे? अर्थात् घटादि जो मानांतरगम्य हैं – कार्यरूप से भी व सिद्धरूप से भी – वे ही शब्दगम्य देखे गये हैं अतः यह अनुमान होता है कि मानान्तर से अगम्य शब्दप्रमेय भी नहीं होता! 'नियोगो न शब्दप्रमेयो मानान्तराऽगोचरत्वाद्, व्यतिरेकेण घटवत्; विकल्पवृत्त्यंगीकारिणां चान्वयिदृष्टान्तः शशशृङ्गम्।' इसमें मानागोचरत्व उपाधि भी नहीं क्योंकि यह प्रयोग सुकर है 'नियोगो न मानगोचरः शब्दैकविषयत्वाद् नृशृंगवत्।' यहाँ भी घटादि व्यतिरेकी दृष्टान्त हैं ही। अतः वैदिक कार्य को जितना अलौकिक बनाओगे उतना ही वह असत्य होता जायेगा।

इस प्रकार दिखाया कि सिद्धत्वसे मानान्तरयोग्यता का अनुमान वैसा ही आभासतुल्य है जैसा कार्यता से मानान्तरगोचरता का इसलिये आत्मा प्रमाणान्तर-अविषय, सिद्ध तथा औपनिषद है ॥७११-५१५॥

प्रमाणकृत्य बताकर समझाते हैं कि नियोग को यदि कार्यताज्ञान का विषय मानोगे तो उसे शास्त्रका विषय नहीं ही कह सकोगे, शास्त्रान्य प्रमाण का ही विषय मानना पड़ेगा –

प्रमाण का काम इतना ही है कि वह अपने प्रमेय का प्रकाशन करे। प्रमाणगोचर अर्थ कार्य है या अकार्य (= सिद्ध) यह शास्त्र के अधीन नहीं बल्कि प्रमेय का ही स्वभाव है ॥७१६॥

विधि आदि शास्त्र प्रमाण होने से इतना ही ज्ञान करा सकता है कि अमुक क्रिया का अमुक फल से संबंध है। करो या न करो इसके प्रति शास्त्र तटस्थ है। शास्त्र से यह तो पता चलेगा 'अग्निहोत्रादि स्वर्गोपाय है' लेकिन 'मैं अग्निहोत्र करूँ' यह ज्ञान 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' से नहीं होगा। यागादि विषय को इष्टादिका उपाय समझने पर 'करना चाहिये' या 'नहीं करना चाहिये' इन वृत्तियों का उदय होता है। अतएव जो पशुकाम नहीं उसे चित्रा में कार्यता नहीं भासती। जिन्हे जातिभ्रंश में अनिष्टताबुद्धि नहीं उन्हे जातिभ्रंशकर पापों में अकार्यता भी नहीं भासती। नित्य-नैमित्तिक भी पितृलोक-फलक हैं अतः पितृलोक को इष्ट न समझने वाले उनसे विमुख रहते हैं। यद्यपि प्रायः धर्मलोप में हेतु श्रद्धा की कमी है, फल से वैराग्य नहीं, तथापि शास्त्र पर श्रद्धालु भी कार्य उसे ही समझता है जिसके फल में इष्टता हो यह तात्पर्य है। इस प्रकार कार्यताज्ञान शास्त्रजन्य नहीं बल्कि समीहितोपायताज्ञानजन्य मनोवृत्तिविशेष का विषय है अतः प्रमाणान्तरगम्य ही है : यह अनुमानात्मक वृत्ति ही है कि 'याग कार्य है क्योंकि इष्टोपाय है जैसे पायसभक्षण।' अतः कार्य को शास्त्रभिन्न प्रमाणगोचर मानना ही पड़ेगा। ऐसे में प्रमाणान्तरयोग्यतापत्ति के भय से सिद्धपरता छुड़ाई नहीं जा सकती ॥७१६॥

सिद्धत्वहेतुको योऽपि दोष ऐकात्म्य उच्यते। नियोगस्यापि संसिद्धौ स दोषो नापनुद्यते ॥७१७॥
यागादिविषयासिद्ध्या न चासौ न प्रसिध्यति। विध्युक्तेस्तदसंसिद्धौ निष्फलत्वं प्रसज्यते ॥७१८॥
ऐकात्म्यवस्तुयाथात्म्यप्रकाशनपटीयसः। वचसस्त्वतिरेकेण किं मानं तद्धुरं वहेत् ॥७१९॥
मात्रादिसव्यपेक्षं सद्यत्र ज्ञानं प्रजायते। तत्रैव मान्तरापेक्षा न तु विध्वस्तभेदके ॥७२०॥

पूर्व में नियोग को मानान्तरयोग्य सिद्ध किया। अब कहते हैं कि नियोग को सिद्ध से विलक्षण कहना भी बनता नहीं।

सिद्धरूपता के कारण जो भी दोष एकात्मता पर आरोपित किया जाता है उस दोष से संसिद्ध हुआ नियोग भी बच नहीं सकता ॥७१७॥

क्रिया हो चुकने पर तो नियोग भी सिद्ध ही हो जाता है अतः यदि सिद्धता प्रमाणान्तरगोचरता का प्रयोजक हो तो यागकी समाप्ति के बाद तो नियोग भी शास्त्रान्य प्रमाण से पता चले! ॥७१७॥

यागपूर्ति पर भी नियोग सिद्ध न हो यह संभव नहीं –

यागादि विषयभूत धात्वर्थ की पूरी तरह संपन्नता से भी नियोग सिद्ध नहीं होता ऐसा नहीं मान सकते क्योंकि नियोगोत्पत्ति न हो तो विधिवाक्य निष्फल हो जायेगा ॥७१८॥

'आसिद्ध्या' यह छेद है। विधिवाक्य नियोग साधने को कहता है और उसका उपाय धात्वर्थ को बताता है यह प्राभाकरप्रक्रिया है अतः धात्वर्थ की यथाविधि संपन्नता के बाद नियोगसिद्धि अवश्य मान्य है नहीं तो वाक्य अप्रमाण हो जायेगा। क्रिया से स्वर्गादि फल बिना नियोग के नहीं मिलता अतः फलहेतुतया बोधन भी बाधित होगा। इसलिये सिद्ध होने से ब्रह्म यदि शास्त्रीय न हो तो नियोग भी नहीं हो सकता। यदि कहो कि साध्यदशा में ही नियोग शास्त्रीय है तब यह भी कह सकते हैं कि मानान्तर से अप्रमीयमाण दशा में ब्रह्म भी शास्त्रीय है! ॥७१८॥

वस्तुतस्तु ब्रह्म को प्रमाणान्तर विषय कर ही नहीं सकते –

अद्वैत आत्मवस्तु की वास्तविकता के अनावरण में अतिकुशल वेदान्तवचन से अन्य कौन-सा प्रमाण है जो वह काम कर सकता है? ॥७१९॥ जिस विषय का ज्ञान प्रमाता आदि की अपेक्षा रखता है उसी विषय में प्रमाणांतर ज़रूरी होता है, जिस ब्रह्म में प्रमाता आदि भेद समाप्त है उसका ज्ञान प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखता ॥७२०॥

वेदान्तों का ही धुर अर्थात् कार्यभार है कि आत्मवस्तु की यथार्थतारूप अद्वैत को उपक्रमादिलिंगों से सहकृत होकर प्रकाशित करे। इस भार को और कौन प्रमाण ढो सकता है? तात्पर्य है कि कार्याकार्यज्ञान कराने को तो बहुतेरे प्रमाण अहमहमिकया आगे आते हैं। श्रुति से अतिरिक्त स्मृति, पुराण, तन्त्रादि एवं शिष्टव्यवहार तो कार्यादि बताते ही हैं, नास्तिक आगम भी पारलौकिक इष्टानिष्ट हेतुभूत कार्याकार्य का ज्ञान कराने को तैयार हैं। अतः नियोग को वेदैकगम्य किस बल पर कहोगे? पौरुषेयता को अप्रामाण्य का व्यापक तो कह नहीं सकते तथा अपौरुषेयता की भी प्रामाण्य से व्याप्ति कहाँ दिखाओगे कि वेदेतर कार्यवाक्यों को अप्रमाण कह सको? स्वतःप्रामाण्य मानने पर नास्तिकादिवचन को भ्रममूलक नहीं कह सकते। दृष्टफलक प्रयोगों का साफल्य उनके अनुसार भी होता है और हर बार साफल्य वैदिकनियोगी भी नहीं दिखा सकता। नास्तिकाचार्य ने किस प्रमाण से जाना कि अमुक क्रिया अमुक फल की हेतु है? – यह प्रश्न भी निरर्थक है। वे या योगज प्रतिभा मानते हैं या स्वयं ईश्वरादि से उस ज्ञान की प्राप्ति मानते हैं तथा दोनों ही उपाय भ्रम नहीं मानते। योगी जब धर्मदर्शन करते हैं तो 'न विद्मः किं भविष्यति' (श्लो० वा० निरालंब० ९४) कहने का क्या मतलब? अंधा कहे कि 'चक्षुष्मान को भी रूप नहीं दीखता' तो इसका क्या जवाब हो सकता है! अतः नियोग तो मानान्तरयोग्य कम-से-कम संभावित है।

किन्तु अद्वैत परमात्मा को तो और कोई प्रमाण है भी नहीं जो विषय करने की घोषणा भी करे! अतः उसे सिद्धता

विध्यर्थाधीनसंसर्गाः पदार्था वैदिकोक्तिषु। लोके मान्तरसंसिद्धसंसर्गा रचनाबलात् ॥७२१॥
रचना च पदार्थानां विवक्षापूर्विकैव तु। प्रमाणान्तरगम्येऽर्थे विवक्षा च व्यवस्थिता ॥७२२॥
एवं च सति वेदान्तवाक्यार्थप्रत्ययो भ्रमः। उत्खातविधिको लोके तोयबुद्धिरिवोषरे ॥७२३॥

के बल पर मानान्तरविषय कहना और यह कहना एक जैसा है कि रूप चक्षुर्भिन्न इन्द्रिय का विषय है, सिद्ध होने से, घटादि की तरह!

अर्थात् शंकित मानान्तरगोचरता भी यहाँ संभव नहीं। शंका यह करो कि घटकी तरह अकार्य होने से मानान्तरगम्य होगा तो 'प्रमाता आदि की अपेक्षा रखना' उपाधि है। जिस ज्ञान के होने पर भी प्रमाता आदि भेद रहता है वह मानान्तरसंवाद-अविसंवाद के सापेक्ष है यह शंका हो भी सकती है। किन्तु समस्त भेद का समापक अद्वैतानुभव उसकी अपेक्षा रखे यह संभावना ही कहाँ है! सपने से जगकर क्योंकि प्रमाता बाधित नहीं होता इसलिये कदाचित् संभव है कि 'वह सपना ही था, यह जाग्रत् ही है' इसके निश्चय के लिये कोई कोशिश हो, किन्तु जब सारी कोशिशें करने वाला प्रमाता ही बाधित होता है तब ऐसी संभावना कैसे हो? श्रुति ने कहा ही है 'तत्केन कं पश्येत्?' 'अदृष्टो द्रष्टा' 'अद्रेश्यम्' इत्यादि ॥७२०॥

वादी कहता है कि वेदान्तवाक्य से उत्पन्न ज्ञान भ्रम है। क्यों? इसलिये कि वेदान्तवाक्य में आये पदों के परस्पर संबंध का कोई निमित्त तो है नहीं अतः सम्बंध के अयोग्य पदों को वाक्य समझना ही ग़लत है तो उस वाक्य से जो ज्ञान होता है वह सुतरां ग़लत है। वेदान्तवाक्यगत पदों के संबंध में हेतु नहीं क्यों है? इसलिये कि वैदिक पदों के संबंध का तथा लौकिक पदों के संबंध का निमित्त वहाँ उपस्थित नहीं है। वे निमित्त क्या हैं? बताते हैं –

वैदिकवाक्यों में पदार्थों का (= पदों का) सम्बन्ध लिङादि के अधीन होता है। लौकिकवाक्य में पदार्थ उस सम्बंध वाले होते हैं जो सम्बन्ध प्रमाणान्तर से सिद्ध हो। यह बात वाक्यरचना की अन्यथानुपपत्ति से पता चलती है ॥७२१॥ पदार्थों की (वाक्यार्थरूप से संघटना की) विवक्षा से ही (वाक्यरूप से पदों की) रचना होती है और विवक्षा उसी की हुआ करती है जो अर्थ प्रमाणान्तर से गम्य हो ॥७२२॥ इस प्रकार वेदान्तवाक्यों के अर्थ का ज्ञान विधिप्रयुक्त न होने से उसी तरह भ्रम है जैसे लोक में ऊषरभूमि को धूप में जलाशय समझ लिया जाता है! ॥७२३॥

श्लोक ७२१ में विध्यर्थशब्द से लिङ्आदि लें तो पदार्थशब्द से पद लेने चाहिये। शाब्दी आकांक्षा शब्द से पूरी होती है। लिङ् की आकांक्षायें पूरी करते हुए ही अन्य शब्दों का पारस्परिक सम्बंध बनता है। यदि विध्यर्थ से लिङर्थ नियोग लें तो पदार्थ यथाश्रुत है। नियोग से सम्बद्ध होने के कारण ही पदार्थों का आपसी संबंध है। अतः वैदिक-संसर्ग होने से वेदान्तोक्त पदार्थों का भी संसर्ग उसी तरह नियोगाधीन होगा जैसे कर्मवाक्यों के पदार्थों का होता है – यह तात्पर्य विद्यासागरी में व्यक्त है।

लौकिक वाक्य उस अर्थ को व्यक्त करने के लिये होते हैं जो प्रमित है अतः लौकिक पदार्थों का संसर्ग प्रमितत्वप्रयुक्त है। वैसे तो वेदान्त लौकिक हैं नहीं लेकिन कथंचित् कहो कि शाब्दसंसर्गमात्र लोकानुसारी होना चाहिये तो तुम्हे अद्वैत को मानान्तरवेद्य कहना पड़ेगा जो अभी-अभी मना कर चुके हो।

वेदान्तों का विधिसंबंध मानते नहीं; न किसी लिङ् से सम्बद्ध होकर पद वाक्यभाव प्राप्त कर सकते हैं और न क़ोई नियोग है जिससे पदार्थ सम्बद्ध हों अतः परस्पर संसर्गी बनें। लौकिक संसर्ग का व्यापक मानान्तरगम्यत्व भी स्वीकार नहीं। ऐसे में वेदान्तवाक्य वस्तुतः वाक्याभास हैं – क्योंकि पदार्थसंबंधप्रयोजक से रहित हैं – अतः उनसे ज्ञान भी प्रमाभास या भ्रम ही हो सकता है। जब वेदान्त प्रमाण ही नहीं तो वे ब्रह्मविषयक प्रमाण हों इसकी संभावना ही कहाँ! ॥७२१-७२३॥

इस प्रकार श्लोकत्रयोक्त पूर्वपक्ष का निरास करते हैं –

इत्युक्ते परिहाराय शृणु यद्भण्यतेऽधुना ॥७२४॥
पदार्थसंगतेः कस्माद्विध्यधीनत्वमादृतम्। पदार्थान्तरतन्त्रत्वं कस्माद्धेतोर्न कल्प्यते ॥७२५॥

कथित ढंग से शंका होने पर इसके समाधान के लिये अब जो कहा जा रहा है वह सुनो : पदार्थों का आपसी सम्बंध विधि के अधीन है यह तुमने क्यों मान रखा है? क्या कारण है कि पदार्थसम्बंध के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं कि योग्य, आकांक्षित अनेक पदार्थ संनिहित हों? ॥४२४-७२५॥

परिहर्त्ता का अभिप्राय है कि पदार्थसंसर्ग इस पर निर्भर करता है कि योग्य अन्य पदार्थ उपलब्ध हो, न कि इस पर कि नियोग से अन्वयी पदार्थान्तर प्राप्त हो। 'योग्येतरपदार्थाधीनः संसर्गः, न लिङाद्यर्थाधीनः' – यह विद्यासागर ने कहा है। लौकिक-वैदिक दोनों शब्दसंसर्ग इतने से ही संभव हैं अतः विभिन्न प्रयोजकों की कल्पना व्यर्थ है। इस प्रकार वेदांतवाक्यघटक पदों के अर्थ परस्पर अत्यन्ताभेदेन संसृष्ट होकर प्रमाहेतु हैं, अथवा अभेदसंसर्ग वाले पदार्थों को वेदान्तपद बताते हैं अतः वेदान्त प्रमाहेतु हैं। अथवा अवान्तरवाक्य तटस्थ व स्वरूप लक्षणों से वास्तविक पदार्थों का ज्ञान कराते हैं, इसके लिये उन वाक्यों में आये पदों का संसर्ग निराबाध है इसलिये वे प्रमाण हैं। जब वेदान्त प्रमाण हैं तो वे ब्रह्म में प्रमाण हैं इसमें कहना ही क्या! क्योंकि वही उनका प्रतिपाद्य है यह उपक्रमादिसिद्ध है। ध्यान रखना चाहिये कि भाट्ट – प्राभाकर दोनों ने परिश्रम किया है कि अद्वितीय ब्रह्म शास्त्रसिद्ध न हो। मानान्तर उसमें है नहीं। अतः वे चाहते हैं कि कर्म से ही पुमर्थलाभ संभव रहे। इसीलिये सिद्धान्ती स्पष्ट करता है कि परब्रह्म शास्त्रसिद्ध है। यदि वह शास्त्रसिद्ध हो जाता है तो मीमांसक का बना-बनाया ताश के पत्तों का किला ढह जाता है।

शालिकनाथ से अविद्यास्तमय मोक्ष है यह औपनिषद पक्ष उपस्थित कर इसके निरास में कहा है 'तदिदं श्रद्धामात्रविजृम्भितमिति प्रमाणपरतन्त्राः। स्यादेतदेवं यद्यद्वैतं कस्यचित् प्रमाणस्य गोचरः। न चैतदित्थम्, न खल्वद्वैतं कस्यचित्प्रमाणस्य गोचरः।' (पृ० ३३६)। अतः वे भी जानते हैं कि यदि अद्वैत प्रमाणगोचर हो जाये तो औपनिषद सिद्धान्त अखंडनीय है।

श्लोकवार्तिक में जगत्कर्ता परमेश्वर होने में जो दोष दिये हैं (सम्बन्धाक्षेप-श्लो० ४३-८१) वे प्रायः 'किमीहः' आदि महिम्नःश्लोक वाले ही हैं। उनका मुख्य प्रश्न यही है 'उपलब्धेर्विना चैतत् कथमध्यवसीयताम्?' (श्लो० ४६)। अतः यदि वेद से ईश्वरोपलब्धि हो जाये तो भट्टमत निरस्त है। इसी तरह उन्होंने वेदान्तसंमत पक्ष रखा है (श्लो० ८२-८३) तथा अकर्त्रात्मवाद उपस्थित किया है (श्लो० ८६) एवं ज्ञान से मोक्ष की प्रतिज्ञा का खण्डन करने के लिये कहा है 'कर्मक्षयो हि विज्ञानादित्येतच्चाऽप्रमाणवत्' (श्लो० ९६)। चकारसें सूचित है कि पूर्वोक्त आत्मस्वरूपादि भी अप्रामाणिक होने से ही निरस्त हैं क्योंकि जो दोष उन्होंने दिये हैं वे युक्तिमात्र हैं और उनकी प्रतियुक्तियाँ भी सरल ही हैं। अतः अप्रामाणिक होना ही मुख्य दोष है। अब अगर वेद से ही अकर्ता अद्वितीय परमात्मा प्रमित हो जाये तो बेचारे मीमांसक क्या करेंगे! मोक्षरूप पुरुषार्थ भी ज्ञान से नहीं इसमें भट्टजी हेतु देते हैं 'ज्ञानं मोक्षनिमित्तं च गम्यते नेन्द्रियादिना। न च साङ्ख्यादिविज्ञानान्मोक्षो वेदेन चोद्यते। 'आत्मा ज्ञातव्य' इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्। कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते॥' (श्लो० १०२-१०३) अतः यदि 'यथाऽचिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान्' (कै० १), 'अमृतस्यैष सेतुः' (मुं० २.८.५), 'विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः' (महाना० २३), 'विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (पुरुषसूक्त) 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' (श्वे० १.११), 'ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापि यन्ति' (बृ० ४.४.१४), 'सोन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य; सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानम् अनुविद्य विजानातीति' (छा० ८.७.१) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तै० २.९) 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (क २.१२) 'एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' (क० २.१३) 'प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते' (के० १२) 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मत्वेनानुपश्यति… ततो न विजुगुप्सते… कः शोकः' (ई० ६-७) आदि शतशः वेदवाक्य ज्ञान को ही मोक्ष

संसर्गश्चेत्पदार्थानां विनाऽपि विधिना भवेत्। अनर्थको भवेदेवं विधिर्निर्विषयत्वतः ॥७२६॥
ननु दोषः समानोऽयं विधेरन्यपदेष्वपि। विशिष्टार्थावगत्यर्थं प्रयुज्यन्तेऽपराण्यपि ॥७२७॥
एवं सति विधिः कस्मान्नानर्थक इतीर्यताम्। योगक्षेमसमानत्वादविध्यर्थपदान्तरैः ॥७२८॥

का इकलौता उपाय प्रमाणित कर दें तो भट्टपाद केवल तुषानल में ही जलकर प्रायश्चित्त कर सकेंगे! इसीलिये सिद्धान्ती वेदान्तों को स्वार्थ में प्रमाण सिद्ध करता है।

पूर्वपक्षी ने विधि को अन्वयका प्रयोजक कहा था लेकिन इसमें हेतु कोई है नहीं कि ऐसा मानें। कहीं वेद ने नहीं कहा है कि वैदिकसंसर्ग विधिमूलक होता है! लोकानुसारी भी यह बात है नहीं यह तो पूर्व में बता ही चुके हैं। शबरादिवाक्य तो शाङ्करादिवाक्यों के अधिकाधिक तुल्यबल ही हो सकते हैं, विनिगमनाहेतु नहीं हैं। वस्तुतः शबरादि भी वेदान्तों की स्वार्थप्रच्युति के समर्थक नहीं हैं यह 'भाष्यं पश्यत शाबरं स्फुटतरम्' (१.४७२) आदि से सर्वज्ञमुनि, 'विधिना त्वेकवाक्यत्वादिति सूत्रमपि धर्मप्रमाणत्वाभिमतक्रियाविधिसमभिव्याहृतवायुक्षेपिष्ठादिवाक्यमात्रविषयमिति न कश्चिद् विरोधः' (परि०पृ० ५१) आदि से अप्पयदीक्षित तथा अन्यान्य मीमांसापारदृश्वा आचार्यों ने स्पष्ट किया है। 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' आदि स्थलों में बिना लिङ् के ही समाख्या के बल पर अन्वय मीमांसादर्शन में (३.५. अधि० १०-११) समर्थित है। कल्पित लिङ्की व्यवस्था यहाँ भी कर सकते हैं 'मोक्षकामआत्मानं जानीयात्'। किन्तु यह विधि असंभव इसलिये है कि ज्ञान विधेय होता नहीं, यह बात अलग है। फिर भी आज्य के दर्शन में जैसे दर्शनोपायों में विधि पर्यवसित होती है वैसे यहाँ भी हो जायेगी। वस्तुतः कल्पना से पूर्व ही अन्वय होता है और हो चुके अन्वयको समर्थनमात्र देने के लिये विधिकल्पना की जाती है यही मीमांसक भी मानेगा। अतः अन्वयका प्रयोजक वह नहीं है। इसलिये आकांक्षा योग्यता संनिधि - इन तीन को ही अन्वयप्रयोजक मानना समुचित है। तात्पर्यज्ञान तो अन्वय के अनन्तर ही हो सकता है अतः वह फलतया हेतु भले ही हो, कारणतया नहीं है। ये तीनों प्रयोजक वेदांतों में हैं अतः उनसे भ्रम नहीं प्रमा ही होती है। उस प्रमा का विषय अद्वैत आत्मा भी अतएव प्रामाणिक है ॥७२४-७२५॥

विधिनिमित्तक ही वैदिकसंसर्ग मानने वाला कहता है -

पदार्थों का आपसी सम्बंध यदि विधि के बिना भी हो जाये तो निर्विषय होने के कारण विधि अनर्थक हो जायेगी? ॥७२६॥

अर्थात् विधिविषयका - धात्वर्थ का - सम्बन्ध - निर्वर्त्यतया कर्तृसंसर्ग - यदि आकांक्षादि त्रितयसे ही हो जाये तो विधि का काम क्या रह जायेगा? अतः विधि सार्थक हो इसके लिये ज़रूरी है कि पदार्थसंसर्ग विधिके अधीन हो।

[म.अ.सं. संकरण टीका में 'अन्यतोऽलब्धतया' छपा है। आनंदाश्रमसंस्करण में भी ऐसा ही है। किन्तु 'लब्धतया' ही छेद संगत है। न्यायकल्पलतिकामें भी 'लब्धतया' ही है।]॥७२६॥

संसर्ग को विधिके अधीन मानने पर नामपद (संज्ञा-शब्द) व्यर्थ हो जायेंगे यह प्रतिबंदी दी जाती है :

पदार्थसंसर्ग आकांक्षादि वाले पदार्थान्तर से होने पर विधिकी व्यर्थता की तरह विधि के अधीन संसर्ग मानने पर नामपदों की व्यर्थता का दोष समान ही रहता है। जैसे विधिपदों का प्रयोग संसृष्ट अर्थ के ज्ञापन के लिये होता है ऐसे ही अन्य पद भी संसृष्ट अर्थ बताने के लिये ही कहे जाते हैं। इस परिस्थिति में बताओ कि जब विध्यर्थक पद और अन्य पदों का योग-क्षेम एक जैसा है तब विधि ही अनर्थक क्यों न मान ली जाये? ॥७२७-७२८॥

संज्ञायें असंसृष्ट पदार्थमात्र का ज्ञान कराकर कृतार्थ हो सकती हैं इस संभावना को हटाने के लिये ही स्पष्ट किया कि लोग पदप्रयोग पदार्थ कहने के लिये कम ही करते हैं, वाक्यार्थ बताने के लिये ही पदप्रयोग होता है। अतः संज्ञा भी संसर्ग छोड़कर पदार्थ क्यों बतायेगी? इस प्रकार विधि को संसर्गनिमित्त मानो तो पदान्तर व्यर्थ हैं तथा उन्हें निमित्त मानो

उच्यते विधिशब्दो हि मान्तराज्ञातगोचरः। न तस्य विषयाक्षेपं मुक्त्वाऽन्यत्र कृतार्थता ॥७२९॥
मानान्तरप्रसिद्धार्थवादित्वादनुवादकम्। विधेरन्यपदं यस्मान्नाऽऽक्षेपोऽतः प्रतीयते ॥७३०॥
अव्युत्पन्नेऽपि संबन्धे विध्यर्थावगमस्तथा। अथ विज्ञातसंबन्धं सिद्धार्थं स्याद्विधायकम् ॥७३१॥
स्वधर्मं च पदं जह्यात्संबन्धज्ञाननिह्नुतौ। तस्माद्विज्ञातसंबन्धं पदं सर्वत्र बोधकम् ॥७३२॥

तो विधि व्यर्थ है। ऐसे में विधि को ही सार्थक रखें इसमें नियामक क्या? 'योग-क्षेम एक सा है' अर्थात् विधि को सार्थक्य दिलाते हैं तो पदान्तर निरर्थक होते हैं तथा उन्हे सार्थक बनाते हैं तो विधि निरर्थक होती है। अतः सार्थकता की प्राप्ति व सुरक्षा का अधिकार दोनों को रहते एक पर पक्षपात कैसे हो? ॥७२७-७२८॥

विधिवादी जवाव देता है -

बताते हैं : विधिशब्द का (लिङादिका) विषय वह है जो अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है और उस नियोगरूप अर्थ को लिङादि तब तक नहीं कह सकते जब तक वे संसर्ग को उपस्थापित न कर दें। (अतः संसर्ग विधि-अधीन मानना ज़रूरी है।) ॥७२९॥ विधि से अन्य जो पद हैं वे उन अर्थों का कथन करते हैं जो प्रमाणान्तर के विषय हैं अतः वे पद अनुवादक होते हैं और इसीलिये वे संसर्ग को उपस्थित कराने में सक्षम नहीं ॥७३०॥

लिङ् अपने अर्थ में प्रमाण है और नियोग की प्रमिति के लिये ज़रूरी है कि उसका संपूर्ण ज्ञान हो। कर्तृ-करणादि पदार्थों से सम्बद्ध धात्वर्थ से निर्वर्त्य नियोग प्रतीत हो तभी उसका संपूर्ण ज्ञान माना जाये। अतः लिङ् प्रमाण होने के लिये पदार्थों के संसर्ग का आक्षेप कर लेता है अर्थात् लिङ्प्रामाण्य की अन्यथा अनुपपत्ति पदार्थसंसर्ग में प्रमाण होने से संसर्ग लिङ्प्रयुक्त है। वार्तिक का विषयशब्द संसर्ग का वोधक है, विषयाक्षेप अर्थात् संसर्गाक्षेप। यद्यपि धात्वर्थ नियोग का विषय माना जाता है तथापि नियोज्यादि से संसृष्ट धात्वर्थ ही विषय हो सकता है, धात्वर्थमात्र नहीं। अतः संसर्ग भी विषय कह दिया गया है।

विधिभिन्न पद तो ज्ञातज्ञापक हैं, अतः प्रमाण हैं नहीं कि संसर्ग का आक्षेप कर सकें। इसलिये यही विनिगमनाहेतु है कि विधि को संसर्गहेतु न मानें तो विधि अप्रमाण होती है जबकि पदान्तर तो अप्रमाण हैं ही, संसर्गहेतु यदि पदार्थान्तर हों तो और विधि या नियोग हो तो। विधि को संसर्गनिमित्त न मानने से तो वह व्यर्थ ही नहीं अप्रमाण भी हो जाती है जवकि पदार्थान्तर को उसका निमित्त न मानने से पदान्तर पर कोई आपत्ति नहीं आती। अप्रमाण वे पहले ही हैं और सार्थकता कथंचित् उपपन्न हो सकती है ॥७२९-७३०॥

उक्त मत का खण्डन करने के लिये विकल्प करते हैं कि नियोग प्रमाणान्तर का अविषय है तो लिङ् का उससे संबंध कैसे पता चलता है? घड़ा प्रत्यक्षादि से पता हो और कोई बताये 'इस वस्तुको घड़ा कहते हैं' तब तो घड़ाशब्द किस अर्थका वाचक है यह जान सकते हैं। लेकिन यदि नियोग प्रमाणांतर से अगम्य है तो लिङ् का उससे संबंध पता नहीं लग सकता। और यदि बिना संबंध पता लगे भी लिङ् से नियोग स्फुर जाये तब तो संस्कृत से अनभिज्ञ म्लेच्छ को भी लिङ् सुनकर नियोग भास जाये! अतः शब्दार्थसंबंध को ज्ञात मानना पड़ेगा और तब नियोग भी प्रमाणान्तरविषय मानना पड़ेगा। इसलिये विधि व पदान्तर तुल्यबल ही हैं।

विधिशब्द मानान्तराऽज्ञातगोचर हो तो शब्द-अर्थ के संबंध की समझ के बिना भी विधि के अर्थ की जानकारी हो जाये! यदि वही विधिपद अर्थबोधक हो जिसका अर्थसंबंध जाना जा चुका है तब विधायकपद भी सिद्धार्थक (= प्रमाणान्तरगोचरविषयक) ही मानना पड़ेगा ॥७३१॥ सम्बन्धज्ञान की आवश्यकता मना नहीं कर सकते क्योंकि तव पद अपने सहज धर्म का व्यभिचारी स्वीकारना होगा जो असंगत है। इसलिये जो लोक में सर्वत्र दृष्ट है वही नियम लिङ् पर भी लागू होगा कि वही पद अपने अर्थ का बोधक होता है जिसका अर्थसम्बंध जाना जा चुका है ॥७३२॥ इससे अन्य तरह की कल्पना करने पर सभी बातें युक्तिविरुद्ध हो जायेंगी ॥७३२ $\frac{१}{२}$॥

इतोऽन्यथा कल्प्यमाने सर्वं स्यादसमञ्जसम्। वाक्यवाक्यार्थयोगश्चेद्वाच्यवाचकलक्षणः ॥७३३॥

लिङ्-नियोग का सम्बंध अवश्य ज्ञात मानना पड़ेगा इसके पहले कि लिङ् संसर्गाक्षेपपूर्वक नियोग का बोध कराये। सम्बंधज्ञान तभी होगा जब सम्बन्धी ज्ञात हो। अतः नियोगरूप संबंधी को अवश्य मानान्तरगम्य मानना पड़ेगा। तब लिङ् और संज्ञाओं में अन्तर क्या? यह मान नहीं सकते कि लिङ् अपना अर्थ बिना संबंधज्ञान की अपेक्षा रखे ही बता देता है क्योंकि यह तो पदमात्रका स्वभाव है कि सम्बन्धज्ञान की अपेक्षा से अर्थबोध हो। हाँ, वाक्य में ज़रूर सामर्थ्य है कि सम्बंधज्ञान के बिना अर्थ बोध कराये। श्लोकवार्तिक में सम्बन्धाक्षेप-परिहार में कहा है 'ज्ञापकत्वाद्धि सम्बन्धः स्वात्मज्ञानमपेक्षते। तेनासौ विद्यमानोपि नाऽगृहीतः प्रकाशकः॥' (श्लो० ३२) अतः मीमांसक भी इसे मना नहीं कर सकता कि संगतिग्रह ज़रूरी है। यह भी ठीक नहीं कि लोक में ही यह नियम हो, वैदिक शब्द बिना संगतिग्रहके ही बोधक हो जायें; क्योंकि तब लोकवेदाधिकरणन्यायका विरोध होगा। इस अधिकरण को श्लोक ६९६ में समझा चुका हैं। लोक में समझी सामर्थ्य के (= शक्तिके) अनुसार ही शब्द वेद में भी ज्ञान कराता है यही संगत है और शबरादि मीमांसकों को संमत है। अतः लिङ्पद को ऐसी विचित्र ताकत वाला नहीं मान सकते कि यों ही वह संसर्गाक्षेप करके नियोगबोध करा दे।

इसलिये जो विनिगमनाहेतु दिया था वह निरस्त हो गया। अब वही प्रश्न रहता है कि विधि को निमित्त मानकर पदांतर व्यर्थ मानें या पदार्थान्तर को निमित्त मानकर विधि व्यर्थ मानें? उत्तर स्पष्ट है : पदार्थान्तर की संसर्गहेतुता में विधि व्यर्थ नहीं होती, सभी पद सार्थक होते हैं। विधि भी अपने अर्थ को कहती है और वह विधिपद का अर्थ भी पदार्थ होने से संसर्ग में निमित्त बन जाता है। जहाँ जो पदार्थ योग्यतादि वाले होते हैं वहाँ वे ही परस्पर मिल जाते हैं, विधिपदार्थ की इन्तज़ार में बैठे नहीं रहते। इस रीति से सभी पद सार्थक हैं अतः योग्य आकांक्षित संनिहित पदार्थान्तर को ही अन्वयनिमित्त मानना उचित है ॥७३१-७३२$\frac{१}{२}$॥

लिङ्पद पर यह आपत् न आये कि सम्बन्धज्ञानापेक्षबोधकत्व रूप पदधर्म का वह व्यभिचारी हो, इसलिये मीमांसक जिस प्रक्रिया पर उसके आचार्यों के हस्ताक्षर प्राप्त हैं उसे छोड़कर अन्य प्रक्रिया से शंका उठाता है –

ऐसा क्यों न मान लिया जाये कि वाच्य-वाचकसंबंध पदार्थ व पद का नहीं बल्कि वाक्यार्थ और वाक्य का है? ॥७३३॥

पद-पदार्थ सम्बद्ध रूप में लोक में उपलब्ध हैं। वाक्यार्थ अन्य प्रमाणसे पता नहीं चलता, वाक्य से पता चलता है। अतः वाक्य का वाक्यार्थ से सम्बंध ही वाच्यवाचकभाव मानना चाहिये, वाक्य वाचक है, वाक्यार्थ वाच्य है। धर्म तो वाक्यार्थ है, पदार्थ नहीं, अतः नियोगरूप धर्म से लिङ्पद के सम्बन्ध की समस्या ही नहीं रहेगी यह भाव है।

यद्यपि श्रीविद्यासागर ने 'संभावनामात्रेण मतान्तरमुत्थापयति' से इस शंका को अवतरित किया है तथापि शंकावादी को योग-दर्शन का सहारा दीख रहा है। तत्त्ववैशारदी में वाचस्पतिमिश्र ने भाष्यव्याख्या करते हुए कहा है 'वाक्यमेव तत्र तत्र वाचकं, न तु पदानि।' (३.१७)। उनका तात्पर्य है कि जैसे पदार्थबोधन के लिये उच्चरित वर्णों को शक्त न मानकर पदों को ही शक्त माना जाता है ऐसे ही क्योंकि पद भी 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जने' (ब्र०सि०पृ० १११) वाक्यार्थबोधन के लिये ही प्रयुक्त होते हैं इसलिये वाक्य को ही शक्त मानना चाहिये, पद को नहीं। अतः इस मतके अवलम्बसे मीमांसक यहाँ शंका कर रहा है कि नियोग वाक्यार्थ है, अकेले लिङ्पद का अर्थ नहीं अतः लिङ् - नियोग के सम्बंध की जानकारी नहीं चाहिये कि नियोग को मानान्तरगोचर होना पड़े। भट्टकुमारिल को धर्म की वाक्यार्थता स्वीकृत है। पदान्तरवत् लिङ् भी प्रैषाद्युपहित नियोगवस्तु से सम्बद्ध जान लिया जाता है और विवक्षित नियोग वाक्यार्थरूप से भासता है। इसलिये पद-अर्थ संबंध भी ज्ञात होने का नियम उपपन्न है। इस प्रकार वादी का प्रयास है कि नियोग वाक्यार्थ होने से मानांतर का अविषय रहेगा अतः वाक्य को नियोग में प्रमाण मानना पड़ेगा अन्यथा वाक्य निरर्थक हो जायेगा। संसृष्ट नियोग वाक्यार्थ है, नियोगमात्र पदार्थ है; अतः वाक्य से संसृष्ट नियोग के ज्ञान से पूर्व संसर्गयोग्य नियोग

तद्विशेषैकनिष्ठत्वान्न वः संबन्धधीर्भवेत्।
न विशेषान्तरे वृत्तिर्विशेषस्यास्ति गोत्ववत्। नैराकाङ्क्ष्येण तत्सिद्धेः संबन्धोऽतो न गृह्यते ॥७३४॥

का उपस्थापक पद चाहिये जो लिङादि है इसलिये पदान्तरों से लिङादि की प्रमुखता भी है। अथवा वाक्यस्फोटवाद की तरह समझ सकते हैं कि प्रत्येक पद वक्तव्यार्थ को ही थोड़ा-थोड़ा प्रकाशित करता जाता है और वाक्यार्थ नियोग होने से इसके संपूर्ण प्रकाशन के लिये लिङादि पद ज़रूरी होते हैं, वही उन पदों की बलीयस्ता है।

वाचकता को मीमांसक शक्तिरूप मानता है। वाक्य से वाक्यार्थ की प्रतीति आनुभविक है अतः उसे वाक्यमें शक्ति माननी ही होगी जिससे वह वाक्यार्थ-प्रत्यायक होता है। तब पद में वाचकता मानना गौरवग्रस्त है यह तात्पर्य है। पद की अव्यर्थता वैसे ही है जैसे पद को वाचक मानने पर वर्णों की अव्यर्थता। जो तो यह अनुभव है कि पदों से पदार्थ क्रमशः उपस्थित होते जाते हैं वह पदों में भी तुल्य है : जिन्हे एकाक्षरकोष याद होता है उन्हे वर्णों के अर्थ भी स्फुरित होते जाते हैं और कदाचित् वे समुदायके रूढार्थ को समझने से पूर्व ही अक्षरों के सहारे यौगिकार्थ समझ लेते हैं। अतएव 'सत्य' शब्द से कुछ को झटिति मूर्त-अमूर्त उपस्थित होते हैं व किसी को सत्यानृत का अन्योन्याध्यस्त रूप (द्र०बृ० ५.५.१)। फिर भी जैसे पदघटक वर्णों को पदार्थ में शक्त नहीं मानते वैसे वाक्यार्थ में पदों को नहीं मानना पड़ेगा। 'कम्' शब्द जल अर्थ में शक्त है, फिर भी 'उदकम्' का घटक हुआ वह जलका वाचक नहीं मान जाता। ऐसे ही पद भले ही पदार्थोपस्थापन में शक्त हों फिर भी वाक्य के घटक हुए पदों को वाचक नहीं मानना चाहिये यह भाव है। अतः वाक्यांग पदों का काम है वाक्य का निर्माण करना, न कि पदार्थों को उपस्थित करना, इसलिये पदवैयर्थ्य की आपत्ति नहीं। जैसे अगृहीतसंगतिक वर्ण पदके घटक होते हैं इतने से पद में अवाचकता नहीं आती ऐसे ही अगृहीतसंगतिक पदों से बना वाक्य भी वाचक बन जायेगा। 'शक्तं पदम्' मानने वाले भी जैसे केवल प्रकृति या केवल प्रत्यय का प्रयोग नहीं करते वैसे ही हमेशा वाक्य-का ही प्रयोग मान्य है। अश्रुत होने पर लिङादि का अध्याहार हो जाता है। जैसे अव्यय पदों में लुप्त भी प्रत्यय समझना पड़ता है ऐसे ही अनुक्त भी लिङ् समझना पड़ता है। शक्तिग्रह के समय भी उत्तम-मध्यम वृद्धों का शाब्दव्यवहार वाक्यात्मक ही होता है अतः बालक वाक्यों में शक्तिग्रह करे यह मुमकिन है। इस तरह वाक्य की शक्तता का समर्थन समझना चाहिये ॥७३३॥

वाक्य को वाचक मानने में दोष बताते हैं –

क्योंकि वाक्य का बोध्य विशेष ही होता है इसलिये आपके उक्त मत के अनुसार व्यवहारनिष्पादन के लिये अपेक्षित शक्तिग्रह असंभव है। जैसे गोत्व गाय में रहता है ऐसे वाक्यर्थभूत विशेष वाक्यान्तरार्थभूत विशेष में नहीं रहता क्योंकि हर वाक्य का अर्थ निराकांक्ष हुआ ही भासता है। अतः वाक्य की वाचकता मानने पर संबंधग्रहण संभव नहीं ॥७३४॥

'गामानय' (गाय लाओ) यह एक वाक्य है और इसका अर्थ जो 'गवानयन' (गाय लाना) है वह एक विशेष है : चाहे जिस गाय का चाहे जब किया आनयन इस वाक्य का अर्थ नहीं है बल्कि विशिष्ट गाय का विशिष्ट काल में आनयन इसका अर्थ है। अतएव अगले दिन 'गामानय' वाक्य बोलने पर उसका अर्थ नवीन है, कल वाला आनयन उसका अर्थ नहीं है। 'गामानय' वाक्य का वाचकत्व जिस अर्थ में मानोगे उस अर्थ में तो उसका दुबारा प्रयोग सुनना दुर्लभ है (केवल तभी वह होगा जब उस वाक्य का श्रोता गाय न लाये और वक्ता बार-बार बोलता जाये)। अतः नये अर्थ में वह वाक्य कहा जायेगा तो वह बोध कैसे करायेगा, क्योंकि उसकी शक्ति तो अभी गृहीत हुई नहीं? जब एक 'गामानय' वाक्यकी शक्ति समझने पर दूसरे 'गामानय' वाक्य की भी शक्ति नहीं समझी जा सकती तब 'गामानय' के सहारे 'गां बधान' (गाय बाँधो) का कुछ भी बोध होने की संभावना ही कहाँ! गोबन्धनमें गवानयन तो प्रतीत होता नहीं कि 'गामानय' व 'गां बधान' मे कोई सम्बंध लगे और गाय को तुम 'गामानय' का अर्थ मानते नहीं कि वही संबंधबोधक हो जाये। इस प्रकार हर वाक्य का स्वतंत्र शक्तिग्रह करना पड़ेगा जो असंभव है।

यद्यपि पूर्वोपपादित रीति से वाक्य अपनी शक्ति से बोधक होता है, बोध से पूर्व शक्तिग्रह की अपेक्षा नहीं है तथापि वह प्रक्रिया है ग़लत। 'गामानय' 'अश्वं बधान' यों पृथक् वाक्यों में ही सुने शब्दों से बना 'गां बधान' या ' अश्वमानय' वाक्य सुनने पर शाब्दबोध होता है जबकि 'दधि भक्षय' वाक्य सुनने पर नहीं, यह आनुभविक है। अतः पदों का अर्थसंबंध अवश्य ज्ञात मानना पड़ेगा और उसी के सहारे वाक्यार्थज्ञान हो सकेगा। वाक्य में सामर्थ्य हो तो म्लेच्छादि भी संस्कृत समझ लें! ऐसा होता है नहीं। अतः गृहीतसम्बंध वाक्य को ही बोधक मानना पड़ेगा और तब व्यवहार असंभव है क्योंकि वाक्य अनंत हैं – हर व्यक्ति द्वारा हर बार कहा 'गामानय' भी नवीन हो जाता है – और जिस अर्थ में वाक्य की संगति समझी उसी अर्थ में पुनः उस वाक्य का प्रयोग क्वाचित्क भले ही हो सामान्यतः होगा नहीं। जो तो वर्णों की संगति की अनपेक्षा कही थी वह भी यथानुभव मान्य है : जहाँ वर्णार्थ उपस्थित होकर समासार्थविधया पदार्थ स्फुरता है वहाँ तो वर्ण ही पद हो जाते हैं और समास वाक्य हो जाता है। लेकिन जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ वर्णों की संगति भी नहीं चाहिये। अनुभवसिद्ध भी यही है कि 'कमल' का मतलब पंकज है यह चित्रादिसे समझा देने पर बालक यथार्थ व्यवहार कर लेता है, उसे क-म-ल की पृथक् वाचकतायें नहीं बतानी पड़ती। किन्तु ऐसे पद-अर्थ संबंध समझाये बिना कोई बालकादि वाक्यप्रयोग न कर पाता है, न समझ पाता है। अतः पद को वर्णतुल्य कहना ग़लत है। जहाँ तक योगभाष्यादि का विचार है वह उनकी प्रक्रिया से संगत इसलिये है कि वे पदों को संकेत मानते हैं। अतः वस्तुतः वह नाम का ही हेर-फेर रह जाता है कि 'पद में शक्ति' कही जाये या उसे 'संकेत' कहा जाये। और यदि वस्तुतः कोई वाक्यवाचकता को ही माने तो यहाँ कहे दोष अवश्य प्राप्त होंगे।

वाक्यार्थ एक विशेष है इसलिये शक्तिग्रह संभव नहीं क्योंकि अनुगतार्थ में शक्तिग्रह ही व्यवहारांग होता है – इस पर वादी शंका करता है कि पदशक्तिवाद में भी समस्या समान है : गोशब्द की गोत्व में शक्ति है। गोत्व भी सत्ता की अपेक्षा एक विशेष ही है, भले ही गायों की अपेक्षा सामान्य हो। अतः जैसे गोत्वरूप विशेष भी क्योंकि गायरूप विशेष में रहता है जिससे गोत्व में शक्ति समझ लेने पर व्यवहार संपन्न हो जाता है वैसे ही यह क्यों न माना जाये कि एक वाक्य का अर्थरूप विशेष भी अन्य वाक्य के अर्थरूप विशेष में रहता है जिससे व्यवहार उपपन्न है?

इसका समाधान सिद्धान्ती ने किया कि गोत्व तो गायकी अपेक्षा से ही सिद्ध होता है क्योंकि व्यक्तिसे ही जाति व्यंग्य या प्रकट होती है, अतः गोत्व सब गायों में अनुस्यूत मिल जाता है जिससे शब्द गोत्व की उपस्थिति कराकर भी व्यवहारक्षम हो जाता है। किन्तु वाक्यार्थ तो इस तरह वाक्यान्तर के अर्थ की अपेक्षा से सिद्ध होता नहीं, उससे व्यंग्य है नहीं, कि उसका अनुगम उपलब्ध हो। हर वाक्य का अर्थ निराकांक्ष ही भासता है क्योंकि प्रमाणभूत वाक्य होता ही वह है जो निराकांक्ष बोध कराये। अनुभव में भी गवानयन समझने के लिये गोनयन, गोबंधन, गोदोहन आदि की ज़रूरत नहीं पड़ती। यदि पड़े तो पुनः गवानयन असंभव है क्योंकि गोसम्बंधी तो अनंत व्यवहार अनंत वाक्यों के अर्थ होते हैं, उन सब की जानकारी होने पर ही गवानयन समझा जा सके तब तो उसे समझना संभव नहीं रहेगा। किं च गवानयन को गोदोहन में अनुगत माने या विपरीत ही? यह भी असमाधेय है। गोत्व तो अनुगतरूप से अनुभूयमान है अतः गाय को अनुगत मानने की शंका ही नहीं होती, गाय व्यावृत्तरूप से ही प्रमीयमाण भी है। किन्तु वाक्यार्थरूप विशेष की अनुगति मानने पर यह प्रश्न होगा ही।

किं च वाक्य की शक्ति ज्ञात हुई ही शाब्दबोध कराती है न कि विद्यमान होने मात्र से, यह मानना ही पड़ेगा अतएव 'गच्छन्ति मित्राणि वदन्ति' में विचार प्राप्त होता है कि यह एक वाक्य है या दो? यदि इसमें दो तिङन्त हैं तो ये दो वाक्य हैं और अगर अन्यतर नपुंसकलिंग 'मित्राणि' का विशेषण है तो एक वाक्य है। विद्यमान हुई शक्ति बोधक हो तो ऐसे स्थल विवादास्पद ही न बनें। बल्कि वाक्य यदि वाक्यार्थबोध में शक्त हो तो मीमांसाशास्त्र का अध्ययन ही व्यर्थ हो जाये! अतः ज्ञात शक्ति ही बोधोपयोगी मानोगे। तब वाक्य और उसके अर्थ नियोग – इनका ज्ञान शक्तिज्ञान से पूर्व चाहिये क्योंकि सम्बंधज्ञान से पूर्व सम्बंधिज्ञान अपेक्षित होता है। एवं च नियोग को मानान्तरगम्य ही मानना पड़ेगा! अतः इतनी कल्पना करके भी फ़ायदा कुछ नहीं, घट्टकुटीप्रभातन्याय से व्यर्थ प्रयास रहा।

संबन्धं मन्यते योऽपि शाब्दबोधानुसारिणीम् ॥७३५॥
दृष्ट्वेहां श्रोतृगां सोऽपि न सम्यगभिमन्यते। श्रोतृस्थकार्यलिङ्गत्वात्कथं शब्दैकगोचरः ॥७३६॥
तस्यापि शब्दपूर्वत्वादिति चेल्लिङ्गपूर्वतः। कस्मान्न शाब्दबोधोऽपि ह्यनुमानपुरःसरः ॥७३७॥

जो तो वादी ने कहा था कि पद व पदार्थ लोकसिद्ध हैं अतः उनके संबंध को शब्दार्थसंबंध नहीं मानना चाहिये क्योंकि अज्ञातार्थ से सम्बद्ध शब्द ही प्रमाण होता है; वह भी कथन ठीक नहीं। पद व अर्थ भले ही प्रत्यक्षादि से पता चलें लेकिन उनका संबंध तो प्रत्यक्षादि से पता चलता नहीं। अतः 'तयोर्मिथुनीभावेन लोकसिद्धत्वात्' में 'लोक' का मतलब क्या? शक्तिग्रहके मान्य उपायों को ही लोक कह सकोगे। अतः वह संबंध मानान्तर से अज्ञात होते हुए उन उपायों से ज्ञेय है। संबंधज्ञान इसलिये प्रमाण है। अतएव उसका विषयभूत जो पद-अर्थ संबंध है उसे मना नहीं कर सकते। यदि पद-अर्थ संबंध न हो तो संबंधज्ञान भ्रम हो जायेगा। इसलिये पद व अर्थ के संबंध को ही शब्दार्थसंबंध मानना पड़ेगा। तथा इस संबंध को न जानने पर पद से पदार्थ का बोध नहीं होता, शाब्दबोध नहीं होता अतः यह संबंध मानना आवश्यक भी है। अर्थात् पद-अर्थसंबंध न हो तो नियमेन इसका ज्ञान आवश्यक न हो – इस युक्ति से भी सिद्ध है कि पदों में पदार्थों की वाचकता है ॥७३४॥

श्लोक ४९८ में वादी ने कहा था कि शब्द से ज्ञात नियोग में लिङादि की शक्ति का ग्रहण होता है। उसका खण्डन करने के लिये कहते हैं –

नियोग में रागवश जो वादी मानता है कि उत्तमवृद्ध द्वारा कहे शब्दसे जन्य ज्ञान के अनुसार होने वाली मध्यमवृद्धरूप श्रोता की चेष्टा देखकर बालक नियोग में लिङ् की शक्ति समझ लेता है; वह वादी भी गलत फ़हमी में है। मध्यमवृद्धरूप श्रोता के चेष्टारूप कार्य से अनुमित नियोग सिर्फ शब्द का विषय कैसे कहा जा सकता है? ॥७३५-७३६॥

श्रोता ने नियोग समझा तभी चेष्टा कर रहा है – यों नियोग जानकर अन्वयव्यतिरेक से लिङ् का नियोग से संबंध बालक समझता है यह प्रक्रिया नियोगवादी ने रची थी। नियोग को केवल शब्दप्रमाण का विषय मानकर वह उसे अनुमेय माने तो स्पष्ट ही निग्रह हो जाता है। और यदि अनुमेय न मानकर कहे कि उत्तमवृद्ध द्वारा कथित लिङ् से नियोग ज्ञात हुआ तो स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय है क्योंकि लिङ् सुनकर तभी नियोग पता चल सकता है जब पहले लिङ्-नियोग का संबंध मालूम हो; अब यदि नियोगज्ञान शब्द से होना है तब दोनों एक-दूसरे के साकांक्ष हो जायेंगे।

जो तो वादी ने श्लोक ४९९ में कहा था कि अनुमेय होता है आज्ञादि से उपहित नियोग जबकि वाक्यार्थ है केवल नियोग अतः वह सिर्फ़ शब्द का विषय है; वह भी ठीक नहीं क्योंकि पहले नियोग ही सिद्ध नहीं है कि उसका उपहितरूप वाच्यतया ग्राह्य हो! प्रवृत्तिहेतु नियोग नहीं इष्टादिबुद्धि है यह कह चुके हैं तथा आगे भी कहेंगे ॥७३५-७३६॥

वादी का पूर्वोक्त स्थल पर ही कहना था कि बालक जिस नियोग का अनुमान करता है वह शब्दावगतता से विशिष्ट होता है, अर्थात् 'मध्यमवृद्धि शब्दावगत नियोग के ज्ञान वाला है क्योंकि शब्दश्रवण के अनन्तर प्रवृत्ति करता है' ऐसा अनुमान स्तनन्धय को होता है! एवं च शब्दावगत नियोग ही अनुमेय है जिससे उसकी शब्दैकप्रमाणता बनी रहती है। इसी शंका को उठाकर इसका समाधान करते हैं –

अनुमान भी उस नियोग को विषय करता है जो (मध्यमवृद्ध को) शब्द से अवगत है अतः शब्दैकविषयता कैसे नहीं है? (इसलिये नहीं है कि विपरीत भी कह सकते हैं :) अनुमानपूर्वक होने वाला शाब्दबोध भी लिंगावगतनियोगविषयक क्यों न माना जाये? ॥७३७॥

तात्पर्य है कि मध्यमवृद्ध ने जब नियोग में लिङ् का शक्तिग्रह किया था तब उसने भी किसी की प्रवृत्तिको लिंग

नियोगं शब्दतो बुद्ध्वा योऽपि श्रोता प्रवर्तते। तस्याप्यनुमितेरेव शब्दार्थप्रत्ययो भवेत् ॥७३८॥
प्रत्यक्षगम्यकार्येण नियोगस्यानुमेयतः। प्रत्यक्षकार्यवत्तस्य लौकिकत्वं प्रसज्यते ॥७३९॥

बनाकर ही उसे समझा था। अतः यह भी कह सकते हैं कि वह शब्द से जब नियोग को जानता है तब उसी नियोग को समझता है जो लिंग से अवगत हो। अर्थात् लिंगावगतता को नियोग का विशेषण बनाकर उस विशिष्ट नियोग में लिङ् की शक्ति का ग्रहण करता है। नियोगसंबंधी शाब्दबोध नियोग में शक्तिग्रहपूर्वक होगा ही और वह शक्तिग्रह तुम्ही मानते हो अनुमान से होता है – अनुमानपूर्वक होता है, अतः लिङ् से शाब्दबोध अनुमानपूर्वक होता है यह तुम्हे मान्य है ही। तब अनुमानगम्यता ही नियोग में होगी, शब्दैकगम्यता की संभावना ही कहाँ? ॥७३७॥

पूर्वश्लोक में तो अनुमानपूर्वकता को संभावति कहा, अब बताते हैं कि तुम्हारी प्रक्रिया से तो वही माननी पड़ेगी –

जो भी श्रोता शब्द से नियोग को समझकर प्रवृत्ति करता है उसे भी शब्द से अर्थज्ञान अनुमान के कारण ही होता है यह मानना पड़ेगा (यदि तुम्हारी प्रक्रिया से चलें तो) ॥७३८॥

प्रवृत्तिलिंगक अनुमान की अपेक्षा से ही जब नियोग में लिङ् की व्युत्पत्ति मानते हो तब व्युत्पन्न व्यक्ति को लिङ् से होने वाला नियोगविषयक शाब्द ज्ञान अनुमितनियोग को ही विषय करेगा यह स्पष्ट है। कम-से-कम इतना तो मान्य ही है कि नियोग पहले अनुमित होगा फिर शब्द से सम्बद्ध पता चलेगा; इतने से ही शब्दैकविषयता की क्षति हो जाती है। यदि अनुमित उपहित को मानो – आज्ञादि से उपहित कार्य ही अनुमेय है यह कहो – तो शक्ति भी उसी में पता चलेगी। उपहित ही पदार्थ है, केवल नियोग वाक्यार्थ है – यह मानना भी ग़लत है क्योंकि सर्वत्र विपरीत ही देखा जाता है, पदार्थ 'केवल' होते हैं और वाक्यार्थ विशिष्ट (या उपहित) होता है। गोपदार्थ सामान्य होता है लेकिन 'गामानय' वाक्य का अर्थ गवानयन विशिष्ट होता है। अतः नियोग के संबंध में विपरीत मानना अयुक्त है ॥७३८॥

इस तरह जब शब्द से पूर्व अनुमान ही नियोग को विषय करता है तो नतीजा यह निकलता है –

क्योंकि नियोग प्रत्यक्ष से ज्ञेय कार्यरूप लिंग द्वारा अनुमेय है इसलिये नियोग भी वैसे ही लौकिक होना चाहिये जैसे प्रत्यक्ष कार्य ॥७३९॥

लिंग से लिङ्गी का पता चलाने के लिये इनका आपसी संबंध जानना पड़ता है जैसे धूम-वह्नि का सामानाधिकरण्य ज्ञात हो तभी धूम से वह्नि अनुमेय होती है। वह संबंध अवश्य प्रमित होना पड़ेगा तभी अनुमिति प्रमारूप होगी। अतः लिंग और साध्य को प्रत्यक्षयोग्य होना ज़रूरी है। प्रवृत्ति प्रत्यक्ष है। उससे नियोग का अनुमान तभी होगा जब नियोग भी प्रत्यक्ष हो। अतएव नित्यानुमेय पदार्थ अमान्य हैं क्योंकि वे एक उपपत्ति के रूप में ही ज्ञात होते हैं, वस्तुरूप से नहीं। अतः ऐसी वस्तुओं के बारे में वाद-विवाद चलते रहते हैं और अन्यथा उपपत्ति पता चलने पर पूर्व में अनुमित वस्तु छोड़ दी जाती है। जैसे प्राचीन नैयायिकों ने परमाणु का अनुमान किया लेकिन शिरोमणि आदि ने परमाणु व द्व्यणुक को अप्रामाणिक मानकर त्रुटि में ही अनुमान को विश्राम दे दिया। यद्यपि शब्द वाक्यार्थविधया ऐसी चीज़ का ज्ञान करा पाता है जिसे पूर्व में तथा अन्य उपाय से नहीं जान सकते तथापि यह समस्या वहाँ भी रहती है : नित्य परोक्ष वस्तु को शब्द बताता है तो उस वस्तु में मतभेद ही रहते हैं। धर्म को ही द्रव्य, गुण, ईश्वरेच्छा आदि नाना प्रकारका आस्तिक लोगों में ही माना जाता है और नास्तिकों को तो शब्द से धर्म का बोध होता भी नहीं। 'यह तेरा भाई' है आदि शब्दों से भ्रातृतादि संबंधों का यद्यपि ज्ञान होता है जबकि वे सम्बंध भी प्रत्यक्ष नहीं हैं तथापि वे ज्ञान यह मानकर ही हैं कि उनका मूल कोई प्रत्यक्ष वस्तु है। अतः यदि माता-पिता कहें कि 'हमने इसका निषेकादि किया ऐसा तो हमें कोई ज्ञान नहीं फिर भी है यह तेरा भाई', तो कोई नहीं मानता। जो तो वस्तु अपरोक्ष हो – जैसे सुखादि – उसका शब्द से अपरोक्ष या परोक्ष ज्ञान हो सकता है तथा अनुमानादि से भी। किन्तु नियोग को अपरोक्ष माना नहीं जाता यह पहले कह चुके हैं, कारण कि स्वतः वह जड है और आत्मप्रकाश्य उसे नियोगवादी मानता नहीं, अन्य उपाय से ज्ञेय हो तो शब्दैकगम्य भी रहेगा नहीं यह भी उसकी

न चेत्कार्यं नियोगः स्यात्कोऽर्थो यागादिसिद्धितः। सिद्धवस्त्ववबोधित्वं विधेरपि तदा भवेत् ॥७४०॥
प्राथम्यं चात्र दुर्लक्ष्यं बीजतत्कार्ययोरिव। शब्दानुमानयोर्नातः शब्दप्रथमतेष्यते ॥७४१॥
यद्वाऽनुमानमेवात्र शब्दात्पूर्वं हि युज्यते। नावित्तसंगतिः शब्दो गमकोऽतोऽनुवादकः ॥७४२॥

समस्या है। अतः नियोग का न अनुमान से और न शब्द से ज्ञान संभव है।

यहाँ यह प्रयोग है : नियोग लौकिक है अर्थात् वेदमात्र से गम्य नहीं है, क्योंकि चेष्टारूप प्रत्यक्ष लिंग से अनुमेय है, जैसे घट, वह्नि आदि ॥७३९॥

नियोग त्रिकाल से असंबद्ध है, उत्पाद्य नहीं कि घटादितुल्य हो – यह कहना भी अनुचित है –

नियोग अगर उत्पाद्य न हो तो यागादि संपन्न करने का क्या प्रयोजन है? और अनुत्पाद्य किन्तु सद्रूप नियोग मानने पर विधि भी सिद्धार्थ का ही बोध कराने लगेगी! ॥७४०॥

बिना नियोगोत्पत्ति के यागादि से स्वर्ग नहीं होता यह तुम मानते हो। अतः नियोग अजन्य हो तो यागादि निष्प्रयोजन ही होंगे। तथा नियोग को अजन्य मानने पर भी शशशृंगतुल्य असत् तो मानोगे नहीं, तब वह अज सद्रूप ब्रह्म जैसा ही सिद्ध पदार्थ होगा और उसे विषय करने वाले विधिवाक्य या विधिशब्द भी सिद्धार्थक ही होंगे। ऐसा स्वीकारो तो हमें इष्ट ही है क्योंकि हमें इतना ही विवक्षित है कि शब्द सिद्धार्थ का बोधक होता है! ॥७४०॥

घटादि को प्रमाणान्तर विषय करते हैं लेकिन शब्दपूर्वक नहीं, अतः नियोग यदि यागजन्य हो तो भी घटतुल्य कैसे? घट से विशेषता यह मानकर है कि नियोग को प्रमाणान्तर विषय करे तो भी शब्दपूर्वक ही विषय करता है, किन्तु इस मत को श्लोक ७३७ में सदोष कह चुके हैं। यही स्पष्ट करते हैं –

शब्द व अनुमान में से नियोग को विषय करने वाला प्रथम कौन है यह निर्णय करना वैसे ही मुश्किल है जैसे यह कि बीज पहले होता है या अंकुर। क्योंकि अनुमांन भी प्रथम हो सकता है इसलिये नियोग को विषय करने वालों में शब्द की प्रथमता स्वीकार्य नहीं है ॥७४१॥

यद्यपि सूक्ष्मकी ही कारणता प्रसिद्ध होने से बीज-अंकुर में बीज की प्राथमिकता को कुछ लोग उपपन्न करते हैं तथापि निर्णय संभव नहीं। नियोग में तो हर हालत में शब्द या अनुमान की पहल का निर्णय संभव नहीं है ॥७४१॥

न केवल शब्द की प्रथमता अनिश्चित है वरन् अनुमान की ही प्रथमता होनी चाहिये –

अथवा युक्तिसंगत यही है कि शब्द से पूर्व अनुमान ही नियोग को विषय करता है। क्योंकि शब्द की संगति जान ली जाये तभी वह अपना अर्थ बता पाता है इसलिये उसे अनुवादक मान लेते हैं ॥७४२॥

श्लोक ७३८ का ही यह विस्तार है। नियोग यदि लिङर्थ है तो लिङ्-नियोग के सम्बंध की जानकारी होने पर ही लिङ् से नियोग का ज्ञान हो सकता है और संबंधज्ञान से पूर्व सम्बन्धी जानने पड़ेंगे फलतः नियोग की जानकारी चाहिये जो अनुमान से होगी यही मानना पड़ेगा।

वाक्य से नियोग समझकर उसमें लिङ्सम्बंध ग्रहण क्यों नहीं मानते ताकि शब्द ही प्रथम बना रहे? इसलिये कि तुम नियोगवादियों ने स्वयं उस मार्ग पर आगल डाल रखी है : लिङाद्यघटित वाक्य से नियोग पता चलेगा या तद्घटित से? यदि अघटित से चले तब अन्योन्याश्रय है – वाक्यार्थज्ञान स्वघटक पद के अर्थ के ज्ञान की अपेक्षा रखता है अतः लिङर्थज्ञान के सापेक्ष होगा तथा लिङर्थज्ञान तुम वाक्य से कह रहे हो; अतः यह संभव नहीं। वाक्यार्थ होता है पदार्थसम्बंधरूप अतः वाक्यार्थ के ज्ञान में पदार्थों का भासना ज़रूरी है, सम्बंधज्ञान तभी होगा जब सम्बंधी भासे। इसलिये वाक्यार्थ को पदार्थघटित कहा जाता है। न्यायरत्नावली में (पृ० ३१) बताया है 'तद्विषयकधीविषयस्य तद्घटित-पदार्थत्वात्'; पदार्थविषयक

बुध्यते योऽनुमानेन शब्दबुद्धं न वेत्ति सः। भिन्नेऽभिन्नेऽपि मेये धीर्नानुवादोऽन्यबोद्धरि ॥७४३॥

ज्ञान का विषय वाक्यार्थ होता है अतः उसे पदार्थघटित कहते हैं। अतः वाक्यार्थज्ञान के लिये पदार्थज्ञान चाहिये जिससे उक्त अन्योन्याश्रय निश्चित है ॥७४२॥

प्रमाणद्वय के योग्य नियोग में अनुमान ही क्यों न अनुवाद हो? इसका उत्तर है –

जो नियोग को अनुमान से समझता है वह उसे शब्द से जान नहीं चुका है। दूसरा कोई उसे शब्द से जान चुका है इससे अनुमानकर्ता का ज्ञान अनुवाद नहीं हो जाता चाहे विषय वही हो या अलग ॥७४३॥

अनुमान को अनुवाद कहने का मतलब है कि वह ज्ञात को विषय करता है। प्रश्न है : अनुमानप्रवृत्ति के समय नियोग किसे ज्ञात है? बालक को तो ज्ञात है नहीं (इसीलिये बेचारा अनुमान की मेहनत में परेशान है!) क्योंकि उसे नियोग जानने का उपाय प्राप्त नहीं कारण कि अभी उसने शक्तिग्रह नहीं किया। इसलिये बालक के लिये उसका अनुमान अनुवाद नहीं बनता, अज्ञातज्ञापक ही है। यदि कहो कि बालक जिस पुरुष में नियोगधीका अनुमान करता है उस पुरुष ने नियोग को शब्द से जान रखा है अतः बालकानुमान ज्ञात को विषय करने से अनुवाद है; तो यह सर्वथा बेकार की बात है।

प्रमाणानन्तरभावी ज्ञानोपाय को अनुवाद कहते हो तो बताओ आनंतर्य क्या कालकृत मानते हो या प्रमाणविषयतावच्छिन्नविषयता ही प्रमाणानन्तर्य मानते हो? यदि कालकृत कहो तब तो जन्मकाल के प्रथम दुःखादिज्ञान के बाद हुए सभी ज्ञान अनुवाद मानोगे! तथा सृष्टि को तुम अनादि मानते हो अतः सभी ज्ञान प्रमाणानन्तरभावी ही हैं तो अनुवाद ही होंगे! इसलिये यह पक्ष ठीक नहीं। द्वितीय विकल्प लो तो भी तुम नाना आत्मा मानते हो अतः बताओ कि समवायेन समानाधिकरण ज्ञानों में प्रमाण-अनुवादकभाव कहते हो या व्यधिकरण ज्ञानों में? व्यधिकरण ज्ञानों में कहो तब तो पूर्वोक्त ढंग से सभी ज्ञान अनुवादक होंगे क्योंकि कहीं किसी को ज्ञानान्तर है ही। समानाधिकरण कहो तो प्रकृत में तुम्हारी बात सिद्ध नहीं होगी क्योंकि शाब्दधी व अनुमिति व्यधिकरण हैं, एक मध्यमवृद्ध में है व दूसरी बालक में अतः बालक का अनुमान अनुवाद नहीं।

जहाँ प्रमेय अलग-अलग हों वहाँ जैसे प्रमाणानुवादकभाव नहीं होता वैसे ही प्रमाता अलग-अलग हों तो नहीं होता। अतः एक ही प्रमेय के विषय में अनेक प्रमाताओं के ज्ञान प्रमाण होते हैं इसे मना नहीं कर सकते। नियोग मध्यमवृद्ध को ज्ञात है एतावता बालक उसे जाने तो वह प्रमा न रहे यह कहना बनता नहीं।

वस्तुतस्तु जैसे सिद्धान्ती कहता है कि आत्मा आगम से समझने के बाद वेदोक्त लिंगादि से ही मीमांसक तार्किकादि उसे प्रत्यक्ष या अनुमेय कहते हैं अतः उनके ज्ञान अनुवादरूप हैं – यहीं संबंधभाष्य में यह कहेंगे, वार्तिक १०४८ आदि में विस्तार आयेगा – वैसे नियोगविषयक अनुमान अनुवाद हो जाये तो नियोग की अपूर्वता बनी रहेगी यह वादी की कामना थी। किन्तु वह सफल नहीं हो पाया। आत्मा रूपादिहीन अतः अप्रत्यक्ष है और आत्मविषयक सभी अनुमान सदोष हैं यह सिद्धान्ती दिखाता है तभी वह आत्मा में अकेला प्रमाण शास्त्र को मान पाता है। वादी इस रीति का अवलंब नहीं कर सकता। सिद्धान्ती को तो स्वप्रकाश आत्मा में शास्त्र को प्रमाण मानना है अतः प्रमाण के योग्य विषय की उपस्थिति कोई समस्या नहीं है। वादी का नियोग स्वप्रकाश है नहीं अतः शब्द से उसे विषय करने के लिये कोई साधन चाहिये। यदि वह साधन प्रमाहेतु न हो तो भ्रमसिद्ध नियोग में शक्तिग्रह होने पर शास्त्र अप्रमाण होगा; किं च स्वतःप्रमाणवादी नियोग की अनुमिति को भ्रम-प्रमाविलक्षण भी नहीं कह सकता। अतः उसे नियोगानुमान को प्रमाण मानना पड़ता है जिससे शब्द की अनुवादता से बच नहीं सकता ॥७४३॥

अब तक तो यह मानकर चले कि प्रवृत्ति से नियोग अनुमेय है अतः घटादितुल्य है। अब बताते हैं कि वह प्रवृत्ति से अनुमेय भी नहीं है –

प्रवृत्तिहेतुमात्रं च प्रवृत्त्याऽत्रानुमीयते। लौकिकेनापि तत्सिद्धेर्नास्ति मानमलौकिके ॥७४४॥
कार्यबुद्ध्यैव संव्याप्तिः प्रवृत्तेर्न च गम्यते। सर्पादिवस्तुबोधेऽपि प्रवृत्तिर्वीक्ष्यते यतः ॥७४५॥

मध्यमवृद्धरूप श्रोता की प्रवृत्ति से इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि प्रवृत्ति का कोई-न-कोई हेतु वहाँ है। लौकिक हेतु से भी प्रवृत्ति उपपन्न हो जाती है अतः नियोगरूप अलौकिक हेतु में वह अनुमान प्रमाण नहीं बन पाता ॥७४४॥

सामान्य में गृहीत व्याप्ति से विशेष साध्य की अनुमिति नहीं होती। पका भात ईंधन की अनुमिति करा सकता है पर लकड़ी, कंडा, कोयला, बिजली, सौर-ऊर्जा आदि विशेषकी नहीं। या धूम से वह्नि का अनुमान होता है लेकिन कौन-सा पेड़ जल रहा है यह नहीं पता चल सकता। ऐसे ही प्रवृत्ति कार्य है तो कारणमात्र का अनुमान करा सकती है, नियोगरूप अलौकिक कारणका नहीं। राग, द्वेष, स्वेच्छा, आदत आदि कई हेतुओं से प्रवृत्ति हो सकती है अतः प्रवृत्तिमात्रसे हेतुविशेष की व्याप्ति नहीं है। किं च प्रायः बालक स्तनपानादि को अपना प्रियकारी पाता है तो उस प्रवृत्ति को करता है तथा जब यथेष्ट दूध पी चुकता है तो उसी प्रवृत्ति में प्रियकारिता न प्रतीत होने से विरत हो जाता है। अतः वह अनुमान करे भी तो यही करेगा कि 'मध्यमवृद्ध ने जो प्रवृत्ति की उसे वह प्रियकारी समझता है क्योंकि प्रियकारी समझी जाने वाली ही प्रवृत्ति की जाती है जैसे मेरी स्तन्यपानप्रवृत्ति।' इससे अन्य नियोग तो उसे अनुभूत ही नहीं कि प्रवृत्ति से उसकी व्याप्ति पता हो! अतः प्रवृत्तिहेतुरूप से अनुमित भी हितसाधनताज्ञान – या प्रियकारिताज्ञान – ही होगा। उत्तमवृद्धोक्त लिङ् की शक्ति भी ऐसे प्रियकारी में समझी जायेगी जो किया जा सके : मध्यमवृद्ध की प्रवृत्ति और उत्तमवृद्ध का कथन – इनका अन्वय-व्यतिरेक देखकर आवापोद्वाप से यदि बच्चा समझेगा तो यही कि उत्तमवृद्ध कुछ ऐसा कहते हैं जिससे मध्यमवृद्ध को यह पता चलता है कि 'मैं अमुक प्रवृत्ति कर सकता हूँ तथा वह प्रवृत्ति मुझे प्रियानुभूति देगी।' वस्तुतः कृतियोग्यता केवल उपलक्षण है क्योंकि कभी-कभी ऐसी प्रवृत्ति भी कह दी जाती है जो उस समय तो कृतिके अयोग्य ही होती है। वक्ता उसे कृतियोग्य माने यह भी जरूरी नहीं। संभवतः आरुणि उद्दालक को यह नचिकेता की कृति के योग्य नहीं ही लगा होगा कि वह यम तक पहुँच जायेगा। बहुधा क्रोधादिवश किसी को ऐसा कार्य बता देते हैं जिसे हमें निश्चय है वह नहीं कर सकता, लेकिन वह कर आता है तो हम चकित हो जाते हैं। अतः प्रायः हितोपाय वही बताया जाता है जो कृतियोग्यता वाला हो, इसी से मान लेते हैं कि लिङुक्त हितोपाय और कृतियोग्यता का संबंध हो सकता है। इसी से टीकाकार ने कृतियोग्यत्व को उपलक्षण माना है। हर हालत में वादी को इष्ट अलौकिक नियोग प्रवृत्तिहेतुरूप् से जब बालक को अनुभूत नहीं तो वह उसका अनुमान कर सकता है यह मानना निरी मूर्खता है ॥७४४॥

कार्यज्ञान से प्रवृत्ति नहीं होती यही स्पष्ट करते हैं –

यह बात (कम-से-कम बालक द्वारा तो) समझी नहीं जाती कि प्रवृत्ति और कार्यज्ञान की समव्याप्ति (या व्याप्तिमात्र भी) है। सर्पादि वस्तु के ज्ञान से भी पलायनादि प्रवृत्ति होती है अतः उक्त व्याप्ति है भी नहीं ॥७४५॥

समव्याप्ति होने पर ही प्रवृत्ति निश्चित रूप से कार्यज्ञान का अनुमान कराये। वस्तुज्ञान भी प्रवृत्तिहेतु देखा गया है अतः ऐसी व्याप्ति नहीं है। यद्यपि सर्प देखकर भागने में सीधे-सीधे प्रियकारिताबुद्धि हेतु प्रतीत नहीं होती तथापि कार्यबुद्धिपूर्वकता का नियम नहीं यह तो स्पष्ट हो ही जाता है और वस्तुतः भागने में वचनारूप इष्ट की साधनता का ज्ञान ही वहाँ भी हेतु है। अतः बचने के उपायांतरों का भी अनुष्ठान विकल्पतः हो जाता है। एवं च कार्यज्ञान व प्रवृत्ति में व्याप्ति नहीं। किं च प्रौढ व्यक्तियों में व्यभिचार भी सुलक्ष्य है, वे 'अकार्य है' ऐसा जानते हुए भी प्रवृत्ति करते हैं। पंचदशी में स्वमांसभक्षणादि का दृष्टान्त दिया ही है। कामनादिवेग से तत्काल उस प्रवृत्ति में प्रियकारिता का आरोप होने पर भी कार्यताका तो आरोप भी नहीं होता। अतः यदि कोई व्याप्ति है तो प्रियकारिताज्ञान की है, कार्यताज्ञान की नहीं ॥७४५॥

और भी कारण बताते हैं नियोग की अप्रवर्तकता में –

पुंस्प्रवृत्तेः फलं कार्यं विध्यर्थश्चापि कारणम्। प्रवृत्तिहेतुर्न फलं भवतैवाभिधीयते ॥७४६॥
अपसर्प्यस्य सर्पादेर्न च कार्यं फलं मतम्। अनर्थाभावमात्रत्वान्नचाभावः फलं क्वचित् ॥७४७॥
नियोगोऽथ प्रमारूपो विधिशब्दप्रकाशितः। मानान्तरानपेक्षः सन्नाक्षेपकतया प्रमा ॥७४८॥

पुरुषप्रवृत्ति का फल है कार्य तथा विधिका अर्थ प्रवृत्ति का कारण है। यह आप नियोगपीडित लोग ही स्वीकार लेते हैं कि फल प्रवृत्तिका हेतु नहीं है। (तब नियोग क्योंकर प्रवर्तक हो सकेगा?) ॥७४६॥

फल प्रवर्तक हो तब तो स्वर्ग ही ज्योतिष्टोमका प्रवर्तक हो जायेगा, नियोग की जरूरत ही क्या रहेगी? अतः मीमांसक फल को प्रवर्तक नहीं मानता और फलसाधनताज्ञान को भी प्रवर्तक मानने से डरता है। लेकिन जिसे प्रवर्तक मानता है वह नियोग भी प्रवृत्तिका साक्षात् तो फल अर्थात् कार्य ही है! अतः उसका विरुद्ध कथन उसकी दयनीय बुद्धि में प्रमाण है। टीकाकार ने नियोगवादी की यह विशेषता प्रशंसनीय मानी है 'न हि त्वत्तोन्यस्य विरुद्धमर्थ वक्तुं कौशलम्!' न्यायकल्पलतिकाकार भी कहते हैं 'तदेवंविधविरुद्धं नाऽनुन्मत्तः कलयेत्!' ॥७४६॥

वस्तुतस्तु पुरुषव्यापार का फल भी नियोग नहीं है –

सर्पादि से दूर खिसक जानारूप पुरुषव्यापार का फल भी कार्य को नहीं माना जाता क्योंकि वहाँ दुःखनिवृत्ति ही फल है। और अभाव ही फल हो यह भी कहीं नहीं देखा जाता ॥७४७॥

दुःखाभाव भी इसीलिये फल है कि वह सुख को अभिव्यक्त करता है अन्यथा आकाशकुसुम की तरह अभाव फल नहीं हो सकता। अतः यहाँ भी अंततः सुखफल प्रवृत्ति ही है। दुःखनिवृत्ति में यह विषेता है कि वह सुख को व्यक्त करती है यह २.४.३४६ आदि में बतायेंगे। यद्यपि व्यवहारभूमि में दुःखध्वंस को फल मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं क्योंकि आकाशकुसुम का दृष्टान्त अननुरूप है–वह ध्वंसात्मक अभाव नहीं है – तथापि वादिमतानुसार उसे समझा रहे हैं तथा स्वसिद्धांत के भी यह अनुकूल है। सच्चिदानंद रूप आत्मा दुःख से आवृत हो जाता है अतः दुःखनिवृत्ति से अनावृत हो जाता है। ध्वंस सावशेष ही होता है अतः उसे आत्मावशेष ही मानना चाहिये। उपादान में रहने वाला मानने पर भी संगति बैठती ही है : दुःख क्षेत्रधर्म है अतः उसका ध्वंस क्षेत्र में रहेगा और क्षेत्रोपहित आत्मा ही अनावृत होगा। अथवा बिवर्तोपादान आत्मा में भी ध्वंस रहे तो हानि नहीं ॥७४७॥

श्लोक ७२४ से समझाया कि प्रमाणान्तर-अगोचर नियोगरूप अर्थ वाला लिङादि विधिपद नियोग के विषयभूत संसर्ग का आक्षेप नहीं कर सकता। (संसर्ग की नियोगविषयता का अर्थ श्लोक ७२९ में बताया था।)

अब वादी पदकी बजाये नियोग को ही संसर्ग का आक्षेप करने वाला मानने के लिये शंका करता है –

यह क्यों न माना जाये कि लिङादि विधिशब्दों से प्रतिपादित नियोग ही संसर्ग में (= पदार्थसंबंध में, वाक्यार्थ में) प्रमाण है? प्रमाणान्तर की उसे अपेक्षा नहीं क्योंकि संसर्ग का आक्षेपक होने से वह स्वयं एक प्रमाण है ॥७४८॥

कारणादि का – नियोज्य, धात्वर्थ, साधन, इतिकर्तव्यादि का – संसर्ग हुए बिना नियोग संभव नहीं अतः वह उनके संसर्ग का आक्षेप कर सकता है, अर्थापत्तिरूप प्रमाण बन सकता है। स्वयं प्रमाण को प्रमाणांतर अपेक्षित नहीं होता, नहीं तो अनवस्था होगी। अतः लिङादि नियोग का प्रतिपादन भले ही करें, वे नियोग में 'प्रमाण' नहीं हैं, प्रमाण में प्रमाण हो इसकी जरूरत ही नहीं। एवं च लिङादि अनुवाद भी नहीं। प्रमितविषयक ही अनुवाद होता है, नियोग प्रमाण है, प्रमित तो है नहीं। इस तरह वाक्य में आये पदों के अर्थों का संसर्ग नियोगाधीन मानना निर्दुष्ट है और उपनिषद्वाक्य भी ऐसे ही अर्थ के ज्ञापक बन सकते हैं न कि नियोगनिरपेक्ष परमात्मा के – यह वादी का अभिमान है ॥७४८॥

आक्षेप्तृत्वं न शब्दोत्थं न च मानान्तरात्तथा। अव्युत्पन्नप्रवृत्तिश्चेत्युक्तदोषप्रसङ्गतः ॥७४९॥
स्वाभ्युपेतनयस्यैव त्यागः प्राप्नोत्यनीप्सितः। प्रामाण्यं चास्य यत्रेष्टं श्रुतेस्तत्रास्त्वनेन किम् ॥७५०॥
क्व चेष्टमस्य मानत्वं न यागादौ स्वशब्दमे।

सिद्धान्ती कहता है कि नियोग को संसर्ग का आक्षेपक न शब्द से व न अन्य तरह सिद्ध कर सकते हैं अतः यह कल्पना भी व्यर्थ है –

नियोग पदार्थसंसर्ग का आक्षेपक है यह शब्द या अन्य किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। यदि नियोग को प्रमित न होना पड़े तब तो जिसे लिङ्पद का शक्तिग्रह नहीं है वह भी उसे सुनकर प्रवृत्त हुआ करे! ऐसा मानो तो शक्तिग्रहसापेक्षबोधकत्वरूप पदधर्म का व्यभिचारी लिङ्पद को मानना पड़ेगा जो अनुचित है। और अगर नियोग प्रमेय हो तब वह अपूर्व नहीं रहेगा ॥७४९॥

लिङादिपद तो नियोग का बोध करा देते हैं, यह तो बताते नहीं कि नियोग संसर्गाक्षेपक है। अतः शब्द प्रमाण से उसका आक्षेपकत्व असिद्ध है। प्रमाणान्तर भी तुम मान नहीं सकते क्योंकि आक्षेपकत्व में जो प्रमाण होगा वह नियोगको भी विषय कर लेगा जिससे वह शब्दैकगम्य नहीं रहेगा। यदि मानो कि नियोग है ही संसृष्टरूप – संसर्गविशिष्ट होने पर ही उसका स्वरूपलाभ है – तो उसे आक्षेपक नहीं कह सकते क्योंकि स्वरूपतः विद्यमान होने पर ही अन्य का आक्षेप किया जा सकता है।

पूर्व श्लोक में कहा था कि नियोग प्रमाणनिरपेक्ष है, जैसे चक्षु आदि प्रमाण। किन्तु तब लिङादि की नियोग में शक्ति है यह कैसे प्रमित होगा? अप्रमेय विषय का संसर्ग प्रमेय नहीं हो सकता। जब लिङ्की शक्ति प्रमेय नहीं तब अप्रमितशक्ति चाहे जिस पुरुषादि को लिङ् सुनकर प्रवृत्त होना चाहिये, ऐसा होता है नहीं। यह कहो कि प्रमितशक्ति न सही, ज्ञातशक्ति पुरुष होना चाहिये तब भी लिङ्शक्ति घट में है यह जिसे ज्ञान है वह लिङ् सुनकर प्रवृत्त हुआ करे! यदि नियोग में शक्ति है इसी ज्ञान की ज़रूरत कहो तब बताओ यह ज्ञान अप्रमा क्यों है? और अप्रमा नहीं है तो नियोग प्रमेय ही हुआ। प्रमेय मान लिया तो पुरानी समस्या खड़ी ही है – शब्दसम्बंध जानने के लिये शब्देतर प्रमाण से ज्ञेय होने पर नियोग प्रमाणान्तर की अविषयता रूप अपूर्वता से वंचित हो जायेगा ॥७४९॥

शब्द-अर्थ से अनभिज्ञ की शब्दमूलक प्रवृत्ति अमान्य है –

उक्त ढंग का सहारा लेने पर तुम्हारे मान्य नियमों की तुम्हे ही अवहेलना करनी पड़ेगी जो इष्ट नहीं हो सकती। किं च जिस विषय में नियोग को प्रमाण मानना चाहते हो उसमें श्रुति ही प्रमाण हो जाये, इस नियोग से क्या लाभ? ॥७५०॥

शाब्द व्यवहार उसी का होता है जिसे शब्दों के अर्थ मालूम हैं यह सभी सिद्धांतों की सामान्य मान्यता है व लोकसिद्ध नियम है। लिङ् यदि इसकी ज़रूरत न रखे तो यह सर्वसंमत व लोकप्रसिद्ध बात कटने लगेगी। सर्वलोकानुसारी व्यवस्था का भंग दर्शन की ही कमी मानी गयी है।

यह तो 'नियोग प्रमाण है' इसे मानकर दोष दिये। वस्तुतः वह प्रमाण है ही नहीं। ऐसा कोई विषय नहीं जो केवल नियोगयोग्य है कि इसे प्रमाण माना जाये। 'अनन्यसाधारणविषयाभावान्न नियोगस्य प्रामाण्यम्' यह विद्यासागरी में कहा है। नियोग को इसी में प्रमाण मानते हो कि पुरुषप्रवृत्ति के हेतु को प्रकाशित करे; इतना काम तो श्रुति या शब्द ही कर लेगा, नियोग की ज़रूरत ही नहीं है ॥७५०॥

नियोग को यागादि में, संसर्ग में तथा यागादि की इष्टोपायता में – किसी में भी प्रमाण मानना संगत नहीं –

लौकिकोऽपि न संसर्गो विध्यायत्तः स्थितो यतः। विध्यभावे हि संसर्गः श्रोतुरस्त्यविधावपि ॥७५१॥
फलसाधनशक्तिश्चेद्विध्यायत्ता भविष्यति। नैवं तत्रापि शब्दस्य सामर्थ्यं केन वार्यते ॥७५२॥

यह बताओ कि नियोग को किस विषय में प्रमाण मानना चाहते हो? यागादि में यह प्रमाण नहीं क्योंकि यागादि के वाचक शब्द ही यागादि में प्रमाण हैं। लौकिक संसर्ग भी नियोगाधीन नहीं है क्योंकि विधिहीन वाक्य से भी नियोग के बिना ही श्रोता संसर्ग समझ लेता है। यह कहो कि धात्वर्थ में फलोपायता नियोगाधीन है तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि जैसे नियोग फलोपायता में प्रमाण मानते हो ऐसे शब्द को उसमें प्रमाण मानने से कौन रोक सकता है! ॥७५१-७५२॥

यागादि तो 'यजेत' आदि में आये यज-आदि शब्दों से प्रमित हैं, नियोग से नहीं। यागादि पदार्थ लौकिक हैं अतः उनका संसर्ग लौकिक न्याय से ही होगा। लोक में 'यह राजकर्मचारी है' आदि सिद्धार्थक वाक्य भी पदार्थसंसर्गबोधक होते हैं अतः नियोग की संसर्गहेतुता मान्य नहीं। शब्द से संसर्ग मानने में कोई आपत् हो तभी संसर्ग को हेत्वन्तराधीन कहा जा सकता है, जब क्लृप्त सामग्री से काम चले तब नियोग की कल्पना कैसे होगी? इसी तरह शब्द ही यागादि की फलकारणता का प्रकाशन कर देता है अतः यह अर्थापत्ति प्रवृत्त नहीं होती कि 'यदि यागादि इष्टोपाय न होते तो इष्ट चाहने वाले के लिये यागादिविषयक नियोग न होता।' कोई आकर किसी आप्त पुरुष से कहे 'मैं प्यासा हूँ।' और वह कहे 'लो, पानी पी लो।' तो 'पानी प्यास बुझाता है' इसे अर्थापत्ति से सिद्ध नहीं किया जाता, उसके वाक्य से ही यह बात समझ आ जाती है। यद्यपि यह बात शब्दशक्तिमात्र से नहीं समझ आ सकती तथापि तात्पर्य है कि जैसे लोक में आप्त पुरुष आदि परिस्थिति के सहारे वह शब्द ही इतनी बात भी समझा देता है, ऐसे ही इष्टकामी के लिये बतायी क्रिया को इष्टोपाय भी वैदिक शब्द ही बता सकता है, अपनी प्रमाणतादि के सहारे। अर्थात् शाब्दी अर्थापत्ति पर्याप्त है, नियोग नामक प्रमाणांतर नहीं चाहिये।

टीकादिकारों ने यहाँ कहा है कि धात्वर्थ की इष्टोपायता में लिङादि प्रत्यय की शक्ति है तथा यही प्रायः सिद्धान्ती सर्वत्र मान लेता है। फिर भी विचार करने पर लगता है कि लिङादिशक्ति इतने में ही है कि श्रोता को ज्ञान हो 'मैं अपनी स्थिति से प्रच्युत होऊँ'। वह प्रच्युत होना इष्ट का कारण है या अनिष्ट का, इसे लिङ् नहीं कहता। डाकू गोली मारने के पहले कहता है 'खड़े हो जाओ!' यहाँ खड़े होने में कोई इष्टोपायता नहीं है, न प्रतीत होती है। इसी तरह अनंत स्थल हैं जहाँ प्रत्यय से इष्टता का कोई सम्बंध नहीं। अतः उचित यही लगता है कि 'उठो' में 'ओ' की सामर्थ्य यही है कि 'उठूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न करे। यद्यपि प्रारंभ में 'उठो' का उठना-क्रिया से ही सम्बन्ध देखा जाता है तथापि आवापोद्वाप से पता चलता है कि प्रत्ययशक्ति उठने के यत्न में है या उठने के संकल्प में है। ज़रूरी नहीं कि क्रिया की जाये तभी मानें कि 'उठो' का शाब्दबोध हुआ; 'उठो' सुनकर भी अवज्ञा करने वाला बैठा रह सकता है जबकि शाब्दबोध उसे हो चुका है। अतः 'उठूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होने से ही 'उठो' का ज्ञान हो गया, फिर अवज्ञादि की भावना से उसे बाधित कर दिया गया यह मानना पड़ेगा। ऐसे ही 'यजेत' से अधिकारी को 'याग करूँ' यह वृत्ति होगी इतना कह सकते हैं; यागकी फलोपायता वह शाब्दी अर्थापत्ति से समझेगा क्योंकि वेद में श्रद्धादि है। अन्यथा 'ब्राह्मणों ने अपने खाने-कमाने के लिये कहा है' ऐसा समझ लेगा! यदि प्रत्यय शक्तिवश इष्टोपाय कहे तो यह संभव नहीं। शब्द से शक्यार्थज्ञान श्रद्धादि की अपेक्षा नहीं रखता। अतः इष्टसाधनता की लिङर्थता स्वीकारने का अभिप्राय है कि वैदिक विधि - या अन्य उसी तरह की विधि भी - इष्टसाधनताबुद्धि में हेतु बन जाती है, भले ही वह उसका शक्य नहीं है। वैदिकादि आप्त स्थलों में यह प्रायिक होने से उपचार से उसे लिङर्थ कह देते हैं या शक्य मान लेते हैं, यह भाव है ॥७५१-७५२॥

श्लोक ७२५ से प्रारब्ध विषय का उपसंहार करते हैं -

तस्मादितरतुल्यत्वान्न विध्यर्थनिबन्धनः। संसर्गः स्यात्पदार्थानां सुस्थमेवं विधिं विना ॥७५३॥
तस्मात्सर्वपदार्थानामाकाङ्क्षायोग्यसंनिधेः। परस्पराभिसंबन्धाद्विशिष्टार्थावबोधिता ॥७५४॥
ननूत्पत्तिविधिर्यद्वत्कर्मबोधे व्यवस्थितः। आत्मज्ञानविधिस्तद्वदात्मबोधेऽवतिष्ठताम् ॥७५५॥
कर्माधिकारवच्चात्र प्रवृत्तिरपि सेत्स्यति। अप्रवृत्तप्रवृत्तिश्च तथाऽबुद्धार्थबोधनम् ॥७५६॥
एवं विधिमिहेच्छन्ति विध्ययोग्येऽपि वस्तुनि। विधिरागवशात्केचित्तान्प्रतीदमथोच्यते ॥७५७॥

क्योंकि विधिपद के अर्थ में नामपदार्थों की अपेक्षा कोई ऐसी विशेषता नहीं जिससे वे ही पदार्थसंसर्ग के प्रयोजक हों इसलिये यह नहीं माना जा सकता कि पदार्थों का संबंध विध्यर्थ के अधीन है। (श्लोक ६६० में कहे) छहों तरीकों से जब शाब्द ज्ञान में विधि असंभव है तब वेदान्तों से ब्रह्मात्मताज्ञान भी बिना विधि के ही सिद्ध होता है, यह निश्चित है ॥७५३॥

इसलिये चाहे कार्यरूप हों या सिद्धरूप, सभी पदार्थों का आपसी सम्बंध आकांक्षा, योग्यता व संनिधि से होता है और इसी से पद संसृष्ट ज्ञान के कारण बन जाते हैं ॥७५४॥

विध्यर्थ को कारण न मानने पर कोई कारण तो बताना ही पड़ेगा जिससे पद संसृष्ट अर्थ का – वाक्यार्थका – ज्ञान उत्पन्न करते हैं, अतः आकांक्षादि लोकसिद्ध कारणों को यहाँ गिना दिया ॥७५३-७५४॥

विधि में अत्यन्त आसक्त लोगों की शंका का अनुवाद करते हैं –

जैसे उत्पत्तिविधि कर्म की कर्तव्यता का ज्ञान कराती है ऐसे आत्मज्ञान की विधि 'ज्ञान करना चाहिये' यह बताती है यह मानना चाहिये ॥७५५॥ जैसे अधिकार विधि कर्म में प्रवृत्ति कराती है ऐसे ज्ञान में भी कराने वाली मानना उचित है। जो प्रवृत्त न हो उसकी प्रवृत्ति कराने वाली को अधिकार विधि कहते हैं और अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराने वाली को उत्पत्तिविधि कहते हैं ॥७५६॥

विधि में राग के कारण कुछ लोग इस तरह उस वस्तु में विधि चाहते हैं जो विधि के अयोग्य है! ऐसों के लिये अगला कथन है : ॥७५७॥

'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि को उत्पत्तिविधि कहते हैं जिनसे केवल कर्मस्वरूप का पता चलता है। उतनी जानकारी से प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि कौन करे? क्यों करे? यह पता नहीं चलता। इसके स्थानापन्न है 'आत्मा द्रष्टव्यः' यह ज्ञानविधि। उत्पत्तिविधिप्रोक्त कर्म को विषय करने वाले सफल नियोग का बोधक वाक्य अधिकारविधि होता है, उससे प्रवृत्ति हो जाती है। कर्मस्थल में 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' आदि अधिकारवाक्य हैं और ज्ञानकांड में 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ०४.४.२१) आदि अधिकारविधि है। यद्यपि यहाँ फल नहीं कहा तथापि 'मोक्षकामः' ऐसा अध्याहार्य है क्योंकि वहाँ पहले 'तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः' (४.४.८) आदि से मोक्ष को फलरूप से कहा है और जनक का प्रश्न भी यही है 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' (४.३.३३)। यदि आत्मज्ञान अवैध होगा तो मुमुक्षु उसमें प्रवृत्त नहीं होगा अतः मुमुक्षु ज्ञान के लिये प्रवृत्त हो इस प्रयोजन से विधि ज़रूर माननी चाहिये। उत्पत्ति और अधिकार विधियाँ तो दिखा दीं, विनियोग और प्रयोग विधियाँ भी समझ लेनी पड़ेंगी क्योंकि सर्वत्र देखा गया है कि जहाँ उत्पत्ति-अधिकार विधियाँ होती हैं वहाँ विनियोग-प्रयोग विधियाँ भी होती हैं। अतः 'यज्ञेन', 'शान्तः', 'श्रोतव्यः' आदि को विनियोग मानकर सब को एक वाक्य बनाने से प्रयोग विधि की कल्पना सुकर है। आत्मज्ञान है अयोग्य फिर भी इन्हे विधिविषय लगता है क्योंकि इन्हे विधि से असाधारण प्रेम है। वस्तुतः इन वादियों को कर्तृताध्यास के दार्ढ्य से अकर्त्रात्मा स्वीकार नहीं हो पाता और कर्मफल से अन्य फल भी प्रतीत नहीं हो पाता। अतः ज्ञानमात्र से मोक्ष इन्हे मान्य न होने से ये किसी-न-किसी तरह कर्मकाण्ड का एकदेश ही ज्ञानकाण्ड को बनाना चाहते हैं ॥७५५-७५७॥

उक्त शंका का समाधान करते हैं –

कर्मस्वरूपबोधे हि व्यापारो नेष्यते विधेः। किं तूत्पन्नस्य सापेक्ष्यादधिकारेण संगतिः ॥७५८॥
अधिकारप्रवेशित्वं नाऽऽत्मज्ञानस्य युज्यते। यस्याधिकारसंबन्धः स आत्मा न विधीयते ॥७५९॥
व्रीह्यादिविषयं यद्वद्यत्नेनापि निरूपितम्। प्रत्यक्षं नाधिकारानुप्रवेशं प्रतिपद्यते ॥७६०॥

उत्पत्तिविधि का व्यापार कर्मस्वरूप के बोधन से ही पूरा हो जाता है यह नहीं स्वीकारा जा सकता। उत्पत्तिवाक्य से समझा कर्म फलाकांक्ष होता है इसलिये उत्पत्तिविधि अधिकार विधिसे सम्बद्ध होकर अनुष्ठानपर्यन्त व्यापार करती है ॥७५८॥

तात्पर्य है कि सफलज्ञानजनक को प्रमाण मानने वाला मीमांसक कर्म के स्वरूपमात्र के ज्ञान से उत्पत्तिवाक्य के प्रामाण्य को उपपन्न नहीं कर सकता। अतः उसे मानना पड़ेगा कि उत्पत्तिविधि भी अनुष्ठान कराने में ही तात्पर्य रखती है ॥७५८॥

आत्मज्ञान का अधिकारविधि से संबंध संभव नहीं –

आत्मज्ञान का संबंध अधिकारविधि से होना युक्तिसंगत नहीं। जिसका अधिकारसम्बंध संभव है उस आत्मा का वेदान्तों में विधान नहीं किया गया ॥७५९॥

ज्ञान प्रमाणादि के अधीन है, कर्तृ – अधीन नहीं; जबकि अधिकारसम्बंध अर्थात् कर्ता को फल देना उसी के लिये संगत है जिसमें कर्ता स्वतंत्र हो। अतः उत्पन्न हुआ – उत्पत्तिविधि का विषय हुआ – भी आत्मज्ञान क्योंकि अधिकारप्रवेश नहीं पा सकता – वैध फल का हेतु नहीं बन सकता – इसलिये उसकी उत्पत्ति भी – उत्पत्तिविधि-गोचरता भी – व्यर्थ होने से अमान्य है।

यदि कहो कि वेदांत आत्मा का ज्ञान कराते हैं और आत्मा की मिलकियत होती है फल पर इसलिये यद्यपि स्वतः ज्ञान अधिकारसम्बंध के अयोग्य है तथापि अपने विषयद्वारा – आत्मा द्वारा – उसका अधिकार से सम्बंध हो जाता है : अधिकार अर्थात् फलस्वाम्य से आत्मा संबद्ध है व आत्मा से ज्ञान सम्बद्ध है अतः ज्ञान अधिकार से भी सम्बद्ध है। तो वह कथन भी बेकार का है क्योंकि वेदान्तवेद्य आत्मा जिसका ज्ञान द्रष्टव्य से तुम विधेय कह रहे हो, वह अधिकार से सम्बंध वाला नहीं, अभोक्ता होने से उसकी फल पर मिलकियत नहीं। भोक्ता संसारी आत्मा सर्वलोकप्रसिद्ध है, उसके ज्ञान के लिये विधि करना बेकार भी है। जिसे जानने के लिये विधि तुम्हे चाहिये वह अधिकार से असंबद्ध है। अतः 'आत्मा द्रष्टव्यः' यह उत्पत्तिविधि नहीं ॥७५९॥

उक्त बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं –

जिस प्रकार यत्नतः परीक्षा करने पर भी यह नहीं कह सकते कि व्रीहि-आदि-विषयक प्रत्यक्ष का अधिकार से सम्बंध है (उसी प्रकार आत्मज्ञान का भी अधिकारसंबंध नहीं कह सकते) ॥७६०॥

दर्शपूर्णमास के अधिकार से व्रीहि का संबंध होने पर भी व्रीहिप्रत्यक्ष का व्रीहिद्वारक अधिकारसंबंध नहीं। दर्शादिलभ्य फल का व्रीहि से सम्बंध है क्योंकि उस फल वाले नियोग के विषय में व्रीहि विनियुक्त है। किन्तु एतावता व्रीहिप्रत्यक्ष का फलसम्बंध नहीं, अन्यथा प्रत्यक्षतः ज्ञात व्रीहि से होम की विधि माननी पड़ेगी जो अप्रामाणिक भी है और प्रायः असंभव भी, क्योंकि प्रत्येक व्रीहिकण को प्रत्यक्ष से देख-देखकर होम हो नहीं सकता! किं च किस इंद्रिय का प्रत्यक्ष चाहिये यह भी निरूपित नहीं हो पायेगा तथा प्रत्यक्ष ही क्यों, प्रमाणान्तर से ज्ञान का भी विनियोग क्यों न हो? – यह भी असमाधेय रहेगा अतः व्रीहि का विनियोग होने पर भी तद्विषयक प्रमाण का विनियोग नहीं यही संमत है। इसी तरह यदि आत्मा का अधिकार मान लें तो भी आत्मज्ञान का अधिकारसंबंध संभव नहीं। आत्मा मुक्त होगा इसलिये उसका मोक्षस्वामित्व हो सकता है पर इससे यह नहीं कह सकते कि आत्मा का ज्ञान मोक्षसम्बंधी है। तात्पर्य है कि वैध साफल्य

अन्योऽप्यनुभवोपायो मननध्यानलक्षणः। सोपायो विहितोऽस्त्येव प्रतिपत्तिविधिं विना ॥७६१॥

उसी का होता है जिसमें कर्ता स्वतंत्र हो अतः ज्ञानका वैध फल नहीं माना जा सकता। वार्तिकसार पृ० ३११-१३ में इसका संग्रह है।

'अबुद्धार्थबोधनम्' (श्लो० ७५६) रूप उत्पत्तिविधि वेदान्तों में मानी जा सकती है लेकिन उतने से ही - अज्ञातज्ञापनसे ही - परम पुरुषार्थ उपलब्ध हो जाने के कारण उत्पन्न ज्ञान का अधिकारसम्बंध नहीं कहा जा सकता। जब तक अधिकारसम्बंध न हो तब तक अप्रवृत्तप्रवर्तकत्व का लाभ न होने से श्लोक ७५५ आदि में जिस अभिप्राय से शंका की थी वह सिद्ध नहीं हो पाता। वादी चाहता था कि मुमुक्षु की आत्मज्ञान में प्रवृत्ति हो इसके लिये प्रवर्तक विधि अपेक्षित हो किन्तु अधिकारसंबंध असंभव सिद्ध हो जाने पर प्रवर्तक विधि अमान्य हो जाने से उत्पत्तिमात्र से वादी का इष्टलाभ नहीं होता। यह भी नहीं कह सकते कि उत्पत्तिविधि होने पर अधिकारादि विधियाँ अनुमेय हैं, जैसा श्लो० ७५७ में शंकावादी ने कहा था; क्योंकि अन्यविधियों से उत्पत्तिविधि की व्याप्ति स्वीकार नहीं है। अर्थात् अन्य विधियाँ कृतियोग्य विषयक ही देखी गयी हैं अतः उत्पत्तिविधि से अनुमान करने पर वही उपाधि होगी। ज्ञान को कृतियोग्य मान नहीं सकते, वह प्रमाणादि-परतन्त्र होता है।

किं च आत्मा का यदि अधिकारित्व नियत होता तो भी कथंचित् आत्मज्ञान का अधिकारसंबंध काल्पित हो सकता था। लेकिन ऐसा है नहीं। ईश्वरवादी परमेश्वर को आत्मा मानते हैं लेकिन उसका अधिकार नहीं मानते। मीमांसक भी पशुओं का और मुक्त आदि का अधिकार नहीं मानते। सुषुप्ति आदि में भी अधिकार नहीं रहता। अतः आत्मा का अधिकार से अविनाभाव संबंध है नहीं कि जैसे क्रतु - अविनाभूत जुहू द्वारा पर्णता का फलसंबंध हो जाता है वैसे ज्ञान का संभव हो।

श्लोक ६६० में प्रश्न उठा था कि शाब्दज्ञान विधेय है या भावनारूप ज्ञान या साक्षात्काररूप ज्ञान। शाब्दज्ञानपक्ष में छह विकल्प उठाये थे तथा क्रमशः सब का निरास कर दिया। श्लोक ७५५ से वादी ने मुमुक्षुप्रवृत्ति के लिये विधि की ज़रूरत का प्रश्न रखा था। शाब्द ज्ञान में विधि नहीं यह तो शतक से (श्लो० ६६०-७६०) सिद्ध हो चुका। अतः ज्ञान के ही उपायान्तर की विधि माननी चाहिये - यह प्रश्न स्वाभाविक है। पूर्वोक्त भावनाविधि और साक्षात्कार विधि का यही अभिप्राय है, अतः उन विकल्पों का अब उत्तर दिया जायेगा ॥७६०॥

विद्यारण्यस्वामी के अनुसार अब 'पण्डितंमन्यों' की शंका उठायी जा रही है (वार्तिकसार पृ० ३१६)। भावना अर्थात् अभ्यास की विधि वेदान्तों में माननी चाहिये इस तात्पर्य से वादी कहना आरंभ करता है -

शाब्दी प्रतिपत्ति की विधि छोड़ दें तो भी साक्षात्कार का अन्य उपाय वेदान्तों में विहित है हीः 'समाहितः पश्येत्' (बृ० ४.४.२३) इत्यादि में शमादि उपायों समेत शब्द - युक्ति की आवृत्ति रूप प्रसंख्यान का साक्षात्कार के लिये विधान है ॥७६१॥

वार्तिक के 'मननध्यान' का अर्थ है शब्द व युक्ति की आवृत्ति। सारकार ने स्पष्ट किया है 'आवृत्तिर्हि प्रसंख्यानं शब्दयुक्त्योरिदं त्विह। मननध्यानरूपत्वात् साक्षात्कारयितुं क्षमः' ॥ पृ० ३१८॥ अतः श्रवणादि की विधि सिद्धांतसंमत है, वह यहाँ पूर्वपक्ष नहीं, बल्कि आवृत्ति का पक्ष रखा जा रहा है। याद रखना चाहिये कि ज्ञान के लिये श्रवणादि की आवृत्ति सिद्धांत में इष्ट है, 'आवृत्तिरसकृदुपदेशाद्' (ब्र० सू० ९४.१.१) आदि में यह स्पष्ट है; किन्तु वादी चाहता है ज्ञान की आवृत्ति मानना जो अनिष्ट है। वादी ज्ञानमात्रको सफल न मानकर वैध फल का समर्थक है अतः विधिप्राधान्य रखकर न केवल मीमांसकमत से ताल-मेल बैठाना चाहता है वरन् सर्वकर्मसंन्यास को - और यदि गंभीर विचार करें तो प्रपंच-मिथ्यात्व को भी - सिद्ध नहीं होने देना चाहता। अतएव सिद्धान्ती ने ज्ञानाभ्यासपक्ष का विरोध किया है। एवं च आनंदगिरिस्वामी ने जो 'अभ्यासे विधिः' कहा है वह ज्ञानाभ्यास के अभिप्राय से है। न्यायकल्पलता में स्पष्टतर है

दर्शनस्य विधेयत्वात्तत्संबन्धोपलक्षितः। प्रसंख्यानात्मकोऽत्रापि प्रयत्नोऽनुभवं प्रति ॥७६२॥
शमाद्यङ्गान्वितः सर्वमात्मेतिस्तुतिभूषणः। मननाद्यर्थवत्त्वाय पश्येदिति विधीयते ॥७६३॥

'शाब्दज्ञानस्याऽविधेयत्वेपि तदभ्यासस्य विधेयत्वात्' ॥७६१॥

श्लोक ६६० में 'साक्षात्कारलक्षणं वा?' यह टीकोक्त विकल्प था; उसके अनुसार प्रश्न होता है कि 'पश्येत्' में विधि तो साक्षात्कार की है, न कि प्रसंख्यान की क्योंकि प्रसंख्यान (= आवृत्ति) का बोधक कोई शब्द उस वाक्य में है नहीं, तब उस वाक्य से प्रसंख्यानविधि कैसे मानी जाये? साक्षात्कार की विधि अयोग्य है यह बात प्रसंख्यानवादी स्वयं कहकर अपना मत पुष्ट करता है –

साक्षात्कार विधेय नहीं है अतः 'पश्येद्' वाक्य में भी अनुभव के लिये प्रसंख्यानरूप प्रयत्न का विधान है जो दर्शन का साधन होने से दर्शनसंबंधी है अतः दर्शनवाचक 'पश्येत्' से लक्षित हो जाता है ॥७६२॥

साक्षात्कार से यदि स्वरूपज्ञान विवक्षित हो तो वह नित्य होने से विधेय नहीं और अगर वृत्तिज्ञान से तात्पर्य हो तो वह सुखसाक्षात्कार रूप होने से फल है इसलिये विधेय नहीं। 'पश्येत्' में धात्वर्थ है दर्शन किन्तु उसका लिङर्थ से अन्वय अनुपपन्न है क्योंकि दर्शन उक्तविधया विधि के अयोग्य है, अतः लक्षणा से प्रसंख्यान को धात्वर्थ मानकर उसी की विधि 'पश्येत्' में माननी पड़ती है। जैसे 'अर्धमन्तर्वेदि मिनोत्यर्धं बहिर्वेदि' इस विधिवाक्य में लक्षणा से भूमिभाग का यूपांगत्वेन विधान मीमांसा में (३.७. अधि० ६) मान्य है वैसे ही यहाँ भी विधि में लक्षणा मानना संगत हो जाता है। लक्षणा में संबंध चाहिये, प्रसंख्यान व दर्शन में 'साध्य-साधनभाव' संबंध है ही 'प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४.४.२१) में प्रज्ञाशब्द से प्रसंख्यान विहित है ही ऐसा मानकर ''पश्येद्' वाक्य में भी' – यह कहा है। सिद्धान्त में तो वहाँ भी विधि नहीं इसका विस्तार से ४.४ श्लो० ७०६-८३२ में भर्तृप्रपंच व मंडन के मतों के खंडन से स्पष्टीकरण होगा ॥७६२॥

प्रसंख्यानवादी विधिसमर्थन करता है –

'पश्येत्' वाक्य में शम-दमादि इतिकर्तव्यों समेत प्रसंख्यान विहित है। 'सर्वमात्मा' (बृ० २.४.६) आदि स्तुतिरूप अर्थवाद से वह प्रसंख्यान अलंकृत भी है। मननादि की सप्रयोजनता के लिये ज़रूरी भी है कि प्रसंख्यान विहित हो ॥७६३॥

विधेय करण में इतिकर्तव्य बताना जरूरी होता है। 'कुल्हाड़ी से काटो' कहना पर्याप्त नहीं, कैसे काटना है यह भी बताना पड़ता है। यहाँ भी प्रसंख्यान कैसे करें – यह शमादि वाक्य से बताया गया है। विधेय की स्तुति होनी चाहिये यह सामान्य न्याय है; भावनावादी मीमांसक तो अर्थवाद की आकांक्षा विधि को रहती है यह मानता ही है; अतः प्रसंख्यान की स्तुति भी होनी चाहिये। वह मिलती है 'यह सब वही है जो यह आत्मा है' आदि में। वह वाक्य भी द्रष्टव्य – विधि का शेष है अतः 'पश्येत्' के संबंध में भी समझा जा सकता है। 'पश्येत्' के आस-पास भी 'नेति नेति' (४.४.२२), 'न वर्धते कर्मणा' 'सर्वमात्मानं पश्यति' (४.४.२३) आदि तुल्यार्थक वाक्य समझे जा सकते हैं। 'सभी कुछ आत्मा है' आदि वाक्य स्वार्थ में तात्पर्य वाले नहीं हो सकते क्योंकि प्रत्यक्षविरोध है। (अतएव प्रसंख्यानवादी प्रपंच-मिथ्यात्वका समर्थक नहीं बन पाता।) इसलिये इन्हे प्रशंसार्थक मानना पड़ेगा। इन वाक्यों से प्रशंसित होने से प्रसंख्यान रूप प्रयत्न विधियोग्य है।

प्रश्न होगा कि 'मन्तव्यः' आदि वाक्यों में ही जब मनन विहित है तब 'पश्येत्' से उसके विधान की ज़रूरत क्या? उत्तर है कि मैत्रेयी ब्राह्मण में 'मन्तव्यः' को मननविधि में तात्पर्य वाला नहीं मान सकते क्योंकि मैत्रेयी ब्राह्मण का तात्पर्य आत्मवस्तु के प्रतिपादन में ही है और जहाँ तक हो सके एक वाक्य का एक ही तात्पर्य माना जाता है। मननादि सफल तभी होंगे जब विहित हों अतः 'पश्येत्' में उनकी विधि मानी जाती है। यदि 'मन्तव्यः' में विधि मान भी लें तो वह उत्पत्तिविधि होगी, अधिकारविधि तो 'पश्येत्' को मानना चाहिये। दृश-धातु से लक्षणा द्वारा मनन का कथन इसीलिये है

पश्येदिति प्रयत्नश्चेत्फलं स्याद् दर्शनं तदा। लक्षणं न प्रयत्नस्य लक्षणं चेत्कथं फलम् ॥७६४॥
लोके दर्शनसंबद्धं प्रसंख्यानं समीक्षितम्। वेदेऽपि किं तथा तत्स्यान्न वाऽतस्तद्विधीयते ॥७६५॥

कि दर्शनरूप फल से मननरूप साधन का सम्बंध स्पष्ट हो जाये। अतः 'पश्येत्' को अधिकारविधि कहना संगत है ॥७६३॥

सिद्धान्ती प्रश्न करता है –

'पश्येत्' से यदि प्रसंख्यानरूप प्रयत्न विहित है तो दर्शन उसका फल होगा, लक्षण नहीं। और यदि दर्शन को प्रयत्नका लक्षण कहो तो वह उसका फल कैसे हो सकता है? (अतः प्रसंख्यानविधि नहीं हो सकती।) ॥७६४॥

तात्पर्य है कि दर्शन अर्थात् ज्ञान को प्रसंख्यान का फल कहो तो प्रसंख्यानरूप आवृत्ति को ज्ञानावृत्ति नहीं कह सकते क्योंकि फलरूप होने से ज्ञान या दर्शन प्रसंख्यान के अनन्तरभावी होगा जबकि आवर्तनीय होने के लिये उसे प्रसंख्यान के पूर्वभावी होना पड़ेगा। एक ही वस्तु को साधननिर्वर्तक व फल मानना अनुचित है। साधन प्रसंख्यान को मानते हो तो वह ज्ञान की आवृत्तिरूप होने से ज्ञान को प्रसंख्यान का निर्वर्तक कहना पड़ेगा, फिर उसे फल नहीं कहा जा सकता। इस समस्या के समाधानार्थ यदि मान लो कि दर्शन प्रसंख्यान का फल ही है तब प्रसंख्यान को ज्ञानावृत्तिरूप नहीं कह सकते। इसलिये ज्ञान की आवृत्ति का विधान मानना संभव नहीं ॥७६४॥

प्रसंख्यानवादी जवाव देता है –

लोक में देखा गया है कि प्रसंख्यान (आवृत्ति) दर्शन से साधनतया संबद्ध है। अतः शंका होती है कि वेद में भी क्या प्रसंख्यान दर्शनोपाय है या नहीं? इसके समाधानार्थ दर्शन से उपलक्षित प्रसंख्यान का विधान 'पश्येत्' द्वारा किया गया है ॥७६५॥

शास्त्र पाठ, संगीत आदि में ज्ञानावृत्ति का उपयोग देखा गया है। फल भी वहाँ दृढ ज्ञान ही होता है। अतः आत्मज्ञान की भी आवृत्ति चाहिये या जैसे सेतुदर्शन एक बार ही पर्याप्त होता है ऐसे आत्मज्ञान भी एक बार ही काफी है? – यह प्रश्न स्वाभाविक है। इसके उत्तर के लिये शास्त्र ने 'पश्येत्' से विधि कर दी कि निश्चय हो जाये कि आवृत्ति चाहिये। दर्शनवाचक शब्द से प्रसंख्यान को लक्षित करने का अभिप्राय यह बताना हो गया कि दर्शन उसका फल है। दर्शन को यदि प्रसंख्यान का विशेषण मानते तब तो पूर्वोक्त दोष आता कि प्रसंख्यानकाल में ही दर्शन अपेक्षित होने से फल नहीं हो सकता था। किन्तु जब दर्शन को प्रसंख्यान का उपलक्षण मान लिया तब यह दोष नहीं है। उपलक्षण को तत्काल उपस्थित नहीं होना पड़ता, कदाचित् संवंध होने से ही उपलक्षणता हो जाती है। दर्शन – प्रसंख्यान का लोक में साध्यसाधनसम्बंध प्रसिद्ध है, उसी के सहारे 'पश्येत्' में प्रसंख्यान को लक्षित किया जा सकता है। अतः प्रसंख्यान का फल दर्शन है।

शास्त्रप्रकाशिका में 'दर्शनादतोऽस्मात्प्रसङ्ख्यानमुपलक्ष्य विधीयते' ऐसी व्याख्या है। यहाँ 'अतः' प्रतीक है, 'अस्माद् दर्शनात्' यह उसका अर्थ है। 'पश्येत्' में धात्वर्थभूत दर्शन से उपलक्षणया कहे प्रसंख्यान का विधान है यह भाव है। विद्यासागर ने स्पष्ट किया है 'दर्शनेन प्रसंख्यानमुपलक्ष्य दर्शनफलेन विधीयते।' वहाँ 'दर्शनफलेन' का मतलब है दर्शनरूप फल के लिये। ऐसे समझना चाहिये कि वार्तिक के 'अतः' में पंचमी ल्यब्लोपमें है; 'दर्शनमुद्दिश्य तत्=प्रसंख्यानं विधीयते' यह अर्थ है या 'दर्शनमुपलक्षणीकृत्य प्रसंख्यानं विधीयते' यह कह सकते हैं। यही फलितार्थ शास्त्रप्रकाशिका में 'तथाच – दर्शनफलत्वेन तदुपलक्षितेऽस्मिन् विधिः' से स्पष्ट किया है।

यद्यपि आवर्तनीय और फलभूत ज्ञानों को अदृढ-दृढ आदि से विविक्त किया जा सकता है तथापि समझ लेना चाहिये कि सिद्धान्ती का मानना यही है कि अविद्यानिवर्तक का नाम ज्ञान है, उससे पूर्व वाला ज्ञान है नहीं। अतः जिसे वादी अदृढ ज्ञान कहता है वह वस्तुतः सिद्धान्त में ज्ञान है नहीं। इसलिये ज्ञान की आवृत्ति असंभव और व्यर्थ है।

सामान्येनौषधं यद्वज्ज्वरनाशोपलक्षितम्। दृष्टं कष्टज्वरेऽप्येवं विशेषेणोपदिश्यते ।।७६६।।
अप्यज्ञातफलं साक्षान्मान्तैर्विधिसंश्रयात्। अभावनिश्चयाभावात्प्रसंख्यानं फलाय नः ।।७६७।।

प्रथमचतुर्थ में भाष्यकार काफी विचार कर कहेंगे 'य एव अविद्यादिदोषनिवृत्तिफलकृत्प्रत्यय आद्योऽन्त्यः सन्ततोऽसन्ततो वा स एव विद्येत्यभ्युपगमाद् न चोद्यस्यावतारगन्धोऽप्यस्ति' (बृ० आनंदा० पृ० १७३)। वार्तिक १.४.१५०८ इत्यादि में इस चर्चा का विस्तार देखना चाहिये। लेकिन वादी की मान्यता है कि जैसे लोक में षड्ज का श्रावण प्रत्यक्ष प्रथम बार हो जाने पर भी पुनः पुनः सुनने से षड्ज का दृढ या विलक्षण ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं होता, ऐसे ही आत्मज्ञान की आवृत्ति से आत्मा का विलक्षण ज्ञान होगा। हैं दोनों ज्ञान - यह उसका कहना है। सिद्धान्ती का तात्पर्य है कि इस दृष्टान्त में विशेषता प्रमा की नहीं, संस्कार की है; अभ्यास से संस्कार बढ़ रहे हैं, ज्ञानमें अंतर नहीं आ रहा। दार्ष्टान्त में ज्ञान है अधिष्ठान का अतः संस्कार की ज़रूरत नहीं, अधिष्ठान - प्रमा होते ही सविलास अविद्या बाधित हो जाती है। जीवन्मुक्तिके विलक्षण आनंद के लिये संस्कार का उपयोग हो भी सकता है लेकिन वह विधेय नहीं, विषयसौन्दर्यवश स्वाभाविक है। यह भी चतुर्थब्राह्मण में भाष्यादि में स्पष्ट है। जीवन्मुक्तिविवेक, पंचदशी आदि में भी इसका वर्णन है। एवं च फलतः भले ही 'सकलमिदमहं च वासुदेवः' ऐसे ज्ञान की आवृत्ति या स्थायिता सिद्धान्ती को मान्य हो लेकिन वह उसे विधेय नहीं मानता क्योंकि तब अधिष्ठान - ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वलक्षण मिथ्यात्व दुर्लभ हो जाने से प्रपंच सत्य होगा, अद्वैतहानि होगी, नेत्यादि श्रुतियों का व्याकोप होगा, संन्यास असिद्ध होगा तथा इसी प्रकार अनेक अनिष्ट होंगे ।।७६५।।

पूर्वोक्त बात को वैद्यक के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं -

ज्वरनाशसे उपलक्षित कषायपानादि औषध सामान्यतः देखी गयी है तथापि यह विशेषतः उपदेश दे दिया जाता है कि संनिपातादि कष्टज्वरों की भी वह निवर्तक है इसी तरह (प्रसंख्यान आत्मदर्शनफलक है ही यह विधि से बता दिया गया) ।।७६६।।

सामान्य बुखार की निवृत्ति काढे आदि से होती है लेकिन संनिपातादि की भी उससे निवृत्ति होगी या नहीं? - यह प्रश्न उठने पर जब वैद्यक शास्त्र उन ज्वरों के लिये भी उन औषधों का विधान कर देता है तब निश्चय हो जाता है। ऐसे ही लोक में यद्यपि देखा गया है कि लम्बा प्रपाठक (ग्रंथभाग) जानना हो तो कई बार पढना पड़ता है ऐसे ही आत्मा की समझ के लिये आत्मा की जानकारी दुहरानी पड़ेगी यह प्राप्त होता है तथापि शंका हो जाती है कि यह वैदिक ज्ञान है, क्या इसकी भी आवृत्ति से कोई फल-विशेष होगा? जब दर्शन के लिये आवृत्तिका विधान हो गया तब समाधान हो जाता है कि अवश्य ही प्रसंख्यान से दर्शन होगा।

'विशेषेण' का आनंदगिरीय अभिप्राय है कि कष्टज्वर का उल्लेख कर उसके लिये उपचाररूप से कथन। विद्यासागर ने 'अङ्गविशेषविशिष्टम्' यह अर्थ किया है अर्थात् सामान्य ज्वर के लिये काढामात्र प्रयोगयोग्य है, कष्टज्वरों के लिये उसके सेवन में कुछ ख़ासियत हो जाती है जैसे विरेचनादि। ऐसे ही लौकिक आवृत्ति की अपेक्षा आत्मदर्शन के लिये शमादि अंगविशेष अधिक हैं तथा 'नैषा तर्केण' आदि से यह भी विशेषता है कि यहाँ यथोपदिष्ट ही ज्ञान आवर्तनीय है, स्वमनीषा से नहीं - यह समझा जा सकता है ।।७६६।।

लोक में आवृत्ति साक्षात्कार नहीं उत्पन्न करती तथापि यहाँ करती है -

यद्यपि लोक में साक्षात्कार शास्त्रातिरिक्त प्रमाणों से होता है, प्रसंख्यान का फल साक्षात्कार है ऐसा लोक में समझा नहीं जाता, तथापि यह निश्चय भी किया नहीं जा सकता कि प्रसंख्यान से साक्षात्कार नहीं ही होता है तथा वेद में दर्शन के लिये प्रसंख्यान की विधि है ही अतः यही स्वीकार्य है कि अभ्यासशीलों को प्रसंख्यान आत्मसाक्षात्काररूप फल देगा ही ।।७६७।।

मूलके 'साक्षात्' का अर्थ है साक्षात्कार और फलशब्द भी साक्षात्काररूप फल कह रहा है। यहाँ प्रमात्मक साक्षात्कार की चर्चा समझनी चाहिये क्योंकि अप्रमात्मक तो कामिन्यादिसाक्षात्कार लोग मान लेते हैं। वादी का कहना है

पश्वादावेवमेव स्यात्संदिग्धेऽपि विनिश्चयः। खपुष्पे त्वनुपायत्वान्निश्चयोऽस्ति विपर्यये ॥७६८॥

कि लोक में न दीखने पर भी शास्त्रीय विधि के बल पर मानना चाहिये कि आत्मप्रसंख्यान का फल साक्षात्कार होगा।

वाचस्पति की सूक्ष्मेक्षिका है कि प्रसंख्यान की साक्षात्कार – फलता कामिन्यादिप्रत्यक्षमें दृष्ट है तथा साक्षात्कार की प्रमारूपता इसलिये है कि ज्ञान शास्त्रीय है, एवं च प्रसंख्यानविधि नहीं चाहिये। इस तरह वे प्रसंख्यानविधिशेषता से बचकर भी प्रसंख्यानवाद को ही उपपन्न करने की कोशिश करते हैं। 'भावनाजापरोक्षधीः मूलप्रमाणदार्ढ्येण न भ्रमत्वम्' (पृ० ५६) आदि कल्पतरु व परिमल में मिश्रमत का ऐसा ही व्याख्यान है। यद्यपि विवरणकार ने (पृ० २८७) केवल 'अन्यन्मतम्' से इस वाद का उल्लेख किया है और प्रसंख्यानसहकारसे शब्द की अपरोक्षप्रमितिजनकता को संगत भी बनाया है अतः वाचस्पत्यमत भी अस्वीकार्य नहीं है तथापि तत्त्वदीपनादि से स्पष्ट पता चलता है कि शब्द से अपरोक्ष ही आचार्याभिमत है। अतएव चित्सुखाचार्य ने स्पष्ट किया है 'क्वापि मनसः तदयोगतः' (३.२) अर्थात् 'मनसःक्वचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वाऽसंप्रतिपत्तेः' (पृ० ५३२)। उनका कहना है कि सुखादि साक्षिभास्य हैं अतः उनका प्रत्यक्ष मनसे नहीं, आत्मा स्वयंप्रकाश है अतः उसके भी प्रत्यक्षत्व में मन की हेतुता असंभाव्य है। जो तो कामिन्यादि प्रत्यक्ष होता है वह भ्रम ही होता है तथा प्रमातिरिक्त साक्षात्कार साक्षिरूप होने से मानस होते नहीं, रज्जुसर्पज्ञान भी मानस तो स्वीकारा नहीं जाता। इस तरह मनकी प्रत्यक्षहेतुता को जो सिद्धवत् मानकर चलना है, जिसके बल पर ही अमलानंदस्वामी तथा दीक्षित महोदय मिश्रमत का समर्थन करते हैं, वही ग़लत है यह चित्सुखी व नयनप्रसादिनी में समझाया गया है। आचार्य सर्वज्ञ भी विवरण का समर्थन करते हैं 'निर्दोषवेदशिरसो वचनादतोऽस्मिन् ब्रह्मात्मवस्तुनि भवेदपरोक्षबुद्धिः' (१.३४१)। संक्षेपशारीरकतृतीयाध्याय में भी (२९६-३०३) इस पर विचार है। मधुसूदनस्वामी स्पष्ट करते हैं कि सर्वत्र विषय अपरोक्ष होना ही ज्ञान की अपरोक्षता में हेतु है, इंद्रियादि नहीं। सिद्धान्तलेशसंग्रहादि भी द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार आवृत्ति की अपरोक्ष प्रमाहेतुता ही असिद्ध होने पर न वाचस्पत्यमत टिकता है और न प्रकृत पूर्वपक्ष क्योंकि श्लोक ७६५ में 'लोके दर्शनसम्बद्धं प्रसंख्यानं समीक्षितम्' कहकर वादी ने यह माना कि 'पश्येत्' में धातु से प्रसंख्यान की लक्षणा इसीलिये संभव है कि दर्शन-प्रसंख्यान का सम्बंध लोकसिद्ध है। अतः लोकसिद्धि न रहे तो लक्षणा भी न हो सकेगी। तथापि मिश्रमत से प्रकृत शंकावादी का मत विलक्षण है क्योंकि यह प्रसंख्यान की सफलता 'विधिसंश्रयात्' निश्चित करता है।

वादी का अभिप्राय है कि सिद्धान्ती यदि यह अनुमान करे 'प्रसंख्यान अपरोक्षफलक नहीं होता जैसे लौकिक प्रसंख्यान' तो वैधता उपाधि रहेगी; लौकिक प्रसंख्यान श्रुतिविहित नहीं जबकि प्रकृत प्रसंख्यान वेद द्वारा विधीयमान है। किं च प्रसंख्यान अपरोक्षफलक नहीं ही है इसमें भी कोई प्रमाण नहीं अतः सन्दिग्धानैकान्तिकता भी समझ लेनी चाहिये। लोकदृष्ट यह भी है कि आवृत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष होता है: 'भक्तिमत्-कल्पलतिका' इस पदच्छेद की आवृत्ति वाले को यही सुनाय देगा लेकिन 'भक्तिमत्कल्प-लतिका' इस पदच्छेद की आवृत्ति करने वाला ऐसा ही सुनेगा! उच्चारण तो एक ही है 'भक्तिमत्कल्पलतिका।' ललितासहस्रनाम में यह ३५३वा नाम है जिसका द्वितीय छेद भास्कर राय ने विकल्पित किया है; अर्थ है कि जैसे लता फैलती है ऐसे देवी के कारण अपूर्णभक्त भी विस्तार पा जाते हैं, पूर्ण भक्ति पा जाते हैं। यहाँ समान उच्चारण होने पर भी विभिन्न छेदों से विशिष्ट श्रवण रूप प्रत्यक्ष होता है। अतः आवृत्ति को इसमें कारण मानना चाहिये। इसलिये सिद्धान्ती उक्त अनुमान नहीं कर सकता ॥७६७॥

प्रश्न होगा कि प्रसंख्यानफल दर्शन को दृष्ट ही मानना है तब यह कैसे कि 'प्रसंख्यान से फलाभाव का निश्चय संभव नहीं' क्योंकि यह देखा ही गया है कि प्रसंख्यान – तीन-चार बार आवृत्ति – करते ही आत्मसाक्षात्कार होता नहीं? अतः भुजे चणे बोने पर अंकुर-अनुत्पाद से जैसे पता चलता है कि भर्जित बीज अंकुरोत्पादक नहीं ऐसे ही जाना जा सकता है कि प्रसंख्यान भी प्रत्यक्ष का उत्पादक नहीं। इस का उत्तर शंकावादी देता है–

पशु-आदि विषयक संदेह होने पर भी ऐसे ही निश्चय होता है। आकाशकुसुम तो निष्कारणक है अतः 'वह नहीं ही होता' ऐसा निश्चय है ॥७६८॥

**एवं केचिद्व्यवस्थाप्य प्रसंख्यानविधिं पुनः। ऐकात्म्यज्ञानतात्पर्यं तस्यापीच्छन्ति युक्तिभिः ॥७६९॥
विधिस्वातन्त्र्यपक्षे हि किलैकात्म्यं न सिध्यति। तच्छास्त्रं विधिनिष्ठत्वान्न स्वरूपेऽर्थवादतः ॥७७०॥
अपि शास्त्रात्प्रपन्नेऽस्मिन्पारोक्ष्यानपहारतः। तत्साक्षात्करणायैव प्रसंख्यानं विधीयते ॥७७१॥
मानेन विषयासिद्धौ तद्दिदृक्षावियोगतः। प्रसंख्यानविधिर्न स्यात्सहापि मननादिभिः ॥७७२॥
श्रुतेर्ज्ञातात्मवृत्तान्तोऽननुभूतमपि स्वकम्। स्थानकं वाञ्छतः शास्त्रात्प्रसंख्यानं विधीयते ॥७७३॥**

अभिप्राय है कि चित्रायाग करने पर फल न भी मिले तो विधिबलात् निश्चय होता है कि जन्मान्तर में मिलेगा, ऐसे ही विधि के सहारे निश्चय हो जाता है कि प्रसंख्यान भी कालांतर सें फल दे देगा। यद्यपि कारीरीष्टि आदि में अनन्तरफलता ही होनी चाहिये अन्यथा व्यंगतादि समझनी पड़ती है क्योंकि वहाँ तुरन्त वृष्टि ही संभव फल है, कालांतरभावी वृष्टि इष्ट न होने से फल नहीं; तथापि चित्रादि का फल जन्मान्तरीय भी हो सकता है क्योंकि पशु हमेशा इष्ट होते हैं – ऐसा मीमांसकों का अभिमान है जिसे मानकर प्रकृत वादी कह रहा है कि प्रसंख्यान को कारीरितुल्य न मानकर चित्रातुल्य मानना चाहिये।

कोई कहे कि यदि विधिबलात् ही फल हो तो विधिवश आकाशपुष्प भी सिद्ध होने लग जाये! – तो यह कहना ग़लत होगा क्योंकि वहाँ अलीकता निश्चित है अतः उसका कोई उपाय संभव नहीं। इसीलिये कोई प्रमाणभूत विधि उसके साधन का विधान करेगी भी नहीं।

इस प्रकार प्रसंख्यानविधि का उपस्थापन किया गया ॥७६८॥

यद्यपि प्रसंख्यान की विधि है तथापि वेदान्तों से अद्वैत आत्मा भी सिद्ध हो जाता है। यदि आत्मसिद्धि न हो तो प्रसंख्यान ही निर्विषय हो जायेगा! अतः अद्वैतवस्तु भी प्रामाणिक होनी चाहिये। यही व्यवस्था समझाते हैं –

कुछ विचारक पूर्वोक्त ढंग से यह व्यवस्थित करके कि प्रसंख्यानविषयक विधि है फिर युक्तियों द्वारा यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि उस विधि का भी तात्पर्य अद्वैत-आत्म-ज्ञान में ही है ॥७६९॥ विधि को स्वतंत्र अर्थात् शेषी मानें तब अवश्य एकात्मता (= अद्वैतवस्तु) सिद्ध नहीं होती क्योंकि वाक्यभेद की समस्या उठती – तत्त्वमादि शास्त्रवाक्य विधि में तात्पर्य वाले होने से स्वार्थ में तात्पर्य वाले न रहते, केवल गुणवादरूप अर्थवाद रह जाते ॥७७०॥ शास्त्र से अद्वैत समझ लेने पर भी परोक्षता हटती नहीं अतः अद्वैत के साक्षात्कार के लिये प्रसंख्यान की विधि है ॥७७१॥ प्रमाण से अगर विषय सिद्ध न हो तो उसके साक्षात्कारकी इच्छा असंगत है और तब साक्षात्कार के लिये मननादि उपायों समेत प्रसंख्यान की विधि भी हो नहीं सकती ॥७७२॥ जिसने तत्त्वमस्यादि श्रुति से आत्मयाथात्म्य समझ लिया है किन्तु अपने स्वरूपभूत परम पद का अपरोक्ष अनुभव नहीं प्राप्त किया है, उसे अपरोक्षलाभ की इच्छा होने पर 'पश्येत्' आदि से उसके उपायभूत प्रसंख्यान का विधान है ॥७७३॥

श्लोक ७६१ से प्रसंख्यान की उपयोगिता व विधेयता उपपन्न की। वेदांत में विधि मानने पर आत्माद्वैत कैसे सिद्ध होगा? वाक्य या विधि में तात्पर्य रखेगा या वस्तु में, दोनों में तो वाक्यभेदभयसे तात्पर्य हो नहीं सकता। इस समस्या के समाधानार्थ वादी ने वेदान्तों को वस्तुपरक भी मान लिया है! विधि को भी वस्तु-परकता का शेष माना है। ऐसा न माने तब वस्तुसिद्धि न होने से प्रसंख्यानविधि से ही हाथ धो बैठना पड़ेगा क्योंकि प्रमा-आवृत्ति मानने के लिये प्रमेयसिद्धि अवश्य बतानी पड़ेगी। यद्यपि अन्यत्र विधि शेषी या प्रधान होती है एवं सिद्धार्थक वाक्य उसके शेष होते हैं तथापि वेदान्त और प्रसंख्यानविधि की उल्टी ही लीला है, अन्यथा दोनों युक्तिसंगत नहीं होते – विधि न मानें तो तत्त्वमादिवाक्य अर्थवाद हो जाये, क्योंकि श्रवण करते ही अपरोक्ष होता नहीं तथा प्रत्यक्षादि भेदविषयक प्रमाणों का विरोध उपस्थित हो जाता है; इसी तरह अद्वैत को शास्त्रप्रमित न मानें तो प्रसंख्यान की विधि संभव नहीं यह बता ही चुके हैं। अतः दोनों की ज़रूरत होने से यही व्यवस्था मान्य है कि वेदान्तों में वस्तुकथन के प्रति विधि शेष है। यदि श्रवणमात्र से अद्वैतसाक्षात्कार

स्वव्यापारमुखेनैव शास्त्रं स्वार्थावबोधकृत्। न तु व्यापारविरहान्नातो द्विकरता श्रुतेः ॥७७४॥
स्वव्यापारतिरोधानं कारकाणां न च स्थितम्। तस्मादैकात्म्यतात्पर्ये प्रसंख्यानादि सुस्थितम् ॥७७५॥
बोधयित्वाऽपि चैकात्म्यं नान्तरा पर्यवस्यति। आ पुमर्थावधेः शास्त्रमप्रामाण्यभयात्स्फुटम् ॥७७६॥

होता तब विधि नहीं मानते लेकिन जब ऐसा होता नहीं और साक्षात्कार इष्ट है तो उसका उपाय स्वीकारना ही पड़ेगा। केवल विधि से साक्षात्कार की संभावना होने पर भी अधिकारिलाभ के लिये मानना पड़ेगा कि अद्वैत की सिद्धि वेदांत से होती है : प्रसंख्यान का फल है साक्षात्कार; उसको जो चाहेगा वही प्रसंख्यानविधि का अधिकारी होगा। उसे चाह तभी सकते हैं जब यह मालूम हो कि साक्षात्कार का विषय सच्चा है। अद्वैतात्मा प्रमाणान्तर से सिद्ध है नहीं, प्रत्यक्षादि से तो विरुद्ध ही लगता है। यदि शास्त्र भी उसे न बताये तो वह सत्य है इस बात की जानकारी के अभाव में उसके साक्षात्कार को कौन चाहेगा? अतः शास्त्र से अवश्य अद्वैत की प्रमिति माननी पड़ेगी। (द्रष्टव्य वार्तिकसार पृ० ३२९)। उस प्रमिति के बाद श्रद्धालु मानता है कि शास्त्र प्रमाण है और आत्मसाक्षात्कारार्थ आवृत्ति का विधान कर रहा है तो अवश्य इससे अपरोक्ष होगा अतः अधिकारी बनकर प्रसंख्यानविधि का पालन कर लेता है। यहाँ विद्यारण्यस्वामी ने क्रम बताया है 'अवान्तरमहावाक्यरूपात् सिद्धावबोधकात्। शास्त्राद् ब्रह्मात्मतामादौ पुरुषः प्रतिपद्यते॥' (वार्तिकसार पृ० ३१७) अर्थात् वास्तविक महावाक्य तो प्रसंख्यानविधि-समेत प्रयोगविधि रूप होगा, उसकी अपेक्षा तत्त्वमस्यादि हैं अवान्तर महावाक्य – हैं अवांतर वाक्य लेकिन महान् अर्थ वाले होने से महावाक्य कहे जाते हैं – उनसे पहले ब्रह्म-जीव का अभेद प्रमित हो जाता है फिर आपरोक्ष्य के लिये प्रसंख्यान का अनुष्ठान हो जाता है। इस श्लोक में कृपालु महाशय ने यह कहा है 'सिद्ध ब्रह्मात्मैक्यबोधक अवान्तर महावाक्य से – तत्त्वमस्यादि वाक्य से – मुमुक्षु पुरुष पहले-पहल सामान्यरूप से ब्रह्मात्मता का अवगम करता है, तदनन्तर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों से प्रथम आत्मैकत्व अवगत होता है। मनन प्रत्यक्षादिविरोधप्रयुक्त असंभावना की निवृत्ति करता है और शब्द, युक्त्यादि द्वारा उक्त निवृत्ति होने से उक्तार्थ में श्रद्धा होती है, तदुपरान्त प्रसंख्यान द्वारा मुक्तिफलक आत्मदर्शन होता है।' इस प्रकार वादी ने वेदांतों से अद्वैतसिद्धि तथा प्रसंख्यानविधि दोनों के लाभ की व्यवस्था बैठायी है ॥७६९-७७३॥

उक्त व्यवस्था से वाक्यभेद भी होता नहीं –

शास्त्र अपने व्यापार द्वारा ही अपने अर्थ का बोध कराता है, व्यापार के बिना नहीं, अतः उक्त व्यवस्था में श्रुति पर यह आपत्ति नहीं आती कि उसे दो प्रधान अर्थों का बोध कराना पड़े ॥७७४॥ यह कहीं नहीं माना जाता कि अपने व्यापार से व्यवहित हुआ कारक कार्यकारी न हो! इसलिये शास्त्रकी अद्वैतपरता रहते हुए भी प्रसंख्यानादि की मान्यता संगत है ॥७७५॥

प्रसंख्यान को शास्त्र का व्यापार मानना चाहिये। बिना प्रसंख्यान से शास्त्र साक्षात्कार करा नहीं पाता और प्रसंख्यान द्वारा करा लेता है अतः साक्षात्कार में करण शास्त्र है व प्रसंख्यान उसका व्यापार। प्रसंख्यान भी विधिद्वारा शास्त्र ही कराता है अतः प्रसंख्यान में शास्त्रजन्यता है एवं शास्त्रकार्य जो साक्षात्कार उसके प्रति जनकता भी प्रसंख्यान में है। न्याय है कि 'स्वांगमव्यवधायकम्'– कुल्हाड़ी व पेड़ कटने के मध्यमें कुल्हाड़ी चलाना व्यापार है, उससे यह नहीं होता कि कुल्हाड़ी पेड़ काटने में असमर्थ हो जाये! बल्कि व्यापार से ही करण कार्य कर पाता है। अतः प्रसंख्यान का व्यवधान होने पर भी शास्त्र को साक्षात्कार का करण मानना ठीक है। इस प्रकार प्रसंख्यान, उसकी विधि और विधि की अभिधाश्रुति के प्रति (– सिद्धार्थक तत्त्वमादि श्रुति के प्रति) शेषता – ये सब उपपन्न हैं ॥७७४-७७५॥

शास्त्र से अद्वैतात्मबोध पाने के बाद प्रसंख्यान का कृत्य वादी बताता है –

जब तक पुरुषार्थलाभ न कराये तब तक शास्त्र की जो स्वारसिक प्रमाणता है वह समर्थनीय नहीं होती। इसलिये अद्वैतात्मा समझा कर भी शास्त्र तब तक व्यापार करता है जब तक मोक्षहेतुभूत साक्षात्कार न हो, बीच में ही रुक नहीं जाता ॥७७६॥

परोक्षवृत्त्या शब्दो हि वदन्स्वार्थं स्वभावतः। संभावयन्प्रमाणत्वं युक्तिं स्वीकृत्य वर्तते ।।७७७।।
याथात्म्यावगमेऽशक्ता धूमोऽग्नाविव साऽपि च। स्वीकृत्यैव प्रसंख्यानं युक्तिर्वस्तुनि वर्तते ।।७७८।।

पूर्वोक्त अभिप्राय ही अब स्पष्ट किया जा रहा है। शास्त्रश्रवण से परोक्ष ही ज्ञान होता है और उतने से फ़ायदा कुछ नहीं। बेकार की जानकरी दे तो शास्त्र प्रमाण न रहे। अतः शास्त्र प्रमाण बना रहने के लिये कारगर ज्ञान की उत्पत्ति में करण बनता है। इस प्रयास में वह पहले अद्वैतात्मा का परोक्ष ज्ञान कराता है, फिर उसकी आवृत्ति कराता है (आवृत्ति विधितः होने से उसे शास्त्र ही करा रहा है) और जब अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाये तब शास्त्र चैन ले पाता है! ।।७७६।।

श्लोक ७६१ में 'मननध्यानलक्षणः' उपाय कहा था। प्रश्न है कि ध्यान या आवृत्ति के नियोग की सहायता से शास्त्र साक्षात्कार पैदा कर दे तो युक्तिचिंतन की परेशानी किस लिये? वादी उत्तर देता है –

स्वभाव से ही शब्द अपने अर्थ का कथन परोक्ष ढंग से करता है, अपने अर्थ का अपरोक्षज्ञान नहीं करा पाता। शास्त्र यह भी संभावना कराता है कि वह प्रमाण है। ये दोनों काम करते हुए युक्ति की सहायता लेकर शास्त्रीय वाक्य अद्वैतात्मवस्तु का साक्षात्कार करा देते हैं ।।७७७।।

शब्द का स्वभाव है ऐसे परोक्ष अर्थ का बोध कराना जो इतरान्वित हो, यह स्वर्गकामादि वाक्यों में स्पष्ट है। अतः तत्त्वमस्यादि भी परोक्षतः ही अद्वैतात्मा को उपस्थित करते हैं। शास्त्र यह भी संभावना कराता है कि अपौरुषेय होने से वह निर्दोष होने के कारण प्रमाण है। तात्पर्य है कि शास्त्र में उसके रचयिता का नाम कहा नहीं है बल्कि जो कुछ कहा है उसका अभिप्राय है कि शास्त्र हमेशा एक-सा है, कभी-कभी प्रकट हो जाता है। शब्द ग़लत ज्ञान कराये यह तभी होता है जब उसके उच्चारण का कर्ता अनाप्त हो और जान-बूझकर बोले। जब शास्त्र का ऐसा कोई वक्ता नहीं तब वह अवश्य प्रमाण है यह संभावना होती है। अतएव अद्वैत में बहुतेरे विरोध दीखने पर भी कोशिश की जाती है उनके परिहार की, क्योंकि प्रामाणिकता के लिये प्रमाणान्तर-अविरोध भी ज़रूरी है। यह युक्ति-चिंतन है। यह भी शास्त्रका सहायक बन जाता है क्योंकि इसके अभाव में शास्त्र द्वारा पारोक्ष्येण बोधित अद्वैत, प्रत्यक्ष उपलब्ध द्वैत-प्रमाणों के विरोध का सामना न कर सकेगा एवं शास्त्रकी अद्वैतविषयक प्रमाणता समाप्त हो जायेगी, वह अर्थवादमात्र बचेगा। इसलिये ध्यानविधि की तरह युक्ति भी शास्त्र की आवश्यकता पूरी करती है अतः वह भी प्रमाण का ही अंग है। प्रसंख्यान व्यापारस्थानीय है, युक्तिचिंतन अंगरूप है यह अंतर है। अतएव युक्तियों में मन्ता को काफी स्वातंत्र्य है। जैसे धान कैसा लाया जाये इसमें स्वातंत्र्य बहुत है, उसका वह्नि में प्रक्षेप तो सभी को एक जैसा करना पड़ेगा; ऐसे ही भावना तो एकसी करनी पड़ेगी लेकिन युक्ति अपनी-अपनी शंकाओं के अनुरूप सोची जायेगी। युक्ति अंग है अतः यह प्रश्न नहीं उठता कि शास्त्र पर सापेक्षता का लांछन क्यों? अंग की अपेक्षा तो सर्वत्र मानी जाती है। अतएव सिद्धांती भी मानता है 'बृंहिणीमन्तरेण स्वार्थे युक्तिं वेदवाक्यं न पुष्टम्' (सं०शा० १.५५९)।

न्यायकल्पलतिकाकार ने इस श्लोक का यह अवतार माना है : शब्द परोक्षज्ञान-हेतु होता है, 'आपुमर्थावधेः शास्त्रं पर्यवस्यति' (७७६) से कह दिया कि शास्त्र साक्षात्कारपर्यंत व्यापार करता है; यह स्वभावविरुद्ध बात अयुक्त है। इस आक्षेपका परिहार श्लोक में किया : यद्यपि शब्द परोक्षधी का जनक है तथापि असंभावना का निरास करने वाली युक्ति को अंग बनाकर भावना द्वारा वह अपरोक्ष भी उत्पन्न कर देता है। विद्यासागर का तात्पर्य है कि जैसे दही रोगकारी है लेकिन उसमें गुड मिला लें तो स्वास्थ्यवर्धक हो जाता है ऐसे ही युक्ति-भावना की सहायता से शब्द भी अपरोक्ष ज्ञान पैदा कर देता है ।।७७७।।

लेकिन युक्ति व शब्द दो से ही काम नहीं चलता, भावना ज़रूरी है –

युक्ति भी आत्मा की वास्तविकता का साक्षात्कार नहीं कर सकती जैसे धूम वह्नि का प्रत्यक्ष नहीं करा पाता। अतः युक्ति प्रसंख्यान को सहकारी बनाकर वस्तुप्रत्यक्ष का हेतु बनती है ।।७७८।।

इत्यादिवर्त्मना शास्त्रं साक्षाद्वस्तु प्रसाधयेत्। विधिं प्रति प्रधानत्वं स्वीकृत्याभ्येति मानताम् ॥७७९॥
संसर्गकल्पनाशून्यमप्यैकात्म्यं प्रबोधयेत्। अनयैव दिशा शास्त्रं संसृष्टार्थाभिधाय्यपि ॥७८०॥

धूम-लिंग से वह्नि का ज्ञान तो होता है लेकिन प्रत्यक्ष नहीं। अतः युक्ति भी परोक्षज्ञान में ही समर्थ है। चाहे उसे शास्त्रका सहारा मिले फिर भी वह अपरोक्ष नहीं करा पाती क्योंकि लोक में भी धूम दीखे और पास खड़ा आप्त जन कह भी दे 'पहाड़ी जंगल में आग लगी है', फिर भी आग का परोक्षज्ञान ही होता है, साक्षात्कार नहीं। अतः केवल शास्त्र तथा युक्तिसहकृत शास्त्र साक्षात्कार नहीं करा पाता, भावना की आवश्यकता है।

लतिका में श्लोकार्थ बताया है कि केवल युक्ति अपरोक्षहेतु न बन सकने से शास्त्र व प्रसंख्यान को स्वीकार कर ही आत्मानुभव के लिये व्यापृत होती है। यद्यपि ऐसा कोई प्रसिद्ध मत नहीं है जो युक्ति की स्वतंत्र साधनता माने अतः विद्यासागर का भी अभिप्राय शास्त्रप्रकाशिकानुसारी ही समझना चाहिये कि स्वतंत्र युक्ति और स्वतंत्र शब्द दोनों परोक्षहेतु हैं अतः संभूय भी परोक्षहेतु रहेंगे; तथापि माना जा सकता है कि यदि कोई यह कहे कि युक्तिमात्र के सहारे आत्मानुभव हो जायेगा, वेद व साधनांतर नहीं चाहिये, तो यह उत्तर हो जाता है कि युक्ति से परोक्ष ही ज्ञान होगा जो अपरोक्ष भ्रम नहीं हटायेगा। नैयायिक, सांख्यादि वस्तुतः स्वतंत्र युक्तिवादी ही हैं यह ब्रह्मसूत्रादि में सुव्यक्त है अतः उनका परिहार समझना चाहिये ॥७७८॥

शास्त्रको जैसे प्रसंख्यान और युक्ति चाहिये वैसे आत्मा अर्थात् प्रमाता भी चाहिये क्योंकि शास्त्रप्रमाण चार हिस्सों वाला है। विद्यारण्य स्वामी ने वार्तिकसार में (पृ० ३१९-२०) ये पाद स्पष्ट किये हैं 'प्रमाता, मापकः शब्दो, युक्तिः, आवृत्तिरित्यमी। चत्वारोऽमी प्रमाणस्य पादा ऐकात्म्यदर्शकाः ॥ प्रत्येकं प्रमितेर्वृद्धिः पादैरेतैः क्रमाद् भवेत्। वृद्धेर्विश्रामभूमिर्या सा साक्षात्कृतिरीर्यते ॥ संभूय पादाः सर्वेऽपि ह्यैकात्म्यं बोधयन्त्यमी। तैलवर्त्यग्नयो यद्वत् दीपं संभूय कुर्वते ॥' अर्थात् जैसे तेल, बत्ती, आग – तीनों से दीपक तैयार होता है ऐसे साक्षात्काररूप आत्मज्ञान में मुमुक्षु प्रमाता, शब्द, युक्ति और भावना – ये चार हेतु बनते हैं। प्रमाता तो साधारण हेतु है क्योंकि वही नहीं होगा तो साक्षात्कार होगा किसे! किं च अधिकारी की योग्यता से ही साक्षात्कार संभव है, अयोग्य प्रमाता को भी आत्मानुभव होगा नहीं। अतः प्रमाता से अधिकारी समझना चाहिये। जितना-जितना अधिकार बढेगा, विवेकादि परिपुष्ट होंगे, उतना-उतना साक्षात्कार भी स्पष्ट और स्थायी होगा। दूसरा हेतु है शब्द क्योंकि प्रमाण वही है। शब्द को प्रसंख्यान व युक्ति चाहिये यह बता ही चुके हैं। इस तरह चारों अंशों से आत्मसाक्षात्कार होता है। प्रमाता की ज़रूरत प्रसिद्ध है। अन्य तीन कारणों को भगवान् भाष्यकार ने 'लिंगाच्च' (४.१.२) सूत्र में शंकाप्रसंग में रखा है। इस अभिप्राय से वादी निगमन करता है –

युक्ति, प्रसंख्यान और आत्मा – इन तीन सहायकों समेत शास्त्र आत्मवस्तु का साक्षात्कार कराते हुए प्रसंख्यानविधि के प्रति प्रधानता ग्रहण कर चारों अंगों वाला प्रमाण बन जाता है ॥७७९॥

विधि की अपेक्षा वस्तुबोधि वाक्य का प्राधान्य श्लोक ७७० आदि में बता चुके हैं ॥७७९॥

शंका होती है कि सहकारिवशात् भी स्वभाव में परिवर्तन नहीं आता; यदि शब्द परोक्षज्ञान को उत्पन्न करने के स्वभाव वाला है तो प्रसंख्यान के सहारे भी वह अपरोक्ष ज्ञान कैसे पैदा करेगा? समाधान है –

शब्दस्वभाव के अनुरोध से संसृष्ट व परोक्ष अर्थ का ही उपस्थापन करने वाला शास्त्र भी विशिष्ट सहकारी के सम्बंध से उस आत्मतत्त्व का अपरोक्ष करा देता है जो संसर्ग की कल्पना से भी रहित है ॥७८०॥

प्रसंख्यान की सहायता यह चमत्कार कर देती है कि शब्द अपना स्वभाव बदल देता है। अकेले और गुडमिश्रित दधि का फ़लभेद बता चुके हैं, उसी तरह केवल और प्रसंख्यानसहित शास्त्रका भी फलभेद संगत है।

इतना ही नहीं, शब्द स्वभाववश तो इतरसम्बंद्ध वस्तु का ही ज्ञान कराता है यह विस्तार से सिद्ध किया था व

यतो वाचो निवर्तन्त इति श्रुत्यैव दर्शितम्। व्यपास्ताशेषसंसर्गकल्पनं ब्रह्म निर्भयम् ॥७८१॥

शाबरवाक्य से प्रमाणित भी किया था (श्लो० ६११)। अद्वैत आत्मा सम्बंधरहित है। उसका ज्ञान शब्द कराता ही है। जैसे यह स्वभावपरिवर्तन है ऐसे ही परोक्ष की जगह अपरोक्ष भी करा देगा यह मानना उपपन्न है। संसृष्टबोधकता के परित्याग में कौन सहायक है? प्रसंख्यान को सहायक मान सकते हैं। वस्तुतस्तु इसमें सहायक है युक्ति। वार्तिकसार में यही श्लोक है लेकिन तृतीय पाद है 'अतद्व्यावृत्तितः' (पृ० ३२२)। उसे यहाँ के 'अनया दिशा' की व्याख्या मान सकते हैं। अस्थूलादि वचनों का विचार कर पता चलता है कि शास्त्र आत्मा का संसृष्ट वस्तु के रूप में ज्ञान कराये तो अप्रमाण होगा अतः 'अतद् की, अब्रह्मकी, व्यावृत्ति से – निषेध से शास्त्र ब्रह्म का कथन कर रहा है' यह युक्ति से समझना पड़ता है। यद्यपि अपोह शब्दार्थ नहीं तथापि अर्थसिद्ध है। जैसे चूहों को मज़े से खेलता देख पता चल जाता है कि यहाँ बिल्ली नहीं है ऐसे सत्यतादि की जानकारी से असत्यतादि का न होना समझ आ जाता है। तैत्तिरीय वार्तिक में 'सत्यं ज्ञानम्' आदि की व्याख्या में एवं तत्त्वप्रदीपिका में (पृ० १९५-९८) यह विषय देखना चाहिये। यह युक्ति ही है कि शास्त्रप्रामाण्य की सुरक्षा के लिये शब्द को यों अपोह में तात्पर्य वाला बनाना। जिस तरह संसृष्टबोधक होने पर भी अस्थूलादिवचनों से एकवाक्यता रखने के लिये शब्द असंसृष्ट का ज्ञान कराता है ऐसे परोक्षजनक होने पर भी वह अपरोक्ष ज्ञान कराता है।

वादी का भाव है कि सिद्धांती भी महावाक्यादि को असंसृष्टार्थक मानता है अतः इस स्वभावपरिवर्तन के दृष्टांत से वह अपरोक्षोत्पादकता रूप स्वभावपरिवर्तन सिद्ध कर सहायकरूप से प्रसंख्यान के लिये स्थान बना लेगा। किन्तु सिद्धांती न तो शब्दको परोक्षज्ञापकस्वभाव वाला मानता है और न संसृष्टबोधकस्वभाव वाला। पद भले ही योग्येतरान्वित का वाचक है लेकिन वाक्यार्थ अखण्ड भी लोकसिद्ध है यह लक्षणवाक्यों में, 'वही यह देवदत्त है' आदि वाक्यों में, प्रकृष्ट प्रकाश आदि वाक्यों में देखा गया है। अतः सिद्धांत में दृष्टांत भी असिद्ध है क्योंकि किसी सहकारी के कारण वहाँ स्वभावविपर्यय नहीं ॥७८०॥

अद्वैत आत्मतत्त्व संसर्ग की कल्पना से वर्जित है इसे वादी प्रमाणित करता है –

'जिससे वचन निवृत्त हो जाते हैं' इस श्रुति से ही बता दिया गया है कि अभयरूप ब्रह्म में किसी भी संसर्ग की कल्पना नहीं है ॥७८१॥

तैत्तिरीय में (२.९) बताया है कि शब्द परमात्मा को बताये बिना मानो लौट आते हैं, कहने की कोशिश करते हैं पर समर्थ नहीं हो पाते। शब्द से अर्थ विषय तभी हो जब इनका आपसी संबंध हो और वह तभी हो जब अर्थ का योग्येतर से सम्बंध हो। शब्द की अर्थ को कहने में असमर्थता से पता चलता है कि शब्द का आत्मा से सम्बंध नहीं। वह भी क्यों नहीं? तो यह मानना पड़ता है कि आत्मा का इतरान्वय न होने से इतरान्वित से ही संबंध रखने वाला शब्द आत्मा से सम्बद्ध नहीं हो पाता। किं च सभी प्रमेय वाच्य माने जाते हैं। आत्मा को प्रकृत श्रुति अवाच्य कह रही है। जब शब्दसंसर्ग भी आत्मा से नहीं तो अन्य संसर्ग न होना कैमुतिकसिद्ध है। आत्मा अप्रमेय तो मान नहीं सकते क्योंकि तब 'पश्येत्' यह विधि संगत न होगी। अतः 'यतो वाचः' का अभिप्राय सभी संसर्गों के निषेध में ही निश्चित होता है। जैसे ब्रह्म में कोई संसर्ग नहीं ऐसे ही परोक्षता भी नहीं यह भी समझ लेना चाहिये। परोक्ष ज्ञान संसर्गसापेक्ष ही होता है अतः संसर्गनिषेध से वह निषिद्ध ही है, फिर भी स्पष्टतार्थ उसे उपलक्षणया समझ लेना चाहिये ऐसा कहते हैं। बिना संसर्ग के तो केवल अपरोक्ष आत्मा भासता है। परोक्ष ज्ञान शब्दादि से होगा अतः संसर्ग की ज़रूरत रखेगा ही। 'अभयरूप' कहकर याद दिलाया कि इस ब्रह्म का स्वात्मतया अपरोक्ष पुरुषार्थ है, अभिलाषा के योग्य है ॥७८१॥

यदि इस श्रुति से आत्मा की वास्तविकता कही जा रही है तो यह श्रुति ही उसकी जानकारी करा देगी, अतः विधि के बिना भी जिसे श्रुति से आत्मा समझ आ गया वह मुक्त हो जायेगा; तब आत्मवस्तु को प्रसंख्यानविधि से सम्बद्ध क्यों मानना? वादी उत्तर देता है –

शास्त्रेणानभिधाने तु नियोगेऽपि न युज्यते। प्रवेशो विषयत्वेन तुल्यं चोद्यमतो द्वयोः ॥७८२॥
विधिं विना श्रुतैकात्म्यस्तदर्थानुभवादृते। उपायाङ्गतया कुर्यात्तच्छास्त्रस्यार्थवादताम् ॥७८३॥
विधिनिष्ठेऽपि शास्त्रे स्यादसिद्धेर्वस्तुनो मितेः। देवताध्यानवत्कल्प्यं फलमैकात्म्यवेदनम् ॥७८४॥

जैसे आपने कहा कि शास्त्र आत्मयाथाम्य कहे तो विधिसम्बंध व्यर्थ है ऐसे ही कह सकते हैं कि शास्त्र यदि आत्मयाथात्म्य न कहे तो भी विषयरूप से आत्मा का नियोग से सम्बंध असंगत है। अतः शास्त्र आत्मा को कहे या न कहे, प्रश्न एक-सा बना रहता है। ॥७८२॥ यह कह नहीं सकते कि आत्मा का विधिसम्बन्ध न हो; क्योंकि अद्वैत आत्मा का जो श्रवण कर चुकता है उसे भी साक्षात्कार तो होता नहीं, यदि प्रसंख्यानविधि नहीं होगी तो उसे साक्षात्कार का कोई उपाय पता नहीं चलेगा, ऐसे में वह शास्त्र को अर्थवाद मान बैठेगा! अतः प्रसंख्यानविधि आवश्यक है ॥७८३॥

[आनंदगिरिटीका में पृ० १४८ पं० १७ 'वस्तुनोऽभिधाने' छपा है। 'वस्तुनोऽनभिधाने' पाठ मानना चाहिये।]

नियोग का विषय है आवृत्तिरूप धात्वर्थ। आवृत्ति जिसकी करनी है वह है ज्ञान और उसका विषय है आत्मा। इस तरह आत्मा भी नियोग का विषय बन जाता है। शास्त्र आत्मा को न बताये तो निर्विषय ज्ञान न होने से आवृत्ति किसकी करेंगे? अतः विधिवाद में भी आत्मा का उपस्थापन शास्त्र से मान्य है। सिद्धांती ने शंका की थी कि शास्त्र से आत्मज्ञान मानो तो विधिप्रवेश न हो। पूर्वपक्षी ने अपनी समस्या रखी कि यदि शास्त्र से आत्मज्ञान न मानें तब भी विधिप्रवेश नहीं होगा। किसी करुणावान् ने कहा 'तो रहने दो विधिप्रवेश, शास्त्र से ही सफल ज्ञान मान लो।' इस पर वादी ने बताया कि अपरोक्षज्ञान के लिये प्रसंख्यान ज़रूरी होने से उसकी विधि तो माननी ही है। अन्यथा अधिकारी को मानना पड़ेगा कि द्वैतनिषेध तथा अद्वैतशास्त्र गुणवाद ही हैं क्योंकि बिना अपरोक्ष के द्वैतबाध होगा नहीं एवं मोक्षलाभ भी नहीं होगा। अतः शास्त्र से आपाततः ज्ञात आत्मा का विधिसंबंध है। जो ज्ञान संशयादि न हटा पाये वह 'आपात ज्ञान' कहा जाता है, उसका अज्ञान से विरोध नहीं। अतः आत्मा की प्रधानता इसलिये है कि साक्षात्कृत आत्मा का विधिप्रवेश नहीं और नियोग को विषयलाभ इसलिये है कि आपाततः या परोक्षतः ज्ञात आत्मा से उसका निर्वाह हो जाता है।

विद्यासागर के अनुसार प्रसंख्यान व अभिधाश्रुति की अनुपपत्ति तुल्य होने से अभिधाप्राधान्य और तच्छेष प्रसंख्यान-विधि, दोनों की वर्णित मान्यता यथावत् है यह वार्तिकार्थ है : श्लोक ७७९ में अभिधाश्रुति अर्थात् वास्तुबोधक वाक्य को प्रसंख्यानविधि की अपेक्षा प्रधान कहा था, किन्तु यदि प्रसंख्यान से ही अनुभव सिद्ध होना है तो वह प्रधानता अनुचित है, प्रसंख्यान ही प्रधान होना चाहिये और इसलिये विधि की प्रधानता माननी चाहिये। इस आपत्ति का सामना करने के लिये वादी ने श्लोक ७८२ में कहा कि अभिधाश्रुति की अप्रधानता होने पर नियोग संपन्न नहीं होगा क्योंकि नियोग के विषयभूत प्रसंख्यान के विशेषणरूप ज्ञान के विषय की – अद्वैतात्मा की – प्रमिति संभव नहीं रहेगी। अतः जैसे प्रसंख्यान के बिना अभिधा-शास्त्र अनुपपन्न है क्योंकि साक्षात्कार नहीं करा पाता, ऐसे प्रसंख्यान भी अभिधाशास्त्र के बिना उपपन्न नहीं है। अभिधावचन आत्मज्ञान भले ही करा ले, अपरोक्ष तो विधिप्रेरित प्रसंख्यान से ही करा पायेगा। अतः अभिधाशास्त्र की प्रसंख्यान-सापेक्षता मान्य है। फिर भी अभिधान की प्रधानता है यह श्लोक ७७० में कह चुके हैं जो अगले श्लोक में स्पष्ट कर रहे हैं।

तात्पर्यतः दोनों व्याख्यान समान हैं, केवल 'द्वयोस्तुल्यं चोद्यम्' में किन दो का ग्रहण करें इसमें विकल्प है। श्लोक ७८३ में द्वितीय पाद का संभवतः लतिकापाठ है 'तदर्थावगमादृते' ॥७८२-८३॥

फल विधि के अधीन है तो वही प्रधान होनी चाहिये, वस्तुबोधक श्रुति का उसे शेष क्यों मानें? श्लोक ७७० में कहे उत्तर का स्पष्टीकरण वादी करता है –

यदि शास्त्रतात्पर्य विधि में हो तो अद्वैतवस्तु की प्रमा सिद्ध न हो सकने से एकात्मताज्ञान को विधि का फल वैसे ही मानना पड़ेगा जैसे देवताध्यान से देवताभाव की प्राप्ति को फल माना जाता है ॥७८४॥

प्रतिपन्नात्मयाथात्म्यः प्रसंख्यानादि नेक्षते। अज्ञस्तु श्रावितोऽप्यस्माद्विना नाऽऽप्नोति तत्फलम् ॥७८५॥
शास्त्रेऽस्मिन्वस्तुनिष्ठेऽपि प्रसंख्यानविधिं विना। पुमर्थो लभ्यते नैवेत्यसावपि समाश्रितः ॥७८६॥

विधिका शेष होने पर अभिधाशास्त्र अर्थवाद होगा तथा प्रत्यक्षादि से विरुद्ध अद्वैतका कथन गुणवाद ही बन जायेगा, अद्वैतात्मा की प्रमिति का उपाय नहीं। यदि प्रमाणान्तरविरोध न होता तब तो भूतार्थवाद भी हो सकता था, लेकिन प्रकृत में वह संभव नहीं अतः अद्वैतप्रमिति दुर्लभ होगी। तब प्रसंख्यान का फल आत्मसाक्षात्कार मानना पड़ेगा जैसे देवता की उपासना का फल मानते हैं देवतारूप हो जाना। 'देव होकर देवों को प्राप्त करता है' (बृ० ४.१.२) यह श्रुति होने से देवोपसना का देवभाव फल मान्य है। ऐसे ही यहाँ मानना पड़ता। वह संभव नहीं : देवभाव की प्राप्ति 'प्राप्ति'-रूप क्रियाफल है अतः तत्क्रतुन्याय से (बृ० ४.४.५) उसमें देवताध्यान की ही प्रधानता है जिससे विधिप्राधान्य उपपन्न है। किन्तु प्रकृत में फल है वस्तुसाक्षात्कार। प्रसंख्यान तो कोई प्रमाण है नहीं कि उसे वस्तुज्ञान का हेतु माना जा सके। भले ही विधि को इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानना पड़े कि फलोपाय का वही विधान करती है, लेकिन वस्तुज्ञानरूप जो फल है उसका संपादक होने से वस्तुविषयक अभिधाशास्त्र ही प्रधान हो जाता है। इसलिये फल विधि के सहारे मानने पर भी प्रधानता वस्तुशास्त्र की है और उसकी शेष विधि बन जाती है। अतएव अभिधाश्रुति अर्थवाद नहीं है।

सारकार ने देवताध्यान के फल की समानता मानी है भावि जन्म में उपलब्धि, 'देवताध्यानवद्भाविजन्मन्येतत् फलं भवेत्' (पृ० ३२९)। अर्थात् जन्मप्रवाह से छूटना रूप मोक्ष संभव नहीं होगा ॥७८४॥

तत्त्वसाक्षात्कार के बाद प्रसंख्यान नहीं चाहिये –

प्रसंख्यानादि से जिसने आत्माकी वास्तविकता का साक्षात्कार कर लिया उसे प्रसंख्यानादि की अपेक्षा नहीं रह जाती। जिसे साक्षात्कार नहीं हुआ है उसे आत्मश्रवण करा दें तो भी प्रसंख्यान किये बिना श्रवणफलभूत साक्षात्कार नहीं पा सकता अतः उसे प्रसंख्यान की अपेक्षा होती है ॥७८५॥

श्वेतकेतु को नौ बार उपदेश दिया गया, यही इसमें लिंग है कि आत्मा का शास्त्र से श्रवण कर लेने मात्र से उसका साक्षात्कार नहीं होता। अतः अपरोक्ष ज्ञान होने तक प्रसंख्यान करना ज़रूरी है।

तात्पर्य है कि प्रसंख्यानविधि दृष्टफलक है। श्लोक ७६८ में अतः कालान्तरभाविफलता के लिये चित्रातुल्यता कही थी, जन्मान्तरभाविफलता के लिये नहीं, यद्यपि 'एकेन द्वाभ्यां त्रिभिः' (श्वे० ६.३) 'बहूनां जन्मनामन्ते' 'अनेकजन्मसंसिद्धः' (गी० ७.१९; ६.४५) आदि से क्वचित् वह भी मान लें। इसलिये यावज्जीवादि विधियों की तरह प्रसंख्यान हमेशा करते रहना पड़े ऐसा नहीं, साक्षात्कार पाकर इसे छोड़ना स्वाभाविक है। अतः इस श्लोक का रूपान्तरण लौकिक दृष्टांत से किया गया है 'साक्षात्कृतात्मयाथात्म्यः प्रसङ्ख्यानं न वीक्षते। नदीमुत्तीर्य नो कश्चित्रावं कुत्राप्यपेक्षते ॥' (वार्तिकसार पृ० ३२०) ॥७८५॥

अभिधाप्राधान्य होने पर भी प्रसंख्यान की आवश्यकता है –

आत्मवस्तु में तात्पर्य वाले इस उपनिषत्-शास्त्र में भी विधि का सहारा लेना पड़ता है क्योंकि प्रसंख्यान के बिना पुरुषार्थप्राप्ति नहीं होती ॥७८६॥

विधि न मानें तो शास्त्र सफलज्ञान न उत्पन्न कर पायेगा अतः विधि मानते हैं। यद्यपि प्रसंख्यान लोकसिद्ध है अतः बिना विधि के भी उसका अनुष्ठान संभव है तथापि विधि न होने पर शास्त्र तो सफल ज्ञान का उपाय नहीं ही रहेगा और लौकिक होने से प्रत्येक प्रमाता वह करे यह नियम भी किया नहीं जा सकेगा। हर साक्षात्कार तो प्रसंख्यानसापेक्ष होता नहीं कि योग्यतावश ही सब उसका अनुष्ठान करें। अतः शास्त्र में सफलज्ञानजनकता रूप प्रमाणता के लिये शास्त्र में ही प्रसंख्यानविधि मानना अनिवार्य है ॥७८६॥

नान्वयव्यतिरेकाभ्यामैकात्म्यानुभवो भवेत्। तत्सिद्धावेव तौ स्यातां स च ताभ्यामिति श्रयः ॥७८७॥
यथैव विश्वजिद्यागपदे स्वार्थानुपालनम्। कुर्वती स्वर्गकामेन गच्छतः सह मानताम् ॥७८८॥
तथैव शास्त्रतद्युक्ती स्वाभिधेयार्थपालनम्। कुर्वत्यौ मानतां यातः प्रसंख्यानेन नान्यथा ॥७८९॥

श्लोक ७७८ के अर्थ को भी वादी स्पष्ट कर देता है –

अद्वैत आत्मा का अपरोक्षानुभव अन्वय-व्यतिरेक से अर्थात् विवेकादियुक्तियों से नहीं हो सकता क्योंकि वैसा मानने पर अन्योन्याश्रय होगा : अन्वय-व्यतिरेक तभी संभव है जब वस्तु-साक्षात्कार हो चुके, यदि साक्षात्कार ही उनसे होना है तो परस्पराश्रय स्पष्ट है ॥७८७॥

दृग्दृश्यका, साक्षि-साक्ष्य का, आगमापायि-तदवधि का (= अनित्य-नित्य का), दु:खि-परमप्रेमास्पद का, तथा अनुवृत्त-व्यावृत्त का अन्वय-व्यतिरेक बिंदुकार ने (पृ० १६८) बताया है जिसका स्पष्टीकरण रत्नावली में दर्शनीय है। किन्तु शास्त्र को छोड़कर स्वतंत्र युक्ति से ये विचार किये जायें तो आत्मज्ञान नहीं करा सकते यह निश्चित है। आचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में (३.३४) सावधान कर दिया है कि मूढतावश श्रुतिका अनादर करने से नैरात्म्यवादी बनना सहज हो जाता है। कारण यहाँ वार्तिक में स्पष्ट है : आत्मा की सही जानकारी हो तभी ये विचार आत्मसिद्धि के अनुकूल हो सकते हैं। जिसे सोने का रंग सही पता नहीं वह किसी आभरण को चाहे जितनी कसौटियों पर कसे, यह नहीं जान पायेगा कि उसमें कितना सोना है। जिन्हें विविक्त करना है उनकी जानकारी तो पूर्वापेक्षित है। चणे की व अरहर की दालों को जो नहीं जानता उसे यदि इनकी मिली हुई ढेरी को बीनने में लगायें तो क्या फल होगा! अत: आत्मा की जानकारी इन युक्तियों से प्राप्त नहीं होती। शास्त्र से प्राप्त होने पर सफाई ज़रूर इनसे होती है। जो शास्त्र पर श्रद्धा न रखे वह भी शास्त्रकथन को एक संभावना का उपस्थापक तो मान ही सकता है। उस संभावित तत्त्व का फिर युक्ति से चिन्तन करे तो भी संभव है कि आत्मज्ञान पा सके। यहाँ शास्त्र से गुरु तथा आचार्यों के ग्रंथांतर भी समझ लेने चाहिये। शब्दरूप प्रमाण से – प्रमाणत्वेन संभाव्यमान से – ज्ञात आत्मा को युक्ति से विषय करना चाहिये। यद्यपि दृश्य वस्तुओं का ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक से होना प्रतीत होता है तथापि वहाँ अपरोक्ष तो इंद्रियों से ही होता है। चाहे उपकरणों की सहायता लें, लेकिन जब तक इंद्रियों से अपरोक्ष नहीं हो जाता तब तक तर्क से केवल परोक्ष ज्ञान ही होता है और वस्तुत: संभावना ही होती है। आत्मा ऐंद्रिय है नहीं अत: इसका अपरोक्ष प्रसंख्यान से होगा यह 'पश्येत्' विधि के प्रामाण्य से मानना चाहिये यह वादी का कथन है। तर्क से अपरोक्ष नहीं होता इतना ही नहीं, आत्मविषयक तो परोक्ष प्रमिति भी नहीं होती यह जानना चाहिये ॥७८७॥

सोदाहरण बताते है कि प्रसंख्यानसापेक्ष होकर शास्त्र व युक्ति तत्त्व का अनुभव कराते हैं:

जैसे 'विश्वजित्' और 'याग' ये दोनों पद कर्मरूप निजार्थ का बोध कराते हुए ही 'स्वर्गकाम'-पद से सम्बद्ध होते हुए नियोग के बारे में प्रमाण बनते हैं, ऐसे ही शास्त्र और तदनुसारिणी युक्ति ये दोनों भी अपने प्रतिपाद्य अर्थ का बोध कराते हुए प्रसंख्यान से सहकृत होकर प्रमाण बनते हैं, उसके बिना नहीं ॥७८८-७८९॥

'विश्वजिता यजेत' विधि में विश्वजित्-शब्द कर्म का नाम है और 'यजेत' में धातुभाग भी उसी कर्म को कह रहा है अत: दोनों पद कर्म के बोधक हैं फिर भी प्रत्ययार्थरूप नियोग की प्रमिति इन पदों से तभी हो सकती है जब 'स्वर्गकाम' यह अधिकारी अध्याहार से समझा जाये – यह दृष्टान्त है। दार्ष्टान्त में शास्त्र व युक्ति आत्मा का कथन करते हैं पर उसकी साक्षात्काररूप प्रमिति इनसे तभी हो जब प्रसंख्यान विधिसे ये मिलें। आत्मवस्तु के बारे में शास्त्र व युक्ति प्रमाण हो ही तब सकते हैं जब प्रसंख्यानविधिसे ये ताल-मेल बैठा लें। यदि ऐसा न किया तो अपने स्वभावसे ये दोनों ही आत्माका परोक्ष ज्ञान कराकर अपरोक्ष ज्ञान के उपाय की आकांक्षा वाले बने रहेंगे और साकांक्ष प्रमाण नहीं होता यह स्वीकारा जाता है। अत: वस्तुबोधक वाक्य को शेषरूप से प्रसंख्यान विधि से सम्बंध रखना उचित है।

एवमैकात्म्यतात्पर्ये शास्त्रस्येष्टेऽपि युक्तिभिः। केचित्कार्यमपीच्छन्ति तदर्थं तन्न युज्यते ॥७९०॥

दृष्टान्त का स्पष्टीकरण यह है : 'विश्वजिता यजेत' में विश्वजित्शब्द से क्या विश्वजित् कहलाने वाले गुण का विधान है या विश्वजित् कर्म का ही नाम है? यह संशय प्रथमाध्याय के चतुर्थपाद के आरंभ में उठा है। पूर्वपक्ष है – कर्म का विधान हो तो 'विश्वजित्' यह गुणबोधक पद व्यर्थ होगा अतः गुणविधि माननी चाहिये। गुण का विधान मान लेने से कर्मबोधक पद (याग) सार्थक हो जाता है क्योंकि गुण को आश्रयविशेष की अपेक्षा रहती है जिसे कर्मपद उपस्थित कर देता है। विश्वजित् से नियोग उत्पन्न करने के लिये विश्वजित्–गुण वाले पदार्थ की आकांक्षा रहती है जो 'यजेत' में आये धातु से पूरी हो जाती है क्योंकि यह पता चल जाता है कि विश्वजित्–गुण वाले याग को नियोग का विषय कहा गया है। इस तरह कर्मविधि मानने पर गुणश्रुति व्यर्थ होने से गुण व कर्म दोनों श्रुतियों की सार्थकता के लाभ से गुणविधि मान लेना संगत है। लेकिन तब प्रश्न रह जाता है कि 'विश्वजिता यजेत' तो गुणका ही विधायक है, कर्म का विधायक कौन? अन्य विधि मिलती नहीं तो 'विश्वजिता यजेत' यह साकांक्ष होने से अप्रमाण है। सिद्धान्त है – विधि का विषय भावार्थ या क्रिया होती है अतः कर्मविधि की प्रतीति तो विधि सुनते ही हो जाती है। इसलिये 'विश्वजिता यजेत' भी कर्मविधि ही है, गुणविधि नहीं। 'विश्वजित्'-शब्द तो उसी कर्म का नाम है। अतः यह वाक्य पूरा है, निराकांक्ष है, प्रमाण है।

पुनश्च विचारणीय है कि यह विधि बिना अधिकार के सुनी गयी है, इसका अधिकारी कौन है अर्थात् 'मेरा यह कार्य है' ऐसा कौन समझेगा? यह तो बता ही चुके हैं (श्लो० ५२३) कि नियोज्यान्वय के बाद अधिकारान्वय होता है और तब कर्त्रन्वय होता है। अतः प्रश्न है कि क्या विश्वजिद्वाक्यमें नियोज्य का अध्याहार करें या नहीं? सीधे ही अधिकारीका उल्लेख होगा नहीं अतः नियोज्य को उपस्थित कर उसे ही अधिकारी बता सकते हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि कार्यपद को इतरान्वित कार्य–अर्थ का बोध कराना है और धात्वर्थरूप विषय यहाँ उपस्थित ही है, उसीसे अन्वित कार्य–अर्थ का बोध हो जाने से अध्याहार की ज़रूरत नहीं। सिद्धान्ती बताता है कि कार्य कृतिसे सम्पाद्य होता है अतः उसे कृति–निरूप्य अर्थात् कृति के परिप्रेक्ष्यमें ही ज्ञेय माना जाता है। कृति केवल अपने साध्य धात्वर्थसे ही निरूप्य नहीं वरन् अपने आश्रयभूत कर्ता से भी अवश्य निरूप्य होती है। कृति कौन कर रहा है तथा उस कृति से क्या होगा – दोनों समझे बिना कृति की जानकारी नहीं होती। जैसे कौन चाहता है व क्या चाहता है, दोनों जाने बिना चाहना का पता नहीं चलता। इस प्रकार कृतिद्वारा कर्ता भी कार्य में अन्वित है। उसी कर्ता का कार्य से संबंध होता है जो कार्य को अपने से सम्बद्ध समझे। अतः कार्य का सही ज्ञान हो सके इसके लिये नियोज्य का अध्याहार करना पड़ेगा। 'नियोज्यः स च कार्यं यः स्वकीयत्वेन बुध्यते' यह शालिकोक्ति स्मर्तव्य है।

नियोज्य मिल जाने पर अधिकार का प्रसंग उठता है: क्या सभी नियोज्यों का अध्याहार होगा या किसी एक का? सभी का हो यह पूर्वपक्ष होने पर सिद्धांत है कि जब एक से ही कार्य की भूख मिट जाती है तो एक का ही अध्याहार करना चाहिये, सबका नहीं। तब प्रश्न हुआ कि चाहे जिस एक का अध्याहार होगा या स्वर्गकाम का ही? नियमहेतु न होने से जिस किसी का हो जायेगा यह पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धांत है कि स्वर्गकाम का ही अध्याहार होगा क्योंकि स्वर्ग सभी चाहते हैं। यह मीमांसा में (४.३.५-७) विचारित है।

नियोज्य–अधिकारी से जुड़कर ही विश्वजित् व याग पद प्रत्ययार्थ की संपूर्ण जानकारी में उपाय बनते हैं तथा अपने अर्थों को भी छोड़ते नहीं। इसी तरह अपरोक्ष उत्पन्न करने के लिये शास्त्र व युक्ति प्रसंख्यान से मिलें यह ज़रूरी है ॥७८८-८९॥

निराकरणप्रतिज्ञा करने के लिये प्रसंख्यानवाद का उपसंहार करते हैं –

इस प्रकार कुछ लोग शास्त्र का अद्वैतात्मा में तात्पर्य मानकर भी युक्तियों के बल पर वेदान्तों में प्रसंख्यानविषयक कार्य भी स्वीकारना चाहते हैं जिससे अद्वैतात्मा का अनुभव हो सके। किन्तु यह सब असंगत है ॥७९०॥

प्रमात्रादित्रयं यस्मात्संविन्मात्रवपुर्भृतः। सिद्धायतेऽप्रसिद्धं सत्तत्सिद्धौ किमपेक्षते ॥७९१॥
परोक्षमपि सद्वस्तु यत्साक्ष्यात्मस्वरूपतः। साक्षादात्मेव चाऽऽभाति तस्मिन्पारोक्ष्यधीः कथम् ॥७९२॥
अप्यज्ञानादि निःशेषप्रमेयव्यवधानकृत्। स्वतः प्रसिद्धात्संसिध्येत्तदसिद्धिः कुतो भवेत् ॥७९३॥

श्लोक ७६१ से यह पूर्वपक्ष चला था। श्लोक ७९७ में आनंदगिरिस्वामी इसे ब्रह्मदत्त का मत बताते हैं। इस संदर्भ में नैष्कर्म्यसिद्धि (३.८९ आदि तथा श्लोक ९० के बाद का प्रसंग एवं प्रथमाध्याय में श्लो० ६६ के बाद 'केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भादाहुः' इत्यादि विचार) द्रष्टव्य है ॥७९०॥

प्रसंख्यान-विधि का प्रयोजन क्या है? क्या i) वस्तुसिद्धि के लिये वह चाहिये, या ii) वस्तु की परोक्षता हटाने के लिये, या iii) वस्तु की असिद्धि न हो इसलिये, या iv) वस्तुसम्बंधी अज्ञान हटाने के लिये, या v) वस्तु की अपरोक्षता के लिये, या vi) आत्मा के मोक्ष के लिये?

वस्तु की सिद्धि के लिये प्रसंख्यानविधि नहीं चाहिये –

प्रमाता आदि तीनों जड होते हुए भी जिसके कारण चेतन की तरह भासते हैं उस ज्ञानैकशरीरधारी आत्मा की सिद्धि के लिये क्या कोई अपेक्षा हो सकती है? ॥७९१॥

प्रमाता आदि से उपाधियाँ समझनी चाहिये : देह में जो अहंकारवृत्ति है वह प्रमाता कही गयी है, देह और विषय का संपर्क स्थापित करती हुई चित्तवृत्ति को प्रमाण समझना चाहिये और विषय को घेर लेने वाली वृत्ति प्रमिति जाननी चाहिये। यह सिद्धांतबिन्दु में (पृ० १०४) स्पष्ट है। तीनों वृत्तियाँ हैं जड लेकिन चित्तादात्म्यसे चेतन हुई लगती हैं। परायत्त सत्ता-स्फूर्ति वाले को जड कहते हैं लेकिन ये तीनों ऐसी नहीं लगती, स्वतः सत्ता-स्फूर्ति वाली प्रतीत होती हैं। अतएव इन्ही में आत्मत्वभ्रम प्रसिद्ध है। जब अपने सम्पर्क में आने वालों को आत्मा स्वतः सिद्ध जैसा बना देता है तब आत्मा की सिद्धि के लिये प्रसंख्यान की ज़रूरत हो यह भला कैसे माना जाये! ॥७९१॥

आत्मा की परोक्षता हटाना भी प्रयोजन संभव नहीं –

अहंकारादि अनात्मा होने से परोक्ष होते हुए भी जिससे अनुभूयमान होने के कारण साक्षात् की तरह (अपरोक्षवत्) प्रतीत होते हैं तथा जिसके तादात्म्यसे आत्मा की तरह प्रतीत होते हैं उसके बारे में परोक्षताका निश्चय हो कैसे सकता है? ॥७९२॥

'यत्साक्ष्यात्मस्वरूपतः' को यत्साक्ष्यतः और यदात्मस्वरूपतः यों विग्रह कर टीका में समझाया है। विद्यासागर का पाठ है 'साक्षाद्येनात्मरूपकम्': आत्मा क्योंकि इनका साक्षात् अनुभव करता है अतः ये साक्षात् लगते हैं तथा आत्मा के ये आत्मरूप बने बैठे हैं, उसमें अभेदेन अध्यस्त हैं, इसलिये आत्मा-से लगते हैं – यह उनकी व्याख्या है। 'यत्साक्षाद् आत्मरूपकम्' ऐसा पाठांतर भी उन्होंने बताया है, अर्थ यही है 'यस्यापरोक्षत्वात्'।

'स्वतोऽपरोक्षस्याऽपि ब्रह्मणः पारोक्ष्यं भ्रमगृहीतम्' (पृ० ५५) यह कल्पद्रुमाचार्य का कथन है जिसे परिमल में व्यक्त किया है 'अभिव्यक्तचैतन्याऽभिन्नत्वमर्थस्यापरोक्ष्यं तत्तु नित्याभिव्यक्तजीवचैतन्याभिन्ने ब्रह्मणि स्वाभाविकम्।' अतः परोक्षतानिवृत्ति प्रमा की ज़रूरत रखती है न कि अन्य किसी की क्योंकि भ्रमबाध में प्रमा पर्याप्त है ॥७९२॥

आत्मा असिद्ध भी नहीं कि तीसरा विकल्प घट सके –

सभी प्रमेयों का आवरण करने वाले अज्ञानादि जिससे सिद्ध होते हैं वह स्वतः ही प्रसिद्ध है, उसकी असिद्धि कैसे हो? ॥७९३॥

अज्ञानादि से संशय व भ्रम का ग्रहण कर लेना चाहिये। अज्ञान आदि स्वप्रकाश किसी को मान्य नहीं और भासते ज़रूर हैं। वे जिसके कारण भासमान हैं वह स्वयं कैसे असिद्ध हो? ख़ुद न भासते हुए अज्ञानादि को भासने वाला नहीं

स्वमहिम्नैव यः सिद्धः सर्वप्रत्यक्तमश्च यः। तत्तमोहतितः कार्यं किमन्यत्तत्प्रमाणजम् ॥७९४॥
मात्रादित्रयहानेऽपि हानसाक्षितयेक्ष्यते। येनासाववविलुप्ताक्षस्तत्पारोक्ष्यं कथं भवेत् ॥७९५॥

बना सकता। चाहे हम समझ न पायें लेकिन घटादि को दिखाने वाला प्रकाश स्वयं को तो दिखाता ही है। यद्यपि सामान्यतः प्रत्यक्ष स्थल में कहते हैं कि चक्षुरादि ख़ुद प्रमीयमाण नहीं फिर भी रूपादि के प्रमापक हैं तथापि वह साक्षिप्रमा को नज़रंदाज़ करके ही कहा जाता है। साक्षी की प्रमाणता संभव है इसमें संक्षेपशारीरक प्रमाण है (३.१२२); वहाँ सारसंग्रह है 'साक्षिणोप्यहङ्कारतद्धर्मादिसाधकत्वेन क्लृप्तत्वात् तत्सिद्धं नापह्नवमर्हतीत्याशयेन 'प्रमाणाद्' इत्युक्तम्।' ऐसी कोई व्याप्ति भी नहीं कि प्रमाण को अप्रमेय ही होना चाहिये क्योंकि प्रमेयभूत धूम ही वह्निमें प्रमाण होता है। अज्ञानादि के साधक की जब असिद्धि कभी है ही नहीं – सुषुप्ति में भी वह सिद्ध ही है अन्यथा परामर्श न हो – तो असिद्धिनिवारणार्थ प्रसंख्यान कैसे माना जाये? ॥७९३॥

आत्मसम्बंधी अज्ञान हटे इसके लिये भी प्रसंख्यान उपकारक नहीं –

जो अपनी महिमा से ही सिद्ध है तथा सब की अपेक्षा अधिक प्रत्यक् है उसे विषय करने वाले प्रमाण का कार्य उसके अज्ञान की निवृत्ति से अतिरिक्त और क्या होगा? ॥७९४॥

महिमा अर्थात् स्वरूप। 'स्वे महिम्नि' (छा० ७.२४) आदि में यह शब्द प्रसिद्ध है। अनवस्थाप्रसंग को विपक्षबाधक तर्क समझना चाहिये। सबसे ज़्यादा अर्थात् आनंदमयकोश से भी अधिक प्रत्यक् अर्थात् अव्यभिचारि-स्वरूप; अज्ञान को तो 'मेरा' ऐसे समझ भी लेते हैं तथा वह निवृत्त भी होता है, किन्तु यह ऐसा है जो न कभी निवृत्त होता है और न 'मेरा' यों भेदेन भासता है। जड को अपने से अन्य का सहारा चाहिये होने और भासने के लिये, चेतन को नहीं। ऐसे चेतन का अज्ञान हटाने के लिये प्रमाण पर्याप्त है, प्रसंख्यान की ज़रूरत नहीं। यदि अज्ञान को प्रसंख्यान हटाये तो प्रमाण क्या करेगा? उसके लिये कोई कार्यान्तर तो है नहीं। चतुष्पात्प्रमाणवाद आदि का आगे खंडन करने वाले हैं (८१० आदि)।

लता में आत्मा स्वतः सिद्ध है तो वेदांतों का क्या काम? इस प्रश्न का श्लोकस्थ उत्तर है कि अविद्यादि को हटाना ही उनका काम है ॥७९४॥

आत्मा की अपरोक्षता के लिये प्रसंख्यान चाहिये हो ऐसा भी नहीं –

प्रमाता आदि त्रिपुटियाँ न रहने पर भी उनके न रहने के साक्षिरूप से यह नित्यचैतन्यस्वभाव भासमान रहता है अतः इसकी परोक्षता कैसे हो सकती है? ॥७९५॥

प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, भोक्ता-भोग-भोग्य, कर्ता-क्रिया-कर्म आदि त्रिपुटियाँ समझनी चाहिये। अथवा प्रमेयादि की जगह प्रमिति, भुक्ति व कृति यों वृत्तियाँ ही समझ सकते हैं। ये सभी जब हैं तब भी आत्मा से प्रकाशित हो रहे हैं और जब ये नहीं हैं तब भी वह इस बात को प्रकाशित करता है कि ये नहीं हैं। यह बात अनुभव से सिद्ध ही है, श्रुति भी कहती है 'यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ० ४.३.२३)'यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद' (बृ० २.१.१९), 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति' (कौ० ४.१९) 'सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति' (छां० ८.११.१); अतः दृश्यभूत जो दृश्याभाव है उसका भी साधक आत्मा ही है। या 'हानसाक्षी' से हान की अवधि समझना चाहिये; आत्मा कभी छोड़ा नहीं जा सकता, 'नहीं है' ऐसा नहीं किया जा सकता। बौद्ध कोशिशकर भी उसकी स्थायिता में संशय कर पाते हैं, स्वरूप में नहीं!

आत्मा में परोक्षता हो तो उसे हटाने के लिये प्रसंख्यानादि कुछ कारगर हों, लेकिन जब वह परोक्ष ही नहीं तो उनका क्या उपयोग? यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि परोक्षरूप से सिद्ध वही होता है जिसका कोई साधक विद्यमान हो जैसे अनुमान रहते ही वह्नि परोक्ष होती है, अन्यथा तो वह परोक्ष हो ऐसा नहीं बल्कि है ही नहीं अर्थात् 'है' यों व्यवहार्य नहीं। आत्मा क्योंकि प्रमाता आदि जो साधक प्रसिद्ध हैं उनके न रहने का साधक है इसलिये इसका कोई साधक संभव

भावनावर्त्मनैकात्मये विध्यर्थासंभवो यथा। अधिकारपरीक्षायां तथा प्राक्प्रतिपादितम् ॥७९६॥
नियोगपक्षमाश्रित्य विध्यर्थासंभवो यथा। ऐकात्म्यसिद्धौ यत्नेन तथाऽत्र प्रतिपाद्यते ॥७९७॥
ऐकात्म्यस्य स्वतो मुक्तेरज्ञानात्तस्य बद्धता। साध्येऽर्थे साधनापेक्षा सिद्धे तन्न व्यपेक्षते ॥७९८॥
तमोमात्रान्तरायत्वादैकात्म्याख्यस्य वस्तुनः। असाध्यसाधने तस्मिन्काऽपेक्षा भावनां प्रति ॥७९९॥

नहीं। फलतः आत्मा अपरोक्ष ही है, परोक्ष नहीं। अतः अविलुप्तसाक्षता का अर्थ है अपरोक्षता और पूर्वार्ध इसमें हेतु है। आत्मा, अविलुप्तसाक्षः, मात्रादित्रयहानेऽपि हानसाक्षित्वात् – यह प्रयोग है। व्यतिरेकी घटादि दृष्टांत सुलभ हैं। अनुकूलतर्क यही है कि प्रमात्रादिसापेक्षतालक्षण परोक्षता होती तो इनके हान की साक्षिता न होती; जैसे यदि देवदत्त शाखा पर ही आश्रित होता तो शाखा गिर जाने पर पेड़ पर न रह जाता।

विद्यासागर का पाठ 'ईक्ष्यते' की जगह 'इष्यते' प्रतीत होता है ॥७९५॥

जिज्ञासा होती है कि श्लोक २० आदि, २२८ आदि, २५१ आदि में भी शाब्दज्ञान के बाद अभ्यास करना चाहिये – इस शंकाका समाधान किया था फिर यहाँ श्लोक ७६१ से पुनः यही शंका क्यों उठायी? बताते हैं –

भावनावाद के अनुसार अद्वैतात्मविषयक विध्यर्थ संभव नहीं है यह पहले (श्लो० २७०) अधिकारविचार में बताया था ॥७९६॥ अद्वैतात्मसिद्धि में नियोगवाद के सहारे भी विध्यर्थ असंभव है यह यहाँ यत्नपूर्वक समझाया है ॥७९७॥

पहले का विचार कुमारिल भट्ट के भावनामत के प्रवेश से सुरक्षित करने के लिये था तथा प्रकृत संदर्भ ब्रह्मदत्त आदि के मत का निरास करने के लिये है, यह अंतर है। समन्वयसूत्रके संदर्भ में कहें तो प्रथम वर्णक भावनावादी के निरासार्थ है और द्वितीय नियोगवादी के। भावनावादी के अनुसार ब्रह्म शास्त्रार्थ है ही नहीं अतः रत्नप्रभाकार उसे 'ब्रह्मनास्तिकानां मतम्' कहते हैं। ब्रह्मविद्याभरण में उस वर्णक के पूर्वपक्षी का अभिप्राय बताया है 'सत्यादिरूपस्य ब्रह्मणः प्रत्यगभेदेनोपासनाकरणिका या भावना तस्यामेव वेदान्तानां तात्पर्यात् प्रत्यक्षादिविरुद्धेंऽशे आरोपमादायैवोपासनं सम्पादनीयम्।' द्वितीय वर्णक में 'प्राचीन वृत्तिकारों' का मत रखा है यह प्रकटार्थकार कहते हैं। इसमें वेदांत उपासनाविधि में तात्पर्य वाले होने पर भी विधिशेषरूप से सही, लेकिन प्रत्यग्ब्रह्म की प्रमा वेदांतों से होती है। हाँ मोक्ष ज़रूर उपासना से ही होगा। ब्रह्म में शास्त्रों का प्रामाण्य अंगीकार कर क्रियानुप्रवेश यहाँ माना है अतः भामती में कहा है 'कार्यार्थाद् ब्रह्मनिश्चयः'। किन्तु वार्तिकोक्त प्रकृत ब्रह्मदत्तीय पूर्वपक्ष में द्वितीय वर्णक से यह अंतर है कि यहाँ वेदांत विधिनिष्ठ नहीं हैं, अभिधाश्रुति ही प्रधान है, विधि व्यापारविधया उसका अंग है ॥७९६-७९७॥

आत्मा के मोक्ष के लिये प्रसंख्यान हो इस छठे पक्ष का खंडन करते हैं –

अद्वैतात्मा स्वतः मुक्त है, उसके लिये विधि नहीं चाहिये। आत्मा की बद्धता अज्ञान से है। कोई साध्य प्रयोजन हो तभी साधन की ज़रूरत होती है, सिद्ध के लिये साधन नहीं चाहिये ॥७९८॥

मोक्ष नित्य है, कार्य नहीं कि उसके लिये प्रसंख्यान व विधि की ज़रूरत पड़े। क्रिया के उत्पाद्यादि फल होते हैं, मोक्ष ऐसा है नहीं। वह सिद्ध वस्तु है अतः क्रिया से उसकी प्राप्ति का प्रसंग ही नहीं। काशी में विद्यमान व्यक्ति यदि चलकर काशी जाने की कोशिश करेगा तो काशी से दूर ही जा निकलेगा। ऐसे ही हम कुछ भी करेंगे तो मोक्ष तिरोहित ही रहेगा। जैसा आचार्य ने कहा है 'नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृतोऽहं कर्ता मयेदं कर्तव्यम् इत्यवश्यं ब्रह्मप्रत्ययाद् विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते।' (ब्र०सू० ४.१.२) ॥७९८॥

तो ज्ञान की ही क्या ज़रूरत? बताते हैं –

अद्वैतात्मा कहलाने वाली वस्तु क्योंकि केवल अज्ञान से आवृत है इसलिये साध्यसाधनभाव से वर्जित उस वस्तु के लिये भावना की क्या अपेक्षा हो सकती है! ॥७९९॥

यदाऽनुभवकामस्य कार्यं साध्यं प्रतीयते। प्रसंख्याने तदैकात्म्यतात्पर्यं कथमुच्यते ॥८००॥
कार्यं चान्यपरं चेति द्वयमेतद्विरुध्यते। साध्यं हि सर्वदा कार्यमन्यत्तस्य प्रसिद्धये ॥८०१॥
विशेषणं नियोज्यस्य भवन्ननुभवः फलम्। विषयः सत्प्रसंख्यानमनुभूतेर्न साधनम् ॥८०२॥
भावार्थविषयं कार्यं प्रसंख्याने कथं भवेत्। आवृत्तिर्हि प्रसंख्यानं शब्दयुक्त्योरिति स्थितम् ॥८०३॥

अज्ञाननिवृत्ति सिर्फ़ प्रमाण चाहती है, भावना या आवृत्ति नहीं। मोक्ष अज्ञान से ढका है तो उसे उघाड़ने के लिये ज्ञान चाहिये, प्रसंख्यान नहीं। यदि मोक्ष साध्य होता तो ज़रूर साधनभूत भावनादि चाहिये होते, जब वह साध्य है नहीं तो वे भी अनपेक्षित हैं ॥७९९॥

इस प्रकार सामान्यतः प्रसंख्यानमत को सदोष बता दिया। अब उसका विस्तार से खण्डन करते हैं।

वादी ने कहा था कि प्रसंख्यान को सीधे ही मोक्षोपाय नहीं मानते, वह तो ज्ञानका शेष है अतः ज्ञानद्वारा ही मोक्षहेतु है। इस प्रकार उसका मोक्ष के प्रयोजन से विधान करना उचित ही है क्योंकि मोक्ष का साक्षात् कारण तो अपरोक्ष ज्ञान ही माना जा रहा है। इस पर सिद्धांती कहता है –

जब यह मानते हो कि शास्त्र से साक्षात्कार चाहने वाले को प्रसंख्यानविषयक नियोग साधनीय प्रतीत होता है तब यह कैसे कहते हो कि अद्वैतात्मा में शास्त्रतात्पर्य है? ॥८००॥

संक्षेप में तो वाक्यभेदापत्ति दोष है। विस्तार स्वयं करेंगे ॥८००॥

श्लोक ७७० में वादी ने प्रसंख्यानविधि को शेष बनाकर व्यवस्था की कोशिश की थी, उसका निरास करते हैं –

कार्य होना तथा सिद्ध के प्रति शेष होना ये दोनों आपस में विरुद्ध हैं। कार्य हमेशा साध्य ही होता है तथा सिद्ध इसलिये होता है कि साध्यको सम्पन्न किया जा सके ॥८०१॥

शबरवचन है 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' अर्थात् सिद्ध दधि आदि पदार्थ इसीलिये बताये जाते हैं ताकि उनसे कुछ किया जाये। प्रकृत में वादी उल्टा कह रहा है अतः उस नियम का विरोध होगा यह अर्थ है ॥८०१॥

प्रश्न होता है कि सर्वापेक्षान्याय से वेदान्तों में भूतभव्यन्याय उलट जाता है (सं० शा० १.३१२) जैसा सर्वज्ञमुनि ने कहा है 'भव्यप्रतीतौ न हि कश्चिदर्थो भूतप्रतीतौ पुनरस्ति मुक्तिः। श्रोतव्य इत्यादि ततो विधानं भूतोपदेशानुगुणं समस्तम्॥' (१.४८४) अतः अनुभवसाधनरूप से मौनादि का (३.४.१४.४७) व श्रवणाद्यभ्यासका (४.१.१) विधान संगत है तो वैसे ही प्रसंख्यान का क्यों न हो? अतः पूर्वोक्त दोष प्राप्त नहीं होता क्योंकि भूत के लिये भव्य का उपदेश शास्त्रसंमत है। उत्तर देने के लिये यह स्वीकार लेते हैं कि श्रवणादि विधियों में भूतभव्यन्याय का उलटना बादरायणसूत्रों से सिद्ध है लेकिन फिर भी प्रसंख्यानविधान संगत नहीं यह बताते हैं –

नियोज्यका विशेषणभूत अनुभव फल है लेकिन नियोग का विषयभूत प्रसंख्यान उसका साधन है नहीं ॥८०२॥

'अनुभवेच्छुक प्रसंख्यान करे' यह विधि मानने पर प्रसंख्यान का फल अनुभव स्वीकारना पड़ेगा किन्तु प्रसंख्यान प्रमितिरूप अनुभवका साधन है नहीं अतः उसका विधान करना ग़लत होगा, जैसे 'उत्तर जाना चाहो तो दक्षिण की ओर जाने वाली गाड़ी पर बैठो' यह कहना ग़लत है। प्रमिति-अनुभव तो प्रमाण से ही होगा, प्रसंख्यान से नहीं। श्रवणादि तो प्रमिति के लिये हैं जबकि प्रसंख्यान कहते हैं जो ज्ञान हो चुका उसकी आवृत्ति को, यह भेद है ॥८०२॥

प्रसंख्यान नियोग का विषय हो भी नहीं सकता –

कार्य का विषय होता है भावार्थ (= क्रिया)। उसका विषय प्रसंख्यान कैसे हो जायेगा? यह तुम कह चुके हो कि शब्द व युक्ति की आवृत्ति प्रसंख्यान है (और आवृत्ति तो क्रिया है नहीं) ॥८०३॥

अथ श्रवणभावार्थविषयं कार्यमिष्यते। तदा श्रवणमेव स्याद्विशिष्टो विषयस्तव ॥८०४॥
दाक्षायणादावावृत्तेर्यत्रापि फलमुच्यते। सगुणात्पौर्णमास्यादेः फलं तत्रापि नो गुणात् ॥८०५॥

क्रिया की आवृत्ति को क्रिया नहीं कह सकते। क्रियानिष्ठ गुणविशेष ही आवृत्ति हो सकता है। विशेष ढंग का 'दूसरापन, तीसरापन आदि' ही आवृत्ति कहा जाता है, अतः वह भावार्थ न होने से नियोगविषय के योग्य नहीं ॥८०३॥

तो श्रवण-मनन की ही विधि मानो, वे तो भावार्थ हैं। हर हालत में वेदांत विधि से बचे कैसे रहेंगे? उत्तर देते हैं –

यदि श्रवणात्मक भावार्थविषयक नियोग मानो तब तो विशिष्ट श्रवण ही तुम्हे नियोगविषय कहना चाहिये ॥८०४॥

श्रवणादि की आवृत्ति का विधान है यह प्रतिज्ञाकर अब श्रवणादिका ही विधान कहोगे तो प्रतिज्ञाहानि हो जायेगी यह अर्थ है। यह तो हमें भी मान्य है कि मुमुक्षु की प्रवृत्ति शास्त्रानुसारी हो इसलिये श्रवणादि की विधि स्वीकार्य है। यद्यपि हमें भी आवृत्ति स्वीकृत है तथापि हम उसे पदार्थज्ञान के लिये मानते हैं, वाक्यार्थज्ञान के बाद नहीं जबकि वादी वाक्यार्थज्ञान की आवृत्ति का विधान चहता है। शब्द भले ही वह भी 'श्रवण' कहे पर उसका तात्पर्य है श्रवण-मनन हर बार अखण्डज्ञान कराते हैं और उनकी आवृत्ति करनी चाहिये। सिद्धांती का मानना है कि जब तक अखण्डज्ञान न हो तब तक आवृत्ति आदि सब कुछ करना चाहिये, बाद में कोई कर्तव्य नहीं रहता ॥८०४॥

दाक्षायणयज्ञ आदि में गुणसे फललाभ मानते हैं ऐसे ही यहाँ आवृत्तिरूप गुणसे साक्षात्कारलाभ मानने से प्रतिज्ञाहानि नहीं होगी – इस शंका का समाधान करते हैं –

जहाँ दाक्षायणादिमें आवृत्ति से फल कहा भी जाता है वहाँ भी फल होता हैं गुणयुक्त पौर्णमासी-आदि याग से, न कि गुण से ॥८०५॥

जैसे 'पुनः पुनः कुल्हाड़ी चलाने से पेड़ कटता है'; यहाँ पेड़ कटने में 'पौनः पुन्य' को कारण नहीं कह सकते, वह चलाने का विशेषण ही हो सकता है, कटने में कारण तो कुल्हाड़ी का बार बार चलना ही है। ऐसे ही सर्वत्र सगुण प्रधान से फल होता है, गुण से नहीं।

पूर्वमीमांसा में (२.३. अधि० ४) विचार है : दर्शपूर्णमास के प्रकरण में 'स्वर्ग चाहने वाला दाक्षायणयज्ञ करे', 'पशु चाहने वाला साकंप्रस्थायीय यज्ञ करे' (तै०सं० २.५.४) इत्यादि कहा है। प्रश्न है कि क्या ये स्वतंत्र यज्ञ विहित हैं या दर्शपूर्णमास में ही फलविशेषार्थ गुणविशेष विहित है? 'दाक्षायण' आदि नवीन नाम हैं अतः स्वतंत्र कर्म विहित हैं यह पूर्वपक्ष है। सिद्धांत है कि गुणविधि ही है। 'दाक्षायण' शब्द का अर्थ है आवृत्ति : दक्ष अर्थात् उत्साह वाला जो यजमान, तत्संबंधी हुए दाक्ष; अयन कहते हैं आवृत्ति को। इस प्रकार आवृत्तिगुण वाले दर्शादि को ही 'दाक्षायण' कहा है। आवृत्ति का ढंग भी 'द्वे पौर्णमास्यौ यजेत द्वे अमावास्ये' आदि वाक्यशेषमें बता दिया गया है। इसलिये इंद्रियार्थ दधि की तरह आवृत्तिरूप गुण का ही विधान है। इसी तरह अमावस्यायागमें चार घड़ों में दूध-दही को इकट्ठा प्रस्थापित करने इत्यादि अंगों से उस याग का नाम साकंप्रस्थायीय पड़ जाता है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र में (३.१६.१७) इसका वर्णन है। अतः यह भी 'साथ स्थापित करना' इस गुण की विधि है, कर्मांतर नहीं। साकंप्रस्थायीयशब्द उक्त गुण के संबंधवश दर्श का ही बोधक है। इस तरह दाक्षायणादि को दर्शादिका ही विकार मानना प्रकरणानुकूल है।

वादी का तात्पर्य है कि जैसे उक्त स्थल में गुण भी सफल हैं ऐसे प्रसंख्यान हो सकता है। सिद्धांती ने समझाया कि गुण कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं जो फलप्रद हो, गुण से संबद्ध प्रधान कर्म ही फल देता है। ऐसे यदि आवृत्ति वाले श्रवण से फल मानो तो तुम्हारा सिद्धांतभंग होगा ॥८०५॥

श्लोक ८०३ में सिद्धांती ने कहा था कि विधिका विषय क्रिया होती है। वादी शंका करता है कि दही आदि गुण

गुणो यत्रापि दध्यादिः कार्यावच्छेदको मतः। धात्वर्थावेशतः सोऽपि प्राप्ते चास्मिन्न तु स्वतः ॥८०६॥
श्रवणादेर्न च प्राप्तिर्गुणान्न च फलं श्रुतम्। पश्येदिति हि धात्वर्थः केवलो विषयः श्रुतः ॥८०७॥

भी विधेय प्रसिद्ध हैं, ऐसे ही क्रियारूप न होने पर भी आवृत्ति क्यों न विहित हो? समाधान है –

जहाँ दध्यादि गुण को कार्य का अवच्छेदक - अर्थात् विधेय, नियोग का निरूपक – माना भी जाता है वहाँ वह गुण भी क्रिया के संबंध से ही नियोग का अवच्छेदक बनता है, क्रियासंबंध के बिना नहीं। किं च जो कर्म अन्य विधि से प्राप्त होता है उसमें गुणका विधान हुआ करता है, स्वतः अर्थात् विहित कर्म के संपर्क से रहित गुण विहित नहीं होता ॥८०६॥

'दही'–बस इतनी विधि नहीं हो सकती। कुछ-न-कुछ करने को कहा जाये तभी विधि होगी। ऐसे ही प्रकृत में सिर्फ आवृत्ति की विधि संभव नहीं कि उससे कुछ फल हो सके। किं च 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस विधि से प्राप्त जो अग्निहोत्र कर्म उसमें दहीरूप गुण का विधान करने के लिये 'दध्ना जुहोति' इस वाक्यमें आख्यात से ('जुहोति' से) होम का अनुवाद कर दही का उसके अवच्छेदकरूप से विधान किया है – अवच्छेदकभूत दही और अवच्छेद्य कार्य के बीच में विहित होम को रखा गया है। ऐसा नहीं कि होम अविहित हो, दही का विधान हो जाये! ऐसे ही प्रकृत में आवृत्ति विधि तब हो जब आवर्त्यमान क्रिया भी विहित मिले। ऐसी क्रिया है नहीं अतः आवृत्तिगुण भी विधेय नहीं।

दही आदि दृष्टांत पर मीमांसा में (२.२.५) विचार है : 'अग्निहोत्रं जुहोति' कहकर 'दध्ना जुहोति' कहा है। ऐसे ही 'आघारमाघारयति' कहकर 'सन्ततमाघारयति' आदि कह दिया है। [कुण्ड में जलती आग पर एक कोने से दूसरे कोने तक घी की धारा डालना 'आघार' नामक कर्म है। इसे करते समय मंत्र पढा जाता है।] यहाँ जिज्ञासा है कि क्या यहाँ 'दध्ना जुहोति' तथा 'सन्ततमाघारयति' से गुणसमेत कर्म का विधान है और अग्निहोत्र व आघार शब्द क्रमशः उन समुदायों के अनुवाद हैं; अथवा अग्निहोत्र तथा आघार वाक्य ही नवीन कर्मों के विधायक हैं व दधि आदि गुणविधियाँ हैं? पूर्वपक्ष है : याग के रूप हैं द्रव्य और देवता। अग्निहोत्रादि वाक्यों से इनमें से एक का भी पता चलता नहीं जबकि दधि आदि वाक्य गुण को बता रहे हैं अतः याग का रूप प्रकाशित कर रहे हैं। अतः दधि आदि को ही सगुण कर्म की विधि मानना चाहिये। तब अग्निहोत्र और आघारशब्द उन समुदायों के अनुवाद होंगे जिनका अनुष्ठान दधि आदि वाक्यों से विहित है। सायं-प्रातः क्रियमाण सब कर्मों के समुदाय को अग्निहोत्र से अनूदित किया है। इस पर सिद्धांत यह है : 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'आघारमाघारयति' ये वाक्य ही कर्मविधायक हैं, दधि-आदि वाक्य गुण विधि हैं। 'जुहोति' 'आघारयति' ये शब्द प्रयोग कह रहे हैं, क्या करना यह बता रहे हैं। इनकी संनिधि में दधि आदि वाक्य आये हैं वे गुणविधि हैं अतः उनमें होम और आघार का अनुवाद है, दधि व सान्तत्यादि का विधान है। अनुवाद इसलिये जरूरी है कि पता चले दधि का नियोगसंबंध कैसे स्थापित होगा, या सान्तत्य का नियोग से सम्बंध कैसे होगा। दधि से कोई क्रिया हो तभी दही का विधिसंबंध हो, अतः क्रिया का अनुवाद है। प्रकृतमें तात्पर्य इतना ही बताने में है कि क्रियाभिन्न वस्तुओं का विधिसंबंध वैधक्रिया के मार्फत ही हो सकता है। आवृत्तिकी विधि मानने पर बताना पड़ेगा कि वह किस वैध क्रिया के द्वारा नियोग को अवच्छिन्न करेगी ॥८०६॥

पूर्वपक्षी कहता है 'समाहितो भूत्वा पश्येत्' (एकाग्र होकर देखे) इसमें भी श्रवणादि का अनुवाद तथा आवृत्ति का विधान मान सकते हैं। श्रवणादि तो प्राप्त कर्म हैं ही, उनमें आवृत्तिरूप अकेले गुण की विधि 'पश्येत्' में है। इस संभावना को हटाते हैं –

'शान्तो दान्तः उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इस माध्यंदिन श्रुतिवाक्य में श्रवणादि की प्राप्ति कराने वाला कोई शब्द ही नहीं है कि उनका अनुवाद मान सकें। और न यहाँ आवृत्ति-गुण से कोई फल सुना जा रहा है। 'पश्येत्' इससे अकेला देखना-रूप धात्वर्थ विधिविषयरूप से सुना जा रहा है ॥८०७॥

नापि तल्लक्षिताऽऽवृत्तिर्विधेया श्रुतहानतः। कार्यं यन्नापि भावार्थात्तदावृत्तिगुणात्कथम् ॥८०८॥

तात्पर्य है कि चाहे तत्र-तत्र श्रवणादि की विधि हो लेकिन जैसे 'दध्ना जुहोति' में हु-धातु के प्रयोग से विहित होमका अनुवाद है ऐसे विहित श्रवणादि का अनुवाद 'पश्येत्' वाक्य में है नहीं कि इसे गुणविधि मान सकें। किं च यहाँ आवृत्तिवाचक भी कोई पद नहीं है कि यह कल्पना हो सके कि अन्यत्र प्रसिद्ध श्रवणादि के अनुवाद से श्रवणादिविशिष्ट आवृत्ति की ही यह विधि है। अर्थात् यद्यपि कई जगह बिना अनुवाद के गुण का विधान होने पर विशिष्ट विधि – गुण समेत क्रिया की विधि – मानी जाती है तथापि यहाँ वैसा मानना संभव नहीं क्योंकि जैसे 'सोमेन यजेत' में सोम और याग दोनों सुने जाते हैं ऐसे यहाँ न श्रवण और न आवृत्ति का बोधक कोई पद है। इतना ही नहीं, दधि की आहुति का फल भी बताया है अतः उसका विधान संगत है जबकि आवृत्ति का कोई फल भी कहा नहीं गया है कि उसे विधेय समझा जाये। ऐसा भी नहीं कि जैसे अश्रुतफलक विश्वजिद् आदि यागोंका फल स्वर्ग मान लिया जाता है ऐसे यहाँ मान सकें; क्योंकि पहले गुणविधि स्वीकृत हो तभी वह न्याय लागू होता है, आवृत्तिविशिष्टश्रवण की मान्य विधि ही जब है नहीं तब उस न्याय से फलकल्पना कैसे होगी? दर्शन को आवृत्ति का फल नहीं कह सकते क्योंकि वह श्रवणादि का फल है, यह लोकानुसारी भी है। आवृत्ति से मोक्ष होगा यह भी नहीं कह सकते क्योंकि मोक्ष तो ज्ञान का फल है।

तो 'पश्येत्' में काहे का विधान है? श्रवणादि का तो विधान यहाँ है नहीं क्योंकि यह लोकसिद्ध ही है कि कोई विषय जानना हो तो उसके बारे में सुना व सोचा जाता है, अतः विधान करने की ज़रूरत नहीं। यदि नियमार्थ ज़रूरत हो तो भी उनका विधान अन्यत्र है ही अतः उनके वाचक शब्द से रहित इस वाक्य में उनकी विधि मान नहीं सकते। शमादि का भी इसे विधायक मानना ग़लत होगा क्योंकि विधि तो दृश् के बाद सुनी जा रही है शम आदि के बाद नहीं। और दर्शन को आप सिद्धांती विधेय मानते नहीं! अतः आवृत्तिकी ही विधि इसे मानना पड़ेगा। इसका सीधा-सा उत्तर दिया कि जिसकी विधि सुनी गयी है उसे छोड़कर कल्पित आवृत्ति की विधि मानना ग़लत है। सिद्धान्तानुसारी व्याख्या ४.४.१२०० आदि में द्रष्टव्य है ॥८०७॥

श्लोक ७६२ में वादी ने कहा था कि दर्शन विधानयोग्य न होने से धात्वर्थ लक्षणा से आवृत्ति का बोधक है। उसका खंडन करते हैं –

दर्शन से लक्षणाद्वारा ज्ञात आवृत्ति की विधि यहाँ मानना भी ठीक नहीं क्योंकि तब श्रुतहानि-अश्रुतकल्पना दोष होंगे। जो काम क्रियासे संपन्न नहीं हो पाया वह उसकी आवृत्तिरूप गुण से कैसे होगा? ॥८०८॥

यद्यपि श्रुत यदि असंभव हो तो अश्रुत भी कल्पनीय होता है और दर्शन स्वरूप व फल होने से विधेय हो यह संभव नहीं है तथापि अश्रुत भी वही कल्पनीय है जो योग्य हो तथा आवृत्ति दर्शनोपायतया विधेय होने के योग्य नहीं है। कोई ठण्ड से ठिठुर रहा हो और उसे उपदेश दें 'ठण्डे पानी में डुबकी लगाओ, आराम हो जायेगा।' वह एक डुबकी लगाकर पाता है कि उसका कष्ट तो घटा नहीं, बढ़ा भले ही हो। तब उससे कहें 'अरे! बार-बार डुबकी लगाये जाओ, तब गर्मी आयेगी!' तो यह बात सर्वथा अश्रद्धेय होगी। ऐसे ही वादी मानता है कि शब्द में प्रत्यक्ष ज्ञान कराने की योग्यता नहीं है और फिर कहता है कि आवृत्तिवश साक्षात्कार होगा, तो यह कैसे माना जाये? आवृत्ति उसी साधन की सफल होती है जो सक्षम हो। ठीक है कि एक बार कुल्हाड़ी चलाने से पेड़ नहीं कटता लेकिन कुल्हाड़ी है पेड़ काटने का औज़ार तथा पहली बार भी कुछ-न-कुछ कटना हो ही जाता है। यदि शब्द को साक्षात्कारका साधन मानते तब तो आवृत्ति का उपयोग समझा जा सकता था लेकिन अनुपाय की आवृत्ति से उपेयसिद्धि तो सर्वथा हास्यास्पद है। अतः दर्शनविधि में अश्रुतकल्पना करनी पड़े तो भी आवृत्ति को तो मानना असम्भव है ॥८०८॥

श्लोक ७७३ में जो शास्त्र को युक्त्यादि की अपेक्षा कही थी उसका निषेध करते हैं –

स्वयं प्रबोधितेऽप्यर्थे यदि युक्त्याद्यपेक्षते। शास्त्रं सापेक्षमेवं स्यात्स्वतः प्रामाण्यवर्जनात् ॥८०९॥
युक्त्यादि मान्तरं नो चेन्मानांशत्वेन तत्स्थितेः। संभूय पादाः सर्वेऽपि ह्यैकात्म्यं बोधयन्ति नः ॥८१०॥
न संभूय यतः पादास्तैलवर्त्यग्नयो यथा। मितेः स्वरूपलाभाय न तु मेयोपलब्धये ॥८११॥

शास्त्र जिस अर्थ को ख़ुद बोधित कराये उसीके विषय में अगर युक्ति आदि की ज़रूरत भी रखे तो वह सापेक्ष हो जायेगा क्योंकि उसका स्वतः प्रामाण्य जाता रहेगा ॥८०९॥

प्रमाण के अंशरूपसे या युक्तिसापेक्ष हुए वेद की प्रमाणता का यहाँ विरोध है, युक्ति की ज़रूरत का नहीं। जैसे मीमांसा को इतिकर्तव्यता का पूरक मानते हैं ऐसे युक्ति वेद की सहकारिणी है। प्रमेय की असंभावना रूप पुरुषदोष का निरास युक्ति से होता है, इतने मात्र से वह प्रमाण नहीं हो जाती। यह बात आचार्य विद्यारण्यने सार में (पृ० ३५६-६१) विस्तार से विस्पष्ट की है। अतः पूर्वप्रदर्शित सर्वज्ञवाक्य भी संगत है तथा 'वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते' यह जिज्ञासाभाष्य भी अनुकूल है। इसी प्रकार मननविधि भी समझनी चाहिये। वस्तुतः सिद्धांतमें शास्त्रानुसारी युक्ति को शास्त्र ही मानते हैं यह कहेंगे (श्लो० ८१७) अतः ऐसा नहीं कि शास्त्र स्वभिन्न किसी के सहारे प्रमा कराये। वादी को इष्ट यह है कि स्वतंत्र युक्ति से उपेत होने पर ही शास्त्र प्रमा करायेगा, उसका खण्डन है। प्रतिबंधनिवृत्ति के लिये – या सर्वज्ञभाषामें वेदवाक्य को 'पुष्ट' बनाने के लिये – उसका निषेध नहीं ॥८०९॥

शंका उठाते हैं –

यदि कहो 'युक्त्यादि कोई पृथक् प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वे प्रमाण के अंशरूप से ही निश्चित किये गये हैं, कारण कि सभी पाद मिलकर हमें अद्वैतात्मा का बोध कराते हैं।' ॥८१०॥

श्लोक २१०, ७७९ आदि में वादी का मत आया था कि चार हिस्से, पाद, प्रमाणशरीर का निर्माण करते हैं। अतः युक्ति जब प्रमाणांग ही है तो उसकी ज़रूरत को प्रमाणान्तरापेक्षा नहीं कह सकते कि सापेक्षता का दोष लगे – यह शंका का अर्थ है ॥८१०॥

समाधान करते हैं –

तो वैसा कहना ठीक नहीं। तेल, बत्ती, आग आदि की तरह पाद मिलकर प्रमिति का स्वरूपलाभ कराते हैं, प्रमेय की उपलब्धि में वे कारण नहीं बनते ॥८११॥

तेलादि से दीपक संपन्न होता है, आगे अर्थप्रकाश में दीपक ही कारण है, तेलादि तो अन्यथासिद्ध हैं। ऐसे ही चारों पाद मिलकर प्रमिति उत्पन्न करते हैं यह तो कह सकते हैं लेकिन अद्वैतात्मा के बोधक वे नहीं कहे जा सकते, उसका बोधक तो प्रमिति ही कही जा सकती है। सार में 'संभूयकारितोत्पत्तौ दृष्टा, न त्ववभासने' (पृ० ३४०) कहा है। कृपालु पंडित कहते हैं कि यदि तेलादि में वस्तुप्रकाशकता हो तो सबको बटोर कर रख देने से भी हो जाये! (वह्नि भी राख से ढक कर निकट रखी जा सकती है।) ऐसा होता नहीं। अतः उनमें अर्थप्रकाशकता कहना ग़लत है, दीपोत्पादकता ही है। इसी तरह शब्दादि पादों से प्रमिति हो सकती है, आत्मबोध नहीं। यद्यपि प्रायः प्रमिति और अर्थबोध पर्याय होते हैं तथापि यहाँ वादी को मानना है कि प्रमिति की आवृत्ति से – युक्ति की भी सहायता से – अर्थबोध होगा, अतः वह दोनों मे अन्तर कर रहा है। प्रमिति से परोक्ष तथा अर्थबोध से अपरोक्ष उसे विवक्षित है। सिद्धांती का कहना है कि अपरोक्ष प्रमिति ही आत्मबोध है, उसके प्रति चारों को कारण कह सकते हो किन्तु प्रमिति की आवृत्ति को अपरोक्ष का हेतु कहने में कोई युक्ति-प्रमाण नहीं है। यद्यपि श्लोक ७८५ में वादी मान चुका है कि अपरोक्षज्ञान की आवृत्त्यादि नहीं चाहिये तथापि सिद्धांती का अभिप्राय है कि परोक्षज्ञान का आवर्तन जब कहीं भी अपरोक्ष प्रमिति नहीं कराता तो यहीं ऐसा मानना ग़लत होगा।

वस्तुतस्तु पूर्वपक्षी का तात्पर्य है कि ब्रह्मज्ञान एक दृढतम अभिमान-विशेष ही है। लोक में वर्ण, जाति, देश,

संभूय यदि सर्वाणि फलमेकं प्रतन्वते। प्रत्येकं प्रमितेर्वृद्धिरित्येतत्स्यात्तदा मृषा ॥८१२॥

व्यवसाय आदि के अभिमान अभ्यासवश स्थिर हो जाते हैं, उनमें परिवर्तन हो तो पुनः अभ्यास की ज़रूरत पड़ती है, जैसे संन्यासी आदि बनने पर नामान्तरण होता है तो नये नाम के अभिमान के लिये अभ्यास अपेक्षित होता है। ऐसे ही ब्रह्मज्ञान भी अभ्यास से पड़े संस्कारों का फलभूत अभिमान है। परिवर्तित नाम के बारे में प्रथम बार ही निःसंशय ज्ञान या प्रमिति हो चुकी है फिर भी आवृत्ति चाहिये, ऐसे ही प्रमिति तो शास्त्र से हो गयी फिर भी प्रसंख्यान चाहिये – यह भाव है। वादी यह नहीं कह रहा कि यह अभिमान ग़लत है, मिथ्या है; मान वह इसे सही रहा है लेकिन आभ्यासिक कह रहा है।

सिद्धान्ती का अभिप्राय है कि ब्रह्मप्रमिति और लौकिक प्रमितियों में यह अंतर है कि लौकिक प्रमिति अविद्या का बाध नहीं करती जबकि ब्रह्मप्रमिति ऐसा करती है। रज्जुप्रमिति से सर्प का बाध होने पर भी रज्जु के अज्ञान का बाध नहीं होता–'मुझे तीन काल में रज्ज्वज्ञान नहीं' ऐसा नहीं लगता। अविद्या स्वयं ब्रह्म पर अध्यस्त है अतः सर्प की तरह इसका बाध अधिष्ठान ब्रह्म की प्रमिति से होना है। इसलिये लौकिक प्रमिति प्रसंख्यानादि के लिये स्थान छोड़ती है, उनकी संभावना के सारे उपकरण यथावत् रहने देती है, लेकिन ब्रह्मप्रमिति द्वैतमात्र का बाध कर देती है जिससे प्रसंख्यानादि संभव नहीं रह जाते। अतएव लौकिक प्रमिति को कुछ लोग अविद्याका अभिभावकमात्र कहते हैं; अन्य कहते हैं कि वह अविद्या के हिस्से को ही हटाती है, समूची अविद्या को नहीं; किन्ही के अनुसार वह अविद्या की वृत्तिविशेषों से ही विरुद्ध है, अविद्या से नहीं; कुछ एक उससे निवृत्त होने वाली अविद्या ही अलग – सी मानकर उसे तूलाविद्या कहते हैं; इत्यादि प्रक्रियाविस्तार है। सभी इस तथ्य को प्रकाशित करना चाहते हैं कि अविद्या की वास्तविक निवृत्ति -- जो बाधरूप ही है – केवल ब्रह्मप्रमिति से संभव है। इसीलिये इस प्रमिति के अनन्तर कुछ अपेक्षित नहीं रह सकता। यदि रहेगा, तो द्वैतापत्ति स्फुट है यह आगे (श्लो ८४७ आदि) और स्पष्ट होगा। आवृत्ति के सहारे प्राप्त अभिमान को – चाहे उसे ज्ञान कह लें – अन्य आवृत्ति से बदला जा सकता है यह लोकसिद्ध है। ब्रह्मज्ञान भी ऐसा हो तो मोक्ष अनित्य मानना पड़ेगा। अतः ४.४.७७७ में वार्तिककार कहेंगे कि भावनाजन्य वैसे ही अस्थिर होता है जैसे वेश्या की मैत्री! किं च अभ्यास होगा चित्त में अतः उसका फल भी उसी में हो सकता है; तब विदेहकैवल्य असंभव हो जायेगा। कथंचित् चित्त की जगह अविद्यामें ही अभ्यासफल मानें तो भी अविद्यानिवृत्ति के अनन्तर उसका फल हो नहीं सकता। अतः अभ्यास की ज़रूरत है उस प्रमिति को पाने के लिये जो अविद्यानिवृत्ति करेगी, यही मानना पड़ेगा जैसा गीताभाष्य में संस्कृत मन को आत्मज्ञान का उपाय कहकर भाष्यकार ने माना है। इसीलिये विद्यारण्यस्वामी ने पंचदशी एवं जीवन्मुक्तिविवेक में तत्त्वज्ञान से मनोनाश–वसनाक्षय को पृथक् किया है। प्रारब्धकालिक विशिष्ट सुख के लिये प्रसंख्यान की अपेक्षा मानी भी जा सकती है लेकिन अविद्यानिवृत्ति में तत्त्वज्ञान स्वयं सक्षम है। अतः शंकरानंदस्वामी की गीताटीका में कही प्रक्रिया का भामती से अधिक तालमेल है ऐसा अनुभवियों का कहना है; अथवा 'समाहितो भूत्वा' इस साधनावस्था का वे स्पष्टीकरण करते हैं यह मानकर उनकी विवरण–वार्तिकानुसारी व्यवस्था बन जाती है। इसी तरह गीता–अष्टादशाध्याय में ज्ञान की परा निष्ठा के साधन भी प्रतिबंधक–निवृत्ति में विनियुक्त हैं : 'विशुद्ध बुद्धि' यद्यपि अखण्डसाक्षात्कार है तथापि विपरीतभावनादि से ग्रस्त है अतः अविद्यानिवर्तक नहीं है। उस प्रतिबंध की निवृत्ति के साधन वहाँ भगवान् ने बताये है। भाष्य में जो यह कहा है कि ज्ञानमात्र चाहे जिसे हो सकता है पर मोक्ष का हेतु वही ज्ञान है जो संन्यासनिष्ठ है; उसका भी यही अभिप्राय है कि प्रतिबद्धज्ञान को अप्रतिबद्ध किये बिना मोक्ष नहीं; वहाँ संन्यास से वे सभी उपाय उपलक्षणीय हैं जो प्रतिबंधनिरासी हैं। विवरण पृ० २८६ का इस विषय में अनुसंधान उचित है। एवं च सिद्धान्ती ब्रह्मज्ञान की वह अंतिमता कहना चाहता है जिसके बाद मोक्ष से अन्य कुछ भी संभव न रहे। यही कारण है कि वह प्रसंख्यानवाद का विरोध कर रहा है ॥८११॥

चारों हिस्सों को विषय का उपलंभक मानने में और दोष बताते हैं –

सभी पाद मिलकर यदि अर्थोपलब्धिरूप एक फल उत्पन्न करते हैं तो यह जो कहना है कि 'हर पाद से प्रमिति में बढोतरी होती है' वह झूठा हो जायेगा ॥८१२॥

संभूय फलकारित्वं क्रियाकारकसंगतेः। स्वरूपलाभतो नान्यदभिव्यक्तावपेक्षते ॥८१३॥
तैलवर्त्यग्नयो यस्मात्प्रदीपोत्पत्तिकारणम्। लब्धात्मलाभो दीपोऽर्थं स्वयमेव प्रकाशयेत् ॥८१४॥

श्लोक ७७९ के संदर्भ में सारश्लोकों से यह बताया था कि वादी प्रत्येक पाद से प्रमितिकी वृद्धि मानता है। इसी से सिद्ध है कि वह पादों को प्रमाणोत्पत्ति में विनियुक्त स्वीकारता है न कि विषयोपलब्धि में ही ॥८१२॥

पादों से प्रमिति और अर्थोपलब्धि दोनों हों, यह ठीक नहीं –

शब्द तथा उसके उपकारक युक्त्यादि का मेल-मिलाप ज़रूरी होने से यही माना जा सकता है कि पाद मिलकर प्रमिति को उत्पन्न करते हैं। अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये प्रमिति को स्वरूपलाभ (= उत्पत्ति) से अन्य और नहीं चाहिये ॥८१३॥

श्लोक में फलशब्द प्रमितिवाचक है, क्रिया से प्रमाणभूत शास्त्र विवक्षित है और अभिव्यक्ति का अर्थ है अविद्यानिवृत्ति।

शास्त्ररूप शब्द एवं युक्ति आदि उपकारक सब मिलकर प्रमिति पैदा करते हैं, अर्थोपलम्भके प्रति वे सब कारण बनते हों ऐसा नहीं। शब्द का विरम्य व्यापार माना नहीं जाता अर्थात् उसे जो करना है वह तुरंत कर देता है, रुक-रुक कर अनेक कार्य नहीं करता। प्रमिति भी किसी सहायक की अपेक्षा से अविद्यानिवृत्ति नहीं करती, प्रमिति पैदा होने के लिये चाहे जो जरूरी हो, पैदा होकर वह ख़ुद अविद्यानिवृत्ति में सक्षम होती है। 'उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किञ्चिदन्यदपेक्षते, उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते।' यह सर्वापेक्षासूत्र में भाष्य है (३.४.२६)। अतः पादों को अर्थोपलंभक नहीं मान सकते।

यहाँ भी विद्या या प्रमितिसे अप्रतिबद्ध ज्ञान ही समझना चाहिये। अतः उत्पन्न ज्ञान भी प्रतिबंधक्षय की अपेक्षा कर सकता है। लेकिन इससे पूर्ववादी के मत से तुल्यता नहीं आ जाती क्योंकि प्रतिबंधक्षय तो ज्ञानलाभ से पूर्व भी किया जा सकता है : तात्पर्य है कि यदि विधि मानें तो ज्ञान के बाद अवश्य कोई कर्तव्य मानना पड़ेगा जो प्रतिबंधध्वंसी हो। वह ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान को अकेला ही पुरुषार्थोपाय कहा है। प्रतिबंध का तो अभाव केवल सत्तया अपेक्षित है, वह ज्ञानके बाद ही किया जाये यह नहीं। प्रतिबंध सर्वत्र यथादृष्ट होता है तथा उसके निवारक को कारण कोटि में गिना भी नहीं जाता क्योंकि निवारक अनंतविध हो सकते है। अतः यहाँ भी जिस अधिकारी को प्रतिबंधक भासेगा वह उसे हटा भी लेगा, इसमें पाक्षिक नियम भी मान लेंगे – जैसा १.४ में भाष्यकार कहेंगे 'आत्मेत्येवोपासीतेति नापूर्वविधिः पक्षे प्राप्तत्वात्, तस्मात्त्यागवैराग्यादिसाधनबलावलम्बेनात्मविज्ञानस्मृतिसन्ततिर्नियन्तव्या भवति, न त्वपूर्वा कर्तव्या', वार्तिक में १.४.७५८-९३२ तक विस्तार से विचार करेंगे और वस्तुतः नियम भी अभिप्रेत नहीं है यह स्थापित करेंगे – किन्तु ऐसा जरूरी नहीं कि सब को प्रतिबंधक ज्ञान के बाद ही हटाना पड़े। यह केवल पहले-पीछे का मतभेद नहीं, ज्ञान व तद्द्वारा ब्रह्म के विनियोग के होने-न होने का सवाल है; विनियोग मानते ही द्वैत सत्यतादि सारी अनर्थपरंपरा पादप्रसारिका से प्रविष्ट हो जायेगी। हाँ, यदि मीमांसकों की उन मर्यादाओं से विचार न करना हो व केवल साधनक्रम की जिज्ञासा हो, तब तो प्रकृत पूर्वपक्ष का क्रम भी मान्य है ॥८१३॥

सोदाहरण स्पष्टीकरण करते हैं –

पूर्वोक्त बात माननी पड़ेगी क्योंकि तुम्हे भी इष्ट जो दृष्टांत है उसमें तेल, बत्ती और आग प्रदीप की उत्पत्ति में कारण बनते हैं, उत्पन्न हुआ तो प्रदीप स्वयं ही अर्थ को प्रकाशित करता है ॥८१४॥

दृष्टांत को वादी यहाँ तक खींच नहीं सकता कि प्रदीप तभी अर्थप्रकाश करता है जब तेलादि हो; क्योंकि तब उसे प्रसंख्यान को अनंत काल तक मानना पड़ेगा व विदेहमुक्ति असंभव हो जायेगी। ऐसा उसे भी अनिष्ट है अतः दृष्टांतानुसार

शब्देन ज्ञाप्यते यद्वत्तथैव यदि युक्तिभिः। व्यर्थताऽथ विशेषश्चेत्संप्राप्ता भिन्नमानता ॥८१५॥
स्वप्नादियुक्तिभिश्चेत्तल्लौकिकीभिः प्रसाध्यते। अवैदिकं भवेद्वस्तु स्याच्च शास्त्रानुवादता ॥८१६॥
वैदिकत्वेऽपि युक्तीनामागमार्थप्रबोधतः। अनुवादत्वमेव स्यात्स्याच्च शास्त्रादभिन्नता ॥८१७॥

यहाँ दार्ष्टांत में प्रमिति को प्रसंख्यानादि से निरपेक्ष रहकर ही अर्थावगमक कहना समुचित है। लोक में भी रटने की क्रिया हमेशा नहीं करते रहना पड़ता, कुछ काल बाद रटा विषय दृढ हो जाता है तो रटना वर्षों तक बिना किये भी उपस्थित हो जाता है। अतः वादी उसके सहारे मानता है कि अपरोक्ष होने के बाद प्रसंख्यांन नहीं चाहिये। सिद्धांत में तो रटने जैसा माना ही नहीं ज्ञान को; 'समनस्केन्द्रियसंनिकृष्ट स्फीतालोक मध्यवर्ती घट' का साक्षात्कार जैसे आवृत्ति नहीं चाहता वैसा आत्मबोध मान्य है ॥८१४॥

युक्ति के उपयोग की भी परीक्षा करने के लिये विचार करते हैं : शब्दादि ही यदि अर्थबोधक हैं अतः उन्हे अर्थबोधक प्रमिति का जनक मानकर अन्यथासिद्ध नहीं होने देना चाहते तो बताओ कि क्या वे मिलकर अर्थबोधक हैं या उनमें हर एक अर्थबोधक है? यदि मिलकर मानो तो क्या जितना अर्थ शब्द बोधित करता है उतना ही युक्ति-प्रसंख्यान भी करते हैं या उससे अन्य कुछ बोधित करते हैं? दोनों पक्षों में दोष होगा –

शब्द से अर्थ जैसा बोधित कराया जाता है वैसा ही यदि युक्तियों से भी होता है तो युक्तियाँ व्यर्थ हैं? और अगर युक्तियाँ कोई अलग ख़ासियत बताती हैं तो उन्हे भिन्न (= स्वतंत्र) प्रमाण मानना पड़ेगा ॥८१५॥

प्रमेय यदि अलग है तो प्रमाण स्वतंत्र होता है। आँख से घट का पता चलता है, छूकर भी उसका पता चलता है, लेकिन एक से रूप का और दूसरे से स्पर्श का प्रत्यक्ष होने से प्रमेय विभिन्न हैं अतः चक्षु तथा स्पर्श को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। ये दोनों मिलकर घटप्रमिति उत्पन्न नहीं करते, दो अलग-अलग प्रमितियाँ करते हैं, बाद में भले ही मन उनका तालमेल बैठा ले। ऐसे ही अगर शब्द से अतिरिक्त कोई बात युक्ति से पता चले तो वह स्वतंत्र प्रमाण होगी, फिर यह नहीं कह सकते कि 'चारों मिलकर प्रमाण हैं', यही कहना होगा कि चार प्रमाण हैं। ऐसा वादी को इष्ट नहीं क्योंकि वह अद्वैतात्मा को शास्त्रीय मानता है। यदि कोई अविचारशील मानना चाहे कि युक्ति भी ब्रह्म को स्वातंत्र्येण विषय करे, क्या हानि है? तो उसे वार्तिककार श्लोक ८५६ में समझायेंगे ॥८१५॥

मिलकर बोधकता का खंडन हुआ। यदि हर एक को बोधक मानो तो भी क्या लौकिक युक्तियाँ इसमें कारगर हैं या वेदमात्र से समझ आने वाली युक्तियाँ? दोनों हालतों में असंगति होगी –

यदि स्वप्नादि के अन्वय-व्यतिरेकादि लौकिक युक्तियों से ब्रह्म बोधित हो तो वह अवैदिक वस्तु हो जायेगी और शास्त्र ही अनुवाद रह जायेगा! ॥८१६॥ यदि वैदिक युक्तियाँ ही ब्रह्मबोधक हों तो वे शास्त्र से ज्ञात तत्त्व को विषय करने से अनुवाद होंगी, न कि प्रमाण का अंश। किं च तब वे शास्त्र से अलग रहेंगी भी नहीं (कि तुम्हें चार पाद उपलब्ध हों!) ॥८१७॥

स्वप्नादि अवस्थायें व्यभिचारी अतः मिथ्या हैं, आत्मा अव्यभिचारी अतः मिथ्या नहीं है इत्यादि को लौकिक युक्ति कहा है। यदि इनसे औपनिषद पुरुष विषय हो सके तो वह शास्त्रका तात्पर्य नहीं होगा क्योंकि प्रमाणान्तरविषय में शास्त्र अनुवादक ही रहता है। और तब भर्तृहरि के शब्दों में 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैश्चान्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥' (वा० प० १.३४) यह न्याय अवतरित हो जाता है। युक्ति से आत्मा सिद्ध होगा तो यदि लाघवादि दिखाया जा सकेगा तो वह युक्ति से ही असिद्ध भी हो जायेगा। रघुनाथ शिरोमणि ने यही स्पष्ट करने के लिये घोषणा की होगी 'विदुषां निवहैरिहैकमत्याद् यददुष्टं निरटङ्कि यच्च दुष्टम्। मयि जल्पति कल्पनाधिनाथे रघुनाथे मनुतां तदन्यथैव!॥' हर्षमिश्र ने अतएव पहले ही कहा था कि खण्डनयुक्तियों से सैद्धान्तिक मार्ग पर प्रहार हुआ तो वह भी बच नहीं सकता, हाँ श्रुति की शरण ले तो बात अलग है। इसलिये औपनिषद आत्मा स्वतंत्र युक्तियों से बोध्य नहीं।

आवृत्तिश्च प्रसंख्यानं कुर्यात्साऽतिशयं कथम्। न ह्यावृत्तौ प्रमाणस्य प्रमेयेऽतिशयो यतः ॥८१८॥
यत्रापि चान्धकारादिदोषात्क्रमविनिश्चयः। तत्रापि भिन्नमेयत्वान्नैव संभूयमानता ॥८१९॥

युक्तियाँ भी वेदोक्त मानें तो उन्हे वेद से पृथक् कैसे गिन सकते हैं। वैदिक युक्तियाँ जैसे छांदोग्य में 'अन्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छ' (६.८.३) आदि, या बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ने(४.३.) अवस्थाओं में संचरण करने वाले को उनसे पृथक् सिद्ध किया है, या पूरी बृहदारण्यक को ही पंचावयवी प्रयोग बनाकर भाष्यकार ने दिखा दिया है! वार्तिक ४.५ में इस बात का वर्णन है। इन तथा ऐसी बहुतेरी युक्तियों को शास्त्र से अलग प्रमाण नहीं गिना जा सकता। यदि कहें कि वेद ही पहले प्रतिज्ञा से प्रमिति कराता है तथा फिर उसी को उपपत्ति से बतता है इस दृष्टि से दो पाद हैं; तब द्वितीय पाद को प्रमाणांश नहीं कह सकते क्योंकि वह प्रमितविषयक होने से अनुवाद ही होगा। वेदबोधित युक्तियाँ भी वेद ही हैं इसमें शास्त्रप्रकाशिकाकार ने एक उक्ति प्रमाणित की है जिसका तात्पर्य है कि जैसे समुद्र से लकड़ी उठा लायें और उसकी खोह में पानी हो तथा उस पानी से नमक निकालें तो भी वह नमक समुद्र से निकला ही माना जायेगा, इसी तरह वेद में प्रदर्शित दृष्टान्तादि के बल पर जो युक्तियाँ या न्याय स्थापित होते हैं वे भी वेद से अतिरिक्त नहीं माने जा सकते ॥८१६-८१७॥

युक्तियों की प्रमाणतया या प्रमाणांशतया शास्त्रोपकारकता का निरास हुआ। अब प्रसंख्यान भी उपकारक नहीं हो सकता यह बताते हैं –

प्रसंख्यान कहते हैं आवृत्ति को। वह शास्त्र के विषय में किसी अतिशय का आधान कैसे कर सकती है! क्योंकि यह कहीं नहीं देखा जाता कि प्रमाण की आवृत्ति से प्रमेय पर कोई असर पड़े ॥८१८॥

जब प्रमेय में कोई ख़ासियत ला नहीं सकता तब प्रसंख्यान व्यर्थ ही है, अंगादि नहीं यह भाव है।

प्रश्न होता है कि आवृत्त्यधिकरण भाष्य में कहा है 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम! दृश्यन्ते हि सकृच्छ्रुताद् वाक्याद् मन्दप्रतीतं वाक्यार्थम् आवर्तयन्तः तत्तदाभासव्युदासेन सम्यक्प्रतिपद्यमानाः।' अतः शाब्द आवृत्ति का उपयोग कैसे मना किया जाये? उत्तर है कि यह आवृत्ति इतना ही करती है कि शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाये। अतः यदि किसी को प्रथम बार ही विस्पष्ट बोध हो जाये तो उसे आवृत्ति की क्या ज़रूरत? अंग मान लेने पर तो कुलधर्म की तरह आवृत्ति आवश्यक हो जायेगी, वह स्वीकार नहीं किया जा सकता, दृष्ट उपयोग की मनाही नहीं कर रहे। आवृत्तिभाष्य में ही 'येषां पुनर्निपुणमतीनां नाज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबंधोऽस्ति ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुमिति तान् प्रति आवृत्त्यानर्थक्यमिष्टमेव।' कह कर यह बात स्पष्ट कर दी है। हर हालत में, आवृत्ति की सार्थकता प्रमिति में ही होती है न कि अर्थप्रकांश में।

चार पादों के शरीर वाला प्रमाण है – यह मानने वाला अतिशय को प्रमाण पर होने वाला तो कह नहीं सकता क्योंकि अतिशय आधायक प्रसंख्यानरूप पाद के बिना प्रमाण का स्वरूपलाभ ही नहीं। अतः वह प्रमेय पर ही अतिशय कहेगा और वह लोकदृष्ट न होने से अमान्य है। अतएव प्रसंख्यान से आत्मा में परोक्षताहानि या आपरोक्ष्योपजनि रूप अतिशय भी नहीं कहा जा सकता। आवृत्त शब्द से नवीन प्रमिति हो सकती है, किन्तु पूर्व प्रमिति में प्रमेयविषयक कोई अतिशय नहीं – यह भी तात्पर्य समझ लेना चाहिये ॥८१८॥

शंका होगी कि मंदांधकार में या दूर से देखने पर आवृत्ति से क्रमशः निश्चय होता देखा जाता है : पहले 'लगता' है रस्सी है, बार-बार देखकर 'पता चल जाता' है कि रस्सी ही है। तब इसे व्यर्थ कैसे कहा जाये? समाधान है –

जहाँ अँधेरा आदि दोष के कारण क्रम से – आवृत्ति से – निश्चय होना देखा भी जाता है वहाँ भी प्रत्येक ज्ञान के प्रमेंय अलग-अलग होते हैं अतः चक्षु व आवृत्ति मिलकर कोई निश्चयात्मक नवीन ज्ञान उत्पन्न करते हों ऐसा नहीं ॥८१९॥ पहले इतना ही अनुभव होता है 'कोई चीज़ है'; उस ज्ञान का उतना ही प्रमेय है। फिर हलचलादि से

पूर्वं वस्त्विति विज्ञानं प्राण्ययं मानुषस्तथा। पुरुषोऽयमथ श्यामो डित्थ इत्यर्थभिन्नता ॥८२०॥
परिच्छेदफलत्वं हि मानत्वं तच्च भिद्यते। तदभावे तु पूर्वेषामुत्तरस्यैव मानता ॥८२१॥

लगता है 'कोई प्राणी है'; अतः पूर्वज्ञान से इसका प्रमेय अलग हुआ। फिर क्रमशः 'मनुष्य है', 'पुरुष है', 'साँवला है', 'डित्थनामक व्यक्ति है' इत्यादि ज्ञान होते जाते हैं जिनके प्रमेय विभिन्न हैं ॥८२०॥

आवृत्ति से एक ज्ञान में निश्चयता नहीं आती बल्कि विभिन्न बातें पता चलती हैं जिन्हे मनमें एकत्र कर वस्तु का बहुप्रकारक ज्ञान हो जाता है जिसे लोक में निश्चय कहते हैं। यद्यपि विषय एक ही पिण्ड है तथापि प्रकारों का भेद होने से प्रमेयों का भेद माना जाता है। सर्वथा एकविध ज्ञान की आवृत्ति से केवल संस्कारदार्ढ्य हो सकता है, निश्चयादि कोई विलक्षण ज्ञान नहीं। अतः भ्रमकी आवृत्ति से भी भ्रम ही बना रहेगा। 'आवृत्त झूठ भी सच हो जाता है' ऐसा कुछ लोग कहते हैं लेकिन उन्हे ही चाहे दस साल तक निरंतर कहते रहें 'तुम जड पत्थर हो' तो भी साँस लेना, भोजन करना छोड़ते हों यह नहीं देखा जाता। आवृत्ति करते हुए जो नयी सूचनायें मिलती हैं वे नयी प्रमितियाँ ही हैं, पूर्वप्रमिति का विकास नहीं। यह उक्त दृष्टांत से वार्तिककार ने सुस्पष्ट किया है। माघ में 'चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा⋯क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' आदि भी इसी विषय में उदाहरणीय है। यद्यपि कोई पूछ सकता है कि प्रथम ज्ञान के ही विस्तार को क्यों न माना जाये? तथापि प्रकृत विचार में वह प्रश्न असंभव है क्योंकि ऐसी मान्यता सिद्धांती या पूर्वपक्षी किसी की भी नहीं है। कोई ज्ञान को वृत्ति कहेगा व कोई आत्मगुण तथा अपनी-अपनी प्रक्रियाओं से इन्हे मानना है कि अगली जानकारी हो इसके लिये पिछली जानकारी ज्ञानरूप से न रहकर संस्काररूप से रहने चली जाती है अतः दो जानकारियाँ इकट्ठी नहीं होती कि ज्ञानरूप से जुड़ती जायें। संस्कारों के संमिलन से अंत में कोई एक ज्ञान हो भी सकता है जिसमें अनेक प्रकार भासें, लेकिन वह प्रत्यभिज्ञातुल्य ही होगा क्योंकि संस्कारवश हुआ है। प्रायः लोकोपयोगी ज्ञान चीजों के नाम, विनियोग, मूल्य, स्वामित्व आदि बहुत से प्रकारों को लिये ही होते हैं और ये प्रकार प्रत्यक्षयोग्य हैं नहीं अतः दार्शनिक 'यह बेशकीमती पगड़ी पिता जी की है' इस अनुभव को 'प्रत्यक्ष' कहने में संकोच ही करेंगे! प्रत्यक्ष-परोक्ष का मिलाजुला रूप इसे मानना भी सबको सहन होना मुश्किल है। बल्कि इसे अनेक ज्ञानों का पुंज स्वीकारने को उतावले रहेंगे। इसलिये एक ज्ञान ही बढकर विविध प्रकारों वाला हो ऐसा प्रश्न असंभावित है। जो ऐसी जिज्ञासा करेगा उससे भी समझना पड़ेगा कि ज्ञान वह किसे कहता है? और विकास से क्या अभिप्राय है? इन पर विचार करने से स्पष्ट होने लगेगा कि दार्शनिकों के तुल्य ही कोई प्रक्रियान्तर उसे विवक्षित है। अतः पुनः वह प्रश्न असंभव हो जायेगा ॥८१९-८२०॥

यह भी कहना अनुचित होगा कि प्रमेय विभिन्न होने पर भी आवृत्त किया जाता प्रमाण एक ही है जो निश्चयरूप बन जाता है। अनौचित्य ही व्यक्त करते हैं –

प्रमाण होने का मतलब है प्रमितिरूप फल वाला होना। जब प्रमितियाँ अनेक हैं तब प्रमाण विभिन्न मानने ही पड़ेंगे। यदि अंतिम ज्ञान का ही फल प्रमिति मानें, पूर्व ज्ञानों का नहीं, तब अंतिम को ही प्रमाण कह सकेंगे, अतः न आवृत्तिका व न संभूयकारिता का समर्थन हो सकेगा ॥८२१॥

'मितिः सम्यक्परिच्छित्तिः' ऐसा कुसुमांजलिकार ने प्रयोग किया है अतः परिच्छेद या परिच्छित्ति शब्द प्रमितिबोधक हैं। पूर्व दृष्टांत में हर बार नवीन प्रमिति हो रही थी अतः विभिन्न प्रमाण सचेष्ट थे यह मानना ज़रूरी है। यद्यपि चक्षुरादि वही हैं तथापि हर दर्शन-व्यक्ति को उत्पन्न करते हुए वे विभिन्न प्रमाण बनते जाते हैं यह वादियों को मान्य है। इसे कालवश, सहकारिवश या अन्यान्य ढंगों से उपपन्न कर सकते हैं लेकिन वार्तिककार ने परिच्छेदवश संगत बनाया है : अविद्यानिवृत्ति ही प्रमिति है, निवर्तक प्रमाण है; जितनी बार अविद्यानिवृत्ति होगी (अविद्यांशों की, तद्वृत्तियों की इत्यादि यथेष्ट कल्पना समझ लेनी चाहिये) उतनी बार जो-जो निवर्तक व्यक्ति होंगे वे सभी प्रमाण हैं तथा परस्पर भिन्न हैं क्योंकि उनके निवर्त्य भिन्न हैं। यद्यपि यह मानना वैसा ही है जैसे दस घड़े फोड़ने वाले एक दण्डे को दस दण्डे मान लेना :

अथ मेयप्रभेदेऽपि प्रमाणैकत्वमिष्यते। वस्तुग्राहितयाऽक्षादैरैकार्थ्येऽभिन्नमानता ॥८२२॥
साध्यमानं प्रसंख्यानं यागवत्साधयेत्फलम्। कारकं, ज्ञापकं शास्त्रं तयोः स्यादेकता कथम् ॥८२३॥

तथापि दार्शनिक रीति से ऐसा माना जाता है। इन सब अटपटेपनों से ही प्रपंचव्यवस्थाओं का मिथ्यात्व स्पष्ट होता है। अतः विवरणकारने प्रतिकर्मव्यवस्था में माना है 'तस्मान्न सर्ववादिनां प्रमाणादिव्यवहारसम्भव इति। सत्यम्; अस्मत्पक्षे तु कथंचित् संभवं प्रदर्शयिष्यामि' (पृ० १९९) कि परमार्थतः कोई व्यवस्था बन नहीं सकती। विचारसरणि के निर्माण में सभी को लोकविलक्षण कल्पनायें करनी ही पड़ती हैं। प्रयोजन है मोक्षलाभ, अतः वार्तिकोक्त ढंग भी मोक्षोपयोगी अद्वैतनिश्चय में कारगर होने से ही मान्य है, न कि किसी अन्तर्हित विशेषता से। इसलिये वस्तु-प्राणी-मनुष्य आदि नाना प्रमितियाँ कराने वाले नाना प्रमाण हैं, एक ही प्रमाण की आवृत्ति नहीं। यदि वस्तुविषयक समग्र अज्ञान के निवर्तक को ही प्रमाण कहा जाय तो भी पूर्व ज्ञान प्रमाण न होने से न वहाँ प्रमाणावृत्ति कही जा सकती है और न यह कि अनेक प्रमाण मिलकर, या प्रमाण और आवृत्ति मिलकर निश्चय पैदा करते हैं। समग्र अज्ञान का निवर्तक भी असंभव है, यह बात अलग है। एक ब्रह्मसाक्षात्कार को छोड़कर किसी को अविद्यामात्र का निवर्तक कहा ही नहीं जा सकता ॥८२१॥

चाहे विभिन्न विशेषतायें पता चली हों लेकिन हैं सब एक ही पुरोवर्ती चीज़ के बारे में, अतः कह सकते हैं कि प्रमेय एक ही है, तो प्रमाण भी एक ही माना जा सकता है। लेकिन ऐसा मानने पर वादी को अनिष्ट का सामना करना पड़ेगा यह समझाते हैं –

यदि विभिन्न प्रमेय होने पर भी वस्तुग्राही होने से प्रमाण की एकता मानना चाहते हो तो प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाण भी वस्तुग्राही होने से एक ही अर्थ को विषय करने वाले होंगे और इन्हे एक प्रमाण मानना पड़ेगा ॥८२२॥

तात्पर्य है कि उक्त स्थल पर प्रमेय अलग ही मानना ज़रूरी हैं। चाहे चीज़ एक ही है, पर क्योंकि उसके बारे में अलग-अलग बातें पता चल रही हैं अतः प्रमेयों को विभिन्न स्वीकार लेना चाहिये। अज्ञान में भी विशेष्यता के साथ प्रकारता होती है – अज्ञान भावपदार्थ है यह याद रखना चाहिये – अतः विशेष्य एक होने पर भी प्रकारभेद से अनेक अज्ञानों का वह विषय बन जाता है। हर ज्ञान भी प्रकारभेदानुसार तत्तत् प्रकारक अज्ञानों का ध्वंस करता जाता है। इस तरह प्रमिति (अविद्यानिवृत्ति) और प्रमाण का भेद निश्चित होने से इनसे निरूपित प्रमेय भी विभिन्न हो जाते हैं, चाहे वस्तु वही है। अन्यथा प्रत्यक्षादि भी किसी न किसी वस्तु को ही दिखाते हैं एतावता इन्हे भी एक ज्ञान मानना पड़ेगा। आँख से घड़ा देखते हैं, त्वक् से उसे छूते हैं, नाक से उसे सूँघते हैं, बजाकर उसे कान से सुनते हैं (और चाहें तो चाट कर चख भी सकते हैं!) लेकिन यह नहीं माना जाता कि आँखादि सब एक प्रमाण हैं, सब और अलग-अलग प्रमाण ही माने गये हैं। आँख से कोई चीज़ दीखती है, निकट बैठा व्यक्ति उसके बारे में बताता है, हलचलादि से उसके बारे में अनुमानादि भी कर लेते हैं लेकिन इतने मात्र से प्रत्यक्ष-शब्द-अनुमानादि को एक प्रमाण नहीं कहा जाता। अतः वादी प्रमेयभेद होने पर प्रमाणैक्य नहीं स्वीकार सकता। [म० अ० सं० श्लोक में 'हि' की जगह 'ऽपि' पाठ समझना चाहिये, आनंदाश्रम एवं तिरुपति दोनों संस्करणों में अपिकार ही है।] ॥८२२॥

प्रसंख्यान सहायक नहीं इसमें कारणान्तर देते हैं –

चेष्टापूर्वक किया जाता प्रसंख्यान वैसे ही फल देगा जैसे याग, अतः प्रसंख्यान कारक है। शास्त्र है ज्ञापक। इन दोनों की एकता कैसे हो सकती है? ॥८२३॥

एकता अर्थात् एकवाक्यता। शास्त्र की किसी अन्य ज्ञापक से ही एकवाक्यता संभव है, कारक तो भिन्नजातीय पदार्थ है उससे एकवाक्यता का प्रसंग नहीं। विद्यासागर एकता का अर्थ करते हैं 'संभूयकारिता' अर्थात् शास्त्र किसी कारक से मिले तब अपना फल उत्पन्न करे यह संभव नहीं। कारक तो पुरुषयत्नजन्य वस्तु है, उससे मिलना पड़े तो शास्त्र में सापेक्षता हो जायेगी यह भाव है ॥८२३॥

प्रमाताऽऽत्मा न मानांशो यद्ययं व्यावहारिकः। परश्चेत्स प्रमेयः स्यात्कथं चानुभवः फलम् ॥८२४॥
स्वरूपं यद्यसाध्यं तत्स्वातन्त्र्येण प्रसिद्धितः। तज्ज्ञानं चेत्प्रमाणं तत्तच्च शास्त्रान्न कार्यतः ॥८२५॥
शास्त्रमावर्त्यमानं हि स्वभावं नैव मुञ्चति। परोक्षवृत्तिर्युक्तिश्च कथं ते मितिवर्धने ॥८२६॥
प्रमितेश्च प्रमेयस्य वृद्धौ वृद्धिः स्वतो न हि। तस्य वृद्धिर्मितेर्वृद्धावित्यन्योन्यसमाश्रयः ॥८२७॥

युक्ति व प्रसंख्यान शब्द के सहायक बनते हैं इस बात का निरास हुआ। वादी आत्मा को भी एक पाद मानता है। अब उसकी परीक्षा करते हैं : संसारी जीव और असंसारी ब्रह्म दोनों ही शब्दसहायक हों यह ठीक नहीं –

यदि व्यवहार का अनुसरण करने वाला सबको उपलभ्यमान संसारी अर्थात् जीवात्मा को प्रमाणांश कहो तो वह ठीक नहीं कारण कि वह तो प्रमाता अर्थात् प्रमाका आश्रय है। यदि परब्रह्मरूप आत्मा को प्रमाणांश कहो तो भी गलत है क्योंकि वह तो प्रमेय है। किं च अनुभव को फल मानते हो, वह भी कैसे? ॥८२४॥

आश्रय और आश्रित होने वाले में अत्यंत भेद होता है जबकि अंश और अंशी में अभेदसहिष्णु भेद होता है। प्रमाता जब आश्रय है तो उसे अंश नहीं कह सकते क्योंकि दो पदार्थ आपास में अत्यंत भिन्न भी हों और भिन्नाभिन्न भी हों यह संभव नहीं। परब्रह्म प्रमेय है अतः प्रमाणांश नहीं हो सकता क्योंकि विषय और विषयी भी अलग-अलग ही हुआ करते हैं। प्रमाण विषयी है अतः विषयभूत ब्रह्म से अलग ही होगा तथा अलग वस्तुओं में अंशांशिता नहीं होती। इस तरह चार टुकड़ों वाले प्रमाण का निरास हुआ। आगे प्रश्न उठाते हैं कि अनुभव को फल मानने पर भी प्रसंख्यान का विनियोग उपपन्न नहीं होगा ॥८२४॥

अनुभव से ब्रह्म भी समझा जा सकता है और वृत्ति भी, अतः कहते हैं –

यदि आत्मस्वरूप को अनुभव कहते हो तो वह असाध्य है, उसकी प्रसिद्धि तो स्वयं उसी से होती है अर्थात् स्वप्रकाश है अतः उसे प्रमाणका फल कहना नहीं बनता। यदि उसके ज्ञान को – ब्रह्माकार वृत्ति को – अनुभव कहो तो वह प्रमिति होने से शास्त्र का (प्रमाण का) कार्य है, न कि कर्त्तव्यरूप प्रसंख्यान का ॥८२५॥

शास्त्र निरपेक्ष प्रमाण है अतः वृत्ति तो उसीसे उत्पन्न हो जायेगी, इसमें प्रसंख्यान का क्या उपयोग! ॥८२५॥

यह जो कहा था कि हर पाद प्रमिति की वृद्धि में कारण बनता है, वह भी ठीक नहीं –

आवृत्त किया जाता भी शास्त्र अपना स्वभाव छोड़ नहीं देगा। युक्ति भी परोक्षतया ही अर्थज्ञान कराती है। ये दोनों परोक्ष ज्ञान के हेतु हैं तो उस ज्ञान की अपरोक्षतारूप वृद्धि कैसे कर देंगे? ॥८२६॥

पुनरावर्तन से वस्तुस्वभाव नहीं बदलता। तुम शब्द और युक्ति को परोक्ष ज्ञान का साधन मानते हो, फिर इनकी आवृत्ति से अपरोक्ष ज्ञान कैसे होगा? श्लोक के 'परोक्षवृत्तिः' शब्द का अर्थ 'संसृष्टपरोक्षार्थधीजनकत्व' आनंदपूर्ण ने बताया है ॥८२६॥

प्रमिति की वृद्धि मानने में और भी दोष हैं –

प्रमेय की वृद्धि होने पर ही प्रमिति की वृद्धि होती है, स्वतः नहीं। प्रमेय की वृद्धि निर्भर करती है प्रमिति की वृद्धि पर। इस तरह अन्योन्याश्रयवश प्रमितिवृद्धि पक्ष असंगत है ॥८२७॥

यद्यपि स्पष्टतः कथन यह उदयनाचार्य का है 'अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्' (कु० ४.४) अर्थात् ज्ञानों में विशेषता उनके विषय ही होते हैं, ख़ुद ज्ञान निराकार – विशेषतारहित – हैं, तथापि यह मानते सभी आस्तिक हैं। ज्ञान की साकारता नास्तिकों ने ही स्वीकारी है। अतः आस्तिकों को प्रमिति में वृद्धि तभी स्वीकार्य होगी जब प्रमेय प्रवृद्ध हो गया हो। प्रमेय की प्रवृद्धता प्रमाणाधीन होने से प्रवृद्ध प्रमिति ही प्रमेय को प्रवृद्ध सिद्ध कर सकती है। अतः अन्योन्याश्रय है। यद्यपि वृद्ध प्रमिति को उत्पत्ति के लिये वृद्ध प्रमेय चाहिये जबकि वृद्ध प्रमेय को ज्ञप्ति के लिये ही वृद्ध प्रमिति चाहिये

उत्पाद्यापि मितिं शास्त्रं यदि युक्त्याद्यपेक्षते। स्वर्गादावेवमेव स्यात्सापेक्षं च भवेत्तदा ॥८२८॥
व्यपास्तानर्थसंदर्भमात्मानमवगच्छतः। किमाप्यमधिकं शास्त्राद्येन युक्त्याद्यपेक्षते ॥८२९॥
का वा युक्तिः प्रदीपस्य सर्पाद्याकम्पनाशनम्। रज्ज्वादितत्त्वविज्ञानं कुर्वतः स्वेन तेजसा ॥८३०॥

अतः न दोनों की उत्पत्ति परस्पराश्रित है और न ज्ञप्ति, तथापि प्रमिति की वृद्धता की ज्ञप्ति को प्रमेय की वृद्धता की ज्ञप्ति चाहिये तथा प्रमेयवृद्धता की ज्ञप्ति को मितिवृद्धता की ज्ञप्ति चाहिये इस प्रकार अन्योन्याश्रय है। प्रमिति स्वज्ञप्ति के लिये अन्य-निरपेक्ष होने पर भी प्रमिति का वृद्धिरूप अतिशय तो सापेक्षज्ञप्तिक है। ज्ञप्ति से प्रमात्मक ज्ञान ही समझना चाहिये।

किं च न्यून प्रमेय से वृद्ध प्रमेय अलग है अतः न्यून प्रमिति से वृद्ध प्रमिति भी अलग ही होगी, एक ही प्रमिति है कहाँ जिसकी वृद्धि हो जाये? यह भी समझ लेना चाहिये ॥८२७॥

शास्त्र को युक्त्यादि की अपेक्षा होती है इसका प्रत्याख्यान करते हैं –

शास्त्र यदि प्रमिति उत्पन्न करने के बाद फलसिद्धि के लिये युक्ति आदि की अपेक्षा रखे तो स्वर्गादि के लिये भी यही व्यवस्था होगी! और अगर प्रमिति उत्पन्न करने के लिये ही शास्त्र को युक्ति आदि चाहिये तो वह सापेक्ष हो जायेगा ॥८२८॥

स्वर्गादि फलों के उद्देश्य से युक्ति आदि की ज़रूरत में न कोई प्रमाण है और न वादी ही ऐसा मानता है। यदि माने तो अनिष्ट फलों की युक्तियों का अनुसंधान छोड़ने से ही नरक से बचना सर्वसुलभ हो जायेगा! बोधोत्पत्ति में अपेक्षा होने पर निरपेक्षता की हानि स्पष्ट है। युक्ति को प्रमाणांश कहने वाला यह भी नहीं बोल सकता कि युक्तिसापेक्षता प्रमाणसापेक्षता नहीं है; क्योंकि प्रमाणांश भी प्रमाण ही होता है। किं च स्वरूपलाभ होने पर प्रमाण को स्वार्थबोधन के लिये अन्य कुछ नहीं चाहिये यही मान्य है अतः प्रमाण न हो तो भी युक्ति की ज़रूरत सह्य नहीं ॥८२८॥

वस्तुज्ञान से अधिक कोई फल शास्त्र का है यह मानकर पूर्व में विचार किया। वस्तुतस्तु अधिक फल है भी नहीं कि कुछ अपेक्षित हो सके –

शास्त्र से अनर्थसमूहरहित आत्मा को समझ लेने वाले के लिये और प्राप्तव्य है क्या जिसके लिये युक्त्यादि की अपेक्षा हो? ॥८२९॥

सर्वज्ञमुनि भी कहते हैं 'प्रत्यक्स्वभावकमपास्तसमस्तदुःखं तद्वैष्णवं सुखमवाप्तवतः किमन्यत्! (१.३०२)। भगवान् ने तो स्पष्ट घोषित किया है 'बुद्धिमान् कृतकृत्यः' (१५.२०), 'कार्यं न विद्यते' (३.१७) एवं 'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते' (७.२)। ब्रह्मबोध के बाद ज्ञातव्य और कर्तव्य दोनों न बचने से प्रसंख्यान या युक्तिचिंतन की अपेक्षा मानना असंभव है। यद्यपि वादी का मानना यही है कि ब्रह्मबोध के लिये ये चाहिये, न कि ब्रह्मबोध के बाद (श्लो० ७८५) तथापि सिद्धांती का अभिप्राय है कि शास्त्र को समर्थ प्रमाण मानकर फिर उसे स्वार्थबोधन में अन्याकांक्षी मानना अनुचित है। तात्पर्य यही है कि सामग्री में भले ही इनकी गणना करो लेकिन यह मत कहो कि प्रमिति व फल के मध्य कोई व्यवधान है। सामग्री में भी प्रसंख्यान का अग्रह ठीक नहीं क्योंकि कोई विलक्षण महापुरुष सकृत् श्रवण से भी ज्ञान प्राप्त करते हैं ऐसा आवृत्त्यधिकरणादि में बताया है ॥८२९॥

स्वप्रमेय के ज्ञापन में शास्त्र युक्त्यादि का मुँह नहीं देखता इसे उदाहरण से व्यक्त करते हैं –

दीपक अपने ही तेज के बल से सर्पादि और उसके भय से होने वाले कम्पनादि का नाश करने वाले रज्जुयथार्थज्ञान को उत्पन्न करता है, इसमें उसे किस युक्ति की ज़रूरत पड़ती है ? ॥८३०॥

इसी तरह शास्त्र प्रपंचाधिष्ठान की यथार्थता का ज्ञान कराने में ख़ुद सबल है, उसे किस युक्ति की अपेक्षा हो सकती है? जो तो यह अनुभव है कि 'हम शास्त्र सुन रहे हैं फिर भी तत्त्वसाक्षात्कार नहीं हो रहा अतः कोई तो कमी अवश्य

गुणप्रधानभावो हि विना नैवैकवाक्यताम्। वस्तुकार्यार्थतात्पर्यभेदान्नापीह सा भवेत् ॥८३१॥

माननी चाहिये', उससे सिद्ध होने वाली कमी है साधनसंपत्ति की न्यूनता तथा पदार्थों की जानकारी न होना। दीपक भी आख़िर आँख वाले की तो अपेक्षा रखता ही है! ऐसे ही पद-पदार्थ के जानकार अधिकारी की अपेक्षा यहाँ भी है। क्लृप्त अपेक्षाओं से अन्य की निरपेक्षा को ही मीमांसक 'अनपेक्षा' कहता है अतः अधिकारिप्रभृति की अपेक्षा से सापेक्षतापत्ति नहीं ॥८३०॥

पूर्व प्रसंग में स्पष्ट किया कि शास्त्र को प्रमाण मानकर उसे युक्ति या प्रसंख्यान की अपेक्षा है यह कहना नहीं बनता। वादी ने शास्त्र की प्रधानता की सुरक्षा रखते हुए प्रसंख्यान को उसका शेष बनाया था (श्लो० ७७०)। इसका श्लोक ८००-८०८ तक निरास कर चुके हैं लेकिन वहाँ युक्ति यह थी कि i) कार्य स्वभाव से ही प्रधान होता है, ii) प्रकृत कार्य है प्रसंख्यान जो अनुभूति का साधन न होने से अनुभवाधिकार वाले नियोग का विषय होने के अयोग्य है, iii) प्रसंख्यान आवृत्तिरूप है, भावार्थ नहीं, इसलिये नियोगविषय बनने लायक नहीं, iv) गुणविधि मानना भी यहाँ संभव नहीं, v) आवृत्तिबोधक कोई पद श्रुत न होने से इसे विधेय कहना संगत नहीं, तथा vi) असाधनकी आवृत्ति से साध्यलाभ नहीं हुआ करता । अब अन्य युक्तियों से खण्डन करने के लिये कहते हैं –

एकवाक्यता के बिना शेष-शेषिभाव नहीं होता और अभिधाश्रुतिका आत्मवस्तु में तात्पर्य एवं प्रसंख्यानविधि का नियोग में तात्पर्य मानने से प्रकृत में एकवाक्यता उपपन्न की नहीं जा सकती ॥८३१॥

एक अर्थ का प्रतिपादन करना – यही एकवाक्यता होती है। 'अर्थैकत्वाद् एकं वाक्यम्' यही जैमिनि ने स्थापित किया है। सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण, उपसंहाराधिकरण (३.३.१,२), सर्वाभेदाधिकरण, आनंदाद्यधिकरण, आध्यानाधिकरण, आत्मगृहीत्यधिकरण (वहीं० ५,६,७, ८) इयदधिकरण, अन्तरत्वाधिकरण (२१;२२), कामाद्यधिकरण (२५) आदि में भी यही स्थापित है। शेषशेषिभाव या तार्तीय होता है या चातुर्थिक। तार्तीय के लिये श्रुत्यादि प्रमाण चाहिये तथा चातुर्थिक के लिये भी शेषशेषिता पूर्वसिद्ध चाहिये क्योंकि शेषी ही शेष का प्रयोजक होता है। अथवा विनियोग और अर्थापत्ति के भेद से तार्तीय व चातुर्थिक का भेद समझ सकते हैं। श्लोक २४३ में इस पर विचार आ चुका है। हर हालत में, जिन पदार्थों का आपसी मेल प्रमाणित होता है उन्ही के शेषशेषिभाव का प्रसंग उठता है। परस्पर संबंध या शब्द से होगा या आर्थिक। शब्दवश हो तो एकवाक्यता आवश्यक है, एक अर्थ से सम्बद्ध रूप से जिनका उच्चारण है उन्ही को शब्दतः सम्बद्ध समझा जा सकता है। प्रकृत में वादी अभिधाश्रुति – तत्त्वमस्यादि – वस्तुपरक मानता है और प्रसंख्यानश्रुति को विधिपरक। विभिन्न अर्थों से संबद्ध होने से इन दोनों की शाब्दी संबद्धता है नहीं कि शेषशेषिता कही जा सके। आर्थिक भी नहीं है यह अगले श्लोक में स्पष्ट करेंगे।

यदि एकवाक्यता के लोभ में अभिधाश्रुति को विधिपरक माना जाये तो वादी को मीमांसकों की तरह ब्रह्मनास्तिक बनना पड़ेगा क्योंकि तब ब्रह्म अप्रमाणित रह जायेगा। प्रसंख्यानविधि को भी वस्तुपरक मानकर एकवाक्यता नहीं बना सकते क्योंकि विधि स्वभावतः ही प्रधान होती है, उस धर्म का व्यभिचार प्रसंख्यानविधि में हो इसके लिये कोई प्रमाण नहीं। कथंचित् विधि के प्राधान्य की उपेक्षा कर भी दें, तो भी प्रसंख्यान साध्यपरक ही हो सकता है, उसे सिद्धपरक कहना युक्तिविरुद्ध है। अतः तत्त्वश्रुति और प्रसंख्यानश्रुति के अर्थ अलग ही रहेंगे जिससे इनकी एकवाक्यता असंभव है। यद्यपि क्वचित् अवान्तर वाक्यभेद माना जाता है तथापि वह अगतिकगति है, उत्सर्ग नहीं। 'विधर्वा धारणवत्' (३.४.२०) में ऐसा ही प्रसंग विचारित है। पूर्वतंत्र में (३.४. आधि ५) धारण की विधि मानी है लेकिन वह अगत्या ही मानी है ऐसा कल्पतरु में (१.१.३१. पृ० २२२) स्पष्ट किया है 'अगत्या कल्प्योऽपूर्वत्वाद् वाक्यभेदो हि धारणे।' प्रकृत में ऐसी कोई समस्या है नहीं क्योंकि शमादि व श्रवणादि सभी साधनों की विधि स्वीकृत ही है, उनसे अन्य प्रसंख्यान न श्रुत है, न अपेक्षित और न शिष्टों में प्रचलित कि उसे विधेय मानने का प्रयास सार्थक हो। जो तो उसका प्रयोग है शब्दार्थ समझने में, वह

न च प्रयोजनैकत्वलक्षणाऽत्रैकवाक्यता। अङ्गप्रधानवद्येन कल्पेतात्रैकवाक्यता ॥८३२॥
स्वतःसिद्धस्य मोक्षस्य न साध्यमुपकारकम्। न चान्यथाऽङ्गता दृष्टा प्रधानानुपकारिणः ॥८३३॥

लोकसिद्ध होने से विधेय नहीं। प्रमिति की आवृत्ति का निषेध किया जा रहा है यह तो याद रखना ही चाहिये ॥८३१॥

प्रसंख्यानवाक्य तथा तत्त्वमादिवाक्य का तात्पर्य विभिन्न होने से साक्षाद् एकवाक्यता भले ही न हो पर प्रयाज व दर्शादि वाक्यों की तरह फलकी एकता से एकवाक्यता क्यों न हो जाये? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि दोनों का एक फल न स्वर्ग संभव है, न मोक्ष, अतः एकफलता कहना ही ग़लत है –

प्रयोजन की एकता रूप एकवाक्यता भी यहाँ नहीं है, जैसे अंग व प्रधान में होती है। इनका फल एक स्वर्ग है ऐसा तुम्हे भी इष्ट नहीं कि इनकी एकवाक्यता घट सके ॥८३२॥ मोक्ष भी स्वतः सिद्ध है, अनुष्ठेय प्रसंख्यान उसका कोई उपकार नहीं कर सकता। जो प्रधान का उपकार न करे वह अंग हो ऐसा कहीं देखा नहीं जाता ॥८३३॥

अंग-प्रधान वाक्यों का प्रसंग मीमांसा में (२.२. अधि० ३) इस प्रकार है : 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाम्' (तै०सं० २.६.३) इत्यादि वाक्यद्वारा कालसम्बद्ध आग्नेयादि कर्म विहित है तथा 'आघारमाघारयति' इत्यादि द्वारा काल से असंबद्ध आघारादि कर्म विहित है। संशय है कि ये सभी प्रधान कर्म हैं या आग्नेयादि प्रधान हैं और आघारादि अंग हैं? पूर्वपक्ष है कि सभी प्रधान हैं। इनके अंगांगिभाव के लिये 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते', 'य एवं विद्वानमावास्यां यजते' इन विद्वद्वाक्यों में (= 'विद्वान्'-शब्द वाले वाक्यों में) आग्नेयादि का अनुवाद मानना पड़ता है किन्तु वहाँ कर्मांतर ही विहित है अतः अंगांगिता नहीं। पौर्णमासी और अमावास्या शब्द कालविशेषके वाचक हैं अतः विद्वद्वाक्यों में वे कालका ही कथन करते हैं न कि किसी प्रकृत आग्नेयादि कर्म का। जो तो 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस अधिकारवाक्य में 'दर्शपूर्णमास' शब्द है उसे हम कर्म की संज्ञा मानते हैं क्योंकि उसका यजि से सामानाधिकरण्य है अर्थात् 'यजेत' का अर्थ है 'यागेन इष्टं भावयेत्' तथा 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' भी तृतीया विभक्ति में है अतः 'यागेन' से इसका संबंध है। जब यजि का दर्शपूर्णमास इस नाम से संबंध है तो यजि भी प्रकृत रूपवान् याग का ही कथन करेगा अतः वह केवल आग्नेयादि का ही वाचक नहीं, प्रकृत-रूपवान् होने से आघारादि का भी वाचक हो जायेगा जिससे वे भी सफल हैं अतः उन्हे भी प्रधान मानना पड़ेगा। एवं च आग्नेयादि व आघारादि सभी प्रधान कर्म हैं। सिद्धान्त है – आग्नेयादि ही प्रधान हैं, आघारादि अंग हैं। विद्वद्वाक्यों में कर्मांतर नहीं कहा गया है वरन् उनमें आये यज्-शब्द प्रकृत आग्नेयादि का अनुवाद ही करते हैं। विद्वद्वाक्यों के 'पौर्णमासी' और 'अमावास्या' शब्द उन तिथियों में किये जाने वाले कर्मसमूहों के बोधक रूप से भी शिष्टों में प्रसिद्ध हैं। यद्यपि 'पौर्णमासः पुमान् यज्ञभेदे, स्त्री पूर्णिमा तिथौ' (मेदिनी) आदि कोश से पुंलिंग शब्द यागार्थक है तथापि वैदिक प्रयोग में लिंग का आग्रह नहीं होता। अमावास्याशब्द की यागार्थता में भी कोश मृग्य है। सर्वथापि श्रौतों में ये शब्द कर्मों में निरूढ हैं। इसलिये अधिकारवाक्य के दर्श व पूर्णमास शब्द भी आग्नेयादि समुदायद्वय के ही वाचक हैं न कि सभी प्रकृत यागों के। अतएव दर्शपूर्णमास पद के समानाधिकरण यजि से भी आग्नेयादि का ही कथन संभव है। एवं च आग्नेयादि का ही फलसंबंध होने से वे ही प्रधान हैं, आघारादि अंगकर्म हैं। अंगकर्मों का स्वतंत्र फल नहीं होता, यदि कहा भी जाये तो वह प्रधान की स्तुति के लिये होता है यह भी मीमांसा में (३.६.१) स्थापित है। यह अधिकरण श्लोक ३३४ में वर्णित हो चुका है। इस प्रकार प्रयाजादि तथा दर्शपूर्णमास दोनों का फल एक स्वर्ग ही है अतः अंगांगिता उचित है। प्रसंख्यान व अभिधाश्रुति का स्वर्गरूप एक फल है नहीं कि उनके समान शेषशेषिभाव कहा जा सके।

दोनों का मोक्षरूप एक फल भी नहीं क्योंकि नित्य होने से मोक्ष को स्वरूप से – आत्मरूप से – सिद्ध – विद्यमान – ही मानना पड़ता है, प्रसंख्यान से सिद्ध होने वाला मानने पर कार्यताप्रसक्ति से अनित्यता हो जायेगी।

आत्मलाभे न शास्त्रं च नित्यत्वात्कार्यमीक्षते। स्वतोऽभिधानशक्तत्वान्नापि चैकात्म्यबोधने ॥८३४॥
प्रसंख्याने च शास्त्रार्थे सकृदेव कृते भवेत्। ऐकात्म्यानुभवो नो चेद्विसंवादादमानता ॥८३५॥

यह भी विचारणीय है कि प्रसंख्यान को अभिधाशास्त्र क़ा प्रयाजादि की तरह फलोपकारी अंग मानते हो या प्रोक्षणादि की तरह स्वरूपोपकारी अंग? फलोपकारी मानना अनुचित इसलिये है कि मोक्षरूप फल में प्रसंख्यान कोई उपकार कर नहीं सकता। फलविषयक उपकार न कर सकने वाले को फलोपकारी अंग मानना अनुचित ही है। प्रयाजादि में यह योग्यता है कि दर्शादि का फल हो इसमें उपकारी बने अतएव वे अंग हैं ॥८३२-३३॥

यदि प्रोक्षणादि की तरह स्वरूपोपकारी कहो तो भी क्या शास्त्र का स्वरूपलाभ हो इसमें प्रसंख्यान का उपकार है या शास्त्र का अर्थ समझ आये इसमें? उभयथा संगत नहीं –

शास्त्र भी नित्य होने से अपने स्वरूपलाभ के लिये पुरुषयत्न से साध्य प्रसंख्यान के उपकार की कोई आकांक्षा नहीं रखता। तथा अपने अर्थ का कथन करने में शास्त्र स्वयं समर्थ है अतः एकात्मता का बोध कराने के लिये भी वह प्रसंख्यान के उपकार का इन्तज़ार नहीं करता ॥८३४॥

मीमांसक तो शास्त्र को यथावत् नित्य मानता है और सिद्धांती इस तरह नित्य मानता है कि हर कल्पमें वही वेद ईश्वर से अभिव्यक्त होता है। हर हालत में शास्त्र स्वरूपतः तो पूर्वसिद्ध है अतः कार्यभूत प्रसंख्यान से उसका स्वरूपलाभ संभव नहीं। अर्थबोधनार्थ सापेक्ष मानने पर कर्मशास्त्र में भी मानना पड़ेगा जो कोई नहीं मानता। किं च लोक में शब्द बिना आवृत्ति के अर्थबोधक है ही अतः शास्त्र में भी ऐसा ही मानना चाहिये ॥८३४॥

प्रसंख्यान को शेष मानो या शेषी पर यह तो बताना चाहिये कि वह अदृष्टार्थ है या दृष्टार्थ? अदृष्टार्थ तो तुम भी मानते नहीं, अतएव दृष्टादृष्टार्थ भी कह नहीं सकते। दृष्टार्थ हो तो क्या एक बार आवृत्ति से फल होता है या बार-बार करने से? उभयथा अनुपपत्ति है –

किं च यदि प्रसंख्यान 'पश्येत्' आदि शास्त्र का अर्थ हो तो एक बार करने से ही एकात्मता का साक्षात्कार हो जाये! एक बार नहीं, बहुत बार करने से फल होता है यह मानो तो विसंवाद के कारण प्रसंख्यानविधि अप्रामाणिक होगी ॥८३५॥

वादी मानता है कि आदर पूर्वक दीर्घकाल तक निरंतर 'ब्रह्माहम्' भावना बनानी चाहिये अतः एक आवृत्ति से फल वह मान भी नहीं सकता। पुनः पुनः आवृत्ति से फल मानने पर समस्या यह है कि पहली आवृत्ति से जब फल नहीं हुआ तो फल की अनुपलब्धि रूप विसंवाद से यही निश्चय होगा कि आवृत्ति असाधन है अतः साक्षात्कारार्थ आवृत्ति के विधान का प्रामाण्य बाधित हो जायेगा। एक बार में न सही, दो-चार-दस बार में तो फल दीखना ही पड़ेगा। अवघात भी यदि तुष का विमोचक चार-छह बार में न पता चले तो वहाँ भी पता चल जाता है कि इस व्यक्ति को कूटना नहीं आता, यह कूट कर धान से चावल निकाल नहीं पायेगा। हर कौर खाने से कुछ न कुछ भूख मिटती है तभी पूरे भोजन से पेट भरता है। किन्तु प्रसंख्यान में ऐसा है नहीं।

यह समझ लेना चाहिये कि वादी कह सकता है 'कुछ साल करो, साक्षात्कार होने लगेगा'। वह यह भी कह सकता है 'सकृत् श्रवण से भी अद्वैत-साक्षात्कार कहाँ होता है?' अपने-अपने आचार्यादि के वचन या अनुभव दोनों पक्षों में तुल्य होंगे तथा सिद्धांती का वचन वादी को स्वीकार्य भी होगा नहीं। अतः ऐसे प्रसंगों में शास्त्रीय प्रमाण तथा युक्ति का ही विचार संभव है। प्रसंख्यान में न शास्त्र प्रमाण है व न तर्क यह सिद्धांती दिखा चुका है। अतः 'विसंवाद के कारण' का अभिप्राय विविधयुक्ति समर्थित श्रवणहेतुता की प्रमिति के विसंवाद के कारण तक समझ लेना चाहिये। अतएव आवृत्त्यधिकरण पर भी तुल्य आक्षेप निरस्त हो जाता है। वहाँ पदार्थशोधन के प्रयोजन से आवृत्ति सिद्धान्ती को भी स्वीकृत है। वहाँ भी एक आवृत्ति से शोधन होगा या अनेक से? अनेक से तो कितने से? आदि प्रश्न प्राप्त हैं। किन्तु उत्तर

यही है कि श्रौत लिंगादिवश आवृत्ति स्वीकार्य है अतः उसे दृष्टादृष्टफलक भी मान सकते हैं जिससे यह संभव है कि जो आवृत्ति में संलग्न यति है वह यदि इस शरीर में शुद्ध पदार्थ न समझ पाये तो जन्मान्तर में उसे समझने में पूर्वकृत अभ्यास सहायता देगा। अतएव यति का आश्रमकर्म भी उसे मान सकते हैं ताकि अदृष्टविशेष संपन्न हो। 'दिने दिने तु वेदान्तश्रवणाद्भक्तिसंयुताद्। गुरुशुश्रूषया सार्धं कृच्छ्राशीति फलं लभेत्॥' आदि स्कान्द वचन भी इसमें प्रमाण हो सकते हैं। किन्तु वादी वाक्यार्थज्ञान की आवृत्ति और वह भी केवल दृष्टफलक मानता है अतः अयौक्तिक है यह तात्पर्य है। वस्तुतस्तु आवृत्ति का विरोध केवल आवृत्ति के भय से नहीं है, वरन् द्वैतप्रसंग के भय से है। यदि अद्वैतसाक्षात्कार प्रमाणजन्य नहीं तो वह द्वैतबाधक भी होगा नहीं। प्रसंख्यान से उत्पन्न हुए साक्षात्कार की यथार्थतालक्षण प्रमारूपता संभव होने पर भी प्रमाण से साक्षात् अजन्यता के कारण अयथार्थता की शंका असमाधेय रह जायेगी। स्वतःप्रामाण्य वाद में भी निश्चितप्रमात्व तो परीक्षाधीन ही माना गया है तथा बाधके लिये निश्चित प्रमात्व ही अपेक्षित है क्योंकि अन्य प्रमात्व तो भ्रमसाधारण है, भ्रम भी स्वकाल में प्रमा भासता है। यह न्यायरत्नावली (पृ० ९७) आदि में व्यक्त है। किं च प्रमात्वोत्पत्ति का स्वतस्त्व है ज्ञानसामग्रीमात्र–जन्यता। प्रसंख्यान ज्ञानसामग्रीमात्र तो है नहीं, क्योंकि अन्यत्र उसका उपयोग देखा नहीं गया। अतः प्रसंख्यानजन्य बोध ज्ञानसामग्रीमात्रजन्य न होने से तथा तद्भिन्नसे जन्य होने से वैसे ही अप्रमा हो सकता है जैसे चक्षुर्मात्र से अजन्य तथा तद्भिन्न दोषादि से जन्य सर्पादि भ्रमज्ञान। इस संभावनारूप दोष के रहते प्रामण्यग्रहण भी संभव नहीं क्योंकि 'योग्यव्यक्तिग्राहकेण जातिरिव दोषाऽसहकृतेनैव ज्ञानग्राहकेण प्रामाण्यं गृह्यते, न दोषसहकृतेनापि' इस अद्वैतरत्नरक्षण से (पृ० ३३) सदोष होने पर प्रामाण्यग्रह नहीं होता। अगृहीप्रमात्व वाला साक्षात्कार बाधक नहीं हो सकता क्योंकि बाधक वही देखा गया है जो निश्चितप्रमात्व वाला हो। पदार्थज्ञान तो बाधक न होने से निश्चित प्रामाण्य वाला अपेक्षित है नहीं। किं च पदार्थका तो ज्ञानमात्र वाक्यार्थज्ञान के लिये उपयोगी है, पदार्थप्रमा ही अपेक्षित हो ऐसा नहीं। अतः 'शशशृंगधनुर्धरः', 'आसमानी रंग का कपड़ा' आदि वाक्यों का अर्थज्ञान हो जाता है। इसलिये पदार्थज्ञान यदि प्रमासामग्रीसे अतिरिक्त आवृत्ति से भी जन्य हो तो हर्ज नहीं। वस्तुतः पदार्थज्ञान भेदज्ञानविशेष होने से प्रमा होगा भी नहीं यह सिद्धान्तरहस्य है। वाक्यार्थ प्रमा के प्रति हेतु होने से ही पदार्थज्ञान को यथार्थ कह दिया जाता है। लक्षणासे पंद शुद्ध के बोधक माने जाते हैं लेकिन वहाँ भी स्वरूपसती शुद्धि ही अभिप्रेत है, ज्ञायमान नहीं : अनन्तपद से लक्ष्य अनंत की समझ मानें तब वह महावाक्यार्थ ही हो जायेगा, क्योंकि यदि त्वमर्थ से भेदेन भासे तो आनन्त्यभान नहीं कहा जायेगा! और यदि पद से ही वाक्यार्थ भास जाये तो वाक्य व्यर्थ होगा। इस लिंये पदार्थज्ञान के लिये आवृत्ति मानने पर ये समस्यायें नहीं उठती जो वाक्यार्थज्ञान के लिये उसे मानने पर उठ रही हैं। सारकार ने (पृ० ३६७) पदार्थशोधन को आवृत्ति का प्रयोजन अतएव स्पष्ट किया है। परमार्थतस्तु आवृत्ति का प्रयोजन प्रतिबंधनिवृत्ति मान लेना ही सीधा मार्ग है। पदार्थज्ञान भी प्रारंभ में प्रतिबद्ध ही होता है, अतः आवृत्ति का उपयोग है अतएव विवरणकार '...अतिसूक्ष्मतरब्रह्मात्मविषयनिदिध्यासनप्रचयपरिनिर्मिततदेकाग्रवृत्तिगुणं चित्तेन्द्रियं पारोक्ष्यविभ्रमनिमित्तप्रतिबंधनिरासेन शब्ददेवापरोक्षनिश्चय निमित्तं भवति' (पृ० २८६) यही स्वीकारते हैं। सर्वज्ञपूज्यपाद भी कहते हैं 'अज्ञानसंशयविपर्ययरूपकाणि ब्रह्मात्मबुद्धिजननप्रतिबन्धकानि। तत्त्वम्पदार्थविषयाणि निवर्तयन्ति ह्यावृत्तिमन्ति मननश्रवणादिकानि॥' ३.३४२॥ अतः वे वार्तिकसंमत निदिध्यासन भी यही बताते हैं 'श्रवणमननबुद्ध्योर्जातयोर्यत्फलं तद् निपुणमतिभिरुच्चैरुच्यते दर्शनाय। अनुभवनविहीना यैवमेवेति बुद्धिः श्रुतमननसमासौ तन्निदिध्यासनं हि॥' ३.३४५॥ यहाँ स्पष्ट ही अनुभवविहीना बुद्धि से दर्शन की प्राप्ति मानी है जो यथाश्रुत मानें तो वार्तिकादिविरोध होगा अतः प्रतिबंधनिरासितया ही विनियोग मानना उचित होगा। आवृत्ति का फल अवश्य मानते हैं, ऐहिक भी हो सकता है व अनंतरभावी भी। बादरायण महर्षि 'ऐहिकमपि' (३.४.५१) इस अपिकार से ऐहिक का दौर्लभ्य कह ही रहे हैं। एवं च वाक्यार्थ के ज्ञानमात्र को पर्याप्त सिद्धांती भी नहीं कह रहा, आवृत्ति इसे भी स्वीकृत है, लेकिन यह वाक्यार्थानुभूति को आवृत्ति का कार्य नहीं मानता जबकि वादी उसे आवृत्तिका फल मानता है। इसी भेद के कारण सकृत्, असकृत् , काल, संख्यादि के प्रश्नों का उत्तर वादी को देना पड़ेगा, क्योंकि फलसाधन मानने पर उसका निश्चित ज्ञान चाहिये। सिद्धांती प्रतिबंधनिरासी मानता है अतः यथाशास्त्र अनुष्ठान पर्याप्त है। मुख्य अंतर तो यही है कि चरम साक्षात्कार प्रमाणमात्र से जन्य होगा तभी अद्वैतसिद्धि

न चात्र चोदितः कालः संख्या वा येन निश्चयः । तद्द्वारेण भवेन्नापि संदिग्धे स्यात्प्रवर्तनम् ॥८३६॥

है अन्यथा नहीं ॥८३५॥

जैसे अग्निहोत्र का पुनः पुनः – प्रतिदिन – अनुष्ठान समझ आता है क्योंकि प्रातः-सायम् काल उसके लिये बताया गया है, चाहे यह न भी कहा है कि 'बारंबार अग्निहोत्र करो', ऐसे ही प्रसंख्यान से साक्षात्कार मिलता है इसी के आधार पर उसे मान लेना चाहिये, एक बार-बहुत बार आदि के विकल्प उठाना व्यर्थ है। वादी के इस अभिप्राय का निरास करते हैं –

प्रसंख्यान के बारे में न कोई काल और न संख्या विहित है कि उसके सहारे निश्चय हो कि प्रसंख्यान साक्षात्कारोपाय है। संदिग्ध साधन में विचारशील की प्रवृत्ति होती भी नहीं ॥८३६॥

यदि शास्त्रने कहा होता 'दस वर्ष तक प्रसंख्यान करो' या 'एक लाख आवृत्ति करो' आदि तो मान सकते थे कि आवृत्ति से अनुभव होगा। फिर भी न होता तो आवृत्ति की व्यंगता स्वीकार लेते जैसे कारीरि में स्वीकारनी पड़ती है। लेकिन ऐसा कहीं शास्त्र कहता नहीं। लोक में साधनता का संदेह होने से भी बहुतेरी प्रवृत्तियाँ होती हैं जैसे चार-छह दिन में पानी बरस जायेगा ऐसी संभावनामात्र से खेती में प्रवृत्ति की जाती है लेकिन वे भी प्रवृत्तियाँ तभी होती हैं जब उनसे कहीं फल प्रमाणित हो अर्थात् चाहे निश्चित फलजनकता निर्णीत न हो पर कभी उनका फल से संबंध प्रमाणसिद्ध होना चाहिये। प्रामाणिक संवंध होने मात्र से साधनता नहीं हो जाती क्योंकि अन्यथासिद्ध, सहकारी, साधारण आदि अनेक पदार्थों से संबंध प्रत्यक्षादि का विषय होता ही है। किन्तु प्रसंख्यान से प्रमित्यात्मक अनुभव तो कहीं नहीं उपलब्ध होता कि यह संभावना भी हो सके कि वह अनुभवोपाय है। लम्बे ग्रन्थभाग को कण्ठ करने आदि में भावना अर्थात् आवृत्ति भले हीं सफल हो, विश्वासपूर्वक लंबे समय तक लगातार आवृत्ति करने से वह ग्रंथ कण्ठाग्र हो सकता है किन्तु प्रमेय वस्तु का प्रमारूप साक्षात्कार तो प्रसंख्यान से कहीं नहीं देखा जाता। 'आसुप्तेरामृतेः – कालम्' 'दिने दिने तु वेदान्तश्रवणात्', 'अनुस्मर', 'तच्चिन्तनं तत्कथनम्', 'कथयन्तश्च मां नित्यम्', 'अन्तकालेऽपि मामेव स्मरन्' आदि सैकड़ों स्मृतियों के सहारे कालादि का प्रश्न उत्तरित हो सकता है तथा 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्' (४.१.७) में 'दिग्देशकालेषु' कहकर भाष्यकार ने कालनियम अपेक्षित भी नहीं माना है और आप्रायणाधिकरण में (४.१.८) स्पष्ट ही कहा है कि सम्यग्दर्शन के लिये की जाने वाली उपासनायें अवहननादिकी तरह कार्य में पर्यवसन्न – फल हो जाने पर ही समाप्त – होती हैं अतः उनकी आवृत्ति का परिमाण ज्ञात ही है 'यानि तावत् सम्यग्दर्शनार्थानि उपासनानि तानि अवघातादिवत् कार्यपर्यवसानानि इति ज्ञातमेवैषाम् आवृत्तिपरिमाणम्', श्रौत वचन का ही आग्रह हो तो 'ब्रह्मसंस्थ' पद को (छा० २.२३.१) समझ सकते हैं क्योंकि इसका अभिधार्थ ही भाष्य में कहा है 'ब्रह्मसंस्थ इति हि ब्रह्मणि परिसमाप्तिरनन्यव्यापारतारूपं तन्निष्ठत्वम् अभिधीयते' (ब्र०सू० ३.४.२.२०), लेकिन इस सबका प्रकृत में अनुसंधान वार्तिककार नहीं करना चाहते क्योंकि इन्हे सम्यग्दर्शन को विधिफल होने से सुरक्षित रखना ज़्यादा ज़रूरी लग रहा है। इन सब वचनों को वे पदार्थबोध के लिये मान लेंगे, वाक्यार्थापरोक्ष के लिये नहीं – यह समझ लेना चाहिये। अथवा इनसे प्रतिबंधहान के उपायों की विधि मानी जा सकती है।

पूर्वपक्षी कह सकता है कि जैसे 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' तथा 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाम्' में अनुष्ठेय न होने से मास तथा अमावास्या इन कालों की विधि नहीं मानी जाती (द्रष्टव्य पू० मी० २.३.११) ऐसे अग्निहोत्रमें भी 'सायं-प्रातः' कालों को विधेय न माना जाये यह संभव होने से अग्निहोत्र भी विहितकालरहित होकर प्रसंख्यानतुल्य समझा जा सकता है। किन्तु उसका कथन ग़लत होगा : 'मासम्' आदि वाक्यों द्वारा तो कालविशेष में कर्म का विधान किया गया है अतः काल का विधान नहीं मान सकते। लेकिन नित्याग्निहोत्र के होम की विधि तो 'अग्निहोत्रं जुहोति' से ही हो चुकी है अतः 'सायं जुहोति' आदि में अग्निहोत्र का अनुवाद कर काल का ही विधान मानना पड़ेगा। यदि यहाँ कालविशेष में कर्तव्य कर्म का विधान मानो तो भी तुम्हे प्रसंख्यान के लिये दृष्टांत नहीं मिलेगा क्योंकि किसी काल में प्रसंख्यान का

आरुह्याप्यथवा दूरं विसंवादपराङ्मुखः। यत्किंचित्कामतः कुर्यादकृतार्थोऽथवा पतेत् ॥८३७॥
अदृष्टफलता वाऽपि कल्प्याऽग्निष्टोमवद्भवेत्। कर्माङ्गता वा कल्प्या स्यादुद्गीथविधिवत्तदा ॥८३८॥

विधान है नहीं कि वह काल में विहित अग्निहोत्र के तुल्य हो।

इसी तरह वैध पदार्थों में संख्या भी शास्त्रगम्य होती है। जैसे 'सप्तदश प्राजापत्यान्' आदि में पशुओं की गिनती बतायी है। एकवचनान्त प्रयोगों में भी एकत्व विवक्षित माना गया है। यह मीमांसा में (४.१.५) स्पष्ट है तथा पूर्वत्र श्लोक ५३२ में यहाँ वर्णित है। लेकिन प्रसंख्यान की कोई संख्या कही नहीं है और 'पश्येत्' में 'दर्शनं कुर्यात्' अथवा 'दर्शनानि कुर्यात्' बोध मानने पर या एक बार आवृत्ति सिद्ध होगी और या कपिञ्जलन्याय से (पू० मी० ११.१. अधि० ८) तीन बार! इससे अधिक की संभावना नहीं। जहाँ काल या संख्या विहित हों वहाँ मान सकते हैं कि तब या उतनी बार करना सफल होता है, लेकिन प्रसंख्यान के लिये इनका विधान ही नहीं तो कैसे माना जाये कि इससे अवश्य अनुभव होगा? ॥८३६॥

कथंचित् अदृष्टपूर्व में भी उपायता की संभावना से प्रवृत्ति मान लें तो भी प्रसंख्यानवाद दोषमुक्त नहीं रहता –

अथवा कुछ समय तक निरंतर प्रसंख्यान करके भी साक्षात्काररूप फल न उपलब्ध होने से व्यक्ति प्रसंख्यान से विमुख हो सकता है। तब वह स्वेच्छानुसार जो कुछ करेगा उससे तो साक्षात्कार मिलेगा नहीं। और यदि विमुख न हुआ, प्रसंख्यान में लगा भी रहा लेकिन मरण यर्यन्त साक्षात्कार से वंचित रहा तो मरने के बाद उसे अनर्थप्राप्ति ही होगी ॥८३७॥

'अथवा' से सूचित किया कि प्रसंख्यान में प्रवृत्ति हो ऐसा नियम संभव नहीं, कादाचित्क ही कोई प्रमाता इसमें प्रवृत्ति कर सकता है। यह एक दोष हुआ, क्योंकि प्रसंख्यान की निश्चित साधनता प्रमित न हो सकने से अभिधाश्रुति भी निश्चित साफल्य से वंचित रहकर निश्चित प्रामाण्य वाली नहीं रहती। दूसरा दोष है कि साधक कुछ देर आवृत्ति कर उससे विमुख न हो इसमें कोई कारण नहीं। आवृत्ति की साधनता निश्चित होती तब तो वही रुकावट में कारण हो जाती। संभावना तो रोक नहीं लगा सकती। ऐसा साधक साधनान्तर में लगकर साक्षात्कार से दूर ही हो जायेगा। तीसरा दोष है कि प्रसंख्यान को केवल दृष्टफलक मानने से तथा संभावितमात्र मानने से यह अवश्य संभव है कि आमरण प्रसंख्यान करने पर भी साक्षात्कार न हो, ऐसे में उस साधक का परलोक भी बिगड़ा मानना पड़ेगा क्योंकि यहाँ उसने सब नित्यादि कर्म छोड़कर आवृत्ति की जिससे प्रत्यवाय का अम्बार बटोर लिया! अतः संभावनामात्र के सहारे प्रसंख्यान का समर्थन अनुचित ही है।

सिद्धांती तो अतएव श्रवणादि को दृष्टादृष्ट मान लेगा तथा संन्यासाश्रम भी वैध मानता है ताकि कर्मत्याग से प्रत्यवाय न हो एवं उस आश्रम के ब्रह्मसंस्थतारूप धर्म के पालन से अदृष्ट भी सुरक्षित रहे। अतएव श्रवणादि की विधि मानना ही सांप्रदायिकों में आदृत है, स्वाध्यायविधि से गुज़ारा चलाना नहीं ॥८३७॥

यदि 'कल्याणकारी कर्म में संलग्न की दुर्गति नहीं होती' (गी० ६.४०) आदि स्मृति से मानना चाहो कि प्रसंख्यान में तत्पर साक्षात्कार बिना पाये मर जाये तो भी अनर्थ का भागी नहीं होगा, तो तुम्हे प्रसंख्यान को अदृष्टफलक मानना पड़ेगा जो तुम्हे स्वीकार नहीं –

या प्रसंख्यान को अग्निष्टोम की तरह अदृष्टफलक कल्पित करना पड़ेगा। अथवा कर्मांग उद्गीथ उपासना की विधि की तरह प्रसंख्यान भी कर्मांग मानना पड़ेगा। दृष्टफल के बिना भी प्रसंख्यान अनर्थ से बचायेगा यह स्वीकारने पर ये दो ही गतियाँ होंगी ॥८३८॥

अग्निष्टोमतुल्य प्रसंख्यान को वादी नहीं मानता। माने तो भी दृष्टफलता नहीं रहेगी। दृष्टादृष्ट भी वही मान्य होता है जिसका दृष्ट फल प्रमित हो जैसे अवहनन। प्रसंख्यान का दृष्ट फल प्रमित नहीं अतः इसे दृष्टादृष्ट भी नहीं मान सकता। सिद्धांती तो पदार्थबोध के लिये मानता है, वह लोकदृष्ट है; साक्षात्कार के लिये वह मानता नहीं, अतः उसका

ततश्च प्रातिलोम्येन कार्यं स्याच्छास्त्रबाधनात्। अश्रद्धा च मुमुक्षूणां कार्यबाधोऽपि च स्थितः॥८३९॥
वस्तुतत्त्वानपेक्षत्वात् कार्यमात्रप्रधानता। शास्त्राच्च वस्तुनोऽलाभात्कार्यं किंविषयं भवेत्॥८४०॥
यदि तद्वस्तुयाथात्म्यं शास्त्रं न प्रतिपादयेत्। वस्त्वसिद्धेस्ततः कार्यप्राधान्यादर्थवादता॥८४१॥

दृष्टादृष्टफलक मानना संगत है ॥८३८॥

प्रसंख्यान विधि को कर्मांग मानोगे तो जो तुम कहते हो कि वह अभिधाश्रुतिका अंग है वह कटेगा क्योंकि एक को ही अभिधाशास्त्र का व कर्म का अंग मानना ग़लत होगा। प्रमाणविशेष से तो एक पदार्थ को क्रतु व पुरुष दोनों का उपकारक मान सकते हैं लेकिन ऐसा कोई प्रमाण तुम्हारे पास नहीं यह भाव है। अतः जब प्रसंख्यान केवल अदृष्टार्थ रह जायेगा तो यह स्थिति बनेगी –

प्रसंख्यान विधि ज्योतिष्टोम की तरह होगी तो कार्य ही उल्टा प्रधान बन बैठेगा व अभिधाश्रुति ही बाधित होगी। किं च मुमुक्षु यह मानकर ही साक्षात्कार के लिये प्रवृत्त हुआ था कि कर्म मोक्ष का साधन नहीं है, अब यदि प्रसंख्यान भी ज्योतिष्टोमतुल्य है तो मुमुक्षु के लिये अश्रद्धेय हो जायेगा। और यह तो बता ही चुके हैं कि मुमुक्षुओं के लिये प्रसंख्यानविधि मानना सदोष है (श्लो० ६२१) ॥८३९॥

प्रसंख्यान को अदृष्टार्थ मानते ही वह अभिधा के प्रति शेषता छोड़कर अपने सहज प्राधान्य को पा लेगा। तत्त्वमादि की प्रमाणता के लिये उनके शेषरूप से प्रसंख्यान का ग्रहण करने चले थे और अब इसे प्रधान बना लोगे तो क्या बुद्धिमानी होगी! किं च जब प्रसंख्यानविधि प्रधान होगी तब अभिधाशास्त्र को इसका शेष होना पड़ेगा क्योंकि तुम इनकी एकवाक्यता मानते हो तथा एक वाक्य में एक ही प्रधान होता है। यदि इनकी भिन्नवाक्यता मानो तब तो सिद्धांतके ही अनुयायी बन जाओगे। जब अभिधाशास्त्र शेष होगा तब उसका स्वार्थ विवक्षित न रहने से प्रत्यक्षादि प्रबल पड़कर उसी का बाध कर देंगे। तब अद्वैत को गुणवाद ही मानकर बैठना पड़ेगा और नित्य कैवल्य एक सपना ही रह जायेगा। अतः अदृष्टफलता अर्थात् कर्मविधि या कर्मांगविधि की तरह प्रसंख्यानविधि को स्वीकारने पर वादी की स्वयं की मान्यतायें ढह जाने से वह ऐसा अगत्या भी नहीं मान सकता ॥८३९॥

प्रसंख्यानवादी जिस ज्ञानकी आवृत्ति चाहता है उसका कारण कौन है – वह वस्तुज्ञान क्या प्रसंख्यानविधि से उत्पन्न होता है? या तत्त्वमादि अभिधाशास्त्र से? उभयथा असंगत है –

विधि वस्तुयाथात्म्य की अपेक्षा न रखने से केवल कार्यप्रधान होती है अतः उससे आत्मबोध संभव नहीं। अन्यशेष अभिधाशास्त्र से भी आत्मवस्तु की प्रमा हो नहीं सकती। तब प्रसंख्यानकार्य का विषय क्या हो सकेगा? ॥८४०॥

प्रसंख्याननियोग का विषय आत्मज्ञान की आवृत्ति है। यह तभी संभव है जब आत्मज्ञान की संभावना हो। विधि कार्यप्रधान होने से आत्मबोधक नहीं और विधिशेष होने से अर्थवाद हुआ अभिधाशास्त्र भी प्रत्यक्षादिविरुद्ध अर्थ में प्रमाण होगा नहीं। जब आत्मज्ञान ही नहीं होगा तब उसकी आवृत्ति सुतराम् असंभव है। इस प्रकार नियोग निर्विषय होने से अमान्य है यह भाव है।

[श्लोक में "क्षत्वात्कार्य" पाठ है। म० अ० सं० में तकार छूटना मुद्रकप्रमाद है।] ॥८४०॥

प्रसंख्यानवाद में अद्वैतशास्त्र प्रसंख्यानपरक रहते हुए भी क्या अद्वैत का प्रतिपादक है या नहीं? यदि नहीं है तब तो पूर्वोक्त दोष आयेगा –

आत्मवस्तु की अद्वैतरूप यथार्थता को यदि शास्त्र प्रतिपादित न करे तो शास्त्र से वस्तुसिद्धि नहीं मान सकते, कार्यप्रधान होने से वह स्वार्थ में अप्रमाण ही होगा ॥८४१॥

अथैकात्म्यार्थनिष्ठं सच्छास्त्रं स्यात्प्रतिपादकम्। आपरोक्ष्यात्तदा कार्यं व्यर्थं पारोक्ष्यहानिकृत् ॥८४२॥
शास्त्रात्कथं च तत्सिद्धिर्याथात्म्यानवबोधकात्। नानश्वरूपे सिद्धेऽपि गव्यश्वस्य प्रसिद्धता ॥८४३॥
शास्त्राच्छ्रवणमात्रेण कार्याच्चानुभवो यदि। वस्तुन्यनिश्चिते वार्ता साऽर्थवादेऽपि दृश्यते ॥८४४॥
ततश्च कार्यनिष्ठत्वं मुधैव परिवर्जितम्। संपत्परं भवेच्छास्त्रं वस्तुतात्पर्यवर्जनात् ॥८४५॥
न चाप्याख्यायिकारूपमनुग्राहं श्रुतौ मतम्। आदिमत्त्वादिदुष्टत्वात्पुमर्थत्वेन वर्ण्यते ॥८४६॥

अन्यशेष शास्त्रवाक्य प्रमाणान्तरविरोध होने पर प्रमाहेतु नहीं होता यह वादी भी मानता ही है। एवं च नियोगनिर्विषयता स्पष्ट है ॥८४१॥

यदि अद्वैतशास्त्र अद्वैतका प्रतिपादक है तब प्रसंख्यान किस लिये? –

अगर अद्वैतात्मा में तात्पर्य वाला शास्त्र अद्वितीय आत्मा का प्रतिपादन करता है तो उसी से आत्मवस्तु का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जायेगा, परोक्षतानिवर्तक प्रसंख्यानरूप कार्य व्यर्थ होगा ॥८४२॥

जब अभिधाशास्त्र आत्मबोध करा ही देगा तो प्रसंख्यान निष्फल होगा ॥९४२॥

वादी कहता है कि शास्त्र तो संसृष्टविषयक परोक्ष ज्ञान ही करा सकता है इसलिये अद्वैतात्मा के साक्षात्कार के लिये प्रसंख्यान चाहिये। इसका प्रत्याख्यान करते हैं –

यथार्थता का बोध न कराये तो शास्त्र से ऐकात्म्य की सिद्धि ही कैसे होगी? प्रत्यक्ष से अश्वभिन्न गाय दीखने पर भी उस प्रत्यक्षसे अश्व प्रसिद्ध हो गया यह नहीं माना जाता! ॥८४३॥

वेद आत्मतत्त्व को साक्षात् अपरोक्ष और असंग बताता है या नहीं? न बताये तो उसे अप्रमाण ही मानना पड़ेगा क्योंकि आत्मा जैसा है वैसा उसे वेद बता नहीं रहा है। यह वादी भी नहीं स्वीकारेगा। अतः उसे भी यही मानना पड़ेगा कि वेद आत्मा को असंसृष्ट अपरोक्ष ही बताता है। तब प्रसंख्यान का क्या काम? यह कहें कि असंसृष्टापरोक्ष से भिन्न संसृष्ट परोक्ष को शास्त्र बताता है तथा इसके प्रतियोगिरूप से असंसृष्टापरोक्ष प्रसिद्ध होता है इसलिये शास्त्र अप्रमाण नहीं; तो यह उसी प्रकार की बात होगी जैसे अश्वभिन्न गाय के प्रत्यक्ष से घोड़े की प्रसिद्धि मानना! तात्पर्य है कि जैसे चक्षु से विषय न किये जाते हुए को चाक्षुष नहीं कह सकते ऐसे ही शब्द से कहे न जाते को शाब्द भी नहीं मान सकते। एवं च अद्वैतात्मा प्रतियोगितया प्रसिद्ध करोगे तो वह शास्त्रसिद्ध नहीं होगा अतः उसके विषय में शास्त्र का प्रामाण्य नहीं रहेगा ॥९४३॥

शास्त्र से भले ही असंसृष्ट अपरोक्ष आत्मा सिद्ध हो लेकिन केवल श्रवण से वह बात अनुभव में नहीं आती, प्रसंख्याननियोग संपन्न कर लेने पर उसका अनुभव हो जाता है अतः शास्त्र की प्रामाणिकता सुरक्षित रहते हुए प्रसंख्यान का उपयोग है। यह शंका उठाकर इसका समाधान करते हैं –

यदि कहो कि श्रवणमात्र द्वारा शास्त्र से वस्तु सिद्ध तो होती है लेकिन अनुभव उसका प्रसंख्यान से ही होता है; तो भी ठीक नहीं क्योंकि जब शास्त्र से आत्मवस्तु का निश्चय नहीं हुआ तो 'शास्त्रश्रवण से उसका ज्ञान हो गया' यह केवल कथनमात्र ही है जैसे अर्थवाद के बारे में भी कहा जाता है कि अर्थवाद सुनने से उनके अर्थ का ज्ञान होता है ॥८४४॥ तत्त्वमादि वाक्य जब अर्थवादतुल्य मानने हैं तो 'आम्नायमात्र कार्यपरक है' इस मीमांसकमान्यता को व्यर्थ ही छोड़ा! वस्तु में तात्पर्य छूटने पर शास्त्र सम्पत्-नामक प्रसंख्याननियोग में ही तात्पर्य वाला रह जायेगा ॥८४५॥ श्रुति में आख्यानरूप वाक्यों को विवक्षितार्थक नहीं माना जाता अन्यथा सादिता आदि दोष प्राप्त होते हैं। आख्यान तो पुरुषों को प्रवृत्त करने से लिये वर्णित हैं ॥८४६॥

शास्त्रश्रवणमात्र से अनुभव न मानने पर श्रवण से आत्मा का निश्चय हुआ यह नहीं कह सकते। प्रत्यगात्मा का निश्चय

अनुभवरूप ही होगा। अबाधित अनधिगत निश्चय ही आत्मा का अनुभव है। आत्मा अपरोक्षतः ही भासमान है। परमात्मा से उसे भिन्न हम समझ रहे हैं। प्रमाणजन्य निश्चय उस भ्रम को हटा सकता है, पहले भी जो अपरोक्ष भास रहा था उसे परोक्ष भासने वाला कैसे बना सकता है? ऐसा भी नहीं कि निश्चय संशयादि हटा दे और अविद्या को बना रहने दे, क्योंकि एक ही विषय का निश्चय और अज्ञान दोनों नहीं रह सकते। इदमास्पद सोपाधिकादिस्थल में कहीं निश्चय व अज्ञान साथ रह भी जायें लेकिन प्रत्यक्स्थल में नहीं रहते। विद्यासागर ने इसी अभिप्राय से कहा है 'असंसृष्टापरोक्षविषयस्य यथार्थत्वव्यतिरेकेण अनुभवात्मत्वम् अन्यद् नास्ति'।

कल्पतरु में (पृ० ५६) एक संभावना उठायी है : 'वायु प्रत्यक्ष है, क्योंकि प्रत्यक्षस्पर्श का आश्रय है, जैसे घड़ा' यह अनुमान यद्यपि वायु को प्रत्यक्ष बता रहा है तथापि यह अनुमिति तो प्रत्यक्षतारहित ही है। ऐसे ही शास्त्र भी 'साक्षात् अपरोक्ष आत्मा है' इसी आकार का बोध उत्पन्न करता है लेकिन वह बोध प्रत्यक्षता से वर्जित ही है। इसलिये शास्त्र के अप्रामाण्य का प्रसंग नहीं। किन्तु इस पक्ष में दिक्कत यह है कि क्या वायु का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान होगा या नहीं? यदि न हो तो यह अनुमान बाधित हो जायेगा। यदि होगा तो प्रमाण से होगा या अप्रमाण से? अप्रमाण से मान नहीं सकते क्योंकि अप्रमाण भी कहें और उससे प्रत्यक्ष प्रमिति भी कहें यह व्याघात है। अतः प्रमाण से ही मानना पड़ेगा। इसी तरह आत्मप्रत्यक्ष भी किसी प्रमाण से ही मानना पड़ेगा, प्रसंख्यान से कोई लाभ नहीं सिद्ध किया जा सकेगा। यह भी नहीं कह सकते कि मन ही वहाँ प्रमाण बन जायेगा, क्योंकि मानस ज्ञान प्रत्यक्ष हों ऐसा नियम नहीं, प्रातिभादि ज्ञान मानस होने पर भी अप्रत्यक्ष होते हैं। किं च मनोलिंगक अनुमिति भी परोक्ष ही होती है जबकि लिंगरूप मन उसमें करण है। यदि कहें कि आत्मविषयक मानसज्ञान अपरोक्ष होता है तब यह भी मान सकते हैं कि अन्यत्र संसृष्टपरोक्षधीहेतु शब्द भी आत्मा के असंसृष्टापरोक्ष ज्ञान का हेतु है! अतः शास्त्र से अपरोक्ष आत्मबोध न मानने पर प्रमात्मक आत्मसाक्षात्कार से ही हाथ धो लेना पड़ेगा।

शास्त्र से यदि आत्मनिश्चय न मानें तो वह ज्ञानाभास वैसा ही होगा जैसा अर्थवाद सुनकर होता है, तथा च अद्वैतवस्तु भी किस्से जैसी बात रह जायेगी। तब तो अद्वैतवाक्य कार्यपरक ही मानने होंगे। यही मानना हो तो बेचारे मीमांसक ने क्या अपराध किया था कि उससे हटकर यह प्रसंख्यानवाद खड़ा किया! उसका त्याग करने पर भी तत्त्वमादिवाक्यों की वस्तुपरकता तो सुरक्षित रख नहीं पाये। इसलिये यदि शास्त्र को वस्तुपरक मानना चाहते हो तो स्वीकारना पड़ेगा कि उससे असंसृष्ट अपरोक्ष अर्थनिश्च होता है, इसके लिये उसे विधिका कोई सहारा नहीं चाहिये। अन्यथा अभिधाशास्त्र कथावाक्यों जैसा होगा। उसका प्रसंख्यान से एकवाक्यत्व होने पर भी वह अपने स्वार्थ में वैसे ही अप्रमाण रहेगा जैसे कथावाक्य। कथावाक्यों के स्वार्थों को विवक्षित नहीं मानते क्योंकि उसे समझने से कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। [श्लोक ८४६ की टीका में 'तत्प्रतिपतौ पुरुषार्थाभावात्' ही ठीक पाठ है।] कथानकों की विवक्षा मानने पर वेद को काल से परिच्छिन्न मानना पड़ेगा क्योंकि घटनायें तो कालक्रम से ही होती है। तब वेद को नित्य कहने वाले श्रुति-स्मृति-न्यायों का विरोध होगा। अधिकारियों को प्रेरणादि देने में सहायक होने से वेद में कथानक कहे हैं, इतिहासवर्णन के लिये नहीं। ऐसे ही अद्वैत भी अविवक्षित अतः अप्रामाणिक हो जायेगा। एवं च प्रसंख्यानवाद – और एतत्तुल्य ही सिद्धान्तैकदेशियों का निदिध्यासनहेतुक-अपरोक्षतावाद – अश्रद्धेय है यह अभिप्राय है ॥८४४-८४६॥

किं च धर्मकाण्ड व ब्रह्मकाण्ड विभिन्न हैं अतः ब्रह्मकाण्ड में नियोग नहीं मानना चाहिये अन्यथा उभयत्र नियोग ही प्रपिपाद्य होगा तो वेद में पुनरुक्ति हो जायेगी। यह स्पष्ट करते हैं –

पुनरुक्ति के भय से भी प्रसंख्याननियोग अमान्य है। यदि कल्पना करो कि कर्मकाण्ड में स्वतंत्र एवं बाह्य साधनों से संबद्ध विधि है जबकि ब्रह्मकाण्ड में तत्त्वप्रतिपादन के शेषरूप से और बाह्य साधनों से असंबद्ध विधि है जिससे पुनरुक्ति नहीं; तो भी ठीक नहीं। एकात्मताशास्त्र में (अंग रूप से भी) विधि व्यर्थ है यह दिखा चुके हैं इसलिये इस रीति से काण्डों के विभाग की कल्पना अनुचित है।

पौनरुक्त्यभयाच्चात्र यद्यर्थान्तरकल्पनम्। ऐकात्म्योक्तौ विधिर्व्यर्थ इति द्वैतप्रकल्पनम् ॥८४७॥

तात्पर्य है कि ब्रह्मकाण्ड में नियोग मानने पर उसे शेष नहीं मान सकते क्योंकि जब भूत-भव्य अर्थात् सिद्ध-साध्य का उपदेश होता है तब भूत ही शेष हुआ करता है। शालिकमिश्र ने स्पष्ट कहा है 'कृतिसाध्यं प्रधानं यत् तत्कार्यमभिधीयते' (प्र० पं० पृ० ४३१) तथा 'कार्यस्यैव प्रधानत्वाद् वाक्यार्थत्वं च युज्यते' (पृ० ४४१)। अतः वेदांतों में, ब्रह्मकाण्ड में, कोई भी विधि नहीं मानी जा सकती जिससे अभिधाश्रुति की एकवाक्यता हो। सिद्धार्थक वाक्यों से एकवाक्यता रखने वाली विधियाँ तो पूर्वकाण्ड में ही युक्त हैं। अतः पूर्वकाण्ड में शेषिभूत विधि तथा ब्रह्मकाण्ड में शेषभूतविधि मानकर किया 'द्वैतप्रकल्पन' अर्थात् काण्डभेदव्यवस्थापन अनुचित है। इसी तरह घी, चावल आदि बाह्य साधनों से व मनरूप अंतः साधन से सम्बद्ध नियोग मानने से भी काण्डभेद का समर्थन संगत नहीं। जैसे एक ही शास्त्र में अवांतर-भेदवश कुछ विषय दूसरे अध्याय में व कुछ तीसरे अध्याय में कह दिये जाते हैं ऐसे एक ही काण्ड में बाह्य व अबाह्य साधनों वाले नियोग कहे जा सकते हैं, एतावता काण्डभेद सिद्ध नहीं होता। काण्डभेद है अवश्य अतएव पूर्वमीमांसा ने धर्पका ही विचार किया है, एक भी ब्रह्मवाक्यका नहीं तथा बादरायण महर्षि ने पृथक् अधिकारी आदि समझाते हुए पूर्वतंत्र से स्वतंत्र ही चतुर्लक्षणी मीमांसा का प्रणयन किया है।

इसी श्लोक की एक और योजना है : वादी प्रश्न उठाता है कि तत्त्वमादि शास्त्र में प्रसंख्यानविधि न मानने पर स्वीकारना पड़ेगा कि एक बार सुने वाक्य से उत्पन्न ज्ञान से मोक्ष हो जाता है। यदि ऐसा हो तो श्वेतकेतु को नौ बार तत्त्वमसि का उपदेश देना व्यर्थ होगा! शास्त्र में व्यर्थ वर्णन न हो इसलिये अभिधाशास्त्र के शेषरूप से प्रसंख्यान विधि मान लेनी चाहिये। वेद ने नौ बार उपदेश देकर सूचित किया कि वाक्य से साक्षात्कार हो इसके लिये पुनः पुनः सुनने की जरूरत रहती है। यह प्रश्न पूर्वार्ध से उठाकर उत्तरार्ध से जवाब देते हैं –

छान्दोग्य में पुनः पुनः उपदेश दिया गया है वह लिंग व्यर्थ न हो इस भय से यदि प्रसंख्याननियोग रूप अर्थ भी वेदांतों में कल्पित करो तो भी अनुचित है। द्वैत केवल कल्पना है इसलिये ऐक्यशास्त्र में विधि व्यर्थ है ॥८४७॥

बिना द्वैतके विधि नहीं होती क्योंकि कर्ता-करण-क्रिया-फल आदि द्वैत पर ही वह टिकती है। विधि मानने पर द्वैत को पारमार्थिक मानना पड़ेगा। द्वैत की वास्तविकता है नहीं यह अनेकत्र कहा गया है, 'नेह नानास्ति', 'नेति नेति', 'अतोऽन्यदार्तम्', 'ऐतदात्म्यमिदꣳ सर्वम्', 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों की यह स्पष्ट घोषणा है कि द्वैत वास्तविक नहीं है। कल्पित द्वैत के सहारे प्रसंख्यानविधि नहीं स्थिर होती क्योंकि विधि उसे ही प्रेरित करती है जिसे अपने अधिकारादि का निश्चय हो। 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह आहार्यज्ञान होने मात्र से म्लेच्छादि को बृहस्पतिसवादि में विधि प्रेरित करे यह कोई नहीं मानता। 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसा दृढ अभिमान होने पर ही वह संभव है। अतः कल्पित द्वैत से विधि का काम नहीं चलता। ऐकात्म्यशास्त्र का श्रवण कर लेने पर ही द्वैतकी पारमार्थिकता पर से श्रद्धा तो हट ही जाती है। अतः आपात प्रतिपत्ति भी कर्मप्रवृत्ति को निरुद्ध ही करती है। शास्त्रश्रवण से अकर्ता आत्मा की जानकारी होने पर फिर स्वयं को प्रसंख्यानविधि का विधेय मानना पड़े तो 'वरविघात के लिये कन्या के विवाह' वाला किस्सा चरितार्थ होगा यह आवृत्त्यधिकरणभाष्य में स्पष्टतर है। प्रसंख्यानविधिकी सुरक्षार्थ यदि ज्ञान के बाद भी द्वैत सत्यतया ही स्फुरित होता है यह माना जाये तो द्वैत अविद्याका कार्य नहीं रहकर पारमार्थिक ही हो जायेगा और वह ठीक नहीं। ज्ञान के बाद तो बाधित हुए द्वैत की अनुवृत्ति है, सत्यतया उपलब्धि नहीं, जैसे दर्पणस्थ मुख नहीं है इस बाध के साथ ही दर्पणस्थ मुख दीखता रहता है। जो तो छांदोग्य में असकृद् उपदेश है वह तत्तत् आशंका के निरास द्वारा तत्त्वज्ञान के प्रयोजन से है न कि तत्त्वज्ञान के बाद प्रसंख्यान की अपेक्षा से। अतः वाक्यार्थज्ञान के लिये प्रसंख्यान लोकदृष्ट होने से स्वीकार हो सकता है लेकिन वाक्यार्थज्ञान की आवृत्ति कथमपि विधेयरूप से स्वीकार्य नहीं यह तात्पर्य है ॥८४७॥

अब तक स्पष्ट किया कि ऐक्यवाक्यों के अंगरूप से भी विधि नहीं मानी जा सकती अतः शास्त्रसे समझे अर्थ के संदर्भ में प्रसंख्यान का नियोग अनुपयुक्त है। यदि आपात ज्ञान के बाद प्रसंख्यान की अपेक्षा कही जाये तो सिद्धान्ती को

न च मानेन विषये बोधितेऽन्वेषणं पुनः। कार्ययुक्त्योः क्वचिद् दृष्टं स्वतःप्रामाण्यबाधनात् ॥८४८॥
प्रत्यक्षेण घटे बुद्धे का युक्तिः कार्यमेव वा। अदुष्टकारणत्वं चेत्सिद्धं वेदे नृवर्जनात् ॥८४९॥

अंगीकार है क्योंकि यह लोकदृष्ट है कि गंभीरार्थक वाक्यों का आशय समझने के लिये उन्हे कई बार दुहराना पड़ता है। दृष्ट होने से ही विधिकी अत्यंत आवश्यकता नहीं है। किन्तु साक्षात्काररूप निश्चय होने पर भी प्रसंख्यान की अपेक्षा कही जाये तो वह असत्य है –

प्रमाण से विषय साक्षात्काररूप निश्चय से गोचर हो जाने पर फिर प्रसंख्यान या युक्ति का अन्वेषण कहीं होता हो ऐसा देखा नहीं गया है क्योंकि तब प्रमाण की स्वतःप्रमाणता संभव नहीं रहेगी ॥८४८॥

लौकिक विषयों का भी अपरोक्ष प्रामाणिक ज्ञान होने के बाद प्रसंख्यानादि की ज़रूरत नहीं होती, कोई शौक से करे यह बात अलग है। आत्मसाक्षात्कार तो कर्त्ता आदि भेदमात्र का बाधक है, उसके बाद कुछ भी ज़रूरी रहे यह संभव ही कैसे? युक्ति आदि को चार अंगों वाले प्रमाण में जो गिन चुका है वह उन्हे प्रमाण ही मान सकता है, तब यदि शास्त्र को स्वार्थबोधन में युक्तिसापेक्ष कहेगा तो स्पष्ट ही स्वतःप्रामाण्य का अपलाप होगा। यद्यपि ७८५ श्लोक में वादी कह चुका है कि वह साक्षात्कार के बाद प्रसंख्यानादि की ज़रूरत नहीं मानता तथापि सिद्धांती से उसके मत में यह अंतर है कि सिद्धांती को साक्षात्कार प्रमाण से प्राप्त होता है जबकि वादी को प्रमाणभिन्न से। इसका दार्शनिक फ़र्क़ यह है कि सिद्धांती का साक्षात्कार द्वैतबाधक होगा ही, वादी का साक्षात्कार वह नहीं कर पायेगा। अतएव व्यवहार का भेद यह है कि वादी आपातज्ञान की आवृत्ति से संतुष्ट रहेगा क्योंकि आवृत्तिजन्य संस्कारों से वह तादृश प्रतीति भी पा सकता है, जबकि सिद्धांती का सास प्रयास होगा वस्तु की प्रमिति पाने के लिये, अज्ञान हटाने के लिये। इस अंतर को प्रातःस्मरणीय मधुसूदन स्वामी ने गीता टीका में यह कहकर व्यक्त किया है कि भगवत्पूज्यपादों ने मोक्षमार्ग में योगांगों के उपयोग का व्युत्पादन कहीं नहीं किया है और इसलिये परमहंस साधक विवेकादि अभ्यासों में तत्पर होते हैं, समाधि में नहीं। मधुसूदनी का यह वाक्य इसी बात को प्रकाशित कर रहा हैं कि योग की ज़रूरत प्रसंख्यानवाद में पड़ती है क्योंकि वह ध्यान-समाधिरूप ही है। भाष्यमत में श्रूयमाण के प्रति पूर्ण एकाग्रतारूप समाधान तथा अप्रचलन या निष्ठारूप निदिध्यासन तो अनिवार्यतः चाहिये, लेकिन प्रसंख्यान का प्रयोग करना-न करना वे साधक के चुनाव का क्षेत्र मानते हैं : यदि उक्त एकाग्रता व निष्ठा के लिये किसी को पुनरावृत्ति चाहिये तो अवश्य करे, नहीं चाहिये तो मत करे। उनका कहना इतना ही है कि प्रमाण से साक्षात्कार पाना ज़रूरी है, केवल संस्कारप्रचय का भरोसा करना ग़लत है। संस्कार पौष्कल्य से हो भी जाये तो वह साक्षात्कार प्रमात्वेन अनिश्चीयमान होने से समस्त द्वैतका बाधक नहीं होगा। प्राप्त हुए साक्षात्कार में निष्ठा के लिये यदि कोई चाहे तो वे आवृत्ति मना भी नहीं करते क्योंकि निष्ठा कोई प्रमाण तो है नहीं, बाधक प्रत्यय प्रमा ही होगा यही स्मर्तव्य है। निष्ठा से भी भाष्यकार का अर्थ है अबाध्य निश्चय। वे स्मृतिरूप निष्ठा को मोक्ष के लिये अनिवार्य नहीं मानते यद्यपि उनका अभिप्राय है कि अनंत आनंद का अनावरण मन को अवश्य इसमें प्रेरित करता है कि स्मृति बनी रहे। यह विषय पंचदशी में बहुत स्पष्ट कर दिया गया हैं ॥८४८॥

शास्त्र तत्त्वसाक्षात्कार कराने के लिये युक्ति नहीं चाहता इसे अन्य प्रमाण के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं –

प्रत्यक्ष से घट देख लेने पर कौन-सी युक्ति या प्रसंख्यान अपेक्षित होता है? करण निर्दुष्ट है इसके निश्चयार्थ वहाँ कोई प्रसास हो भी सकता है लेकिन अपौरुषेय होने से वेद की सर्वदोषवर्जितता सिद्ध ही है ॥८४९॥

यहाँ यह प्रयोग इष्ट है : वेदः स्वविषयसाक्षात्कारप्रमित्युपजननाय युक्त्याद्यपेक्षारहितः, योग्यविषये साक्षात्कारप्रमिति-करणत्वात्, प्रत्यक्षवत् (चक्षुरादिवत्)। शब्द की साक्षात्कारहेतुता दशमादि वाक्यों में दृष्ट है अतः हेतु असिद्ध नहीं है। यहाँ निर्दुष्टता आदि उपाधि की संभावना मूल में ही हटा दी है। शास्त्रीय अद्वैत प्रमाणांतर से अविरुद्ध है यह श्लोक ९४९ आदि में भेद की अप्रामाणिकता बताकर स्पष्ट करेंगे तथा वादग्रंथों में विस्तार से समझाया गया है। अतः

प्रत्यक्षादिविरोधश्च कार्यपक्षेऽपि तु स्थितः। ऐकात्म्यानुभवो हि स्यात्कथमक्षादिबाधनात् ॥८५०॥
तन्निषेधात्तु या सिद्धिर्न सा कार्यप्रसादतः। प्रमाणादेव शास्त्रात्सा न मेयात्कार्यतो भवेत् ॥८५१॥

मानान्तराविरुद्धार्थकता के सहारे भी अनुमान सोपाधिक नहीं बनेगा। अनुकूल तर्क यही है कि यदि योग्य विषय में साक्षात्कारप्रमिति का निरपेक्ष रहकर उत्पादन न करे तो उस विषय में प्रमाण ही नहीं हो पायेगा ॥८४९॥

वादी कहता है कि प्रत्यक्षादि का विरोध रहते तत्त्वमादि वाक्य साक्षात्कार नहीं उत्पन्न कर सकते लेकिन नियोग क्योंकि सभी प्रमाणों से अधिक बलवान् है इसलिये वह प्रत्यक्षादि के विरोध से दबे बिना साक्षात्कार पैदा कर सकता है, अतः प्रसंख्याननियोग मानना चाहिये। इसका निषेध करते हैं –

कार्य – प्रसंख्याननियोग – मानने पर भी प्रत्यक्षादिविरोध तो बना ही रहेगा तो उससे बाधित होने के कारण नियोगवश भी ऐकात्म्य का साक्षात्कार कैसे होगा? ॥८५०॥

नियोग को प्रमाणान्तर से बलीयान् कहा भले ही जाये पर ऐसा कुछ है नहीं। अतएव 'आदित्य यूप है'– यह नियोगयुक्त वाक्य होने पर भी प्रत्यक्षविरोध के कारण स्वार्थसाक्षात्कार नहीं करा पाता। 'मातृदेवो भव' आदि सुनकर भी मनुष्यदर्शन ही बना रहता है, देवता नहीं दीखने लग जाते। अतः प्रत्यक्षादि से यदि ऐकात्म्य सचमुच विरुद्ध है तो नियोगादि कोई इसमें समर्थ नहीं कि प्रत्यक्षादिकाल में अद्वैत का अपरोक्ष करा दे, प्रत्यक्षादि के उपरमकाल में – समाधि में – भले ही प्रतीति करा सकते हैं। किं च नियोगशेष हुआ अद्वैतशास्त्र तो प्रत्यक्षादि से सुतरां बाधित हो जायेगा क्योंकि तब वह स्वार्थ में तात्पर्यहीन होने से अद्वैत में प्रमाण ही होगा नहीं। जब तो अद्वैतशास्त्र नियोग से स्वतंत्र है तब स्वार्थ में तात्पर्य वाला होने से प्रमाण है अतः वह प्रत्यक्षादि को बाधित कर सकता है। प्रत्यक्ष से निर्मल दीखने वाले जल को भी जब जानकार व्यक्ति अपेय घोषित कर देता है तो हम अपने प्रत्यक्ष को बाधित कर उसी की बात पर निश्चय करते हैं या सद्यः सुखद भक्ष्य को भी वैद्य जब हानिकर बता देता है तब उसमें इष्टबुद्धि हटा लेते हैं; ऐसे ही शास्त्रप्रामाण्यवश हम अपने अपरीक्षित प्रत्यक्षादि को हीनबल स्वीकार कर शास्त्र से अद्वैतनिश्चय कर सकते हैं। नियोगशेष होने पर तो योषा की अग्निता की तरह ही जीव की ब्रह्मता संभव होगी ॥८५०॥

यदि कहो कि प्रत्यक्षादि के विरोध का निषेध कर देंगे अतः नियोग से वस्तु भी सिद्ध हो जायेगी, तो वह ठीक नहीं। तुम्हारा अभिप्राय यही है कि जैसे प्रत्यक्ष में धनहानि आदि दुःख का हेतु होने पर भी नियोग से सिद्ध होता है कि यज्ञ सुखहेतु है और इसमें जो प्रत्यक्षादिविरोध है उसे युक्ति से दूर कर दिया जाता है, ऐसे ही युक्ति आदि से प्रत्यक्षादिविरोध मिट जाने पर नियोगवश अद्वैत सिद्ध होग। किन्तु यहाँ नियोग ने क्या किया? विरोध हटाने के लिये तो युक्ति आदि का प्रयोग करना पड़ा। अतः उसी के प्रयोग से विरोध हट जाने पर शास्त्र से ही सिद्धि हो जायेगी, नियोग व्यर्थ है। यही स्पष्ट करते हैं –

प्रत्यक्षादि के निरास द्वारा जो वस्तु की सिद्धि होती है वह नियोग की कृपा से तो होती नहीं क्योंकि नियोग कोई प्रमाण है नहीं। विरोधनिवारणपूर्वक वस्तुसिद्धि प्रमाण से, प्रकृत में शास्त्र से, ही होती है। नियोग एक प्रमेय है, वह प्रमाण का काम नहीं कर सकता ॥८५१॥

प्राचीन अनेक आचार्य कह गये हैं 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम।' इसका तात्पर्य यही है कि प्रमाण युक्तिविरोध की काट कर देता है। वार्तिक में स्पष्ट करेंगे 'विरोधो न तु मानानाम्' (२.१.५५४) कि प्रमाण परस्पर विरुद्ध नहीं होते अतः प्रमाणान्तरविरोध प्रतीत होने पर परीक्षित प्रमाण ही उस विरोध का निरास कर देता है। इस काम में नियोग की कोई भूमिका नहीं है। सभी प्रमाणों की यही स्थिति है, शास्त्र भी इस न्याय का अनुसरण करता है। किं च 'सत्यस्य सत्यम्', 'द्रष्टुर्दृष्टेः' आदि द्वारा शास्त्र ने बता भी रखा है कि प्रत्यक्षादि का क्षेत्र और शास्त्र का प्रतिपाद्य अलग हैं – षष्ठ्यन्त तक प्रत्यक्षादि की गति है, प्रथमान्त शास्त्रीय है; कर्तृप्रत्ययान्त प्रत्यक्षादि का क्षेत्र है, तदन्य का शास्त्र प्रतिपादक है। अतः

का वा कार्येऽस्ति ते युक्तिः शास्त्रं चेदुभयोः समम्। अज्ञातज्ञापनादन्यच्छास्त्रान्नेति पुरोदितम् ॥८५२॥
पुमर्थं प्रतिपाद्यापि प्रकृत्यैव श्रुतिः पुनः। तमेव युक्तिभिः सार्धं वदन्ती स्वार्थमीक्षते ॥८५३॥

यद्यपि तत्त्वमादि ही प्रत्यक्षादि के विरोध का परिहार करने में समर्थ है तथापि उसकी सामर्थ्य व्यक्त इन वाक्यशेषों से होती है। सर्वथापि नियोग इसमें कुछ नहीं करता। यदि 'ब्राह्मणं न हन्यात्'की तरह 'द्वैत मत होवे' ऐसा निषेध मान भी लें – 'नेह नानास्ति' में लेट् का सहारा लेकर – तो भी द्वैतका बाध नहीं होगा जैसे अहिंसावाक्य से सभी श्रद्धालुओं की हिंसावृत्ति हट नहीं जाती। नियोग कोई प्रमाण नहीं, केवल प्रमेय है, अतः वह प्रमाणविरोध का निरास करने में अक्षम है। जहाँ नियोगलिंगक अनुमान भी होता है वहाँ वस्तुतः प्रमाण तो शास्त्र ही है, अनुमानका ढंग केवल वाचोयुक्ति है। अतएव नियोगवादी उपादान नामक श्रौती अर्थापत्ति को शब्द के ही अंतर्गत मानते हैं, शब्दोपजीवी प्रमाणान्तर नहीं। परिमल में (पृ० ११०) कहा है 'विध्याक्षेपरूपविधिव्यापारात्मकमुपादानं शब्दप्रमाणान्तर्भूतम्–'। अतएव वेद को प्रमाण न मानने वाले को वैदिक नियोग के हेतु से कुछ भी नहीं मनाया जा सकता। इसलिये नियोग स्वयं कोई प्रमाण नहीं है ॥८५१॥

शास्त्र से अपरोक्ष समझ होने के लिये प्रसंख्यान व्यर्थ है –

कार्य की – प्रसंख्याननियोग की – ज़रूरत है इसमें तुम्हारे पास युक्ति क्या है? यदि 'अद्वैतशास्त्र की अर्थबोधकता की अन्यथा अनुपपत्ति' को युक्ति कहो तो ठीक नहीं क्योंकि शास्त्र जैसे नियोगबोधक है वैसे ही अद्वैतबोधक। अज्ञातज्ञापन से अतिरिक्त शास्त्र से कुछ नहीं होता यह पहले (श्लो० ५६३) कह चुके हैं ॥८५२॥

उत्पत्तिविधि में वादी को भी अज्ञातज्ञापन ही शास्त्र से मानना पड़ता है यह कह चुके हैं (श्लो० ७५६)। अतः अज्ञातज्ञापन शास्त्र का काम है इसमें पूर्वोत्तरपक्षों की संमति है। प्रकृत वादी तो ब्रह्म को भी शास्त्रीय मानना चाहता ही है। अतः 'उभयोः नियोगब्रह्मणोः, आवयोर्वा' यह लतिका है। इस प्रकार कोई तर्क नहीं जिससे यह मान्य हो कि शास्त्र आत्मापरोक्ष्य के लिये प्रसंख्यान से उपकृत होता है। प्रसंख्यान से साध्य कुछ होता तब उसका उपयोग भी होता, प्रमितिरूप साक्षात्कार उससे साध्य है नहीं, फलांतर भी कोई स्वीकार्य नहीं, तब उसकी अपेक्षा होना असंगत ही है ॥८५२॥

जिज्ञासा होती है कि यदि श्रुति अपने ही बलसे अद्वैत साक्षात्कार करा सकती है तो वेद में ही जो इस बारे में युक्तियाँ दी हैं वे किस लिये? यह कह नहीं सकते कि आत्मज्ञान से पूर्व ही उनका उपयोग है क्योंकि जब तक आत्मा का ज्ञान न हो तब तक उसके बारे में युक्तियों का विचार हो नहीं सकता। इसलिये वेद में युक्तियों के उपन्यास से ही पता चलता है कि नियोग की अपेक्षा न होने पर भी युक्तिसापेक्षता तो है। इस जिज्ञासा का उपशम करने के लिये कहते हैं –

श्रुति प्रमाण है। प्रमाण का स्वभाव है स्वविषयका प्रतिपादन। श्रुतिका स्वविषय है पुरुषार्थभूत आनंदात्मा। अतः श्रुति स्वभाववश ही उसका प्रतिपादन कर देती है। पुनः जब असंभावनादि शंकायें होती हैं तब उसी को वह युक्तियों सहित लक्षित करती हुई इतना ही सूचित करती है कि प्रतिबंधक-निवृत्ति के लिये वह युक्तियों की अपेक्षा रखती है ॥८५३॥

शब्द से जो प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार होता है वह असंभावनादि से अभिभूत रहता है यदि अधिकारी पुरुष में कोई दोष हैं। युक्तियों का प्रयोग उन असंभावना आदि को हटाने में है अतः श्रुति जब आत्मतत्त्व को युक्तियों द्वारा फिर-फिर बताती है तब वे प्रतिबंधक हटते जाते हैं और शास्त्रजन्य असंसृष्ट अपरोक्ष बोध अनभिभूत हो जाता है। वाक्यार्थज्ञान में युक्ति की ज़रूरत नहीं, उसकी प्रतिबद्धता हटाने में ही है। सर्वज्ञमुनि ने 'पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः सकलो विचार इति वेदविदः' (१.१६) आदि से यह तात्पर्य बहुत प्रचारित किया है। सारसंग्रह में तृतीयाध्यायकी भूमिकामें बताया है कि आत्मप्रमा में करण है वेदान्तवाक्य और इतिकर्तव्यता है 'अप्रामाण्यशंकानिरासितर्कानुसरणम्'। बाधके अयोग्य साक्षात्कारात्मक ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने पर भी पुरुषापराध उसे प्रतिबद्ध कर फल नहीं उत्पन्न करने देते। वहाँ पाँच अपराध

नैतावताऽपराधेन युक्तयो मानकारणम्। शब्दमात्रादसंसिद्धेरनपेक्षत्वहानतः ॥८५४॥

कहे हैं १) विषयभोगवासना, २) वेदांत ब्रह्मके बोधक नहीं ऐसी कल्पना, ३) ब्रह्म बाधित है ऐसी कल्पना, ४) ब्रह्मसाक्षात्कार को 'यह साक्षात्कार नहीं है' ऐसा समझना और ५) मोक्ष पुरुषार्थ नहीं है ऐसी कल्पना। इनमें प्रथम तो शमादि के अभ्यास से हटता है। दूसरे की निवृत्ति श्रवण से – तात्पर्यावधारण से होती है, इसमें शारीरकशास्त्रका प्रथमाध्याय उपयोगी है। तीसरे को हटाने में मनन विनियुक्त है तथा शास्त्रका द्वितीयाध्याय इसमें सहायक है। चौथा व पाँचवाँ अपराध विपरीतभावना कहा जाता है। शारीरकशास्त्र का तृतीयाध्याय चौथे दोषको व चौथा अध्याय पाँचवे दोष को हटाने के लिये है। साक्षात्कार को भी असाक्षात्कार समझने में द्वैतदर्शन हेतु बनता हो तो उसे घटाकर न्यूनतम कर लेना चाहिये और यदि वह 'असाक्षात्कार है' यह भ्रम ही हो – अर्थात् केवल 'असाक्षात्कार है' ऐसी प्रतीति मात्र नहीं वरन् निश्चय हो – तो वार्तिकसंमत निदिध्यासन करना चाहिये जिसमें 'एवमेवेति' ज्ञान श्रवण-मनन से दृढ होता है। फल के विषय में भी श्रुतिविचार एवं सौषुप्तादि सुख के विचार से निर्विशेष सुख की फलता स॰झ लेनी चाहिये। यद्यपि सापराधमें भी अखण्डज्ञान होता है लेकिन जैसे-जैसे अपराध हटते जाते हैं वैसे-वैसे स्पष्टता बढती जाती है जैसे काँच की सफाई के अनुरूप मुखका प्रतिबिंब स्पष्ट होता जाता है। यह भी संक्षेपशारीरक में कहा है (३.३०६-७)। इस सब में ख़्याल इतना ही रखना है कि प्रसंख्यानवादी साक्षात्कार की उत्पत्ति में युक्ति व आवृत्ति की कारणता मानता है और सिद्धांती केवल उसकी अप्रतिबद्धता में।

आनंदपूर्णमुनीन्द्र की योजना है कि श्रुति अपनी स्वारसिक सामर्थ्य से ज्ञानानंदरूप वस्तु का आपात ज्ञान उत्पन्न कर फिर असंभावनादि का निरास करने वाली युक्तियों सहित कहते हुए सद्योमुक्तिफलक अनुभवरूप अपने प्रयेजन को – अखण्ड अपरोक्ष को – 'ईक्षते' उत्पन्न करती है। आपातज्ञान का अर्थ उन्होंने यही किया है 'असंभावनाविपरीतभावनाऽभिभूतम्'। यद्यपि इस अर्थ में और आनंदगिरीय अर्थ में अंतर नहीं तथापि इसमें ध्वनि है कि शास्त्र पहले आपात ज्ञान ही उत्पन्न करता है जबकि आनंदगिरीय में ऐसी ध्वनि नहीं है।

शास्त्रप्रकाशिका में 'युक्तिभिः सह तमेवार्थं लक्षणया वदन्ती' तथा 'युक्तिभिः… लक्षणया बोधयन्ती' इन प्रयोगों से सूचित होता है कि 'यन्मनसा न मनुते' 'अप्राप्य मनसा सह' 'नैषा तर्केण' आदि श्रुतियों को दृष्टि में रखते हुए टीकाकार बताना चाहते हैं कि युक्ति भी परमात्मा को सीधे ही विषय नहीं करती। जैसे शब्द परमात्मा के निकटवर्ती या परमात्मसंबंधी के उल्लेख से ही परमात्मबोध में उपकारक होता है ऐसे युक्ति भी। वस्तुतः युक्ति का प्रधान सहारा शब्द ही है, शब्दों की हेर-फेर ही युक्ति है; खासकर अव्यवहार्य आत्मतत्त्व तथा ऐसे ही सूक्ष्म विषयों में शब्दमय विचार ही प्रधान है। यद्यपि वस्तु शब्द से स्वतंत्र स्फुरती है तथापि उससे संबद्ध चिंतन तो शब्दात्मक ही है। अतः बहुत सी सूक्ष्म वस्तुओं के जो लोग शब्द नहीं जानते वे उन विषयों पर कोई विचार भी नहीं करते। अतः युक्तिजाल का विस्तार व्यर्थ होता है जैसे शब्दजाल का। शब्दजाल को चित्तभ्रमणकारण कहा ही है। शाक्त व शैव तन्त्रशास्त्रों में यह स्पष्ट है; यत्किंचित् भेद की अवस्थाओं के नाम रखते चले जाने से उनकी प्रक्रियायें बीहड़ होती जाती हैं और अर्थतः विचार करें तो बात कोई विशेष नहीं होती। यही हाल नव्यन्यायकी भाषा का है। टीकाकार कह रहे हैं कि युक्ति भी जो कहेगी वह ब्रह्मस्वरूप से न्यून के बारे में ही कहेगी। उक्त सर्वज्ञवाक्य में इसे इस तरह कहा है कि युक्ति आत्मा का परोक्ष ही ज्ञान देती है। तात्पर्य एक ही है ॥८५३॥

सिद्धान्ती की प्रक्रिया में भी मोक्षहेतुभूत आत्मसाक्षात्कार को उत्पन्न करने के लिये वेद को युक्तियों की ज़रूरत है ही तो सापेक्षता क्यों नहीं? उत्तर है –

श्रुतिसे समधिगत अर्थ की प्रमिति के प्रतिबंधकों को निवृत्त करती हैं यह युक्तियों से कोई अपराध नहीं हो गया कि उन्हे प्रमिति की कारणता का बोझ ढोने का दण्ड दिया जाये! यदि शाब्दप्रमितिके प्रति युक्तियाँ भी कारण हों तब केवल शब्द स्वार्थबोध उत्पन्न करने में अक्षम होगा और उसकी निरपेक्ष प्रमाणता जाती रहेगी ॥८५४॥

यद्यपि सिद्धांती का मुख्य भाव है श्रुतिप्रोक्त युक्तियों की सहायता मानना तथा वे युक्तियाँ भी श्रुतिरूप ही हैं अतः श्रुतिभिन्न की अपेक्षा का प्रसंग नहीं तथापि श्रुतिमें न कही युक्तियाँ भी तदनुकूल होकर सहायक हो सकती हैं यह मानकर श्रुतिभिन्नकी अपेक्षा प्राप्त होती है। अथवा वाक्यशास्त्र की तरह महावाक्यमात्र को श्रुति मानकर वाक्यशेषोक्त अर्थों के ज्ञान की अपेक्षा को भी सापेक्षता कहना संगत है। सर्वथापि वेदान्तों में सापेक्षता की शंकाका समाधान यही है कि यदि शब्द को स्वार्थबोध की उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा हो तभी उसे सापेक्ष कहा जाता है जैसे पुरुषवचन को; वह स्वार्थ की प्रमिति करा पाये इसके लिये अपेक्षित है कि वक्ता ने प्रमाणान्तर से उस अर्थ की प्रमिति पा रखी हो। किन्तु सिद्धांत में वेदांतवाक्य स्वार्थबोधन में युक्ति नहीं चाहते। उनसे हुआ बोध यदि प्रतिबद्ध हो तो उसे हटाने के लिये युक्ति चाहिये यह वे स्वयं उक्तियाँ भी सुनाकर व्यक्त करते हैं। युक्ति अपरोक्षज्ञान उत्पन्न करती नहीं यह वादी भी मान चुका है (७८७ श्लो०) और सिद्धांती को भी इष्ट है। अतः मोक्षहेतु ज्ञान की उत्पत्ति में इन्हे कारण कहा ही नहीं जा सकता। मन्तव्यविधि तथा दृष्ट उपयोग आदि के कारण इनका कुछ प्रयोजन अवश्य है, वह यही कि ये तत्त्वधी के प्रतिबंधों को हटाती हैं। लोक में भी अपरोक्षज्ञान को परोक्षज्ञान प्रतिबद्ध करता देखा गया है व उस परोक्षज्ञान का परोक्ष ज्ञानान्तर से बाध हो जाने पर अपरोक्षज्ञान की अप्रतिबद्धता भी देखी गयी है। उदाहरणार्थ : किसी श्रद्धेय व्यक्ति ने कहा, 'इस डिब्बे में सोना रखा है, ले जाकर देवदत्त को दे दो।' इससे सोने का परोक्ष ज्ञान हुआ। देवदत्त के पास जाकर डिब्बा खोला तो पीतल का टुकड़ा दीखा। पीतल का अपरोक्ष ज्ञान है। लेकिन वक्ता पर श्रद्धा से उसके वाक्य से हुआ 'सोना है' यह परोक्षज्ञान पीतल के प्रत्यक्ष को प्रतिबद्ध कर देता है, हम उस टुकड़े को पीतल मान नहीं पाते, कहते हैं 'परीक्षा करो। या तोड़कर देखो शायद भीतर सोना हो ऊपर पीतल का खोल हो।' इत्यादि। तब तक उस श्रद्धेय का भेजा अन्य व्यक्ति आकर कहता है 'उन्होने ग़लती से दूसरा डिब्बा दे दिया था, वापिस बुलाया है।' यह सुनकर 'डिब्बे में सोना है' इस परोक्ष ज्ञान का बाध हो जाता है। वह बाध भी परोक्षज्ञानविशेष से ही होता है क्योंकि दूत के वाक्य में अपरोक्षज्ञान का उत्पादक कोई शब्द है नहीं, वह तो उसकी बात सुनकर युक्ति से समझा गया है कि डिब्बे में सोना नहीं है। यद्यपि सोने का अभाव मौजूद है, अनुपलब्धि से अपरोक्ष भी है, तथापि बिना युक्ति के वह अब तक निश्चयरूप नहीं हो पा रहा था। अब युक्ति से जब 'सोना है'- यह परोक्ष निश्चयरूप प्रतिबंधक हटा तो 'सोना नहीं पीतल है' यह जो ज्ञान काफ़ी देर से मौजूद था वह अप्रतिबद्ध हो जाता है। अतः अपरोक्ष ज्ञान भी परोक्ष ज्ञान से प्रतिबद्ध हो सकता है एवं परोक्ष ज्ञानांतर से उसके हटने पर अपरोक्ष अप्रतिबद्ध हो सकता है। यह नहीं कह सकते कि अपरोक्ष निश्चय की उत्पत्ति में युक्ति की अपेक्षा रह गयी क्योंकि प्रकृत दृष्टांत में पीतल का अपरोक्ष निश्चय तो आँख से ही हो रहा है। पीतलाभाव के अपरोक्ष ज्ञान का तो यहाँ हेतु है ही नहीं, अतः 'पीतल नहीं है' इसे परोक्ष ज्ञान ही मानना पड़ेगा। इसे अपरोक्ष भ्रम तो नहीं ही कह सकते क्योंकि 'लगता तो पीतल है पर हो नहीं सकता' यही ज्ञान होता है। इसलिये 'पीतल नहीं है' इसे परोक्ष निश्चय कहना पड़ेगा। एवं च 'पीतल है' इस अपरोक्ष निश्चय की उत्पत्ति में शब्द, युक्ति आदि कारण नहीं बने हैं, उन्होंने प्रतिबंधनिवृत्ति में ही उपकार किया है। इसी तरह 'मैं परिच्छिन्नादि हूँ' यह हमारा निश्चय है। शास्त्र से 'तत्त्वमसि' सुनकर अपने बारे में अपरोक्ष ज्ञान हो भी जाता है जो व्यापकतादि को विषय करता है, लेकिन परिच्छिन्नतादिका निश्चय इस शास्त्रीय बोध को प्रतिबद्ध कर देता है, हम मानने को तैयार नहीं होते। फिर युक्त्यादि से हमारा परिच्छिन्नतानिश्चय कटता है तब यह निश्चय अप्रतिबद्ध हो जाता है। दृष्टांत से यहाँ इतना भेद है कि परिच्छिन्नतानिश्चय भी अपरोक्ष भ्रम है। अतः युक्तिमात्र से वह बाधित नहीं होता, बाध तो उसका शास्त्रीय अपरिच्छिन्नतानिश्चय से ही होता है। लेकिन परिच्छिन्नताभ्रम का हेतुभूत दोष है अविवेक, उसे युक्ति हटा देती है। तब वह भ्रम निवृत्त हो जाता है, बाधित नहीं होता। भ्रमरहित स्थिति में शास्त्रीय निश्चय उस भ्रमका बाधक हो जाता है। बाधकप्रवृत्तिकाल में बाध्यप्रतीति जरूरी नहीं है; हमने 'सफल' शब्द सुना। कुछ देर बाद वक्ता ने बताया उसने 'सकल' शब्द कहा था, 'सफल' नहीं। इस बाधकज्ञान के समय हमें बाध्य की स्मृति ही थी, प्रतीति नहीं, फिर भी उसका बाध हो ही जाता है। ऐसे ही युक्ति से निवृत्त हुए परिच्छिन्नताभ्रम का बाध तत्त्वनिश्चय से हो जाता है। परिच्छिन्नताभ्रम की निवृत्तिमात्र तो सुषुप्ति में भी हो ही जाती है, बाध न होने से ही वह पुनः आ जाती

न वायोः क्षिप्रकारित्वाच्छ्वेतालम्भो विभूतये। विध्युद्देशात्तु तत्सिद्धेः शैघ्र्यं तूक्तं प्रवृत्तये ॥८५५॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेभ्यो यदि नामातिरेकतः। व्यक्तिभ्यो गोत्ववद् दृष्टं ब्रह्मत्वेऽस्य किमागतम् ॥८५६॥

है। यद्यपि युक्ति ने अविवेकरूप हेतु को हटाकर भ्रम निवृत्त किया है तथापि अविवेक का भी हेतु है अज्ञान अतः वह पुनः अविवेक को उत्पन्न कर देता है। तत्त्वनिश्चय अज्ञान का बाधक है अतः फिर भ्रम संभव नहीं रह जाता। इसलिये युक्तिमात्र से कुछ समय भ्रम हटना ही संभव है सर्वथा समाप्त होना नहीं। इस तरह युक्ति से भ्रम हट चुकने पर – हटना युक्ति से ही हो यह ज़रूरी नहीं, अन्य तरह भी हो सकता है, अतः गीताटीका में सरस्वती जी समाधि से भी यह काम संभव सूचित करते हैं – जो शास्त्रीय तत्त्वनिश्चय है वह अप्रतिबद्ध हो जाता है अर्थात् अविद्याका बाध कर देता है। एवं च सिद्धांत में युक्ति का उपयोग होने पर भी शब्द की सापेक्षता नहीं है ॥८५४॥

इस विषय में वादिसंमत शास्त्रीय दृष्टांत देते हैं –

श्वेत पशु का आलंभन विभूतिफलक इसलिये नहीं कि वायु शीघ्रकारी देवता है बल्कि इसीलिये है कि विभूति के लिये श्वेत पशु के आलंभन की विधि है, वायु की शीघ्रकारिता तो इसलिये कही गयी है कि पुरुष उस कर्म में प्रवृत्त हो ॥८५५॥

साध्यसाधनभाव तो विधिसिद्ध है लेकिन वैध क्रिया में प्रवृत्त करने के लिये अर्थवाद का उपयोग होता है यह मीमांसा की मान्यता है। विधि का अर्थ संपन्न किया जाये इसके लिये अर्थवाद की ज़रूरत पड़ने पर भी विधि में सापेक्षता नहीं मानी जाती क्योंकि विधि के अर्थ की प्रतीति में विधि अकेली सक्षम है। ऐसे ही प्रकृत में युक्ति का उपयोग होने पर भी वेदांतवाक्य सापेक्ष नहीं हो जाते। न वाक्यार्थ के ज्ञानमात्र के लिये व न उसके निश्चय के लिये युक्ति चाहिये, वह तो केवल प्रतिबंध हटाने के लिये चाहिये यह तात्पर्य है।

दृष्टान्त में 'वैभवेच्छुक को चाहिये कि वायु देवता के लिये श्वेत पशु की बलि दे' यह विधि है। 'वायु तेज़ देवता है' आदि अर्थवाद है। अर्थवाद का तात्पर्य है कि क्योंकि वह तेज़ देवता है इसलिये शीघ्र फल देगा अतः उक्त बलि दी जाये। बलि देने में प्रवृत्ति का कारण तो विधि ही है, अर्थवाद ने उसे मदद दी। अतएव विधि में सापेक्षता नहीं। विधि की इतिकर्तव्यता अर्थवादों से होती है यह शाब्दभावनाप्रसंग में स्पष्ट है अतः जहाँ अर्थवाद नहीं सुने गये वहाँ विधि से ही अर्थवाद की कल्पना हो जाती है जैसे दर्वीहोम में। भामती में कहा है 'दर्विहोमवत् सामर्थ्यद्वयमकल्पयिष्यत्' (पृ० १०८)। इसलिये वादी कह सकता है कि दृष्टांत में सापेक्षता इसलिये नहीं कि अर्थवाद व्यापार है। युक्ति को व्यापार तो सिद्धांती मानता नहीं। यह तो पूर्वपक्षी ने कहा था कि प्रसंख्यान व युक्ति को व्यापार मानना चाहिये (श्लो० ७७४-५)। एवं च दृष्टान्त अनुपयुक्त है। उत्तर है कि दृष्टांत से वेदान्त की निरपेक्षता सिद्ध नहीं कर रहे कि दृष्टान्त की यत्किंचित् विसदृशता से कोई अन्तर पड़े; इससे तो केवल स्पष्ट कर रहे हैं कि युक्ति के उपयोगमात्र से सापेक्षता की आपत्ति नहीं होती।

वस्तुतस्तु विधि के स्वार्थबोध में अर्थवाद की ज़रूरत न पड़ने से ही वह निरपेक्ष है, ऐसे ही वेदांत भी स्वार्थबोधन के लिये युक्ति नहीं चाहते अतः निरपेक्ष हैं। अर्थवाद का उपयोग है विधि के प्रयोजन की निष्पत्ति में, युक्ति का भी उपयोग है वेदांतके प्रयोजन की (अप्रतिबद्ध बोध) की निष्पत्ति में। प्रयोजननिष्पत्ति में व्यापारातिरिक्त की अपेक्षा से वाक्य में सापेक्षता नहीं कही जा सकती क्योंकि विधि भी व्यापारातिरिक्त अधिकारी आदि की अपेक्षा रखती ही है। एवं च दृष्टान्त सर्वथा समीचीन है ॥८५५॥

निश्चय का कारण शास्त्र ही है क्योंकि अकेली युक्ति अद्वैतात्मा का निश्चय कराने में असमर्थ है यह बताते हैं –

जैसे युक्ति से पता चलता है कि गोव्यक्तियों से गोत्व अतिरिक्त है ऐसे युक्ति से पता चल भी जाये कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं से आत्मा अलग है तो भी यह तो नहीं पता चलता कि वह ब्रह्म है ॥८५६॥

व्यावृत्तों से अनुवृत्त अलग होता है जैसे माला की मणियों से माला का सूत्र – इस युक्ति से जाति-व्यक्ति का भेद

असिद्धं शास्त्रयुक्तिभ्यामावृत्त्याऽपि न सिध्यति। नैव ह्यावर्तनं हेतुः प्रामाण्येऽन्येष्वनीक्षणात् ॥८५७॥
न चेदृशं प्रमाणत्वं दृष्टमन्यत्र कुत्रचित्। अन्यादृक्षप्रमाणस्य न च नास्त्यत्र संभवः ॥८५८॥

भी पता चल जाता है तथा अवस्था-अवस्थावान् का भी। लेकिन इतनी-सी जानकारी यह तो संभावित भी नहीं कर सकती कि त्वम्पदार्थ का तत्पदार्थ से अभेद है। अवस्थाओं से अन्य, शरीर से अन्य आत्मा है यह तो सभी आस्तिक मानते हैं लेकिन वह ब्रह्म ही है यह तो केवल औपनिषद ही स्वीकारता है। यदि युक्ति ब्रह्मात्मतानिश्चय का हेतु होती तो वादान्तर भी यह मानते। अतः यही स्वीकारना पड़ेगा कि युक्ति से अद्वैतात्मा का निश्चय नहीं होता, शास्त्र से ही होता है। युक्ति केवल जीव के विविक्तज्ञान में उपयोगी है। लतिका में कहा है 'त्वंपदार्थविवेको युक्तिफलं, ब्रह्मत्वानुभवो वाक्यफलम्।' अतः प्रौढि से भी यह ग़लती नहीं करनी चाहिये कि शास्त्रनिरपेक्ष युक्ति से ब्रह्मात्मता सिद्ध है यह मान लें। कहीं प्रातिभादि ज्ञान से यदि ऐसा निश्चय बिना शास्त्र के दीखे तो वह घुणाक्षरन्याय ही है। बात सत्य है, वस्तु अपरोक्ष है अतः वहाँ भी फल की मनाही नहीं कर सकते लेकिन सिद्धि में युक्ति कारण नहीं है इतना निश्चित है ॥८५६॥

अखण्डार्थवाद प्रारंभ करने जा रहे हैं अतः आवृत्तिप्रसंग का समापन करते हैं –

शास्त्र और युक्ति से अप्राप्त साक्षात्कार उनकी आवृत्ति से भी प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि आवृत्ति कोई प्रमाण नहीं है। वाक्य में प्रमोत्पादकता आये इसमें भी आवृत्ति कारण नहीं है क्योंकि अन्य प्रमाणों की प्रमोत्पादकता के लिये आवृत्ति चाहिये हो ऐसा नहीं देखा जाता। अद्वैतवाक्यों से अन्यत्र वाक्यों में आवृत्ति की अपेक्षा देखी नहीं गयी है। (अतः यहाँ भी नहीं मानी जा सकती।) ॥८५७ १/२॥

पूर्वोक्त विचार का ही संक्षेप है। वेदांतों से अन्यत्र शब्द में तथा प्रत्यक्षादि में आवृत्ति न प्रमाका हेतु देखी गयी है, न यही देखा गया है कि प्रमाकरण को प्रमा उत्पन्न करने में आवृत्ति चाहिये हो, इसलिये आवृत्ति को न प्रमोत्पादक मान सकते हैं न प्रमोत्पादकता का कारण। अभ्यास से मनमें यह सामर्थ्य आती है कि प्रमाण-प्रमेय का संपर्कादि परिस्थिति होने पर झटिति प्रमिति का आकार ग्रहण कर ले। प्रमिति में करण तो प्रमाण ही बनता है लेकिन मन यदि अशिक्षित है तो उसकी प्रमिति-आकार ग्रहण करने की शक्ति प्रतिबद्ध होने से प्रमिति उत्पन्न नहीं होती। शिक्षा से – जिसका एक अंग, आवृत्ति भी है – वह शक्ति अप्रतिबद्ध हो जाती है, तब प्रमाण ही प्रमिति उत्पन्न करता है। इसलिये सुसूक्ष्मतम अद्वैततत्त्व के साक्षात्कार के लिये भी मन को शिक्षित करना ज़रूरी है अतः शिक्षांगतया आवृत्ति भी ज़रूरी है लेकिन वह प्रमा या प्रमाणोपकारक नहीं है। अतः आवृत्ति यहाँ वाक्यार्थज्ञान की हो यह अपेक्षित नहीं, संभव भी नहीं क्योंकि वाक्यार्थज्ञान तो अप्रतिबद्ध होते ही समस्त द्वैत का बाध कर देता है, आवृत्ति का अवसर नहीं रहता। यहाँ आवृत्ति शोधित-पदार्थ-ज्ञान की चाहिये; उसी से मन को शुद्धात्मा का आकार ग्रहण करने की शिक्षा मिल जाती है जिसके फलस्वरूप वाक्य से वह अखण्डाकार ग्रहण करने में समर्थ होता है। वाक्यार्थ के प्रतिबद्धज्ञान की आवृत्ति भी हितकारी होती है यह संक्षेपशारीरक के श्लोक से (३.३४५) पूर्व में (श्लो० ८३५) व्यक्त कर चुके हैं। वस्तुतस्तु पदार्थज्ञान सही हो तो वाक्यार्थज्ञान के प्रतिबद्ध होने में हेतु नहीं, यह मानकर प्रसंख्यानवाद का प्रत्याख्यान स्वरस होने से वाक्यार्थ का प्रतिबद्धज्ञान वास्तव में ज्ञान न होकर एक आहार्य बुद्धि है। आहार्यवृत्ति को सिद्धांती ज्ञान नहीं मानता, 'अस्मन्मते हि आहार्यवृत्तिः इच्छादिवत् वृत्त्यन्तरमेव, न तु धीः' यह न्यायरत्नावली में (पृ० २९) लिखा है। अतः वाक्यार्थज्ञान की आवृत्ति तो असंभव और अनपेक्षित है यह समझ लेना चाहिये ॥८५७ ०॥

ज़ब यह कहा कि लौकिक वाक्यादि प्रमाणान्तर में आवृत्ति की ज़रूरत न देखी गयी होने से वेदांतों में भी अस्वीकार्य है तब वादी कहता है कि लौकिक वाक्य संसृष्ट-परोक्ष-ज्ञान ही पैदा करते देखे गये हैं तो वेदान्त भी ऐसा ही करते हैं यह मानना चाहिये! इसका निषेध करते हैं –

यह नहीं कह सकते कि अद्वैतात्मा के बारे में वैसा प्रमाण नहीं हो सकता जो लौकिकादि प्रमाणों जैसा न हो ॥८५८॥

अलौकिकार्थवादित्वादात्मब्रह्माभिधानयोः। संबन्धाग्रहणादात्मा ब्रह्मेति कथमुच्यते ॥८५९॥
ज्ञातार्थसंगतिः शब्दो वाक्यार्थावगमक्षमः। ब्रह्मात्मार्थप्रसिद्धौ च लोकान्मानप्रवेशिता ॥८६०॥
नाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मशब्दस्य प्रयोगात्स्यादलौकिकः। ब्रह्मार्थोऽपि महत्त्वेन प्रसिद्धो व्यवहारतः ॥८६१॥
एवं पदात्परिज्ञाते पदार्थे लोकमानतः। वाक्यार्थोऽतीन्द्रियो वेदे वाक्यात्केन निवार्यते ॥८६२॥

प्रमाण अपने विषय का अनुसरण करता है। अद्वैतात्मा वस्तु ही असंसृष्ट व अपरोक्ष है अतः उसे विषय करने वाले तत्त्वमादि वाक्य को वैसा ही ज्ञान उत्पन्न करना पड़ेगा, अन्यथा प्रमाण नहीं रह पायेगा। प्रमाणान्तर रूपविशेष की साक्षात्कारात्मक प्रमिति नहीं कराते एतावता आँख भी नहीं कराती यह तो कहना अनुचित है, ऐसे ही प्रकृत में समझना चाहिय। तात्पर्य है कि प्रकृष्टप्रकाश आदि वाक्य असंसृष्टार्थक देखे गये हैं, दशम आदि वाक्य अपरोक्षार्थक देखे गये हैं अतः असंग अपरोक्ष ब्रह्म का बोधक वाक्य असंसृष्टसाक्षात्कार का हेतु हो इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं जबकि आवृत्ति की प्रमितिकारणता तो कहीं नहीं देखी गयी अतः उसे मानने में कोई युक्ति नहीं ॥८५८॥

प्रश्न होता है कि तत्त्वमादि वाक्य ब्रह्मात्मता में तभी प्रमाण होंगे जब 'तत्' 'त्वम्' पदों का अर्थ ज्ञात हो। तो क्या ब्रह्म व आत्मा (जीव) प्रमाणान्तर से ज्ञात हैं? या नहीं हैं? यदि नहीं हैं तो तत्-आदि शब्दों की ब्रह्म-आदि अर्थों में शक्ति ग्रहण नहीं की जा सकती। तब वाक्य ज्ञान को उत्पन्न करने में असमर्थ अतः अप्रमाण होता है –

'ब्रह्म' व 'आत्मा' ये नाम अलौकिक अर्थों के वाचक हैं अतः इन नामों का शक्तिग्रह नहीं हो सकता। तब वाक्य यह बता कैसे सकता है कि आत्मा ब्रह्म है? ॥८५९॥

अलौकिक अर्थात् शास्त्रातिरिक्त प्रमाण के अविषय। शक्तिग्रह के लिये शब्द व अर्थ को ज्ञात होना पड़ता है तभी व्यवहारादि से उनका सम्बंध समझा जाता है ॥८५९॥

पदार्थज्ञान के बिना वाक्य से वाक्यार्थज्ञान नहीं होता यह बताते हुए वादी कहता है कि यदि ब्रह्म व आत्मा में शक्तिग्रहके लोभ से उन्हे प्रमाणांतर का विषय मानो तो शास्त्र अनुवाद ही रह जायेगा –

वही शब्द वाक्यार्थ का ज्ञान करा सकता है जिसका अर्थ ज्ञात हो। ब्रह्म व आत्मा वस्तुओं को लौकिक साधनों से प्रसिद्ध मानने पर प्रमाणान्तर की विषयता हो जाने से शास्त्र का अपूर्व अर्थ नहीं रह जायेगा ॥८६०॥

यद्यपि पदार्थ मानान्तरयोग्य होने पर भी वाक्यार्थ अपूर्व रह सकता है तथापि अवान्तर वाक्यों की अपूर्वताक्षति अनिवार्य है यह अभिप्राय समझना चाहिये। इसका परिहार है कि विशिष्ट पदार्थ लोकसिद्ध हैं तथा शक्ति वहीं है, अवांतर वाक्य लक्ष्यार्थ के बोधक हैं। इस विषय पर विस्तृत चर्चा तो संक्षेपशारीरक में ही द्रष्टव्य है ॥८६०॥

जिज्ञासाभाष्यका अनुसरण करते हुए उक्त समस्या का समाधान करते हैं –

आत्मा (= जीव) अलौकिक नहीं है क्योंकि आत्मा के बारे में कहने के लिये ही 'आत्मा'-शब्द का प्रयोग व्यवहारसिद्ध है। अतिशय महत्त्व वाला चेतन भी 'ब्रह्म'-शब्द के अर्थ रूप से व्यवहार से ही प्रसिद्ध है ॥८६१॥

विषयों की उपलब्धि जिसे होती है उस प्रत्यक् पदार्थ को जीवात्मा लोक में कहा-समझा जाता है अतः 'आत्मा'-शब्द की उसमें शक्ति है यह पता चलना कोई कठिन नहीं। ब्रह्म वस्तु भी अत्यंत अप्रसिद्ध नहीं। यौगिक व्युत्पत्ति से ही पता चलता है कि ब्रह्मशब्द किसी बृहत् वस्तु का बोधक है तथा शिष्ट व्यवहार से निश्चित होता है कि महत्त्वशाली चेतन को ब्रह्म कहते हैं। इस प्रकार दोनों शब्दों का शक्तिग्रह सरल है ॥८६१॥

तब 'तत्त्वमसि' आदि अनुवादक क्यों नहीं? बताते हैं –

इस प्रकार लोकव्यवहार से जब पदों से पदार्थों की जानकारी हो जाती है तब वेद में आये वाक्य से अलौकिक वाक्यार्थ की प्रमिति कौन रोक सकता है! ॥८६२॥

अपूर्वदेवतास्वर्गपदार्थेष्वपि लोकतः। सिद्धेष्वतीन्द्रियोऽप्यर्थो वाक्यादेवावगम्यते ॥८६३॥
नापेक्षापूरणाशक्तेः प्रयोगसमवायिता। पदानां सपदार्थानां वाक्याद्व्यवहृतिर्यतः ॥८६४॥

वाक्यार्थ अखण्ड-एकरस परब्रह्म है, अद्वैत है। वह लोकसिद्ध नहीं अतः उसे बताने वाला वाक्य अनुवादक नहीं कहा जा सकता ॥८६२॥

पदार्थ लोकसिद्ध होने पर भी वाक्य से अपूर्व (= मानान्तर के अयोग्य) वाक्यार्थ का ज्ञान होता है इसमें दृष्टान्त देते हैं –

कार्य, देवता, स्वर्ग पदार्थ भी लोकव्यवहार से सिद्ध होने पर वाक्य से ही धर्मरूप अतीन्द्रिय अर्थ भी समझा जाता है ॥८६३॥

लिङ् आदि की शक्ति कार्य में है और आज्ञादि से उपहित हुआ कार्य लोकसिद्ध है अतः लिङादिका शक्तिग्रह होता है यह पहले वर्णित हो चुका है। इंद्रादि देवता भी वज्रधारी आदि रूप से लोक में मूर्ति, चित्र आदि से पता लग जाते हैं तथा उन्हीं में इंद्रादिका शक्तिग्रह हो जाता है। ऐसे ही सुखविशेष चाहे लोकविशेष रूप स्वर्ग भी लौकिक प्रयोगों से पता चल जाता है व उसी में शक्तिग्रह होता है। इस प्रकार लोकतः पद-पदार्थ-संबन्ध पता चल चुकने पर भी 'स्वर्ग के लिये इन्द्रदेवता को आहुति दो' इस वाक्य से अपूर्व बात का पता चलता है। ऐसे ही जीव और ब्रह्म लोकप्रसिद्ध होने पर भी इनका अभेद वाक्य से ही प्रमित होता है। दो बार 'भी' कहकर बताया कि पदार्थ की ज्ञातता से वाक्यार्थ की अपूर्वता कहीं भी भग्न नहीं होती।

देवों की लोकप्रसिद्धि भामती में (पृ० ३४०) भी स्पष्ट की है ''लौकिका अपि देवताविग्रहादिपंचकं स्मरन्ति चोपचरन्ति च। तथा हि – यमं दण्हहस्तमालिखन्ति, वरुणं पाशहस्तं, इन्द्रं वज्रहस्तम्। ... तथाऽस्याः प्रसादं च प्रसन्नायाश्च फलदानमाहुः – प्रसन्नोस्य पशुपतिः पुत्रोऽस्य जातः।' इत्यादि। यदि मीमांसकों का अनुरंजन ही इष्ट हो तो विद्यासागरानुसार संप्रदान कारकमात्र में देवताशब्द की शक्ति को लोकतः मान लेना चाहिये। लोक में 'लातों के देवता बातों से नहीं मानते' आदि में देवताशब्द का अभिप्राय समझकर वेद में यह समझ आता है कि त्यज्यमान द्रव्य के उद्देश्य को देवता कहा जा रहा है। स्वर्गशब्दार्थ के लिये तो आनंदगिरि स्वामी ने भी विकल्प कह दिया है क्योंकि मीमांसक स्वर्ग को लोकविशेष मानने से डरता है ॥८६३॥

पदार्थ से अतिरिक्त वाक्यार्थ अवश्य मान्य है –

पदान्तर की अपेक्षा न रखने वाले पद एवं पदार्थान्तर की अपेक्षा न रखने वाले पदार्थ क्योंकि आकांक्षापूर्ति में असमर्थ होते हैं इसलिये वे वाक्यांगरूप से या वाक्यार्थांगरूप से प्रयुक्त नहीं किये जाते। क्योंकि वाक्य से व्यवहार होता है इसलिये पदमात्र पर्याप्त नहीं समझा जा सकता ॥८६४॥

मध्यमवृद्ध की प्रवृत्ति से बालक शक्तिग्रह करेगा। मध्यमवृद्ध की शब्दप्रेरित प्रवृत्ति तभी होगी जब उसे निराकांक्ष अर्थात् पूर्णज्ञान उत्पन्न हो। जो पद परस्पर साकांक्ष नहीं होंगे वे आपस में मिलकर निराकांक्ष ज्ञान भी उत्पन्न नहीं करेंगे। अतः शाब्दव्यवहार में वाक्य ही प्रयोग किया जाता है। 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जने' यह मण्डनोक्ति (ब्र०सि०पृ० १११) पूर्व में कई बार आ चुकी है। अतः पदार्थ से वाक्यार्थ अलग ही होता है जिससे पदार्थ की ज्ञातता से वाक्य में अनुवादकता का प्रसंग नहीं।

'आकांक्षापूर्ति' का मतलब है मध्यमवृद्ध को एक पद सुनकर उसका अर्थ पता चलने पर जो उससे संबद्ध होने योग्य, पदार्थान्तर की आकांक्षा, जिज्ञासा, होगी उसकी पूर्ति। पूर्ति में समर्थ तभी होगा जब पद स्वयं साकांक्ष हो। एवं च पद साकांक्ष ही होने चाहिये और वाक्य निराकांक्ष ही होना चाहिये – यह नियम है जिससे दोनों का तथा दोनों के अर्थों का वैलक्षण्य स्पष्ट है ॥८६४॥

वाक्यार्थायैव वाक्यं हि सर्वदैव प्रयुज्यते। व्यवहारेषु वृद्धानां सम्बन्धस्तत्र गृह्यते ॥८६५॥
भागान्तरप्रवेशेन भागत्यागेन च स्फुटम्। वाक्यवाक्यार्थयोर्भेदे पदार्थानां निमित्तता ॥८६६॥

भाट्टाभिमत अभिहितान्वय की अनिष्टता बताते हुए कहते हैं –

हमेशा ही वाक्य का प्रयोग वाक्यार्थ के ज्ञापन के लिये होता है अतः वृद्धव्यवहार से शक्तिग्रह संसृष्टार्थ में ही होता है ॥८६५॥

बालकादि को समझाने के लिये भी वाक्य कहने पड़ते हैं तथा समझ-बूझकर बालक भी वाक्य बोलता है। अतः शब्दप्रयोग वाक्यार्थ बताने के लिये ही होता है जिससे वाक्यों का ही प्रयोग किया जाता है, अनन्वित पदमात्रका नहीं। बालकादि का प्रमुख शक्तिग्रहोपाय वृद्धव्यवहार ही है। वृद्ध वाक्यार्थ प्रकट करने के लिये पद बोलते हैं तो साकांक्ष पद ही प्रयोग में लाते हैं जिनसे साकांक्ष अर्थ ही उपस्थित होते हैं। पद-पदार्थ की साकांक्षता यही है कि इतरान्वयके विना पर्यवसन्न न होना अतः पदों से उपस्थित पदार्थ इतरान्वय वाले ही हो सकते हैं। एवं च बालक पदों की शक्ति इतरान्वितस्वार्थ में ही समझ सकता है। अनन्वित में शक्ति मानने पर दोष आता है यह श्लोक ६०३ आदि में कह चुके हैं। श्लोक ६१० में टीकाकार ने अन्यान्वित में शक्ति मानना ही इष्ट कहा था। विवरण में (पृ० ६५९ आदि) भी यही सिद्धान्त स्वीकारा है। प्रकृत में अन्विताभिधान और अभिहितान्वय का वर्णन वार्तिकसार के हिंदी व्याख्यान में (पृ० ३८६-८९) हरिहरपण्डित ने स्पष्ट किया है। किन्तु अन्तमें जो उन्होंने अभिहितान्वय को वेदान्तसिद्धान्त कहा है वह चिन्त्य है। सर्वज्ञमुनि ने (१.३८२) स्पष्ट किया है कि संसृष्टार्थक स्थलों में हमें कोई आग्रह नहीं कि अभिहितान्वय मानें या अन्विताभिधान लेकिन (१.३८५) अन्विताभिधान में रुचि का बीज है कि उसमें ब्रह्म औपनिषद सिद्ध हो जाता है। वैसे, महावाक्यों में तो दोनों ही उपपन्न नहीं (१.३८३) क्योंकि वहाँ प्रतिपाद्य वस्तु न अन्वित है, न केवल। यद्यपि आत्मा केवल है तथापि अभिहितान्वय में अभिहित को अन्वित होने वाला माना जाता है, वैसा आत्मा नहीं है यह भाव है। रत्नावली में बहुतेरा विचार (पृ० ३१-४६) देखा जा सकता है। संक्षेप में वहाँ की यह पंक्ति प्रकृतानुकूल अर्थ बताती है 'तस्माद् अन्वयघटितार्थस्यैव पदशक्यत्वमिति सिद्धम्' (पृ० ४१)। वाचस्पति को अभिहितान्वय बेहतर लगता है यह चित्सुखी में (पृ० २६६) बताया गया है। अतः सिद्धान्तदृष्टि से दोनों संगत हैं लेकिन अधिकतर आचार्य योग्येतरान्वितशक्तिवादी हैं। अभिहितान्वय में पदार्थों को वाक्यार्थ का बोधक मानना पड़ता है जिससे वाक्यार्थज्ञान शाब्द नहीं रहता और प्रमाणत्वेन अक्लृप्त पदार्थों को वाक्यार्थप्रमितिका हेतु भी मानना पड़ता है। ये सब क्लिष्ट कल्पनायें हैं।

श्लोक में 'सम्बंधस्तत्र गृह्यते' कहा है, तत्र का अर्थ है संसृष्टार्थ में। अतएव टीका में कहा 'सम्बन्धग्रहश्च विशिष्टार्थदृष्टावुपयुज्यते'; अर्थ की विशिष्टता संसृष्टता ही विवक्षित है ॥८६५॥

सम्बंध ग्रहण करने का व्यावहारिक उपाय आवाप-उद्वाप है। आवाप अर्थात् जोड़ना, उद्वाप अर्थात् घटाना। पदों के आपसी जोड़-घटाव से ही पदस्वरूप भी पता चलता है और वाक्यार्थों में जो कुछ जुड़ता-घटता रहता है उसी से पदार्थ का पता चलता है। यही बताते हैं –

नये हिस्से को जोड़ने और पुराने किसी हिस्से को हटाने से स्पष्ट शक्तिग्रह हो जाता है। वाक्यों का परस्पर अंतर निर्भर करता है उनमें आये पदों के भेद पर तथा वाक्यार्थों का अन्तर पदार्थों के भेद से होता है ॥८६६॥

शक्तिग्रह के अनेक उपाय प्रचलित होने पर भी व्यवहार देख-सुनकर आवापोद्वाप करने से ही स्पष्ट शक्तिग्रह होता है। जोड़-घटाव का सरल दृष्टान्त है : 'घोड़ा लाओ।' यह एक वाक्य है। 'गाय लाओ।' यह दूसरा है; पूर्ववाक्य के 'घोड़ा' हिस्से को घटाकर 'गाय' यह नया हिस्सा जोड़ा है। ऐसे ही 'घोड़ा बाँधो' इत्यादि वाक्य समझने चाहिये। इस प्रकार नये-नये शब्दों व शब्दसम्बंधों के व्यवहार से ही शक्तिग्रह होता है यह भाव है।

पद ही यदि अन्वितार्थ बता देते हैं तो वाक्य का क्या कृत्य है? इस शंका के समाधानार्थ वाक्यों का तथा वाक्यार्थों

यद्भागस्याऽऽगमाद्योऽर्थभागः स्यादधिकः क्वचित्। तस्य भागस्य भागोऽसौ निमित्तं स्यान्न तु प्रमा ॥८६७॥
अत एव सभागत्वं वाक्यवाक्यार्थयोर्मतम्। वाचकत्वेऽपि वाक्यस्य संसृष्टार्थाभिधानतः ॥८६८॥

का अंतर पदों के व पदार्थों के अंतर से होता है यह कहा गया है। तात्पर्य है कि पद तो वाक्य का निर्माण करते हैं अतः जैसे धागों का व कपड़े का पृथक् कृत्य पूछना नहीं बनता वैसे यहाँ भी समझना चाहिये। आवाप-उद्वाप से ही पदों का अंतर पता चलता है और विभिन्न पदों की जानकारी होने पर वाक्यों का वैविध्य स्पष्ट होता है। शब्द के बारे में यह समझ लेना चाहिये कि पहले-पहल उच्चरित वर्णों का समूह ही इकाई प्रतीत होता है, उसमें शब्द अलग-अलग हैं यह काफ़ी बाद में भासता है और वर्णों का भेद तो शिक्षा से ही प्रतीत होता है, स्वतः नहीं। प्रायः शिष्ट लोग वाक्यों का उच्चारण करते हैं इसीलिये कह दिया जाता है कि हमेशा वाक्य ही प्रयुक्त होता है किन्तु तात्पर्य यही है कि जितना वर्णसमूह सुनकर क्रियादि का अनुविधान बार-बार देखा जाता है उतने वर्णसमूह को उस अर्थ का बोधक समझा जाता है। फिर आवापोद्वाप से पता चलता है कि उस वर्णसमूह में अनेक अवयव हैं अर्थात् पदों का ज्ञान होता है। इसके भी काफ़ी बाद प्रकृति-प्रत्ययों का भेद पता चलता है। हर हालत में पद से पदार्थ व उसका सम्बंध तो भासता है लेकिन सम्बन्धिविशेष नहीं भासता अतः निराकांक्ष बोध नहीं होता जबकि वाक्यसे सभी संबंधी भास जाने के कारण निराकांक्ष बोध हो जाता है ॥८६६॥

शंका होती है कि जिस पद के जुड़ने से वाक्य बदल जाता है वह पद यदि प्रमाण हो तो उसी तरह सब पद ही प्रमाण हो जायेंगे अतः वाक्य बेकार हो जायेगा, और यदि वह पद प्रमाण न हो तो यह उचित नहीं कि वह वाक्य में परिवर्तन लाये क्योंकि प्रमाण में अंतर लाने में प्रमाण ही समर्थ होना चाहिये। इसका समाधान करते हैं –

किसी वाक्य में जिस हिस्से के (= पद के) आ जाने से जो अर्थभाग अधिक प्रतीत हो, वह आया हुआ पद उसी अर्थ का स्मारक हुआ करता है, प्रमाण नहीं होता ॥८६७॥

'गाय लाओ' व 'घोड़ा लाओ' में घोड़ापद जुड़ा और अर्थ में घोड़ा अधिक प्रतीत हुआ तो घोड़ापद घोड़े अर्थ का स्मारक है यह तात्पर्य है। भाट्टवार्तिक में (शब्द० १०७) कहा है कि पद कोई नयी बात नहीं बताते अतः स्मारक – याद दिलाने वाले – की अपेक्षा इनमें कोई विशेषता नहीं। पद प्रमाण न होने पर भी वाक्य को परिवर्तित करता है जैसे पदार्थ वाक्यार्थ को परिवर्तित करते हैं। ऐसा न मानें तो सभी वाक्यों का एक ही अर्थ होने लगेगा। भाट्टमत में पदशक्ति से जो अर्थबोध होता है उसे स्मृति नहीं स्मृतितुल्य मानते हैं क्योंकि उस बोध में शब्द ही करण है जबकि स्मृति में शब्द ही करण हो यह संगत नहीं। किन्तु अन्विताभिधानवादी स्मारक व अभिधायक शक्तियाँ स्वीकारते हैं। पद अभिधायक शक्ति से अन्वयबोधन के लिये ही व्यापार करता है और अन्वय से संबंधी के रूप में पदार्थ का बोध हो जाता है जिससे पदार्थबोध में पद करण नहीं बनता, संस्कार ही बनता है अतः पदार्थबोध स्मृति ही है। यह संक्षेपशारीरक (१.३८४) और उस पर मधुसूदनी में स्पष्टतर है। प्रकृत में वार्तिक के 'निमित्तम्' का अर्थ टीकाओं में 'स्मारकम्' ही किया है। अतः भाट्टोक्ति उदाहृत होने पर भी पदों की स्मारकता विवक्षित है, स्मृतिसमबुद्धिजनकता नहीं यह समझा जा सकता है। इस प्रकार पद स्मारक होते हैं व वाक्य नवीन ज्ञान देते हैं यह अंतर है ॥८६७॥

इसी भेद को स्पष्ट करते हैं –

वाक्य भले ही वाचक हो लेकिन सम्बंध वाले विशेष अर्थ का कथन करता है, इसीलिये वाक्य और वाक्यार्थ को हिस्सों वाला माना जाता है ॥८६८॥

श्लोक ७३३ में इस पर चर्चा हुई थी कि वाक्य को वाचक माना जा सकता है। वाक्य का अर्थ 'विशेष' होता है अर्थात् वह अर्थ उसी वाक्य का होता है, अन्य वाक्यों का नहीं यह भी वहीं बताया था। वह विशेष अर्थ अनेकों के सम्बंध वाला होता है अतः हिस्सों वाला होता है। वाक्य भी हिस्सों वाला होता है अतएव हिस्से बदलने से वाक्य बदल

ततश्चैवं समूहस्य वाचकत्वमवस्थितम्। भागवत्त्वं च संसिद्धं वाक्यवाक्यार्थयोरतः ॥८६९॥
एवं च लोकतः सिद्धो वाक्यार्थः स्याच्छ्रुतावपि। लौकिका एव शब्दार्था न्यायेनोक्ताः श्रुतौ यतः ॥८७०॥
नृविवक्षाव्यवायेन लोके शङ्का भवेदपि। वेदे त्वपौरुषेयत्वात्साक्षात्स्वार्थे प्रमाणता ॥८७१॥

जाते हैं। इसलिये आवापोद्वाप से वाक्य के हिस्से का अर्थात् पदका, वाक्यार्थ के हिस्से से अर्थात् पदार्थ से सम्बंध पता चलता है तथा पदका जब समान अनेक व्यक्तियों के लिये प्रयोग देखा-सुना जाता है तब उन व्यक्तियों में अनुगत आकृतिरूप उपाधि से पद का संबंध निश्चित होता है। (आकृति रूप उपाधि से प्रसिद्ध जाति समझ सकते हैं। समवेत, नित्य आदि मान्य न होने से जातिशब्द का प्रयोग नहीं किया।) वाक्य से वाक्यार्थ का यों संबंधग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि वाक्यार्थ 'विशेष' के लिये पुनः पुनः वाक्य का प्रयोग होता नहीं है तथा नये अर्थ के लिये कहा वाक्य समझना असंभव हो जायेगा इत्यादि भी पहले (७३३ आदि में) कह चुके हैं। इसलिये वाक्य हिस्सों वाला है, ऐसे पद हिस्सों वाला नहीं अतः पद-अर्थ का संबंधग्रहण तथा प्रयोगकाल में पद से अर्थ का स्मरण संभव है जिससे व्यवहार उपपन्न है। 'पद हिस्सों वाला नहीं' कहने पर प्रश्न होगा कि उसमें भी प्रकृति-प्रत्यय हिस्से होते हैं, वर्णरूप हिस्से भी होते हैं, वह निर्भाग कैसे? शक्त को पद मानने से प्रकृति व प्रत्यय दो पद हों भी लेकिन वर्णरूप हिस्से तो रहेंगे ही। एकाक्षरकोषादि से वर्ण भी शक्त होने से पद हैं – यह कहा जाये तो व्यवहार से शक्तिग्रह में वर्णरूप पदों की शक्ति का ग्रहण मानना पड़ेगा जो लगभग असंभव है तथा प्रसिद्ध वर्णसमूहात्मक पदों को पदसमूह मानने पर भी वाक्य नहीं माना जा सकेगा क्योंकि वे भी पदार्थशक्ति वाले ही होने से पदधर्मयुक्त हैं संसृष्टाभिधायकत्वरूप वाक्यधर्म से युक्त नहीं। उत्तर है कि यहाँ हिस्सा वह बिवक्षित है जो अंग रहते हुए भी सार्थक है। पदघटक वर्ण स्वतः सार्थक होने पर भी जब पदघटकतया विद्यमान होते हैं तब उनके अर्थ अविवक्षित होते हैं जबकि वाक्य के घटकरूप से विद्यमान पदों के अर्थ विवक्षित ही होते हैं। अतः कोई दोष नहीं ॥८६८॥

योग्य से अन्वित स्वार्थ से पद का संबंध ज्ञात होता है अतः पद वैसे अर्थ की याद दिलाता है, वाक्य का यों अर्थ से सम्बन्ध समझना नहीं पड़ता यह निश्चित होने पर फल यह हुआ –

क्योंकि पूर्वोक्त विचार से वाक्य और वाक्यार्थ हिस्से वाले हैं और पद की ही योग्यान्वित स्वार्थ में शक्ति है यह स्थापित हुआ इसलिये यह निर्णीत है कि अज्ञातविषयक होने से वाक्य प्रमाण होता है, पद की तरह अप्रमाण नहीं ॥८६९॥

श्लोक के अंत में आये 'अतः' शब्द का अर्थ है 'यतः' और उसका प्रारंभ में अन्वय है। 'भागवत्त्वं च' के चकार का अर्थ है पद की शक्ति योग्यान्वित स्वार्थ में होना। अथवा लतानुसार चकार अवधारणार्थ है अर्थात् वाक्य-वाक्यार्थ की सभागता है ही। 'समूहस्य' में समूहपद वाक्य के अभिप्राय से है और 'वाचकत्वम्' का अर्थ है प्रमाणता। 'ततश्च' के चकार को तुकारार्थक समझना चाहिये जिससे पदतुल्य अप्रमाणता की व्यावृत्ति है ॥८६९॥

योग्यान्वितार्थ में पद शक्त होने से अखण्डार्थ का लाभ कैसे? समझाते हैं –

लोक में जैसा वाक्यार्थ सिद्ध होता है वेद में भी वैसा ही होता है क्योंकि न्याय से निर्णीत है कि लौकिक शब्द-अर्थ ही श्रुति में होते हैं ॥८७०॥ पुरुष की विवक्षाके व्यवधान से लोक में प्रामाण्यशंका हो भी सकती है पर वेद तो अपौरुषेय है अतः बिना किसी की अपेक्षा के अपने तात्पर्यविषय में प्रमाण है ॥८७१॥

श्लोक ५४० में न्याय बताया था कि लौकिक-वैदिक शब्द व अर्थ एक ही हुआ करते हैं। अतः शाब्दबोध भी यथालोक होगा। लोक में 'वही यह देवदत्त है' आदि वाक्य अखण्ड देवदत्त का बोध कराते हैं, ऐसे ही 'वही तू है' आदि वेदान्तवाक्य भी करा देते हैं। यद्यपि संसृष्ट में पद शक्त हैं तथापि उक्त स्थलों में अखण्डार्थबोध होता है तो मानना पड़ता है कि लक्षणा से उसकी उपस्थिति हुई अतः वेदांतवाक्यों में भी उसी लोकसिद्ध प्रक्रिया को मानना चाहिये। यद्यपि 'ठूँठ

न च कार्यपरत्वेऽपि पदानां संहतिः स्थिता। अन्यत्रावगमो न स्यात्सम्बन्धज्ञानवर्जनात् ॥८७२॥
यथा च कार्ये तात्पर्यं कार्यं चापि न विद्यते। पूर्वमेव तथाऽस्माभिर्युक्तिभिः संप्रसाधितम् ॥८७३॥

आदमी है' यों बाध में, 'शालग्राम विष्णु है' यों अध्यास में तथा 'नीला कमल है' यों विशिष्टता में भी सामानाधिकरण्य होता है तथापि जहाँ ये संभव नहीं वहाँ अभेद में ही उसे माना जाता है जैसे 'यह वही देवदत्त है'। प्रकृत में वेदांतमहावाक्य समानाधिकरण उपदेश देते हैं : शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त विभिन्न हों लेकिन एक ही अर्थ को विषय करें तो प्रयोग अर्थात् वाक्य सामानाधिकरण्य-बोधक कहा जाता है। जैसे 'यह कुण्डल सोना है' यहाँ एक ही वस्तु को कुण्डल भी कहा व सोना भी जबकि कुण्डल व सोना शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त (वाच्यार्थ) एक नहीं है। अतः यह सामानाधिकरण्य वाला कथन है। 'तत् त्वम् असि' में भी एक वस्तु को तत् भी कहा त्वम् भी जबकि दोनों के वाच्य अलग-अलग हैं अतः सामानाधिकरण्य है। ऐसे स्थल पर उक्त चार तरह से वाक्यार्थ बैठाया जा सकता है अतः विचार की ज़रूरत पड़ती है। तात्पर्यादि के अनुसार वाक्यार्थनिर्णय हो जाता है। वेदांतमहावाक्यों के अर्थ का निर्णय भी ऐसे ही होगा यह श्लोक ९०२ से बताना प्रारंभ करेंगे। महावाक्यों के अर्थबोधका क्रम ३.५.१८५ आदि में विस्तार से कहेंगे। नैष्कर्म्यसिद्धि में ३.३,३.९ आदि, ३.२३ आदि में भी इसका काफी स्पष्टीकरण है। प्रकृत में इतना ही अभिप्रेत है कि जैसे लौकिक समानाधिकरणव्यपदेशों में अन्य अन्वय संभव न होने पर लक्षणा से अखण्ड अर्थ समझा जाता है वैसे ही वेद में समझने की ज़रूरत है, किसी अजीबोग़रीब ढंग की या प्रसंख्यान की नहीं।

लौकिक वचन की प्रमाणता निर्भर करती है वक्ता की आप्तता पर : उसने प्रमाण से अर्थ जाना हो और उसी अर्थ को सर्वथा उचित शब्दों में कह रहा हो तभी उसका वाक्य प्रमाहेतु बनता है, अन्यथा नहीं। इसलिये लोक में वाक्यप्रामाण्य सापेक्ष रहता है। किन्तु वेद में ऐसा है नहीं अतः वेदवाक्य का अर्थ समझते ही निःशंक प्रमा होती है। पुरुषापराध से शंका जब तक है तब तक वस्तुतः वेदार्थ 'समझ' चुके नहीं हैं, समझने की कोशिश में हैं ॥८७०-८७१॥

ऐसा है नहीं कि लोक में कार्यपर ही पद व वाक्य हों जिससे वेद को भी कार्य में ही तात्पर्य वाला मानना पड़े –

मीमांसक भले चाहता रहे कि वेदतात्पर्य कार्य में हो, लेकिन यह कहीं निश्चित हुआ है नहीं कि वाक्य कार्यपरक ही होते हैं। यदि पदों का कार्यसंबंध अनिवार्य हो तो अकार्यार्थक पदों से अर्थबोध ही नहीं हो सकेगा क्योंकि अकार्य से उन पदों का संबंध ज्ञात नहीं होगा ॥८७२॥ 'कार्य' को जैसा मीमांसक मानता है वैसी कोई वस्तु है नहीं और वाक्यों का वैसे कार्य में तात्पर्य होता भी नहीं यह युक्तियों द्वारा हम पहले बहुत विस्तार और स्पष्टता से सिद्ध कर चुके हैं ॥८७३॥

सिद्धार्थक वाक्य लोक में सर्वत्र सुने जाते हैं अतः वाक्यों की कार्यपरता का कोई नियम नहीं। पद भी योग्यान्वित में शक्त होता है न कि कार्यान्वित में यह भी बता चुके हैं। अभी-अभी यह भी दिखा दिया कि लक्षणा से अखण्डार्थ भी वाक्यतात्पर्य का विषय होता है। अतः वेदांतों की कार्यपरता की आशा नहीं रह जाती।

श्लोक ६०२ में जैसे विचार किया था वैसे यहाँ भी संक्षेप में टीकाकार ने वर्णन किया है : वाक्य ज़रूर कार्य में तात्पर्य रखे यह तभी हो जब पदों का कार्य से ही सम्बंध हो। यह चार तरह से कहा जा सकता है लेकिन चारों प्रकार सदोष हैं –१) पदों की शक्ति अन्वितकार्य में है; यह मानने पर संज्ञाशब्दों से उनके अर्थों का पता नहीं चलना चाहिये क्योंकि वे अन्वितकार्य से संबद्ध समझे नहीं गये हैं। २) पदों की शक्ति कार्यान्वित स्वार्थ में है; यह मानने पर 'तुम्हारा पुत्र पैदा हुआ है' आदि वाक्य में पुत्रादि पदों से अर्थज्ञान नहीं होना चाहिये क्योंकि वाक्य में कार्यान्वितपुत्र के बोध की कारणता है नहीं। किं च कार्य स्वयं कार्यान्वित न होने के कारण कार्यपद से कार्यार्थ का ज्ञान भी नहीं होना चाहिये। ३) पदों की शक्ति उस अर्थ में होती है जो कार्य में तात्पर्य वाला है; यह मानने पर भी कार्यार्थ में शक्तिग्रह संभव नहीं क्योंकि कार्य में तात्पर्य वाला वही होगा जो कार्य का शेष हो तथा कार्य स्वयं का शेष हो नहीं सकता। ४) पदों की शक्ति

अनादिवृद्धव्यवहृद्व्युत्पत्त्यैव च तत्स्थितेः। शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध आदिमत्ता न शङ्क्यते ॥८७४॥
प्रथमश्रवणे यत्र न शब्दार्थावधारणम्। तत्राव्युत्पन्नता हेतुः शब्दानां न त्वशक्तिता ॥८७५॥

उसमें है जो कार्यसम्बंध से संबद्ध है; यह मानने पर भी यदि 'सम्बद्ध' से कार्य का ग्रहण करें तो कार्य ही शक्य होगा, नामपद शक्त नहीं रह जायेंगे। यदि 'संबद्ध' से कार्यभिन्न सिद्ध घटादि का ग्रहण करें तो वे ही शक्य होंगे, कार्यपद शक्त नहीं रहेंगे। सम्बंध द्विनिष्ठ होने से दोनों का ग्रहण भी संभव होगा अतः दोनों शक्त हो जायेंगे, यह नियम नहीं रहेगा कि पद का कार्य से ही सम्बंध हो। (शक्तिप्रतियोगित्व का मतलब है शक्यत्व।) किं च कार्य पदार्थ का कार्यान्वयान्वय मानने पर आत्माश्रयादि भी होंगे। यह विचार पूर्वप्रसंग में भी दर्शनीय है। इस प्रकार पदशक्ति का कार्यसंबंध किसी तरह सिद्ध न होने से नियोगवादी का प्रयास व्यर्थ है ॥८७२-८७३॥

कुछ लोग कहते हैं कि शब्दों का अर्थों से संबंध सांकेतिक है अर्थात् किसी ने निर्णय किया है कि 'घटशब्द से घटपदार्थ कहा जाये' इत्यादि। अतः चाहे कार्यपरक न हो फिर भी प्रामाण्य तो सापेक्ष ही होगा क्योंकि उस निर्णयकर्ता के निर्णय के औचित्य (= प्रामाणिकता) पर निर्भर होगा। इस मत का निषेध करते हैं –

शब्दों का अर्थों से सम्बंध उस शक्ति के कारण ही विद्यमान है जो शक्ति वृद्धों के अनादि व्यवहार में निमित्त है। अतः शब्दार्थसम्बन्ध में सादिता की शंका अनुचित है ॥८७४॥

(श्लोक में 'व्युत्पत्ति' का अर्थ है शक्ति। 'तत्स्थितेः' में तत् का अर्थ है संबंध।)

यह संदर्भ मीमांसा के औत्पत्तिकसूत्र के (१.१.५) विचार में व्यक्त है। संक्षेपशारीरक ३.२५३-७३ में इस बात पर प्रभूत चिंतन है। 'आदिमत्ता न शङ्क्यते' कहकर वार्तिककार ने स्वस्थिति स्पष्ट की है कि वैदिक शब्दों की वाचकता इदम्प्रथमतया हुई हो यह कहना नहीं बनता। अतः 'नामरूपे व्याकरवाणि' (छां० ६.३.२) 'आत्मतो नाम' (छां० ७.२६) 'त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणम्' (बृ० १.६.३), 'नामरूपयोः निर्वहिता' (छां० ८.१४) 'नामरूपाभ्यां, व्याक्रियत' (बृ० १.४.७) 'नाम रूपमन्नं च जायते' (मुं० १.१.९) इत्यादि वचनों से तथा जगदन्तःपाती संबंध का भी जगत्कारण से ही जन्म संभव होने से शब्दार्थसम्बंध की परमात्मजन्यता ही सिद्धान्ती को इष्ट है लेकिन एतावता सापेक्षता होगी यह अस्वीकार्य है। तार्किक के अनुमानों से तो ईशकार्यता भी सिद्ध नहीं होती यह तो विवक्षित है ही। वृद्धों का शब्दव्यवहार अनादि है क्योंकि इसकी सादिता में प्रमाण नहीं। जानवर परिवर्तित होकर मनुष्य बने आदि मूर्खप्रलाप तो अतितुच्छ होने से उपेक्षणीय है। लोक में कुछ वस्तुओं के पौरुषेय संकेत होते हैं लेकिन अनादि परंपरा से प्राप्त वेद के शब्द ऐसे हैं इसमें कोई प्रमाण नहीं। 'शब्द होने से, संकेत की तरह' आदि अनुमान भी अपौरुषेय अनादि वेद के बारे में सोपाधिक ही रहेंगे ॥८७४॥

शंका होगी कि यदि शब्द में अर्थप्रत्यायनशक्ति निहित है तो सुनते ही अर्थग्रह होना चाहिये, भाषा सीखने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिये। समाधान है –

जहाँ पहले-पहल सुनने पर शब्द से अर्थज्ञान नहीं होता वहाँ हेतु श्रोता को शक्तिकी ग़ैरजानकारी है, न कि शब्द की असमर्थता ॥८७५॥

शक्ति समझनी पड़ती है एतावता वह संकेतरूप नहीं हो जाती। जैसे आधुनिकों के मत में ऊर्जा उत्पाद्य नहीं है, अनादि है, लेकिन उसकी शक्ति की जानकारी न होने से हम उससे कार्यसिद्धि नहीं कर पाते, शक्ति जान लेने पर विनियोग कर लेते है पर इसका यह मतलब नहीं कि ऊर्जा में हमने शक्ति का आधान कर दिया। ऐसे ही हम शब्दशक्ति नहीं जानते तो सुना जाता शब्द भी हमें बोध नहीं कराता, शक्ति जान लें तो उससे बोध हो जाता है पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि शक्ति कृत्रिम है। श्लोकवार्तिक – सम्बन्धाक्षेपपरिहार में भी कहा है 'ज्ञापकत्वाद् हि सम्बन्धः स्वात्मज्ञानमपेक्षते। तेनासौ विद्यमानोपि नागृहीतः प्रकाशकः॥' (श्लो० ३२)। विवरणकार भी मानते हैं

चक्षुर्द्रष्ट्रपि बाह्यं हि न प्रकाशं विनाऽर्थदृक्। नैतावताऽस्य सामर्थ्यं हन्यतेऽन्यस्य वा भवेत् ॥८७६॥
व्युत्पत्त्या न च सम्बन्धः क्रियते ह्यर्थशब्दयोः। अवस्थिते हि सम्बन्धे वृद्धेभ्योऽसौ प्रजायते ॥८७७॥
सम्बन्धकरणाशक्तेस्तत्कर्तुश्चास्मृतेरपि। तद्विना व्यवहाराच्च सिद्धा सम्बन्धनित्यता ॥८७८॥

'स्वाभाविकत्वाच्छब्दानामर्थावबोधनसामर्थ्यस्य' इत्यादि। तात्पर्य है कि सांकेतिकता प्रमाणापेक्ष है, जहाँ सांकेतिकता में कोई प्रमाण नहीं वहाँ सहज शक्ति मानना ही संगत है। इससे यदि अपभ्रंशादि में भी शक्ति आ जाये तो वेदान्ती की हानि नहीं ॥८७५॥

सम्बंधज्ञान की अवश्य ज़रूरत होने पर भी ज्ञापक तो शब्द ही है –

देखने वाली चक्षु ही है लेकिन बाह्य दीपादि रोशनी के बिना घटादि अर्थों को नहीं देखती इतने मात्र से न यह कह सकते हैं कि चक्षु में देखने की सामर्थ्य नहीं और न यह कि वह सामर्थ्य दीपकादिकी है ॥८७६॥

इसी तरह सम्बंधज्ञान की अपेक्षा से शब्द अर्थज्ञान कराता है इससे उसकी अर्थबोधन की सामर्थ्य हट नहीं जाती व यह नहीं कहा जा सकता कि सम्बंधग्रह में वह सामर्थ्य है ॥८७६॥

जो लोग शब्द-अर्थसंबंध को संकेतरूप मानते हैं वे भी क्या उसे व्युत्पत्ति से उत्पन्न होने वाला मानते हैं या किसी असर्वज्ञ द्वारा किया जाने वाला या सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा किया जाने वाला? प्रथम कल्प ठीक नहीं –

व्युत्पत्ति से अर्थ व शब्द का सम्बंध उत्पन्न नहीं किया जाता। शब्दार्थसंबंध पूर्वस्थित होने पर वृद्धव्यवहार से व्युत्पत्ति उत्पन्न होती है ॥८७७॥

व्युत्पत्ति है बालक को समझ आना कि इस वस्तु को घट कहते हैं। इसके लिये वृद्धव्यवहारादि कारण हैं। व्यवहारादि तभी होते हैं जब शब्द अर्थसंबंध मौजूद हो। इस प्रकार संबंध पूर्वभावी होने से व्युत्पत्तिजन्य नहीं।

विद्यासागर 'व्युत्पत्ति' का अर्थ शक्ति करते हैं अतः 'प्रजायते' का अर्थ 'ज्ञायते'– जानी जाती है यह बताते हैं ॥८७७॥

असर्वज्ञकृत भी शब्दार्थसंबंध संभव नहीं, और न आनुमानिक ईश्वर को ही संबंधकर्ता कहना उचित है –

असर्वज्ञ तो सब शब्दों का अर्थसम्बंध बना सकने में असमर्थ है। शब्द-अर्थसम्बंध का कोई रचयिता है यह शब्दप्रयोक्ताओं को याद भी नहीं है। सम्बंधकर्ता को याद रखे बिना ही व्यवहार चलता है अतः संबंध नित्य है यह सिद्ध होता है ॥८७८॥

असर्वज्ञ एक व्यक्ति यह नहीं कर सकता यह स्पष्ट है। कई लोग – समाज – मिलकर करें यह भी नामुमकिन है क्योंकि सबका ऐकमत्य दुर्लभ है तथा नये-नये लोग आकर समाज की अन्य प्रथाओं की तरह इसे भी बदल देंगे। यद्यपि कुछ लोग इसे स्वीकारते हैं कि कालप्रवाह में शब्दार्थ बदलते हैं, जैसे प्राचीन लोग 'लेखक' से क़ातिब समझते थे जबकि आजकल ग्रंथरचयिता समझा जाता है इत्यादि तथापि वैदिकों की श्रद्धा है कि उन्हे वेद और वेदार्थ अनादि परंपरा से एकरूप प्राप्त है। यह मानकर ही यहाँ का विचार है, परिवर्तनशील संबंध की संभावना मानकर नहीं। यदि परिवर्तनशील ही उसे मानना हो तो भी समझ लेना चाहिये कि शक्ति तो निहित ही है, अर्थविशेष में उसका उपयोग जब-जब अधिक समझा जाता है तब-तब उस अर्थ में प्रयोग कर लेते हैं। जैसे भाप में इंजन चलाने की शक्ति नवीन नहीं है, उसकी समझ नवीन है अतः प्रयोग भी नवीन है। अतः अशक्तका विनियोग किसी भी समय नहीं होता। लेखकादिशब्दों में अनेक अर्थों को प्रबोधित करने की सामर्थ्य अनादि ही है लेकिन जब जो समझी गयी तब उसका प्रयोग हुआ।

ईश्वर ने संकेत किये यह भी आनुमानिक रीति से कहा जाये तो अमान्य है। ईश्वर ने ऐसा किया यह अनुभव हमें हुआ नहीं अतः ऐसी कोई याद भी हमें हो यह संभव नहीं। किसी ने कह दिया है कि ईश्वर ने संकेत किया इतने मात्र

जीर्णकूपादिवत्कर्तुर्यदप्यस्मरणं न तत्। अभावगमकं नापि सम्बन्धेनास्य तुल्यता ॥८७९॥

से वह बात सच नहीं हो जाती क्योंकि कहने वाले बहुतेरे यह भी कहते ही हैं संकेत पौरुषेय हैं। अतः 'पदात् प्रत्ययतः' आदि कुसुमांजलि के प्रयास निरस्त समझने चाहिये। [प्रकृत टीका में 'स न युक्तः' छपा है, यहाँ 'न' ग़लती से छपा है।] यदि वेद से ईश्वर सिद्ध मानकर उसे संकेतकर्ता कहो तो वेद ही कहता है 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अर्थात् ईश्वर ने वैसा बनाया जैसा पहले था अतः संबंध प्रवाहरूप से तो अनादि ही रहा। किंच वेदानुसार तो 'आत्माऽविद्यैव नः शक्तिः सर्वशक्यस्य सर्जने' (४.३.१७८४) यही निर्णय निकलता है यह वार्तिककार को बताना है, और अविद्या अनादि है ही। इसलिये ईश्वर को संकेतकर्ता कहना बनता नहीं।

किं च ईश्वर, व्यक्ति या किसी समूहविशेष के बारे में ऐसा कोई ऐकमत्य नहीं कि अमुक ने यह शब्दार्थसंबंध बनाया है जबकि संकेतों में ऐसा होता है जैसे वृद्धि, गुण आदि का अर्थविशेष में प्रयोग करने वालों का ऐकमत्य है कि पाणिनि ने वे संकेत बनाये या धी, श्री, स्त्री आदि का अर्थविशेष में प्रयोग करने वाले जानते हैं कि पिंगल ने वे संकेत बनाये। इस तरह घटादि शब्द घटादि अर्थ में शक्त हैं इसका नियमनकर्ता कोई प्रसिद्ध नहीं। अतः इस संबंध को नित्य मानना ही उचित है।

यहाँ यह प्रयोग है: शब्दार्थसंबंध नित्य है क्योंकि इसका कोई निर्माता किसी को याद नहीं, जैसे आत्मा! विद्यासागर ने हेतु में विशेषण जोड़ा है 'व्यवहाराऽविच्छेदे सति' अर्थात् शब्दों का अर्थों के लिये प्रयोग करना अनवरत रूप से चलने पर भी इसके रचयिता की किसी को याद नहीं – यह हेतु है। शास्त्रप्रकाशिका में यह बात अगले श्लोक में बतायी गयी है। यह ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ संकेतता का खंडन है, संबंध को नित्य कहने का मतलब उसे पारमार्थिक मानना नहीं है। आत्मा को दृष्टांत भी तार्किक की अनुमति से बनाया है, वह आत्मादि अनेक नित्य पदार्थ स्वीकारता है। जैसे संबंध को नित्य कहा ऐसे ही शब्द को व अर्थ को भी समझ सकते हैं क्योंकि प्रयोग करने वाले नहीं याद रखते कि घटशब्द का तथा घटवस्तु का निर्माता कौन था। यद्यपि पुरुषनिर्मित पदार्थों का भी प्रयोग चलता रहता है और निर्माता भुला दिया जाता है – जैसे डीज़ल के इंजन का प्रयोग प्रभूत प्रचलित है पर उसके निर्माता की स्मृति शायद ही किसी इंजनचालकादि को हो – जिससे हेतु व्यभिचारी कहा जा सकता है तथापि यहाँ पूर्वपक्षी तार्किक है अतः ऐसी वस्तु का पुरुषकृतत्व निश्चित है इसमें उससे प्रमाण पूछा जायेगा और यदि उसे प्रमाणतः ज्ञात है तब तो कर्ता स्मर्यमाण ही होगा और ज्ञात नहीं है तो उस वस्तु को भी अनादि ही मानना पड़ेगा। यहाँ केवल यह व्यक्त करना है कि तर्क से संकेत-सिद्धांत असिद्ध है, नित्य शक्ति को तर्क से सिद्ध नहीं कर रहे, वह तो शास्त्रादि से ज्ञेय है ॥८७८॥

रचयिता की याद न बनी रहने मात्र से नित्यता कैसे, पुराने कुएँ आदि के भी निर्माता की याद नहीं रहती लेकिन वे नित्य तो हैं नहीं? इसका उत्तर देते हैं –

सम्बन्धकर्ता का अस्मरण वैसा नहीं जैसा पुराने कुएँ आदि के निर्माता का विस्मरण क्योंकि वह विस्मरण निर्माता के अभाव को सिद्ध नहीं करता जबकि यह अस्मरण संबंधकर्ता का अभाव सिद्ध कर देता है। और सम्बंध से कुएँ आदि की समानता भी नहीं ॥८७९॥

कुएँ के निर्माता को भूलना इसलिये भी संभव है कि उस जानकारी वाला सम्प्रदाय (पारंपर्य) विच्छिन्न हो गया हो, लेकिन जहाँ संप्रदाय टूटा न हो वहाँ कर्ता की याद बनी ही रहती है। शब्दसम्बंध का पारंपरिक ज्ञान है अतः यहाँ जब कर्ता का स्मरण नहीं तब निश्चित है कि कोई कर्ता था नहीं। किं च कूपादि सुकर होने से उनका कर्ता संभावित है जबकि संबंध अनंत होने से इसका कर्ता संभावित भी नहीं। संभावितकर्तृकत्व उपाधि है यह भाव है। पक्ष में साधनव्याप्ति इसलिये नहीं कि 'संबंध असंभावितकर्तृक है, अनंत होने के कारण, परमाण्वादि की तरह' इस प्रयोग से वहाँ संभावना निरस्त है ॥८७९॥

क्वचिज्ज्ञातेषु दूरादिकारणे संशयोऽपि च। नात्यन्तानुपलब्धेषु त्वभावोऽतोऽस्य निश्चितः ॥८८०॥

सम्बन्ध इसलिये भी नित्य है कि योग्यानुपलब्धि प्रमाण से कर्ता का अभाव निश्चित है –

कहीं कभी सामान्यतः ज्ञात वस्तुओं के बारे में दूरी आदि के कारण संशय भी होता है लेकिन जो सर्वथा ज्ञात नहीं उसके बारे में संशय भी होता नहीं। सम्बंधकर्ता सर्वथा अज्ञात होने से इसका संशय भी नहीं होता तो निश्चय होगा कहाँ से! इसलिये यही निश्चित है कि सम्बंधकर्ता है ही नहीं ॥८८०॥

सम्बन्धकर्ता भाववस्तु है अतः उसमें तार्किक को प्रमाण कहना चाहिये। प्रत्यक्ष तो है नहीं अतः वह अनुमान ही बतायेगा। सम्बंध सकर्तृक है क्योंकि शब्द से अर्थबोध का हेतु है जैसे संकेत – इत्यादि उसका प्रयोग होगा। लेकिन लोक में यही देखा गया है कि संकेतकर्ता सौ–पचास शब्दस्वरूपों का अर्थविशेषों में नियमन तभी कर पाता है जब उसके पास अन्य बहुतेरे शब्द ऐसे होते हैं जिनका अर्थनियमन उसने नहीं किया। जैसे 'अमुक परीक्षा उत्तीर्ण किया व्यक्ति 'विद्यावारिधि' कहा जायेगा' यह संकेत विश्वविद्यालयादि तभी करते हैं जब 'परीक्षा' 'उत्तीर्ण' 'किया' 'व्यक्ति' आदि शब्द उनके पास हैं जिन्हे सब समझते हैं व जिन्हे विश्वविद्यालयादि ने परिभाषित नहीं किया है। ऐसा तो कोई संकेतकर्ता मिलता नहीं जो समस्त शब्द ख़ुद परिभाषित करे। अतः सभी संकेतों में असंकेतितपूर्वकत्व मिलता है। यदि संबंध भी संकेत हो तो वह भी असंकेतितपूर्वक ही होगा। जिससे अनवस्था आयेगी। इसलिये मानना पड़ेगा कि वह संकेत नहीं है। एवं च विपक्ष में अनवस्थापत्ति को अकर्तृकत्व में अनुकूलतर्क समझ लेना चाहिये। इस प्रकार कर्तृबोधक कोई प्रमाण न रहने से कर्ता अनुपलब्ध है जिससे पता चलता है कि वह है ही नहीं जैसे घटबोधक प्रमाण न हो तो मालूम चल जाता है कि घट है नहीं।

पूर्ववादी का अभिप्राय है – सम्बंधकर्ता है क्योंकि उसके बारे में संशय है जैसे ठूँठ; ठूँठ के बारे में संशय होता है कि 'यह ठूँठ है या आदमी' और ठूँठ होता भी है, अतः जिस–जिसके बारे में संशय हो वह हुआ करता है। इसलिये सांशयिकता से कर्तृसद्भाव पता चलता है।

सिद्धांती समझा रहा है कि जहाँ धर्म सांशयिक होता है वहाँ भले ही धर्मी का सद्भाव समझो लेकिन जहाँ धर्मी सांशयिक हो वहाँ उसका सद्भाव नहीं कह सकते। 'सातवाँ रस होता है या नहीं' या 'शक्ति पदार्थान्तर है या नहीं' इत्यादि संशय से तार्किक न सातवाँ रस है यह मान लेता है न शक्ति को पदार्थान्तर। सामने कुछ है यह दीखे तब संशय होता है कि ठूँठ है या आदमी। वहाँ 'कुछ है' इसे मानने में हेतु संशय नहीं बल्कि दीखना है। अतः भ्रम से साँप दीखकर संशय होता है कि 'गेहुँअन है या धामन?' तो तार्किक यह नहीं मानता कि इससे इतना तो निश्चित हुआ कि साँप ज़रूर है! इसलिये सांशयिकता से सद्भाव नहीं सिद्ध होता। घटादि का कर्ता दृष्ट होने से ही सम्बन्धकर्ता की कोटि उपस्थित होना उपपन्न है, उसकी उपस्थिति से सम्बन्धकर्ता का सद्भाव कहना ग़लत है।

वार्तिक में संशयशब्द प्रमितकोटिक संशय के अभिप्राय से है अर्थात् संशय में भासमान दोनों कोटियाँ क्वचित् प्रमित हों ऐसा संशय। जैसे ठूँठ व पुरुष दोनों क्वचित् प्रमित हैं अतः 'ठूँठ है या पुरुष' यह संशय प्रमितकोटिक संशय है। अतः 'सम्बंध सकर्तृक है या नहीं' यों संशय संभव होने पर भी 'सम्बन्ध सकर्तृक है' यह कोटि कहीं प्रमित नहीं अतः कहा कि अत्यंत अनुपलब्ध में संशय भी नहीं होता। यद्यपि घटादि में सकर्तृकत्व प्रमित है तथापि यहाँ संशयकोटि में आया कर्तृकत्व घटादिकर्तृपूर्वत्व तो है नहीं वरन् यही संशय है कि संबंध में सम्बंधकर्तृपूर्वत्व है या नहीं, और सम्बन्धकर्ता प्रमित नहीं है यह निश्चित है।

वस्तुतस्तु 'सम्बन्धकर्ता ईश्वर है, जीव है या अन्य कोई?' इस संशय के अभिप्राय से कहा है कि पहले साधारणतः सिद्ध होना चाहिये कि कोई कर्ता है तब उसके विशेषों के बारे में संशय होगा। प्रकृत में जब कर्ता ही अनुपलब्ध है तब 'ईश्वर है या जीव' आदि संशय संभव नहीं। अतः सम्बन्धकर्ता अत्यन्त अप्रसिद्ध होने से न पक्ष बन सकता है न साध्य

सन्निकृष्टार्थसंसृष्टस्वार्थमात्राभिधानतः। तस्मात्सिद्धोऽत्र वाक्यार्थो लोके वेदे प्रमाणवान् ॥८८१॥
अतोऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात्। अबाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः ॥८८२॥
पुरुषार्थोपदेष्टृत्वाद्यद्वत्कार्ये प्रमाणता। तथैकात्म्ये विशेषाद्वा पुमर्थातिशयत्वतः ॥८८३॥

जिससे तार्किक के पास अनुमानप्रयोग का अवसर नहीं। किं च तार्किकाभिमत नित्यों को भी सकर्तृक बनाने वाले के समान योगक्षेम वाला सम्बंधकर्ता का अनुमान है यह तात्पर्य है।

चतुर्थ पाद सें 'स्वभावोऽतोऽस्य निश्चितः' यह आनन्दपूर्णपाठ है ॥८८०॥

श्लोक ८७४ से प्रारंभ विचार द्वारा शब्दार्थसंबंध संकेत नहीं है यह सिद्ध किया। योग्यान्वित में शक्ति है इसका उपसंहार करते हैं –

संनिधि आदि वाले अर्थ से अन्वित निजार्थमात्र का पदों से अभिधान होता है इसलिये पदार्थसंसर्ग या संसृष्ट-पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है अतः लोक में व वेद में सिद्ध की वाक्यार्थता प्रामाणिक है (कार्य की नहीं) ॥८८१॥

पदार्थसंसर्ग को भाट्टानुसारी व संसृष्ट पदार्थ को सिद्धांतानुसारी वाक्यार्थ समझना चाहिये। 'निजार्थमात्र' में मात्र से बताया कि पद इसमें उदासीन है कि उसका शक्य कार्य हो या अकार्य। एवं च नियोगवादानुसारी वाक्यार्थ सर्वथा अमान्य है। 'अत्र' अर्थात् प्रकृत विचार में निर्णीत यह हुआ कि वाक्यार्थ सिद्धवस्तु होती है, कार्य ही वाक्यार्थ हो यह नियम संभव नहीं। वस्तुतः कार्य अर्थात् नियोग कहीं भी वाक्यार्थ नहीं होता यह तो बता ही चुके हैं अतः यही प्रामाणिक है कि सिद्धवस्तु ही वाक्यार्थ होती है। सामान्यतः वाक्यार्थ संसर्ग या संसर्गी होता है लेकिन तात्पर्य के विचार से अनेकत्र अखण्ड वस्तु भी वाक्यार्थ होती है यह बता ही चुके हैं अतः वेदांतों में विचारपूर्वक निर्णीत हो जाता है कि अखण्डतत्त्व ही वाक्यार्थ है।

विद्यासागर ने 'तस्मात्' के स्वारस्य को व्यक्त करने के लिये कहा है कि 'सन्निहित योग्य इतर अर्थ से अन्वित स्वार्थमात्र की प्रतिपादकता पद में स्वाभाविक होने के कारण' – यह अर्थ समझना चाहिये। शास्त्रप्रकाशिका में 'तस्मात्' का ही व्याख्यान प्रथम श्लोकार्ध माना है। उनका संकेत है कि मुख्य विवाद कार्यवादी से है अतः सिद्धार्थता निश्चित करनी है, अर्थसामर्थ्य को स्वाभाविक माना ही जाये यह यहाँ अभिनिवेष्टव्य नहीं ॥८८१॥

आत्मवस्तु में वेदान्तवाक्य प्रमाण हैं यह सिद्ध करने के लिये कहते हैं –

अधिकारी को इनसे बोध होता है, ये किसी सदोष कारण वाले नहीं हैं और इनके अर्थ का बाध भी होता नहीं इसलिये श्रुतियों की वस्तु के विषय में वैसी ही प्रमाणता है जैसी रूपादि के विषय में चक्षु आदि की ॥८८२॥ पुरुषार्थ का उपदेशक होने से अद्वैत में भी वेद वैसे ही प्रमाण है जैसे कार्य में, बल्कि निरतिशय पुरुषार्थ के बोधक होने से ऐकात्म्यवाक्यों की प्रमाणता भी विशेष है ॥८८३॥

वाक्य अप्रमाण चार कारणों से कहा जा सकता है – वह निराकांक्ष ज्ञान नहीं देता, संशयोत्पादक है, भ्रम पैदा करता है या पुरुषार्थ का हेतु नहीं है। वेदान्तों में चारों हेतु न होने से ये प्रमाण ही हैं। 'तू ब्रह्म है भी, नहीं भी' इत्यादि न कहा गया होने से, बल्कि 'त्वं वा अहमस्मि भगवतो देवतेऽहं वै त्वमसि' आदि जाबालश्रुति में अत्यंत अभेद स्पष्ट होने से संशयोत्पादकता का प्रसंग नहीं एवं अपौरुषेयतया प्रमाण होने से भ्रमोत्पादकता भी नहीं है। ऐक्यज्ञान का बाध होता भी नहीं। इसलिये वेदांतप्रामाण्य शंकास्पद नहीं है। वेदवाक्य में प्रामाण्य के लिये पुरुषार्थहेतुता भी होनी चाहिये यह माना गया है। वह भी वेदांतों में है ही क्योंकि ये मोक्ष प्राप्त कराते हैं। पुरुष को अभिलषित होना कार्य व मोक्ष में समान है लेकिन दोनों में महान् अन्तर है कि मोक्ष पारमार्थिक है जबकि कार्य केवल व्यावहारिक स्वर्गादिका साधन। अतः

पुमानिष्टस्य सम्प्राप्तिमनिष्टस्य च वर्जनम्। इच्छन्नपेक्षते योग्यमुपायमपि तत्परः ॥८८४॥
ग्रामादि किंचिदप्राप्तं प्राप्तुमिष्टमिहेच्छति। हेमादि विस्मृतं किंचित्करस्थमपि लिप्सते ॥८८५॥
परिहार्यं तथाऽनिष्टं कण्टकादि जिहासति। रज्ज्वां सर्पादि किंचिच्च त्यक्तमेव जिहासति ॥८८६॥
नियतोपायसाध्यत्वादवाप्यपरिहार्ययोः। विधितः प्रतिषेधाच्च साधनापेक्षता भवेत् ॥८८७॥
अज्ञानान्तरितत्वेन संप्राप्तत्यक्तयोः पुनः। याथात्म्यज्ञानतो नान्यत्पुरुषार्थाय कल्पते ॥८८८॥
अशेषानर्थविच्छेदं वाञ्छतः श्रुतितः श्रुतेः। त्वं ब्रह्मेति हताशेषक्लेशो मोहप्रहाणतः ॥८८९॥

मोक्षोपाय होने से वेदान्तों में कार्यवाक्यों से अधिक प्रमाणता है अर्थात् ये तत्त्वावेदक हैं जबकि कार्यवाक्य अतत्त्वावेदक ही हैं। अनन्त आनन्द के अनावरक वेदान्त ही तात्त्विक प्रमाण हैं ॥८८२-८८३॥

पुरुष के प्रार्थनीय का स्पष्टीकरण करते हैं -

फल में तत्पर पुरुष इच्छित की संप्राप्ति और अनिष्ट से बचना चाहते हुए फलोत्पादनसमर्थ उपाय भी चाहता है, उसके लिये भी यत्न करने को तैयार रहता है ॥८८४॥ व्यवहार में देखा गया है कि कुछ अप्राप्त पदार्थ भी चाहे जाते हैं जैसे गाँव, पुत्र आदि और कुछ प्राप्त पदार्थ भी, जैसे हाथ में रखा सोना भी याद न हो तो व्यक्ति उसे पाना चाहता है ॥८८५॥ इसी तरह काँटा आदि कुछ अनिष्ट होते हैं जो हटाने योग्य हैं व उन्हे हटाने की इच्छा होती है तथा रज्जु में प्रतीयमान सर्पादि कुछ ऐसे भी होते हैं जो हैं वस्तुतः त्यक्त या अनुपस्थित ही लेकिन फिर भी उन्हे हटाने की इच्छा होती है ॥८८६॥ जो तो पाने और हटाने योग्य हैं उनका पाना व हटना निश्चित उपायों से हो सकता है अतः विधि-निषेधों से उपाय जानकर उनके अनुष्ठान की ज़रूरत होती है ॥८८७॥ किन्तु जो पहले ही प्राप्त या हटा हुआ हो और केवल अज्ञानवश उसे पाने या हटाने की इच्छा हो उसकी प्राप्ति या निवृत्ति रूप पुरुषार्थ के लिये वास्तविकता की जानकारी ही पर्याप्त है, अन्य कुछ इसमें समर्थ नहीं है ॥८८८॥

पुरुषार्थ के ये भेद व उपाय प्रसिद्ध हैं। जहाँ वांछित फल उपस्थित नहीं वहाँ अनुष्ठान की ज़रूरत होती है लेकिन जहाँ फल उपस्थित हो केवल विस्मरण, भ्रम आदि से अविद्यमानसम बन गया हो वहाँ तत्त्वज्ञानमात्र की ज़रूरत होती है। एवं च तत्त्वप्रमा भी पुरुषार्थहेतु होती है यह भाव है ॥८८४-८८८॥

फिर भी वेदान्तों से वेद्य को अन्यों से अधिक पुरुषार्थरूप कैसे कहा? (श्लोक ८८६ में 'पुमर्थातिशयत्वतः' कहा था।) उत्तर देते हैं -

सारे अनर्थ के परम विनाश को चाहने वाला जब श्रुतिसे 'तू ब्रह्म है' यह पूरी तरह समझ लेता है तब क्योंकि सभी अनर्थों का इकलौता कारण अज्ञान बाधित हो जाता है इसलिये उस जानकार के सारे क्लेश मिट जाते हैं ॥८८९॥

[प्रथमार्ध में 'श्रुते' पाठ लातिका में है, 'अवगते' अर्थ है। शास्त्रप्रकाशिका में 'ज्ञाते' कहा है अतः तदनुसार भी 'श्रुते' पाठ उचित है। 'श्रुतेः' पाठ में अर्थ है 'श्रवणात्' - श्रुतिसे 'तू ब्रह्म है' सुनने से मोहप्रहाण के कारण हताशेषक्लेष होता है। आनन्दाश्रमसंस्करण-मूल में 'श्रुतेः' छपा है।]

अप्रतिबद्ध साक्षात्कार से ब्रह्म का अज्ञान हटना ही ब्रह्मप्राप्ति है और वही समस्तक्लेशनिरास है। अतः इष्टलाभ व अनिष्टनिवृत्ति दोनों यहाँ अनावृत ब्रह्ममात्र ही हैं। आनन्दपरिपूर्ण एवं दुःखसंभावना से अस्पृश्य होने के कारण यह पुमर्थ श्रेष्ठ है ही, इसका बाध भी संभव न होने से इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। इसीसे 'पुरुषार्थातिशयत्वतः' ठीक ही कहा था और इसे बताने वाले वेदान्तों की प्रमाणता भी तत्त्वावेदक है, केवल कर्मविधियों की तरह काम-चलाऊ नहीं, यह भी उचित कहा था ॥८८९॥

वेदस्य सिद्धे प्रामाण्ये ह्यज्ञातार्थावबोधतः। कार्ये यथा प्रमाणत्वमैकात्म्येऽप्येवमिष्यताम् ॥८९०॥
कार्याद्यदि तु मानत्वं मानत्वात्कार्यनिष्ठता। अन्योन्याश्रयतैवं स्यादेकस्यासिद्धितोऽन्यतः ॥८९१॥
औदासीन्यान्निषेधेषु न लभ्येत प्रमाणता। औदासीन्यं निवृत्तिर्हि स्वरूपालम्बनं च तत् ॥८९२॥
सोऽरोदीत्यादिवाक्यानां कार्यावेशात्प्रमाणता। अपुमर्थोपदेष्टृत्वात्तच्च नात्रेत्यकारणम् ॥८९३॥

अवसर आया है तो सिद्ध ब्रह्म में प्रमाणता अवश्य स्वीकार्य है यह पुनरपि याद दिला देते हैं–

सिद्ध विषय में वेद का प्रामाण्य मानना उचित है क्योंकि अज्ञात अर्थ का बोधन - यह जो प्रमाण होने की शर्त है वह यहाँ पूरी होती ही है। कार्य में जैसे वेद प्रमाण माना जाता है ऐसे अद्वैतात्मा में भी वह प्रमाण है ॥८९०॥ यदि कहो कार्यनिष्ठ होने से प्रमाणता होती है तो अन्योन्याश्रय होगा : वेद कार्यपरक क्यों है? उत्तर दोगे – प्रमाण होने से। (क्योंकि तुम्हारे अनुसार जो प्रमाण नहीं होता वह कार्यपरक नहीं होता, जैसे सिद्धार्थादि वाक्य।) वेद प्रमाण क्यों हैं? उत्तर दोगे – कार्यपरक होने से। (क्योंकि जो कार्यपरक नहीं वह तुम्हे प्रमाण इष्ट नहीं।) इसलिये न कार्यपरता से प्रमाणता सिद्ध होती है, न प्रमाणता से कार्यनिष्ठता। कार्यनिष्ठता न होने पर भी प्रामाण्य लोकदृष्ट है अतः शास्त्र में भी मान्य है ॥८९१॥ निषेधों में प्रतिपाद्यार्थ औदासीन्य है जो कार्य नहीं है। यदि कार्यपरक ही प्रमाण कहोगे तो निषेध प्रमाण नहीं हो पायेंगे। औदासीन्य का स्वरूप है निवृत्ति और वह वस्तुमात्र से अन्य कुछ नहीं है ॥८९२॥ 'वह रोयां' आदि वाक्यों को प्रमाणता के लिये कार्य से सम्बंध स्थापित करना पड़ता है क्योंकि वे स्वार्थरूप से पुरुषार्थ के उपदेशक नहीं। वेदान्तों में ऐसा है नहीं अतः कार्यराहित्य इसमें हेतु नहीं बनेगा कि वेदांत प्रमाण न हों ॥८९३॥

प्रामाण्य स्वतः होने पर भी प्रयोजक माना जा सकता है या अकार्यपरता को दोष कहा जा सकता है। किन्तु अन्योन्याश्रयतावशात् उभयथा बात ग़लत होगी। यदि वादी औत्सर्गिक प्रामाण्य मान ले तब तो वेदांतों को भी मानना पड़ेगा। अतः वह यही कहेगा कि वेदप्रामाण्य में कार्यपरकता अवच्छेदक होती है। जब पूछेंगे ऐसा क्यों? तो बोलेग 'अन्यथा वह प्रमाण नहीं होगा!' वादी अप्रमाण को कार्यपरक मानता नहीं क्योंकि लोक में लिङादि को वह आज्ञाद्युपहितपरक कहता है। इस प्रकार प्रामाण्य और कार्यपरता का कोई संबंध नहीं कि एक के होने पर ही दूसरा हो सके।

यदि यह अनुमान हो : जो कार्यनिष्ठ नहीं होते वे स्वार्थ में प्रमाण नहीं होते जैसे अर्थवादादि, वेदांत भी कार्यनिष्ठ नहीं तो प्रमाण भी नहीं होंगे। तो इसमें व्यभिचार दोष है क्योंकि निषेधवाक्य प्रमाण होने पर भी कार्यनिष्ठ नही हैं। 'अपि च ब्राह्मणो न हन्वव्यः' इत्यादि समन्वयभाष्य और भामती (पृ० १४५) इस विषय में दर्शनीय हैं। विशेष स्पष्टीकरण के लिये संक्षेपशारीरक १.४०१-४५० का अवलोकन करना चाहिये। निषेधों का अर्थ उदासीनता ही हो सकता है तथा वह कोई कार्य नहीं बल्कि वस्तुका स्वरूप ही है। यदि वह भी कार्य हो तब विधि-निषेध यह भेद ही रह नहीं जायेगा। वस्तुतः मीमांसक अपनी कूपमंडूक वृत्ति से जैसे पौराणिकादि धर्मों का विचार नहीं करते, स्वर्गादि के स्वरूप का वर्णन नहीं करते, विभिन्न कर्मों को स्वर्गफलक मानकर तथा स्वर्ग को 'न च ग्रस्तमनन्तरम्' आदि मानकर भी अधिक कर्मों से अधिक स्वर्ग होगा यह कहना चाहते हैं, स्मृति को प्रमाण स्वीकार कर भी 'क्षीणे पुण्ये' आदि से स्वर्गसमापन नहीं मानना चहते, सालोक्यादि का श्रौत वर्णन होने पर भी देवताओं के विग्रह, लोक आदि नहीं मानते, ऐसे ही निषेधों पर विशेष विचार नहीं करते। अन्यथा वेदकी कार्यपरता की प्रतिज्ञा संभव ही नहीं थी। निषेधों का अर्थ जो उदासीनता है उसका मतलब है कि कर्ता अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहे : स्वभावतः कर्ता निष्क्रिय है, कामनादि हेतु से सक्रिय होता है। निषिद्ध सेवनादि में प्रवृत्ति करने लगे तो निषेध उसे उस प्रवृत्ति की अनिष्टहेतुता बता देते हैं जिससे उसकी कामनादि प्रतिबद्ध या निवृत्त हो जाती है और वह उस प्रवृत्ति को छोड़ अपनी स्वाभाविक निष्क्रिय दशा में आ जाता है। 'निषिद्ध

न चैकात्म्याभ्युपायस्य मिथ्यात्वमिह शङ्क्यते। उपेयाप्तौ कृतार्थत्वादुपायं प्रत्यनीक्षणात् ॥८९४॥
ऐकात्म्यप्रतिपत्तेः प्राङ्न मिथ्या हेत्वभावतः। पुरुषार्थावसायित्वान्नाप्यूर्ध्वमनपेक्षतः ॥८९५॥

चेष्टा से हटना' – यह जिस स्वाभाविक निष्क्रियता का उपलक्षण है, वह निषेधार्थ है। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि कार्यनिष्ठता प्रामाण्य का व्यापक नहीं है।

मीमांसक कहता है 'प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा या शब्दश्रवणेन धीः। सा चोदनेति सामान्यं लक्षणं हृदये स्थितम्॥' श्लो० वा० २.२१०॥ अतः वह प्रवर्तक-निवर्तक विधि-निषेधों को एक कोटिका मान सकता है। फलतः इनसे अन्य वेदभाग उसके लिये अर्थवादतुल्य हैं, स्वार्थ में प्रमाण नहीं, कार्यशेष होने से ही उनकी प्रमाणता है। इसलिये सिद्धान्ती ने समझाया कि अर्थवाद भी पुमर्थार्थक न होने से ही अप्रमाण हैं अन्यथा उन्हे अप्रमाण कहने में कोई हेतु नहीं अगर वे प्रमाणांतर से अविरुद्ध रहते हुए प्रमाणान्तर के अविषय का ज्ञापन कराते हों। यह पूर्व में (श्लो० ५६७) स्पष्ट कर चुके हैं। वेदांत तो पुमर्थार्पक हैं ही। इस प्रकार वेदान्त पुरुषार्थरूप सिद्ध की ज्ञप्तिरूप प्राप्ति कराने से प्रमाण ही हैं यह संक्षेप है ॥८९०-८९३॥

वादी समस्या रखता है कि प्रपंचमिथ्यात्ववाद में श्रुति-मन आदि ज्ञानोपाय मिथ्या हैं तो उनसे जन्य ज्ञान भी वैसे ही मिथ्या होना चाहिये जैसे धूमाभास से जन्य वह्निज्ञान। समाधान करते हैं –

ऐकात्म्यज्ञान के उपायों का मिथ्यात्व उस ज्ञान के अप्रामाण्य में कारण बन सकता है यह शंका नहीं की जा सकती। उपायों के फलभूत ज्ञान की प्राप्ति होते ही पुरुष कृतार्थ हो जाता है, उपायों का विचार करने नहीं बैठता ॥८९४॥ ऐकात्म्यनिश्चय से पूर्व उपाय मिथ्या प्रतीत नहीं होते क्योंकि वे मिथ्या प्रतीत हों इसका हेतु जो अप्रतिबद्ध अधिष्ठानसाक्षात्कार वह उपस्थित नहीं है। ज्ञान क्योंकि उत्पन्न होते ही पुरुषार्थ प्रदान कर देता है अतः ज्ञान के बाद उपायों का मिथ्यात्व पता चलने पर भी ज्ञानको अप्रमा नहीं बना सकता ॥८९५॥

मिथ्या भी प्रतिबिम्ब मुख की प्रमा उत्पन्न करता देखा जाता है अतः उपायमिथ्यात्व से ज्ञान अप्रमा ही हो यह नियम नहीं कह सकते। वह्निज्ञान का मिथ्यात्व भी इसलिये नहीं कि धूमाभासजन्य है वरन् इसलिये है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से उसका बाध होता है। वह्निप्रमा का फल होता निकट पहुँचने पर वह्नि की उपलब्धि, वह न होने से वह्निज्ञान भ्रम है। यदि बाष्प में धूमबुद्धि होकर वह्नि समझी हो और निकट जाने पर वह्नि मिल भी जाये तो धूमाभास से जन्य होने पर भी वह्निज्ञान को अप्रमा कोई नहीं मानेगा। सर्वज्ञात्ममहामुनि ने बताया है कि ध्वनिधर्मों का वर्णों पर अध्यास होने पर ही शाब्दज्ञान होता है जिसे सब प्रमा मानते हैं तथा कणादानुयायी श्रवणेन्द्रिय को मिथ्या मानकर भी शब्द की उससे प्रमिति मानते हैं (२.२२९,२३२) अतः उपायमिथ्यात्वमात्र को अप्रमितिका हेतु कहना संभव नहीं। भामती का यह प्रसिद्ध वाक्य है ही 'न हि लौकिका नाग इति वा नग इति वा पदात् कुञ्जरं वा तरुं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः।' (पृ० १०)। वेदान्तादि उपायों से हुआ ज्ञान जब यथार्थ फल दे रहा है तब इसे मिथ्या कैसे कह सकते हैं? ज्ञान से फललाभ हो तो उपाय मिथ्या हैं या सच इसकी चिंता ही व्यर्थ है। और यदि फल मिलने पर पता चलता भी है कि उपाय मिथ्या थे तो हानि क्या है? मार्ग की असत्यता तो भर्तृहरि भी कह गये हैं 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते'।

यह भी विचारणीय है कि उपायमिथ्यात्व जाना हुआ हो तब उससे उत्पन्न ज्ञान अप्रमा होता है या उपायमिथ्यात्व न भी जाना हुआ हो तो भी उससे उत्पन्न ज्ञान अप्रमा ही होता है? न जाना होने पर भी अप्रमाहेतु ही हो – इसका विचार श्लोक ८९७ में करेंगे। जाना गया होने पर अप्रमोत्पादक होता है यह मानो तो बताना चाहिये कि उपायमिथ्यात्व की जानकारी कब चाहिये – वस्तुज्ञान से पहले या बाद में? यदि पहले अपेक्षित हो तो प्रकृत में ऐसा है नहीं क्योंकि महावाक्य केअप्रतिबद्ध अपरोक्ष से पहले उपायमिथ्यात्व प्रतीत नहीं होता। [टीका में 'वाक्यार्थज्ञानात्प्रागुपायो' पाठ है।] यदि वस्तुज्ञान के बाद पता चला मिथ्यात्व ज्ञान के अप्रमात्व का कारण मानो तो भी प्रकृत में हर्जा क्या है? ज्ञान होते ही फल

उपेयबोधनं मुक्त्वा मितेर्नान्याऽस्ति सत्यता। सत्यादप्यनुपायत्वाद् घटान्नाग्निर्हि गम्यते ॥८९६॥
धूमाभासात्तु बाष्पादेर्यदाग्निर्नावगम्यते। हेतुस्तत्रानुपायत्वमसत्यत्वं पुनर्न तु ॥८९७॥
धूमवत्परमार्थत्वमुपायत्वान्न लभ्यते। वेदान्तानां तथैकात्म्यश्रुतिबाधः स्फुटो भवेत् ॥८९८॥

मिल ही गया है, अब यदि उपायों सहित ज्ञान भी मिथ्या पता चले तो चला करे। आख़िर 'ब्रह्मसाक्षात्कारश्चान्तःकरणवृत्तिभेदः' (पृ० १५०) यह भामतीकार कहते ही हैं और वृत्तिमिथ्यात्व स्वीकार है ही। इसी तात्पर्य से 'न वै मुक्त' आदि शास्त्रवचन संगत है। ज्ञान को अप्रमा तभी कहते हैं जब उसका विषय बाधित (या बाध्य) हो; अन्यथा तो ज्ञान को अप्रमा कहने का कोई आधार नहीं है। अतः ज्ञानमिथ्यात्व को विषयमिथ्यात्व में ही पर्यवसित समझा जाता है। प्रकृत विषय प्रत्यगात्मा बाध की अवधि होने से अबाध्य है अतः इसका यथार्थज्ञान मिथ्या कहना ठीक नहीं ॥८९४-८९५॥

मिथ्या भी उपाय बनता है यह प्रतिबिंबादि में देख चुके हैं। यदि कहा जाये कि सत्य ही उपाय होना चाहिये तो वहाँ 'सत्य' से क्या विवक्षित है? अबाध्यता विवक्षित हो नहीं सकती क्योंकि वह सत्यता उपायता का प्रयोजक नहीं, पत्थर सत्य है एतावता भूख नहीं मिटाता, क्षुधानिवृत्ति का उपाय नहीं। अतः कार्यकारिता ही सत्यता कही जायेगी और वह प्रकृत में भी है ही –

प्रमिति के उपायों की सत्यता इतनी ही होती है कि वे जिस विषयके बोध के उपाय हैं उसका बोध कर दें, इससे अन्य किसी सत्यता की उनमें अपेक्षा नहीं। अबाध्यतादिरूप सत्य होने से उपाय में विशेषता नहीं, घट सत्य है फिर भी उससे आग नहीं समझी जाती क्योंकि घट अग्निज्ञान का उपाय नहीं है ॥८९६॥

इसी तात्पर्य से हर्ष मिश्र ने कहा है 'सत्त्वासत्त्वकथा वृथा!' व्यवहारभूमि की सत्यता कार्यकरता ही हो सकती है अतः अर्थानुसारी ज्ञानरूप कार्य पैदा करना ही उपायों की सत्यता है। ऐसी सत्यता श्रुत्यादि में रहते यह कहना नहीं बनता कि तत्त्वधी इसलिये अप्रमा है कि मिथ्याकारणक है। यदि अबाध्यतारूप सत्यता न होने से कहें कि 'तत्त्वमादि वाक्यों से जन्य ज्ञान प्रमा नहीं क्योंकि उसका कारणकलाप मिथ्या है' तो साफल्यरूप उपाधि है ही। वस्तुतः तो अबाध्यतालक्षण सत्यता वाले उपायों से ज्ञानादि की सत्यता कहना ही ग़लत है क्योंकि वैसी सत्यता वाले उपाय अप्रसिद्ध हैं, 'नेह नानास्ति' श्रुति सभी उपायों को बाध्य कह रही है ॥८९६॥

श्लोक ८९५ में एक विकल्प था कि मिथ्यारूप से ज्ञात होने की जरूरत नहीं, वस्तु स्वरूपतः मिथ्या हो तो प्रमाण नहीं होगी यह नियम मानेंगे। इस विकल्प का निरास करते हैं –

जो तो धूमाभास भाप आदि से अग्नि की सदनुमिति नहीं होती, उसमें कारण है कि वे उस अनुमिति के उपाय नहीं हैं, न कि यह कि वे असत्य हैं ॥८९७॥

तात्पर्य है कि भाप आदि का वह्नि से अव्यभिचारी संबंध – व्याप्ति – ज्ञात न होने से ही वे अप्रमोत्पादक बनते हैं न कि असत्य होने से क्योंकि भाप आदि को वादी असत्य नहीं कह सकता, वे भी घटादि की तरह सत्य ही हैं। एवं च अव्याप्ति को वादिप्रयोग में (अप्रमा, मिथ्याहेतुकत्वाद्, धूमाभासोत्थवत्) उपाधि समझ लेना चाहिये। किं च यह भी स्पष्ट किया कि धूमाभास में मिथ्यात्व अनुपायत्व ही है अतः यही मानना ज़रूरी है कि उपायता ही यहाँ सत्यता है, पारमार्थिकता नहीं ॥८९७॥

तो उपाय होने से धूम की तरह क्या श्रुति भी परमार्थ है? नहीं –

उपाय होने से वेदान्त धूम की तरह परमार्थता नहीं पाते क्योंकि तब अद्वैतश्रुति बाधित होगी यह बात स्पष्ट है ॥८९८॥

यदि लौकिक-पारमार्थिकत्व अर्थात् व्यावहारिकत्व विवक्षित हो तो इष्ट ही है और अत्यन्त अबाध्यता विवक्षित हो

बाष्पवन्नापि मिथ्यात्वादनुपायत्वमिष्यते। ऐकात्म्याबोधबाधेन सिद्धा तूपायसत्यता ॥८९९॥
श्रुतेरैकात्म्यसंवित्तौ चरितार्थत्वतो मितेः। वृथोपायपरीक्षा स्यादुत्तीर्णस्य प्लवे यथा ॥९००॥

तो श्रुतिबाध की आपत्ति से अमान्य है। उपायता-पारमार्थिकता की व्याप्ति भी नहीं यह प्रतिबिम्बादि से कह ही चुके हैं यह भी समझ लेना चाहिये ॥८९८॥

मिथ्या होने से वेदान्त अनुपाय होंगे यह अनुमान वादी करता है तो उसकी भी काट बता देते हैं –

वेदान्त प्रमिति के उपाय नहीं हैं, क्योंकि मिथ्या हैं, जैसे भाप-यह भी ठीक नहीं क्योंकि वेदान्तों की उपायतारूप सत्यता इसीसे सिद्ध है कि ये अद्वैतात्मा के अज्ञान का बाध कर देते हैं ॥८९९॥

अर्थात् कार्यकरतारूप सत्यता से भिन्न होना यदि मिथ्या होना कहते हो तो हेतु असिद्ध है क्योंकि वेदांत कार्यकर ही हैं; और यदि परमार्थसत्यता न होने को मिथ्या होना कहो तो हेतु व्यभिचारी है क्योंकि जिस धूमादिको तुम प्रमितिका उपाय (अर्थात् निश्चित साध्यवान्) मानते हो वह भी परमार्थसत्यता वाला नहीं है ॥८९९॥

प्रश्न होता है कि वेदान्तों को प्रमित्युपाय तब कह सकते हैं जब वे ऐकात्म्य-बोधक हों और वे ऐकात्म्यबोधक हो तभी सकते हैं जब वे ऐकात्म्यप्रमिति के उपाय हों, अतः अन्योन्याश्रय होगा। यहाँ अभिप्राय है कि उनकी प्रमित्युपायता का निश्चय इस पर आश्रित है कि उनसे बोध हो जाये तथा उनसे बोध ही हुआ है यह तभी निश्चित होगा जब ये प्रमित्युपाय हैं यह निश्चय हो; अतः स्वतःप्रामाण्य मानने पर भी यह अन्योन्याश्रय शंकनीय है। अर्थ का बाध न होना मात्र ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित नहीं करता क्योंकि प्रतीतिकाल में तो सर्प भी बाधित नहीं होता। बहुत से भ्रम तो दीर्घ काल तक चलते भी रहते हैं। अतः करण की समीचीनता का निर्णय ज़रूरी हो जाता है। इसी से सिद्धान्त में ब्रह्मात्मतानिश्चय श्रुति से किया जाये इस पर आग्रह रखा जाता है। एवं च इतरेतराश्रय का प्रश्न संभव है। उत्तर देते हैं –

श्रुति से अद्वैतात्मवस्तु की प्रमिति होते ही पुरुष कृतार्थ हो जाता है इसलिये उस तत्त्वसाक्षात्कार के उपायों का परीक्षण वैसे ही बेकार होगा जैसे नदी पार कर चुकने के बाद नौका की परीक्षा करना! ॥९००॥

यद्यपि प्रमिततया निश्चित होने पर ही प्रमिति दृष्ट द्वैत का बाध कर सकती है यह पहले बता चुके हैं तथापि तात्पर्य है कि अविद्यानिवर्तकत्वरूप प्रमितित्व के निश्चय के लिये उपायों की अबाध्यता नहीं चाहिये अतः अद्वैत-साक्षात्कार की प्रमितिता का निश्चय होने पर भी उपाय बाध्य हो सकते हैं; वस्तुतः तो उपाय भी बाध्य हों तभी अद्वैतबोध प्रमा हो सकता है अतः उपायबाध प्रमितिता का निश्चायक ही बनता है। मननावस्था में यौक्तिक निश्चय हो जाने से भी साक्षात्कार का प्रमात्व निश्चित रहता है जैसे किसी का चित्र अच्छी तरह देखकर उससे प्रथम बार भी मिलते हैं तो निश्चय हो जाता है 'यही देवदत्त है'। श्रुति की प्रमाणता श्रद्धेय है इस दृष्टि से टीका में कहा है 'उदासीनश्रुत्यादेः' अर्थात् उपायता-निश्चय के प्रति श्रुति आदि को प्रमाणापेक्ष नहीं होना पड़ता। श्रद्धा तो चाहिये ही। अतः श्रद्धावश जो श्रुति को प्रमाण मानता है वह उसके तात्पर्यावधारण से जो समझा है उसे सच ही मानेगा अतः वह ज्ञान उसे निश्चितप्रमाणजन्य होने से निश्चितप्रमात्व वाला ही भासेगा यह अभिप्राय है। दृष्टांत से स्पष्ट किया कि यह भले ही परीक्षा करो कि परले किनारे पहुँचे या नहीं, लेकिन नाव की परीक्षा से कोई लाभ नहीं। यदि पता भी चल गया कि वह सच्छिद्रादि है (या प्रसिद्ध उदाहरण में शव को ही नाव समझ कर नदी पार की गयी थी!) तो भी परले किनारे पहुँचना रूप फल में कोई अंतर नहीं आना। ऐसे ही मोक्ष मिलने पर मोक्ष की परीक्षा भले ही करना यदि कर सको - किन्तु उपाय की चिंता से मत परेशान होवो। साधकावस्था में यदि उपायपरीक्षा करते हो तो प्रतिबिंबादि से बता ही चुके कि अपारमार्थिक भी पारमार्थिक का उपाय हो सकता है, यह भाव है ॥९००॥

कल्पित उपायों से ज्ञात होने पर स्वप्नदृष्ट पदार्थों की तरह अद्वैत भी असत्य होगा इस शंका से आत्मबोध प्रतिबद्ध हो जायेगा तो अज्ञानहानि कैसे होगी? उत्तर देते हैं कि अनात्मविषयक बोध ही यों शंकास्पद हो सकते हैं, निवृत्ताज्ञान आत्मरूप बोध नहीं –

बाह्येष्वर्थेष्वनात्मत्वात्पुनः शङ्का भवेदपि। अत्राऽऽत्मत्वादुपेयस्य का शङ्का मानतां प्रति ॥९०१॥
अन्यत्रेव न चाप्यत्र वाक्यार्थो भेदलक्षणः। संसर्गलक्षणो वापि ब्रह्मात्माऽभेदतो भवेत् ॥९०२॥

बाह्य अर्थ अनात्मा हैं अतः उनके बारे में शंका हो भी सकती है, यहाँ तो ज्ञेय आत्मा है अतः प्रमाणता में शंका ही क्या! ॥९०१॥

आत्मा का बाध संभव नहीं तथा परिच्छेदादि का असंभव सयुक्ति श्रुति ही बता चुकी है, अतः शंका का स्थान ही नहीं। 'मैं हूँ या नहीं' यह तो शंका हो नहीं सकती, 'मैं ब्रह्म हूँ या नहीं' यही शंका संभाव्य थी तथा इसे मननावस्था में ही हटा दिया गया है अतः अद्वैत में शंका होगी नहीं यह तात्पर्य है। अतः स्वरूपबोधक उपायों के बारे में यह विचार नहीं उठ सकता कि 'ये प्रमोपाय नहीं भी हो सकते हैं'।

किं च 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' आदि श्रुतिसे मोक्षदशा में श्रुत्यादि भी आत्मा से अन्य रहते नहीं तो यह शंका ही कैसे होगी कि वे मिथ्या हैं? (इस व्याख्या में 'मानताम्' का अर्थ है मिथ्यात्व।) हथौड़ा व छैनी लोहे में कल्पित होने से लोहामात्र हैं यह समझने पर हथौड़ा-यह नाम-रूप ही मिथ्या लगता है, वस्तुरूप से वह सत्य ही लगता है। ऐसे ही श्रुत्यादि उपायों का नाम-रूप ही मिथ्या लग सकता है, वस्तुरूप अर्थात् आत्मरूप से तो वे भी सत्य ही हैं। कल्पित नाम-रूप से कल्पित कर्म भी होता है, अतः छैनी का कार्य हथौड़े से नहीं किया जायेगा। अविद्यनिवृत्तिरूप कर्म श्रुत्यादि के नामरूपानुसार ही हो जाता है। अतः ब्रह्मात्मा में वेदांत प्रमाण है यह संगत है ॥९०१॥

यदि परमात्मा वाक्यार्थ है तो 'घड़ा लाओ' आदि वाक्यार्थों की तरह सखण्ड ही होगा? इस शंका का समाधान करते हैं -

अन्यत्र की तरह वेदान्तमहावाक्यों में भी वाक्यार्थ भेदरूप या संसर्गरूप नहीं है। ब्रह्म-आत्मा अभेदरूप वाक्यार्थ है ॥९०२॥

विभिन्न विभक्तियों वाले पदों से रचित वाक्य क्रिया-कारक के संबंध का बोध कराते हैं। ऐसा संबंध यहाँ भेदरूप कहा गया है क्योंकि इस बोध में संबंधी और संबंध अलग ही भासते हैं। जैसे 'गाय लाओ' में गाय, लाना तथा 'लाने' का 'गाय' से संबंध ये तीनों अलग-अलग होते हुए ही आपस में जुड़े हुए भासते हैं। जहाँ एक विभक्ति वाले पद होते हैं वहाँ जो संबंध भासता है - जिसे यहाँ संसर्गरूप कहा है - वह अभेदघटित होता है, तादात्म्य होता है। जैसे 'नीला कमल' - यहाँ जो नीला है वही कमल है यों नीले पदार्थ का कमल पदार्थ से अभेद सम्बंध प्रतीत होता है। आचार्यों ने 'संसर्गो वा विशिष्टो वा' आदि वाक्यवृत्ति में जिसे 'संसर्ग' कहा है वह यहाँ भेदरूप समझना चाहिये और विशिष्ट को यहाँ संसर्गरूप समझना चाहिये। अथवा 'यह किसका ग्रंथ है?' के उत्तर में 'वेदान्त का' कहने पर संबंध ही पूछा होने से वही वाक्यार्थ है एवं अन्यत्र सम्बन्धी वाक्यार्थ होता है जैसे 'नीला कमल है' आदि में। या मीमांसकों के मतभेद से सम्बंध एवं संबंधी को वाक्यार्थ माना गया है, उनका यहाँ संग्रह है। वार्तिकसार में इस पद्य का यह रूपान्तरण है 'अन्यत्रेवात्र वाक्यार्थो नैव संसृष्टलक्षणः। संसर्गलक्षणो वा स्यात् किन्त्वखण्डार्थलक्षणः॥' पृ० ३९४॥ सर्वथापि जो वाक्यार्थ अनेक वस्तुओं के भासने पर ही भासे वही सखण्ड होता है और वह भेदरूप या संसर्गरूप हुआ करता है। 'नीला कमल' में भी गुण-द्रव्य इन अनेक वस्तुओं के भान होने पर ही वाक्यार्थ भासता है अतः यह सखण्डार्थक वाक्य है।

किन्तु वेदान्तमहावाक्य ऐसे अर्थ के भासक नहीं हैं क्योंकि उनका प्रतिपाद्य ऐकात्म्य सखण्ड है नहीं। महावाक्यों में अत्यन्त अभेद ही प्रतीत हो सकता है अन्यथा द्वैतापत्ति होने पर वाक्य ही अप्रमाण हो जायेगा अतः यहाँ भासने वाला ब्रह्मात्मरूप अर्थ - जीवब्रह्मरूप अर्थ - किसी भेद की उपस्थिति के बिना ही भासता है। इसमें अनेक वस्तुओं का भान नहीं होता। अतएव इन वाक्यों का अन्वय 'सम्यक्' कहा गया है (द्रष्टव्य पंचपादिका पृ० ५७५)। लोक में 'सोयं देवदत्तः' आदि अखण्डार्थवाक्य हैं। सार में (पृ० ३९९) कहा है 'दृष्टाऽखण्डार्थता वाक्ये प्रत्यभिज्ञापके यतः। तदेतद्देशकालाभ्यां

ब्रह्मणोऽनात्मतारूपमब्रह्मत्वं तथाऽऽत्मनः। अज्ञानलक्षणं शास्त्राज्ज्ञानं हन्ति समुत्पतत् ॥९०३॥
नेहान्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म तथाऽऽत्मा ब्रह्मणोऽन्यतः। तादात्म्यमनयोस्तस्मान्नीलोत्पलविलक्षणम् ॥९०४॥

व्यक्तिरेकोपलक्ष्यते॥' इत्यादि। अखण्डार्थता हो सकती है यह वेदान्तग्रंथों में बहुचर्चित विषय है तथा वेदान्तमहावाक्य अखण्डार्थक ही हैं यह इसलिये मान्य है कि शास्त्र ने ब्रह्म को असंग कहा है। ब्रह्ममात्र की जिज्ञासा की प्रतिज्ञाकर उसी अर्थ में शास्त्र का समन्वय बताकर आचार्य बादरायण ने भी यही स्पष्ट किया है कि सम्बंधादि कुछ अन्य वस्तु वाक्यार्थ नहीं हो सकती। एक विभक्तिक प्रयोग का मुख्यार्थ घटता ही तब है जब अखण्डार्थता मानी जाये यह संक्षेपशारीरक (१.२१८) में व्यक्त है। महावाक्य संसृष्टादि-अर्थक हो तो 'तमेव विदित्वा' 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि सावधारणवाक्यों का विरोध होगा आदि विषय चित्सुखमुनि ने प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका में (पृ० १९८ आदि) समझाया है ॥९०२॥

शंका होती है कि नित्य शुद्ध मुक्तादि ब्रह्म है तथा जीव जन्म-मृत्यु वाला अज्ञ दुःखी प्रसिद्ध है; इनका अत्यंताभेद संभव नहीं अतः वाक्य को अखण्डार्थक कैसे मानें? समाधान है कि ब्रह्म व जीव परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं यह किसी प्रमाण से तो निर्धारित है नहीं और प्रतीतिमात्र तो उसी प्रकार संभव है जैसे बिम्ब व प्रतिबिम्ब पूर्वाभिमुख-पश्चिमाभिमुख आदि विरुद्ध स्वभाव वाले प्रतीत हो जाते हैं जबकि वास्तव में वहाँ वस्तु एक मुखादि ही है। यही स्पष्ट करते हैं -

ब्रह्म का अनात्मता वाला (= परोक्षता वाला) रूप तथा प्रत्यगात्मा की अब्रह्मता (= परिच्छिन्नता) केवल अज्ञान से प्रतीयमान है। शास्त्रश्रवण से उत्पन्न होते ही तत्त्वानुभव उस अज्ञान का (उसके कार्य समेत) बाध कर देता है ॥९०३॥

'अज्ञानं लक्षणं कारणं यस्य तद् अज्ञानलक्षणम्' यह न्यायकल्पलतिका में अर्थ किया है। 'अज्ञानकृतत्व' से आनंदगिरिस्वामी भी यही बताते हैं। सार में (पृ० ३९४) भी 'अज्ञानजम्' कहा है। श्लोक ९०५ में स्वयं 'अज्ञाननिबन्धने' कहेंगे। 'अज्ञानलक्षण' कहकर वार्तिककार बताते हैं कि ये प्रतीतियाँ ज्ञानैकबाध्य हैं, उन प्रतीतियों के सहारे टिके परोक्ष ब्रह्म और परिच्छिन्न जीव से दोनों पदार्थ शास्त्रीय ज्ञान से बाधित हो जाते हैं। 'अनात्मता' और 'अब्रह्मत्वम्' यों तद्धितान्तप्रयोग का स्वारस्य 'स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा' (सं० शा० १.२) की मधुसूदनी आदि में देखना चाहिये ॥९०३॥

जीव-ब्रह्म में भेदाभेद की संभावना मिटाते हैं -

न आत्मा से ब्रह्म अलग है व न ब्रह्म से आत्मा अलग है अतः शास्त्र में कहे आत्मा व ब्रह्म पदार्थों का तादात्म्य वैसा नहीं है जैसे नीले रंग और कमल का होता है ॥९०४॥

ब्रह्म प्रत्यगात्मा से अन्य हो तो घटादि की तरह जड होगा और यदि प्रत्यगात्मा भी ब्रह्म से अन्य हो तो घटादिकी तरह ही जड होगा। अतः इनका अत्यंत अभेद है। नीले रंग व कमल का तो भेदसहिष्णु अभेद है। इस श्लोक की सार में व्याख्या है 'नीलत्वमुत्पलत्वं च ह्यन्योन्यव्यभिचारिणी। आत्मब्रह्मत्वयोर्नास्ति व्यभिचारो मनागपि॥' पृ० ३९५॥ यद्यपि वाक्य की अखण्डार्थता सिद्ध होने पर ही यह कहना उचित है तथापि अवान्तरवाक्यों में कहे स्वरूप का तथा युक्तियों का अनुसंधान करने से यह निश्चित हो जाता है कि भेद असत्य है - विष्णुपराण में (२.१४.३१) कहा है 'द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः' - अतः वाक्य की यथार्थता के लिये अखण्डपरता मान्य होने से अर्थका अखण्ड स्वरूप बताना संगत है।

'इह' अर्थात् 'शास्त्र में' कहकर बता दिया कि लक्ष्यार्थों का अभेद कहा जा रहा है। 'अन्यत्र' व 'अन्यतः' का अर्थ 'अन्य' ही है ॥९०४॥

अब्रह्मानात्मते यद्वदत्राज्ञाननिबन्धने। आत्मताब्रह्मते नैवमन्यस्मादित्यतः स्वतः ॥९०५॥
नाम्नोरेवं च संबन्ध ऐकात्म्यात्स्यात्क्रियां विना। षष्ठीं च न क्रियाषष्ठ्योर्विना भेदात्प्रवर्तनम् ॥९०६॥
महत्ता यद्वदाकाशे घटाकाशव्यपेक्षया। पराक्त्वापेक्षया तद्वत्प्रत्यक्ता नाऽऽत्मनीक्ष्यते ॥९०७॥
प्रत्यक्त्वमद्वितीयत्वं बोधवन्नान्यबन्धनम्। अपारार्थ्यान्न बोधो हि स्यादबोधनिरासतः ॥९०८॥

ब्रह्म की परोक्षता और प्रत्यक् की परिच्छिन्नता को अज्ञानकल्पित कहते हो तो यदि विपरीत कहा जाये कि ब्रह्म की प्रत्यक्ता तथा प्रत्यक् की व्यापकता कल्पित है तो क्या दोष होगा? बाताते हैं –

जैसे आत्मा और ब्रह्म में परिच्छिन्नता और परोक्षता अज्ञान से कल्पित हैं ऐसे इनकी आत्मता व ब्रह्मता अज्ञान से नहीं हैं, वे तो स्वाभाविक ही हैं ॥९०५॥

अन्योन्याश्रयादि वक्ष्यमाण दोषवश भेद कल्पित है, अभेद में कोई दोष नहीं, वह शास्त्रसमर्थित भी है अतः कल्पित नहीं है। अतः प्रत्यक् की परिपूर्णता तथा ब्रह्म की अपरोक्षता काल्पनिक नहीं है,निष्कारण सत्य है। 'अज्ञाननिबन्धन' कहकर वार्तिककार ने व्यक्त किया कि चेतन में परिच्छिन्नता एवं परोक्षता का मिथ्यात्व इसीलिये है कि चेतनतत्त्व की प्रमा से वे बाध्य हैं। बाधयोग्य वस्तु विचारसहिष्णु होती है यह टीका में अन्योन्याश्रयादिदुष्टता कहकर व्यक्त किया। इस वार्तिक में शून्यवाद का भी उन्मूलन समझना चाहिये। परिच्छेदादि के मिथ्यात्व के लिये अपरिच्छिन्न परमार्थ का सहारा है, ऐसे व्यापकतादि को किस आधार पर मिथ्या कहा जाये? अतः सर्वमिथ्यात्व अमान्य है, अनात्ममिथ्यात्व ही संभव है ॥८९०५॥

अद्वैत तत्त्व को 'तत् त्वम्' आदि पद कह नहीं सकते क्योंकि पदों से अर्थ कहा जाये इसके लिये सम्बंध, गुण, क्रिया आदि हेतु अपेक्षित होते हैं। फिर भी लक्षणा से अद्वैत का समर्पण हो जाता है यह बताते हैं –

('तत्', 'त्वम्' आदि) संज्ञाओं का अन्वय क्रिया, संबंध आदि हेतुओं के बिना ही हो जाता है क्योंकि उनका प्रतिपाद्य अर्थ ही एकात्मतारूप है। भेदघटित बोध कराने के लिये ही शब्द को क्रिया, संबंध आदि की ज़रूरत होती है (अभेदबोध के लिये नहीं) ॥९०६॥

उपक्रमादिसे तात्पर्यविषय जब अत्यंत एकरस निश्चित है तो शब्द से बोध्य होने के लिये भेदरूप क्रियादि निमित्त अपेक्षित मानने पर 'शान्तिकर्मणि वेतालोदयः' प्रसंग हो जायेगा! अतः जहाँ शक्तिवृत्ति से बोध कराना हो वहीं क्रियादि निमित्त चाहिये यही मान सकते हैं, यहाँ उनके बिना बोध लक्षणा से हो जाता है। क्रियादि निमित्तों के बिना जब शब्द प्रवृत्त होगा तब (भेदात्=भेदमुपस्थाप्य) भेद को घटक बनाकर प्रवृत्त नहीं होगा; उन निमित्तों से प्रवृत्त होगा तभी सखण्ड बोध पैदा करेगा यह तात्पर्य है। 'क्रियाषष्ठ्योः' में निमित्तांतर उपलक्षणीय हैं ॥९०६॥

महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान में खण्ड न भासते हों इतना ही नहीं, वस्तु ही अखण्ड है; यह बताने के लिये स्पष्ट करते हैं कि यहाँ प्रत्यक्ता और अद्वितीयता निरपेक्ष है –

जैसे आकाश में घटाकाशादिकी अपेक्षा से महत्ता है ऐसे आत्मा में प्रत्यक्ता किसी पराक्ता की अपेक्षा से नहीं। विद्वानों का अनुभव है कि आत्मा स्वभाव से ही प्रत्यक् है ॥९०७॥ जैसे आत्मा का ज्ञानस्वरूप किसी अन्य से प्रयुक्त नहीं है ऐसे प्रत्यक्ता और अद्वितीयता भी अन्यप्रयुक्त नहीं हैं। यद्यपि 'ज्ञान' शब्द अज्ञाननिवृत्ति की अपेक्षा से प्रवृत्त होता है तथापि आत्मा को ज्ञान उस अपेक्षा से नहीं कहते बल्कि वह अन्यशेष नहीं है इसी से कहते हैं ॥९०८॥

'न सत्यमापेक्षिकमीक्षितं क्वचित्' (२.१०५) यह सर्वज्ञाचार्य का शंखनाद है। ब्रह्मात्मा को सापेक्ष समझते ही वह मायामय होगा, यही बौद्ध का गर्तपात है। अतएव अमलानन्द जी ने कहा है 'लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्यत्वं न जहाति नः'

आत्माऽपि सदिदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूषितम्। ब्रह्मापि संस्तथैवाऽऽत्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते ॥९०९॥

(कल्प० पृ० ९४)। चाहे वह सत्यता 'काचिदन्या' ही हो जैसा सर्वज्ञमुनि ने स्पष्ट किया है, लेकिन सत्यसे लक्ष्य होने वाला भी है सत्य ही, गंगालक्ष्यभूत ग़ैरगंगारूप तट की तरह असत्य नहीं है। इस तथ्य को और भी स्फुटतर करने के लिये ही कुछ आचार्य परमार्थ सत्य को भी शक्यैकदेश ही मानते हैं और शक्यैकदेशवृत्ति को ही यहाँ लक्षणा स्वीकारते हैं। हर हालत में ब्रह्मस्वरूप सत्यादि मिथ्या न होने से सापेक्ष नहीं है। पराक् कहते हैं इदन्तया भासमान को अत: लगता है कि प्रत्यक् कहना सापेक्ष है क्योंकि लोक में सापेक्ष प्रत्यक्-पराग्भाव देखा जाता है जैसे विषय की अपेक्षा से इंद्रियों को प्रत्यक् कहते हैं उनकी अपेक्षा मन को आदि। किन्तु ब्रह्मात्मा को यों किसी अपेक्षा से प्रत्यक् नहीं कहते बल्कि इसी की अपेक्षा से अन्यत्र प्रत्यक्-पराग्भाव व्यवहृत होता है : जिसमें ब्रह्म से न्यूनतम व्यवहितता है उसे लोक में प्रत्यक् तथा व्यवहितता बढने पर पराक्त्ता का व्यवहार होता है। काशी में बैठा व्यक्ति मथुरा को निकट तथा प्रभासतीर्थ को दूर कहता है तो यह सापेक्ष व्यवहार है लेकिन स्वयं से स्वयं की दूरी पूछी जाये तो उत्तर में जो भी कहा जायेगा वह सापेक्ष नहीं होगा। यह कह सकते हैं 'कुछ दूरी नहीं है' तथा यह भी कि 'नि:सीम निकटता है'; अर्थात् चाहे विधिमुख से कहें या निषेधमुख से, निरपेक्ष उत्तर ही दिया जा रहा है। अत: आत्मा की प्रत्यक्ता सापेक्ष नहीं है। ऐसे ही द्वितीय की अपेक्षा से अद्वितीयता नहीं है। यह भी लौकिक प्रयोग से उदाहरणीय है : किसी गृहस्थ के बारे में कहते हैं 'अकेला आया है' तो 'अकेला' शब्द जिस एकाकिता को कहता है वह पत्नी की अपेक्षा से होती है। लेकिन साधु जब कहता है 'मैं अकेला विचर रहा था' तब निरपेक्ष एकाकिता भासती है। अथवा दो व्यक्ति आये हों तथा कहा जाये 'एक आदमी भोजन करेगा' तो 'एक' पद से दूसरा व्यक्ति व्यावृत्त हो जाता है, लेकिन सामान्यत: कहा जाये 'एक पेड़ खड़ा है' तो 'एक' पद किसी की व्यावृत्ति नहीं करता। इसी तरह अन्यत्र 'अद्वितीय' चाहे द्वैतनिवृत्त्यादि बताकर सापेक्ष अद्वैत कहे लेकिन जब स्वरूप मात्रको 'अद्वैतम्' आदि कहते हैं तब निरपेक्ष अद्वैत भासता है। लोक में जैसे 'लम्बा' शब्द कभी साकांक्ष बोध करता है अर्थात् जिज्ञासा होती है 'किससे लम्बा?' और कभी निराकांक्ष बोध करता है अर्थात् ऐसी जिज्ञासा नहीं होती फिर भी अर्थबोध हो जाता है, इसी तरह अद्वैतादिशब्द भी तात्पर्यादिवश दोनों तरह के ज्ञान देने में समर्थ हैं। वस्तु क्योंकि स्वरूपत: अखण्ड है इसलिये वस्तुतात्पर्यक होने पर शब्द निरपेक्ष सत्य, अद्वितीय, प्रत्यक्, आनंद आदि का प्रकाश करता है। यह लक्षणा से ही होता है यह संप्रदाय है, अन्यथा भी उपपाद्य हो तो विरोध नहीं।

दृष्टान्त दिया ज्ञानरूप का। अनात्मविषयों के बारे में कहते हैं 'मुझे ज्ञान है' तो अज्ञाननिवृत्ति की अपेक्षा से होने वाली जानकारी प्रतीत होती है। किन्तु 'मुझे ख़ुद का ज्ञान है' कहने पर ऐसा नहीं होता क्योंकि अव्वल तो ऐसा कोई अज्ञान होता नहीं कि मैं ख़ुद को न जानूँ, और जो मूल अज्ञान मुझे अपनी वास्तविकता का है वह निवृत्त हुआ है नहीं। अत: यहाँ 'ज्ञान' जिस जानकारी को कह रहा है वह मुझे हमेशा है, किसी अज्ञाननिवृत्तिकी अपेक्षा से नहीं। ऐसे ही अपरोक्षता का मतलब जो प्रत्यक् है वह किसी परोक्ष की अपेक्षा से नहीं, अद्वय का मतलब जो पूर्ण है वह भी किसी द्वय की अपेक्षा से नहीं। यहाँ प्रत्यक् से सभी भावशब्द और अद्वितीय से सभी अभावशब्दों की प्रवृत्ति समझ लेनी चाहिये, स्वरूपविवक्षा से आये सभी शब्द निरपेक्ष वस्तु का ही प्रकाशन करते हैं यह भाव है।

'प्रत्यक्त्वम्' व 'अद्वितीयत्वम्' में भावप्रत्यय होने पर भी आत्मा के धर्म में तात्पर्य नहीं है अर्थात् स्वार्थ में ही प्रत्यय है। शास्त्रप्रकाशिका में अन्यत्र का वाक्य भी ऐसे प्रयोग का दिखाया है। सत्ताशब्द में प्रत्यय स्वार्थ में है यह वार्तिक में भी कहेंगे (४.३.१६८८) ॥९०७-९०८॥

स्वरूपत: निर्भिन्न परमात्मा के बोधक वाक्य अखण्ड अर्थ ही प्रतीत कराते हैं इस बात को निर्णीतरूप से कहते हैं –

यह ब्रह्म आत्मा होते हुए भी मोहवश परोक्षतारूप दोष वाला लगता है और इसी तरह आत्मा ब्रह्म ही होते हुए भी ऐसा लगता है मानो ब्रह्म से दूसरा हो ॥९०९॥

आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात्। पुमर्थे निष्ठितं शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम् ॥९१०॥
ननु भेदाश्रितैर्वाक्यैर्विधायकनिषेधकैः। अक्षादिभिश्च नैकात्म्यं बाधितत्वात्प्रमाणवत् ॥९११॥
न चाप्यैकात्म्यशास्त्रस्य तैर्विकल्पसमुच्चयौ। प्रामाण्ये नापि बाध्यत्वं तेषां तेन कथंचन ॥९१२॥

तात्पर्य है कि वास्तविकता क्योंकि अखण्ड है इसलिये वाक्य प्रमाण हो ही तब सकता है जब अखण्डबोध कराये ॥९०९॥

मोहवश होती पारोक्ष्य-सद्वितीयत्व प्रतीतियाँ वाक्यीय प्रमा से बाधित होते ही नित्यसिद्ध मोक्ष अनावृत बना रहता है –

'आत्मा ब्रह्म है' इस ज्ञान से परोक्षता व सद्वितीयता का बाध हो जाने से स्वाभाविक अनंत आनंद अनावृत हो जाता है, यही परम पुरुषार्थ है जिसमें शास्त्र तत्परता से पर्यवसित है। इस प्रकार हमारा सिद्धान्त समुचित है कि वाक्यजन्य अप्रतिबद्ध साक्षात्कार ही मोक्षप्रद है ॥९१०॥

ब्रह्मको आत्मा समझने से उसकी परोक्षता बाधित होती है और आत्मा को ब्रह्म समझने से इसकी सद्वितीयता अर्थात् परिच्छिन्नता बाधित होती है। फलतः अद्वैत ही भासता रहता है। एवं च यथार्थतालक्षण प्रामाण्य के लिये जैसे अखण्डार्थता स्वीकार्य है वैसे ही पुरुषार्थहेतुतालक्षण प्रामाण्य के लिये भी।

इस प्रकार प्रसंख्यानवाद का निरास कर वाक्य की बोधकता का समर्थन करते हुए उससे जन्य बोध का वर्णन किया तथा वाक्यप्रामाण्य स्थापित किया ॥९१०॥

अब भेदादि का खण्डन करने के लिये वादिमुख से समन्वय पर आक्षेप उठाते हैं –

विधि-निषेध वाक्य और प्रत्यक्षादि प्रमाण सब भेद को विषय करते हैं अतः अद्वैत बाधित होने से वेदान्तप्रमाण से बोध्य नहीं हो सकता ॥९११॥

विधि आदि से भेद निश्चित होता है क्योंकि साध्य-साधन-इतिकर्तव्यता आदि भेद का उपजीवन कर ही विधि आदि प्रवृत्त हो सकते हैं। प्रत्यक्षादि से भी सब पदार्थ अलग-अलग मिल रहे हैं। अतः अद्वैत की कल्पना भी शक्य नहीं। चित्सुखी द्वितीय परिच्छेद आदि वादग्रंथों में इस आक्षेप का प्रभूत विस्तार दर्शनीय है। उत्तर का रहस्य तक्षाधिकरणभाष्य में स्पष्ट है ॥९११॥

सिद्धान्ती का अनुयायी यह नहीं कह सकता कि वेदांत भी प्रमाण ही हैं अतः या इनसे सिद्ध और प्रत्यक्षादि से सिद्ध दोनों को वास्तविक मान लो, या वेदान्तसिद्ध को ही वास्तविक मान लो। क्यों नहीं कह सकता – यह वादी बताता है–

अभेदशास्त्र और भेदबोधक – इन दोनों के प्रामाण्य का न विकल्प हो सकता है, न समुच्चय। न यही संभव है कि अभेदशास्त्र से भेदबोधकों का बाध ही हो जाये ॥९१२॥

क्रियादि में विरुद्ध प्रक्रियाओं का विकल्प हो सकता है तथा अविरुद्ध पदार्थ हो तो समुच्चय हो सकता है लेकिन प्रामाण्य में यह संभव नहीं कि परस्पर विरुद्ध अर्थ के बोधकों का प्रामाण्य हो। जब दोनों का प्रामाण्य ही नहीं तो विकल्प-समुच्चय संभव नहीं क्योंकि वह तो प्रमाणों का देखा गया है। षोडशीसंज्ञक पात्र के ग्रहण और अग्रहण बताने वाले दोनों वाक्य प्रमाण हैं अतः ग्रहण-अग्रहण का विकल्प है; दर्शादि के आग्नेयादि छहों यागों के विधायक वाक्य प्रमाण हैं तब उन यागों का समुच्चय है। प्रकृत में द्वैत-अद्वैत बोधकों का प्रामाण्य स्वीकार करना असंभव होने से समुच्चयादि दूरनिरस्त है ॥९१२॥

ग्रहण व अग्रहण विरोधी बातें हैं, उन्हे कहने वाले वाक्य यदि प्रमाण हो सकते हैं तो भेद-अभेद इन विरुद्ध स्थितियों के बोधकों को प्रमाण मानने में क्या दिक्कत है? वादी उत्तर देता है –

विरुद्धमानभावेऽपि न हि वस्तु विकल्प्यते। भेदाभेदौ न च स्यातां विरोधाद्युगपत् क्वचित् ॥९१३॥
भिन्नाभिन्नं न वो वस्तु येन मानाविरोधिता। नेह नानेति भेदानां निषेधात् क्व नु भेदधीः ॥९१४॥

विरुद्धार्थक होने पर भी प्रमाणता स्वीकार्य है लेकिन तभी जब विषय हो क्रिया जो विकल्पयोग्य है। वस्तु क्योंकि विकल्पयोग्य नहीं है इसलिये वस्तुविषयक विरुद्धार्थबोधकों की प्रमाणता संभव नहीं। भेद और अभेद इकट्ठे ही कहीं हो नहीं सकते कि भेदविषयक और अभेदविषयक बोधकों के प्रामाण्य का समुच्चय माना जा सके ॥९१३॥

वस्तुशब्द से यहाँ वह विवक्षित है जो पौरुषेय प्रयत्न से निरपेक्ष हो। सिद्धान्तबिंदु में 'वस्तुनि विकल्पासंभवात्' कहा है जिसका अर्थ रत्नावली में 'वस्तुनि पुरुष-प्रयत्नाऽनिष्पद्ये विकल्पासंभवात् विरुद्धपक्षद्वयबोधकवाक्ययोः प्रामाण्यासंभवात्' अर्थ किया है। सूत्रभाष्य में भी एक जगह (१.४.१५) कहा है 'क्रियायामिव वस्तुनि विकल्पस्यासंभवात्।' चतुर्थसूत्र-नवमवर्णक में क्रिया व ज्ञान का वैलक्षण्य बताते हुए भी यह बात स्पष्ट की गयी है। प्रामाण्य स्वयं एक वस्तु है अर्थात् हमारे यत्नसे निरपेक्ष है अतः प्रामाण्य में विकल्प संभव नहीं। किं च यथाविषयता से प्रामाण्य होता है और विषय जब अविकल्पनीय होगा तब तदनुसारी होने से प्रामाण्य भी विकल्प के योग्य नहीं होगा। प्रामाण्य का विकल्प मानने पर उसके विषय का भी विकल्प स्वीकारना पड़ेगा जो असंभव है। अतः विरुद्ध प्रमाण यदि वस्तुविषयक हों तो अवश्य उनमें कोई एक ही प्रमाण हो सकता है, अन्य प्रमाणाभास ही होगा। एवं च यदि तथ्यविषयक विपरीत सिद्धान्तों को कोई तुल्य रूप से मान्य कहता है तो समझ लेना चाहिये कि वह दोनों सिद्धांतों को अप्रमाणरूप से ही तुल्य कह रहा है; वह दोनों को ही एक जैसा अमान्य कह रहा है, भले ही शब्द वह 'मान्य' बोले। अतथ्यविषयक हों तो विरुद्ध बातें तुल्य रह सकती हैं जैसे रस्सी को साँप कहना और उसे माला कहना दोनों तुल्य हैं। लेकिन रस्सीको रस्सी कहना और साँप कहना तुल्य नहीं होते। इस तरह निश्चित है कि अद्वैतबोधक और द्वैतबोधक दोनों प्रमाण नहीं हो सकते अतः विकल्पित नहीं हो सकते।

न दोनों का समुच्चय संभव है। समुच्चय का अर्थ है कि युगपत् दोनों प्रमाण जैसा अर्थ बतायें वैसा वस्तुतः वह हो। भेद को पारमार्थिक बताने वाले तथा भेद को तुच्छ बताने वाले साधन इकट्ठे ही यथा-अर्थ बता रहे हैं यह कैसे संभव होगा? यदि सापेक्षता से कहें तब पारमार्थिकता नहीं रहेगी। आग्नेयादि छहों कर्म क्रमशः करने हैं अतः वहाँ कोई दिक्कत नहीं लेकिन यदि ब्रह्मचर्य और ऋतुगमन का एककाल में विधान मानें तो क्या कोई दोनों कर सकता है? यदि सत्त्वबोधक और असत्त्वबोधक एक साथ यथार्थ हों तो यह जो सर्वत्र दृष्ट नियम है कि भाव-अभाव का विरोध है वह खण्डित मानना पड़ेगा। इस लिये प्रत्यक्षादि और अद्वैतशास्त्र का समुच्चित प्रामाण्य भी संभव नहीं ॥९१३॥

जो भेदाभेदवादी हैं वे कथंचित् समुच्चय कहें भी किन्तु जो ऐकात्म्यवादी हैं वे ऐसा नहीं ही कह सकते –

आप अद्वैती लोग वस्तु को भेद-अभेद वाली तो मानते नहीं ताकि भेदविषयक व अभेदविषयक प्रमाणों का अविरोध स्थापित कर सकें। आपके अनुसार 'नेह नाना' आदि श्रुतियाँ भेदों का निषेध करती हैं अतः बाधितविषयक होने से आप भेदविषयक को प्रमाण नहीं कह सकते ॥९१४॥

अद्वैती जब भेद का सर्वथा अपलाप करता है तो भेदानुभव का विषय वह वस्तु नहीं मान सकता अतः भेदबोधक का समुच्चय या विकल्प कहना उसके लिये संभव नहीं। तुल्यबल होने पर ही ये संभव होते हैं, अद्वैतशास्त्र वस्तुबोधक तथा भेदज्ञापक अवस्तुबोधक मानने से इनकी तुल्यता नहीं रह जाती ॥९१४॥

यह भी संभव नहीं कि अद्वैतागम से प्रत्यक्षादि व विधिनिषेध बाधित ही हो जायें क्योंकि तब उपजीव्यविरोध होगा –

वर्णादिग्रहणोपायो नापीहाक्षादि बाध्यते। संस्काराय च यच्छास्त्रमात्मज्ञानोपकारकम् ॥९१५॥
उपचारार्थतः शास्त्रं सावकाशं जपेऽथवा। अक्षादेरकृतार्थत्वात्कथं स्यात्तेन बाधनम् ॥९१६॥

वर्णादि के ग्रहण के साधन हैं प्रत्यक्षादि अतः शास्त्र से उनका भी बाध नहीं हो सकता। जो कर्मकाण्ड अपने द्वारा बताये कर्मों के अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि का हेतु होते हुए परम्परा से अद्वैतबोध का उत्पादक है वह भी शास्त्र से बाध्य नहीं हो सकता ॥९१५॥

शास्त्र स्वयं शब्दात्मक है। शब्दग्रहण प्रत्यक्ष से होता है। शब्दका शक्तिज्ञान भी प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों से होता है। यदि प्रत्यक्षादि का बाध हो जाये तो शास्त्रश्रवणादि ही संभव नहीं रहेगा। अतः अद्वैतागम से प्रत्यक्षादि का बाध नहीं किया जा सकता। कर्मशास्त्र भी विविदिषाश्रुति के अनुसार ज्ञानहेतु है; यदि अद्वैतशास्त्र उसका बाध करे तो कर्म के बिना स्वंय उत्पन्न नहीं हो सकेगा अतः वह भी बाध्य नहीं।

इन पूर्वपक्षों का ही अनन्तरकालिक वादियों ने भाषान्तर कर अपनी तर्कचातुरी प्रदर्शित करने की कोशिश की है तथा चित्सुख, मदुसूदन, नृसिंहाश्रम आदि ब्रह्मनिष्ठों ने आकरों के उत्तरों का वादी के अनुकूल भाषा में उपस्थापन कर सिद्धान्त के उपवन को रमणीक बनाया है यह यहाँ के प्रसंग के अनुसंधान से स्पष्ट है। यहाँ वार्तिककार संक्षेप में उत्तर देते जायेंगे क्योंकि आगे तत्तत्स्थल में विस्तार के अनेक मौके आने हैं। प्रवृत्ति के लिये ज़रूरी होने से भूमिकारूप से वेदान्त बता रहे हैं कि अन्य प्रमाण अतात्त्विक हैं, अद्वैतप्रमाण ही तात्त्विक है अतः सारे प्रयत्न से इसी का अनुसरण कर तत्त्वनिष्ठा पाने में ही पुरुषार्थ है ॥९१५॥

अनुयायी पूछेगा कि यदि वेदांतप्रामाण्य का समुच्चय-विकल्प संभव नहीं तो वेदांतों के प्रामाण्य की सुरक्षा कैसे होगी? वादी जवाब देता है –

औपचारिक ब्रह्माद्वैत बताने से शास्त्र कृतकार्य हो सकता है। अथवा वेदान्तों का जपमें विनियोग है, एतावता वे सफल हैं। इस प्रकार अद्वैतशास्त्र तो वास्तविक अद्वैत न बताकर भी संगत होता है जबकि प्रत्यक्षादि यदि द्वैत में प्रमाण न हों तो इनकी संगति बैठती नहीं अतः वेदांतों से इनका बाध हो कैसे सकता है? ॥९१६॥

गाँव के प्रधान के लिये जैसे कहते हैं 'यह अद्वितीय समझदार आदमी है' तो गौण (= औपचारिक) अद्वितीयता ही प्रकट होती है, ऐसे ही ब्रह्म को जब शास्त्र अद्वितीय कहता है तब यही समझना चाहिये कि वह उसे गौणरूप से अद्वितीय कह रहा है। 'अद्वितीयशब्दस्य तत्सजातीयवस्त्वन्तरनिषेधपरत्वाद्, अस्मिन् ग्रामेऽयमेक एवाद्वितीयः पुरुष इतिवत्' ऐसा चित्सुखी में (पृ० ६२) भी पूर्वपक्ष है। उपचारतया गति मानने वाला अद्वैतोपासना की विधि स्वीकार कर वेदांतों का साफल्य सिद्ध करेगा। जो वैसी उपासना भी नहीं मानना चाहता वह जपमात्र से अपूर्व मानकर इनका साफल्य कहता है।

यह न्याय है कि दो विधियों में विरोध हो तो जिसे मानने पर दूसरी विधि असंभव हो उसे दुर्बल मानते हैं और ऐसी व्यवस्था बनाते हैं ताकि दोनों विधियाँ संभव रहें। जैसे अहिंसावाक्य साधारणतः सभी हिंसाओं का निषेध करे तो अगनीषोमीयादि विधियाँ व्यर्थ होंगी अतः उन विधियों को प्रबल मानकर हिंसावाक्य को सीमित किया जाता है। ऐसे ही प्रत्यक्ष को विषय-लाभ हो इसलिये श्रुति को संकुचित होकर गौण अद्वैत या सजातीय अद्वैत ही कहना चाहिये। 'प्रत्यक्षेण निरवकाशेन, वृत्यन्तरेण अनेकार्थत्वेन वा विषयान्तरपरत्वेन सावकाशायाः श्रुतेः संकोचः किं न स्यात्?' (पृ० ३५८), 'अद्वैतागमेन प्रत्यक्षबाधे तु न प्रत्यक्षप्रामाण्यस्यावकाशोऽस्ति' (पृ० ३८४) इत्यादि अद्वैतसिद्धि में भी यह पूर्वपक्ष उठाकर खण्डन किया गया है।

इस प्रकार श्लोक ९११ से यहाँ तक भेदप्रमाणों से बाधितार्थक अभेदश्रुतिका स्वार्थ में प्रामाण्य असंभव है फलतः शास्त्रसमन्वय अद्वैतात्मा में न होने से ज्ञान मोक्षोपाय नहीं अतः श्रवणादिविधि से उपनिषद् विचारणीय न होने से अव्याख्येय हैं यह पूर्वपक्ष रखा गया ॥९१६॥

उच्यते लोकतः सिद्धं भेदमाश्रित्य चोदना। प्रवृत्ता पुरुषार्थाय न तु भेदावबुद्धये ॥९१७॥
भेदस्य चापुमर्थत्वात्तादर्थ्ये स्यादमानता। पुमर्थत्वेन चास्येष्टं प्रामाण्यं वेदवादिभिः ॥९१८॥

उक्त शंका का संक्षेप में यही समाधान है कि प्रत्यक्षादि व्यावहारिक सत्त्व को विषय करते हैं जबकि श्रुति वास्तविकता कह रही है जैसा हर्षमिश्र ने कहा है 'पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः। विरोधादुपजीव्येन न बिभेति मनागपि॥' अतः वर्णग्रह आदि के लिये उपजीव्य होने पर भी बाध के योग्य प्रत्यक्षादि हैं। यह उपजीव्यविरोधाभाव के प्रकरण में अद्वैतसिद्धि में (पृ० ८३०) स्पष्टतर है। तथा विधि आदि शास्त्र भी लोकसिद्ध भेद का अनुवादक ही है, प्रतिपादक नहीं। 'विधिशास्त्रं तावद्यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेषमुपदिशति, न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति। ··· अविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते।' इत्यादि तक्षाधिकरणभाष्य (२.३.४०) इस विषय में स्पष्ट है। सिद्धिग्रंथ के निर्गुणत्वोपपत्तिप्रसंग में भी यह विचारित है। वहाँ बताया है कि कर्तृतादि क्योंकि श्रुति में तात्पर्यतः प्रतिपादित नहीं अतः उनके बाध से श्रुति की कोई हानि नहीं। यह भी वहाँ (पृ० ७२४) कहा है कि कर्तृता में तात्पर्यरहित वाक्य का अकर्तृता में तात्पर्य वाले वाक्य से बाध होना किसी न्याय से विरुद्ध नहीं '··· इह त्वेकतरस्य तत्परतया प्रबलत्वाद्, इतरस्य चाऽतत्परत्वेन दुर्बलतया वैषम्यात्।' [यद्यपि वहाँ कर्तृत्वादि का ही प्रसंग नहीं तथापि न्यायतुल्यता से ये भी समझने उचित हैं।] विधियों का प्रयोजन भी बहिर्मुखता हटाकर अंतर्मुखता लाना है यह समझाया है 'न च विधिश्रुत्यानर्थक्यम्, बाह्यविषयात् परावृत्य चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणतासम्पादकत्वात्।' (७२७) [यहाँ भी उपलक्षणा से सभी विधियाँ समझनी चाहिये, प्रकरण तो वहाँ 'आत्मेत्येवोपासीत' विधि का है।] विस्तृत समाधान वार्तिककार प्रारंभ करते हैं –

बताते हैं कि कैसे अद्वैतागम ही तात्त्विक प्रमाण होकर अन्य प्रमाणों को निरस्त करता है। लोक से सिद्ध कर्ता आदि भेद मानकर अभ्युदयोपाय बताने के लिये कर्मकाण्ड प्रवृत्त हुए हैं, भेद की प्रमा कराने के लिये नहीं ॥९१७॥

विधियाँ साधन और भेद दोनों बतायें तो वाक्यभेद होगा अतः अवश्य वक्तव्य साधन ही वे बताती हैं जिससे अभेदवाक्यों से उनका विरोध नहीं। भेद लौकिक प्रमाणों से अवगत है इसलिये भी उसे बताना शास्त्रका कार्य नहीं। विधियाँ भेदांश में अनुवाद हैं अतः भेद में वे प्रमाण नहीं ॥९१७॥

भेद प्रत्यक्षादि से सिद्ध नहीं है यह बताने जा रहे हैं अतः शंका हो सकती है कि उसमें भी अपूर्वता – अनधिगतता – होने से शास्त्रीयता होगी; इसका समाधान करते हैं –

भेद पुरुषार्थ नहीं अतः भेदपरक होने पर शास्त्र अप्रमाण हो जायेगा। सभी वेदवादी मानते हैं कि वेद की प्रमाणता उस अनधिगत अर्थ में है जो पुरुषार्थ हो ॥९१८॥

भेद को शास्त्र ने भयहेतु कहा है 'द्वितीयाद् भयम्' यह बृहदारण्यक में (१.४.२) स्पष्ट कहा है। अतः भेद पुरुषार्थ नहीं केवल इतना ही नहीं, वह पुरुषार्थ का विरोधी भी है। अतः उसे बताने पर शास्त्रप्रामाण्य नष्ट होगा। केवल अनधिगत को प्रकाशित करना शास्त्र का कृत्य नहीं वरन् उसका बोध्य पुरुषार्थ भी होना चाहिये। 'अर्थो धर्मः' (१.१.२) से जैमिनि ने भी इसमें संमति दी है। अतः 'अर्थेऽनुपलब्धे' (१.१.५) में भी अर्थ से पुरुषार्थता छोड़ी नहीं जा सकती। कुछ वादी अतएव भेदमानको मोक्षहेतु मानकर देहादि से भिन्न आत्मा में शास्त्रतात्पर्य का वर्णन करने की कोशिश करते हैं किन्तु वह निर्वीर्य श्रम अकिंचित्कर है यह अद्वैतरत्नरक्षण में (पृ० ३-७) तथा अद्वैतसिद्धि में (पृ० ८२७) एवं अन्यत्र सुव्यक्त है। इसलिये प्रत्यक्षादि से अप्रमित भेद भी शास्त्रप्रमाण का विषय नहीं। आर्तादिश्रवण से तथा 'मृत्योः स मृत्युम्' आदि निंदार्थवाद से भी भेद की शास्त्रतः ज्ञेयता असंभव है ॥९१८॥

दो श्लोकों में वार्तिकाचार्य ने कर्मकाण्ड के विरोध का परिहार कर दिया। प्रत्यक्षादि के विरोध का अब परिहार प्रारंभ करते हैं –

वस्तुस्वरूपसंस्पर्शिचक्षुरादिभ्य उत्थितम्। भेदस्पृङ्नाक्षजाद्येवं न तेनैकात्म्यबाधनम् ॥९१९॥
प्रमेयविषयं मानं वस्तुनश्च प्रमेयता। न च भेदस्य वस्तुत्वं वस्तुतत्त्वानपेक्षणात् ॥९२०॥
लब्धे हि भूतलेऽलब्धो घटस्तत्र निषिध्यते। मानान्तरेण विज्ञातो नाज्ञातः शून्यतास्थितः ॥९२१॥

चक्षु आदि से उत्पन्न ज्ञान विषय के स्वरूप में प्रमाण होता है, उसका सम्बंध भेद से नहीं है। अतः प्रत्यक्षादि ज्ञान अद्वैत के बाधक हों यह संभव नहीं ॥९१९॥

आँख से घड़ा दीखता है, भेद नहीं अतः अभेदश्रुति का आँख से जन्य ज्ञान से विरोध ही नहीं तो बाध्यता संभव ही कहाँ? इस विषयका भी बहुत ख़ुलासा रत्नरक्षा में (पृ० ७ आदि) द्रष्टव्य है। वहाँ सारस्वत प्रतिज्ञा है 'न सा धीः क्वचिदप्यस्ति यत्र भेदोवभासते। अतएव प्रमाणत्वमद्वैतेऽव्याहतं श्रुतेः॥'

शास्त्रप्रकाशिका में विकल्प उठाये हैं : १) प्रत्यक्ष क्या केवल विधायक है? अर्थात् स्वविषयावेदनमात्र में गतार्थ है? इस पक्ष में भेद प्रत्यक्षसिद्ध नहीं यह इसी श्लोक में कह दिया। २) या प्रत्यक्ष केवल निषेधक है? अर्थात् जैसे अपोहवादी शब्द को अतद्व्यावर्तक ही मानता है वैसे प्रत्यक्ष स्वविषय से अन्यके अभाव में ही प्रमाण है, स्वविषय में नहीं? इसका उत्तर श्लोक ९२१ से प्रारंभ करेंगे। ३) अथवा विधि व निषेध दोनों ही प्रत्यक्ष के व्यापार हैं? अर्थात् प्रत्यक्ष दोनों ही कर लेता है। इसका उत्तर श्लोक ९४९ से शुरु होगा।

'स्वविषयशूराणि प्रमाणानि' यह सिद्धान्त बता चुके (श्लो० २४५) हैं अतः यदि प्रत्यक्षादि को घटादिविषयक माने तो वे भेदमें प्रमाण नहीं यह स्पष्ट है ॥९१९॥

घटादिकी तरह भेदग्रहण प्रत्यक्ष से क्यों नहीं हो सकता? बताते हैं –

प्रमाण विषय करता है प्रमेय को और प्रमेय वही होता है जो वस्तु हो। किन्तु भेद वस्तु है नहीं क्योंकि वस्तु का स्वरूप होता है निरपेक्ष जबकि भेद का स्वरूप है सापेक्ष ॥९२०॥

घटवस्तु किसी की अपेक्षा नहीं रखती जबकि भेद को 'किसका' 'किसमें' यों अनुयोगी व प्रतियोगी की अपेक्षा से ही समझा जाता है। भेदमात्र कभी नहीं भासता। भेदविषयक निर्विकल्पक अप्रसिद्ध है। इसलिये नियमतः सापेक्ष ही भासने वाला भेद वैसे ही मिथ्या है जैसे रज्जु के सामान्यांशकी अपेक्षा से ही भासने वाला सर्प। अथवा मिथ्या सर्प से निरूपित भेद भी मिथ्या ही हो सकता है अतः सर्पभेद को दृष्टांत समझना चाहिये : सभी भेद मिथ्या हैं जैसे सर्पभेद। विद्यासागर ने अतः शशांकभेद को उदाहरण बनाया है; चंद्र एक ही है अतः दो चंद्र भ्रम से ही प्रतीत हो सकते हैं, उनमें जो परस्पर भेद दीखता है वह अवश्य कल्पित है; इसलिये यह व्याप्ति निर्णीत होती है कि सभी भेद कल्पित हैं। अथवा रज्जुसर्प द्रष्टृसापेक्ष होता है – ज्ञातैकसत् होता है, भ्रान्त के संस्कारादिकी अपेक्षा से ही होता है, अतः युगपत् एक को साँप व दूसरे को माला दीखती है – इसलिये सापेक्ष मिथ्या होता है यह निर्णय हो जाता है। भेद भी सापेक्ष है ही; अनुयोगी आदि के सापेक्ष तो है ही, द्रष्टा के भी सापेक्ष है, अतएव कौन वस्तु कब किससे भिन्न दीखेगी यह निर्णीत नहीं, द्रष्टा को जो प्रतियोगी उपस्थित होगा उसीसे भिन्नता दीखने लगेगी। अतएव कोमल और शुद्ध ऋषभ का भेद सबको सुनायी नहीं देता, केवल जानकारों को ही देता है।

इस प्रकार वस्तु की जो तात्त्विकता है या उसका जो अव्यभिचारी धर्म है निरपेक्षता, उससे वंचित भेद वस्तु न होने से प्रमेय नहीं हो सकता। 'सापेक्षत्वात् सावधेश्च' इत्यादि से (पृ० २८५) चित्सुखी में यह विषय व्यक्ततर है ॥९२०॥

प्रत्यक्ष केवल निषेधक है यह जो श्लोक ९१९ में विकल्प उठाया था उस पर कहते हैं –

भूतलादि का ज्ञान होने पर ही वहाँ न मिलने वाले घटादि का निषेध किया जाता है जो घटादि अन्य प्रमाण से ज्ञात हो, सर्वथा अज्ञात का निषेध नहीं होता अन्यथा शून्यता की सिद्धि होगी ॥९२१॥

व्यञ्जकस्य समायोगो वस्तुनो वस्तुनैव हि। नाभावेन निरात्मत्वाद्व्यावृत्त्या वा मितेर्भवेत् ॥९२२॥
नातो वस्तुनि संभेदो वस्तु नोऽभेदरूपतः। न प्रमाणाद्बहिर्वस्तु न मानं वस्तुनो बहिः ॥९२३॥

अनुयोगी की जानकारी हो तभी भेद या संसर्गाभाव का पता चलता है, कथन हो सकता है। जिसका अभाव कहना है, जानना है, वह अन्य प्रमाण से पता होना चाहिये क्योंकि यदि घट प्रत्यक्ष कभी न हो तो किसी भी प्रत्यक्ष से यह नहीं पता चलेगा कि घट नहीं है। अतः अभावग्राहक प्रत्यक्ष से अन्य किसी प्रत्यक्ष का वह अवश्य विषय होगा। अभावग्राहक का ही वह विषय हो यह तो संभव नहीं है क्योंकि तब अभावग्रहण नहीं होगा। जब प्रत्यक्ष केवल निषेधक होगा तब घट का विधायक कोई प्रत्यक्ष नहीं मिलेगा अतः उसका प्रत्यक्ष से निषेध भी नहीं हो पायेगा। अयोग्य का निषेध मानने पर तो उक्त प्रक्रिया में सभी कुछ प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से सभी का निषेध होकर अभावमात्र बचेगा तथा वह इसलिये उचित नहीं कि अभाव हमेशा अनुयोगी भाव में मिलता है। अतः प्रत्यक्ष निषेधक ही हो यह ठीक नहीं ॥९२१॥

यह भी विचारणीय है कि संसर्गाभाव निषेध है या भेद। अभाव को प्रत्यक्ष विषय करे यह संभव नहीं और भेद भी उससे गम्य नहीं होता –

विषय को अभिव्यक्त करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण वस्तु है अतः उसका सम्बन्ध वस्तु से ही होता है, अवस्तुरूप अभाव से नहीं क्योंकि वह स्वभावरहित होने से वस्तुसम्बंध का आधार हो नहीं सकता। व्यावृत्ति कहाने वाला भेद भी वस्तु न होने से ही प्रत्यक्ष प्रमाण से संबद्ध नहीं होता ॥९२२॥

प्रत्यक्ष से असम्बद्ध को प्रत्यक्ष से ज्ञेय मानना असंभव है अतः प्रत्यक्ष के सम्बंध की योग्यता अभाव व भेद में माननी पड़ेगी। योग्यता भावभूत धर्म है, वह अभाव में हो ही नहीं सकती। प्रत्यक्षका संबंध भी भावरूप है अतः उसका आधार अभाव बनेगा नहीं। अभाव को माना ही ऐसा जाता है कि उसका कोई भावभूत धर्म या स्वरूप नहीं है। भेद भी अभावविशेष ही है अतः वह भी इसी तरह प्रत्यक्ष के अयोग्य है ॥९२२॥

इसलिये अद्वैत ही सिद्ध होता है –

भेद व अभाव क्योंकि वस्तु नहीं हैं इसलिये वस्तु से उनका कोई सम्पर्क नहीं। फलतः हमारे मतानुसार अभेदरूप अर्थात् अद्वय वस्तु ही सिद्ध होती है। अद्वैतसाधक प्रमाण से अद्वैतवस्तु और उस वस्तु से वह प्रमाण – ये भी वास्तव में अलग नहीं हैं ॥९२३॥

'वस्तु नः अभेदरूपतः' यह द्वितीयपाद में पदच्छेद है। तसिल् प्रथमा के अर्थ में है। अथवा 'वस्तुनः' को एकपद मानें तो अभिप्राय है कि वस्तुमें अभेद तो स्वारसिक होता है, निरपेक्ष होता है अतः भेद में ही प्रमाण चाहिये एवं वह जब नहीं मिला तो अद्वैत ही निश्चित होगा। भेद व अभाव का यदि वस्तु से संबंध हो तो 'एक घड़ा' या 'घड़ा अकेला है' ये अनुभव नहीं होने चाहिये, जैसे पानी समेत, ढक्कन समेत आदि प्रतीति होती है ऐसे भेद-अभाव समेत प्रतीति होनी चाहिये जो होती नहीं क्योंकि भेदादि का अनुभव प्रतियोगिसापेक्ष होता है।

प्रश्न होगा कि अद्वय वस्तु भी प्रामाणिक है तो उस वस्तु व उसके प्रमाण में तो भेद रहेगा अतः वह सर्वथा निर्भेद कैसे? उत्तर है कि उनका भेद व्यावहारिक ही है, वास्तविक नहीं कि वस्तु में सच्ची सभेदता आये। प्रमाण से अलग वस्तु इसलिये नहीं कि वस्तु का अवच्छेदक होते हुए ही प्रमाण में प्रमाणभाव होता है और वस्तु से प्रमाण इसलिये अलग नहीं है कि वह उसी में कल्पित है। प्रतिबिम्ब मुख में प्रमाण है जबकि मुखसे अगल नहीं है अतः प्रमाणप्रमेयभाव वास्तविक भेद से व्याप्त नहीं है ॥९२३॥

भेद का खण्डन और स्पष्ट करते हैं: १) भेद के प्रतियोगी-अनुयोगी दोनों क्या अभाव ही होते हैं? २) या भाव और अभाव होते हैं? ३) या दोनों ही भाव होते हैं? तीनों ही असंगत हैं –

नाभावयोर्मिथो योगोऽवस्तुत्वाभेदतस्तयोः। अभावभावयोस्तद्वद्भावरूपेषु का भिदा ॥९२४॥
अनित्यत्वस्य धर्मस्य घटादेर्धर्मिणस्तयोः। संयोगः समवायो वा तादात्म्यं वेह संगतिः ॥९२५॥
आधाराधेययोगेषु घटोऽत्रेति यथा मतिः। नाभावभावयोगेषु मितेर्धीः कस्यचित्तथा ॥९२६॥

अभावों का आपस में भेद हो नहीं सकता क्योंकि उनकी अवस्तुरूपता समान है। इसी तरह भाव और अभाव में परस्पर भेद संभव नहीं क्योंकि अभाव किसी का आधार नहीं होता तो भेद का ही कैसे होगा? भावरूप वस्तुओं में भी भेदहेतु न होने से भेद नहीं है ॥९२४॥

श्लोक में 'योग' शब्द का अर्थ भेद समझना चाहिये। योग कहते हैं संबंध को, भेद का संबंध होता है अतः संबंध से भेद की लक्षणा है। या अभावात्मक निरोध योग कहाता है अतः अभावात्मक भेद उससे लक्षित है। अथवा योग का मतलब है संगतता और 'भेदस्य' यह प्रकरणानुसार अध्याहार्य है। घटाभाव व पटाभाव में परस्पर भेद क्या मान सकते हैं? घट-पट के ही भेद को कहना पड़ेगा क्योंकि निःस्वरूप अभाव अलग-अलग रहे इसमें कोई हेतु नहीं। एक ही अभाव का घट, पट आदि से निरूपण करते हैं तो घटाभाव, पटाभाव आदि पृथक् अनुभव हो जाते हैं। जैसे विषयभेद से ही ज्ञानभेद का व्यवहार है, स्वयं ज्ञान में भेद नहीं, ऐसे प्रतियोगि भेद से ही अभावभेद का व्यवहार है, स्वयं अभाव में भेद अप्रामाणिक और व्यर्थ है। जब अभाव में भेद रहता नहीं तब भाव-अभाव में परस्पर भेद भी कहना बनेगा नहीं। यदि भावों में ही परस्पर भेद माना जाये तो उनका भेदक कौन होगा? भावता को भेदक कह नहीं सकते क्योंकि प्रतियोगी भी भाव ही होने से अनुयोगी से अभेद हो जायेगा। तात्पर्य है कि दोनों भाववस्तु हों तो उन्हे भावरूप से परस्पर भिन्न नहीं कह सकते जैसे घटों को घटरूप से परस्पर भिन्न नहीं कह सकते। अभावता को भी भेदक कहना संभव नहीं। एक तो भावों में अभावता रहती नहीं कि उससे भावों का भेद कहा जा सके, जैसे गोत्व को दो वस्त्रों का भेदक नहीं कहा जा सकता; और अभावता भी अवस्तु होने से जिसमें रहेगी उसे अवस्तु बना देगी तो उससे भिन्न जो भाव वस्तु है वही अद्वितीय बनी रहेगी, भेद सिद्ध नहीं हो पायेगा। यद्यपि भावत्वके व्याप्य घटत्वादि को भेदक कह सकते हैं तथापि वे घटत्वादि भी परस्पर भिन्न मानने पड़ेंगे अतः अनवस्थादि होंगे। इस प्रकार भेद के प्रतियोगि-अनुयोगी का निरूपण असंभव होने से भेद असिद्ध है। प्रतियोगित्वादि भी निर्वचनीय नहीं हैं यह चित्सुखी में (पृ० २९३ आदि) दर्शनीय है ॥९२४॥

भेदका मुखतः खण्डन करने से अर्थतः अभाव भी खण्डित हो गया, अब मुखतः अभाव के खण्डन से अर्थतः भेद का खण्डन करते हैं -

अभावरूप धर्म और घटादिरूप धर्मी - इनका परस्पर लोकसिद्ध सम्बन्ध क्या संयोग है, या समवाय है, या तादात्म्य है? ॥९२५॥

श्लोक में अनित्यत्वशब्द आया है जिसका अर्थ है अभाव। 'घड़े में पानी नहीं है' इत्यादि रूप से अभाव का आधेयतया अनुभव होने से वह धर्म है और अनुयोगी धर्मी है। इनका आपसी संबंध न हो तब भाववस्तु को अनादि-अनंत तथा अभावको स्वतंत्र अर्थात् अ-धर्मभूत पदार्थ मानना पड़ेगा जो न अनुभव से व न किसी मत से सिद्ध है। अतः संबंध बताना पड़ेगा। वह संयोगादि में से ही कोई हो सकता है क्योंकि व्यवहार में इनसे अन्य कोई संबंध मिलता नहीं। विशेषणता को संबंध मानने की कल्पना संगत हो तो अनुमेय स्थल में भी योग्य साध्य होने पर प्रत्यक्ष ही हो जायेगा इत्यादि-अनेक अतिप्रसंग होंगे ॥९२५॥

भावाभाव के ये तीनों संबंध मान सकते नहीं क्योंकि जहाँ ये होते हैं वहाँ प्रमित होते हैं जबकि भावाभावस्थल में नहीं होते -

भूतलादि से घटादि के संयोगादि संबंध होने पर 'यहाँ घड़ा है' इत्यादि जैसी प्रमा होती है वैसे अभाव व भाव के संबंधों का ज्ञान किसी प्रमाण से किसी व्यक्ति को होता नहीं ॥९२६॥

नहि भावातिरेकेण भावाभावः प्रमाणभाक्। भावात्मनाऽप्यतोऽभावो व्यवहाराय कल्पते ॥९२७॥
अथाभावोऽपि वस्त्वेव नास्तीति मितिजन्मतः। द्वयोर्भावैकरूपत्वात्काऽतिशीतिर्मितेस्तयोः ॥९२८॥
विश्वं सदेव यस्येष्टं तस्याभावः कुतो मितेः। न च भावातिरेकेण भाववत्सिद्धिमश्नुते ॥९२९॥

यदि संबंध प्रमेय होते तो वादिवैमत्य न होता। बल्कि लोक में पूछें कि 'भूतल पर क्या नहीं है?' तो दुनिया-भर की चीज़ें गिनायी जायेंगी लेकिन आगे पूछें 'उन चीज़ों का 'न होना' किस संबंध से है?' तो कोई जवाब नहीं मिलेगा। इसलिये निश्चित है कि इनका संबंध केवल वादिकल्पित है और अतएव सम्बंधिभूत अभाव भी कल्पित ही है। विद्यासागर यहाँ केवल भावाभाव के संयोग का खण्डन बताते हैं, ९३१ में पुनः संयोगखण्डन कहते हैं, ९३० व ९३२ में इनके समवाय का एवं ९३४ आदि में इनके तादात्म्य का खण्डन है ऐसा समझाते हैं ॥९२६॥

और भी कारण है कि भाव-अभाव के संयोगादि संबंध संभव नहीं : अभाव को भाव से भिन्न मानो चाहे अभिन्न, अभाव सिद्ध होता नहीं कि आगे उसके संबंध की संभावना हो –

भाव से भिन्न हुआ भावका अभाव प्रामाणिक नहीं तथा भावात्मक भी अभाव प्रमाणसिद्ध नहीं। अतः अभाव व्यवहार चलाने मात्र के योग्य है, वास्तविक नहीं है ॥९२७॥

भेद भी एक अभाव है; 'घटसे अभाव भिन्न है' में एक अभाव हुआ और एक भेदशब्दित अभावाभाव। वह पुनः भाव से भिन्न होगा; इस प्रकार अनवस्था होगी। इस अनवस्था से प्रथम भेद ही असिद्ध हो जाता है। यदि इसीलिये अभाव को भावात्मक मानें तो भी प्रमाणविरोध है ही : घटाभाव को कौन सा भाव मानें? घटरूप तो मान सकते नहीं और अनुयोगी अनंत हैं, उन सबका स्वरूप मानना भी संभव नहीं, अन्यथा घटाभाव जहाँ होगा वहाँ वे सभी मौजूद मानने पड़ेंगे! अतः अभाव को केवल कामचलाऊ कह सकते हैं, सत्य नहीं कि शास्त्रसिद्ध अद्वैत का विरोधी हो। तात्पर्य हुआ कि अभावका यदि भाव में अंतर्भाव किया तो अभाव को तिलांजलि देनी पड़ेगी, एकमात्र भाव ही रह जायेगा, और यदि भाव का अभावमें अन्तर्भाव किया तो अकेले अभाव का साम्राज्य रहेगा भाव की सत्यता की आशा छोड़नी पड़ेगी। भिन्न न होने से भेदघटित संयोगादि इनमें परस्पर संबंध संभव नहीं और अभिन्न भी न होने से तादात्म्यादि भी संभव नहीं, यह अभिप्राय है ॥९२७॥

अनुभव के आधार पर भी अभाव की वास्तविकता संभव नहीं –

यदि कहो कि योग्यानुपलब्धिरूप प्रमाण से 'नहीं है' यह प्रमा उत्पन्न होती है तो अभाव भी वास्तविक ही क्यों न हो? तो उत्तर है कि भाव का रूप जो वस्तुता वह यदि भाव-अभाव दोनों में रहे तो वस्तुरूप से दोनों एक ही हो जायेंगे जिससे दोनों को विषय करने वाले प्रमाणों में कोई फ़र्क न रहने से भावविलक्षण अभाव सिद्ध ही नहीं होगा ॥९२८॥

अनुपलब्धि अभाव को विषय करे लेकिन उसकी वास्तविकता या भावविलक्षणता को सिद्ध नहीं करती। यदि अभाव की वस्तुता हो तो जैसे घटरूप से सब घट एक ही हैं ऐसे भाव-अभाव भी हो जायेंगे अतः वस्तुत्वेन उनमें अंतर अनुपलब्धि से भी सिद्ध होगा नहीं। जब भाव-अभाव दो चीज़ें नहीं हैं तब इनके सम्बन्ध की चर्चा ही व्यर्थ हो जायेगी, यह तात्पर्य है ॥९२८॥

अभाव को सद्रूप या असद्रूप मानना भी संगत नहीं –

जो माने कि अभावसमेत सभी कुछ सत् ही है वह सत्-से इतर किसी अभाव की प्रमा तो मानेगा नहीं (अतः अद्वितीय सत् ही सिद्ध होगा)। यदि अभाव असत् हो तो भी जैसे भाव भाव से अतिरिक्त नहीं सिद्ध होता ऐसे अभाव भी नहीं होगा ॥९२९॥

अभावयोगं भावश्चेत्सहते नीलयोगवत् अविरोधादभावेन न भावापह्नुतिर्भवेत् ॥९३०॥
योगोऽयं वस्तुनोर्दृष्टः पृथक्सिद्धौ परस्परम्। मेषयोर्मल्लयोर्यद्वन्न भावाभावयोस्तथा ॥९३१॥
न योगोऽभावयोर्दृष्टो वन्ध्यासूनुखपुष्पयोः। न भावाभावयोरेवं विरोधादितरेतरम् ॥९३२॥

भाव का भाव से भेद करने वाला नहीं यह ९२४ में कह चुके हैं, अतः भाव को भावसे अन्यत्वेन सिद्ध नहीं मानते। असद् अभाव की भी भाव से अतिरिक्तरूप से सिद्धि इसीलिये संभव नहीं कि भेद करे कौन? असत् से किसी का संबंध संभव नहीं और संबंध हुए बिना भेद किया नहीं जा सकता। किं च असत् की 'विकल्प'-रूप प्रतीति होने पर भी प्रमाण से प्रतीति होती नहीं अतः असद्रूप होगा तो अभाव भी अप्रामाणिक ही होने से अद्वितीय सन्मात्र ही वस्तु रहेगा। जब भाव से अन्य अभाव प्रामाणिक नहीं तो भाव-अभाव के संबंध का विचार नहीं किया जा सकता।

'जो माने' अर्थात् अभाव को सत् मानने वाले नैयायिकादि सभी। इसलिये सद् मानने पर सदद्वैत ही है और असत् प्रामाणिक न होने से अभाव को असत् मानने पर वेदान्ती का कोई अनिष्ट नहीं ॥९२९॥

संयोगादि संबंधों की असंगति में अन्य भी कारण है –

भाव पदार्थ जैसे नील-संबंध सह लेता है ऐसे यदि अभाव-संबंध भी सह ले तो भाव का अभाव से कोई विरोध नहीं रहने से भाव की निवृत्ति कभी नहीं हो पायेगी ॥९३०॥

भाव-अभाव का विरोध है अर्थात् दोनों साथ नहीं रह पाते, घट है तो घटाभाव नहीं, घटाभाव है तो घट नहीं। यदि भाव से अभाव का कोई भी संबंध हो सके तो इनका यह विरोध मिट जायेगा और तब घटाभाव के साथ ही घट भी होने लगेगा अर्थात् अनादि-अनंत घट मानना पड़ेगा! यह कोई स्वीकारता नहीं। यद्यपि लोक में निवर्त्य-निवर्तक का संबंध देखा गया है जैसे दुश्मन भिड़ते हैं अर्थात् उनका संयोग होता है तथापि वह संबंध भावों में ही देखा गया है, दोनों दुश्मन भाववस्तु ही हैं। भाव-अभाव का तो क्षणमात्र भी सह-अवस्थान नहीं माना जाता। दृष्टान्तानुरोध से विद्यासागर केवल समवाय मानने में दोष दिया जा रहा है यह कहते हैं लेकिन युक्तिसाम्य होने से शास्त्रप्रकाशिकाकार तीनों ही सम्बंधों में दोष है यह तात्पर्य बताते हैं। यहाँ यह प्रयोग अभिप्रेत है : सम्बन्धो, न भावाभावनिष्ठः, अविरुद्धनिष्ठत्वात्, नीलोत्पलसंबंधवत्। विपक्ष में बाधक तर्क है सहावस्थानप्रसंग ॥९३०॥

असम्बंध में अन्य युक्ति है –

वस्तुओं की भेदेन सिद्धि होने पर ही उनका परस्पर संबंध देखा जाता है जैसे दो मेढों का, या पहलवानों का; भाव-अभाव यों भेदेन सिद्ध नहीं तो इनका संबंध कैसे सिद्ध हो? ॥९३१॥

तात्पर्य है कि इसी युक्ति से घट-घटत्व के समवायनामक संबंध की वास्तविकता का निरास हो जाता है। विद्यासागर इस श्लोक को केवल संयोग के निरास में गतार्थ मानते हैं। 'भेदेन सिद्धि' का मतलब है अन्योन्य-निरपेक्ष सिद्धि अतः घटदेश में घट की तथा अन्यत्र तदभाव की सिद्धि होने पर भी अभाव की घटनिरपेक्ष सिद्धि न होने से विवक्षित 'भेदेन सिद्धि' की प्राप्ति नहीं है। यहाँ भी पूर्ववत् प्रयोग है: सम्बन्धो, न भावाभावनिष्ठो, भिन्ननिष्ठत्वाद्, मेषयोरिव; तथा विपक्ष में अभाव की भावनिरपेक्षतापत्ति बाधक तर्क है ॥९३१॥

अभाव किसी सम्बंध का आधार नहीं होता जैसे वन्ध्यापुत्र किसी का बेटा, भाई, बाप आदि नहीं होता यह कहते हैं –

अभावों का सम्बंध कहीं देखा नहीं गया जैसे वंध्यासुत कभी आकाशपुष्प से अलंकृत नहीं देखा जाता! इसी तरह भाव-अभाव आपस में संबद्ध नहीं देखे गये क्योंकि उनका परस्पर विरोध है ॥९३२॥

पहले भाव-अभाव के संबंध में यह दोष दिया था कि अभाव को भावरूप संबंध का आधार नहीं कह सकते और

क्षितिदेशे घटाभावो घटवन्न प्रमीयते। योगो वा समवायो वा नाभावक्षितिदेशयोः ॥९३३॥
सदात्मतैवं सर्वस्य नाभावात्मकता सतः ॥९३४॥
अप्यभावात्मकत्वेऽपि सतोऽभावात्मकत्वतः । कुतो भेदावकाशः स्याद्भेदेऽसति कुतो युतिः ॥९३५॥
यावत्किंचिज्जगत्यस्मिन्भेदकं वस्तु लक्ष्यते। अनापन्नादिमध्यान्तं सदेव तदितीष्यते ॥९३६॥

अब कह रहे हैं कि संबंध अभावनिष्ठ होता ही नहीं। इसी तरह भाव का अभाव से संबंध एवं अभाव का भाव से संबंध कहीं देखा नहीं जाता यह बता रहे हैं अर्थात् भावों का परस्पर संबंध मान लें तो भी भाव-अभाव का संबंध सिद्ध नहीं होगा ॥९३२॥

श्लोक ९२६ को ही स्पष्ट करते हैं –

भूतलादि पर घट की तरह घटाभाव की प्रमा नहीं होती। अभाव और भूतलादि का संयोग, तादात्म्य या समवाय कोई संबंध है नहीं ॥९३३॥

अभाव का जब भूतलादि से संबंध नहीं तो भूतल पर उसके होने की प्रमा होगी कैसे? अभाव से प्रमाण का सम्बंध चाहिये, वह नहीं मिलेगा। संयुक्तविशेषणता आदि को प्रत्यक्षहेतु मानने पर तो पर्वत पर वह्नि भी दीखने लगेगी! विद्यासागरी में यह अर्थ कहा है कि जैसे अनुपलब्धिवश घटाभावका निश्चय होता है ऐसे क्योंकि अभावसंबंध अनुपलब्ध है इसलिये निश्चय हो जाता है कि अभावसंबंध होता ही नहीं।

अभाव का ऐन्द्रियप्रत्यक्ष इसलिये संभव नहीं कि इंद्रियों से अभाव का संपर्क नहीं हो सकता, मन बाह्य विषय में इंद्रियाधीन है अतः मानसप्रत्यक्ष संभव नहीं तथा नित्य अप्रत्यक्ष से व्याप्तिग्रह का उपाय न होने से अभाव अनुमेय भी है नहीं अतः उसका संबंध भी अप्रामाणिक ही है ॥९३३॥

भाव-अभाव का तादात्म्य तो और भी असंगत है : तादात्म्य मानो तो अभाव का भाव में या भाव का अभाव में अंतर्भाव होगा तथा दोनों ठीक नहीं –

अभाव का भाव में अन्तर्भाव हो तो सभी कुछ सद्रूप (= भावरूप) ही होगा (जो वादी को इष्ट नहीं)। भाव का अभाव में अन्तर्भाव इसलिये नहीं कि दोनों का विरोध है ॥९३४॥

अभाव को भावविशेष मानें तो जैसे घड़ा मिट्टी से अत्यंत अलग नहीं ऐसे अभाव भी सद्वस्तु से अत्यन्त अलग न होने से वेदान्ती के अनुकूल होगा, पूर्ववादी को अनिष्ट होगा। भाव को अभावविशेष नहीं कह सकते क्योंकि तब भाव से अभाव निवृत्त नहीं होगा, घट मौजूद रहते भी घटाभाव ही बना रहेगा! यह तार्किक अपनी प्रक्रिया में भले ही मानता रहे, अनुभवादि के प्रतिकूल ही है। आनंदपूर्ण ने कहा है कि यदि अभाव का भाव से अभेद मानो तब भेदवाद छोड़ना पड़ेगा और अगर भाव का अभाव से अभेद मानो तो अनुयोगि-प्रतियोगी की सिद्धि न होने से अभाव ही सिद्ध नहीं होगा ॥९३४॥

भाव का अभाव में अंतर्भाव मान लें तो भी सदोषता ही है –

विरोध होने पर भी यदि भाव की अभावरूपता मान लें तो भी क्योंकि केवल एक अभावमात्र ही बचेगा इसलिये भाव-अभाव का भेद नहीं रहेगा और भेद के बिना कोई भी संबंध कैसे हो सकता है? ॥९३५॥

अतः भाव का अभाव में अंतर्भाव मानना व्यर्थ है ॥९३५॥

शंका होती है कि जैसे भावभूत भूतलादि व घटादि धर्मि-प्रतियोगियों का परस्पर सम्बंध होता है ऐसे भाव-अभाव का क्यों न हो? इसका समाधान करते हैं –

इस संसार में जो कोई भी भेदक वस्तु दीखती है वह सब आदि-मध्य-अन्त से रहित सन्मात्र ही हमें स्वीकृत है ॥९३६॥

सदेवेदमिति स्पष्टं सन्मूला इति चापरम्। श्रुत्योदाहारि नः साक्षात्सदैकात्म्यावबुद्धये ॥९३७॥
मानाभावस्य मानत्वं मेयाभावस्य मेयता। न्यायं न सहतेऽतीव यथा तदधुनोच्यते ॥९३८॥
बोधकं यदबुद्धस्य तन्मानमिति हि स्थितिः। न च प्रमाणतास्तित्वमीदृक्तस्मान्न युज्यते ॥९३९॥

तात्पर्य है कि भावभूत पदार्थ भी वास्तव में विभिन्न हैं यह हमें स्वीकार्य न होने से दृष्टान्त असिद्ध है। प्रतीयमान संबंध उथयत्र स्वीकार्य है। विद्यासागर ने स्पष्ट किया है कि भेदक से अनुयोगी व प्रतियोगी विवक्षित हैं। अतः जहाँ दोनों भावरूप होते हैं जैसे भूतल और घट वहाँ भी उनका वास्तविक भेद अतः वास्तविक संबंध नहीं है तो भाव-अभाव का वास्तविक संबंध हो इसकी संभावना ही कहाँ? ॥९३६॥

सभी कुछ सन्मात्र है इसमें प्रमाण देते हैं –

हमें सत् की एकात्मता समझाने के लिये श्रुति ने स्पष्ट कहा 'यह सत् ही है' तथा 'सब का मूल सत् है' से अर्थतः भी इस बात को व्यक्त किया ॥९३७॥

छांदोग्य (६.२.१) में कहा 'हे सौम्य! जो यह सब कुछ है, यह पहले केवल सत् ही था' एवं यह भी बताया (६.८.४) 'हे सौम्य! इन सारी प्रजाओं का मूल सत् है, सत् इनका आयतन (= अवसानभूमि) है व सत् में ये प्रतिष्ठित हैं।' इन श्रुतियों से सबकी सन्मात्रता निश्चित है। आनंदगिरि स्वामी 'सदेवेदमग्र आसीत्' में भूतकाल अविवक्षित मानकर इदं की सद्रूपता में उसे श्रुतिप्रमाण कहते हैं क्योंकि सद्-इदम् का सामानाधिकरण्य श्रुत है। दूसरे वाक्य से वे श्रुतार्थापत्ति सूचित माते हैं : सन्मूलतादि की अन्यथाऽनुपपत्ति से सन्मात्रता सिद्ध होती है। इसी तरह सद्-अनुवेध से सद्रूपता का अनुमान भी समझ लेना चाहिये : इदं, सन्मात्रं, तदभेदेनोपलंभात्, मृदभेदेनोपलब्धघटवत्; विपक्ष में सत् से तादात्म्य की – घटः सन् आदि अनुभव की – अनुपपत्ति बाधक तर्क है ॥९३७॥

अब तक मुख्यतः तार्किक से विचार चला जो अभाव का प्रत्यक्ष मानता है। उसकी रीति से अभाव सिद्ध नहीं होता तथा उसका किसी भावपदार्थ से संबंध संभव नहीं यह स्पष्ट किया। भाट्ट आदि अभाव को योग्यानुपलब्धि नामक छठे प्रमाण से गम्य मानते हैं। उनका मत भी असंगत है –

अब यह समझाते हैं कि प्रमाणाभाव को प्रमाण मानना तथा प्रमेयाभाव को प्रमेय मानना युक्ति से अत्यंत विरुद्ध है ॥९३८॥

इस विचार का सार में (पृ० ४२६) भी संग्रह है ॥९३८॥

प्रमाणाभाव में प्रमाण का लक्षण हो नहीं सकता यह स्पष्ट करने के लिये प्रमाण का लक्षण याद दिलाते हुए कहते हैं –

यह विचारसिद्ध है कि अज्ञात का जो ज्ञान कराये वही प्रमाण होता है। अभावों में प्रमाणता की विद्यमानता है नहीं अतः ऐसा मत अयुक्त है ॥९३९॥

प्रमेयाभाव असत् होने से अज्ञात नहीं तो उसका बोधक प्रमाणाभाव भी कैसे होगा? अभाव को प्रमेय या प्रमाण मानना संगत नहीं। विद्यारण्यस्वामी भाट्टों को कहते हैं कि जब उपलब्ध्यभाव को प्रमाण और घटाद्यभाव को प्रमेय मान रहे हो तो वन्ध्यापुत्र को प्रमाता भी मान लो! 'निरस्तसर्वसामर्थ्याद् यद्यभावप्रमाणता। वन्धयापुत्रः प्रमाता स्यात् समत्वाद् मातृमानयोः॥' (सार० पृ० ४२७)॥ यद्यपि वेदान्ती भी छह प्रमाण मानता है तथापि श्रुति से अन्यों को वह अतत्त्वावेदक ही मानता है अतः उसके अनुसार अभाव कोई सच्ची चीज़ नहीं कि द्वैत प्रसक्त हो ॥९३९॥

किं च यह तो मान नहीं सकते कि प्रमाणाभाव (प्रमाणपंचकाभाव या भावप्रमाणाभाव) अप्रमित रहता हुआ ही प्रमेयाभाव का ज्ञान करा देता है क्योंकि तब सभा से देवदत्त निकल जाने पर यह संदेह नहीं होना चाहिये कि अब देवदत्त

मेयाभावः प्रमाणानां यद्यभावेन गम्यते। प्रमाणानामभावस्य गमकः को भविष्यति ॥९४०॥
नाक्षादिपञ्चकं तस्य बोधकं सत्समन्वयात्। नयतस्तदभावो वा मेयत्वेनैव तत्स्थितेः ॥९४१॥
नीलादिवदभावस्य यद्यक्षादिविशेषणम्। विशेषणेन तद्व्याप्तेस्तदभावः कुतो मितेः ॥९४२॥

सभा में है या नहीं; बल्कि नहीं है – ऐसा निश्चय ही होना चाहिये। संदेह होता है, अतः उक्त बात अमान्य है। यदि प्रमित प्रमाणाभाव को बोधक मानें तो भी ठीक नहीं –

प्रमाणों के प्रमित अभाव से अगर प्रमेयाभाव ज्ञेय है तो प्रमाणों के अभाव का बोधक कौन होगा? ॥९४०॥

'कौन' अर्थात् प्रत्यक्षादि पाँचों में कोई होगा या उनका अभाव होगा, क्योंकि अनुपलब्धि-वादी छह ही प्रमाण मानता है तो प्रमाणाभाव की प्रमिति भी इन्ही के सहारे बतानी पड़ेगी ॥९४०॥

प्रमाणाभाव अर्थात् अनुपलब्धि में कोई प्रमाण संभव नहीं –

प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण तो प्रमाणाभावके बोधक हैं नहीं क्योंकि उनका संबंध सिर्फ भाव से होता है। उन पाँचों का अभाव भी प्रमाणाभावका बोधक हो यह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि वह तो प्रमेय है (और प्रमाण व प्रमेय विभिन्न होने चाहिये यह तुम्हे मान्य है) ॥९४१॥

एक अनुपलब्धि को अन्य अनुपलब्धि से विषय करें तो अनवस्था स्पष्ट है। सार में (पृ० ४२८) बताया है कि प्रमाणाभाव यदि आत्मा की निश्चल स्थिति है यह मानो तब तो हमें इष्ट परमात्माका ही नाम तुमने 'प्रमाणाभाव' रख दिया और उससे अभिन्न जब प्रमाणाभाव को कह रहे हो तो प्रमेयाभाव भी उससे अभिन्न समझ लो अतः अभाव को और भेद को ब्रह्म से द्वितीय मानने का भ्रम मिटा लो। इससे अन्य यदि प्रमाणाभाव कहो तो बनता नहीं। अभावबुद्धि तो विकल्पवृत्ति ही है। विद्यासागर ने 'न यतः' पदच्छेद माना है ॥९४१॥

यह भी विचारणीय है कि प्रमाणाभाव का कोई विशेषण है या नहीं? अगर है तो क्या प्रमाण उसके विशेषण हैं या प्रमेय? 'विशेषण नहीं है' का विचार ९४३ में और 'प्रमेय विशेषण है' का विचार ९४४ में करेंगे। 'प्रमाण विशेषण है' इस पक्ष का पहले विचार करते हैं –

जैसे नीलादि पुष्पादि के विशेषण होते हैं ऐसे यदि प्रमाण को अभाव का विशेषण कहो तो ठीक नहीं क्योंकि नियम है कि विशेषण से विशेष्यका सम्बंध रहा ही करता है और भाव-अभाव के संबंध का खण्डन कर चुके हैं। अतः प्रमाण से विशिष्ट अभाव कैसे होगा? ॥९४२॥

प्रत्यक्षादि से विशिष्ट होने पर प्रमाणाभावरूप अनुपलब्धि प्रत्यक्षादिका विषय नहीं बन पायेगी क्योंकि विशेषण यदि स्वविशिष्ट को विषय करे तो अंशतः स्व को ही विषय करने की स्थिति बनती है जब कि कर्तृकर्मविरोध सह्य नहीं माना जाता। इसलिये प्रमाणाभाव को प्रमित मानने वाला उसे प्रत्यक्षादि से प्रमित कह नहीं सकता। उसे प्रमाणाभावका ही विषय भी कहना अनुचित है क्योंकि वही तो विषय है, उसे ही विषयी भी कैसे माना जाये? किं च विशेषण का विशेष्य से संबंध हुआ ही करता है, असम्बद्ध की विशेषणता हो तो विंध्य भी हिमालय का विशेषण हो जाये! भाव-अभाव का संबंध पूर्व में ही निरस्त है अतः प्रमाणों का अभाव से संबंध नहीं तो वे उसके विशेषण भी होंगे नहीं। और भी, अभाव अगर प्रमाणों से विशिष्ट होगा तो विशिष्टकाल में विशेषण रहता ही है अतः प्रमाणाभावकाल में प्रमाण रहने पड़ेंगे, जो संभव नहीं। प्रमाणों को विशेषण की जगह उपलक्षण कहो तो अभाव विशेषणरहित है यही स्वीकार्य होगा तथा इस पर अगले श्लोक में विचार होगा। उपलक्षण होने पर घटाभाव और प्रमाणाभाव का स्वरूप एक ही हो जायेगा तो प्रमेय-प्रमाण का भेद भी नहीं रहेगा जो प्रपंच-सत्यतावाद में रहना ज़रूरी है। इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अभाव प्रमाणगम्य नहीं कहा जा सकता ॥९४२॥

प्रमाणाभाव का कोई विशेषण न मानो तो भी अनुचित है –

अथाविशेषणोऽभावो भवद्भिरभिधीयते। मेयाभावस्य मानत्वमविशेषात्प्रसज्यते ॥९४३॥
घटाद्यभाव इत्युक्तिर्न सम्यगिति मे मतिः। पदानामसमर्थत्वाद्विरोधाद्वस्तुनोर्मिथः ॥९४४॥
भावाभावाख्यपदयोः सामर्थ्ये चेत्समासता। घटादिनाऽनपेक्षत्वान्न समासः प्रसिध्यति ॥९४५॥
भावस्याभाव इत्यत्र षष्ठ्यर्थः कतमो मतः। न कश्चिदपि सम्बन्धो नीरूपस्यासदात्मनः ॥९४६॥

यदि आप कहें कि अभाव का कोई विशेषण नहीं तब तो अभाव में ख़ुद कोई विशेष न मानने से प्रमेयाभाव ही प्रमाण होने लगेगा! ॥९४३॥

तात्पर्य है कि तब आपकी यह व्यवस्था नहीं बनेगी कि प्रमाणाभाव अर्थात् अनुपलब्धि प्रमाण है और अर्थाभाव उसका प्रमेय है। फिर तो अभावं ख़ुद में प्रमाण होने लगेगा, उसे स्वप्रकाश मानना पड़ेगा। यह भाट्टादि कोई नहीं मानता। उपलक्षणभेद से व्यवहारभेद तो नियत हो जाता है जैसे नैयायिकों के अनुसार कर्णशष्कुली के भेद से सबकी श्रोत्रेन्द्रियाँ अलग हो जाती हैं लेकिन एतावता वस्तुभेद नहीं हो जाता। अतः अभावव्यवहार की चाहे जो व्यवस्था बने लेकिन तात्त्विक अभाव जो ब्रह्म को परिच्छिन्न करे, सद्वितीय बनाये, वह प्रामाणिक नहीं यह भाव है ॥९४३॥

अभाव निर्विशेषण नहीं, प्रमाण भी उसका विशेषण नहीं लेकिन प्रमेय तो उसका विशेषण हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं –

हमें तो यह निश्चय है कि 'घटादि का अभाव' यह कथन ही समीचीन नहीं है क्योंकि 'घटादि' और 'अभाव' ये शब्द ही परस्पर अन्वय के अयोग्य हैं कारण कि इनके अर्थों का परस्पर विरोध है ॥९४४॥

भावपदार्थ वस्तु हैं, अभाव अवस्तु है, इनका आपसी विरोध है अतः इनके वाचकों का आपस में संसर्ग नहीं होगा। 'घट का अभाव' इस वाक्य का अर्थ 'घटाभाव' इस समास में संगृहीत है। समास उन्ही पदों का होता है जो परस्पर अन्वय के योग्य हों यह वैयाकरणों ने माना है। वाक्यदशा में भी 'का' से घट और अभाव का संबंध कहा जा रहा है और पहले बता चुके हैं कि भाव व अभाव का कोई संबंध संभव है नहीं। अतः 'घट का अभाव', 'घटाभाव' ये कथन ही निरर्थक हैं। इसे भगवान् वार्तिककार ने 'मे मतिः' कहा है क्योंकि अव्याकृतप्रक्रियादि में आचार्यपाद ने अभाव का निरास कर दिया है। भ्रान्त व्यवहार जैसा-तैसा हो सकता है, उससे अद्वैत में अंतर नहीं आता। यह भी सार में (पृ० ४१५) समझा दिया है ॥९४४॥

अँधेरा और रोशनी विरोधी चीज़ें हैं फिर भी 'तमःप्रकाशौ' इत्यादि समास देखा गया है, ऐसे ही 'घटाभाव' यह समास क्यों न हो? बताते हैं –

भाववाचक और अभाववाचक पदों में सामर्थ्य हो तभी इनका समास हो सकता है और क्योंकि इनमें सामर्थ्य नहीं है – ये परस्पर सापेक्ष नहीं हैं – इसलिये इनका समास नहीं हो सकता ॥९४५॥

'समर्थः पदविधिः' (२.१.१) से पाणिनि ने नियम किया कि समर्थपदों का ही समास हो सकता है। परस्पर अन्वय के योग्य अर्थ वाला होना ही पदों की सामर्थ्य होती है अर्थात् वे ही पद समर्थ कहे जाते हैं जिनके अर्थ आपस में संबंध वाले हो सकें। अभाव को कथंचित् भावापेक्षा कही भी जाये लेकिन भाव को तो अभावापेक्षा है नहीं अतः भावबोधक और अभावबोधक पदों को समर्थ नहीं कह सकते तो 'घटाभाव' यह समास भी ग़लत होगा। जो 'तमःप्रकाशौ' आदि दृष्टांत कहा वह भी असंगत समास ही है। जो तो क्वचित् शिष्टप्रयोग मिलता है वह भ्रान्तों से उन्ही की भाषा में बात की जा सकती है–इस न्याय से है, यह तात्पर्य है ॥९४५॥

समास की तरह वाक्य भी संगत नहीं –

'भाव का अभाव' – यहाँ 'का'-से कौनसा अर्थ विवक्षित मानते हो? असद्रूप अभाव निःस्वभाव होने से कोई भी सम्बंध यहाँ संगत नहीं ॥९४६॥

वस्त्वन्तरमभावश्चेदन्यदन्यद्भवेत्कथम्। अन्योऽपि चेद्भवेदन्योऽविरोधो नीलवद्भवेत् ॥९४७॥
संगताववविरोधी चेन्न सम्बन्धिनिवृत्तिकृत्। न सम्बन्धिग्रहाभावे सम्बन्धोऽयं प्रसिध्यति ॥९४८॥

संयोगादि का खण्डन कर चुके हैं। विशेष्यविशेषणभाव तभी होता है जब संयोगादि कोई संबंध हो, जैसे दण्ड का देवदत्त से संयोग होता है तभी दण्ड का देवदत्त से विशेष्यविशेषणभाव होता है। जब अभाव से संयोगादि नहीं तो विशेषणता भी होगी नहीं। स्वस्वामितादि तो चेतन में ही होते हैं अतः यहाँ प्रसंग ही नहीं। एवं च 'का' से बोध्य कोई अर्थ न होने से यह वाक्य भी निरर्थक है ॥९४६॥

भाट्टों का कहना है 'भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया' (निरालं.११८) अतः एक वस्तु का अभाव वे दूसरी वस्तुको मानते हैं जिससे उनके मत में अभाव की स्वभावहीनता नहीं होती, सम्बंध संभव हो जाता है। इसलिये 'नीरूपस्य' आदि दोष उनपर कैसे? इसलिये उनके मत का भी खण्डन करते हैं –

अभाव यदि अन्य वस्तु हो तो कहो एक चीज़ दूसरी चीज़ कैसे हो सकती है? यदि एक चीज़ दूसरी चीज़ हो सके तो नीला व कमल की तरह भाव-अभाव का आपसी विरोध ही न रहे! ॥९४७॥

'घड़ा है' कहने पर जैसे पता चलता है घड़े और होने की एकता का वैसे ही 'घड़ा नहीं है' से मानना पड़ेगा कि घड़े और न होने की एकता मालूम चलती है। अब यदि घटाभाव पटरूप हो तो घड़ा ही कपड़ा होने लगेगा! घड़ेका 'न होना' यही जब पटरूप मान लिया तब 'घड़ा नहीं है' से घड़े व न होने के अभेद को कहते ही घड़ेका कपड़े से अभेद कह ही दिया। यह बात ठीक है नहीं क्योंकि घड़ा घड़ा भी रहे और कपड़ा भी हो जाये यह कहीं देखा नहीं जाता और यदि घड़ा नष्ट होकर कपड़ा बनता है कहो तो इसलिये संभव नहीं कि कपड़ा बनने का कर्ता कौन होगा? अर्थात् कौन कपड़ा बनता है? घड़ा तो नष्ट हो चुका, वह तो बनता नहीं। इसलिये भावान्तर को अभाव मानना भी असंगत ही है। किं च घटाभाव में घट को विशेषण ही मानना पड़ेगा और घटाभावरूप विशिष्ट जब पट हो गया तो विशेषणरूप घट भी पट ही हो जायेगा! यह संभव है नहीं। अगर किसी तरह मानें कि एक चीज़ दूसरी चीज़ हो सकती है तो जैसे नीला और कमल अभिन्न होते हैं तो परस्पर विरोधी नहीं होते ऐसे भाव-अभाव भी विरोधी नहीं रहेंगे। और तब सारा संसार एक अद्वितीय तत्त्व ही रह जायेगा क्योंकि सभी कुछ सर्वरूप होगा!

आनन्दपूर्ण कहते हैं कि 'भावान्तर' और 'अभाव' से शब्द पर्याय तो हैं नहीं कि इन्हे एकार्थक कहा जाये, यह 'अन्यदन्यद्भवेत्कथम्' का अर्थ है। अनुभव भी होता है कि घटाभाव पट से अन्य है और पट भी घटाभाव से अन्य है अतः घटाभाव को पटरूप कहना अत्यंत अयुक्त है ॥९४७॥

अभाव का भाव से संबंध असंभव ही है –

यदि कहो कि अभाव को इससे विरोध नहीं कि उसका किसी से सम्बन्ध हो; तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अभाव अपने सम्बन्धी की निवृत्ति करने वाला हो जायेगा। किं च सम्बंधी जाने बिना यह संबंध भी जाना नहीं जा सकता। यदि सम्बंधी न हो तो धर्मी से संबंध ही सिद्ध नहीं होगा अतः 'घटका अभाव' इत्यादि में 'का' शब्द से अभाव को कहना असंगत है ॥९४८ $\frac{१}{२}$॥

अभाव जिससे सम्बद्ध होगा उसे निवृत्त करेगा ही क्योंकि भाव-अभाव का विरोध है। निवृत्त कर ही देगा तो सम्बंध कैसे होगा? अतः अभाव का भाव से सम्बंध संभव नहीं। किं च अभाव सप्रतियोगिक मानते हो तो प्रतियोगी रहते उससे अभाव का संबंध होगा या प्रतियोगी न रहने पर? प्रतियोगी रहने पर होगा यह कह नहीं सकते क्योंकि तब तो अभाव नहीं रहता। प्रतियोगी न रहने पर यदि सम्बंध कहो तो बनेगा नहीं क्योंकि सम्बंधी – प्रतियोगी – जब नहीं है तब वह जाना भी नहीं जायेगा और इसलिये अभावका किससे संबंध है यह पता ही नहीं चलेगा। यही वार्तिक में 'किं च' आदि वाक्य से कहा। सम्वंधी अर्थात् प्रतियोगी। इस समस्यासे डरकर अभाव को निष्प्रतियोगिक मानो तो वह स्वतंत्र हो जायेगा अर्थात्

सम्बन्धिविरहेऽसिद्धौ षष्ठ्यर्थत्वं न सिध्यति। विरोधाद्युगपन्नापि विधानप्रतिषेधनम् ॥९४९॥
क्षणिकत्वाद्धियां नापि स्थायिधर्मः क्रमो भवेत्। अनीलाभावपृष्ठेन नापि नीलस्य वेदनम् ॥९५०॥
नह्यदृश्यनिषेधः स्याद् घटादेरिव भूतले। नान्याभावविशिष्टत्वं कृत्स्नाभावगतौ भवेत् ॥९५१॥

उसकी प्रतियोगिसापेक्षता नहीं रह सकेगी जो सर्वानुभवसिद्ध है। साथ ही अभावका अनुयोगी से भी संयोगादि कोई संबंध हो नहीं सकता यह बता ही चुके हैं अतः अभाव न कहीं होगा और न किसी का होगा! यह कोई वादी या लौकिक स्वीकारेगा नहीं। यही वार्तिक में कहा कि सम्बंधी अर्थात् प्रतियोगी न हो, निष्प्रतियोगिक अभाव माना जाये, तो अभाव किसी से संबद्ध नहीं होगा क्योंकि धर्मी से, अनुयोगी से, उसका सम्बंध तो पहले ही मना किया जा चुका है।

विद्यासागर की योजना में पूर्व श्लोक में जो कहा था कि नीला व कमल की तरह भाव-अभाव में अविरोध हो जायेगा उसे यदि वादी इष्ट ही मान ले तो उसे कहा कि ऐसा इसलिये नहीं मान सकते कि अभाव को भावका निवर्तक माना जाता है। इस पर यदि वादी कहे कि अभाव तो भावकी निवृत्तिरूप है, न कि उसका निवर्तक अतः घटाभाव का पट से तादात्म्य होने पर भी वह पट को निवृत्त न करे इसमें हानि नहीं; तो कहा कि फिर भी संबंध जैसे अभाव पर (पट पर) रहेगा ऐसे ही उसे घट पर अर्थात् प्रतियोगी पर भी रहना पड़ेगा क्योंकि सम्बन्ध अनेकाश्रित होता है और वह संभव नहीं क्यों कि प्रतियोगी रहते अभाव नहीं होगा और अभाव रहते प्रतियोगी नहीं होगा। इसलिये घटादि का अभाव कोई सच्ची चीज़ है यह कहना केवल अंधपरम्परा है ॥९४८ $\frac{1}{2}$॥

श्लोक ९१९ में जो कहा था कि प्रत्यक्ष निषेध ही करता है, उसका निराकरण हो गया क्योंकि निषेधपदार्थ – अभावपदार्थ – और उसमें प्रमाण, दोनों की असंभवता स्पष्ट कर दी। जो तो यह कहा था विधि व निषेध दोनों ही प्रत्यक्ष के व्यापार हैं, उसका अब खण्डन करते हैं। यहाँ भी बताना पड़ेगा कि क्या प्रत्यक्ष से विधि-निषेध इकट्ठे ही हो जाते हैं? या पहले विधि होती है? या पहले निषेध होता है? तीनों पक्ष ग़लत हैं –

विधि और निषेध परस्पर विरुद्ध हैं अतः इकट्ठे ही हो जायें यह संभव नहीं ॥९४९॥ क्रमशः दोनों हों यह इसलिये संभव नहीं कि क्रम से करना यह स्थायी चीज़ का धर्म हो सकता है और ज्ञान क्षणिक हैं। दो-तीन क्षण ज्ञान रहते भले ही हों फिर भी उत्पत्ति से अतिरिक्त कोई व्यापार ज्ञान का हो यह प्रसिद्ध नहीं है। किं च अनील के अभाव का ज्ञान होने पर नील का ज्ञान होता हो ऐसा भी नहीं कि निषेधपूर्वक विधि मानी जाये। दर्शन के अयोग्य वस्तु का निषेध नहीं होता क्योंकि योग्य घटादि का ही भूतलादि पर निषेध प्रसिद्ध है ॥९५० $\frac{1}{2}$॥

दर्शनयोग्य घटादि न दीखे तभी उसका निषेध होता है, दर्शन के अयोग्य अणु आदि का तो निषेध कर नहीं सकते। जहाँ नील वस्तु है वहाँ 'अनील' यही निषेध बनता नहीं तो अनील का निषेध दूरापास्त है। यदि अनीलव्यावृत्तिपूर्वक नीलज्ञान मानो तो असंभव हो जायेगा क्योंकि जिसकी व्यावृत्ति करनी है वह अनील ही यहाँ दर्शन के अयोग्य है; नील जहाँ है वहाँ अनील दीखे यह संभव नहीं। जब अनीलव्यावृत्ति असंभव है तो तत्पूर्वक होने वाली नीलविधि सुतराम् असंभव हो जायेगी। किं च नील की विधि के बिना अनील नहीं कह सकते क्योंकि अनील-ज्ञान के पहले प्रतियोगी नील का ज्ञान चाहिये। इस प्रकार नीलज्ञान के लिये अनीलव्यावृत्तिज्ञान, इसके लिये अनील ज्ञान और इसके लिये प्रतियोगिभूत नील का ज्ञान चाहिये – यों चक्रक दोष हो जायेगा। अतः निषेधपूर्वक विधि ठीक नहीं ॥९४९-९५० $\frac{1}{2}$॥

किं च अनीलव्यावृत्ति – अर्थात् पीतादि का अभाव – क्या नील का विशेषण है या स्वरूप है? विशेषण मानना ठीक नहीं –

जो कुछ भी अनील है उस सबकी और उनके अभाव की जानकारी होने पर ही नील का ज्ञान हो पायेगा यदि नील को अनीलाभाव से विशिष्ट माना जाये, और यह ईश्वरातिरिक्त किसी के लिये संभव है नहीं, अतः अनीलाभावको नीलका विशेषण मानने पर नीलविधि ही नहीं हो सकेगी ॥९५१॥

अन्याभावस्य भावत्वे स्यादभावः खपुष्पवत्। भावान्तरमभावश्चेत्सिद्धं वस्तु ततः स्वतः ॥९५२॥
तद्ग्राहीणि च मानानि व्यावृत्तिः केन गम्यते। चित्रेऽपि विषये चित्रमेकं वस्त्वेकमानतः ॥९५३॥

तात्पर्य है कि नील की जानकारी से ही नीलभिन्न सभी भावों का और उनके अभाव का ज्ञान मानना पड़ेगा जो अयुक्त है ॥९५१॥

अनीलव्यावृत्ति को नील का स्वरूप मानना भी ग़लत है –

अन्य का अभाव – अनीलव्यावृत्ति – यदि भाव हो – नीलस्वरूप – हो तो अभाव आकाशकुसुम की तरह होगा, अर्थात् होगा ही नहीं। अगर कहो कि अभाव भावान्तर होता है तो भावातिरिक्त अभाव न होने से अद्वितीय सद्वस्तु ख़ुद सिद्ध कर दोगे! ॥९५२॥

स्वरूपपक्ष में या नील का अभाव में और या अभावका नील में अंतर्भाव होगा। यदि नीलका अभाव में अंतर्भाव हुआ तो नील को आकाशकुसुम-सा मानना होगा, नील कुछ है यह मान नहीं सकोगे। और अभाव का नील में अंतर्भाव किया तो वह कुछ है यह नहीं मान सकोगे। इसलिये स्वरूपपक्ष संगत नहीं। यह जो कहना है कि अभाव भी अन्य भाव का ही नाम है, पटादि को ही घटाभाव कहते हैं, वह भी ठीक नहीं क्योंकि तब या भावाद्वैत और या अभावाद्वैत होगा, हर हालत में भाव और अभाव यह द्वैत तो रहेगा नहीं। अभावाद्वैत असंभव है अतः भावाद्वैत ही मानना पड़ेगा, वही उपनिषदों का सिद्धान्त है। भावान्तर को भावरूप कहो चाहे अभावरूप, दोनों हालतों में एक ही चीज़ रहनी है, भाव या अभाव। भेद और अभाव तभी होते हैं जब दो चीज़ें हों, अतः एक ही रहने पर भेद व अभाव होंगे नहीं तो अद्वैत सिद्ध ही है ॥९५२॥

वस्तु ही प्रामाणिक है, भेद और अभाव नहीं –

प्रमाण तो वस्तु का ग्रहण करते हैं, व्यावृत्ति किसी प्रमाण से ग्रहण नहीं की जाती। जहाँ विषय विचित्र होता है वहाँ भी एक विचित्र वस्तु ही होती है जो एक प्रमाण से जानी जाती है ॥९५३॥

निषेध का अर्थ जो इतरव्यावृत्ति उसे चाहे भेद मानो या संसर्गाभाव, दोनों हालतों में वह प्रमाणगम्य नहीं यह विस्तार से समझा चुके हैं। इसलिये प्रमाण जिस वस्तुका प्रकाशन करते हैं वह भेद और अभाव से अस्पृष्ट ही है। प्रश्न होगा कि वैचित्र्य दीखता है तो व्यावृत्ति अवश्य दीखने वाली माननी पड़ेगी क्योंकि जब तक चीज़ों के अलगाव की जानकारी न हो तब तक विचित्रता दीख नहीं सकती : पीला, नीला, लाल, हरा अलग दीखें तभी जिस कपड़े पर वे इकट्ठे पड़े हों वह विचित्र – नाना वर्णों वाला – दीखता है। अतः वैचित्र्यप्रत्यक्ष की अन्यथानुपपत्ति व्यावृत्ति में प्रमाण क्यों नहीं? उत्तर है कि वहाँ व्यावृत्ति किसी एक प्रत्यक्ष से तो गम्य है नहीं क्योंकि तत्तद् रंगों के प्रत्यक्ष उन्ही के बोधक हैं और चित्रप्रत्यक्ष एक चित्रपदार्थ का बोधक है। 'यह चित्र है', या 'विचित्र रंगों वाला है' यह एक वस्तु को विषय करने वाला प्रत्यक्ष है, जिसे विचित्र कहा जा रहा है, अतः यह प्रत्यक्ष भी व्यावृत्ति की प्रमा नहीं कराता। क्योंकि विचित्र वस्तु एक है इसलिये वह व्यावृत्तिरूप तो है नहीं, फलतः व्यावृत्ति को अवस्तु मानना पड़ेगा! वैचित्र्यप्रत्यक्ष एक विचित्र वस्तु से ही जब उपपन्न है तब अन्यथा अनुपपत्ति ही कहाँ कि व्यावृत्ति प्रमेय हो सके? बहुत से रंग दीखते हैं, बहुत या अनेक कोई अभाव तो है नहीं, वादी भी संख्या को भावरूप गुण मानता है, अतः कई दीखे एतावता भेद की सिद्धि नहीं हो जाती। लाल को पीले से अलग देखें तभी 'ये रंग हैं' यह ज्ञान होता है अतः अनेक का प्रत्यक्ष बिना अलगावज्ञान (भेदज्ञान) के कैसे होगा? लाल को लाल और पीले को पीला देखने से ही 'दो रंग हैं' यह ज्ञान उपपन्न है, बीच में अलगावज्ञान की न ज़रूरत है, न वह होता है इसमें कोई प्रमाण है। नैयायिकप्रक्रिया भी 'यह एक', 'यह एक' इनसे 'ये दो' ज्ञान मानते हैं, भेदज्ञान बीच में कहते नहीं। अतः चित्रप्रत्यक्ष के सहारे भी भेदसिद्धि नहीं।

न्यायकल्पलतिका में 'एकमानतः' का अर्थ किया है 'सदित्येकरूपप्रत्ययात्।' तात्पर्य है कि 'चित्रं सत्' – 'चित्र

प्रत्येकं नीलपीतादिग्रहणे चित्रता कुतः। वस्तुनो भेदरूपत्वे वस्त्वभावः प्रसज्यते ॥९५४॥
अन्यधर्मे त्वभिन्नं स्यात्स्वतो वस्तु प्रमाश्रयम्। भिन्नाभिन्नं विरुद्धत्वान्नैकमानस्य गोचरः ॥९५५॥

है' – इस ज्ञान से चित्र को सद्रूप ही मानना पड़ता है अतः चित्रज्ञान सद्वस्तु में ही प्रमाण है। यदि भेद और संसर्गाभाव भी सद्रूप ही मानो तो सदद्वैत में कोई हानि नहीं। जहाँ आकाशादि सारा प्रपंच है वहाँ बेचारे ये दोनों भी रहें तो हर्ज़ नहीं ॥९५३॥

पूर्व श्लोक में चित्र एक चीज़ है यह मानकर कहा था कि चित्रज्ञान से व्यावृत्ति सिद्ध नहीं होती। किन्तु चित्र एक चीज़ है यही बेतुकी बात है, जैसा कहा है 'एक भी हो और वह चित्र भी हो यह तो बड़ी विचित्र बात है!' अतः अब चित्र पर ही आक्षेप करते हैं कि वह कोई वस्तु नहीं है –

नीले, पीले इत्यादि हर एक रंग का ज्ञान होता है अतः चित्रता कैसे? वस्तु ही भेदरूप हो तो वस्तु भी अभाव ही होगी ॥९५४॥

हर रंग तो चित्र अर्थात् विचित्र है नहीं और सब रंग मिलकर चित्र (= विचित्र) हैं यह भी कहना मुश्किल है क्योंकि रंगों के समुदाय को न हर रंग से अलग कह सकते हैं, न एक। इसलिये चित्र कोई वास्तविक चीज़ नहीं है। यदि व्यावृत्ति भी चित्र में ही दीखे तो वह भी अवस्तु ही होगी। व्यावृत्ति को नीलादि वस्तुओं का स्वरूप कह नहीं सकते क्योंकि वस्तु यदि व्यावृत्तिरूप अर्थात् भेदरूप या अभावरूप होगी तो अखण्ड शून्य ही रहेगा और व्यावृत्ति यदि वस्तुरूप होगी तो वस्तु-अद्वैत ही होगा, भेदादि सिद्ध नहीं होंगे। भेद का स्वभाव है अलग करना अतः जब तक कुछ होगा तब तक वह अलग करता ही जायेगा, तभी रुकेगा जब अलग करने को कुछ बच न जाये अर्थात् शून्य रह जाये। इसलिये वस्तु और व्यावृत्ति को अभिन्न मानने पर या असदद्वैत या सदद्वैत होगा, द्वैत संभव नहीं।

विद्यासागर ने भेद-वस्तु एकता में यह दोष दिया है : वस्तु तो अन्य से निरपेक्ष होती है, वही यदि भेद, व्यावृत्ति, भी हो तो एक ही वस्तु में अनुयोगिता व प्रतियोगिता माननी पड़ेगी जो संभव है नहीं इसलिये व्यावृत्तिरूप होने पर एक वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी तो कई एक-एक वस्तुओं का समूह या चित्र कहाँ से संभव होगा? अतः शून्य मानना पड़ेगा ॥९५४॥

कुछ वादी भेद को वस्तु का स्वरूप मानते हैं और कुछ उसे वस्तु का धर्म मानते हैं, अतएव संक्षेपशारीरक में (१.२०९ और २१५) उनके लिये पृथक् उत्तर दिये हैं। अतः भेद को वस्तुधर्म मानने वालों का भी निरास करते हैं –

अन्यका धर्म हो तो स्वतः अभिन्न वस्तु ही प्रामाणिक होगी ॥९५४ $\frac{1}{2}$॥

भेद को वस्तु का धर्म मानने पर उसे भी वस्तु ही मानना पड़ेगा क्योंकि अवस्तु हो तब तो वस्तु को परिच्छिन्न करेगा नहीं जैसे शशशृंग नहीं करता, और भेद भी वस्तु होगा तो वस्तु-अद्वैत ही सिद्ध हो जायेगा। इसलिये भेद को अन्यका अर्थात् अवस्तुका धर्म कहना पड़ेगा और तब उसका वस्तुसे कोई संबंध न होने से वस्तु अद्वितीय ही रह जायेगी। 'अन्य' शब्द को क्रमशः वस्तु और अवस्तु दोनों का बोधक समझ लेना चाहिये। वार्तिकसार की हिंदी व्याख्या में यह प्रसंग संक्षेप में कहा गया है (पृ० ४३०)।

कल्पलताकार के अनुसार – वस्तु का जो अन्य-सापेक्ष रूप है उसे भेद कहते हैं इस मत के खण्डन में 'अन्यधर्मे' आदि कहा गया है। तब 'अन्यधर्मे' का मतलब है भेद यदि अन्य-सापेक्ष धर्म है तो उसी तरह कल्पित होगा जैसे स्फटिक का ललिमा-धर्म। अतः निरुपाधिक वस्तु अद्वितीय ही सिद्ध होगी ॥९५४ $\frac{1}{2}$॥

वस्तु को भिन्न-अभिन्न उभयरूप मानना भी ग़लत है –

भिन्न व अभिन्न परस्पर विरुद्ध होने से एक प्रमाण के विषय हो नहीं सकते ॥९५५॥ यदि कहो कि वस्तुरूप

वस्त्वात्मनाऽविरोधश्चेद्वस्त्वेव विषयस्ततः ।
सत्यं वस्तु कथं भिन्द्यात्पुंव्यपेक्षाविनिर्मितः । भेदः पुत्रादिभावे तु जन्यत्वं वस्तुकल्पितम् ॥९५६॥

से उनका अभेद है तो वस्तु ही प्रमाण का विषय होगी (भेद-अभेद नहीं)। पुरुष को होने वाली आकांक्षाविशेष से कल्पित हुआ भेद सत्य वस्तुमें वास्तविक भेद का व्यवहार कैसे करा सकता है? पुत्रादि का जन्म होने पर जो पुत्रादि म जन्यता और पिता आदि में जनकता हैं वे भी सापेक्ष धर्म हैं अतः वस्तु में कल्पित ही हैं, सच्चे नहीं ॥९५६॥

भेद और अभेद दोनों वस्तुरूप नहीं हो सकते क्योंकि विरुद्ध हैं। शंका होती है कि जैसे आग व पानी विरुद्ध हैं लेकिन महाभूत रूप से अभिन्न हैं, उनमें विरोध नहीं, ऐसे ही भेदरूप से व अभेदरूप से विरोधी होने पर भी वस्तुरूप से उनका अविरोध क्यों न हो? समाधान है कि ऐसा मानो तो भी प्रमाण से वस्तु ही सिद्ध होगी; महाभूतरूप से जानो तो आग या पानी तो सिद्ध होते नहीं, केवल महाभूतपदार्थ ही प्रमित होता है; ऐसे ही वस्तुरूप से यदि भेद-अभेद को जानोगे तो वस्तु ही प्रमित होगी, भेद-अभेद नहीं।

वादी की मान्यता है कि वस्तु ख़ुद की अपेक्षा से भेद नहीं है लेकिन अन्यकी अपेक्षा से वही भेद है! 'अपेक्षा' का अभिप्राय है कि घट देखकर किसी को जिज्ञासा हो कि 'क्या यह पट है?' और उत्तर निश्चित हो कि 'नहीं, यह पट नहीं है।' तब समझा जायेगा कि पट की अपेक्षा से घट भेद है। इस मान्यता का वार्तिक में खण्डन किया कि एक ही चीज़ सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों नहीं हो सकती। वस्तु तो अपने हेतुओं से स्वरूपलाभ करती है अतः सत्य और निरपेक्ष है जैसे कपाल, कुलालादि से स्वरूप पाया घट सत्य है। भेद होता है सापेक्ष अतः वह सत्य नहीं कहा जा सकता। यदि उसे वस्तु से अभिन्न मानें तो वह भी सत्यादि होना चाहिये, सापेक्ष नहीं। और है वह सापेक्ष अतः वह वस्तुरूप नहीं क्योंकि सापेक्ष और निरपेक्ष अलग हुआ करते हैं। किं च अपेक्षा से भेद तो पुरुष की कल्पना ही होगी, वह वस्तुधर्म कैसे होगा? कपड़ा एक हाथ का हो सकता है लेकिन 'छोटापन' या 'बड़ापन' कपड़े का धर्म नहीं क्योंकि वह तो इस पर निर्भर करता है कि देखने वाला किस की अपेक्षा से कपड़े को देख रहा है। अतः भेद वस्तुधर्म नहीं। सापेक्ष क्योंकि कल्पित होता है अतः सापेक्ष भेद सत्य वस्तु से अभिन्न नहीं हो सकता। पितृपुत्रभावादि सापेक्ष होने पर भी सत्य हैं यह नहीं कह सकते क्योंकि वे भी कल्पित ही हैं, सत्य नहीं। जो दो शरीर हैं वे वस्तु हैं, निरपेक्ष अतः सत्य हैं और जो उनका पितृत्वादि है वह कल्पित है। पुत्रसे निरपेक्ष पिता पहले से था ही और पिता से निरपेक्ष पुत्र भी अनुशयी-रूप से (शोणित, बीज अन्नादि रूप से) था ही। ऐतरेयोपनिषत् में इस पर प्रकाश डाला गया है या बृहदारण्यक की पंचाग्निविद्या से समझ सकते हैं। अतः 'न सत्यमापेक्षिकमीक्षितं क्वचित्' यह सर्वज्ञ-सिद्धान्त निरपवाद है। विद्यासागर कहते हैं कि घटाकार से वस्तु और पटाकार से भेद है - यह मानोगे तो घट-पटाकारों को यदि अवस्तु कहोगे तो वस्तुभेद नहीं सिद्ध होगा और उन्हे वस्तु मानोगे तो सुतराम् भेद सिद्ध नहीं होगा, वस्तुरूप से सब एक ही होगा। अतः जैसे चन्द्र में भ्रमसिद्ध चंद्रान्तर से भेद दीख जाता है ऐसे ही सारा भेद भ्रमरूप है ॥९५५-९५६॥

प्रत्यक्ष और योग्यानुपलब्धि प्रमाणों से भेद सिद्ध नहीं होता अतः निर्भिन्न परमात्मा में शास्त्रसमन्वय हो तो इन प्रमाणों से विरोध नहीं यह सिद्ध किया। अनुमान व अर्थापत्ति से भी अविरोध स्पष्ट करना है। भेद में अनुमान हो सकता है : जगत्कारण भेद वाला है (अर्थात् विभिन्न चीज़ें जगत्कारण हैं) क्योंकि उससे जो कार्य हुए हैं वे विभिन्न हैं जैसे मिट्टी पानी आदि विभिन्न हैं तभी धारण, आर्द्रीकरण आदि विभिन्न कार्य करते हैं। ऐसे ही अर्थापत्ति होगी कि कार्य में भेद तब तक नहीं हो सकता जब तक कारण में भेद न हो अतः प्रपंच में जो भेद है वह इसके कारण में भी भेद है यह कल्पना करायेगा। उक्त अनुमान में हेतु को व्यभिचारी दिखाकर अतएव अर्थापत्ति को भी अन्यथा उपपत्ति से निरस्त करते हुए कहते हैं -

दाहपाकप्रकाशादिभेदेऽप्यग्नेरभिन्नता। कार्यतोऽपि न भेदः स्याद्वस्त्वभेदव्यवस्थितेः ॥९५७॥
विभिन्नकार्यकर्त्रीणां शक्तीनां यद्वदाश्रयः। न विरुद्धोऽग्निरेकोऽपि तद्वत्कार्येऽपि किं न ते ॥९५८॥
घटाभावे घटः सिध्येत्पटाभावे पटस्तथा। अन्योन्याभावदृष्टेः स्यादन्योन्याश्रयता तव ॥९५९॥

(यथाशास्त्र) वस्तु का अभेद निश्चित है अतः कार्य से भी भेद का अनुमान या उसकी कल्पना नहीं होगी क्योंकि जलाना, पकाना, प्रकाशित करना आदि कार्यभेद होने पर भी अग्नि की अभिन्नता ही देखी जाती है ॥९५७॥

दाहादि में भिन्नकार्यतारूप हेतु होने पर भी उनका कारण अभिन्न अग्नि ही है, दाहक अग्नि अलग हो, पाचक अलग हो ऐसा नहीं होता। अथवा अग्नि में भिन्नकार्यकरता होने पर भी अभिन्नता है अतः हेतुव्यभिचार स्पष्ट है। इसीलिये भिन्न कार्य अभिन्न से भी उपपन्न होते हैं तो अर्थापत्ति भी जगत्कारण के शास्त्रसिद्ध अभेद का विरोध कर उसे भिन्न नहीं सिद्ध कर सकती। श्लोक में 'कार्यतोऽपि' इस अपि से सूचित किया कि कार्य में भेद प्रमित होता तब आगे कारण में भेद की संभावना करता, जब कार्य में ही वह सिद्ध नहीं हुआ तब उससे कारण में भेद की कल्पना अनर्गल प्रलाप है ॥९५७॥

शंका होती है कि आग में जलाने की शक्ति अलग है, पकाने की अलग, अतः वहाँ भी कारणभेद है ही तो व्यभिचार या अन्यथोपपत्ति कैसे? समाधान है –

जैसे अग्नि एक होने पर भी विभिन्न कार्य करने वाली शक्तियों का आश्रय है यह बात युक्तिविरुद्ध नहीं है वैसे कार्य भिन्न होने पर भी कारण एक ही हो तो युक्तिविरोध नहीं यह तुम्हे क्यों नहीं जँचता? ॥९५८॥

सिर्फ़ शक्तियाँ तो कारण हैं नहीं, आग को कारण मानना ही है अतः एक ही आग अनेक कार्य कर रही है इसमें संदेह नहीं, इसलिये व्यभिचार तो है ही। यदि कहो कि शक्तियाँ ही कारण है, आग नहीं, तो भी जैसे तुम मानते हो कि एक वह्नि अनेक शक्तियों का आश्रय हो सकती है ऐसे यह भी मान लो कि अनेक कार्यों के प्रति एक कारण भी हो सकता है। जैसे शक्तियाँ धर्मतया रहती हैं ऐसे ही घटादि कार्य भी मिट्टी में धर्मतया – समवाय या तादात्म्य से–रहते हैं यह तुम मानते हो इसलिये एक मिट्टी को घट–शरावादि विभिन्न कार्यों का कारण मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? विशिष्टको अतिरिक्त मानकर वह्नियाँ ही नाना मानो तो भी अनुगत वह्नि के ज्ञान का विषय जिसे कहोगे वही व्यभिचारभूमि हो जायेगा।

जगत्कारण की एकता शास्त्र से सिद्ध होने पर जब अनुमान उसके भेद की संभावना कराने की कोशिश करता है तब उक्त व्यभिचारादि से विफल होता है। ऐसा नहीं कि युक्ति से कारण की एकता सिद्ध हो। यह परिमलादि में सुव्यक्त है ॥९५८॥

कार्य में भेद या अभाव मानकर उक्त (९५७-५८) विचार किया, वस्तुतः तो कार्य में भी भेद कहना दोषावह है –

घट-पट को एक-दूसरे के अभाव रूप से देखना चाहोगे तो तुम्हे अन्योन्याश्रयदोष का सामना करना पड़ेगा क्योंकि तब घटाभाव होने पर घट और पटाभाव होने पर पट सिद्ध होगा ॥९५९॥

वादी मानता है कि घट का अभाव पट है और पट का अभाव घट है। घट हो सके इसलिये पटाभाव ज़रूरी हुआ क्योंकि यदि पटाभाव न हुआ तो घट का पूरा स्वरूपलाभ ही नहीं होगा। धर्म मानने पर भी पटभेद को यावद्घटभावी धर्म ही मानते हैं अतः घटमें रहने वाले आवश्यक धर्मों में पटाभाव है ही। अतः घट होने के लिये पटाभाव चाहिये और वह तब हो सके जब पट हो, क्योंकि बिना प्रतियोगी के अभाव कैसे होगा? इस प्रकार घट हो इसके लिये पट चाहिये। पट को ही श्लोक में घटाभाव कहा है। उधर पट भी उक्त न्याय से तभी होगा जब पटाभावशब्दित घट हो। इसलिये अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। किं च घट को पटाभावरूप से जानने के लिये पट को घटाभावरूप से जानने की जरूरत है तथा पट को भी घटाभावरूप से जानने के लिये घट को पटाभावरूप से जानने की जरूरत है इसलिये भी अन्योन्याश्रय है।

प्रत्यक्षत्वं पृथक्त्वस्य गुणत्वाद्यैरपीष्यते। तेषामपि गुणे मानं नीलवन्न त्ववस्तुनि ॥९६०॥
अथ वस्तु पृथक्त्वेन विशिष्टं गम्यते तदा। शुक्लो गौरितिवन्मानं वस्त्वेव न भेदगम् ॥९६१॥
अभेदेनैव वर्तेत पृथक्ता यदि वस्तुषु। वस्त्वेव तत्ततोऽन्या चेदपृथग्वस्तु तर्हि ते ॥९६२॥

वार्तिकसारकी हिंदी में (पृ० ४३२) इस श्लोक का प्रसंग विन्यस्त है। इस प्रकार भेदवाद अन्योन्याश्रयदोषवश किसी चीज़ की भी उत्पत्ति या ज्ञान की व्यवस्था बनाने में अक्षम है अतः भेद-अभाव ये अप्रमाणिक कल्पनायें अद्वय परब्रह्म की वास्तविकता में रुकावट नहीं डाल सकती ॥९५९॥

इस प्रकार भाट्टादिमत से भेद व अभाव सिद्ध नहीं होते यह समझाया। वैशेषिक आदि के अनुसार भी इनकी असिद्धि कहते हैं –

जो लोग पृथक्त्व को गुण होने से प्रत्यक्ष मानते हैं उनके अनुसार भी प्रत्यक्ष जैसे नीलादि गुणों में प्रमाण है ऐसे किसी पृथक्त्वनामक गुणरूप वस्तु में ही प्रमाण हो सकता है, अवस्तुरूप भेद में नहीं ॥९६०॥

तात्पर्य है कि गुण तो वस्तु ही हैं अतः उनसे वस्तु में द्वैतापत्ति नहीं होगी और भेद को द्वैतापादक होने के लिये अवस्तु होना पड़ेगा तथा तब वह प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकेगा। वैशेषिक पृथक्त्व और भेद को अलग ही मानते हैं, अतः पृथक्त्व को दृष्टांत बनाकर भेद को प्रत्यक्ष कहें तो भावता उपाधि होगी यह अर्थ है। भेद भी यदि गुण ही हो तो 'गुण भिन्न हैं' यह प्रमा दुर्लभ होगी क्योंकि वे लोग गुण में गुण नहीं मानते। वार्तिकसारहिंदी में (पृ० ४३३) इन श्लोकों का (९६०-७३) भी संग्रह कर लिया गया है ॥९६०॥

वादी का प्रश्न उठाकर उत्तर देते हैं –

यदि कहो कि भेद से विशिष्ट वस्तु ज्ञात होती है (अतः भेद भी वस्तु है); तो 'सफेद गाय' इस प्रत्यक्ष की तरह वह भी वस्तु में ही प्रमाण होगा, अवस्तुरूप भेद में नहीं ॥९६१॥

वादी का अभिप्रेत प्रयोग है: भेद अवस्तु नहीं है क्योंकि वस्तु का विशेषण वैसे ही होता है जैसे रूप। जो तो गुणादि में भेदज्ञान है वह एकार्थसमवायरूप उपाधि से उपपन्न है: 'समवायादिः सन्' यह प्रतीति इसी से उपपन्न है कि जहाँ समवाय है वहाँ सत्ता है, ऐसे ही जहाँ गुणादि हैं वहाँ भेद भी है अतः गुणादि में भेद प्रतीत हो सकता है।

इस अनुमान में एक दोष तो है व्यभिचार : 'घटाभाववद्भूतलम्' – यहाँ भूतल वस्तु का विशेषण है घटाभाव जो अवस्तु है। अतः 'वस्तु का विशेषण होना' यह सिद्ध नहीं करता कि विशेषण भी वस्तु है। यह भी दोष है कि इससे भेद सिद्ध नहीं होता, अर्थान्तरता है। 'सफेद गाय' यह प्रमा सफेद गाय रूप वस्तुमें ही प्रमाण होती है ऐसे ही 'घट भिन्न है' यह भी भिन्न वस्तु में ही प्रमाण होगा, अवस्तुरूप भेद में नहीं। भेद को वैशेषिक अवस्तु मानेगा ही क्योंकि उसके अनुसार भेद स्वतोव्यावर्तक है। किं च 'भिन्नो घटः' इस घटबुद्धि को भेदावगाही उपचारतः ही कह सकते हैं, मुख्यतः तो इसे घटावगाही ही मानना पड़ेगा, और उपचार उसी का होता है जो कहीं मुख्य हो जैसे वनादि में सिंह मुख्य है तभी माणवक में उसका उपचार होता है, अतः यहाँ उपचार भी क्योंकर होगा जबकि अब तक किसी प्रमा का मुख्य विषय भेद है यह सिद्ध हुआ नहीं है। अथवा नैयायिक भेद को जिसका मुख्य विषय मानता है वह ज्ञान उपन्यस्त करना चाहिये, औपचारिक को प्रमाणरूप से रखना क्यों? – यह तात्पर्य है ॥९६१॥

प्रश्न होता है कि 'सफेद गाय' यह ज्ञान गाय की तरह सफेदी में भी प्रमाण है ही तो 'भिन्न घट' इसे भेद में प्रमाण क्यों न माना जाये? इस पर यह विचारणीय है कि भेद का वस्तु से अभेद है या भेद? दोनों तरह वादी की अभीष्टसिद्धि नहीं होती –

पृथक्ता अर्थात् भेद यदि वस्तुओं में अभेद से ही रहे तो वह वस्तुमात्र ही होगा, (द्वैतापादक नहीं)। यदि भेद वस्तु से अन्य ही है तो तुम्हे भी वस्तु निर्भिन्न ही कहनी पड़ेगी ॥९६२॥

भावाभावपृथक्ताऽपि यद्यभिन्ना ततोऽपृथक्। भावाभावविभिन्ना चेत्पृथक्ता न परस्परम् ॥९६३॥
अन्यापेक्षं पृथक्त्वं चेत्स्वयं तर्ह्यपृथग्घटः। द्विधर्मत्वेऽपि वस्त्वेतदेकं स्यादुत्पलादिवत् ॥९६४॥
धर्मबुद्धिप्रभेदेऽपि धर्म्यभेदः सदेष्यते। अतो गवादेर्भेदेऽपि सन्मात्रमवसीयते ॥९६५॥

भेद को वस्तु से अलग कहने पर वस्तु बिना भेद वाली है यह स्वयं सिद्ध होता है। भेद का वस्तु से सम्बंध हो नहीं सकता क्योंकि सम्बंध के बारे में भी भेद-अभेद के प्रश्न होंगे जिनका उत्तर पूर्ववत् असंभव रहेगा ॥९६२॥

भाव व अभाव में भी भेद के विषय में यही स्थिति है –

भाव और अभाव का भेद भी यदि उनसे अभिन्न हो तो वस्तु भेदरहित ही रहेगी और यदि भाव-अभाव का भेद उनसे भिन्न हो तो वे दोनों आपस में भिन्न नहीं रहेंगे! ॥९६३॥

भावाभावका भेद भावाभाव से अलग न हो तो भाव-अभाव ही बचे, भेद रहा ही नहीं तो वे दोनों भी भिन्न नहीं रहेंगे; भेद होता तो इन्हे भिन्न करता, वही जब इनसे अलग कुछ नहीं तो ये अलग क्यों होने लगे! इसलिये अद्वैत वस्तु ही सिद्ध होगी। और अगर भेद को भावाभाव से अलग कहा जाये तो क्योंकि पहले बता चुके हैं कि भेद का संबंध संभव नहीं इसलिये जब भेद उनसे संपर्क स्थापित नहीं कर पायेगा तो उन्हे भिन्न करेगा कैसे? अतः भाव-अभाव अभिन्न ही होंगे। इस तरह भी अद्वैत ही सिद्ध होता है। भाव-अभाव में यदि भेद मानो ही नहीं तब तो अद्वैत सुतराम् सिद्ध है। यहाँ वार्तिक में भेद के लिये पृथक्ताशब्द के प्रयोग से सूचित है कि वैशेषिकों का भेदातिरिक्त पृथक्ता-गुण मानना भी ग़लत है। चित्सुखी में (पृ० २९४) यह स्पष्ट कर दिया है ॥९६३॥

घट का भेद ख़ुद घटकी अपेक्षा से तो है नहीं अन्यथा घट ही शून्य रह जायेगा। अन्यकी अपेक्षा से होने पर अद्वैत दुर्वार है –

भेद यदि अन्य की अपेक्षा से होता है तो स्वयं घट अभिन्न ही रहेगा। यदि कहो घट स्वरूप से ही भेद-अभेद दोनों धर्मों वाला है तो भी कमल आदि की तरह यह वस्तु एक ही होगी ॥९६४॥

अन्यापेक्ष तो स्फटिकलौहित्य की तरह मिथ्या होता है अतः घट अभिन्न ही होगा जिससे अद्वैत ही उपपन्न है। यदि कहा जाये कि भेद-अभेद दो खासियतें घट में हैं अतः द्वैत-अद्वैत ही सिद्ध होगा, केवल अद्वैत नहीं तो भी ठीक नहीं क्योंकि भेद-अभेद ये खासियतें घट से भिन्न हैं कि अभिन्न? – इस प्रश्न का सही उत्तर तुम दे नहीं पाओगे जिससे दोनों कल्पित ही सिद्ध हो जायेंगे। तो क्या अद्वैत भी कल्पित होगा? द्वैतापेक्ष अद्वैत कल्पित है ही, निष्प्रतियोगिक अद्वैत ही सच्चा विवक्षित है। कथंचित् भेदाभेद धर्म हों तो भी वस्तु वैसे ही अखण्ड होगी जैसे विभिन्न धर्मों वाला होने पर भी कमल का फूल एक ही चीज़ है। वैशेषिक भेदाभेद दोनों को वस्तुधर्म मानता नहीं, यह बात 'अपि' (भी) शब्द से कह दी ॥९६४॥

सारी कल्पनाओं का आधार परमात्मा है अतः कल्पनाओं में भेद रहे इससे परमात्मा में भेद नहीं आयेगा। वेदान्त परमात्मा का ही अद्वैत कहते हैं, दृश्यमान भेद कल्पित है यह भी सूचित करते हैं 'नेह नाना' आदि से। भेद प्रतीयमान नहीं ऐसा कौन कहेगा? वह प्रमीयमाण नहीं यही समझाते हैं ताकि श्रुति जब वास्तविक अद्वैत कहे तब प्रतीतिमात्रशरीर भेद उसका विरोधी न लगे और एकमात्र परब्रह्म ही है यह निष्प्रतिबंध निश्चय हो जाये। इस अभिप्राय से कहते हैं –

धर्मविषयक ज्ञानों में भेद होने पर भी हमेशा धर्मी का अभेद ही रहता है यह स्वीकार है अतः गाय आदि का भेद होने पर भी सन्मात्र निश्चित होता है ॥९६५॥

दाहकता, प्रकाशकता आदि धर्म विभिन्न लगते हैं लेकिन इसलिये आग अनेक नहीं हो जाती। ऐसे ही गाय, घोड़े, भैंस, गधे अलग-अलग हों तो भी सद्ब्रह्म बहुतेरे नहीं होंगे। दाहक आग, प्रकाशक आग आदि सभी अनुभवों में आग

गोत्वादिमेयपक्षेऽपि सद्रूपस्यानपायतः। वस्त्वेव मेयं गोत्वादि शाबलेयादिवत्स्फुटम् ॥९६६॥
सद्रूपत्वापरित्यागादवान्तरनिबन्धनाः। व्यवहाराः प्रतीयन्ते सत्तत्त्वं तेष्ववस्थितम् ॥९६७॥

अनुगत होने से ही अभिन्न रहती है, इसी तरह गाय है, घोड़ा है आदि सर्वत्र 'है' अनुगत होने से अभिन्न ही होगा। प्रमा सत्यज्ञान देती है और सत्य वह होता है जो जिस रूप से निश्चित हो जाये उस रूप से कभी व्यभिचारी न हो। गाय, घोड़े आदि तो कभी 'है' रूप से दीखते हैं कभी 'नहीं है'– रूप से अतः वे व्यभिचारी होने से सत्य नहीं तो उनके बारे में होने वाला ज्ञान भी सत्य नहीं हो सकता। सत्, 'है', कभी व्यभिचारी नहीं मिलता अतः उसी का ज्ञान सच्चा है, प्रमा है। जैसे पुरोवर्तितादि अव्यभिचारी होने से प्रमीयमाण हैं और व्यभिचारी सर्प, जलधारा, माला आदि भ्रमसिद्ध हैं ऐसे समझना चाहिये। यद्यपि कह सकते हैं कि यदि गाय आदि सत् के व्यभिचारी हैं तो सत् भी तो गायादि का व्यभिचारी ही है, कभी गाय से तादात्म्य रखता है तो कभी गाय के अभाव से; तथापि यहाँ प्रमा–व्यभिचार विवक्षित है : गायादि प्रमामें भी भासते हैं, भ्रमादि में भी अर्थात् प्रमाविषय भी बनते हैं व भ्रमादिविषय भी, जबकि सत् कभी बाधित न होने से प्रमाविषय ही रहता है, भ्रमविषय नहीं। 'सर्प है' आदि में भी है–अंश में वह ज्ञान प्रमा ही है। प्रमात्व कोई जाति तो है नहीं अतः है का बाध न होने से वह प्रमीयमाण ही है। जैसे पर्वतांश में प्रत्यक्षता का निषेध असंगत है वैसे सदंश में प्रमाका भी निषेध करना अनुचित है। मोक्षकाल में प्रमाविषयता न होने पर भी अप्रमाविषयता न रहने से व्यभिचारिता नहीं है। लोक में भी विधवा को व्यभिचारिणी नहीं कहते, अनेक पति होने पर ही वह शब्द प्रवृत्त होता है ॥९६५॥

गोत्वादि की प्रमा का निरास व्यक्त करते हैं –

जो लोग गोत्वादि को प्रमेय मानते हैं उनकी भी प्रमा में सद्रूप न भासे ऐसा नहीं होता अतः सद्वस्तु ही प्रमेय निश्चित होती है। गोशब्द का अर्थ जैसे व्यावृत्त शाबलेयादि नहीं होते, अनुवृत्त गोत्व ही होता है ऐसे प्रमाका विषय अनुवृत्त सत् ही है, व्यावृत्त गोत्वादि नहीं ॥९६६॥

सद्रूपका स्पर्श न करने वाली प्रमा का गोत्वादिको विषय कह नहीं सकते और कहने पर भी गोत्वादि असत् हो जायेंगे जिससे सद्वादी को आपत्ति नहीं! यद्यपि आकृति मात्र की शब्दार्थता वैशेषिकसंमत नहीं तथापि देवताधिकरणादि में वह निर्णीत हो चुकने से उसे दृष्टांत बनाना उचित है। 'एतद्गोव्यक्ति' को तो गोपदवाच्य वैशेषिक भी नहीं मानेगा अतः उतना ही दृष्टान्त समझा जा सकता है ॥९६६॥

वैशेषिक स्वप्रक्रिया से शंका करता है : सद्रूप भी प्रमेय नहीं है क्योंकि सामान्य, समवाय और विशेष – इन तीन में वह न रहने से व्यभिचारी ही है। ऐसा न माने तो जाति आदि जातिरहित होते हैं – इस मान्यता का विरोध होगा। उन तीनों में भी स्वरूपतः सत्त्व है यह नहीं कह सकते क्योंकि अन्यत्र सत्–शब्द से जब स्वरूपतः विद्यमान सत्त्व नहीं कहा जाता तो उसे सत्–शब्द का अर्थ वैसे ही कहना नहीं बनता जेसे खण्डादि को गोशब्दार्थ कहना नहीं बनता। मधुसूदन स्वामी ने कहा है अक्षपादसूत्र भी श्रुतिविरुद्धांश में निर्मूल होने से 'तदेव सूत्रं सुगतादिसूत्रवदनुपादेयम्' (सारसंग्रह ३.६६)। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि वैशेषिकादिप्रक्रियायें श्रौत अद्वैत का बाध नहीं कर सकती, तदविरोधेन ही प्रवृत्त हो सकती हैं –

व्याप्यधर्मों से प्रयुक्त व्यवहार सद्रूपता छोड़े बिना ही प्रतीत होते हैं इसलिये सत्तत्त्व ही उनमें अधिष्ठानतया स्थित है ॥९६७॥

खम्वा है, दीवाल है आदि में खम्बापन आदि व्याप्यधर्म हैं, उनसे व्यापक सत्त्वधर्म है ही क्योंकि ये व्यवहार भी सद्रूप को छोड़ते नहीं। खम्वे आदि में सद्रूप है ही यही मानना पड़ेगा क्योंकि 'खम्बा है' यह लोकसिद्ध प्रमा है। यदि सद्रूप से बिछुड़ जायें तो शशशृंगादिकी तरह खम्बे आदि भी अलीक होंगे जो कोई नहीं मान सकता क्योंकि अलीक से आदानादि दृष्ट–अदृष्ट प्रयोजन वाला कोई व्यवहार नहीं होता, अभिलाप भी उसका होता है यह वैशेषिक को तो

सत्तातोऽपि न भेदः स्याद् द्रव्यत्वादेः कुतोऽन्यतः । एकाकारा हि संवित्तिः सद्द्रव्यं सन्गुणस्तथा ॥९६८॥
समवायाच्च सम्बन्धे नैकरूप्यं विभिन्नयोः । तच्चेत्ततो न विश्वासो जातावप्येकबुद्धितः ॥९६९॥

अस्वीकृत ही है। अतः एक सत् की ही पारमार्थिकता है, बाकी सब उसमें कल्पित है। जैसे पुरोवर्ती रस्सी में कल्पित सर्पादि भी पुरोवर्ती दीख जाते हैं ऐसे प्रपंच सत् दीख जाता है। एवं च सत्ता, उसका कहीं रहना-न रहना आदि वैशेषिक प्रक्रियायें व्यर्थ की हैं। सभी कल्पनाओं के अधिष्ठान से अन्य कोई सामान्य है ही नहीं जो सामान्य-समवाय-विशेष में व्यभिचरित हो कि पूर्वोक्त शंका बन सके। यह कहना कि द्रव्यत्व क्योंकि जाति है इसलिये इसमें आकाशवृत्तिजातिका भेद है – यों आकाशवृत्ति जाति सिद्ध होती है जो सत्सामान्य है – अनुचित है, कारण कि इस तरह यह भी कह सकते हैं कि द्रव्यत्व में आकाशवृत्ति किसी व्याप्य जाति का भेद है; अतः इस तरह परसामान्य नहीं सिद्ध होता ॥९६७॥

परस्पर भिन्न द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय ये छह पदार्थ वैशेषिक लोग पारमार्थिक मानते हैं। इसमें विचारणीय है कि क्या सामान्य और विशेष ये दो वस्तुयें हैं? या विशेष ही वस्तुयें हैं? या समान्य-विशेष उभयात्मक एक ही वस्तु है? अथवा सामान्य ही वस्तु है? द्वितीय विकल्प का श्लो० ९७२ में, तृतीय का ९७३ में और चतुर्थ का ९७८ में विवेचन करेंगे। प्रथम विकल्प में पहले दोष देते हैं –

द्रव्यादिका जब सत्ता से भी भेद नहीं है तो अन्य किसी से भेद कैसे होगा? 'द्रव्य है', 'गुण है' – यों एक तरह का ही ज्ञान होता है ॥९६८॥

अनुगत सत्सामान्य से द्रव्यादि व्यावृत्त होने से भिन्न प्रतीत होते हैं फिर भी वास्तव में वे भिन्न हों यह संगत नहीं है क्योंकि वे सत्-तादात्म्येन ही प्रतीत होते हैं। जैसे कटक, कुंडल आदि का स्वर्ण से वास्तविक भेद संभव नहीं ऐसे द्रव्यादिका सत्सामान्य से भी सच्चा भेद संभव नहीं। यह प्रयोग भी है: विचाराधीन द्रव्यादि सत् से भिन्न नहीं हैं क्योंकि सत् से एक होकर इनका ज्ञान होता है, जो सत् से एक हुआ प्रतीत हो वह सत् से भिन्न नहीं होता जैसे स्वयं सत्। यदि सत्से अन्य हों तो द्रव्यादि तुच्छ हो जायेंगे, यह तर्क भी है। जब द्रव्यादि सत्ता से ही अलग नहीं तो आपस में भिन्न क्योंकर होंगे? उन्हें भिन्न करेगा कौन? बल्कि भेदरहित सन्मात्र से अभिन्न होने के कारण वे भी भेदरहित ही होंगे। इसलिये सामान्य व विशेष दो वस्तुयें हों यह ठीक नहीं, एक सत् ही वस्तु है। श्लोक में 'द्रव्यत्वादेः' कहा है, वह भवितृप्रधान कथन है अतः 'द्रव्यादेः' यह अर्थ है ॥९६८॥

भेद होने पर भी समवायवश सत्ता से एकता प्रतीत होती होगी? यह संभावना हटाते हैं –

विभिन्न चीजों का संबंध होने पर या समवाय से उनकी एकता नहीं प्रतीत होती। समवाय से अगर एकताप्रतीति हो तो कहीं विश्वास नहीं हो पायेगा क्योंकि जाति में भी एकता का ज्ञान होता है ॥९६९॥

सम्बंध से एकताज्ञान नहीं यह तो स्पष्ट ही है, दण्ड-पुरुष का संबंध होने पर भी उनकी एकता नहीं प्रतीत होती। 'गोत्व एक है' इत्यादि ज्ञान मान्य हैं। एकत्व का गोत्व में समवाय वैशेषिक को स्वीकार नहीं क्योंकि वह द्रव्येतर को गुणवान् नहीं मानता। इसलिये वहाँ एकत्वज्ञान स्वरूपैक्य से उसे मानना पड़ेगा। अब यदि कहीं समवाय से एकत्वज्ञान मानेगा तो सर्वत्र यह संदेह रह जायेगा कि यह एकताज्ञान समवायकृत है या स्वरूपैक्यकृत? एवं च समवाय से एकताज्ञान होता है यह निश्चय नहीं किया जा सकता। अतः 'सत् द्रव्यम्' आदि में ऐक्यज्ञान समवायवश है यह निर्णय भी संभव नहीं। पूर्व में (श्लो० ९३७) श्रुति से सिद्ध कर चुके हैं कि इदन्तागोचर का सत् से अभेद है अतः वही निर्णय है यह भाव है ॥९६९॥

सत् से गायादि का समवाय हो तो भी उससे एकताज्ञान नहीं यह पूर्वश्लोक में कहा। अब बताते हैं कि उनमें समवायनामक संबंध है भी नहीं क्योंकि सत् व गायादि दोनों अलग-अलग मिलते नहीं। सत् क्योंकि सत् से अलग नहीं मिलता तो सत् में समवेत नहीं है, या गाय क्योंकि ख़ुद से अलग नहीं मिलती तो ख़ुद में समवेत नहीं है, ऐसे ही गाय सत् से अलग नहीं मिलती तो उसमें भी समवेत नहीं है। इस प्रकार समवाय का निरास करते हैं –

संसर्गधर्मता नापि भेदेनानुपलम्भनात्। समवायेन सम्बन्धे को हेतुरिति नेष्यते ॥९७०॥
संयोगश्चेद्वियोगोऽपि समवायेऽनवस्थितिः। स्वतश्चेत्कल्पना व्यर्था द्रव्यस्याप्येकता स्वतः ॥९७१॥
सत्तावगुण्ठिताश्चैते सर्वे भावाः सदैव हि। व्यवहाराय कल्पन्ते भ्रान्तो भेदः सदैव तु ॥९७२॥

(सत् व द्रव्यादि में) समवायसम्बंधरूप धर्म हो भी नहीं सकता क्योंकि ये विभिन्न हुए उपलब्ध नहीं होते। (कहीं भी) समवाय से संबंध में क्या कारण है यह समझ नहीं आता ॥९७०॥

'संसर्गधर्मता' का अर्थ है समवाय की आश्रयता। संसर्ग से यहाँ समवाय ही कहा है; वह जिसका धर्म हो उसे कहेंगे संसर्गधर्म और उसका भाव हुआ संसर्गधर्मता। श्लोकांत में 'नेष्यते' व 'नेक्ष्यते' दोनों पाठ हैं। 'मानाभावात्' टीका से तो लगता है आनंदगिरिस्वामी का भी 'नेक्ष्यते' पाठ था। अर्थ तो एक ही है। 'न निश्चीयते' यह कल्पलतिका में व्याख्या है।

दो सम्बंधियों से परिच्छिन्न हुआ प्रतीत होने से समवाय को स्वतंत्र पदार्थ नहीं मान सकते। सम्बन्धिभूत समवायियों से समवाय का संबंध वताना चाहिये लेकिन बता नहीं सकते क्योंकि किसी संबंध में प्रमाण है नहीं। संयोग और समवाय इनमें नहीं हो सकते यह अगले श्लोक में कहेंगे। और कोई सम्बंध प्रसिद्ध नहीं तथा कल्पित संबंध अतिप्रसंगी होंगे। बिना संवंध के समवाय उन्ही दो से क्यों परिच्छिन्न होगा? सम्बन्धराहित्य समान होने से चाहे जिससे परिच्छिन्न क्यों नहीं हो जायेगा? अतः समवाय मानना ही ग़लत है। 'युतसिद्धयोः सम्बंधः संयोगः, अयुतसिद्धयोस्तु समवायः' इत्यादि वैशेषिकाधिकरणभाष्य व भामती आदि में (२.२.१७. पृ० ५१९) भी समवाय का निरास देख लेना चाहिये। आनंदगिरीय तर्कसंग्रहादि भी दर्शनीय हैं ॥९७०॥

समवाय से संबंध नहीं यह स्पष्ट करते हैं –

यदि समवाय व समवायियों का संयोग हो तो वियोग भी होगा! यदि उनका भी समवाय ही मानें तो अनवस्था होगी। समवाय में समवायिपारतंत्र्य (= तत्परिच्छिन्नता) स्वतः ही हो तो समवाय स्वीकारना ही व्यर्थ है क्योंकि द्रव्यादि की भी सत्त्वसे एकताप्रतीति स्वतः हो जायेगी ॥९७१॥

संयोग हमेशा वियोगान्त होता है, 'संयोगा विप्रयोगान्ताः'। अतः समवाय का संयोग हो तो कभी बिछोह भी मानना पड़ेगा, अतः गुणादि नित्यपरतंत्र नहीं कहे जा पायेंगे। यदि समवाय-समवायी का संबंध समवाय ही हो तो अनवस्था स्पष्ट है। आत्माश्रयादि भी समझ लेने चाहिये। वैसे वैशेषिक समवाय को न संयुक्त मानता है, न समवेत, अतः वह उक्त दोनों पक्ष ग्रहण नहीं करेगा। वह तो समवाय को स्वतः ही समवायी के परतंत्र मानता है, इसी को वह स्वरूपसंबंध कह देता है क्योंकि उसके मत में संबंध कहा न जा सके लेकिन प्रतीत हो तो उसे स्वरूपसंबंध कह दिया जाता है। किन्तु सिद्धांती का कहना है कि तब तो द्रव्य-गुण में ही स्वरूपसंबंध मान लेना चाहिये! पहले उनकी सम्बद्धप्रतीति के लिये एक अप्रसिद्ध समवाय स्वीकारो फिर उसे स्वरूप से बैठाओ इस द्रविडप्राणायाम से अच्छा है कि गुणादि को ही स्वरूप से बैठा लो। अतः द्रव्यादि की जो सत् से एकता प्रतीत होती है वह भी सत्समवायके कारण नहीं बल्कि स्वतः है अर्थात् सत् में आश्रित रहना, सत्तादात्म्यापन्न रहना द्रव्यादि का स्वरूप ही है। विचार करें तो स्वरूप संबंध अनिर्वचनीय संबंध का ही नामान्तर है! इस प्रकार समवाय असिद्ध हुआ तो समवेत, समवायी भी असिद्ध हो गये। संयोग उसके मत में समवेत है अतः वह भी हट गया। इसलिये एक अखण्ड परमशिव ही निश्चित है जिस पर सभी दृश्य कल्पित है ॥९७१॥

सामान्य व विशेष दोनों की वस्तुता का निरास किया। विशेष ही वस्तु है – यह जो विकल्प था (श्लो० ९६८) उसका खण्डन करते हैं –

सभी विशेष हमेशा सत्ता से व्याप्त हुए ही व्यवहार के योग्य होते हैं अतः भेद सदा भ्रमसिद्ध है ॥९७२॥

येषामपि हि सामान्यभेदवद्वस्तु गृह्यते। तेषामपि कुतो भेदो वस्त्वैक्याद्धर्म्यभेदतः ॥९७३॥
अपि भेदेन या बुद्धिः स्यात्सामान्यविशेषयोः। साऽपि तन्मात्रनिष्ठत्वान्नैव भेदस्पृगिष्यते ॥९७४॥

भेद को व्यावहारिक ही मानना है क्योंकि वैशेषिकादि व्यवहारान्यथानुपपत्ति आदि तर्क ही भेद के लिये देते हैं। व्यवहार जिन पदार्थों से होता है वे नियमतः सत्ता वाले ही होते हैं, असत् से व्यवहार वैशेषिक भी नहीं मानता। यदि मान ही ले तब तो व्यवहार से पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होगी और वेदान्ती का इष्ट अद्वैत निरुपप्लव हो जायेगा। अतः जैसे काचादिदोष से प्रतीत दो चंद्रों में परस्पर भेद कल्पित है ऐसे सर्वत्र भेद कल्पित ही है। प्रयोग है : भेदः कल्पितः भेदत्वाच्चन्द्रभेदवत्। यह तो कह नहीं सकते कि सर्वानुगत सत्त्व है ही नहीं; क्योंकि जैसे सत्ता घड़े में दीखती है ऐसे ही घट में वर्तमान गुणादि में भी दीखती है। अतः सत्तानुवेध मना नहीं किया जा सकता। सिद्धांत में 'सत्ता' शब्द सन्मात्रबोधक है यह स्मरण रखना चाहिये ॥९७२॥

समान्य-विशेष उभयात्मक एक वस्तु है इस तीसरे विकल्प का निषेध करते हैं –

जिनके मत में प्रत्यक्षादि से सामान्य-विशेष दोनों वाली वस्तु का ग्रहण किया जाता है उनके मत में भी अद्वैतविरोधी भेद कैसे सिद्ध होगा क्योंकि वे भी वस्तु को एक ही कह रहे हैं, सामान्य-विशेष धर्मों वाले को वे अभिन्न ही कह रहे हैं ॥९७३॥

तात्पर्य है कि सामान्य-विशेष दोनों जिसमें हैं वही वस्तु है और अगर वह अभिन्न है तो भेद अवस्तु ही हो सकता है। सामान्य-विशेष की प्रतीति तो अन्योन्यापेक्ष है – सामान्यापेक्षया विशेष का ज्ञान होगा और विशेषों की अपेक्षा से सामान्य का – अतः उन्हे वस्तु कह नहीं सकते यह आनंदपूर्ण ने स्पष्ट किया है। सामान्य-विशेष का आपसी भेद सच्चा है अतः वस्तु उभयरूप नहीं होगी, उभय-धर्मक भले ही कथंचित् हो, अतः 'धर्म्यभेदतः' कहा ॥९७३॥

सामान्य-विशेष परस्पर विभिन्न दीखते हैं अतः वह भेद धर्मी वस्तु को भी भिन्न बना लेगा? इस संभावना का निषेध करते हैं –

जो ज्ञान सामान्य-विशेष को अलग-अलग समझेगा वह भी अलग जो सामान्य-विशेष उन्हे ही विषय करेगा, भेद को नहीं ॥९७४॥

सामान्य-विशेष को वादी वस्तु का धर्म कहता है अतः वे वस्तु हैं यह कह नहीं सकता, एवं च सामान्यादिविषयक भेदज्ञान हो तो भी उसे वस्तुविषयक नहीं मान सकते। और अवस्तुविषयक भेदप्रमा कोई भी नहीं मानता, अतः सामान्यादिगोचर भेदप्रमा अस्वीकार्य है। मान भी लें तो सामान्य-विशेष को अलग-अलग देखने वाला ज्ञान सामान्यज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि वह सामान्य को ही विषय करेगा, ऐसे ही वह विशेषज्ञान भी नहीं हो सकता और उभयज्ञान भी नहीं हो सकता क्योंकि वह भी केवल दोनों को विषय करेगा, भेद को नहीं। यदि वह कोई अन्य ही ज्ञान हो तो भी अन्योन्याश्रयादि दोषों के कारण उसे प्रमा नहीं कह सकते। भेद मानने में अन्योन्याश्रय कई जगह स्पष्ट किया है : प्रतियोगी व अनुयोगी में भेद तभी हो जब वे भिन्न हों तथा उनका भिन्न होना तभी संभव है जब उनमें भेद हो। यहाँ आत्माश्रयादि सभी दोष समझ लेने चाहिये। इसलिये किसी प्रमा का विषय जब भेद नहीं तो वह सामान्य-विशेष में भी नहीं रहेगा अतः धर्मी में रहे इसकी संभावना ही नहीं।

श्लोक में 'भेदेन बुद्धि' से भेदप्रकारक बुद्धि नहीं कही है क्योंकि वह तो भेद को विषय कर ही लेगी, बल्कि अनुगतमात्र के आकार की और व्यावृत्तमात्र के आकार की दो बुद्धियाँ कही गयी हैं ऐसा विद्यासागर ने समझाया है। शास्त्रप्रकाशिका का आशय है कि यों ज्ञानद्वयसमुदायरूप बुद्धि से भेद सिद्ध ही नहीं होगा अतः पूर्वपक्षी के मत का यह अनुवाद ही नहीं बनेगा। अतः उसकी बात मानकर ही निराकरण करना पड़ेगा। अतः सामान्यादि को भिन्नतया समझने वाली बुद्धि को स्वीकार कर यह बताया कि वह भेदविषयक नहीं है ॥९७४॥

एकं चेद्भिन्नता नास्ति भेदश्चेदेकता कुतः। चित्रेऽप्यनुगमाभावान्न सामान्यविशेषता ॥९७५॥
स्वरूपपररूपाभ्यां यदा सदसदात्मकम्। वस्त्वेकं मानविषयमभावस्ते तदा कुतः ॥९७६॥
प्रत्यक्षादिनिवृत्तिश्चेत्तस्याः किं रूपमुच्यताम्। स्तैमित्यमात्मनश्चेत्स्यात्तद्वस्त्वेवास्मदीहितम् ॥९७७॥
अथ वस्त्वन्तरज्ञानं नितरां तस्य वस्तुता।

सामान्य और विशेष को धर्मी से न अभिन्न कह सकते हैं न भिन्न, यह भी दोष है –

सामान्य-विशेष यदि धर्मी से एक हों तो भिन्नता कहीं रहेगी ही नहीं! यदि ये धर्मी से भिन्न हों तो 'सामान्य-विशेष उभयात्मक एक वस्तु है' यह मत छोड़ना पड़ेगा, तीन वस्तुयें माननी पड़ेंगी। वस्तु को चित्रात्मक मानने पर भी अनुगति न होने से विशेषरूपता ही रहेगी सामन्य-विशेष उभयात्मकता नहीं ॥९७५॥

सामान्य-विशेष अगर धर्मी से अभिन्न हों तो जैसे धर्मी सामान्य-विशेष नहीं ऐसे वे भी सामान्य-विशेष नहीं रहेंगे! तब तो एक अखण्ड वस्तु ही निश्चित है, द्वैत की संभावना ही नहीं। धर्मी से उनका भेद मानने पर उभयात्मक एक वस्तु है यह सिद्धांत खंडित होगा। [टीका में 'एकं वस्तु द्रव्यात्मकम्' यह अपमुद्रण है, 'एकं वस्तु द्व्यात्मकम्' यह पाठ है।] वादी कह सकता है कि जैसे चित्र को लाल या पीला नहीं कह सकते क्योंकि दोनों ही उसके रूप हैं ऐसे ही वस्तु के दोनों ही रूप हैं, सामान्य और विशेष, अतः वस्तु उनसे भिन्न है या अभिन्न यह प्रश्न ही ग़लत है। इस पर सिद्धांती कहता है कि उभयात्मक वस्तु को अनुगत तो मानोगे नहीं क्योंकि गोत्वसामान्य और शाबलेय-विशेष इन दो वाली जो एक वस्तु गाय तुम्हे इष्ट है वह तो अन्य गायों में अनुगत दीखती नहीं है। इसलिये उभयात्मक को अननुगत होने से विशेषात्मक ही कहना पड़ेगा, फिर उसे उभयात्मक कहना निरर्थक है। सामान्यमात्र या विशेषमात्र को तुम वस्तु मानते नहीं, उभयात्मक को मानते हो, उभयात्मक उक्तविधया असंभव है अतः तुम वस्तुवादी ही रह नहीं सकते यह तात्पर्य है ॥९७५॥

सामान्य-विशेष उभयात्मक एक वस्तु है इस पक्ष में मुखतः भेद का निरास किया (श्लो० ९७३-७५) जिससे अर्थात् अभावका भी निरास हो गया। अब उभयात्मकता को भाट्टरीति से उपस्थित कर अभावखंडन द्वारा भेदखण्डन करते हैं –

जब यह मानते हो कि प्रमाण का विषय एक वस्तु है जो निजरूप से सदात्मक है और अन्यरूप से असदात्मक, तब तुम्हारे मत में अभाव क्यों होगा? ॥९७६॥

श्लोकवार्तिक में (अभाव० १२) माना है कि सभी कुछ सद्-असद्-आत्मक है, घट को घटरूपसे सत् और पटादिरूप से असत् समझना चाहिये। इस मत में वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होगा क्योंकि अभाव में कोई प्रमाण नहीं। जब अभाव ही नहीं तो उसके सापेक्ष रहने वाला भेद भी दुर्लभ हो जायेगा। भेद इसलिये अभाव-सापेक्ष है कि जहाँ प्रतियोगितावच्छेदक का अत्यन्ताभाव हो वहीं भेद रह सकता है। टीकाकार का अभिप्राय है कि सदसदात्मक भले ही कहो, वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं कर पाओगे अतः भेद सिद्ध नहीं होगा एवं तब सद्-असद् भी भिन्न नहीं होंगे। किन्तु विद्यासागर ने माना है कि पररूपसे असत्त्व अप्रामाणिक है यह वार्तिक में कह रहे हैं ॥९७६॥

प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का न होना अभाव में प्रमाण हो यह ठीक नहीं –

प्रत्यक्षादि न होने को अभाव में प्रमाण कहो तो उनके 'न होने' का क्या रूप है यह बताओ। आत्मा का व्यापाररहित बने रहना यदि प्रत्यक्षादिका न होना कहो तो वही हमें स्वीकृत वस्तु है ॥९७७॥ अगर अन्य वस्तु के ज्ञान को प्रत्यक्षादि का न होना कहो तो 'न होना' ज्ञानरूप होने से वस्तु ही हुआ। अभाव को भावान्तर भी कहना संभव न होने से वह भी अस्वीकार्य है ॥९७७ $\frac{१}{२}$ ॥

प्रथम विकल्प में प्रत्यक्षादि का अभाव आत्मरूप हुआ जिससे सभी अभाव आत्मरूप सिद्ध होगा और आत्मा अभाव

भावान्तरमभावोऽपि निरुपाख्यः स नेष्यते। तस्माद्वस्त्वेकनिष्ठत्वान्न भेदोऽक्षादिगोचरः ॥९७८॥
घटोऽयमिति संवित्तेर्घटो मेयः प्रतीयते। न व्यावृत्तिः पटादीनामताद्रूप्यात्तथा पटे ॥९७९॥

है नहीं अतः अभाव कल्पनामात्र रह जायेगा। द्वितीय विकल्प में भी भावरूप ज्ञान को प्रत्यक्षादिका अभाव कहना पड़ेगा जो अनुचित है अतः पुनः अभाव काल्पनिक होगा। तृतीय विकल्प है कि भावान्तर ही अभाव है। यह निरालंबनवाद में (श्लो० ११८) श्लोकवार्तिकमें कहा भी है। इसका खंडन किया कि यह भी कहना संभव नहीं : भावान्तर-शब्द से जिसे कहते हो वह भी यदि भाव ही है तो उसे 'अन्तर'-शब्द से कहना व्यर्थ है, आकाश को आकाशान्तर नहीं कहते। यदि अभी तक भाव में अन्यता सिद्ध हो गयी होती तब भले ही भावान्तर-शब्द सार्थक हो सकता था लेकिन वही अभी तक हुई नहीं है। भावान्तर-शब्द से अभाव को कह नहीं सकते क्योंकि अन्य भाव ही भावान्तर कहा जाता है। भाव अलीक नहीं होता, सत्तादात्म्यापन्न ही होता है, अतः यदि अभाव को भावात्मक कहोगे तो वह भी सत्-तादात्म्य से रहित नहीं होगा; एवं च सद् वस्तु से अत्यन्त विलक्षण अभाव नामक पदार्थ संभव नहीं। तीनों विकल्पों के अनुसार प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों का न होना वस्तुमात्र होगा तो उसका (उनका न होना रूप छठे प्रमाण का) विषय भी वस्तु ही हो सकेगा क्योंकि वस्तु ही वस्तु का अभाव सिद्ध करे यह संभव नहीं, ख़ुद ही ख़ुद का अभाव कैसे सिद्ध होगा? एक वस्तु अन्य वस्तु का अभाव सिद्ध करे यह व्यवस्था तब बनती जब पहले विभिन्न वस्तुयें होती, यही अभी तक स्थापित हुआ नहीं है ॥९७७-९७७ $\frac{२}{३}$॥

श्लोक ९७६ से अब तक अभावनिरास से भेद का खंडन किया। श्लोक ९६८ में 'सामान्य ही वस्तु है' यह चौथा पक्ष रखा था। सर्वानुगतरूप से सदा प्रतीयमान सत् परमात्मा ही सामान्य है, वस्तु है, यह स्वीकार करते हुए भेद अप्रामाणिक है इस विचार का उपसंहार करते हैं –

इसलिये प्रमाण वस्तुको ही विषय करते हैं अतः भेद प्रमाणगम्य नहीं है ॥९७८॥

वस्तु त्रिविधस्वरूप हो – सामान्य-विशेष-उभय तीनों उसके स्वरूप हों – यह संगत नहीं क्योंकि सामान्य और विशेष विरुद्धस्वभाव हैं। इसलिये श्रुतिसंमत तथा युक्ति से अविरुद्ध यही मान्य है कि सामान्य ही वस्तु है। सर्वत्र अनुगत एक सन्मात्र ही है, वही सामान्य है। एवं च भेद में कोई प्रमाण नहीं। इस तरह वैशेषिक पक्ष से भी भेद प्रमाणिक नहीं यह निर्णय किया। ये ही युक्तियाँ परिष्कारों से समलंकृत होकर अद्वैतरत्नरक्षण आदि ग्रंथों में शोभा पाती हैं। नव्यन्याय की दृष्टि से वार्तिकोक्तियों में यदि शंका उठे तो सरस्वतीस्वामी के उस ग्रंथ को, तथा अन्य आचार्यों की भी रचनाओं को, देख लेना चाहिये ॥९७८॥

व्यावृत्ति प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है –

'यह घड़ा है' इस अनुभव से प्रमेयरूप घड़ा प्रतीत होता है, पटादि की व्यावृत्ति प्रतीत नहीं होती क्योंकि वह 'यह घड़ा'-रूप नहीं है। ऐसे ही 'यह कपड़ा है' आदि अनुभव व्यावृत्तिगोचर नहीं ॥९७९॥

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो बाल-मूकादि के ज्ञानों की तरह वस्तुमात्र देखता है यह वादी मानता है अतः उससे व्यावृत्तिविशिष्ट घट नहीं जाना जा सकता। घटविषयक सविकल्पक भी घटमात्र देखेगा, व्यावृत्ति नहीं। व्यावृत्ति घटात्मक तो है नहीं कि घटदर्शन ही व्यावृत्तिदर्शन भी हो जाये। यह भी बता ही चुके हैं कि सर्वज्ञ ही अन्य सबसे व्यावृत्त घट को जान सकेगा! इसलिये घट की इतरव्यावृत्ति प्रत्यक्षसिद्ध नहीं। ऐसे ही पटादि सर्वत्र समझना चाहिये। प्रत्यक्ष न होने पर तन्मूलक अन्य प्रमाण स्वतः निरस्त हैं ॥९७८॥

भेद की तरह अभाव भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता यह समझ लेना चाहिये। अभाव के बारे में यह भी सोचना चाहिये कि घटाभाव का यदि कोई आश्रय न हो तब तो वह स्वतंत्र पदार्थ होगा जबकि ऐसा न प्रतीत है, न मान्य ही। आश्रय भी दुर्निरूप है –

घटाभावो विरोधित्वान्न घटेऽर्थान्तरेऽपि न। अषष्ठ्यर्थतया तस्माद्विकल्पोऽयं न वस्तुगः ॥९८०॥
घटो हि संविदं कुर्वन्नात्माकारविशेषणम्। आत्मानं लभते तद्वद्व्यावृत्तिं न पटादितः ॥९८१॥
पटसंवेदनेऽप्येवं पटमात्रं विशेषणम्। ईक्षतेऽत्राधिकं नान्यदभावादि यदुच्यते ॥९८२॥

विरोधी होने से घटाभाव घट में आश्रित नहीं हो सकता और अन्य चीज़ में भी आश्रित नहीं होगा क्योंकि अभाव का सम्बंध संभव नहीं। इसलिये अभावप्रतीति विकल्प ही है, वस्तुको विषय नहीं करती ॥९८०॥

घटकाल में प्रागभाव और ध्वंस रहते नहीं कि घट में आश्रित हों तथा अत्यन्ताभाव यदि रहने वाला मान लें तो भी प्रतियोगी में आश्रित नहीं कहा जा सकता। घट का अन्योन्याभाव तो भेद के निरास से निरस्त है अतः वह घट में आश्रित मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। घट से अन्य कहीं आश्रित हो तो वह किसी अभाव में आश्रित होगा नहीं क्योंकि अभाव आश्रय नहीं बनता तथा भाव में आश्रित होने के लिये उसे संबंध चाहिये जबकि अभावका संबंध हो सकता नहीं यह कह चुके हैं। इसलिये योगियों ने विकल्पशब्द से जो वृत्ति मानी है वही अभावाकारवृत्ति है : शब्द सुनकर वृत्ति बने लेकिन उसका विषय कुछ न हो तो उस वृत्ति को विकल्प कहते हैं। हमें जो अभाव की प्रतीति है वह विचार से भ्रम है; विकल्प का बाह्य विषय नहीं होता और हम अभाववृत्तिका विषय बाहर कोई अभाव नामक पदार्थ है ऐसा मानते हैं। शशशृंग होता है यह मानने जैसा ही घटाभाव होता है यह मानना है। प्रतियोगी की मानस उपस्थिति से अभाव प्रतीत होता है, वह उपस्थिति - प्रसक्ति - शब्दात्मक होती है क्योंकि मनमें पदार्थ नामात्मना ही विद्यमान हैं, अतः शब्दज्ञानानुपातिता संगत है। यद्यपि रूपादिके स्मरण से भी प्रतियोगिप्रसंजन होकर अभाव का ज्ञान होता है, जिस चीज़ का नाम नहीं जानते वह भी देख रखी हो तो उसका न होना पता चल जाता है, तथापि शब्द को उपलक्षण समझना चाहिये : शब्द आदि जिस भी तरह से हो, जिस ज्ञान का विषय नहीं होता वह विकल्प है यह अभिप्राय है।

श्लोक में 'अपष्ठ्यर्थतया' कहा, उसका अर्थ है 'संबंध-रहित होने से'। षष्ठ्यर्थ होता है सम्बंध। वह जिसमें नहीं वह हुआ अपष्ठ्यर्थ। उसका भाव है अषष्ठ्यर्थता और हेतु में तृतीया है ॥९८०॥

श्लोक ९७९ को ही और स्पष्ट करते हैं –

घट जैसे अपने आकार के विशेषण रूप ज्ञान को उत्पन्न करते हुए स्वयं सिद्ध होता है ऐसे पटादि से व्यावृत्ति करते हुए ख़ुद सिद्ध होता हो ऐसा नहीं ॥९८१॥

घट जड है अतः अपना ज्ञान पैदा करे अर्थात् किसी के प्रत्यक्ष का विषय बने, तभी सिद्ध है, अन्यथा नहीं। चेतन तो स्वप्रकाश है अतः बिना किसी ज्ञान का विषय बने भी सिद्ध है, पर जड वैसा नहीं है। इसलिये घट को स्वसिद्धि के लिये स्वाकार ज्ञान उत्पन्न करना पड़ता है। ऐसे उसे स्वसिद्धि के लिये न व्यावृत्ति को न उसके ज्ञान को पैदा करना पड़ता है। क्योंकि व्यावृत्ति न घटका स्वरूप है, न धर्म यह बता चुके हैं। श्लोक ९७९ में ज्ञान की दृष्टि से जो कहा था उसे यहाँ विषय की ओर से कह दिया, बात वही है।

ज्ञान को ज्ञेय का विशेषण कह सकते हैं क्योंकि वह विषयव्यावर्तक होता है। अतः आत्माकारस्य विशेषणम् यह षष्ठी समास है। संवित् को ही विशेषण कहा है। अभिप्राय तो है आत्मनो घटस्य आकारो विशेषणं यस्याः संविदस्ताम्। अतः टीका में 'स्वविशेषितां' कहा है और विद्यासागर ने 'स्वाकाराकारिताम्' व्याख्या की है ॥९८१॥

घटन्याय सर्वत्र लागू होगा –

इसी तरह पटज्ञान में भी केवल पट विशेषण भासता है। पट से अधिक जो अभावादि कहे जाते हैं वे चीजें पटज्ञान में विशेषण हुई नहीं भासतीं ॥९८२॥

अभावादि यदि पट और ज्ञान से अन्य हों तो इसलिये सिद्ध नहीं होंगे कि पट और ज्ञान का उनसे संपर्क नहीं और अगर वे पट या ज्ञान से अनन्य हों तो पट तथा ज्ञान ही सिद्ध रहेंगे, अभावादि नहीं ॥९८२॥

संदिग्धनिश्चयाद्येवं ज्ञानधर्मों विशेषयन्। संविदं भिद्यते मेयात्प्रत्येकं भेदधीर्न तु ॥९८३॥
तथाऽहमेव जानामि माता नान्य इतीदृशाः। मातृधर्माः प्रसिध्यन्ति विशिंषन्तः स्वसंविदम् ॥९८४॥
संविदेका स्वतःसिद्धा प्रत्यग्रूपैकलक्षणा। भावाभावादिरूपाय व्यवहाराय कल्पते ॥९८५॥
अतोऽनुभवमुल्लङ्घ्य न भेदो नाप्यभिन्नता। तत्पृष्ठेन तु मानानि विरोधः किंसमाश्रयः ॥९८६॥

वादी कहता है : तुम वेदान्ती ब्रह्मविषयक भ्रम या संशय से मोक्ष नहीं मानते, निश्चय से मानते हो। अतः भ्रम-संशय-निश्चय को भिन्न मान रहे हो। ऐसे ही इच्छा, सुख आदि भीतरी पदार्थों के बारे में कह सकते हैं। जब इनमें भेद और अभाव मान रहे हो तो बाहरी घटादि में उसे कैसे मना करते हो? सिद्धांती समझाता है -

ऐसे ही संशय, निश्चय आदि मनोधर्म ज्ञान को व्यावृत्त करते हुए भी न प्रमेय से और न हर-एक आपस में भिन्न होते हैं क्योंकि इनके भेद की कोई प्रमा नहीं होती ॥९८३॥ इसी तरह 'मै ही जानता हूँ, प्रमाता हूँ, अन्य (= भ्रान्तादि) नहीं हूँ' इत्यादि प्रमाता के धर्म ख़ुद को (- इन धर्मों को) सिद्ध करने वाले ज्ञान को विशेषित करते हुए सिद्ध हो जाते हैं (भेदज्ञान नहीं पैदा करते) ॥९८४॥

संशयादि मनोवृत्तियाँ हैं अतः मनोधर्म इन्हे कहा। 'संशयज्ञान', 'मिथ्या ज्ञान' इत्यादि तरह से ये ज्ञान के विशेषण बनते हैं। संशयादि की सिद्धि जिस ज्ञान से होती है, चाहे उसे अनुव्यवसाय कहो या सिद्धांतानुसार साक्षी कहो, उस ज्ञान में विशेषण हुए संशयादि ही उससे सिद्ध होंगे। वे प्रमेय से, या आपस में या ज्ञानसे भिन्न हैं - यह पता चलने का कोई उपाय नहीं। जैसे बाह्य घटादि में व्यावृत्ति समझना असंभव ऐसे ही संशयादि आभ्यंतर पदार्थों में। प्रमाता, श्रोता, द्रष्टा आदि धर्म भी ख़ुद भले ही स्वज्ञान से सिद्ध हो जायें, इनका भेद किससे भासेगा? बिना ज्ञान को विशेषित किये बाह्य-आभ्यन्तर कुछ भी सिद्ध नहीं होता अतः सब ज्ञानैकरूप ही निश्चित होता है।

जो यह कहा था कि ब्रह्मभ्रम और ब्रह्मनिश्चय में भेद मान्य है; वह ग़लत बात है : ब्रह्मनिश्चय मोक्षहेतु है, इसमें भेद या उस निश्चय की भिन्नता मानने का प्रसंग ही कहाँ? घट से सब क़ाम चलता है, उसमें 'भेद' को विशेषण बनकर नहीं बैठे रहना पड़ता। ऐसे ही मोक्षजननव्यवहार निश्चय से होगा, संशयादि से नहीं, एतावता भेदसिद्धि नहीं हो जाती ॥९८३-९८४॥

अनुभव परब्रह्म है, अनध्यस्त है, वस्तु है -

प्रत्यक्स्वभाव ही जिसका असाधारणं स्वरूप है ऐसी स्वतः सिद्ध अद्वितीय संवित् भाव-अभाव आदि रूप वाले व्यवहार के लिये समर्थ हो जाती है ॥९८५॥

संवित् क्योंकि सारी कल्पनाओं का अधिष्ठान है इसलिये वही सारे व्यवहार संपन्न करने सें सक्षम हो रखी है। पृ० ४४७ में वार्तिकसार-हिंदी व्याख्याकार ने इस विषय को और स्फुट किया है ॥९८५॥

भेद-अभाव कहीं सिद्ध नहीं तो वेदांतों का अद्वैत आत्मा में प्रामाण्य अक्षुण्ण है -

कूटस्थ प्रत्यग्रूप अनुभव क्योंकि सबका अधिष्ठान है इसलिये उसे छोड़कर न भेद है, न अभिन्नता। अनुभव के सहारे ही प्रमाण टिकते हैं अतः वे न अनुभव का और न उसे बताने वाले वेदांतों का विरोध कर सकते हैं ॥९८६॥

ज्ञान छोड़कर शून्यादिका अभेद भी न हो सकता है न सिद्ध होता है और भेद तो उसे छोड़कर सिद्ध नहीं यह विस्तार से कह चुके। इसलिये श्लोक ९११-१६ जो आक्षेप किया था वह निर्मूल निकला। वेदांत ज्ञप्ति का वर्णन करते हैं और वह सब प्रमाणों का अकेला आश्रय है अतः प्रमाण उसका या उसके वर्णन का विरोध करें तो किसके सहारे!

आचार्य विद्यारण्य महामुनि ने वार्तिकसार में सम्बंधग्रंथ के चार हिस्से किये है : अधिकारिपरीक्षा, सम्बंधपरीक्षा, प्रामाण्यपरीक्षा और प्रमेयपरीक्षा। वार्तिक के विषयों को इसके अनुसार कहीं उन्होंने आगे - पीछे भी किया है लेकिन

अविज्ञातः प्रमाणानां विषयो वादिनां मतः। न तस्य मानतः सिद्धिस्तत्सिद्धेः प्राक्प्रमागमात् ॥९८७॥
अमानकं कथं च स्यादज्ञातत्वमिहोच्यताम्। कथं वा तद्विना मानं विषयासंभवाद्भवेत् ॥९८८॥
अज्ञातत्वक्षतिं कुर्वन्मानं मानत्वमश्नुते। मानादज्ञातता चेत्स्यान्न सा तत्फलमिष्यते ॥९८९॥
अतोऽनुभवतो लब्धमज्ञातं ज्ञापयत्सदा। प्रत्यक्षादि प्रमाणं स्यान्न स्वतो नापि चान्यतः ॥९९०॥

प्रायः वार्तिकक्रम चलाया है। वार्तिक श्लोक ३१२ तक अधिकारिपरीक्षा, फिर श्लोक ४७६ तक संबंधपरीक्षा, तदनंतर प्रामाण्यपरीक्षा चली। वार्तिक ९८७-१०२२ का प्रसंग बहुत विस्तार से प्रमेयपरीक्षा में व्याख्यात है। उसके बाद का वार्तिकप्रसंग प्रामाण्यपरीक्षा में ग्रहण कर लिया गया है। इस दृष्टि से अब जो विचार चलेगा उसे प्रमेय के परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिये ॥९८६॥

अब यह समझाना है कि अनुभव ही अज्ञात है अतः प्रत्यक्षादि भी उसे ही विषय करते हैं जिससे उनका वेदांतों से विरोध असंभव है। इस अभिप्राय से प्रारंभ करते हैं –

वादियों को स्वीकार है कि जो अविज्ञात हो वही प्रमाणों का विषय बनता है। अज्ञात अर्थ प्रमाण से सिद्ध नहीं होता क्योंकि प्रमाणव्यापार से पहले ही वह सिद्ध है ॥९८७॥

'बोधकं यदबुद्धस्य तन्मानमिति हि स्थितिः' (श्लो० ९३८) यह निर्णय है अतः प्रमाणविषय अज्ञात होना ज़रूरी है और अज्ञात पदार्थ प्रमाणसिद्ध हो नहीं सकता, प्रमाण होने पर वह अज्ञात नहीं रह जायेगा तथा प्रमाण अपना काम करे इसके लिये अज्ञात विषय चाहिये ॥९८७॥

वादी की जिज्ञासा शांत करते हैं –

वस्तुविषयक अज्ञातता प्रमाण के बिना कैसे सिद्ध होगी? बताइये। तुम ही सोचो, अज्ञातता के बिना विषय ही असंभव होने से प्रमाण ही कैसे हो सकेगा? ॥९८८॥ अज्ञातता समाप्त करते हुए प्रमाण प्रमाणता पाता है। यदि अज्ञातता प्रमाण से जानी जाये तो अज्ञाततासमाप्ति प्रमाण का फल नहीं होगा ॥९८९॥ इसलिये जो सनातन अनुभव है उससे सिद्ध अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराते हुए प्रत्यक्षादि प्रमाण बनते हैं। अज्ञात अर्थ न ख़ुद सिद्ध हो जाता है और न प्रमाण से सिद्ध होता है ॥९९०॥

अज्ञात अर्थ होता ही नहीं यह नहीं कह सकते क्योंकि तब प्रमाण बेकार होंगे! विषयरहित तो प्रमाण होते नहीं और विषय अज्ञात अर्थ ही होता है। अज्ञातार्थ को प्रमाणसिद्ध भी कहना बनता नहीं क्योंकि प्रमाण उसे अज्ञात रहने नहीं देता तो सिद्ध कैसे करे? इसलिये उदय-अस्त से वर्जित जो अनुभूति है, आत्मा है, उसी से अज्ञात अर्थ की सिद्धि संभव है। अज्ञातता को स्वप्रकाश कोई मानता नहीं कि स्वयं सिद्ध हो और प्रमाण से सिद्धि हो नहीं सकती तो आत्मा से ही सिद्धि माने बिना कोई चारा नहीं। अज्ञात वही होगा जो अज्ञान से अन्य है क्योंकि अज्ञान स्वयं को विषय करेगा नहीं। इसलिये ज्ञान या अनुभव ही अज्ञात हो सकता है। वह अज्ञातता भी उसी अनुभव से सिद्ध है। एवं च अनुभव से सिद्ध अज्ञातता से उपलक्षित प्रत्यगात्मा ही प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों का विषय है इसमें संदेह नहीं। इस सारे प्रसंग को सार और उसकी हिंदी में विस्तार से देखना चाहिये। विवरणकार के वाक्य को सार में (पृ० ५१८) श्लोकबद्ध कर दिया है 'सर्वं वस्तु ज्ञाततया ह्यज्ञातत्वेन वा सदा। साक्षिचैतन्यविषय एवेति ज्ञानडिण्डिमः॥' उस साक्षी से ही अज्ञात अर्थ सिद्ध हो सकता है यही संक्षेप है ॥९८८-९९०॥

यद्यपि जो न प्रमेय हो और न स्वप्रकाश हो वह नृशृंग की तरह अलीक होना चाहिये तथापि अनुभव का अपलाप असंभव होने से अज्ञातता को अलीक कहना बनता नहीं –

नाज्ञासिषमहं पूर्वमित्येवं प्रमिते घटे। पूर्वाज्ञातत्वविषयो भूयोऽप्यनुभवो यतः ॥९९१॥
प्रवृत्तं विषये मानमवच्छेदफलं मतम्। ज्ञाताज्ञाते प्रति त्वस्य न व्यापारोऽप्रमाणतः ॥९९२॥

घट जब प्रमाज्ञान से जान लिया जाता है तब 'इतने समय तक मुझे इसकी जानकारी नहीं थी' यों अनुभव होता है जो ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व अज्ञातरूप से अनुभूत घट को विषय करता है। क्योंकि यह स्मृति होती है इसलिये भी अज्ञातता अनुभवसिद्ध है, अलीक नहीं ॥९९१॥

एक तो ज्ञानसे पहले अनुभव है कि 'मैं नहीं जानता, यह विषय मुझे अज्ञात है' इसलिये अज्ञातता अलीक नहीं, फिर ज्ञान के बाद भी न जानने की स्मृति होती है, वह भी बिना अनुभव हो नहीं सकती इसलिये उससे भी अज्ञातता सिद्ध हो जाती है। एवं च न केवल प्रमित और स्वप्रकाश अलीक न हों ऐसा नहीं, अनुभवसिद्ध भी अलीक नहीं होते यह मानना जरूरी है। सामान्यतः लगता है कि अज्ञातता तो लोकसिद्ध है उसके लिये ऊहापोह व्यर्थ है, लेकिन् विचार करें तब स्पष्ट होता है कि इसी विवेचन से साक्षी के बारे में जानकारी होती है और अज्ञान का अचिन्त्य माहात्म्य पता लगता है ॥९९१॥

घटप्रमा होने पर 'घट अज्ञात था' यह ज्ञान होता है फिर भी अज्ञातता घटप्रमा से सिद्ध हो सके यह संभव नहीं, वह अनुभवसिद्ध ही है –

घटादि विषय में प्रवृत्त हुए प्रमाण का इतना ही फल माना गया है कि विषय का ज्ञान हो जाये। विषय के ज्ञात या अज्ञात होने के लिये प्रमाण कोई व्यापार नहीं करता, करे तो वह अप्रमाण हो जायेगा ॥९९२॥

मीमांसक मानता है कि ज्ञान होने पर विषय में 'ज्ञातता' नामक एक धर्म पैदा हो जाता है। शंका का आशय है कि ऐसे ही यह क्यों न मान लें कि प्रमाण ही इस बात का ज्ञापक हो जाता है कि पहले अज्ञातता थी? ऐसा मानने से वह प्रमित हो सकेगी यह भाव है। समाधान है कि प्रमाण कारक नहीं, वह कुछ उत्पन्न नहीं करता, ज्ञातताधर्म भी प्रमाण उत्पन्न करे यह मान्य नहीं। बल्कि अज्ञाननिवृत्ति से अन्य कुछ भी करने वाली चीज़ कुल्हाड़ी की तरह अप्रमाण हो जायेगी। यदि कहो कि विषयज्ञापन – विषय के ज्ञान का उत्पादन – ही ज्ञातता पैदा करना है अतः जैसे अविद्यानिवृत्ति से अतिरिक्त ज्ञानोत्पत्ति प्रमाण का फल है ऐसे ही अज्ञातताज्ञापन भी माना जा सकता है; तो भी अज्ञातता को प्रमाण से सिद्ध मानना संभव नहीं : यह कह चुके हैं कि अज्ञातता केवल ज्ञान की हो सकती है। वह अज्ञातता यदि प्रकाशात्मक (ज्ञानरूप) हो तो ज्ञान को विषय नहीं करेगी क्योंकि कहीं भी प्रकाश दूसरे प्रकाश को विषय नहीं करता। और यदि अज्ञातता अप्रकाशरूप हो तो भी ज्ञान पर नहीं रह सकती जैसे सूर्य पर अँधेरा नहीं रह सकता। यदि प्रामाणिक हो तो अज्ञातता या प्रकाशरूप होगी या अप्रकाशरूप। जब वह दोनों रूप संभव नहीं तो उसे अविचारसिद्ध मानना पड़ेगा, प्रमाणसिद्ध नहीं। किं च प्रमेय हो तो प्रमाण से हटे भी नहीं यह कह चुके हैं। प्रमाण विषयज्ञान के लिये प्रवृत्त होता है और इसके लिये उसे केवल उत्पन्न हो जाना पड़ता है, इसके सिवाय वह कुछ नहीं करता। अतः अज्ञातता का ज्ञापन प्रमाण का फल हो यह संभव नहीं क्योंकि उपस्थित और अनुपस्थित – घट और अज्ञातता – विषयों के ज्ञान के लिये एक ही व्यापार नहीं हो सकता एवं अनेक व्यापार स्वीकार नहीं हैं।

वस्तुतस्तु अविद्यानिवृत्ति से अतिरिक्त ज्ञानोत्पत्ति भी प्रमाण से नहीं होती क्योंकि सर्वत्र चैतन्य ही आवृत है, उसके अनावरण के बाद कुछ होना बाकी नहीं है। जैसे हवा बादल हटाती है, सूर्य को तो चमकाने नहीं जाती! ज्ञातता भी प्रमाणगम्य नहीं है, साक्षिसिद्ध ही है। सार में (पृ० ४९५) बताया है कि जैसे रूपग्राहक चक्षु रस में प्रमाण नहीं ऐसे घटग्राहक को ज्ञातता या अज्ञातता में प्रमाण नहीं कह सकते। ज्ञातरूप से जो घटज्ञान है वह साक्षी को ही है। शंका होगी कि अज्ञातरूप से यदि घट साक्षी को भास ही रहा था तो प्रमाण ने क्या किया? समाधान है कि अज्ञातता अर्थात् अज्ञान रूप विशेषण (या उपलक्षण) नष्ट कर दिया। या अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितत्वरूप ज्ञातता उत्पन्न कर दी यह भी कह सकते हैं।

सर्वोऽप्यनुभवात्सिद्धां बालोऽप्यज्ञाततां स्वतः। न किंचिज्जान इत्येवं पृष्टो वक्ति प्रमां विना ॥९९३॥
निःशेषकरणग्रामलयेऽप्यनुभवः स्वतः। अलुप्तदृक्सुषुप्तेऽपि जाग्रद्बोधाविशेषतः ॥९९४॥

'प्रमाणानां ज्ञातताजनकत्वान्न वैयर्थ्यम्' यह तत्त्वदीपन में (पृ० ५२) कहा है। यद्यपि सारकी हिंदी में ज्ञातत्व की सिद्धि को प्रमाणप्रयोजन बताकर उक्त विवरण-सिद्धान्त ही स्थापित किया है तथापि सार के मूल में मुद्रित पाठ है 'न चैवं मानवैयर्थ्यं ज्ञातृत्वायोपयोगतः। अज्ञातत्वायोपयुक्तं तत्राऽज्ञानं यथा तथा॥' तब तात्पर्य है कि प्रमाण का फल है हमें ज्ञाता बना देना अर्थात् प्रमाता बना देना। हमें अभिमान हो जाता है कि 'मैं इस विषयकी सही जानकारी वाला हो गया' इतना ही प्रमाणकृत्य है, विषय में कोई अंतर पड़ता हो यह नहीं कह सकते। अतः एक ही वस्तु को एक ही रोग के प्रति कोई पथ्य कहता है तो कोई कुपथ्य और दोनों ही प्रमाण पेश करते हैं, दोनों के अनुसार चलने वाले फल भी पा लेते हैं। इसलिये विषय का अज्ञान भी हटता है या नहीं यह कहना मुश्किल है, हाँ हमें प्रमातृताभिमान वाला बना देता है इतना निश्चित है। दृष्टिसृष्टि के अनुसार यह और स्पष्ट है। वेदान्त प्रमाण भी ऐसे ही कारगर हो जाते हैं : मैं अज्ञ हूँ यह अभिमान मैं विज्ञ हूँ इस अभिमान से ही कट जाता है, बाकी अज्ञान कोई वस्तु तो है नहीं कि प्रमाण से उसका ध्वंस करना हो ॥९९२॥

अज्ञातता अनुभवसिद्ध है यह निर्विवाद है –

सभी लोग, यहाँ तक कि बच्चा भी, अज्ञात विषय के बारे में पूछे जाने पर 'मैं कुछ नहीं जानता' इस प्रकार स्वानुभव से ही अज्ञातता व्यक्त करते हैं। जब प्रमाण के बिना वह सब को ज्ञात है तब उसकी अनुभवसिद्धता माननी ही होगी ॥९९३॥

तात्पर्य है कि अज्ञान अप्रामाणिक किन्तु सबको अनुभूयमान है इसे कोई वादी नकार नहीं सकता और इसी से एक ओर अज्ञान मिथ्या सिद्ध है और दूसरी ओर नित्य अलुप्तदृक् आत्मा ॥९९३॥

कोई कहे कि यह अनुभव भी प्रमाकरणों से होता होगा? तो गहरी नींद का उपन्यास करते हैं –

जब सारा करणसमूह कार्य करना छोड़ देता है अर्थात् सुषुप्ति में भी सनातन चैतन्यरूप अज्ञातत्तानुभव स्वतः रहता है। जाग्रत् में भी अज्ञातत्तानुभव वैसा ही है इसलिये यहाँ भी यह करणजन्य नहीं है ॥९९४॥

गहरी नींद की याद आती है 'तब कुछ नहीं जान रहा था' अतः तब भी नहीं जानने का अनुभव मानना पड़ता है। उसे करणजन्य नहीं कह सकते क्योंकि तब कोई करण काम नहीं करते। अज्ञानानुभव जैसा सुषुप्ति में वैसा जाग्रत् में अतः जैसे वहाँ उसे प्रमाणों से नहीं जानते ऐसे यहाँ भी प्रमाणों से नहीं जानते। साक्षी को ही साक्षिज्ञान कहते हैं : जब जिसका साक्षी बने तब उसे उस विषयका साक्षिज्ञान कहा जाता है जैसे सुखका साक्षी होते हुए आत्मा को ही सुख का साक्षिज्ञान कहते हैं। सुषुप्ति में आत्मा अज्ञान का साक्षी है अतः वही तब उसका साक्षिज्ञान भी है। यद्यपि जाग्रदादिमें भी आत्मा अज्ञानसाक्षी है तथापि तब केवल अज्ञान का साक्षी है, यह अंतर है। सर्वथापि साक्ष्यनिरूपितत्वलक्षण साक्षिता से अन्य साक्षिज्ञान नहीं मानना चाहिये। अतएव अलुप्तदृक् को ही अनुभव कहा। जाग्रदादि में अज्ञान का कैवल्य नहीं रहता अतः सकार्यावस्थ अज्ञान में केवलाज्ञान का संस्कार रहकर स्मृति उपपन्न है। अज्ञान व आत्मा दो ही रहें यह केवल प्रलय में होता है यह मानना हो तो सौषुप्त अज्ञान में 'प्रपंचकालिक' ऐसा विशेषण दे सकते हैं। फिर भी सांप्रदायिकों ने साक्षीके, सुख के और अज्ञान के आकार की तीन वृत्तियाँ, अथवा एक विशिष्ट वृत्ति सुषुप्ति में मानी है। यह अद्वैतसिद्धि (पृ० ५५९), सिद्धान्तबिंदु (पृ० १६४) विवरण (पृ० १७१) आदि में स्पष्ट है। तथापि वार्तिक की रीति में वैलक्षण्य है यह न्यायरत्नावली में (पृ० १४) व्यक्त कर दिया है। संक्षेपशारीरक में (३.१२१-२३) भी इस विषय को कहा है ॥९९४॥

सुषुप्ति से अन्य भी दृष्टांत देते हैं –

अत्यन्ताननुभूतेषु हिमवत्पृष्ठवस्तुषु। जाग्रतोऽनुभवोऽप्येवं सुषुप्तान्न विशिष्यते ॥९९५॥
न चात्रानुभवो लुप्तो न जानामीति बोधनात्। अदृष्टमपि दृष्ट्वाऽस्ति बोधो नाज्ञासिषं त्विति ॥९९६॥
पुमान्सुप्तोत्थितोऽप्येवं प्रमात्रादिलयं स्वतः। अनुभूत्यैव संधत्ते नान्तराऽतोऽस्य लुप्तता ॥९९७॥
न चेदानींतनाद्बोधाद्बोधाभावगतिर्भवेत्। सौषुप्ती नहि बोधस्य कालभेदेन भिन्नता ॥९९८॥

जाग्रत् में भी हिमालय की चोटी पर होने वाली अर्थात् जिनका किसी तरह अनुभव नहीं हुआ ऐसी चीज़ों की अज्ञातता का वैसे ही अनुभव होता है जैसे सुषुप्ति में ॥९९५॥

जो कभी हिमालय नहीं गया, वहाँ के बारे में कुछ भी सुना-पढ़ा नहीं है, उससे पूछें कि 'वहाँ की अमुक चीज़ें जानते हो?' तो निश्चित उत्तर देता है 'नहीं।' घटादि में तो घटप्रमा के बाद घट की अज्ञातता का परामर्श मिलता है अतः शंका हो भी सकती है कि प्रमाण से उसका संपर्क होगा, लेकिन उक्त स्थल में तो प्रमा सर्वथा नहीं है फिर भी अज्ञातता का अनुभव है ही। इसलिये नित्य अनुभव ही अज्ञातता का साधक है। यह दृष्टांत इसलिये दिया ताकि कोई यह न कहे कि सुषुप्ति में आत्मा सिद्ध करता होगा लेकिन जाग्रत् में तो अज्ञातता प्रमित ही है। जाग्रत् में भी वह प्रमित नहीं यह निश्चित हो गया। अथवा सुषुप्ति से अज्ञान सिद्ध हुआ लेकिन विषयकी अज्ञातता नहीं क्योंकि तब किसी विषयविशेष का अज्ञान तो स्मृत होता नहीं। इसलिये अत्यंत अननुभूत पदार्थ का उदाहरण देकर विषय की अज्ञातता को सिद्ध किया। यह सार में (पृ० ४९७) सूचित है ॥९९५॥

अनुभव तो बना ही रहता है –

जाग्रदवस्था में अनुभव अविद्यमान नहीं हो जाता क्योंकि (जैसे जानकारी के समय 'जान रहा हूँ' यह अनुभव है ऐसे न जानते समय भी) 'नहीं जान रहा' यह अनुभव बना रहता है। न देखी चीज़ देखकर भी अनुभव होता है 'इसे तो नहीं जान रहा था।' ॥९९६॥ सोकर उठा पुरुष भी ऐसे ही अपने अनुभव से ही याद करता है कि तब प्रमाता आदि नहीं थे अतः स्वप्न व जाग्रत् के मध्य होने वाले सुषुप्तिकाल में अनुभव का लोप नहीं कह सकते ॥९९७॥

नैयायिक आत्मा को ज्ञानरूप नहीं मानता, हेतुविशेष से उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है और तीन क्षणों में समाप्त हो जाता है ऐसा मानता है। पुनः कारण हो तो नया ज्ञान उत्पन्न होगा, कारण नहीं तो ज्ञानरहित आत्मा रहेगा यह उसकी कल्पना है। अतः यहाँ स्पष्ट किया कि जाग्रत् में कोई काल नहीं जब जानने का या न जानने का अनुभव न हो, अतः बिना अनुभव के आत्मा मिलता नहीं तो अनुभव को कादाचित्क कहना अनर्गल प्रलाप है। ऐसे ही वह सुषुप्ति में ज्ञान नहीं रहता यह मानता है। इसलिये तब भी उसकी स्थिति सिद्ध कर दी। सारानुसार तो जाग्रत् में अनुभव मनआदिहेतुक है यह शंका हो सकती है इसलिये उसे हटाने के लिये सुषुप्तिका कथन कर दिया। अज्ञानहेतुक अनुभव तो न कोई मानता है न अमूढ कह ही सकेगा! ॥९९६-९९७॥

सुषुप्ति में अनुभव नहीं यह कहना संभव भी नहीं –

सुषुप्ति में अनुभव न होने की जानकारी जाग्रत् के ज्ञान से नहीं हो सकती क्योंकि काल के फ़र्क से ज्ञान में अंतर नहीं आ जाता ॥९९८॥

सुषुप्ति में अनुभव का अभाव सिद्ध कैसे हो? उस समय अनुभव मानो तो विरोध है क्योंकि अनुभव और उसका अभाव इकट्ठे नहीं हो सकते। जाग्रत् के ज्ञान से भी उसका पता चल नहीं सकता क्योंकि अनुभव में स्वतः तो भेद है नहीं, विषय से ही उसमें भेद होता है, 'अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्' यह तार्किकों ने भी माना है; सौषुप्त ज्ञानाभाव जाग्रद् अनुभव का विषय है नहीं अतः जाग्रत् का अनुभव उसका साधक नहीं। स्मृति न होना अभाव में प्रमाण नहीं होता,

बोधादेव प्रसिध्यन्ति कालावस्थादयो यतः। मातृमानादयश्चापि कुतस्तैरस्य विक्रिया ॥९९९॥
प्रमातृमानतन्मेयेष्वागमापायिषु त्रिषु। अलुप्तानुदितो बोधः प्रथते प्रत्यगेकलः ॥१०००॥

बहुतेरी चीज़ें हमें याद नहीं लेकिन इतने से उन सबका अभाव नहीं प्रमित होता। अतः न प्रत्यक्ष और न अनुमानादि से सौषुप्त ज्ञानाभाव पता चलता है। देश-काल-अवस्था में परिवर्तन होने से अनुभव बदल नहीं जाता; फूल, कपड़ा, पत्ता आदि बदलने से जैसे स्फटिक बदलता हुआ लगता है, बदलता नहीं, ऐसे ही देशादि के भेद से प्रतीति हो जाती है ज्ञान के भेद की पर वह भिन्न होता नहीं। कारण यह है कि ज्ञानभेद के लिये ज्ञान का अभाव मानना पड़ेगा, वस्तुकृत परिच्छेद ही भेद है अतः बिना परिच्छेद के भेद नहीं कह सकते। ज्ञानका अभाव सिद्ध होता नहीं, क्योंकि उसे सिद्ध करे कौन! स्वतः अभाव सिद्ध नहीं होगा, यदि हो तो वह ज्ञान ही हो गया क्योंकि स्वतः सिद्ध ही ज्ञान है। इसलिये अद्वितीय परिवर्तनहीन नित्य ज्ञान ही मान्य है। इस श्लोक का विशद विवेचन सारकार ने किया है तथा भावरूप अज्ञान, उसमें परामर्श की प्रमाणता, साक्षी की संस्कारहेतुता, ज्ञानाभावनिराकरण, स्मरण की उपपत्ति, अज्ञानांशका अस्मरण इत्यादि विषयों पर हरिहर पंडित ने बहुत प्रकाश डाला है (पृ० ५००-५१५) जिसका अनुशीलन करना चाहिये।

यहाँ विद्यासागर ने यह अनुमान सूचित किया है – देशादिभेद से अनुभव का भेद नहीं होता क्योंकि उपाधिपरामर्श के बिना उसके भेद का विभावन नहीं किया जाता, जैसे आकाश में देशादिसे भेद नहीं होता। यह समझ लेना चाहिये कि सामान्यतः देश-काल-अवस्था के भेद से वस्तुभेद लोक में नहीं माना जाता, मेज़ पर पड़ी किताब हाथ में आने से किताब अलग हो गयी या कल की कलम से आजकी कलम भिन्न है या कच्चे चावल से पका भात अलग है ऐसा लोक में व्यवहार नहीं होता बल्कि जब तक 'यह वही है' ऐसा अबाधित ज्ञान रहता है तब तक पदार्थ वही माना जाता है। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से यहाँ तत्सम्बद्ध रूप बदलते जाने से तार्किक भेदव्यवहार कर लेते हैं, तत्कालसंबद्ध से एतत्कालसम्बद्ध अलग है आदि ढंग से वे चीज़ों में फ़र्क मान लेते हैं। इसलिये समझाया कि जहाँ संबंध सच्चा हो वहीं सम्बद्धरूप परिवर्तित होते हैं। अतः वस्तुभेद कहना संभव हो भी सकता है लेकिन जहाँ संबंध झूठा हो वहाँ सम्बंध बदलते दीखने पर भी वस्तुभेद कहना संगत नहीं। अतएव युगपत् सर्प, जलधारा, भूच्छिद्र आदि विभिन्न चीज़ों से संबद्ध दीखती रस्सी एक ही रहती है। अनुभव का देशादि से सच्चा संबंध नहीं यह प्रतिकर्मव्यवस्था-विचार में व्यक्त किया जा चुका है अतः देशादि के भेद से इसका भेद कहना नहीं बनता। सर्पादि से रज्जुके युगपत् 'संबंध' की तरह विभिन्न कालों से चीज़ों का युगपत् 'संबंध' आधुनिक सापेक्षतावादी कई तरह से समझाते हैं और इसलिये कालिक संबंध से द्रव्यादि का भेद ही जब कथनीय नहीं तो ज्ञानभेद कहना दूरनिरस्त है इसमें क्या संदेह! प्रकृत वार्तिक को अजातवाद के संदर्भ में समझना अधिक सरल है ॥९९८॥

अनुभव के विकार की – सच्चे बदलाव की – असंभवता समझाते हैं –

काल, अवस्था, प्रमाता, प्रमाण आदि सभी क्योंकि अनुभव से ही सिद्ध होते हैं इसलिये उनसे इसमें विकार हो कैसे सकता है? ॥९९९॥

कालादि सभी की सत्ता और स्फूर्ति – उनका होना और उनका भान – अनुभव के अधीन हैं अतः कालादि से निरपेक्ष ही अनुभव मानना ज़रूरी है। इसीलिये उनके कारण इसमें विकार संभव नहीं। एक बार जब उसे इनसे निरपेक्ष मान लिया तो फिर इनके कारण उसे विकारी कहने पर उसके स्वरूप का परिवर्तन मानना पड़ेगा जबकि यह संभव नहीं कि कोई वस्तु अपने स्वभाव की व्यभिचारी हो। अन्यथा शून्यतापत्ति स्फुट है ॥९९९॥

युक्ति बताकर अनुभव भी दिखाते हैं –

प्रमाता, प्रमाण व उनके प्रमेय, तीनों आने-जाने वाले हैं। इन तीनों के होने-न होने में अनुभव बना ही रहता है। अतः वह आत्मवस्तु न प्रारंभ होती है, न समाप्त होती है और न सद्वितीय है ॥१०००॥

अभितोऽनुभवाक्रान्ता ज्ञाताज्ञातत्वभूमिषु। नान्यत्रार्थाः प्रसिध्यन्ति लीयन्ते नाप्यनात्मनि ॥१००१॥
अतोऽनुभव एवैको विषयोऽज्ञातलक्षणः। अक्षादीनां स्वतःसिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता ॥१००२॥
तेनानुभवसिद्धानां लोकेऽज्ञानविघातिनः। मात्वमक्षादयो यान्ति नाज्ञातज्ञाततोऽन्यथा ॥१००३॥

प्रमाता आदि जिस अनुभव से प्रतीयमान हैं वह स्वयम्प्रकाशमान परतत्त्व उन सबका तथा उनके परिवर्तनों का अधिष्ठान है इसलिये उनसे अपरिवर्तित है। अतः सबको यही लगता है 'मैं वही हूँ'। 'देशादि बदले'- यह तो लगता है; 'मेरी विशेषतायें बदली' यह भी लगता है लेकिन 'मैं बदल गया' यह नहीं लगता। ऐसे ही 'मैं नहीं था' यह भी स्मृति नहीं होती क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव नहीं होता और बिना अनुभव के स्मरण संभव नहीं; अतएव 'मैं नहीं रहूँगा' यह प्रमा भी नहीं हो सकती। इसलिये मैं को अलुप्त-अनुदित और एकल कहा है। सर्वत्र, विकार प्रतीत होने पर उसमें कारण क्या - यह ढूँढा जाता है, विकार न लगे तो विकारहेतु की जिज्ञासा ही संभव नहीं। प्रत्यक्तत्त्व में जब विकार भासता नहीं तो इसमें विकार हो इसका कोई कारण कहना बनता नहीं और बिना कारण विकार होता नहीं ॥१०००॥

यद्यपि पूर्वश्लोक में कहा कि प्रमाता आदि के होने-न होने में अनुभव रहता है जिससे लगता है मानो प्रमाता आदि अलग हैं व अनुभव अलग है तथापि ऐसा नहीं -

ज्ञातदशा व अज्ञातदशा में अर्थात् सारी व्यवहारदशा में सभी पदार्थ अनुभव से अभिभूत रहते हैं अतः उससे अतिरिक्त सिद्ध नहीं होते और असिद्ध हुए भी अनुभव से बहिर्भूत नहीं होते ॥१००१॥

सत्ता-स्फूर्ति में अनुभवाधीन होने से पदार्थ अनुभव से आक्रांत या अभिभूत कहे गये हैं। रज्जुपरतंत्र सत्तादि वाले सर्पादि जैसे रज्जु से अन्य नहीं, रज्जु में ही उनके जन्मस्थितिभंग होते हैं, ऐसे ही समस्त प्रपंच अनुभव से अन्य नहीं। रज्जु-सर्प रज्जु छोड़कर कहीं जन्मादि नहीं पाता, इसी तरह प्रपंच भी अनुभव छोड़कर जन्मादि नहीं पा सकता। जैसे प्रपंचका होना सिर्फ़ अनुभव में ऐसे प्रपंच न होना भी उसी में है। इसी प्रकार प्रपंचभान व प्रपंचका अभान भी अनुभव में ही है। 'में' को भी वैसे ही समझना चाहिये जैसे साँपादि रस्सी 'में' होते या नहीं होते हैं। अतः प्रपंच और उसका अभाव दोनों आत्मा में अध्यस्तमात्र हैं यह तात्पर्य है। इस पर भी वार्तिकसार में (पृ० ५१७-५२६) विस्तार है ॥१००१॥

अनुभवाद्वैत प्रमाणित कर दिखाते हैं -

इसलिये स्वतः सिद्ध एक अनुभव ही अज्ञात होने से प्रत्यक्षादि का विषय है जिसके बारे में वे प्रमाण हैं ॥१००२॥

प्रमाण अज्ञातता हटाते हैं। अज्ञात केवल अनुभव है अतः उसी में सब प्रमाण हैं। वह स्वभाव से ही स्फुरता है, भासता है। उसका प्रकाश किसी और के कारण नहीं। स्वप्रकाश भी प्रमाणविषय हो इसमें विरोध नहीं क्योंकि प्रमाणकार्य अज्ञानहानि है, स्फुरण नहीं। इस पर चित्सुखी के आरंभ में विचार है। प्रकृत वार्तिक को सत्ता प्रत्यक्षसिद्ध है इस विषय में अद्वैतसिद्धि में (पृ० ३१८) प्रमाण दिया है। सार में (पृ० ५२६-५४१) भी इस श्लोक का आशय स्पष्ट किया है ॥२००२॥

लोक में प्रमाणों की घटादिविषयता मानी जाती है वह ग़लत है -

अज्ञात अनुभव में अध्यस्तरूप से सिद्ध विषयों की अज्ञातता हटाते हुए प्रत्यक्षादि लोक में प्रमाणपदवी प्राप्त करते हैं। यदि बिना अध्यास के, प्रमाण से विषय अज्ञातरूप से सिद्ध हुए हों तो उनके ज्ञापकरूप से प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं बन सकेंगे क्योंकि प्रमाणसिद्ध की प्रमाण से निवृत्ति नहीं हुआ करती ॥१००३॥

घट का चित्पर अध्यास है लेकिन चित् ढकी है, अज्ञात है, इसलिये 'घट भास रहा है' यह नहीं लगता। प्रमाण चित्के ढक्कन को हटा देता है तो घट भास जाता है, इसी से लोक में भ्रम होता है कि प्रमाण ने घट को विषय किया।

घटादयः प्रमासिद्धा मुञ्चन्त्यज्ञाततां न तु। स्वतः सिद्धोऽपि वस्तुत्वान्मुञ्चत्यात्मा प्रमां विना ॥१००४॥
प्राग्बाधकागमात्सिद्धिर्लौकिकस्यापि वस्तुनः। वस्तुतत्त्वबलादेव तत्तमोव्यवधानतः ॥१००५॥
कृत्स्नमात्राद्युपादानतमोबाधस्तु बोधतः। तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थात्पूर्णैकात्म्यस्वलक्षणात् ॥१००६॥

घड़े के नीचे बत्ती जल रही हो और घड़ा हटा दें तो कमरे की चीज़ें दीखने लगती है, लेकिन घड़ा हटाने वाले ने चीज़ों के साथ कुछ किया हो ऐसा नहीं। इसी तरह यहाँ है। अज्ञातता क्योंकि आनुभविक ही है, प्रामाणिक नहीं, इसीलिये वह प्रमाणनिवर्त्य है, अन्यथा प्रमाण से अज्ञान हट नहीं सकता।

विद्यासागर ने 'तेन' का अर्थ किया है – क्योंकि अज्ञातता अनुभव-सिद्ध है। अंतिम चरण का उनका पाठ है 'माज्ञाततोऽन्यथा', अर्थ यही है कि प्रमाणसिद्ध अज्ञातता की प्रमाण से निवृत्ति असंगत है।

वार्तिक के 'लोके' को सारमें खोला है 'अतो मूढा एवमाहुरज्ञातत्वविघाततः। मात्वमक्षादयो यान्तीत्येवं तीर्थकरा अपि ॥'(पृ० ५४१)॥ अतः प्रमाणसिद्ध एक परमात्मा ही है ॥१००३॥

स्वप्रकाश चिदात्मा अपनी अज्ञातता हटाने के लिये प्रमाण की अपेक्षा रखता है –

जैसे लोक में प्रमाणसिद्ध माने जाने वाले घटादि अपनी अज्ञातता ख़ुद नहीं छोड़ देते, प्रमाणव्यापार से ही वह हटती है, ऐसे स्वप्रकाश आत्मा भी वस्तु होने से बिना प्रमाण के अज्ञातता नहीं छोड़ता ॥१००४॥

यहाँ अनुमान बता दिया – जो वास्तविक होते हुए अज्ञात होता है वह प्रमाण से ही अज्ञाततारहित हो पाता है, यह घटादि में देखा गया है। आत्मा भी वास्तविक और अज्ञात है अतः उसकी अज्ञातता भी प्रमाण से ही हटती है। जैसे वृत्तिव्याप्त घटादि ही अज्ञाननिवर्तक होते हैं ऐसे वृत्तिव्याप्त आत्मा ही अज्ञाननिवर्तक है यह कल्पलता में बताया। स्वप्रकाशता उपाधि नहीं क्योंकि अज्ञातताकी निवर्तकता प्रमाण में ही होती है, स्वप्रकाशमात्र में नहीं, बल्कि वह तो अज्ञातता का साधक ही होता है; अर्थात् तर्क न होने से उपाधि नहीं है। यहाँ घटादि की प्रमाणसिद्धता लोकप्रसिद्ध होने से दृष्टान्तरूप से कही गयी है ॥१००४॥

अज्ञातता प्रमाणनिवर्त्य होने पर भी आत्मा स्वभाव से ही स्वप्रकाश है –

'मैं ब्रह्म हूँ' इस बाधक विज्ञान के उदय से पूर्व आत्मा के अज्ञान से व्यवहित आत्मस्वभावभूत चैतन्य प्रकाश के बल पर ही सभी लौकिक वस्तुओं की भी सिद्धि होती है (इसलिये प्रमाण-प्रमेय आदि समस्त संसार के प्रकाशक आत्मा की स्वप्रकाशता स्वाभाविक ही है।) ॥१००५॥

तात्पर्य है कि अज्ञातता भी जिससे भास रही है उसकी प्रकाशरूपता में संदेह नहीं। जिससे सारा प्रपंच ज्ञात-अज्ञात दशाओं में प्रतीयमान है वह यदि स्वतः प्रकाश न हो तो स्पष्ट ही जगदान्ध्य हो जायेगा ॥१००५॥

प्रत्यक्षादि भी अगर आत्मा में ही प्रमाण हैं तो शास्त्र की क्या ज़रूरत? बताते हैं –

प्रमाता आदि सारे प्रपंच के परिणामी कारणभूत अज्ञान का बाध तत्त्वमस्यादिवाक्य से जन्य उस ज्ञान से ही होता है जो पूर्ण एकात्मतारूप स्व को लखाता है ॥१००६॥

प्रत्यक्षादि भले ही आत्मा में प्रमाण हैं पर प्रपंचहेतु है अद्वैत आत्मा का अज्ञान – या अखण्ड-अज्ञान – अतः वह अद्वैत आत्मा के द्रढिष्ठ अपरोक्ष से ही – अखण्ड ज्ञान से ही-बाधित हो सकता है और वह ज्ञान वेदान्तमहावाक्यों से ही लभ्य है अतः शास्त्रसार्थक्य है। सार में तो (पृ० ५४०) वर्णित किया है कि धीवृत्तिरूप सभी प्रमाणों का गोचर ब्रह्म होने पर भी सामग्रीभेदवश बंध और मोक्ष की व्यवस्था है। नेत्रादि तथा उपनिषत्, दोनों प्रमोत्पत्ति की सामग्री हैं। प्रमाबुद्धि यद्यपि अज्ञान निवृत्ति करने को उद्यत होती है तथापि नेत्रादि सामग्री उस काममें प्रतिबंधक बनती है, तुरन्त ही बुद्धि पर रूपादि का आरोप कर देती है। रूपादि से आकुलित हुई बुद्धि अज्ञान समाप्त नहीं कर पाती बस कुछ देर उसे अभिभूत

तेनाऽऽगमस्य तत्र स्यादज्ञातत्वविघातिनः। प्रमाणत्वं पुमर्थश्च स एव विदुषां मतः ॥१००७॥
ननु दुर्वारसंसारदुःखसंदर्भहानतः। किमन्यत्सुखमिष्टं स्याद्यस्याऽऽप्तेः पुरुषार्थता ॥१००८॥
लोकेऽपि व्याधिसंतापविच्छित्तौ सुखितेक्ष्यते। व्यतिरिक्तसुखार्थां च न प्रवृत्तिर्विरागिणाम् ॥१००९॥
असंवेद्यं सुखं नापि पुमर्थो न च कर्मता। स्वरूपे वेद्यवेत्तृत्वायोगाद् द्वैतप्रसङ्गतः ॥१०१०॥

करके फिर ख़ुद निवृत्त हो जाती है। इससे विलक्षण अद्वैत प्रमा निर्दुष्ट उपनिषत्-सामग्री से जन्य है (पृ० ५४६) अतः अज्ञान नष्ट कर देती है ॥१००६॥

प्रत्यक्षादि उपाधि-समेत आत्मा को विषय कर सकते हैं अतः उसी का ज्ञान कराते हैं जबकि वेदान्त तात्पर्यवृत्ति से निरुपाधिक तत्त्व का साक्षात्कार कराने में समर्थ हैं अतः उसी में प्रमाण हैं। प्रत्यक्षादि से सोपाधिवस्तु का ज्ञान होता है और उपाधि अज्ञानसापेक्ष होती है इसलिये सोपाधिज्ञान अज्ञान को निवृत्त करता नहीं। निरुपाधिक परमार्थज्ञान का विषय उपाधिरहित है अतः वह अज्ञान हटाने में सक्षम है। वस्तुतः तो विषय ही वृत्ति के संपर्क से अविद्याविरोधी बनता है इसलिये सोपाधि विषय अविद्यापक्षपाती होने से अविद्यानिवर्तक नहीं बनता क्योंकि तब स्वनिवर्तकता की आपत्ति होगी; निरुपाधि विषय की अविद्यानिवृति से निवृत्ति होनी नहीं अतः वह उसे समाप्त कर देता है। 'वस्तुबलप्रवर्तनमरुद्धव्यापारसन्दीपितः' (४.३८) आदि संक्षेपशारीरक इस अभिप्राय को स्फुट करता है। एवं च अधिकारी को वाक्यश्रवण से जो साक्षात्कार होता है उसी से अनर्थकारणभूत अज्ञान हटता है जिससे अज्ञातात्मविषयक सफल ज्ञान कराने वाले तत्त्वमादि वाक्यों का प्रामाण्य निर्विवाद है –

श्रुतियों के तात्पर्यानुसार समझे जाने वाले परमात्मा की अज्ञातता समाप्त करने वाले वेदान्तवाक्य प्रमाण हैं क्योंकि यह सिद्ध कर चुके हैं कि श्रुतिप्रमाण से जन्य अद्वैतागम की प्रमाणता सुस्थिर है ॥१००७॥

ज्ञान से कैवल्य श्रुतिप्रमाणसिद्ध है और कृतकृत्यतानिश्चय से श्रेष्ठ विश्राम विद्वानों को प्रत्यक्षसिद्ध फल है यह सार में (पृ० ५४८) बताया है। वहीं रमणीय वचनों से जीवन्मुक्ति समझायी है और शब्द से अपरोक्ष साक्षात्कार का भी साधन किया है। जो लोग शब्द से अपरोक्ष नहीं मानते, उनपर पिशाची का आवेश चढा है अतः उनकी क्या प्रतिक्रिया की जाय! यह बड़ा मार्मिक वर्णन वहाँ (५५१-५३) दर्शनीय है। अदर्शन की अनावश्यकता भी समझायी गयी है, बाध ही ज़रूरी है। प्रकृत वार्तिक में 'विद्वानों को' इसलिये कहा कि मूर्ख लोग तो सालोक्यादि सविषय दशाओं को ही मोक्ष मान लेते हैं ॥१००७॥

कुछ प्राचीन वैशेषिक दुःखाभाव से अन्य सुख नहीं मानते। भासर्वज्ञादि नैयायिकैकदेशियों को छोड़ दें तो नैयायिक भी मोक्ष में दुःखाभाव से अतिरिक्त सुख नहीं मानते। अतः प्रश्न उठता है –

जिसका निवारण अत्यंत कठिन है ऐसा जो संसार में होते रहने वाले दुःखों का समूह, उसकी समाप्ति से अतिरिक्त 'इष्ट' कहलाने वाला सुख है क्या जिसकी प्राप्ति को पुरुषार्थ कह रहे हो? ॥१००८॥ लोक में भी बीमारी से होने वाले दुःख की समाप्ति होने पर सुखिता देखी जाती है। विरागी लोग बंधनिवृत्ति से अन्य किसी सुख के लिये प्रवृत्ति नहीं कर सकते ॥१००९॥ अज्ञायमान सुख हो तो भी पुरुषार्थ नहीं होगा और मोक्ष में सुखका ज्ञान संभव नहीं क्योंकि अखंड स्वरूप ज्ञाता व ज्ञेय दोनों नहीं हो सकता अन्यथा द्वैत हो जायेगा ॥१०१०॥

लोक में देखा गया है कि प्राप्त दुःख हट जाये तो सब कहते हैं 'अब यह सुखी हो गया।' अतः दुःख न होने से अन्य सुख मानना व्यर्थ है। विरक्त मुमुक्षु जो साधना करते हैं वह भी संसारदुःख के समापन के लिये ही, इससे अन्य कोई सुख वे नहीं चाहते, अन्यथा रागी ही रह जायेंगे। मोक्ष में सुख यदि प्रतीयमान नहीं तो वैसे ही अभिलषणीय नहीं जैसे वह निधि जो हमेशा छिपी ही रहनी है और यदि उसकी प्रतीति हो तो एक सुखज्ञाता और दूसरा ज्ञेयरूप सुख यह द्वैत दुर्वार है। इसलिये औपनिषदों को भी भावरूप सुखका आविर्भाव मोक्ष में नहीं मानना चाहिय – यह शंका है ॥१००८-१०१०॥

नैवं भेदेन संसिद्धे सुखदुःखे कथं तयोः। ऐक्यं सुखस्य विच्छेदो दुःखं वा किं न कल्प्यते ॥१०११॥
अदुःखिनोऽपि दृश्यन्ते सुखप्राप्तीच्छया यतः। तदुपाये प्रवर्तन्तस्तदभेदे न युज्यते ॥१०१२॥
चन्दनादिसुखोपायसंपन्नाः सुखिनोऽप्यलम्। पुत्रजन्मादिवार्ताभिः प्राप्नुवन्ति सुखान्तरम् ॥१०१३॥
पुत्राद्यप्राप्तिरूपं च दुःखं तत्र न कल्प्यते। असंवित्तेरवेद्यं हि न दुःखं वैरिदुःखवत् ॥१०१४॥

सुख-दुःख परस्पर भावाभाव नहीं हैं यह समझाते हुए समाधान करते हैं –

यों सुख को दुःखाभाव कहना ठीक नहीं। सुख-दुःख पृथक् अनुभूयमान हैं, इसलिये दुःखाभाव सुख कैसे हो सकता है? यही क्यों कल्पना नहीं कर लेते कि सुख न होना ही दुःख है? ॥१०११॥

ज्येष्ठ में हरद्वार में नाभि तक गंगाजी में खड़ा व्यक्ति मध्याह्नसन्ध्या के समय सिर पर गर्मी से दुःख और पैरों में ठंडक से सुख इकट्ठे ही भोगता है अतः ये भावाभावरूप नहीं। नैयायिक सुख को देहधर्म तो कहेगा नहीं, दुःख आत्मधर्म है तो तदभावरूप सुख भी आत्मा में ही होगा। आत्मा वह निरंश मानता है। इसलिये भावाभाव होने पर भी अंशभेद से विद्यमानता वादी नहीं कह सकता। अवच्छेदक के भेद से यदि एक आत्मा में युगपत् भावाभाव रहना उपपन्न करे तो भी ठीक नहीं क्योंकि अवच्छेद बदलने पर भी वस्तु तो बदली नहीं कि उसमें भावाभाव साथ रह सकें। भोजन समाप्त कर पाग बाँध ले तो देवदत्त भूखा नहीं हो जाता! यदि तार्किक आकाश में युगपत् शब्द और उसके अभाव की विद्यमानता कहे तो उसे समझा देना चाहिये कि अभाव तो केवल 'विकल्प' है (श्लो० ९८०) अतः भावाभावसामानाधिकरण्य हमें कहीं इष्ट नहीं। किं च यदि अवच्छेदवश रहेंगे तो स्वरूप में रहना मिथ्या ही होगा क्योंकि सापेक्ष सत्य नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, सुख को दुःखाभाव मानने में कोई युक्ति भी नहीं। अतः ये पृथक् ही हैं ॥१०११॥

सुखी लोग भी अधिक सुख के लिये कोशिश करते हैं जबकि अभाव में तारतम्य नहीं होता –

क्योंकि अदुःखी लोग भी सुख पाने की इच्छा से सुख के उपायों का अनुष्ठान करते देखे जाते हैं जो दुःखाभाव और सुख का अभेद मानने पर संगत नहीं, इसलिये भी ये विभिन्न हैं ॥१०१२॥

ललित कलाओं से सुख सर्वत्र प्रसिद्ध है जिसे किसी दुःख की निवृत्ति नहीं कह सकते। उकता न रहा हो तो भी मधुर कोकिलरव सुनते ही पुलक किसे नहीं हो जाती! यद्यपि क्वचित् सिद्धान्ती भी इच्छादुःख हटने मात्र को सुख बताता है तथापि वह विषयवैराग्यार्थ है क्योंकि वहाँ भी आत्मसुख का प्रतिपादन है जो अभावरूप नहीं है यह समझ लेना चाहिये।

वार्तिक में अनेकत्र ऐसे प्रयोग हैं जो पाणिनिव्याकरण से सिद्ध होना मुश्किल हैं किन्तु वैयाकरण जैसे पाणिन्यादि के प्रयोगों को भी नियमादिका ज्ञापक मानते हैं ऐसे हम लोग भाष्यादिकारों के प्रयोगों को स्वीकारते हैं क्योंकि पतंजल्यादि ही आप्त हैं, सुरेश्वराचार्यादि नहीं – यह कहना निर्मूल है। अतः सर्वत्र ऐसे स्थलों में प्रयोगसाधुता समझ लेनी चाहिये ॥१०१२॥ पूर्वोक्त बात विस्पष्ट करते हैं –

चन्दनादि जो सुख के प्रसिद्ध साधन हैं उनसे संपन्न पर्याप्त सुखी लोग भी पुत्रोत्पत्ति आदि समाचारों से अन्य सुख अनुभव करते हैं ॥१०१३॥ वहाँ यह कल्पना नहीं कर सकते कि पुत्र न होने का दुःख था जो हटा; क्योंकि ऐसा अनुभव नहीं होता। अज्ञायमान दुःख तो माना नहीं जाता जैसे दुश्मन का दुःख ॥१०१४॥

सुख के बहुतेरे उपाय हैं और प्रायः सभी सुखी लोग भी उपायान्तर बटोरने में व्यापृत रहते हैं अतः सुख अभावरूप नहीं। कहीं यदि कमी खल रही हो तो उसके पूरे होने से दुःखनिवृत्तिमात्र मान भी सकते हैं किन्तु अप्रत्याशित सुखों के लिये वैसा कहना संभव नहीं। अतएव सार में कहा है 'तृप्ता अपि च दाक्षिण्याद् भुञ्जानाः सुखमाप्नुयुः। अनातुरोऽपि चाभ्यङ्गे मर्दनात्सुखमश्नुते ॥' (पृ० ५६३)। 'दाक्षिण्यात्' अर्थात् खिलाने वाला प्रेम से आग्रह कर थोड़ा और खिलाता है

तिर्यञ्चोऽप्यत एवेह कामयन्ते सुखं तथा। अप्रियं विजिहासन्ति न तु जानन्ति साधनम् ॥१०१५॥
वेदोऽपि शुद्धमात्मानं सुखं मुख्यं प्रदर्शयन्। अनात्मानं तथा दुःखं पुमर्थत्वेन संमतः ॥१०१६॥
तदेतत्प्रेय इत्यादिवाक्येभ्योऽनेकधा श्रुतम्। तथाऽऽत्मनस्तु कामाय तस्मान्नान्यत्सुखं भवेत् ॥१०१७॥

तो जो सुख होता है वह भूख मिटने का है नहीं। बल्कि कई बार खाने का दुःख भी होता है लेकिन आग्रह मानने से हुए सुख के लिये वह भी सहन कर लेते हैं! इन सभी जगह कोई दुःख अनुभूयमान नहीं होता जो नष्ट होता हो और जिसका अनुभव न हो वह दुःख कहा ही नहीं जा सकता। दुश्मन का दुःख हमें अनुभव में नहीं आता अतएव हम उसे सुखी ही मानते रहते हैं, वह कहे तो भी समझते हैं कि नाटक कर रहा है। अतः देवदत्त को अज्ञायमान दुःख देवदत्त का दुःख नहीं कहा जा सकता यह निर्णीत है जिससे उक्त स्थलों में दुःखहानि से अन्य ही सुख मान्य है। यद्यपि यह लोकसिद्ध है तथापि मोक्ष में भावरूप सुख सिद्ध करने के लिये पहले लोक में अभावान्य सुख समझा रहे हैं। वादी मोक्ष में न मानना पड़े इसलिये लोक में भी नहीं मानता अतः उसके लिये सिद्ध करना ज़रूरी है ॥१०१४॥

मनुष्य ही नहीं, पशु भी सुख चाहते हैं –

क्योंकि दुःखध्वंस व सुख विभिन्न हैं इसलिये पशु पक्षी आदि भी लोक में सुख चाहते हैं तथा अप्रिय से दूर होना चाहते हैं। उन्हे साधन मालूम नहीं, यह बात अलग है ॥१०१५॥

अपनी प्रवृत्ति-निवृत्ति को सुखेच्छा-दुःखजिहीर्षा से नियत समझकर पशुओं की प्रवृत्त्यादि से उनकी कामनादि समझना संभव है। सार में और स्पष्ट किया है (पृ० ५६५) कि बछड़े आदि से गायादि प्रसन्न होती देखी जाती हैं। ऐसे ही बछड़े आदि को वे सुरक्षित भी करती हैं, यह भी इसमें चिह्न है कि बछड़े आदि से उन्हे प्रसन्नता है। भूखी-प्यासी हो तो चारा-पानी पाकर गाय दुःखनिवृत्ति करती है, बछड़े आदि से प्राप्त प्रसन्नता उतने मात्र से नहीं होती यह उनकी आकृति आदि से पता चल जाता है। अतः दुःखनिवृत्ति और सुख विभिन्न हैं। पशुओं को दुःखहान और सुखोपादान के दृष्ट उपाय पता हैं यह तो स्पष्ट है लेकिन अदृष्ट उपायों की उन्हे जानकारी है यह कह नहीं सकते जबकि मनुष्य दोनों जानता है। यह इसलिये कहा कि शास्त्र में अनिष्टनिवृत्ति के और विभिन्न इष्टप्राप्तियों के पृथक्-पृथक् साधन बताये हैं; कई फल ऐसे हैं जिन्हे शास्त्र से ही जान सकते हैं अतः उनकी अप्राप्ति का दुःख है यह कहना संभव ही नहीं; अतः दुःखाभाव से सुख को अलग स्वीकारना अनिवार्य है ॥१०१५॥

लोक की तरह श्रुतिसिद्ध आत्मा भी भावरूप सुख है –

मुख्य सुख शुद्ध आत्मा ही है और दुःख आत्माको छूता भी नहीं – यह दिखाते हुए ही वेद पुरुषार्थफलक प्रमाण माना गया है ॥१०१६॥

भूख आदि सभी क्लेशों से रहित शुद्ध आत्मा ही मुख्य सुख है 'प्रत्यङ्मात्रे काचिदानन्दतान्या' (सं० शा० १.१८०), वही दुःख से सर्वथा अनवच्छिन्न है। इस आनंद को प्रत्यग्रूप से अनावृत करने से ही तो वेद परम प्रमाण है। सामान्यतः भी पद-पदार्थ लोक-वेद उभयत्र समान होते हैं यह श्लोक ६६८ में स्पष्ट कर चुके हैं अतः लोक में सुखपद भावविशेष कहता है तो शास्त्र में भी भूमा आत्मा को जब सुख कहेंगे तब वही अर्थ प्रतीत हो सकता है। 'सुखसे सोया' आदि लौकिक प्रयोग प्रसिद्ध होने से वैषयिक वृत्ति ही सुखवाच्य है यह कह नहीं सकते। अतः उक्त सर्वज्ञोक्ति के अनुसार ही इन शब्दों के अर्थ समझ लेने चाहिये ॥१०१६॥

आत्मा की सुखरूपता प्रमाणित करते हैं –

'वह यह प्रियतर है' इत्यादि वाक्यों से आत्मा की सुखरूपता अनेक प्रकार सुनी जाती है। ऐसे ही 'आत्मा के लिये ही सब कुछ प्रिय होता है' इत्यादि श्रुति से अर्थात् सिद्ध है कि आत्मा सुख है। इसलिये आत्मा से अन्य कुछ सुख नहीं है ॥१०१७॥

पुरुषार्थाभिसंबन्धाद्विरागित्वं यथाऽऽश्रितम्। परानन्दाभिलाषोऽपि तथा चेत्किं निषिध्यते ॥१०१८॥
आत्यन्तिकसुखेच्छायां यदि रागित्वमुच्यते। विविक्तदेशसेवादाविच्छायां किं न रागिता ॥१०१९॥
अथ ये शतमित्यादिवाक्यैरेतत्प्रपञ्चितम्। एष ह्येवेति च व्यक्तं तैत्तिरीयश्रुतावपि ॥१०२०॥

'अनेक प्रकार' इसलिये कहा कि उक्त एक-आध वाक्य ही नहीं, बहुतेरे वाक्य इस बात को कहते हैं अर्थात् अभ्यासरूप तात्पर्यलिंग से यह सिद्ध है। 'प्रियतर' (बृ० १.४.८) से बताया कि वह हमेशा अधिक प्रिय रहता है। 'आत्मा के लिये' (बृ० २.४.५) आदि श्रौती अर्थापत्ति दिखाने के लिये है अतः पूर्ववाक्य में भी 'प्रेयः' कहा होने पर भी पुनरुक्ति नहीं है। 'आनन्दं ब्रह्म', 'भूमा तत् सुखम्' आदि वाक्य भी समझ लेने चाहिये ॥१०१७॥

आत्मसुख की अभिलाषा से वैराग्यहानि नहीं –

पुरुषार्थरूप मोक्ष से कारणतया सम्बद्ध वैराग्य जैसे स्वीकार है वैसे ही जब परमानंद की इच्छा है तो मुमुक्षुओं में उसका होना कैसे मना कर सकते हैं? ॥१०१८॥

वैराग्य यद्यपि संसार के प्रति द्वेष है तथापि मोक्षोपयोगी होने से मुमुक्षु के लिये आदेय है। आत्मसुख की कामना भी मोक्षोपयोगी है अतः उसके लिये उपादेय ही है, हेय नहीं। वादी का कहना था कि रागमूलक प्रवृत्ति संसरणहेतु होती है अतः सुखराग से मुमुक्षु प्रवृत्त नहीं होगा। सिद्धांती ने प्रतिबंदी उत्तर दिया कि द्वेषमूलक प्रवृत्ति भी संसरणहेतु होने से मुमुक्षु वैराग्यवान् भी नहीं हो सकेगा! तात्पर्य है कि जैसे कहना पड़ेगा कि अन्य द्वेष संसरणहेतु होने पर भी वैराग्य मोक्षसाधन होने से ग्राह्य है वैसे ही कहना चाहिये कि मोक्षसाधन होने से आत्मसुख की इच्छा भी ग्राह्य है। जैसे मिथिलाके मूर्द्धन्य विद्वान् ने कहा है 'यथा मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते, स यावदादेयं तावदादाय विनिवर्तते' (भामती. पृ० ७४) वैसे यहाँ भी आत्मसुख का राग आदेय होने से ग्राह्य है, विषयसुख का राग ही कण्टकस्थानीय होने से त्याज्य है। वैराग्य की यह भावरूपता वेदांत में स्मर्तव्य है ॥१०१८॥

यदि द्वेष मिथ्याज्ञान से होता है और संसार से उद्वेग संसारकी निःसारता के – अनित्यता, अशुद्धता, असुखता, अतृप्तिहेतुता आदि के – सच्चे ज्ञान से होता है यह द्वेष और संसारक के प्रति उद्वेगरूप वैराग्य में फ़र्क कहो तो यहाँ भी आत्मसुख के प्रति होने वाली प्रवृत्ति रागमूलक नहीं वरन् परानंद में श्रद्धा से है यह अन्तर समझ लो –

आत्यन्तिक सुख की इच्छा होने पर यदि रागिता कही जाये तो एकान्तवास, गुरुशुश्रूषा आदि की इच्छा होने पर भी रागिता क्यों न होगी? ॥१०१९॥

तार्किक भी साक्षात्कार के उपायरूप से योग का अभ्यास विहित करते हैं। 'अथ कथं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते?' यों वात्स्यायनमुनि ने 'समाधिविशेषाभ्यासात्' (४.२.३८) इस गौतमसूत्र को अवतरित किया है। 'अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः' (४.२.४२) यों गौतम ने विविक्तदेशसेवन का विधान माना है। 'तद्विद्यैश्च सह संवादः' (४७) इत्यादि से गुरुशुश्रूषादि भी कहे हैं। जैसे इन सबकी इच्छा से विराग नहीं कटता ऐसे ही आत्मसुख की इच्छा से भी नहीं हटेगा। बल्कि केवल दुःखहानि यदि मोक्ष हो तो पुमर्थ नहीं होगा क्योंकि संसार दशा में दुःख समेत ही सही, सुख मिलता तो है। सांसारिक सुख से बड़ा सुख मिले तो इसे छोड़ना संभव भी है, यदि इतना भी न मिले तो कौन इसका त्याग करेगा? ॥१०१९॥

आत्मा की सुखरूपता में अन्य वाक्य भी प्रमाण हैं –

'और जो मनुष्यानंद से सौ गुणा आनंद है' (बृ० ४.३.३) इत्यादि वाक्यों द्वारा आत्मा निरतिशय सुख है यह विस्तार से कहा है। 'यह आनंदित करता है' (तै० २.७) यों तैत्तिरीयश्रुति में भी आत्माकी सुखरूपता व्यक्त की गयी है ॥१०२०॥

स्वानन्दाभिमुखः स्वापे बोध्यमानोऽत एव च। पीड्यते स्त्र्यादिसंपर्कसुखविच्छेदतो यथा ॥१०२१॥
आनन्दैकस्वभावत्वाद्वेद्यता तत्र नार्थ्यते। निःसंबोधेऽर्थ्यते सा हि न तु बोधैकलक्षणे ॥१०२२॥
अधिकारस्य सौलभ्यप्रतिपत्त्यर्थमीरणम्। सर्वपुंसामिति तथा पूर्वमेव प्रपञ्चितम् ॥१०२३॥
स्वर्गादिकाम्यपि यतो मुक्तिं कामयते न तु। मुक्तिं कामयमानोऽन्यत्कटाक्षेणापि वीक्षते ॥१०२४॥
सर्वेषामपि च नृणामधिकारोऽनिवारितः। यतोऽतः सर्वतो नृणामिति भाष्यकृदब्रवीत् ॥१०२५॥

मनुष्यानंद से सौ गुणा पितरों का आनंद, उनसे सौ गुणा गंधर्वों का आनंद इत्यादि विस्तार से याज्ञवल्क्य ने जनक को सुनाया है और ब्रह्मानंद को 'एष एव परम आनन्दः' कहा है। तैत्तिरीय में भी ब्रह्म को रसरूप से कहकर बताया कि उससे ही सब आनंद पाते हैं। वहाँ भाष्यादि में बताया है कि परमात्मवेत्ता लोग परमात्मसुख से ही प्रसन्न रहते हैं। आत्मक्रीडादि मुंडकश्रुति भी इसमें अनुकूल है ॥१०२०॥

गहरी नींद का अनुभव भी सिद्ध करता है कि आत्मा सुखरूप है –

स्त्री आदि के संपर्क से होते सुख के विच्छेद से जैसे व्यक्ति पीडित होता है ऐसे ही सुषुप्ति में आत्मानंद की ओर मुँह किये व्यक्ति को जगाते हैं तो वह पीड़ित होता है, यह इसीसे है कि वह तब सुख के आस्वाद में रत है ॥२०२१॥

जिस अनुभव के अनवसर वियोग से पीडा हो वह सुखानुभव माना जाता है अतः स्वाप भी सुखानुभव है। वहाँ विषयादि है नहीं अतः आत्मा ही सुख है यह तात्पर्य है ॥१०२१॥

श्लोक १०१० में कहा था कि आत्मसुख अवेद्य हो तो सुख नहीं और वेद्य हो तो मोक्ष में द्वैतापत्ति है; उस शंका का समाधान करते हैं –

सुखैकरस होने से आत्मा में वेद्यता की ज़रूरत नहीं। जो ज्ञानरूप नहीं होता उसे ही वेद्य होना पड़ता है, ज्ञानमात्रस्वरूप आत्मा को नहीं ॥१०२२॥

सुख भासमान होना चाहिये यही कह सकते हैं, वेद्यता का निवेश व्यर्थ है। जहाँ भासने के लिये वेद्य बनना पड़े वहाँ वेद्यता भी होती है लेकिन आत्मा तो स्वप्रकाश है अतः इसका स्वरूपसुख भासमान ही है। अतः वेद्यता नहीं, फिर भी पुरुषार्थता है। मोक्ष सुख पुरुषार्थ नहीं, वेद्य न होने से, छिपे खजाने की तरह – इस प्रयोग में जडता उपाधि है यह भाव है। अतएव वैष्णवादि जो मानते हैं कि मोक्ष सुख के लिये जीव-ईश्वर का भेद आवश्यक है वह भ्रान्तिमात्र सिद्ध होता है। सुख की पुरुषार्थता केवल अनावृततया है न कि अन्य किसी से प्रयुक्त; यह सिद्धिग्रंथ (पृ० ८८८) आदि में स्पष्ट है ॥१०२२॥

श्लोक ४७७ से अब तक 'सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः' – इस भाष्यवाक्य का आशय खोला। आगे भाष्यकार ने कहा है 'सर्वपुरुषाणां निसर्गत एस तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वात्' अर्थात् सभी लोग स्वभाव से ही इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार चाहते हैं इसीलिये वेद उनके उपाय बता देता है। अब इस भाष्य का तात्पर्य बताते हैं –

अधिकार की सुलभता समझाने के लिये 'सर्वपुरुषाणाम्' इत्यादि कहा गया है। अधिकार की संभावना पहले (श्लो० २९०) बता चुके हैं ॥१०२३॥ स्वर्गादि चाहने वाला भी मोक्ष चाह सकता है लेकिन मोक्ष चाहने वाला तो मोक्ष से अन्य कुछ कटाक्ष से भी नहीं देखता! अतः अधिकार निःसंदिग्ध है ॥१०२४॥ क्योंकि सभी नरों को अधिकार में कोई रुकावट नहीं इसीलिये भाष्यकार ने 'सर्वपुरुषाणाम्' यह शब्द रखा है ॥१०२५॥

'मुझे सुख हो, दुःख न हो' यह प्राणिमात्र की अभिलाषा है। दुःखरहित निरपेक्ष सुख ही मोक्ष है। इसलिये सिद्ध

शुक्लां गामानयेत्युक्ते कांचिद् गोकर्मिकां क्रियाम्। कुर्वाणमभिवीक्ष्याज्ञः कुरुते कारणानुमाम् ॥१०२६॥
ज्ञातं ध्रुवमनेनैतद्यद् गोकर्मकमीक्ष्यते। प्रागज्ञातस्य निर्वृत्तिर्न यतो वीक्ष्यते क्वचित् ॥१०२७॥

होता है कि सभी मोक्ष के इच्छुक हैं। मुमुक्षु ही ब्रह्मविद्या में अधिकारी है अतः ब्रह्मकाण्ड का अधिकारी सुलभ है। मोक्षेच्छा से विशिष्ट पुरुष को ब्रह्मविद्या से मोक्ष मिल सकता है, यह स्पष्ट करने के लिये भाष्य में 'सर्वपुरुषाणाम्' आदि कहा। मोक्ष की इच्छा असंगत है – इस प्रश्न का समाधान पहले हो चुका है। मोक्ष महान् फल है अतः अल्प फल चाहने वाला भी इसका प्रार्थी हो यह नामुमकिन नहीं पर जो मोक्षकाम हो गया वह यदि अन्य कुछ भी चाहने लगे तो वज्रमूर्ख ही कहा जायेगा! अतः यह नहीं कह सकते कि ब्रह्मकाण्ड का अधिकारी संभव न होने से उपनिषत् का आरंभ न किया जाये, क्योंकि इसका अधिकारी हर कोई है। भाष्य में 'सर्वपुरुष' और वार्तिक में 'सर्वेषां नृणाम्' यह सुस्पष्ट कथन प्रमाण है कि आर्य म्लेच्छादि किसी अवान्तर विभाजन से निरपेक्ष नरमात्राभिमानी मुमुक्षामात्र वाला हो तो ब्रह्मविद्या में अधिकारी है। ग्रंथविशेष में शास्त्रान्तर से अधिकार में रुकावट होने पर भी उपनिषत् के अर्थ में, तत्त्वज्ञान में, महावाक्य के प्रतिपाद्य में किसी के लिये रुकावट नहीं। प्राकृतादि भाषा या साधनान्तर से सही, लेकिन ब्रह्मविद्या का अधिकार मुमुक्षु मनुष्यमात्र को है। 'सर्वपुरुषाणाम्' आदि से ज्ञानाधिकारी का समर्पण ही विवक्षित इसलिये कहा कि वार्तिक में (५५६-६०) पूर्ववाक्य का ब्रह्मविद्यापरक अर्थ समर्थित किया जा चुका है।

जिज्ञासा होगी कि नामभाष्य में – उपनिषत्-शब्द के अर्थ के प्रतिपादक भाष्यवाक्य में – जब 'तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात्' कहकर फल बता दिया तो 'तत्पराणाम्' के प्रयोग से पता चल गया कि सहेतु संसार के अत्यंत अवसादन का इच्छुक अधिकारी है; फिर 'सर्वपुरुषाणाम्' आदि कहना व्यर्थ क्यों नहीं? उत्तर है कि वहाँ अर्थात् सिद्ध हुई बात यहाँ मुखतः कहकर स्पष्ट की अतः व्यर्थ नहीं। यद्यपि अधिकारिभाष्य 'संसारव्याविवृत्सुभ्यः' यह पहले भी आ चुका है तथापि वहाँ यह नहीं कहा था कि ऐसे लोग सुलभ हैं; बल्कि 'संसार से हटना चाहने वाले' इस ढंग से कहना तो और दौर्लभ्य व्यक्त करता है! अतः 'सर्वपुरुषाणाम्' से स्पष्ट किया कि मोक्ष सबको अभीष्ट होने लायक है और वास्तव में सब उसे चाहते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि फिर अधिकारविचार ही बेकार है, चाहे जो विद्याधिकारी हो जाये; सब मोक्ष चाहने पर भी सांसारिक कामनाओं के आकर्षणवश उधर प्रवृत्त नहीं हो पाते, अतएव मुमुक्षाप्रयुक्त विवेकादि साधनसंपत् नहीं एकत्र करते। मुमुक्षा रहने पर भी प्रतिबद्ध होने से प्रतिबंधकनिवृत्त्यर्थ अधिकारविचार ज़रूरी है। ब्रह्मसूत्रों में अथशब्द से बताया अधिकारी ही ब्रह्मविद्या से मोक्ष पायेगा। अतः जिस की मुमुक्षा अप्रतिबद्ध होगी वह उन संपत्तियों को बटोरे इसलिये अधिकार का वर्णन आवश्यक है। 'सर्वपुरुषाणाम्' कहना इसलिये ज़रूरी कि कहीं कोई यह मानकर ब्रह्मविचार से दूर न रहे कि प्राचीन ऋषि आदि ही ब्रह्मज्ञान के अधिकारी होते होंगे, हम बेचारे नहीं! विवरण तृतीय वर्णक में विस्तार से अधिकार स्पष्ट किया है। इस प्रकार यह भाष्य सार्थक है ॥१०२३-१०२५॥

आगे भाष्य है 'दृष्टविषये चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायज्ञानस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव सिद्धत्वाद् नागमान्वेषणा' अर्थात् दृष्ट विषयों में इष्टप्राप्ति के तथा अनिष्टपरिहार के उपाय लौकिक प्रमाणों से ही पता चल जाते हैं अतः उनके लिये शास्त्र ढूँढना नहीं पड़ता। इसका व्याख्यान करने के लिये भूमिका रचते हुए पूर्वपक्ष उपस्थापित करते हैं –

उत्तम वृद्ध के यह कहने पर कि 'सफेद गाय लाओ', जब मध्यम वृद्ध को गायविषयक कोई क्रिया करते देखता है तब अज्ञ बालकादि प्रवृत्तिके कारण का अनुमान करता है : क्योंकि मध्यम वृद्ध गायविषयक आनयनरूप अनुष्ठान करता देखा जा रहा है इसलिये प्रवृत्ति करने वाले इस मध्यमवृद्ध ने नियोग से प्रवृत्तिकारण समझा है; यह इसलिये निश्चित है कि अज्ञात अनुष्ठेय का अनुष्ठान कभी नहीं देखा जाता ॥१०२६-१०२७॥

नियोगवादी पूर्वपक्ष रख रहा है, वह प्रवर्तक घटित ही शाब्दबोध होता है यह सिद्ध करना चाहता है अतः शक्तिग्रह का वर्णन कर रहा है। यह विचार पूर्व में हो चुका है पर अन्य भी युक्तियों से सिद्धांत स्पष्ट करने के लिये पुनः प्रसंग

यद्यर्थं कारकाधीनं दृष्ट्वा तत्कारणानुमा। प्रमाणान्तरगम्यत्वाल्लौकिकत्वं तदाऽऽपतेत् ॥१०२८॥
न चेत्कारकतन्त्रोऽर्थो ज्ञातस्यानुष्ठितिः कथम्। न सिद्धो नापि चाभावः कारकापेक्ष ईक्ष्यते ॥१०२९॥
आरभ्ये कारकत्वे न बलात्प्रामाण्यमापतेत्। व्यङ्ग्ये तु कार्ये वेदस्य सिद्धेऽर्थे मानता भवेत् ॥१०३०॥
वाक्यस्य च प्रमाणत्वं नाप्यभावैकगोचरम्। न चेदभावः कार्योऽर्थः सिद्धेऽर्थे मानता भवेत् ॥१०३१॥
अथोभयात्मकं कार्यं सिद्धासिद्धस्वभावकम्। उक्तदोषद्वयासक्तिर्न च वस्त्वीदृशं क्वचित् ॥१०३२॥
सिद्धस्य व्यञ्जकं मानं न मानं कारकं क्वचित्। चोदनामानकं चेत्तत्कथं कार्यं तदुच्यताम् ॥१०३३॥

उठाया है। बालक के अनुमान का ढंग यह है : विचाराधीन प्रवृत्ति का कारण है प्रवर्तकज्ञान क्योंकि सोच-समझकर की गयी प्रवृत्ति है जैसे प्रवर्तकज्ञान से होने वाली सोची-समझी अविवादास्पद प्रवृत्ति। आगे वह निश्चय करता है कि उत्तमवृद्ध के शब्द से ही वह प्रवर्तकज्ञान हुआ अतः समझ लेता है कि शब्द की प्रवर्तक में शक्ति है। फिर बहुत से प्रयोगों में शब्दों की अनुवृत्ति-व्यावृत्ति देख कर तत्तत् पद की प्रवर्तकान्वित स्वार्थ में शक्ति का ज्ञान बालक को होता है। इसलिये ब्रह्मकाण्ड को कर्मकाण्ड से पृथक् करना संभव न होने से अधिकारान्तर की चर्चा व्यर्थ है यह वादी का अभिमान है ॥१०२६-१०२७॥

इसका निरास प्रारंभ करते हैं : प्रवर्तक कौन है? नियोग से अन्य अर्थ या नियोग ही? यदि नियोगभिन्न प्रवर्तक हो तो शब्दशक्ति नियोगैकनिष्ठ होती है - नियोग को ज़रूर विषय करती है - यह मानना छोड़ना पड़ेगा। अतः वादी नियोग को ही प्रवर्तक कहेगा। इसपर दोष देते हैं -

कर्ता आदि कारकों से स्वरूपलाभ पाने वाले श्रोताकी प्रवृत्तिरूप अर्थ को देखकर यदि उसके कारण का, प्रवर्तकभूत नियोगका, अनुमान होता है तो शब्देतर प्रमाण से ज्ञेय होने के कारण नियोग को लौकिक मानने की नौबत आयेगी ॥१०२८॥ यदि नियोगरूप लिङाद्यर्थ कारकों से साध्य न हो तो उसे किसी तरह जान लें तो भी धात्वर्थ का अनुष्ठान किस लिये? विद्यमान और अत्यन्त असत् दोनों ही कारकसापेक्ष सिद्धि वाले नहीं देखे जाते ॥१०२९॥ किं च नियोग यदि शब्द से उत्पन्न हो तो शब्द कारक हो जायेगा अतः प्रमाणता खो बैठेगा। अगर नियोग शब्द से अभिव्यक्त ही हो तो सिद्ध अर्थ में ही वेद को प्रमाण मानना पड़ेगा ॥१०३०॥ नियोग यदि असत् हो तो वाक्य उसमें प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि वाक्य - या कोई भी प्रमाण - असद्विषयक नहीं होता। और कार्य अर्थात् नियोगरूप अर्थ यदि असत् नहीं है तो सत् अर्थात् विद्यमान ही होगा और तब वाक्य सिद्ध अर्थ में अवश्य प्रमाण मानना होगा! ॥१०३१॥ अगर कार्य उभयात्मक हो अर्थात् सिद्ध और असिद्ध दोनों रूपों वाला हो तो पूर्वोक्त दोनों ही दोष प्राप्त होंगे। वस्तुतः इस तरह की कोई वस्तु होती भी नहीं जो उभयात्मक हो ॥१०३२॥

नियोग असाध्य हो तो उसके लिये चेष्टा व्यर्थ अतः विधि ही व्यर्थ है और साध्य हो तो भी न सद्रूप हो सकता है क्योंकि तब सिद्ध वस्तु हो जायेगा, न असद्रूप हो सकता है क्योंकि तब प्रमेय नहीं होगा और न उभयात्मक हो सकता है क्योंकि वैसा होना विरुद्ध है, असंभव है। नियोग से शब्द का भी संबंध बनता नहीं। शब्द को उसका उत्पादक मानें तो शब्द का प्रामाण्य जाता है और बोधक मानें तो नियोग सिद्ध वस्तु हो जाता है! इस तरह नियोग का स्वरूप ही असंगत होने से वह कोई वस्तु नहीं कि तदन्वित स्वार्थ में शक्तिग्रह हो ॥१०२८-१०३२॥

प्राभाकर नियोग को लौकिक - लोकसिद्ध, शब्देतर प्रमाण से गम्य - तो मानता नहीं और वैदिक मानने पर वह सिद्ध ही मानना होगा यह बताते हैं -

प्रमाण सिद्धवस्तु को अभिव्यक्त, प्रकाशित, करता है। कहीं भी प्रमाण कारक नहीं होता। नियोग यदि विधिप्रमाणक है तो कार्य कैसे है, बताओ? ॥१०३३॥

प्रयोग है : नियोग सिद्धार्थ है क्योंकि वेदप्रमाणक है, जैसे प्रत्यक्षादिप्रमाणक घटादि सिद्धार्थ। या - वेद सिद्धविषयक

मतं विषयसंसिद्ध्या कार्यमित्यभिधीयते। यागसिद्धेः पुराऽसिद्धेः कथं चोदनया मितम् ॥१०३४॥
प्राक्प्रयोक्त्रभिसंसिद्धौ किं फलं यागसिद्धितः। यागसिद्ध्याऽपि तत्सिद्धौ प्रयोज्यत्वं कुतो यजेः ॥१०३५॥
यागाद्यनुष्ठितेरस्य घटादेरिव चेन्मतः। उपकारो नियोगस्य कथं न घटतुल्यता ॥१०३६॥

होता है क्योंकि प्रमाण है, जैसे प्रत्यक्षादि। अतः नियोग को प्रमेय मानने पर सिद्ध ही मानना पड़ेगा। 'प्रमाण कारक नहीं' का मतलब है कि प्रमाण जिसे विषय करता है उसके प्रकाशन से अन्य किसी तरह उससे सम्बद्ध नहीं होता। यह न मानें तो यथार्थ ज्ञान संभव नहीं क्योंकि प्रमाण से यदि प्रमेय में अंतर आता है तो प्रमाण अर्थमात्रका ज्ञान करा नहीं सकेगा। कथंचित् इसे वस्तुस्थिति मान लें कि विषय में कुछ अंतर लाते हुए ही प्रमाण उसे विषय करता है तो भी सिद्ध विषय में ही अन्तर लाया जा सकने से नियोग को प्रमाणगोचर बनने से पूर्व अवस्थित मानना पड़ेगा। किन्तु यह है अभ्युपेत्यवाद : वेदांती और प्राभाकरादि ऐसा मानते नहीं। अतः श्लोकोक्त प्रश्न उपपन्न है ॥१०३३॥

'नियोग सिद्ध है' से सिद्धांती उसे अतुच्छ – ग़ैर-अलीक – कहे तो प्राभाकर की दृष्टि से सिद्धसाधन होगा क्योंकि यह तो वह भी मानता है। यदि 'सिद्ध' का मतलब है 'साध्य नहीं', तो प्राभाकर को अनिष्ट है क्योंकि धात्वर्थ के अनुष्ठान के बाद उसकी सिद्धि मानने से वह उसे साध्य स्वीकारता है। किन्तु तब वह वेद से गम्य नहीं रहेगा क्योंकि वेद जब उसका कथन कर रहा है तब तो वह अविद्यमान ही है। यह दोष कहते हैं –

यदि यह स्वीकार हो कि विषय अर्थात् धात्वर्थ के अनुष्ठान से कार्य सिद्ध होता है तो यागानुष्ठान से पूर्व असिद्ध होने के कारण वह विधि से प्रमित कैसे होगा? ॥१०३४॥

अर्थात् असिद्ध में वेद प्रमाण नहीं जैसे नरशृंग में उसे प्रमाण नहीं मान सकते ॥१०३४॥

प्राभाकर नियोग को प्रवर्तक मानता है, नियोज्य से अपनी सिद्धि कराने के लिये उसे धात्वर्थनिष्पादन में लगाने वाला नियोग है यह उसकी कल्पना है। अतः याग से पूर्व भी नियोग मान्य है। तब पूर्वोक्त दोष नहीं लगेगा लेकिन याग करना बेकार होगा! –

विषयानुष्ठान से पहल ही यदि प्रवर्तकभूत नियोग विद्यमान हो तो यागनिष्पादन का क्या फल? यदि यागनिष्पत्ति से भी नियोग सिद्ध हो तो भी याग को प्रयोज्य कहना नहीं बनेगा ॥१०३५॥

याग को प्रयोज्य मानने का यही मतलब है कि याग इसलिये अनुष्ठेय है कि उसके बिना नियोग सिद्ध नहीं होगा। यदि नियोग पहले ही सिद्ध है तो याग निष्पन्न हो या नहीं इससे उसे कोई अन्तर पड़ना नहीं अतः वह याग का प्रयोजक नहीं बनेगा। किं च सिद्ध ही साध्य भी हो यह मानना संगत नहीं अतः पूर्वसिद्ध नियोग यागसिद्ध भी है यह कहना ही ग़लत है ॥१०३५॥

याग से नियोग का कोई उपकार न हो तो याग व्यर्थ और हो तो नियोग सिद्धार्थ हो जायेगा –

कुम्हार आदि के व्यापार से घटादि का सत्त्वप्राप्तिरूप उपकार होता है, ऐसे यागादि के अनुष्ठान से यदि नियोग भी उपकृत हो – सत्ता पा जाये – तो वह भी घट के समान सिद्धार्थ क्यों न होगा? ॥१०३६॥

वादी नियोग को कालत्रय से अस्पृष्ट मानता है। यदि याग से नियोग का उपकार होगा अर्थात् नियोग उत्पन्न होगा तो वह काल से परिच्छिन्न हो जायेगा जो वादी को अनिष्ट है – यह कल्पलता में स्पष्ट किया है। घटतुल्य से सिद्धता, कालपरिच्छिन्नता आदि सब समझने चाहिये ॥१०३६॥

प्राभाकर कहता है : शब्द जब नियोग कहता है तो सिद्धरूप से नहीं कहता, इतना ही हमारा अभिप्राय है। स्वरूपतः वह घटतुल्य हो इससे हमें हानि नहीं। सिद्धांती कहता है कि तब भी सुखलाभ का या दुःखहानिका उपाय न होने से वह शास्त्रविषय नहीं हो सकता –

अपुमर्थे नियोगे च तात्पर्यं स्यात्तथा सति। प्रत्यर्थिनि पुमर्थे तत्सुधीभिर्गृह्यते कथम् ॥१०३७॥
लिङादिश्रवणात्पुंसः कार्यं यत् प्रसमीक्ष्यते। उपकाराद्यपेक्षं तद्वक्तृकर्त्रोः प्रसिध्यति ॥१०३८॥
न चेत्संभाव्यते कर्त्रा पुमर्थः कस्यचिद्विधेः। आज्ञोक्तेरेव न तदा कश्चिज्जगति चेष्टते ॥१०३९॥

नियोग घटतुल्य हो तो पुरुषार्थ नहीं होगा अतः अपुरुषार्थ में तुम्हे वेदतात्पर्य मानना पड़ेगा। अपुरुषार्थ का विरोधी पुरुषार्थ जब उपलब्ध है तब विवेकी लोग अपुरुषार्थ में तात्पर्य क्यों स्वीकारेंगे? ॥१०३७॥

प्राभाकर नियोग की साध्यता में यही दलील देता है कि सिद्धवस्तु पुरुषार्थ नहीं होती; अतः सिद्धांती ने कहा कि स्वरूपतः सिद्धार्थ मानने पर नियोग भी पुरुषार्थ नहीं रहेगा। वेदतात्पर्य पुरुषार्थ में होना चाहिये यह भी वादी मानता है अतः अपुरुषार्थ होने पर नियोग में तात्पर्य नहीं मान सकता। इसलिये इष्टसाधनता में ही विधितात्पर्य मानना संगत होगा जो वादी को अनिष्ट है ॥१०३७॥

लोक में लिङादि से कार्यज्ञान होता है लेकिन वह भी विषय की इष्टकारणता से व्याप्त ही है अतः इष्टसाधनता ही लिङर्थ मानना संगत है –

लिङादि सुनने से व्यक्ति को जो कार्यज्ञान होता है वह वक्ता या श्रोता के उपकार आदि के सापेक्ष हुआ ही होता है ॥१०३८॥ यदि स्पष्ट उपकारादि प्रतीत नहीं होता तो विधिप्रयोग के कारण कर्ता यह संभावित कर लेता है कि विधिविषयकी निष्पत्ति से किसी-न-किसी का पुरुषार्थ अवश्य होगा। इसलिये कह सकते हैं कि आज्ञावचनमात्र से संसार में कोई चेतन चेष्टा नहीं करता ॥१०३९॥

विधि सुनकर श्रोता कार्यतानिश्चय यह मानकर करता है कि इससे मेरा या आज्ञा देने वाले का कोई फायदा या किसी नुकसान से बचाव ज़रूर होगा तभी इसने आज्ञा दी है। यदि उसे निश्चय हो कि किसी का कोई लाभादि नहीं है तो विधि सुनकर भी प्रवृत्ति नहीं करता। नौकर या बच्चा दण्ड से बचने के लिये प्रवृत्ति करता है तो वहाँ भी दण्ड से बचना – यह ख़ुद का फ़ायदा ही देखा। यदि मानने पर कोई लाभ नहीं, न मानो तो दण्डादि कोई हानि नहीं, तब कोई आज्ञा नहीं मानता। अतः हितादिसाधन समझकर ही कार्यज्ञान होने से विधिशब्द उसी का बोधक मानना उचित है। दीर्घ अभ्यास से जहाँ हितादिविचार के बिना ही सुनते ही चेष्टा होती है, जैसे सेनादि में, वहाँ भी दण्ड से बचना, कीर्ति पाना, धर्म होना आदि के संस्कारों की अपेक्षा से ही होती है, शिक्षाकाल में इनके अभाव में कभी भी विधि सुनकर नियत प्रवृत्ति नहीं होती। विधि में इष्टसाधन की तरह निषेध में इष्टसाधन का अभाव या अनिष्टसाधन समझ लिया जाता है, 'उधर मत जाओ' सुनकर लगता है कि उधर जाने से कोई अनिष्ट होगा यह वक्ता का अभिप्राय है। चेतन की चेष्टा इष्टादि बोध से ही होती है – वह इष्ट बौद्धिक हो या मानस यह बात अलग है – अतः न पता चलने पर भी विधि से प्रवृत्त होते हुए वह सामान्यतः हितादि की कल्पना कर लेता है। बाद में यदि हितादि न हों तो कहता भी है 'मैंने सोचा था कुछ तो लाभ होगा, कम-से-कम आज्ञा देने वाला प्रसन्न तो होगा!' विधि-निषेध से इष्टोपायता और उसका अभाव ही समझा जाता है क्योंकि इन्हे समझे बिना विधिशब्द सुनकर प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। आधुनिक काल में धर्मश्रोता भी धर्म में अप्रवृत्त और अधर्म में प्रवृत्त देखे जा रहे हैं, अन्यत्र भी अराजकता, छात्रादि की उद्दण्डता देखी जा रही है अतः वेदान्त की बात ही स्वीकार्य है, प्रभाकरादि की नहीं।

'न चेत्संभाव्यते तदा न चेष्टते' यह संबंध टीकाभिप्रेत है। अनुवाद साध्याहार है 'न चेत् प्रतीयते, तर्हि संभाव्यते। यदैवं स्थितिः तदा आज्ञोक्तेरेव' इत्यादि ॥१०३८-१०३९॥

'प्रयोजन को उद्देश्य किये बिना मूर्ख भी प्रवृत्त नहीं होता' इस न्याय को व्यक्त करते हैं –

आज्ञार्थमात्रसिद्ध्यर्थं न कश्चित्स्ववशो नरः । दुःखात्मके मनो धत्ते यागादौ चोदनावशात् ॥१०४०॥
पुमर्थमभिसंधाय यागादावथ चेष्टते। फलं प्रवर्तकं प्रापन्न नियोगस्तथा सति ॥१०४१॥
मन्त्रोक्तेरिव लोडादेः प्रवृत्तिरिति चेन्मतम्। प्रायश्चित्ती भवेन्नैव तत्पराधीनवृत्तितः ॥१०४२॥
प्रवर्तकत्वं मन्त्रस्य न प्रवर्त्यवशाद्यथा। स्वत एव न यागादेः कार्यसिद्धिस्तथा भवेत् ॥१०४३॥
कारकं वा क्रिया वा स्याद्यदि वा स्यात्क्रियाफलम् । तस्य लौकिकमासिद्धेर्लौकिकत्वं प्रसज्यते ॥१०४४॥

कोई स्वतंत्र व्यक्ति केवल आज्ञा के (लिङादि के) अर्थ को निष्पन्न करने के लिये दुःखरूप आयास करने का मानस नहीं बना पाता। इसलिये विधिवश जो यागादिप्रवृत्ति है वह भी फल के विचार से ही है ॥१०४०॥ क्योंकि पुरुषार्थ समझकर ही यागादि में व्यक्ति प्रवृत्त होता है इसलिये फल ही प्रवृत्तिहेतु है, नियोग नहीं ॥१०४१॥

'स्वतंत्र' इसलिये कहा कि जहाँ किसी का हाथ पकड़ कर बलात् कुछ कराते हैं वहाँ वह व्यक्ति जड कुल्हाड़ी आदि के तुल्य ही है, वह आज्ञादि मान नहीं रहा है। सैनिकादि तो आज्ञा मानकर करता है अतः स्वतंत्र ही है। धर्म भी विधिबल से नहीं, फलबल से ही होता है। अतः नित्यादि को भी सफल ही मानना पड़ता है। मीमांसक भी उनसे दुरितक्षय का लालच दिखाये विना प्रवृत्ति नहीं करा पाता। स्वमत में जो निष्काम कर्म है वह भी ईश्वरप्रीत्यर्थ ही है यह समझकर ही संभव है। जो तो कह दिया जाता है कि 'भगवान् मुझ पर प्रसंन हों यह भी कामना छोड़कर करे', वह यह मानकर है कि श्रद्धाद्यतिशय से अधिकारी में कर्तव्यबोध ऐसा दृढ हो चुका है कि कर्तव्य किये बिना उसे चैन नहीं आता, अतः वहाँ ईश्वरप्रसन्नता न सही, आत्मप्रसंनता तो अपेक्षित है ही अतएव अत्यायासादि निषेध्य कोटि में ही माने हैं। एवं च ईश्वर न मानने वाले मीमांसकादि का निष्काम कर्म असंभव है। सार यही है कि प्रवृत्ति में फलादि हेतु पड़ता है नियोग नहीं अतः नियोग में शक्तिग्रह नहीं होता ॥१०४०-१०४१॥

नियोग यदि फलोपायता के ज्ञान की अपेक्षा रखकर ही प्रवर्तक हो तब तो अनुभवसिद्ध तथा लोक-वेदसाधारण होने से फलोपायता से अन्य नियोग अमान्य ही होगा। यदि उसकी अपेक्षा रखे बिना प्रवर्तक हो तो अनुपपन्न है –

यदि मानते हो कि जैसे तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग करने वाला मंत्रोच्चारण करने से ही भूतावेश वाले आदमी से यथेष्ट प्रवृत्ति करा लेता है ऐसे ही लोट्-लिङादि से कहा नियोग भी बेबस हुए नियोज्य से प्रवृत्ति करा लेता है; तो उसके परतंत्र होकर व्यापार करने वाला होने से नियोज्य कभी प्रायश्चित्तविधि का विषय नहीं हो सकेगा ॥१०४२॥ जैसे दृष्टान्त में कहे मंत्र की प्रवर्तकता इसके अधीन नहीं है कि प्रवर्त्य की क्या शक्ति आदि है, वरन् मंत्र ख़ुद की सामर्थ्य से प्रवृत्ति करा लेता है, इसीलिये यदि आवेश वाला व्यक्ति प्रवृत्ति न करे तो उसे कोई पाप नहीं होता कि प्रायश्चित्त करना पड़े, ऐसे ही यदि नियोग की सामर्थ्य से नियोज्यचेष्टा हो तो नित्यादि न करने पर कोई दोष नहीं होगा कि प्रायश्चित्त करना पड़े! किं च जब नियोग न मानने पर दोषादि होना नहीं तब न कोई याग करेगा, न उससे नियोग को सिद्ध करेगा ॥१०४३॥

नियोग की ऐसी कोई सामर्थ्य देखी नहीं जाती कि जबर्दस्ती किसी से कुछ करा ले, फिर भी वादी की बात मानकर दोष दिया है ॥१०४२-१०४३॥

नियोग को शब्देतर प्रमाण का विषय मानना अनिवार्य है –

नियोग यदि कारक हो या क्रिया हो या क्रिया का फल हो, हर हालत में वह लौकिक अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय होने से लौकिक ही होगा ॥१०४४॥

वादी नियोग को अलौकिक स्वीकारता है लेकिन सिद्धान्ती कारकतादि को लौकिकता से व्याप्त बता रहा है। इससे नियोग की अपूर्वता खण्डित हो गयी ॥१०४४॥

ऐकात्म्यवस्तुनिष्ठे तु यथोक्तन्यायवर्त्मना। न कश्चिदपि दोषः स्याद्वचस्यस्मिन्मनागपि ॥१०४५॥
नेति नेत्यादिवाक्येभ्यो योऽर्थोऽनन्यानुभूतिगः। लौकिकत्वं कथं तस्य सर्वमेयातिलङ्घिनः ॥१०४६॥
इत्युक्तमभिसंधाय दृष्टादिवचनं जगौ। लौकिकत्वप्रसिद्ध्यर्थं नियोगस्य घटादिवत् ॥१०४७॥

अन्य प्रमाणों का विषय होने पर अनधिगतता न रहने से नियोग शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकता तो सिद्ध वस्तु होने से ब्रह्म भी घटतुल्य होनें से प्रमाणांतर के योग्य होकर शास्त्र की तात्पर्यविषयता से क्यों वंचित नहीं होगा? पूर्वोक्त उत्तर याद दिलाते हैं –

शास्त्रवचन अद्वैत आत्मा में तात्पर्य वाले हों तो कोई भी दोष थोड़ा-सा भी प्राप्त नहीं होता यह पूर्वदर्शित युक्तियों से निश्चित है ॥१०४५॥

श्लोक ८६१ आदि में कहे न्याय स्मर्तव्य हैं। आत्मा स्वप्रभ होने से प्रकाशमान और अज्ञात रह सकता है जबकि जड में यह संभव नहीं अतः जड प्रमाणान्तरविषय होगा तो शास्त्र को अनुवाद होना पड़ेगा यह अभिप्राय है। वस्तुतस्तु नियोग विचारसह न होने से अश्रद्धेय है अतः पूर्वोक्त सब दोषों से ग्रस्त है, अद्वैत आत्मा विचारसिद्ध भी है अतः निर्दोष है और उसमें शास्त्रतात्पर्य होने में भी कोई दोष नहीं यह सिद्ध कर चुके हैं। नियोग में सब शब्दों का शक्तिग्रह यदि निश्चित होता तब आत्मा में शास्त्रतात्पर्य संभव नहीं था लेकिन जब वही नहीं सिद्ध हआ तब आत्मबोधक शास्त्र का तात्पर्य जैसा बताया वैसा ही बना रहेगा ॥१०४५॥

ब्रह्म की लौकिकप्रमाणविषयता की असंभवता स्पष्ट करते हैं –

'नेति नेति' आदि वाक्य जिस निर्विशेष स्वप्रकाश का कथन करते हैं वह सभी प्रमेयों से परे होने वाला परमात्मा लौकिक कैसे होगा? ॥१०४६॥

'अनन्यानुभूतिगः' अर्थात् अनन्य और अनन्य-अनुभूतिग; निर्विशेष अद्वितीय और स्वप्रकाश। कल्पलता में इस श्लोक की अवतरणिका में माना है कि ब्रह्म अलौकिक है तो संगतिग्रह न होने से शब्द उसके बोधक कैसे? इसके उत्तर में वार्तिक है : 'न' का और 'स्थूल' आदि का संगतिग्रह है ही अतः वाक्यविधया स्थूलतादि के अभाव का बोध कराते हुए लक्षणा से उसके भी अधिष्ठान ब्रह्म का बोध कराना शब्दसामर्थ्य से संभव है। सर्वथापि ब्रह्म अलौकिक किन्तु स्वप्रकाश है। प्रमेयों से परे इसीलिये है कि बाकी प्रमेय परप्रकाश्य हैं ॥१०४६॥

श्लोक १०२६ से भूमिका बनाकर अब 'दृष्टविषये' आदि वाक्य का अवतरण करते हैं कि इस भाष्य में बताया कि ब्रह्म ही शास्त्रीय है, नियोग नहीं –

यहाँ व्यक्त किये विचार को मन में रखकर भगवान् शंकर ने 'दृष्टविषये' इत्यादि वचन कहे हैं ताकि नियोग घटादि की तरह लौकिक है यह स्पष्ट हो ॥१०४७॥

अर्थात् भाष्य का दृष्टपद नियोग को अभिव्याप्त कर रहा है! अतः नियोग जानने के लिये आगमगवेषणा व्यर्थ है। कुछ फलोपाय तुरंत कारगर होते हैं और कुछ कालव्यवधान से। दोनों तरह के फलोपाय लोकसिद्ध हैं अतः शक्तिग्रहकाल में विधि पद उभयविध साधनों के बोधक पता चल जाते हैं। फलोपायता से ही नियोगावगति संभव है यह अभी (१०३८ आदि) ही बताया। अतः फलोपायता से अत्यंत विलक्षण नियोग नहीं और फलोपायता शक्तिग्रहकाल में पता चल जाने से प्रमाणांतर के योग्य है इसमें संदेह नहीं। यह भाष्यकार की अभिसंधि वार्तिक में व्यक्त की। इससे पता चलता है कि अदृष्टोपाय भी लोकसिद्ध हो सकते हैं यह भाष्याभिमत है अतः वेदातिरिक्त ग्रंथ या व्यक्ति किसी उपाय को अदृष्टफलक कहे तो मना करना संभव नहीं। यदि यह सिद्धांत हृदयंगत हो जाये तो सभी धार्मिक झगड़े समाप्त हो जायें। किन्तु जैसे अन्यान्य मजहब आदि वाले केवल अपने पैगम्बर आदि को ही परलोकोपाय की सच्ची जानकारी वाला मानते

आस्तां वेदान्तमानत्वं त्यक्तं तत्कामतस्तव। वस्तुन्युक्तेर्न चेन्मात्वं कर्मकाण्डेऽपि तद्भवेत् ॥१०४८॥
भविष्यद्देहसंबन्धी वाक्यादात्मा न चेन्मितः। मानान्तराच्च कः कुर्याददृष्टार्थाः क्रियाः सुधीः ॥१०४९॥

हैं ऐसे ही बहुत से लोग वेद का इसमें एकाधिकार रखना चाहते हैं। लेकिन क्योंकि वस्तुस्थिति यहाँ वार्तिक में स्पष्ट कर दी इसलिये विवेकी सर्वत्र यही स्वीकारते हैं कि अलौकिक उपायों में भी वैसे ही वैविध्य स्वीकार्य है जैसे लौकिक में। अन्यतम की असाधनता प्रमाणित न हो सकने से अन्यतम की ही साधनता है यह अवधारण भी असंभव है। प्रायोगिक सफलता-असफलता सर्वत्र तुल्य है। जैसे लौकिक उपायों का विकल्प किसी उपाय में अश्रद्धा नहीं पैदा करता वैसे यहाँ भी यथाधिकार व्यवस्था होने से कहीं अश्रद्धा का अवसर नहीं। 'पराञ्चि' आदि श्रुति से और अनुभव से स्फुट है कि आत्माद्वैत प्रमाणांतरगम्य नहीं अतः यही शास्त्रप्रमाण का विषय है। सर्वज्ञवचन (सं०शा० २.१२) इसमें प्रमाण है ॥१०४७॥

आगे भाष्य में कहा है कि जन्मान्तर से सम्बन्ध वाले आत्मा की जानकारी के बिना जन्मान्तरीय इष्टप्राप्ति या अनिष्टपरिहार की इच्छा नहीं होती क्योंकि यह देखा जाता है कि स्वभाववादी लोकायतादि को ऐसी कोई इच्छा भी नहीं और इसीलिये वे यागादि में प्रवृत्त भी नहीं होते। अतः शास्त्र दोनों बाते बताता है – जन्मान्तरसंबंधी आत्मा है यह भी बताता है तथा जन्मान्तरीय फलों के उपायविशेष भी बताता है। जैसे कठ में प्रश्न उठाया कि कुछ लोग मरने के बाद आत्मा है ऐसा कहते हैं व कुछ कहते हैं नहीं है, इसमें निर्णय क्या? फिर उत्तर दिया कि है, ऐसा ही समझना चाहिये (६.१३)। यह भी बताया कि मरने के बाद कर्म-उपासना के अनुसार जन्मान्तर मिलता है (५.७)। बृहदारण्यक में भी स्वयं ज्योति का प्रकरण उठाकर उपासना और कर्म से देहान्तरप्राप्ति होती है यह बताया (४.४.२) एवं यह भी कि पुण्यकर्म से अच्छा और पाप से बुरा फल होता है (४.४.५)। 'आत्मा समझाऊँगा' इस प्रतिज्ञा के बाद 'विज्ञानमय' इत्यादि से देहादि से अतिरिक्त आत्मा को प्रदर्शित किया है (बृ० २.१.१५)। यदि आत्मा प्रत्यक्ष होता तो वादियों का उसके बारे में मतभेद न होता। लोकायत और बौद्ध कहते हैं 'आत्मा नहीं है'; यदि देहान्तर पाने वाला आत्मा प्रत्यक्ष से प्रमित होता तो वे क्यों आत्मवादियों के विरोधी होते? घटादि प्रत्यक्ष चीज़ों में यों विवाद नहीं हुआ करता। यद्यपि ठूँठ आदि में विवाद होता है कि कोई कहता है पुरुष है, कोई ठूँठ बताता है, तो किसी को भूत ही दीखता है! लेकिन वह भी परीक्षा न करने तक ही रहता है, विवेकपूर्वक समझ लेने पर नहीं। प्रकृत में तो 'मैं' यह प्रतीति होने पर भी देहांतरसम्बन्धी आत्मा नहीं है यही प्रतिज्ञापूर्वक सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। प्रत्यक्ष विषयों से आत्मा विलक्षण है, रूपादि वाला नहीं है, अतः प्रत्यक्ष से वह सिद्ध भी नहीं होता। इसी तरह अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता। श्रुति ने आत्मा के होने में प्रत्यक्षयोग्य चिह्न बताया है 'जो प्राण से प्राणन करता है' (बृ० ४.४.१) आदि, तब वह अनुमेय क्यों नहीं? इसलिये कि उस तरह भी जन्मान्तर-संबंध की प्रमा का उपाय नहीं है। मीमांसक, तार्किकादि 'मैं' इस ज्ञान से एवं अन्य चिह्नों से जो आत्मा को प्रत्यक्ष या अनुमेय कहते हैं वह भी वस्तुतः श्रुति से ही आत्मा की विद्यमानता समझकर कहते हैं। वेद ने ही समझाने के लिये कुछ लोकसिद्ध चिह्नों का उल्लेख कर दिया है, उन्ही का उपन्यास कर तार्किकादि अभिमान करते हैं कि हमने सोचकर ये चिह्न खोज निकाले हैं!

इस भाष्य का तात्पर्य बताते हैं –

तत्त्वमस्यादि वेदान्तों की प्रमाहेतुता छोड़ भी दो, तुम्हारे सन्तोष के लिये यदि उसे छोड़ दें, तो भी अगर वेदवाक्य सिद्धवस्तु में प्रमाण नहीं होंगे तो कर्मकाण्ड में भी उनकी अप्रमाणता हो जायेगी ॥१०४८॥ भाविदेह से संबंध वाला आत्मा वेदवाक्य से यदि प्रमित न हो तो कौन विवेकशील व्यक्ति अदृष्ट प्रयोजन वाले सत्कर्म करेगा! क्योंकि प्रमाणान्तर से तो देहान्तरसम्बद्ध आत्मा सिद्ध होता नहीं ॥१०४९॥

परलोक, वहाँ जाने वाला जीव आदि सिद्ध वस्तुयें प्रमाणांतर का विषय नहीं, इनमें शास्त्र भी प्रमाण न हो तो

नापि सांख्यप्रमासिद्धमात्मानमवगच्छतः। देहाद्यनभिसंबन्धात्प्रवृत्तिः स्यात्क्रियास्विह ॥१०५०॥
कर्मकाण्डेऽधिकार्यस्मिन्यादृक्संभाव्यतेऽञ्जसा। तादृक्संप्रतिपत्त्यर्थं 'न चासती'ति भण्यते ॥१०५१॥
कर्मभ्यः फलमिच्छद्भिरदृष्टं दृष्टमेव वा। देहावस्थान्तरावेशे प्रमाणं वाच्यमात्मनः ॥१०५२॥

स्वर्गादि पाने के लिये प्रवृत्ति संभव नहीं जैसे गंधर्वनगर पहुँचने के लिये कोई समझदार आदमी कोशिश नहीं करता। मीमांसक की यह समस्या खण्डदेवादि नवीनों ने समझकर ही कई मान्यताओं में परिवर्तन किया। कुतूहलवृत्ति आदि में स्पष्ट कहा है कि मीमांसक यदि वस्तुबोधकता न माने तो उसका काम चल ही नहीं सकता! लेकिन कम-से-कम प्राचीन मीमांसक इस बारे में दुराग्रही ही रहे हैं। तथापि लोकान्तर का भोग करने वाले आत्मा की प्रमा चाहिये इसलिये भाष्य में इस विषय में श्रुतियाँ दीं। कर्मकाण्ड के विधान से अर्थात् भी जन्मान्तरसम्बन्धी आत्मा सिद्ध होता है क्योंकि ऐसा न होता तो प्रमाणभूत वेद जन्मान्तरफलक कर्मों का विधान न करता। एवं च औत्पत्तिकसूत्र में जैमिनि ने वेदप्रामाण्य स्थापित किया है, वह धर्म की तरह ब्रह्म में भी समान है।

यहाँ दो प्रयोग विवक्षित हैं : धर्मवाक्य निज अर्थ में अप्रमाण हैं, वेदवाक्य होने से, ब्रह्मवाक्यों की तरह। यहाँ नियोगविषयतादि उपाधि की संभावना नियोगनिरास से हट चुकी है। किं च नियोगान्यविषयक सभी वेदवाक्यों को स्वार्थ में अप्रमाण मानने वाला वैसी उपाधि दे तो पक्षेतरता-सी होगी। दूसरा प्रयोग है- भाविजन्मफलक क्रिया अकर्तव्य है, क्योंकि भाविजन्म में फल भोगने वाला कोई नहीं, जैसे भूतजन्म में फल भोगने वाला कोई नहीं। यदि कोई कहे कि अभी अमुक कर्म करो तो तुम्हे भूतकाल में यह फल होगा, तो कोई प्रवृत्त न होगा क्योंकि 'भूतकाल में मैं भोगूँगा' यह प्रमाणसिद्ध नहीं। ऐसे ही 'भविष्य में मैं भोगूँगा' यह भी जब प्रमाणसिद्ध नहीं तो मैं क्यों क्रिया करूँगा? इस प्रकार कर्मकाण्ड को आत्मशास्त्र का सहारा चाहिये यह सिद्ध हुआ ॥१०४८-१०४९॥

सांख्य लोग आत्मा वेदप्रमाणक नहीं मानते बल्कि इस तरह उसे सिद्ध करते हैं : अन्तःकरण में चित्प्रतिबिंब पड़ता है तो ज़रूर चिद्रूप बिंब है क्योंकि बिम्बानुसारी ही प्रतिबिम्ब देखा जाता है। वह चिद्बिम्ब ही आत्मा है। इस मत की अनुपपत्तियाँ वार्तिकसार में (पृ० ५५४-६०) देखनी चाहिये। यहाँ कहते हैं कि उनसे सिद्ध आत्मा की जानकारी से वैदिक प्रवृत्ति संभव नहीं –

सांख्यशास्त्र में प्रसिद्ध आत्मा को समझने वाला भी श्रौतादि क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि उस आत्मा का देहादि से कोई संबंध नहीं है ॥१०५०॥

यदि देह से असंबद्ध आत्मा जानकर भी कर्मप्रवृत्ति हो तब तो सांख्यसंमत मुक्त भी कर्मरत होने लगेंगे! किं च सांख्य तो वैदिक कर्म को अंशतः दोषावह बताते हैं, शुक्लकृष्ण कहते हैं। अतः सांख्यानुसारी योग में प्रवृत्त हो सकता है, श्रुतिप्रोक्त यागादि में नहीं। इसलिये मीमांसक को सांख्य से सहारा नहीं मिलेगा। तार्किक स्वप्रकाशवादी नहीं अतः सांख्य का उल्लेख किया। त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद का आगे खण्डन करेंगे। यद्यपि वेदान्तोक्त आत्मा की सही जानकारी भी कर्मप्रवृत्ति का प्रयोजक नहीं तथापि वहाँ जो वाच्यार्थ समझ आता है वह कर्मप्रवृत्ति के अनुकूल है और विविदिषादिवाक्यों से कर्म करने की प्रेरणा भी मिलती है ॥१०५०॥

प्रश्न होता है कि देहादिमात्र जानने वाला और शुद्ध आत्मा को जानने वाला दोनों यदि कर्मप्रवृत्ति नहीं करेंगे तो आखिर करेगा कौन? उत्तर है कि देहादि से अतिरिक्त होते हुए भी जो देहादिसे अध्याससंबंध वाला है वह अपने को देहांतरसंबंधी मानकर करता रहेगा –

इस कर्मकाण्ड में जैसा अधिकारी ठीक-ठीक संभव है वैसा समझाने के लिये 'न च असति' इत्यादि भाष्य कहा गया है ॥१०५१॥ जो लोग कर्मों से अदृष्ट या दृष्ट फल स्वीकारते हैं उन्हे इसमें प्रमाण बताना होगा कि आत्मा वर्तमान देहादि छोड़कर देहान्तरादि से सम्बद्ध होता है ॥१०५२॥

कथं च तस्य कर्तृत्वं व्यापित्वान्निष्क्रियत्वतः । न चाकर्तुः फलं गौण्या वृत्त्या चेत्सुतरां न तत् ॥१०५३॥
मुख्यकर्तृत्वपक्षेऽपि ह्यनिर्मोक्षः प्रसज्यते । मानेन नाश्यतेऽज्ञानं ज्ञापकं हि न कारकम् ॥१०५४॥

आत्ममात्र भले ही स्वतः सिद्ध हो पर उसकी स्थायिता, फलभाक्ता आदि तो प्रमाणसापेक्ष हैं। देह से अवस्थान अर्थात् प्रस्थान और देहान्तर में आवेश अर्थात् प्रवेश तो किसी प्रमाण से ही सिद्ध होगा। वैदिक कर्मों का कर्ता व उनके फलों का भोक्ता वही होगा जो मरकर शारीरांतर से संबद्ध होगा। अपूर्व, नियम, परिसंख्या, निषेध – केवल इनसे प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्तिजन्य फलभोक्ता की जानकारी भी चाहिये। यह बात अध्यास-भाष्य में भी बतायी है कि आत्मा का परलोकसंबंध जाने बिना विवेकी शास्त्रीय व्यवहार में अपना अधिकार नहीं समझता। यहाँ जो कहा कि 'प्रमाण बताना होगा' वह अतत्त्वावेदक प्रमाण की दृष्टि से कहा है या वादी क्योंकि निश्चित प्रवृत्ति में प्रमा को हेतु मानता है इसलिये कहा है।

'कर्मभ्यः फलम्' की जगह 'कार्येभ्यः फलम्' लतापाठ है ॥१०५१-१०५२॥

वैशेषिकादि मानते हैं कि वैदिक कर्मों का कर्ता आत्मा वेद के बिना ही अकृत-अभ्यागम की प्रसक्ति आदि तर्कों से सिद्ध हो जाता है : पैदा हुआ बच्चा सुख-दुःख पाता है। यदि जन्मान्तर में किये पुण्य-पाप का यह फल न हो तो अकृत अर्थात् न किये हुए का अभ्यागम अर्थात् फल भोगना मानना पड़ेगा जो ठीक नहीं क्योंकि लोक में देखा गया है कि न किये का फल नहीं मिलता। ऐसे ही बहुत से कर्मों का फल भोगे बिना व्यक्ति मर जाता है। यदि जन्मान्तर में उसे फल मिलना न मानें तो कृत का विप्रणाश कहना होगा, यह भी अनुचित है। इसलिये वे कहते हैं कि आत्मा का जन्मान्तर-संबंध सिद्ध होता है। यद्यपि यह तर्क भी निःसार है क्योंकि लोक में भी अनेक स्थलों पर देखा जाता है कि खून कोई करता है, पकड़कर फाँसी किसी राहगीर को ही लग जाती है आदि, तथा पुण्यादि का फल सुखादि है इसमें भी शास्त्रभिन्न कोई प्रमाण नहीं, ऐसे ही कृत का ही भोग हो या उसका भोग होवे ही इसमें कोई प्रमाण नहीं; तथापि यहाँ बताते हैं कि आत्मा को कर्ता सिद्ध करना वैशेषिक के लिये संभव नहीं –

आत्मा कर्ता भी कैसे हो सकता है? वह तो व्यापक होने से निष्क्रिय है। जो कर्ता नहीं उसे फल मिलना भी संगत नहीं। गौणीवृत्ति से उसे भोक्ता कहो तो वह और भी असंगत है ॥१०५३॥ आत्मा वास्तव में कर्ता मानने पर यह स्वीकारना पड़ेगा कि मोक्ष असंभव है। प्रमाण से अज्ञान ही नष्ट किया जाता है क्योंकि वह ज्ञापक होता है, कारक नहीं ॥१०५४॥

वैशेषिक क्रिया तो आत्मा में नहीं मानता पर कृतिनामक गुणविशेष मानकर आत्माको कर्ता कहता है। लेकिन वार्तिककार कह रहे हैं कि यह अनर्गल कल्पना है! यागादि क्रिया करने से ही यागकर्ता समझा जाता है, किसी कृतिगुण से नहीं।

सांख्य आत्मा को कर्ता नहीं लेकिन भोक्ता कहते हैं। उनके मत में यह असंगति है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व का वैयधिकरण्य हो जाता है। 'शास्त्रोक्त फल शास्त्रीय कर्म के कर्ता को मिलता है' (३.७.१८) इस मीमांसान्याय में सिद्ध किया है कि इनका सामानाधिकरण्य ही संमत है। सांख्यों के अनुसार प्रधान की प्रवृत्ति आत्मा के लिये है इसी से आत्मा भोक्ता कहा जाता है, ज्ञानस्वरूप से अन्य भोगात्मक किसी विक्रिया के कारण नहीं। 'दृश्यावभासमात्रं भोक्तृत्वम्' यह विवरण में (पृ० ५०२) सांख्यमत कहा है। प्रश्नोपनिषद्भाष्यादि का विचार करें तो कह सकते हैं कि सांख्यों में कुछ भोक्तृत्व को मुख्य भी मानने वाले हैं अतः यहाँ दोनों विकल्प ग्रहण कर लिये हैं। प्रधान की शेषता से आत्मा का भोक्तृत्व गौण है – इस मत में दोष है कि मुख्य भोक्तृत्व फिर है किसमें? कोई मुख्य सिंह हो तभी अन्यत्र गौण सिंह हुआ करता है। प्रधान जड है अतः भोक्ता नहीं, पुरुष को मुख्य भोक्ता मान नहीं रहे तो मुख्य भोक्ता है कौन? ख्याल रहे कि सांख्य अख्यातिवादी है; अतः अनिर्वचनीय वाली व्यवस्था से उसका काम नहीं चलेगा। जब मुख्य भोक्तृत्व अत्यंत असत् हुआ

देहान्तराभिसंबन्धो भावित्वान्नाक्षगोचरः। लिङ्गसादृश्यविरहान्नानुमा नोपमा तथा ॥१०५५॥
शब्दादात्मनि संसिद्धे पूर्वोक्तन्यायतो न च। श्रुतार्थापत्तिरप्यत्र नाभावो मानभावतः ॥१०५६॥
न चाहंप्रत्ययात्सिद्धिरात्मनः स्यात्कदाचन। बोधानुभवसंवित्तिवित्तयो ह्यात्मवाचिनः ॥१०५७॥

तो गौण भी कहीं नहीं हो सकता अतः सांख्यमत ग़लत है। किं च भोग का वास्तविक अर्थ है सुखादि विकार वाला होना, आत्मा को असंग-उदासीन मानने से ऐसा भोग सांख्य भी मानता नहीं और झूठ-मूठ का भोग तो सिद्धांती मानता है, सांख्य के यहाँ झूठ-मूठ का कुछ होता नहीं। यदि भोकृत्व मुख्य ही माना जाये तो तुल्य युक्ति से कर्तृत्व भी मानना चाहिये क्योंकि भोगात्मक विकार सह सकता है तो क्रियात्मक भी सह लेगा! अन्यथा स्वभाववाद की शरण लेनी होगी कि आत्मा स्वभावतः भोगविकारी ही है किन्तु वह इसलिये टिकेगा नहीं कि 'मैंने किया' यह अबाधित प्रत्यय सबको होता है और शास्त्रसार्थक्य से भी चेतन कर्ता सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, मुख्य भोक्ता होगा तो मोक्ष असंभव है! वास्तविक होने पर नैयायिकसंमत कर्तृत्वभोकृत्वादि तथा सांख्यसंमत भोकृत्व तत्त्वज्ञान से हट नहीं सकता क्योंकि ज्ञान केवल अज्ञान हटाता है, कुछ 'करता' नहीं; सच्ची चीज़ हटाने के लिये धक्का देना आदि क्रिया करनी पड़ती है, ज्ञान से वस्तु समाप्त नहीं हो जाती। एवं च तर्कसमय से आत्मा ही सिद्ध नहीं तो उसका कर्तृत्वादि व परलोकसम्बंध कहाँ से सिद्ध होगा कि मीमांसक का इष्टलाभ हो? ॥१०५३-१०५४॥

प्रत्यक्षादि भी देहांतरसंबंधी आत्मा में प्रमाण होना संभव नहीं –

अन्य देह से अभिसम्बंध भाविकालिक है अतः वर्तमानमात्रविषयक प्रत्यक्ष से समझा नहीं जा सकता। इस बात में न कोई लिंग है कि अनुमान प्रवृत्त हो और न किसी से समानता कि उपमान कारगर हो ॥१०५५॥ पूर्वदर्शित युक्ति से शब्द से ही आत्मा सिद्ध हो जाता है अतः श्रुतार्थापत्ति भी आत्मा सिद्ध नहीं करती और जब शब्द आत्मसद्भाव का साधक मौजूद है तब प्रमाण का अनुदय रूप अभाव प्रमाण कहा ही नहीं जा सकता। या अभावप्रमाण इसलिये आत्मा को विषय नहीं करता कि वह अभावविषयक होता है जबकि आत्मा भाववस्तु है ॥१०५६॥

'अभिसंबंध' का अभिप्राय है उससे तादात्म्यापन्न होना क्योंकि तभी कर्म करना तथा फल भोगना संभव है। भाविकाल अप्रत्यक्ष है अतः लिंगादि संभव नहीं क्योंकि जो सर्वथा प्रत्यक्षायोग्य हो वह अनुमेय भी होता नहीं। नित्यानुमेय चीज़ें तो तान्त्रिकों की स्व-स्वमत की व्यवस्थायें ही हो सकती हैं, प्रमाणसिद्ध नहीं होती अतएव एक वादी के पदार्थ दूसरे वादी अप्रमाणिक कहते फिरते हैं! जन्मान्तरसम्बन्धी कोई पदार्थांतर भी प्रत्यक्ष से पता नहीं चलता जिसके सादृश्य से वैसा आत्मा समझा जा सके। कर्ता-भोक्ता जन्मान्तरयोगी आत्मा के बिना दृष्ट जगत् में कोई अनुपपत्ति भी नहीं जो वैसे आत्मा की कल्पना कराये। शाब्दी अर्थापत्ति की ज़रूरत इसलिये नहीं कि स्वयं शब्द ही उसे बता रहा है। शब्द न बताये और मानना ज़रूरी हो तब शाब्दी अर्थापत्ति प्रवृत्त होती है, जब शब्दावगत आत्मा से व्यवस्था उपपन्न है तब अर्थापत्ति का अवसर नहीं। वे आत्मशास्त्र स्वार्थ में प्रमाण हैं यह श्लोक १०४८ में कह आये हैं।

कुछ लोग जातिस्मर देखे जाते हैं एवं कुछ ऐसे भी हैं कि दूसरों के जन्मान्तरों का भी दर्शन कर लेते हैं, ध्यानविशेष से पता लगा लेते हैं। बाध न हो तो इन ज्ञानों को प्रमा मानना ही उचित है। तथापि ऐसी यथार्थ स्मृति वाले एवं ध्यानज यथार्थ ज्ञान वाले नहीं होते यह मानकर यहाँ भाष्य-वार्तिक प्रवृत्त हुए हैं ॥१०५५-१०५६॥

कुछ मीमांसक अहमनुभव को उक्त आत्मा में प्रमाण कहते हैं क्योंकि 'मैं' इतने अनुभव में शरीर का आकार भासता नहीं अतः देहातिरिक्त आत्मा इतने से ही सिद्ध हो जाता है। इस मत का प्रत्याख्यान करते हैं –

तीनों में से किसी अवस्था में 'मैं'-अनुभव से आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती। बोध, अनुभव, संवित्ति, वित्ति आदि आत्मा के वाचक हैं अतः ज्ञानरूप आत्मा स्वप्रकाश होने से 'मैं'-अनुभव से ग्राह्य नहीं है ॥१०५७॥

यस्यानुभवसिद्ध्यैव सिद्धिः स्याद् घटसिद्धिवत्। ततोऽहंप्रत्ययात्सिद्धिमीक्षतेऽनुभवः कथम् ॥१०५८॥
मानादनुभवः सिद्धो जडः स्याद् घटवन्न चेत्। नैरपेक्ष्यं चिदात्मत्वे स्याच्चान्योन्यसमाश्रयः ॥१०५९॥
आत्मनोऽहंधियः सिद्धिरात्मसिद्धिरहंमतेः। अन्योन्याश्रयतैवं स्यादहंबुद्ध्यात्मनोर्ध्रुवम् ॥१०६०॥
अहंधीरात्मनः कार्यं कारणेनाऽऽप्यते सदा। तया तस्य कथं व्याप्तिरव्याप्तौ मेयता कथम् ॥१०६१॥

'मैं' अनुभव से कौन जानेगा? मैं जानूँगा। किसे? ख़ुद को ही। अतः कर्तृकर्म-विरोध होने से अहमनुभवग्राह्यता आत्मा की नहीं। बोध अस्वप्रकाश हो तो अनवस्था या जगदान्ध्यप्रसंग दुर्वार है और बोध अनात्मा हो तो आत्मा की जानकारी असंभव होगी। अतः आत्मा ही स्वप्रकाश बोध है। इसीलिये वह किसी से ग्राह्य नहीं ॥१०५७॥

'मैं' अनुभव का पता आत्मा को चलता है जैसे घटानुभव का चलता है। अतः जैसे घटानुभव आत्मा को विषय नहीं करता ऐसे 'मैं'-अनुभव भी नहीं करता –

जैसे वृत्तिरूप घटज्ञान जड होने से ख़ुद नहीं स्फुरता, अनुभव से ही स्फुरता है, वैसे ही जो अहमनुभव –'मैं'-वृत्ति – आत्मरूप अनुभव से ही स्फूर्ति पाता है उस अहमनुभव से आत्मरूप अनुभव सिद्ध कैसे होगा? ॥१०५८॥

प्रकाश्य अपने प्रकाशक को प्रकाशित नहीं करता। अहंवृत्ति ख़ुद जिस आत्मा से प्रकाश्य है वह उस आत्मा को प्रकाशित करे यह संभव नहीं ॥१०५८॥

अहमनुभव यदि आत्मा का ग्रहण करे तो आत्मा ही जड हो जायेगा –

प्रमाण से यदि आत्मरूप अनुभव सिद्ध हो तो घट की तरह जड होगा। यदि प्रमेय होने पर भी जड न हो तो उसे अहमनुभव की भी अपेक्षा होगी नहीं अतः बलात् आत्मा ही होना पड़ेगा। आत्मा की अहमनुभव से सिद्धि मानने पर अन्योन्याश्रय दोष भी होगा : आत्मा से अहमनुभव की सिद्धि और अहमनुभव से आत्मा की सिद्धि – यह अन्योन्याश्रय ज़रूर प्राप्त होगा ॥१०५९-१०६०॥

जो जड नहीं वह चेतन ही होगा और वह अपनी स्फूर्ति में अन्यापेक्ष नहीं होगा जैसे ज्ञान। तब आत्मा को अहमनुभव से ग्राह्य भी नहीं कह सकते।

आत्मा चक्षुरिन्द्रियादि की तरह अज्ञात रहते हुए ज्ञानहेतु बनता नहीं क्योंकि सुषुप्ति में वह ज्ञानहेतु बनता नहीं मिलता। 'मैं'-वृत्तिका कर्ता यदि आत्मा बिना किसी उपकरण के बने तो हमेशा बनना चाहिये जबकि ऐसा होता नहीं अन्यथा सुषुप्ति न हो। यदि कहो कि प्रमित हुआ आत्मा अहंज्ञान का कर्ता बनता है तो अन्योन्याश्रय स्पष्ट है : अहंज्ञान से आत्मा की प्रमिति होगी और प्रमित हुए आत्मा से अहंज्ञान उत्पन्न होगा। यहाँ आत्मप्रमिति और अहंवृत्त्युत्पत्ति इनमें परस्पराश्रय कह रहे हैं ॥१०५९-१०६०॥

आत्मा का कार्य रागादि जैसे आत्मा का ग्रहण नहीं करते ऐसे अहम्प्रत्यय भी उसका कार्य है अतः उसका ग्रहण नहीं करेगा –

अहंवृत्ति आत्मा का कार्य है अतः उसका ग्रहण नहीं करती। कारणरूप आत्मा से वह वृत्ति प्रकाश्य ही होती है, उससे आत्मा का प्रकाशन कैसे हो सकता है? बिना उससे प्रकाशित हुए आत्मा उससे प्रमेय हो यह कैसे संभव है? ॥१०६१॥

घटप्रकाशक दीपक जैसे घट से प्रकाश्य नहीं ऐसे वृत्ति से आत्मा भी प्रकाश्य नहीं। विद्यासागर कार्यकारण की सीधी व्याप्ति से भी यही सिद्ध करते हैं : आत्मा अहंवृत्ति से व्याप्त नहीं हो सकता क्योंकि कारण होने से उसे व्याप्त करता है; जो जिसका व्यापक हो वह उससे व्याप्य नहीं होता, जैसे कपड़े से व्यापक धागे कपड़े से व्याप्य नहीं हो जाते। व्याप्त हुए बिना प्रमेय नहीं हो सकता यह समझ लेना चाहिये। अहंवृत्ति कादाचित्क होने से समव्याप्ति नहीं की परस्पर

क्रियाकाले गुणीभावात्क्रियासिद्धावसंभवात्। कर्तुः प्रमेयता न स्यादहंबुद्ध्या कथंचन ॥१०६२॥
संविद्रूपे प्रमेये च संविदन्या फलं भवेत्। न च संविद्द्वयाभासो नानुमेयं फलं क्वचित् ॥१०६३॥
घटाद्याकारसंविद्वच्छुद्धायामपि संविदि। संविद्विशिष्टा संवित्स्यान्न चासावात्मनीक्ष्यते ॥१०६४॥

व्याप्यव्यापकता हो सके। बिम्बव्याप्त प्रतिबिम्ब जैसे बिम्ब का प्रमापक होता है वैसा भी नहीं कह सकते क्योंकि वादी अहंप्रत्यय को आत्मा से अत्यन्त भिन्न सत्य वस्त्वंतर मानता है ॥१०६१॥

आत्ममात्र अहंवृत्ति से ग्राह्य हो तो मोक्ष में भी होना चाहिये लेकिन यह वादी को स्वीकार नहीं। यदि तब अहंवृत्ति न होने से तदग्राह्यता है तो मोक्ष में आत्मा का स्फुरण है या नहीं? 'नहीं है' कहो तो 'द्रष्टा की दृष्टि लुप्त नहीं होती' इस श्रुतिका विरोध है और 'है' कहो तो जैसे तब बिना वृत्ति के स्फुरण है वैसे अब भी हो जायेगा, अतः अहंवृत्तिप्रमाणकता नहीं कह सकते। यदि कहो कि कर्तारूप से जब क्रियासम्बद्ध हो तब अहंधीग्राह्य होता है, तो भी नहीं बनेगा –

क्रियाकाल में गौण होने से आत्मा अहंवृत्तिग्राह्य नहीं हो सकता और क्रियासिद्धि हो चुकने पर ग्राह्य होना संभव ही नहीं। अहंवृत्ति से कर्ता किसी तरह प्रमेय नहीं हो सकता ॥१०६२॥

अहंवृत्तिरूप क्रिया के समय कर्ता उससे गौण रहेगा क्योंकि क्रिया के प्रति कर्ता को गौण माना जाता है। अहंवृत्ति का वह विषय बने तो उसका कर्म कहा जायेगा; लेकिन कर्म को क्रिया से प्रधान माना जाता है। एक ही आत्मा एक ही अहंवृत्तिरूप क्रिया के प्रति एक साथ गौण और प्रधान दोनों कैसे हो सकता है? क्रिया से पूर्व और पश्चात् तो वह उसका कर्ता है ही नहीं अतः कर्ता होते हुए विषय होने की संभावना नहीं है। किं च क्रियाविशिष्ट ही कर्ता होता है अतः अहंवृत्तिरूप क्रिया अपने कर्ता को विषय करे तो विशेषणभूत स्वयं को विषय करना पड़ेगा जो असंभव है। अतः भाट्टों का मानना कि अहम्प्रत्यय आत्मा में प्रमाण है, ग़लत है। पुनरपि स्मरणीय है कि स्वमत में अहंप्रत्यय चिदचिद्ग्रन्थि होने से आत्मा अस्मत्प्रत्ययविषय होना संगत है – यह पंचपादिका और विवरण में सुव्यक्त है – जबकि परमत में उसकी ग्रंथिरूपता न मानने से वैसा संभव नहीं है ॥१०६२॥

जडचेतनोभयरूप आत्मा मानने वाला यदि जडांशको अहंवृत्ति से ग्राह्य कहे तो हमें आपत्ति नहीं किन्तु चेतन को वैसा कहे तो दोष होगा –

संविद्रूप यदि प्रमेय हो तो फल कोई अन्य ही संवित् होनी चाहिये किन्तु यों दो ज्ञान भासते नहीं। फल कहीं अनुमानैकसिद्ध नहीं होता। घटादि के बारे में जैसे घटादि के आकार का ज्ञानरूप फल होता है ऐसे शुद्ध ज्ञानरूप आत्मा के बारे में भी ज्ञानविषयक ज्ञानरूप फल होना चाहिये जबकि आत्मा के बारे में ऐसा कोई फल मिलता नहीं ॥१०६३-१०६४॥

प्रमेयरूप घट से अन्य ही घटज्ञान होता है। इसी तरह प्रमेय आत्मा से अन्य कोई आत्मज्ञान मिलना चाहिये, यह भाव है। अहंवृत्ति तो प्रमाण कोटि में चली गयी अतः उससे जन्य प्रमिति उपलब्ध होनी चाहिये किन्तु आत्मा और अहंवृत्ति से अन्य कोई आत्मज्ञान मिलता है नहीं। वादी कह सकता है कि व्यवहाररूप चिह्न से उसका अनुमान कर लेना चाहिये : संवित् प्रमित है क्योंकि उसका व्यवहार होता है, जिसका व्यवहार होता है वह प्रमित ही होता है जैसे घटादि। किन्तु यह कथन ग़लत है क्योंकि फलभूत ज्ञान कहीं भी अनुमेय नहीं होता। मीमांसक ज्ञान को अनुमानसिद्ध कहता है लेकिन स्वप्रकाश ज्ञान सिद्ध हो चुकने से उसका निरास स्पष्ट है। किं च अप्रमेय भी व्यवहार्य होता है यह भ्रमव्यवहार और असत्के अभिलापव्यवहार में देखा जाता है अतः वादी की व्याप्ति भी नहीं बैठती। घटादि तो असंविद्रूप होने से प्रमित होकर व्यवहार्य हो भी सकते हैं किन्तु संवित् भी यदि प्रमित होकर व्यवहार्य हो तो अनवस्था हो जायेगी। अतः फलरूप ज्ञान को स्वतः स्फुरणरूप ही मानना उचित है। आत्मा या अनात्मा, कहीं भी फल अनुमेय नहीं है। आत्मा संविद्रूप है अतः उसका व्यवहार प्रमित होने की अपेक्षा नहीं रखता। वार्तिकसार में (पृ० ४६८) इन श्लोकों पर विस्तार देखना चाहिये ॥१०६३-१०६४॥

प्रमातरि च मेये स्यात्फलं कस्येति भण्यताम्। न मातुस्तस्य मेयत्वान्नापि मेये फलं क्वचित् ॥१०६५॥
जडत्वात्तत्र मेयस्य फलं मातरि चेन्मतम्। मेयतो जडताऽत्रापि संविच्चेन्न प्रमाणजा ॥१०६६॥
धर्मत्वेनाप्यहंबुद्धेर्न भेदो धर्मिणाऽऽत्मना। रूपं द्रव्यात्मनो नान्यद्रसादेस्तद्विभिद्यते ॥१०६७॥
द्रव्यादि चाऽऽत्मनो रूपं प्रमेयं यदुदीरितम्। घटवत्तदहंबुद्धेः प्रत्यग्वृत्तेर्न गोचरः ॥१०६८॥

आत्मप्रमितिरूप फल होना संभव भी नहीं –

प्रमाता ही जब प्रमेय है तो बताओ फलभूत ज्ञान किसे होगा? प्रमाता को तो हो नहीं सकता क्योंकि वह प्रमेय बना बैठा है और प्रमेय में फल कहीं होता नहीं ॥१०६५॥ यदि कहो कि अन्य प्रमेय जड होते हैं इसलिये उनमें फल नहीं होता जबकि प्रमाता चेतन होने से इसमें फल हो जायेगा; तो प्रमेय होने से आत्मा को जड कहना भी सरल है। आत्मा को संविद्रूप मानो तो उसके बारे में प्रमाणजन्य ज्ञान नहीं मान सकते ॥१०६६॥

ज्ञान चेतन को होता है अतः घटादि को नहीं। चेतन ही यदि विषय बनेगा तो निराश्रय हुआ ज्ञान होगा किसे? यदि प्रमाणजन्य फल प्रमेयधर्म हो तो प्रकाशरूप नहीं होगा जैसे प्रमेय के रूपरसादि अन्य धर्म – यह विद्यासागरी में कहा है। संविद्रूप आत्मा को प्रमाणसिद्ध मानने पर यही मुख्य दोष है कि ऐसी कोई प्रमा मिलती नहीं। वृत्तिव्याप्ति-फलव्याप्ति का अन्तर वादी के मत में है नहीं यह याद रखना चाहिये ॥१०६५-१०६६॥

यह भी विचारणीय है कि अहंवृत्ति अनात्माका धर्म है या आत्मा का? अनात्म-धर्म मीमांसक भी नहीं मानता, नहीं तो भौतिक वस्तुओं से अतिरिक्त चेतन मानने वाला नहीं रह पायेगा, लोकायत हो जायेगा। आत्मधर्म भी कहना मुश्किल है : धर्म और धर्मी अभिन्न हो नहीं सकते क्योंकि स्वको स्वके प्रति ही धर्म नहीं कहा जाता है। अहंवृत्ति आत्मा को विषय भी नहीं करेगी यदि धर्म-धर्मी का अभेद हो क्योंकि स्वमें स्वकी विषयता नहीं होती। भेद मानो तो भी दोष है –

अहंवृत्ति धर्म है यह मान लें तो भी उसका धर्मिभूत आत्मा से भेद नहीं हो सकता जैसे द्रव्यका धर्म जो रूप वह द्रव्यस्वरूप से अन्य नहीं है, रसादि धर्मान्तरों से भले ही पृथक् भासे ॥१०६७॥

इस समस्या से बचने के लिये भाट्ट भेदाभेदरूप तादात्म्य मानता है लेकिन सच्चा वैसा संबंध संभव नहीं यह तात्पर्य है। 'द्रव्यभावे भावाद् द्रव्याभावेऽभावाद् द्रव्यमेव संस्थानादिभेदादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति। ××× तस्माद् द्रव्यात्मकता गुणस्य। एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता।' इत्यादि सूत्रभाष्य में (२.२. सू० १७) भी ऐसा कहा है। सांख्य, वैयाकरण, बौद्ध, जैन आदि अन्य विचारक भी द्रव्य-गुण का भेद नहीं मानते। इस तरह भेद और अभेद दोनों तरह अहंवृत्ति आत्मधर्म सिद्ध नहीं होती ॥१०६७॥

कुछ मीमांसक आत्मा को जुगनू की तरह आधा जड (अप्रकाश) और आधा चेतन (प्रकाश) मानते हैं। जडांश प्रमेय हो जायेगा और चेतनांश प्रमाता हो जायेगा अतः एक होने पर भी ग्राह्य-ग्राहकभाव (विषयविषयिता) उपपन्न होगी जिसकी सिद्धि अहमनुभवसे होती है, यह उनका अभिप्राय है। उन्हे समझाते हैं –

जो यह कहा जाता है कि द्रव्य-बोध (अप्रकाश-प्रकाश) दोनों आत्मा के स्वरूप हैं अतः द्रव्यरूप आत्मा बोधरूप आत्मा से प्रमेय होता है, वह भी ठीक नहीं क्योंकि वैसा आत्मा भी अहमनुभवका विषय नहीं हो सकता कारण कि उसे आत्मा में आश्रित मानते हो। अतः घटज्ञान की तरह अहंज्ञान भी आत्मविषयक संभव नहीं ॥१०६८॥

आश्रयविषयभाव भेदघटित मानकर आत्माश्रित अहमनुभव आत्मविषयक किसी तरह नहीं कहा जा सकता। मूल के 'द्रव्यादि' में आदि से बोध का ग्रहण है; विद्यासागर मेयत्वशक्ति का ग्रहण करते हैं। यहाँ 'प्रत्यग्वृत्ति' का मतलब है – प्रत्यगात्मा में आश्रित। विद्यासागर का अभिप्राय है कि आत्मविषयक अहंवृत्ति आत्मा के द्रव्यादि रूपों को विषय नहीं करती जैसे घटवृत्ति उसके रूपादि को विषय नहीं करती। अतः अहंवृत्ति जडांशविषयक नहीं। शास्त्रप्रकाशिका में यहाँ यह

अस्मत्प्रत्ययसंभिन्नं प्रत्यक्कर्तरि वेदनम्। ज्ञानस्य यदुपन्यस्तं विशेषस्तत्र नेक्ष्यते ॥१०६९॥
ज्ञानबोधेन नैवाऽऽत्मा मितो नाप्यात्मसंविदा। ज्ञानं न च द्वयं भेदादभेदेऽनुभवः स्वतः ॥१०७०॥
किं प्रमाणमहंरूपमुताऽऽत्मैवेति कथ्यताम्। प्रत्यक्षत्वान्न तन्मानं नाऽऽत्मा स्वार्थजडत्वतः ॥१०७१॥

प्रयोग अभिमत है : इस आत्मा में रहने वाला 'मैं' यह ज्ञान इस आत्मा को विषय नहीं करता क्योंकि इस आत्मा में रहने वाला साक्षात्कार है जैसे इस आत्मा में रहने वाला घटसाक्षात्कार; विपक्ष में घट की तरह अनात्मतापत्ति बाधक तर्क है। तात्पर्य सीधा है कि जिसे ज्ञान होता है और जिसका ज्ञान होता है वे अलग ही हुआ करते हैं। इसी युक्ति से तार्किकादि भी निरस्त हो जाते हैं क्योंकि वे भी ज्ञानगुण आत्माश्रित मानते हैं अतः प्रत्यक्ष या अनुमान से हुआ ज्ञान आत्मविषयक नहीं हो सकता ॥१०६८॥

अहमनुभव विषयविषयिभूत आत्मा का अनुभव कहने पर और भी दोष है –

यह जो कहा कि 'मैं' अनुभव वाला ज्ञान, ज्ञान के कर्तारूप प्रत्यगात्मा को विषय करने वाली प्रतीति है; उस कथन में और क्षणिक ज्ञान को स्वग्राहक मानने वाले बौद्ध में अन्तर समझ नहीं आता ॥१०६९॥

मीमांसक बौद्ध का खंडन यही करता है कि एकत्र ग्राह्यग्राहकता नहीं होती। यदि वैसा संभव हो तो बौद्ध का क्षणिक ज्ञान ही आत्मा सिद्ध हो जायेगा, कोई स्थायी आत्मा रहेगा नहीं जो यहाँ कर्म करे और आगे उसका फल भोगे। यदि आत्मा को मीमांसक स्वग्राहक कहने लगे तो बौद्ध का खंडन कैसे कर पायेगा? अतः उसे यह नहीं मानना चाहिये।

'अस्मत्प्रत्ययसंभिन्नम्' की जगह 'अस्मत्प्रयोगसंभिन्नम्' न्यायकल्पलतिका में पाठ है ॥१०६९॥

द्रव्यबोधात्मकता मानने से भी व्यवस्था नहीं बनती –

बोधांश के स्फुरण से द्रव्यांश को स्फुरित हुआ नहीं कह सकते और न द्रव्यांश के स्फुरण से बोधांश को स्फुरित हुआ कह सकते हो। आत्मा उभयरूप हो भी नहीं सकता अन्यथा उसे विभिन्न मानना पड़ेगा। निर्भेद आत्मा स्वप्रकाश होने से स्वतः सिद्ध है ॥१०७०॥

बोध और द्रव्य अंश जब भिन्न हैं तो एक का स्फुरण दूसरे को स्फुरित नहीं कर सकता जैसे घटस्फुरण से पट स्फुरित नहीं हो सकता। यदि होने लगे तो दोनों का अभेद ही मानना पड़ेगा। इसलिये 'अहं'–वृत्ति अकेली यह नहीं बता सकती कि आत्मा द्विरूप है अतः इसे आत्मा में प्रमाण नहीं कह सकते, अलग–अलग दो प्रमाण देने चाहिये। चित्रप्रत्यक्ष की तरह कथंचित् एक ज्ञान अनेकात्मक वस्तु को विषय करे तो भी आत्मा जडचेतनात्मक हो नहीं सकता क्योंकि जड और चेतन आपस में विभिन्न ही होते हैं, आत्मा इन रूपों वाला हो तो वह भी विभिन्न मानना पड़ेगा, दो पदार्थों का नाम आत्मा कहना होगा, देवदत्तात्मा कोई एक चीज़ नहीं होगी। यह मीमांसक नहीं मानता। विद्यासागर ने दोष बताया है ऐसा स्वीकारने पर हर शरीर में दो भोक्ता मानने पड़ेंगे! यदि मीमांसक पूछे कि आखिर सिद्धांती आत्मा का स्फुरण कैसे बतायेगा, तो जवाब दिया कि हम स्वप्रकाशवादी हैं अतः हमारे मत में कोई दोष नहीं ॥१०७०॥

अहंवृत्ति से आत्मसिद्धि नहीं इसे ही और स्पष्ट करने के लिये विचार करते हैं –

अहंरूप को (उक्त वृत्ति को) प्रमाण मानते हो या उसे ही आत्मा मानते हो? यह बताओ। प्रमाण वह नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष है और न वह आत्मा है क्योंकि परतंत्र व जड है ॥१०७१॥

भाट्ट प्रमाण को अनुमेय ही मानता है जबकि अहंवृत्ति रागादिकी तरह प्रत्यक्ष है, अपरोक्ष अनुभव का विषय है। अतः वह उसे आत्मा में प्रमाण नहीं कह सकता। आत्मा भी वह हो नहीं सकती क्योंकि वह अस्वार्थ है और जड है; अस्वार्थ का मतलब है परतंत्र, उसे धर्म मानने से मीमांसक उसे परतंत्र ही कहेगा। कादाचित्क एवं प्रत्यक्षविषय होने से जड भी है। अतः अहंवृत्ति न ख़ुद आत्मा है, न आत्मामें प्रमाण है ॥१०७१॥

न चाप्यात्मन्यविज्ञातेऽहंबुद्धेः सिद्धता तव। येनाऽऽत्मा स्यादहंबुद्धेरनुमेया हि सा स्थिता ॥१०७२॥
निरंशस्य न चाप्यंशकल्पनाऽप्युपपद्यते। स्वात्मतन्त्रे च विषये मानबोधः सदा भवेत् ॥१०७३॥
अज्ञातत्वं विना मानं नाहंप्रत्यय आत्मनः। अज्ञातत्वमतो वाच्यमात्मनोऽत्र घटादिवत् ॥१०७४॥
तस्याप्यनुभवात्सिद्धिर्यद्युच्येत घटादिवत्। सिद्ध आत्मा पृथङ्मातुर्नो चेन्माता न सिध्यति ॥१०७५॥

अहंवृत्ति को प्रमाण मानने पर इतरेतराश्रयता भी होगी –

तुम्हारे मत में भी आत्मा विज्ञात न हो तो अहंवृत्ति सिद्ध नहीं होती, जिससे आत्मा अहंबुद्धि से सिद्ध हो सके। तुम बुद्धि को अनुमेय ही मानते हो ॥१०७२॥

ज्ञात बुद्धि (= ज्ञान) ही आत्मा का ज्ञान करा सकती है और आत्मा का ज्ञान बुद्धि से मान रहे हो इस प्रकार परस्पराश्रय है। बुद्धि रोशनी की तरह है अतः ख़ुद भासते हुए ही विषय को भासित कर सकती है। इंद्रियादि की तरह अज्ञात रहकर बुद्धि (= ज्ञान) विषयावभासक हो यह मीमांसक भी नहीं मानता। आत्मा अज्ञात हुआ ही केवल विद्यमान होने से बुद्धि को सिद्ध कर ले यह भी मीमांसक कह नहीं सकता क्योंकि वह बुद्धि को (ज्ञान को) अनुमेय मानता है, उसके आचार्य कह गये हैं 'न चैकरूप्यम्, अनाकारामेव हि बुद्धिमनुमिमीमहे, साकारं चार्थं प्रत्यक्षमेवावगच्छामः।' (शाबर १.२.५ पृ० ४२)। बुद्धि का अनुमान ज्ञान या ज्ञातता रूप लिंग से ही वह मानता है। अतः आत्मज्ञानरूप लिंगसे ही उसे अहंबुद्धि का अनुमान करना पड़ेगा। यह लिंग जाना जाये तो आत्मा भी जान लिया जायेगा क्योंकि लिंगरूप ज्ञान से आत्मा विशिष्ट ही है। अतः आत्मप्रतीति हो तब अहंबुद्धि की प्रतीति और उससे आत्मा की प्रतीति यह परस्पराश्रयता होगी। पहले (१०६०) अहंबुद्धिकी उत्पत्ति में दोष दिया था, यहाँ उसकी ज्ञप्ति में है यह अंतर है ॥१०७२॥

दो अंश मानकर दोष दिया, वस्तुतः दो अंश मानना ही ठीक नहीं –

निरंश आत्मा के अंश न आनुभविक हैं न कल्पित ही किये जा सकते है। किं च अहंप्रत्यय का कारण यदि आत्मा हो तो आत्मविषयक अहंबुद्धिरूप प्रमाण हमेशा होता, गहरी नींद कभी न आती! ॥१०७३॥

'निष्कलम्' आदि शास्त्र, नित्यत्वादि युक्ति और अपनी अभिन्नता का सार्वजनीन अनुभव रहते दो अंशों वाला आत्मा है यह अत्यंत असंगत मान्यता है। ऐसी कल्पना में भी कोई हेतु नहीं। अहंबुद्धि में कारण आत्मा है और वह सनातन है तो यह बुद्धि भी हमेशा रहनी चाहिये पर रहती नहीं। यदि इसकी उत्पत्ति में मनःसंयोगादि अन्य भी कारण हों तो वे भी तुम्हारे मत में हमेशा रहते हैं अतः यह वृत्ति हमेशा होनी चाहिये। अदृष्ट को भी कारण कहो तो क्या पुण्य इसका हेतु है या पाप? यदि पुण्य हो तो दुःखकाल में अहंबुद्धि नहीं होनी चाहिये और पाप हो तो सुखकाल में नहीं होनी चाहिये! अदृष्टमात्र को कारण कहो तो वह स्वापकाल में भी है अन्यथा तब मृत्यु हो जाये। एवं च घटजन्य घटप्रत्यक्षप्रमा की तरह आत्मजन्य अहंबुद्धि संभव न होने से यह उसमें प्रमाण नहीं यह अभिप्राय है ॥१०७३॥

प्रमाता – जिसे प्रमा होती है – आत्मा है यह मानकर बताया कि वह अहंवृत्ति से ग्राह्य नहीं। यदि वह अहंधीगम्य हो तो भी क्योंकि वह आत्मा नहीं इसलिये आत्मा अहंधीगम्य नहीं हो जायेगा –

आत्मा अज्ञात न हो तो अंहप्रत्यय उसमें प्रमाण नहीं हो सकता अतः घटादि की तरह आत्मा को अज्ञात मानना पड़ेगा। यदि अज्ञातता की सिद्धि भी अनुभव से कही जाये तो आत्मा जैसे घटादि से भिन्न है वैसे ही प्रमाता से भी भिन्न सिद्ध होगा। नित्यानुभव से अज्ञातता न मानो तो प्रमाण-प्रवृत्ति न होने से प्रमाता भी प्रामाणिक नहीं रहेगा ॥१०७४-१०७५॥

कई जगह बता चुके हैं कि अज्ञात अर्थ का बोधक ही प्रमाण होता है। अहंधी प्रमाण हो तो इसका प्रमेय आत्मशब्दित प्रमाता अज्ञात मानना अनिवार्य है। वह अज्ञातता स्वतः सिद्ध तो मीमांसक मानता नहीं। प्रमाण से सिद्ध कहे

प्रमाणसंप्लवोऽप्युक्तो दूरादेव निवर्तितः। अन्यत्रापि हि मानानां नैव संप्लव इष्यते ॥१०७६॥
अज्ञातावगमे यद्वत्प्रमातर्यर्पितं फलम्। न मेये पूर्वमानेन तद्वन्मानान्तरैरपि ॥१०७७॥
अतोऽनधिगतावेशात्सर्वेषां संप्लवः कुतः। मान्तरैरवबुद्धेऽपि ज्ञातेऽप्यज्ञाततोऽन्यतः ॥१०७८॥
अथाप्यवगमो मेये तथाऽपि स्यान्न संप्लवः। पूर्वोऽनधिगते वृत्तः प्रत्ययोऽधिगते परः ॥१०७९॥

तो अनवस्था है और अज्ञातता प्रमाण से हटेगी नहीं यह आपत् भी है; यह पहले विस्तार से कह आये हैं। प्रमाता को भी अज्ञातता सिद्ध करने वाला नहीं कह सकते क्योंकि वह प्रमेय है तो घटकी तरह अपनी अज्ञातता को सिद्ध नहीं कर सकता। जैसे ज्ञातता नित्य अनुभवरूप आत्मा से सिद्ध है ऐसे अज्ञातता भी है यह मानें तो स्पष्ट है नित्य अनुभवरूप आत्मा को प्रमाता से अलग कहना ही पड़ेगा। घटादि की अज्ञातता सिद्ध करने वाला आत्मा जैसे घटादि से अलग है ऐसे प्रमाता की अज्ञातता सिद्ध करने वाला उससे भी अलग ही होगा। इस प्रकार अहंवृत्ति प्रमाता को प्रमित कराये तो भी आत्मा को नहीं कराती ॥१०७४-१०७५॥

अब तक वार्तिकानुसारी भाट्टों की इस मान्यता का निरास हुआ कि आत्मा में – देहांतरसंबंधी चेतन में – अहंवृत्ति प्रमाण है। अब संक्षेप से प्रभाकरानुयायियों का निरास करते हैं। वे मानते हैं कि सभी विषयज्ञान आत्मा में प्रमाण हैं क्योंकि विषयज्ञानों में शब्दादि ज्ञानविषयरूप से सिद्ध होते हैं, ज्ञान ख़ुद स्वप्रकाशरूप से सिद्ध होता है और आत्मा उस ज्ञान के आश्रयरूप से सिद्ध होता है। यही त्रिपुटीभानवाद कहा जाता है। कैमुतिकन्याय से इस कल्पना को हटाते हैं –

सभी प्रमाण आत्मा को विषय करते हैं यह मत भी उक्तनीत्या दूरतः निरस्त है ॥१०७५ $\frac{1}{2}$॥

अहंज्ञान आत्मा में प्रमाण हो यह सामान्यतः संभव लगता है पर जब वही उसमें प्रमाण नहीं हो पाया तो अनात्मज्ञान आत्मा में प्रमाण नहीं इसमें कहना ही क्या! यदि शब्दादिविषयक ज्ञानों में आत्मा भासे तो वह भी उनका विषय ही होना चाहिये क्योंकि ज्ञान में जो भासता है वही ज्ञानका विषय कहा जाता है। अतः आश्रयतया प्रतीति की कल्पना अनर्गल है। चित्सुखी में (पृ० ४४) इस संभावना का तर्कतः निरास द्रष्टव्य है। ज्ञान की आत्मरूपता बताने वाली श्रुति से विरोध होने के कारण ज्ञान को आत्मा में आश्रित नहीं कह सकते ॥१०७५ $\frac{1}{2}$॥

तार्किक कहते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति तीनों आत्मा में प्रमाण हैं, उसे केवल वेदवेद्य परपुरुष नहीं कह सकते। उनका प्रत्याख्यान करते हैं –

अनात्मविषयों में भी प्रमाणसंप्लव नहीं स्वीकारा जा सकता तो आत्मा में वह संभव नहीं यह स्फुट है ॥१०७६॥ जैसे पूर्व प्रमाण अज्ञातविषयक ज्ञान कराने पर प्रमाता में फल उत्पन्न करता है, प्रमेय में नहीं, ऐसे ही पश्चात्प्रवृत्त प्रमाण भी ॥१०७७॥ प्रमाण अज्ञात को विषय करते हैं अतः एक प्रमाण से ही अज्ञातता हट गयी तो सभी एक को कैसे विषय करेंगे? यदि एक प्रमाण से समझे हुए को अन्य प्रमाण विषय करते हैं तो भी समानविषयता नहीं : प्रथम प्रमाण ने अज्ञात अर्थ को विषय किया जबकि दूसरे ने प्रथम से ज्ञात को विषय किया। अतः विषय में अंतर आ गया ॥१०७८॥ ज्ञान अगर प्रमेय में फलोत्पादक है यह असंभव बात भी मान लें तो भी संप्लव नहीं होगा क्योंकि प्रथम का विषय था अज्ञात अर्थात् फलरहित और दूसरे का हुआ ज्ञात अर्थात् फलवान् ॥१०७९॥

प्रमाणसंप्लव अर्थात् अनेक प्रमाण एक वस्तु को विषय कर सकते हैं यह मानना जो तार्किकों को इष्ट है, सिद्धांती को नहीं। प्रथमतः तो आत्मा जब अहंज्ञान का ही विषय सिद्ध नहीं हो पाया तो अनुमानादि का विषय हो सके यही असंभव है। किं च शब्दादि जड विषयों में भी संप्लव मान्य नहीं है तो हर शरीर में अलग-अलग समझे जाने वाले जीवों में कैसे संभव होगा और व्यापक अखंडात्मा में तो संप्लव और भी असंभव है। प्रत्यक्ष शब्दादि को विषय करते हैं,

पूर्वेण निश्चिते चेत्स्यान्नोत्तरस्य प्रमाणता। तथा संदेह एकस्मादन्यस्माद्धि विनिश्चयः ॥१०८०॥
निःसामान्यविशेषेषु नातः संप्लव इष्यते। यथाऽन्यत्र तथेहापि वेदान्तेष्वभ्युपेयताम् ॥१०८१॥

तार्किक की बात मान लें तो रूपादि वाला भी किसी तरह विषय हो सकता है, पर शब्दादि से रहित आत्मा कैसे प्रत्यक्ष और तन्मूलक अनुमान का विषय होगा? मन को प्रमाण कहना बनता नहीं, इसका अन्यत्र विस्तार है; बाह्य विषयों में चक्षुरादि के विना मन प्रवृत्त नहीं होता यह तार्किक कहता है अतः आंतर से वह किसको कह सकता है? शरीर के अंदर कहे तो हड्डी, मांस, रोग आदि की प्रमा हो जानी चाहिये! अतः सिर्फ़ आत्मा को ही आंतर कहेगा तथा वही असंप्रतिपन्न है। मन स्वयं आत्मग्राह्य होने से आत्मग्राहक नहीं। आत्मग्राह्य न हो तो मन अप्रामाणिक है क्योंकि अनुमानार्थ व्याप्ति भी प्रमित होनी चाहिये और व्याप्तिप्रमा में व्याप्य-व्यापक का भान होना चाहिये; मनमें जो भी लिंग होगा उसकी व्याप्ति का ज्ञान मनोविषयक मानना पड़ेगा। प्रत्यक्ष न मानो तो अनुमानांतर मानने पर अनवस्था होगी और शास्त्र से मानो तो औपनिषदादि शास्त्र से ही और 'मनसा न मनुते' आदि स्पष्टोक्तियों से मनोग्राह्यता अमान्य हो जायेगी।

किं च प्रमाणफल प्रमेय पर मानो या प्रमाता पर, हर हालत में संप्लव संगत नहीं। प्रमेय पर फल मानना असंगत भी है क्योंकि फल चेतन में होता है जबकि घटादि प्रमेय जड हैं। प्रमाता में फल मानोगे तो जब एक प्रमाण से ही फललाभ हो जायेगा तब अन्य प्रमाण किस लिये प्रवृत्त होंगे? विना प्रयोजन भी यदि वे प्रवृत्त हों तो भी तत्तत् प्रमाण से ज्ञातत्व-विशिष्ट ही उत्तरोत्तर प्रमाण का विषय होने से विषयवैलक्षण्य हो जायेगा, एकविषयक अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति रूप संप्लव नहीं बनेगा ॥१०७६-१०७९॥

विशेषण जुड़ जाने पर भी विशेष्यांश में संप्लव कैसे नहीं? अंश में प्रामाण्य नहीं होता अन्यथा 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इस अनुमान को भी पवर्तांशमें प्रमाण कहना पड़ेगा! अतः विशिष्टविषयक प्रमा का विषय शुद्धविषयक प्रमाके विषय से अलग ही होगा। यदि सर्वथा एक ही विषय होगा तो प्रथम ज्ञान प्रमा होगा और बाद वाले अनुवाद। यही बताते हैं –

पूर्व प्रमाण से निश्चित हुए विषय के बारे में बाद में प्रवृत्त होने वाले यदि अप्रमाण होंगे तो पूर्व वाला ही निश्चायक होगा व बाद वाले अनुवाद ही रहेंगे ॥१०८०॥

श्लोक में 'संदेह' शब्द आया है जिसका अर्थ है अनुवाद, यह दोनों टीकाओं में कहा है। पूर्व प्रमाण से निश्चय हो चुकने से अनंतर प्रवृत्त को संशयजनक कहना प्रकृत में घटता नहीं अतः ऐसी लक्षणा उचित है। जब द्वितीयादि प्रमाण ही नहीं तो संप्लव कह ही नहीं सकते ॥१०८०॥

अनात्माकी तरह आत्मा में भी संप्लव असंभव है –

सामान्य-विशेष वाली जिन चीज़ों में संप्लव आपाततः प्रतीत होता है उनमें भी क्योंकि उसका निरास हो गया इसलिये जिनमें सामान्य-विशेष नहीं उन चिन्मात्र आत्माओं में संप्लव नहीं इसमें क्या कहना! जैसे जड विषयों में और जीवात्माओं में संप्लव नहीं वैसे ही उपनिषदों में प्रतिपाद्य ब्रह्मरूप आत्मा में भी संप्लव नहीं यह स्वीकारना चाहिये ॥१०८१॥

जीवात्मा भी स्वप्रकाश चिद्रूप हैं, उन्हे एक भी प्रमाण विषय करे यह मुश्किल है तो बहुतेरे प्रमाणों का संप्लव कैसे होगा? जीवबहुत्व प्रतिभासतः सिद्ध है और तार्किकसंमत है अतः उसका उपन्यास कर दिया, वस्तुतः बहुत से आत्मा हों, ऐसा नहीं। ['न चैवमात्मभेदः' यही टीकापाठ है; '…वेदनात् चैव…' यह मुद्रकप्रमाद है।] ब्रह्म भी श्रुतिमात्रसमधिगम्य है, अन्य प्रमाण किसी तरह संभव नहीं। इसलिये वेदांत अपने असाधारण विषय में प्रमाण हैं ॥१०८१॥

श्लोक ९८६ में प्रत्यक्षादि भी ब्रह्मगोचर कहकर यहाँ उसे केवल श्रुतिगम्य कैसे कह रहे हैं? अंतर यह है कि अन्य

यतो मानानि सिध्यन्ति जाग्रदादित्रयं तथा। भावाभावविभागश्च स ब्रह्मास्मीति बोध्यते ॥१०८२॥
यतोऽसिद्धानि सिध्यन्ति भावाभावौ यदाश्रयौ। योऽनन्यार्थो यदर्थं च सर्वं योऽनन्यदृक्सदा ॥१०८३॥
प्रमेयादित्रयं यस्मात्परस्परविलक्षणम्। आत्मानं लभते सत्यः सोऽध्यक्षोऽत्राभ्युपेयताम् ॥१०८४॥

प्रमाण उपाधि द्वारा उसे विषय करते हैं जबकि वेदांत केवल उसे विषय करते हैं। अतः केवल ब्रह्म उपनिषन्मात्रवेद्य है यह मानकर कहते हैं –

प्रमाण, जाग्रदादि तीनों अवस्थायें और भाव-अभावरूप द्वैत, ये सभी जिससे सिद्ध होते हैं वह ब्रह्म मैं हूँ यह उपनिषत् समझाती है ॥१०८२॥ स्वतः सत्ता-स्फूर्ति से विहीन जड चीज़ें जिससे सत्ता-स्फूर्ति पाती हैं, भावरूप व अभावरूप सभी लब्धसत्ताक वस्तुयें जिसमें प्रतिष्ठित रहती हैं, जो किसी अन्यका शेष नहीं और जिसके लिये सब कुछ है, जो हमेशा स्वप्रकाश है, उस परमात्मा से साक्षी का अभेद उपनिषत् समझाती है ॥१०८३॥ आपस में विलक्षण प्रमेयादि त्रिपुटियाँ जिससे सत्तादि पाती हैं वह सत्य ही समस्त साक्ष्यविषयक साक्षी है यह समझ लेना चाहिये ॥१०८४॥

प्रत्यक्षादि प्रमाण जड हैं अतः ख़ुद स्फुर नहीं सकते; जिसके कारण ये स्फुरते हैं वह आत्मा है। अतः आत्मा उन प्रमाणों का विषय नहीं जैसे दीपभास्य घट का विषय दीप नहीं होता। ऐसा आत्मा ब्रह्म नहीं क्योंकि अवस्थाओं वाला है – इसके निराकरणार्थ उसे अवस्थाओं का भी साक्षी बताया। इसी तरह वह द्वैत को सिद्ध करने वाला होने से स्वयं द्वैतहीन है अतः अद्वय ब्रह्म से अभिन्न है। सिद्ध होने वाला द्वैत भी सापेक्ष होने से कल्पित ही है। इस प्रकार शोधित त्वम्पदार्थ का अनुवाद कर उसकी तत्पदार्थता – ब्रह्मरूपता – वेदांतमहावाक्यों द्वारा बतायी जाती है। उपनिषदों में कहीं त्वमर्थ से प्रारंभकर उसकी तदर्थता कही है जैसे छान्दोग्य अष्टमादि में या मैत्रेयी ब्राह्मणादि में और कहीं तदर्थ से आरंभ कर उसकी त्वमर्थता कही है जैसे श्वेतकेतुविद्या में या तैत्तिरीयादि में। माण्डूक्यभाष्य के मंगल की टीका में यह विषय और स्पष्ट किया है। यहाँ भी पहले त्वमर्थ कहकर वाक्यार्थ बता दिया तथा अगले श्लोक से (१०८३) तदर्थ कहकर उसे ही स्पष्ट किया। ऐसा कहना अत्यंत अभेद की अभिव्यक्ति के लिये होता है यह व्यतिहाराधिकरण से (३.३. अधि० २३) भी सूचित है। संसार परमात्मा से सत्ता-स्फूर्ति पाकर उसी में विद्यमान रहता है। सुख का लक्षण है जो किसी के लिये न हो किन्तु उसके लिये सब हों; यह भी परमात्मा में घटता है क्योंकि शास्त्र उसे आनंद कहता है और उसे ही व्यापक होने से सुखरूप बताता है। चेतन ही शेषी होता है और परमात्मा अकेला चेतन है यह शास्त्र कहता है अतः वही सर्वशेषी होने से सुख है। हमेशा स्फुरने वाला वह परमात्मा अपनी सिद्धि के लिये किसी की अपेक्षा नहीं रखता। उससे साक्षी का अभेद बताना वेदांतमहावाक्यों का काम है। प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, कर्ता-कर्म-करण, भोक्ता-भोग्य-भोग – ये आपस में विलक्षण हैं लेकिन किसी एक से इन्हे सत्ता-स्फूर्ति मिलती है, वह इनका साक्षी है। उसे आगे किसी दूसरे से सत्ता-स्फूर्ति नहीं मिलती। वह अबाधित, अपरिवर्तित, विद्यमान चेतन है। सभी दृश्यों का वही साक्षी है, उससे अन्य कोई साक्षी नहीं, 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ'। उसे मना करने पर प्रमाता आदि का होना-न-होना सिद्ध ही नहीं हो पायेगा अतः वह स्वीकार्य है। अनुमान से भी ऐसा आत्मप्रकाश समझाया जा सकता है : प्रमाता आदि, हमारे ऐसे प्रत्यक्ष से ग्राह्य हैं जो प्रमाता आदि को विषय करने वाले ऐन्द्रिय ज्ञान से अतिरिक्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष हैं, जैसे घड़ा! वादी मानता है कि प्रमाता आदि को विषय करने वाली इन्द्रिय मन है अतः उस ऐंद्रिय ज्ञान से (मानस ज्ञान से) अतिरिक्त कोई अस्मदीय प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। दृष्टांत में तो प्रमात्रादिग्राहक-ऐन्द्रियज्ञान से अतिरिक्त चक्षुरादि ज्ञान मिल जाता है अतः वहाँ साध्यसिद्धि हो जाती है। पक्ष में चाक्षुषादि संभव नहीं अतः मानसातिरिक्त साक्षिज्ञान ही सिद्ध होगा। 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' आदि श्रुति भी तभी उपपन्न है यह तर्क भी समझ लेना चाहिये। वार्तिकसार में (पृ० ४७४ आदि) इन श्लोकों को व इस अनुमान को समझाया गया है ॥१०८२-१०८४॥

'द्रष्टा की दृष्टि अविनाशी होने से कभी लुप्त नहीं होती' इस श्रुति से सुषुप्ति में भी बोधरूप साक्षी अवश्य मान्य है –

असंकुचितचित्पद्मः प्राज्ञे स्वप्नप्रबोधवत्। तथा प्रफुल्लबोधाब्जः प्राज्ञवत्स्वप्नबोधयोः ॥१०८५॥
साक्ष्यसंबन्धतः साक्षी न स्वतः साक्षिताऽऽत्मनः । प्रत्यङ्मात्रैकदृष्टित्वाद्धियां वाचामगोचरः ॥१०८६॥
अस्मत्पक्षे हि कर्तव्यमविद्यामात्रकल्पितम्। तदभावान्न संसारो भूतो भावी न वर्तते ॥१०८७॥
स्वाभाविक्यप्यविद्येयमनुभूत्याऽवभासिता। तमः सूर्योदयेनेव ज्ञानेनोत्कृत्य नाश्यते ॥१०८८॥
अनादिकालमज्ञानं ज्ञानेनाऽऽदिमता क्षणात्। दृश्यते नाश्यमानं हि न चास्याऽऽवृत्तिरीक्ष्यते ॥१०८९॥

खिले कमल की तरह प्रकट चेतन सुषुप्ति में वैसा ही है जैसा स्वप्न और जाग्रत् में तथा स्वप्न व जाग्रत् में भी वैसा ही विकासमान है जैसा सुषुप्ति में ॥१०८५॥

श्रुति में (बृ० माध्यं० २.४.१२) बताया है कि चेतन एकरूप ही है, विषय कभी सामने आ जाते हैं, कभी सामने नहीं रहते। 'असंगो न हि सज्जते' आदि से आत्मा विषयसंगी तो है नहीं अतः जाग्रत्-स्वप्न में विषय सामने होने पर भी वह वास्तव में उनसे संबद्ध नहीं होता। इसीलिये तीनों अवस्थाओं में वह एकसा है ॥१०८५॥

'साक्षी होना' भी एक कल्पना ही है क्योंकि साक्ष्य की अपेक्षा से है –

साक्ष्य के सम्बंध से साक्षी होता है, आत्मा में स्वतः साक्षिता नहीं है। केवल प्रत्यक् और स्वप्रकाश होने से वह बुद्धि व शब्द का विषय नहीं ॥१०८६॥

साक्ष्यसाक्षिभाव भेदापेक्ष होने से आत्मा में स्वाभाविक नहीं। स्वतः वह निर्विशेष है। अविद्याप्रभव कल्पनाओं से सविशेष लगता है। शब्द व ज्ञन का भी वह विषय नहीं कि कोई सविशेषता हो। यहाँ वादी को अभिप्रेत अनुमान थे : आत्मा, सविशेष है, साक्षी होने से, वाच्य होने से और ज्ञेय होने से, न्यायालयों में प्रसिद्ध साक्षियों की तरह और घटादि की तरह। सभी प्रयोगों में स्वरूपासिद्धि दोष है क्योंकि प्रसिद्ध साक्षी में साक्षित्व काल्पनिक नहीं कि उसमें और आत्मा में एक साक्षिता हो तथा वाच्यतादि आत्मा में हैं नहीं ॥१०८६॥

साक्ष्य से सम्बंध का कर्ता साक्षी है अतः राजा की तरह कर्ता होने से सविशेष होना चाहिये; इस संभावना को भी हटाते हैं –

हमारे सिद्धान्त में कर्तृत्व केवल अविद्या से कल्पित है। जब अज्ञान नहीं रहता तब संसार न था, न होगा, न है! ॥१०८७॥

वार्तिकसार में 'कर्तृत्वमविद्यामात्रकल्पितम्' (पृ० ४७८) पाठ है; आनंदगिरीय में 'कर्तृत्वादिसम्बंधस्य' इससे भी वही पाठ ध्वनित होता है। 'कर्तव्यम्' पाठ में कर्तव्यका अर्थ सम्बंध है क्योंकि शंका में आत्मा को सम्बंधकर्ता कहा अतः कर्तव्य संबंध ही होगा। एवं च सम्बंधकर्तृत्व भी आत्मा में असिद्ध है क्योंकि वह केवल अविद्याकार्य है, यह तात्पर्य है। अज्ञान भी आत्मा में है नहीं, उसका और उसके कार्य का आत्मा में त्रैकालिक अभाव है, अन्यथा नित्य मोक्ष असंभव है। इसलिये आत्मनिर्विशेषता निष्प्रत्यूह है ॥१०८७॥

अनादि और केवल अनुभव से सिद्ध होने पर भी अज्ञान क्योंकि भावाभावविलक्षण है इसलिये भावरूप आत्मा की तरह अनिवर्तनीय नहीं है –

यह अविद्या स्वाभाविक और अनुभूति से प्रकाशित होने पर भी आत्मा से हटायी जाकर वैसे ही नष्ट कर दी जाती है जैसे सूर्योदय से अँधेरा ॥१०८८॥ अनादि काल से बना हुआ अज्ञान प्रारंभ होने वाले तत्त्वज्ञान से क्षणभर में नष्ट होता हुए देखा ही जा रहा है! इसे नष्ट करने के लिये ज्ञान की पुनरावृत्ति भी नहीं चाहिये ॥१०८९॥

स्वाभाविक अर्थात् नैसर्गिक, अनादि। आत्मा पर ही अज्ञान भास रहा है। उपदेश से यह समझाते हैं कि वह आत्मा में नहीं हो सकता। यही उसका 'आत्मा से हटाया जाना है'। जैसे गाँठ ढीली कर तब खोली जाती है ऐसे उपदेशादि से

एवंभूतोऽप्ययं प्रत्यक्स्वात्मानुभवसंश्रयात्। व्युत्पत्तेः प्रागविज्ञातः सर्वाज्ञानादिसाक्ष्यपि ॥१०९०॥
तत्त्वमस्यादितस्तस्मादागमादेव नान्यतः। ऐकात्म्यवस्तुनः साक्षाद्व्युत्पत्तिरविचालिनी ॥१०९१॥
तस्यास्य कर्मकाण्डेन संबन्ध इति यः पुरा। प्रश्नस्तन्निर्णयार्थाय सर्वथेत्यादिरुत्तरः ॥१०९२॥

आत्मा पर अज्ञान की असंभवता समझाकर तब शास्त्र प्रमाण सकृत् प्रवृत्ति से उसे समाप्त कर देता है क्योंकि आत्मा से अन्यत्र तो वह संभव ही नहीं है। जो भावरूप नहीं वह अनादि होने पर भी नष्ट हो जाता है जैसे ज्ञान का प्रागभाव। यहाँ अभावत्व कहना गौरवग्रस्त है, भावविलक्षण कहना ही उचित है, अतः भावविलक्षण अज्ञान के लिये प्रागभाव का दृष्टांत ठीक है यह अन्यत्र समझाया गया है। 'क्षणभर में' इसलिये कहा कि कहीं प्रसंख्यानपक्ष प्राप्त न हो ॥१०८८-१०८९॥

सींप का अज्ञान होता है अतः प्रमाण से निवृत्त हो जाता है। स्वप्रकाश होने से आत्मा का अज्ञान नहीं अतः प्रमाण से नहीं हटता होगा, आवृत्ति आदि से हटता होगा? इस शंका को मिटाते हैं –

यद्यपि ऐसा यह प्रत्यगात्मा सभी मनों का, मनोवृत्तियों का, किं बहुना सारे कार्यों समेत अविद्याका साक्षी है, स्वप्रकाश है, तथापि महावाक्य का अर्थ समझने से पहले अविज्ञात है यह बात अपने अनुभव से ही सिद्ध है, अतः अज्ञात होने से प्रमाणप्रवृत्ति के योग्य है ॥१०९०॥ इसलिये अद्वैत आत्मवस्तु का निश्चल साक्षात्कार 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रवचन से ही होता है, अन्य किसी से नहीं ॥१०९१॥

शास्त्रोक्त स्वस्वरूप से हम स्वयं को नहीं जान रहे यह अनुभवसिद्ध है अतः शास्त्र ही उस जानकारी का हेतु है। प्रमाणान्तर आत्माको विषय नहीं कर सकते यह श्लोक १०४९ आदि से समझा चुके हैं। शब्द में अपरोक्षधीहेतुता भी बता चुके हैं। एवं च 'दृष्ट' में शास्त्र प्रमाण नहीं है (श्लो० १०४७) और आत्मा में ही है जिसमें प्रमाणांतर की गति नहीं अतः स्वार्थ में वेदान्तों का प्रामण्य निष्कण्टक है यह तात्पर्य निश्चित हुआ। आत्मज्ञान को निश्चल इसलिये कहा कि सारे बंधन का कारण समेत बाध कर देने से पुनःपुनः जन्मादिरूप चांचल्य फिर नहीं रह जाता ॥१०९०-१०९१॥

आगे भाष्य में कहा है कि हर हालत में, देहान्तरसम्बंधी आत्मा है ऐसा समझने वाला देहांतर में लभ्य इष्ट या परिहार्य अनिष्ट के ख़ास उपाय जानना चाहता है और उन्हे बताने के लिये कर्मकाण्ड प्रारंभ किया गया। इस भाष्य का तात्पर्य कहते हैं –

'उस इसका कर्मकाण्ड से सम्बन्ध' - यों जो पहले प्रश्न उठाया था उसका निर्णय करने के लिये 'सर्वथापि' इत्यादि वाक्य है ॥१०९२॥

'बृंहदारण्यक' नाम निर्वचन करने के बाद भाष्य में कहा था 'तस्यास्य कर्मकाण्डेन सम्बन्धोऽभिधीयते'। लेकिन सीधे शब्दों में संबंध बताना शुरु न कर 'सर्वोऽपि अयं वेदः' इत्यादि से यह बताने लगे कि वेद क्या बताता है। ऐसा क्यों किया – यह वार्तिककार समझा चुके हैं (श्लो० ३१३-१५)। अथवा सम्बंध पर वहाँ आक्षेप उठाया है यह भी बता चुके (श्लो० ३१६ आदि)। इस प्रकार वहाँ जो सम्बंध की चर्चा उठी उसका उपसंहार अब कर रहे हैं यह तात्पर्य है। टीकाकार सारे विषय का विभाजन कर संक्षेप में उपस्थित करते हैं : १) 'तस्य' इत्यादि भाष्य में (वार्ति० श्लो० ३१३) यह प्रतिज्ञा की कि पूर्वोत्तर काण्डों का निश्चित संबंध है। २) संबंध तभी हो जब उत्तरकाण्ड प्रमाण हो, अतः 'सर्वोपि' आदि भाष्य में (श्लो० ५५३) यह स्थापित किया कि उपनिषत् प्रमाण हैं। ३) अधिकारी न हो तो भी विद्योपदेश अनर्थक है, अतः 'सर्वपुरुषाणाम्' आदि भाष्य में (श्लो० १०२३) विद्या का अधिकारी सुलभ है यह बताया। ४) मीमांसकाभिमत कार्य में वेद प्रमाण है ही नहीं यह 'दृष्टविषये' आदि भाष्य से (श्लो० १०४७) कहकर वेद को सिद्धार्थक मानना ज़रूरी बताया। ५) 'न चासति' आदि भाष्य में (श्लो० १०४९) स्पष्ट किया कि मीमांसक को भी सिद्ध आत्मा में वेद प्रमाण मानना पड़ेगा अन्यथा कर्मकाण्डप्रवृत्ति संभव नहीं। अतः वेदांतों का स्वार्थ में तात्पर्य हो इसमें कर्मकाण्डी विरोधी बनकर ख़ुद की हानि करता है इसलिये उसे ऐसा नहीं करना चाहिये। ६) अब जो संबंध का प्रश्न उठाया था उसका निर्णय बता रहे

ननु सिद्धे यथोक्तार्थे नाऽऽरम्भे हेतुरीक्ष्यते। कृत्स्नप्रयोजनावाप्तेः पूर्वोक्तैरेव कर्मभिः ॥१०९३॥
नैतदेवं सुखेप्साया जिहासायाश्च दुःखतः। निदानस्यानिषिद्धत्वात्पूर्वोक्तैः कर्मभिः पुरा ॥१०९४॥
निःशेषाह्लादसंप्राप्तिः सर्वानर्थनुतिस्तथा। सर्वेषां प्राणिनामेतत्स्वत इष्टं प्रयोजनम् ॥१०९५॥
आत्मनस्तत्त्वमेतच्च सिद्धं चैतन्यवद्यतः। अथैष यो वै भूमेतिश्रुतिमानानुभूतितः ॥१०९६॥
स्वर्गशब्दाभिधश्चायं पुमर्थो यो यथोदितः। स्वर्गमित्यादिभिर्वाक्यैस्त्रय्यन्तेष्वपि गीयते ॥१०९७॥

हैं कि कर्मों से शुद्ध हुई बुद्धि वाले में वैराग्यादि सम्पत्ति पुष्कल होने पर शास्त्रश्रवण से ज्ञानोत्पत्ति हो जाती है ॥१०९२॥

कर्मकाण्ड का विषय इष्टादि के उपाय हैं किन्तु इष्टादि की कामना जिस अज्ञान से होती है, जो 'मैं कर्ता–भोक्ता हूँ' इस अभिमान के रूप में स्फुट होता है, उसकी निवृत्ति के हेतुभूत ब्रह्म–आत्मैक्य के विज्ञान का उपदेश कर्मशास्त्र में नहीं है। उपनिषत् उसके उपदेश से वह अज्ञान हटाने के लिये प्रवृत्त है यह 'न त्वात्मनः ⋯ अपनीतम्' भाष्य से कह रहे हैं –

इष्टादि के उपाय बताना कर्मकाण्ड का प्रयोजन है तो पूर्वकाण्डोक्त कर्मों से ही पूर्ण पुरुषार्थ मिल जायेगा, ज्ञानकाण्ड क्यों प्रारंभ करना? ॥१०९३॥ पूर्ण पुरुषार्थ कर्मों से नहीं मिलेगा। सुख पाने की और दुःख से बचने की इच्छा के कारण का समापन पूर्वोक्त कर्मों से पहले नहीं बताया है अतः उसके लिये वेदान्त प्रारंभ हों यह संगत है ॥१०९४॥

कर्म न अज्ञान हटाते हैं, न ऐसा कहा ही गया है अतः अज्ञान कैसे हटे? यह प्रश्न उठने पर ज्ञानकाण्ड का आरंभ है। कर्म अज्ञाननिवृत्ति में उपयोगी होने पर भी ब्रह्म–आत्मज्ञान के बिना अकेले ही वह काम नहीं कर पाते। ज्ञान भी कर्मों से संस्कृत चित्त हुए बिना पैदा नहीं हो पाता। अतः दोनों काण्ड ज़रूरी और इनका संबंध बताना भी ज़रूरी है ॥१०९३–१०९५॥

सुखाभिलाषादि में प्रत्यगज्ञान की हेतुता स्पष्ट करते हैं –

सभी प्राणधारियों को किसी शिक्षादि के बिना प्रवृत्त्यादिमात्र के प्रति यही प्रयोजन प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण आनंद मिले और सारा अनर्थ दूर हो जाये ॥१०९५॥ सर्वानर्थवर्जित सम्पूर्ण सुख – यही आत्मा की वास्तविकता है जैसे भासमानता उसकी वास्तविकता है। 'और यह ही परम आनंद है' (बृ० ४.३.३२), 'यही सबको आनंदित करता है' (तै० २.७), 'जो अवश्य व्यापक है वह सुख है' (छा० ७.१३) इत्यादि वेदवचन से यह सिद्ध है। 'क्योंकि आत्मा से परम प्रेम है इसलिये वह सुख है, जैसे घड़ा' आदि अनुमान और सुषुप्ति का आनंदानुभव, ये भी सिद्ध करते हैं कि आत्मा निर्दुःख सुख है ॥१०९६॥ स्वप्रकाश, अद्वय आदि यथोक्त स्वरूप वाला जो यह प्रत्यगात्मा है वह अवश्य पुरुषार्थ है क्योंकि इसे 'स्वर्ग' शब्द से भी कहा गया है। 'यहाँ से छूटकर स्वर्ग लोक पाते हैं' (बृ० ४.४.८), 'ऐसा जानकार रोज़ स्वर्ग लोक जाता है' (छां० ८.३.३), 'अनन्त बड़े स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित होता है' (केन० ४.९) इत्यादि वाक्यों द्वारा वेदांतों में आत्मा स्वर्ग कहा गया है ॥१०९७॥

दुःखरहित सुख आत्मा होने से सदा प्राप्त है फिर भी उसकी अभिलाषा है तो यही मानना पड़ेगा कि वैसे आत्मा का अज्ञान है। न जानने पर उस चीज़ की भी कामना हो जाती है जो अपने पास ही हो। अतः कामना का उपादान कारण आत्मा की वास्तविकता का अज्ञान ही है। कर्म आदि के उद्भवादि से वह यदा–तदा उत्पन्न होती रहती है अतः कर्मादि कामना के निमित्तकारण हैं। कर्मादि में आदि से विषयध्यानादि गीतोक्त हेतु भी समझ लेने चाहिये। आत्मस्वरूप होने से यद्यपि आनंद फलशब्द से कहने योग्य नहीं क्योंकि फल उसे कहते हैं जो पहले वस्तुतः न मिला हुआ हो और फ़िर मिल जाये, तथापि गौणी वृत्ति से उसे फल कह देते हैं। आत्मसुखता में श्रुति और परामर्श से आक्षिप्त सौषुप्तानुभव स्पष्ट प्रमाण हैं। प्रिय होने से भी आत्मा सुख है। पंचदशी में प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया है। वार्तिकोक्त घटदृष्टांत व्यतिरेकी भी

स्वर्गं पुमर्थमुद्दिश्य सर्वप्राणभृतामियम्। वाङ्मनःकायचेष्टा स्याद्याऽपि तत्साधनोपगा ॥१०९८॥
उत्पत्त्याद्यर्थनिष्ठानां सर्वेषामपि कर्मणाम्। स्वर्गे नैवाधिकारोऽस्ति तस्य सिद्धत्वतः स्वतः ॥१०९९॥
स्वात्मसाध्यातिरेकेण सर्वमेव हि साधनम्। नालं साध्यान्तरायेह किम्वसाध्यार्थसिद्धये ॥११००॥

समझा जा सकता है लेकिन अन्वयी समझना प्रकृत में ज़्यादा उपयोगी है : अस्ति-भाति-प्रिय-नाम-रूप ये पाँच अंश भासते हैं। अज्ञानवश तादात्म्येन इनका भान होता है अतः नाम-रूप ही हैं, भास रहे हैं और प्रिय हैं – ऐसा लगता है। किन्तु घटादि नाम-रूप कब प्रिय होता है? जब वह सुखरूप से भासे। यद्यपि सुखहेतुरूप से ही विषयभान होता है तथापि लोक में विषयसंपन्नको सुखसंपन्न कहा जाता है अतः विषय सुख है यह साधारण जन की मान्यता है। अतः प्रेमास्पदता और सुखरूपता घट में मिल जाती है। यहाँ प्रेमास्पदता ही हेतु है, 'पर' विशेषण तो सुख में भी समझना पड़ेगा; आत्मा परम सुख है क्योंकि परम प्रिय है, जो प्रिय होता है वह सुख होता है जैसे घड़ा। यदि जड में सुखता यहाँ अविवक्षित ही हो और प्रियतामात्र सुखहेतु में भी होने से व्यभिचारी लगे, तो व्यतिरेकी दृष्टांत है इसमें कोई कठिनायी नहीं। शास्त्र में आत्मा को सुख तो कहा ही है, सुखार्थतया सुप्रसिद्ध स्वर्गशब्द से भी कई जगह आत्मा का कथन है, इससे भी उसकी पुमर्थता या आनंदरूपता व्यक्त होती है ॥१०९५-१०७५॥

'आत्मा स्वर्ग है' सुनकर शंका होती है –

मोक्षोपायरूप से समझी जाने वाली चेष्टा भी यदि स्वर्गार्थ ही है तो सब प्राणियों की जो ये वाणी-मन-शरीर से होने वाली वैध चेष्टायें हैं ये ही स्वर्गप्रयोजनक होने से पर्याप्त हैं, अलग से वेदान्त क्यों आरंभ करने? ॥१०९८॥

तात्पर्य है कि आत्मरूप फल भी यदि स्वर्ग ही है तो उसके लिये भी कर्म ही साधन हो जायेंगे, काण्डांतर को स्वतंत्र विषयादि नहीं मिलेंगे। मोक्ष और स्वर्ग ये विभिन्न तरह के पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं, वह प्रसिद्धि भी पीडित होगी। वैध प्रवृत्ति से अधिकारी जिस पुण्य को अर्जित करते हैं उसीसे स्वर्ग होता है, यदि आत्मरूप मोक्ष भी स्वर्ग है तो वह भी उसी प्रक्रिया से क्यों नहीं होगा? कथंचित् कर्म की तरह शमादि भी साधन मान लें, तो भी ज्योतिष्टोम, विश्वजित् आदि की तरह वे भी रह जायेंगे, काण्डभेद नहीं सिद्ध होगा। यह स्वीकारने पर यावज्जीवादि श्रुतियाँ ही प्रबल पड़ेंगी और समुच्चयवाद ही समर्थित हो जायेगा। इतना ही नहीं, कर्मनिरपेक्ष ज्ञान से अनिवर्तनीय होने पर संसार सत्य भी होगा और परमार्थ मोक्ष असंभव होगा अतः आत्मा को स्वर्ग नहीं कहना चाहिये यह शंकाका आशय है ॥१०९८॥

शक्रादिलोक गौण स्वर्ग या स्वर्गाभास है जिसका साधन प्रवृत्ति है। आत्मा मुख्य स्वर्ग है जिसके अविद्यापिधान का बाधक तत्त्वज्ञान है। इसलिये मुख्य अर्थ समझने में उपयोगी होने से लोकविशेष भी स्वर्ग कहा जाता है न कि वही स्वर्ग है यह बताने के लिये। इस तरह भोगभूमिप्राप्ति और मोक्ष दोनों पृथक् हैं, दोनों के उपाय भी पृथक् हैं, अतः पूर्वोक्त शंका को अवकाश नहीं यह परिहार करते हैं –

सभी कर्मों की गतार्थता उत्पत्ति-प्राप्ति-संस्कार-विकार इनमें से ही किसी प्रयोजन की सिद्धि से हो जाती है। आत्मरूप मुख्य स्वर्ग बिना कारण निज-रूप से विद्यमान है अतः अपरिवर्तनीय सनातन निरवधिक आनंदरूप आत्मा की 'प्राप्ति' के लिये कर्मों का व्यापार नहीं है ॥१०९९॥ साध्य-साधनों के संबंध में यह देखा गया है कि सभी साधन सिर्फ अपने साध्य को सिद्ध कर पाते हैं, साधनान्तर से साध्य होने पर भी जो अपना साध्य न हो उसे कोई साधन नहीं सिद्ध करता। अतः जो सभी साधनों से असाध्य परमपुमर्थ है उसे साधन नहीं सिद्ध कर सकते इसमें कहना ही क्या! ॥११००॥

कर्म उत्पत्ति आदि कर सकते हैं जबकि आत्मा का उत्पत्ति आदि से संबंध नहीं अतः आत्मलाभ में कर्मविनियोग असंभव है। साध्यत्वाक्रान्त होने पर भी स्वसाध्यताऽभावके अपराध से जब साधन साध्यसिद्धि में अपर्याप्त है तब साध्यतामात्र के अभाव में उसकी असमर्थता का क्या कहना! तात्पर्य है कि जब मोक्षरूप स्वर्ग किसी कर्म के

यथोक्तपुरुषार्थस्य यद्यप्याप्तस्वभावता। आत्मस्वभावतो नाऽऽप्तिस्तथाऽप्यज्ञानहेतुतः ॥११०१॥
अविद्याव्यवधानस्य नाऽऽत्मज्ञानातिरेकतः। प्रध्वस्तिः कर्मभिः कर्तुं शक्या तेषाममानतः ॥११०२॥
प्रत्यञ्चकं विरहय्यान्यत्साधनं कारकात्मकम्। तदभिव्यक्तये नालं स्वतःसिद्धस्य वस्तुनः ॥११०३॥
कर्मभिर्नापनीतोऽतः प्रत्यङ्मोहोऽप्रमाणतः ॥११०४॥
यावच्च सम्यग्विज्ञानवह्निनाऽसौ न दह्यते। न तावत्किंचिदप्याप्तं सुखं दुःखविवर्जितम् ॥११०५॥
नालं विमुक्तये काम्यं यदि नाम तथाऽपि तु। पुंसो वैराग्यहेतुत्वादुपकार्येव तन्मतम् ॥११०६॥

अधिकारवाक्य में सुना नहीं गया तब उसे कर्मसाध्य कोई मीमांसक नहीं कह सकता। नैष्कर्म्यसिद्धि में यह और भी व्यक्त है ॥१०९९-११००॥

स्वरूप होने से प्राप्त होने पर भी कर्म से अतिरिक्त ज्ञान की ज़रूरत है –

शास्त्रों में नित्यादि बताया गया परमपुरुषार्थ यद्यपि आत्मा का स्वभाव है और आत्मस्वभाव की 'प्राप्ति' भी होती नहीं (क्योंकि वह कभी अप्राप्त नहीं होता), तथापि अज्ञान के कारण वह अप्राप्त बना हुआ है। अज्ञानरूप आवरण की आत्यन्तिक निवृत्ति आत्मयाथार्थ्यज्ञान के बिना कर्मों से नहीं की जा सकती क्योंकि कर्म प्रमाके हेतु नहीं हैं ॥११०१-११०२॥ कर्मों से अन्य जो प्रत्यक्षादि साधन हैं वे ही वस्तुओं की अभिव्यक्ति करते हैं और जो वस्तु ख़ुद ही सिद्ध हो रही हो उसकी अभिव्यक्ति करने में प्रत्यक्षादि समर्थ नहीं होते ॥११०३॥ कर्म प्रमाण नहीं और प्रत्यक्षादि भी रूपादिरहित आत्मा में प्रमाण होते नहीं इसलिये प्रत्यगात्मसम्बन्धी अज्ञान कर्म व प्रत्यक्षादि से हटता नहीं है ॥११०४॥

दीपकादि प्रमाण न होने पर भी रूपादि का अभिव्यंजक है ऐसे कर्म आत्माका अभिव्यंजक क्यों न हो? अभिव्यंजक का मतलब है अविद्याका साक्षात् निवर्तक। दीपकादि जड अँधेरा ही हटाता है, अज्ञान नहीं, ऐसे ही कर्म अज्ञान नहीं हटा सकते। प्रत्यक्षादि आत्मा में प्रमाण नहीं यह बता चुके हैं। किं च जैसे रूप बिना प्रकाश के नहीं भासता इसीलिये प्रकाश रूपका अभिव्यंजक होता है, रस प्रकाश के बिना भी भासता है तो प्रकाश उसका अभिव्यंजक भी नहीं होता; ऐसे ही आत्मा बिना प्रत्यक्षादि के भी भासमान है अतः प्रत्यक्षादि आत्मा के अभिव्यंजक नहीं हैं। 'चक्षुसे ग्रहण नहीं किया जाता' आदि मुंडक श्रुति (३.१.८) भी यही समझाती है ॥११०२-११०४॥

यदि उक्त उपायों से नहीं हटता तो मत हटे, उसके रहते ही कर्म से मोक्ष क्यों नहीं मिलेगा? इस शंका के समाधान में भाष्यकार ने कहा है कि जब तक आत्ममोह हट नहीं जाता तब तक यह अज्ञानी जीव अपने नैसर्गिक दोषों से प्रेरित हुआ धर्माधर्म बटोरता जाता है जिससे उच्चावच योनियों में भटकता ही रहता है। इस भाष्य का व्याख्यान आरंभ करते हैं : पहले 'यावद्धि तत्रापनीयते तावदयम्' इसका अर्थ कहते हैं –

जब तक आत्मा के सम्यग् अनुभव रूप वह्नि से वह अज्ञान जला नहीं दिया जाता तब तक दुःखरहित सुख बिल्कुल भी नहीं मिलता क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति से अतिरिक्त वैसा सुख कुछ है ही नहीं ॥११०५॥

इसलिये प्रत्यगज्ञान हटाना ज़रूरी है, उसके रहते किसी तरह मोक्ष नहीं होगा ॥११०५॥

तो क्या मुमुक्षु को कर्म करने ही नहीं चाहिये? इसका उत्तर देते हैं –

काम्यादि कर्म सीधे ही मोक्ष देने में भले ही समर्थ न हों पर अधिकारी को वैराग्य करा देते हैं इसलिये मोक्ष के लिये उपकारक माने जाते हैं ॥११०६॥ निषिद्ध जो ब्राह्मणवधादि कर्म हैं उनसे कुत्ता, सुअर आदि योनियाँ मिलती हैं जो असह्य दुःखरूप फल है। अतः जो व्यक्ति निषेधवाक्यों का अर्थ जानता है उसके मनमें वे कर्म अपने प्रति वैराग्य करा देते हैं। जब वह व्यक्ति उन कर्मों को नहीं करता तब उनका जो दुःखरूप फल है वह भी उसे नहीं

असह्यदुःखफलतः स्वकार्यविनिवृत्तिकृत्। विरक्तिहेतुतः कर्म प्रतिषिद्धं यथा तथा ॥११०७॥
अपि काम्यं कृतं सर्वं दुःखात्मकफलत्वतः। आविरिञ्च्यात्स्वकार्येभ्यः स्यादेव विनिवृत्तये ॥११०८॥
इत्युक्तप्रतिपत्त्यर्थमाजगामोत्तरं वचः। एकवाक्यत्वमेवं च वेदस्य स्यादसंशयम् ॥११०९॥
दक्षिणोदगधोगत्या प्रत्यगज्ञानमूढधीः। बम्भ्रमीत्यनिशं दुःखी पुमान्कर्मपुरःसरः ॥१११०॥
काम्यैर्दक्षिणमन्वेति ज्ञानयुक्तैस्तथोत्तरम्। निषिद्धैश्चाप्यधोजन्म कर्मसंभारसंभृतः ॥११११॥

मिलता। जैसे यह दृष्टान्त है वैसे ही काम्यादि सारे कर्म भी किये जायें तो दुःखरूप फल वाले ही होते हैं अतः हिरण्यगर्भभावपर्यन्त अपने सभी फलों के प्रति वैराग्य के हेतु बनते हैं ॥११०७-११०८॥ इस बात को समझाने के लिये 'यावद्धि' आदि भाष्यवाक्य है। इसी तरह वेदकी एकवाक्यता हो सकती है इसमें संदेह नहीं ॥११०९॥

काम्यादि से भी गर्भवासादि दुःख अवश्यंभावी है अतः उनकी विधियों के अर्थ का जानकार उनके फलकी दुःखता के अनुरोध से उन कर्मों के प्रति भी वैराग्य कर लेगा तथा वे कर्म जब नहीं किये जायेंगे तो उन फलों की प्राप्ति से भी बचाव हो जायेगा। जब व्यक्ति सभी कर्मों से विरक्त होगा तब साधनों समेत कर्म छोड़कर श्रवणादि से सम्यग्ज्ञान पाकर मुक्त होगा। इस प्रकार नित्य-नैमित्तिक-काम्य-प्रतिषिद्ध सभी कर्म वैराग्य-उत्पत्ति कराते हैं। जैसे पाप करके दुःख भोगें तभी दुःख से वैराग्य हो ऐसा नहीं बल्कि दुःखहेतु है यह निश्चय होते ही बुद्धिमान् को पाप व उसके फल दोनों के प्रति वैराग्य हो जाता है; इसी तरह सत्कर्मों का फल भी दुःख है यह समझकर उनके प्रति वैराग्य हो सकता है। इस प्रकार विचारमूलक वैराग्योत्पत्ति में काम्यादि को कारण कह रहे हैं। 'मुझे परमात्मसाक्षात्कार हो' इस प्रयोजन से अनुष्ठान करने पर भी वैराग्यहेतुता है यह विविदिषाश्रुति से सिद्ध ही है। चाहे जिस तरह हो, वैराग्य हो जाने पर विवेकी श्रवणादि से ज्ञान पा लेता है। अविवेकी तो नैरात्म्यवादादि की ओर उन्मुख हो सकता है किन्तु 'न हि कश्चित् क्षणमपि' न्याय से वह कर्ममात्र से विरक्त ही नहीं हो पाता यह अभिप्राय है। वैराग्योपजनिलक्षण चेतोविशुद्धि के द्वारा कर्म ज्ञानोत्पत्ति के हेतु हैं और उत्पन्न हुआ ज्ञान अन्य किसी की अपेक्षा के बिना मोक्ष का हेतु है – इस प्रकार दोनों काण्डों की एकवाक्यता संगत है। अन्य ढंग अपनाने पर एकवाक्यता संभव नहीं और जहाँ तक हो सके एकवाक्यता रखना उचित होता है। इसलिये इनका यही संबंध मान्य है। पहले भी (श्लो० ३३१) यह बता चुके हैं ॥११०६-११०९॥

अविद्या रहते जीव क्या करता है? यह भाष्य में 'कर्मफल ··· धर्माख्यम्' से कहा। कर्मफल के प्रति राग-द्वेषादि स्वाभाविक दोष हैं जिनसे प्रेरित होकर जीव शास्त्रीय-अशास्त्रीय सभी कर्म करता है। क्योंकि शास्त्र में मना किये फलों के प्रति आकर्षण अधिक होता है इसलिये पाप ही अधिक एकत्र हो जाता है जिससे पेड़-पौधे आदि अधोजन्म मिलते हैं। यदि शास्त्रानुकूल फलों में रागवश पुण्य बटोर लिये तो उत्तम जन्म मिलते हैं। 'तद् द्विविधम् ··· इत्याद्या' : पुण्य दो तरह के होते हैं – उपसना सहित और उसके बिना। उपासना के बिना किया पुण्य पितृलोक आदि दिला देता है उपासनासहित किया पुण्य देवलोक से ब्रह्मलोक पर्यंत पहुँचा सकता है। अतः शास्त्र में कहा है कि कामनापूर्वक देवताओं के लिये यज्ञ करने वाले की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है जो परमात्मभावना करते हुए नित्यादि कर्म करता है। स्मृति में भी काम्यरूप प्रवृत्ति और निष्काम होकर उपासना सहित किये कर्म – ये दो तरह के वैदिक कर्म बताये हैं। इस भाष्य का संग्रह करते हैं –

प्रत्यगात्मा के अज्ञान से अविवेकी हुआ पुरुष कर्म करता है जिसके फलस्वरूप दक्षिणमार्ग, उत्तरमार्ग या अधोमार्ग में भटकता हुआ हमेशा सन्तप्त रहता है ॥१११०॥ कामनापूर्वक बिना उपासना के जो इष्टादि किये जाते हैं उनसे धूमादि से सम्बद्ध दक्षिणमार्ग अर्थात् पितरों की गति पाता है। उपासना सहित किये कर्मों से अर्चिरादिसम्बन्धी उत्तरमार्ग या देवयान प्राप्त करता है। निषिद्ध कर्म चाहे निषिद्ध उपासनाओं सहित हों या अकेले, पशु आदि निकृष्ट जन्म देते हैं। इस तरह कर्मों का भार ढोता हुआ जीव भटकता है ॥११११॥

धर्माधर्मांशसाम्ये च मनुष्यत्वं प्रपद्यते। ब्रह्माद्या स्थावरान्तैवं प्रत्यगज्ञानहेतुजा।
नामरूपेहचित्राऽऽद्या स्वप्नमायेन्द्रजालवत् ॥१११२॥
धर्माधर्माद्युपादानसाधना नश्वरी गतिः ॥१११३॥
व्याकृतं नामरूपाभ्यां यद्यपीदं श्रुतौ श्रुतम्। आत्मतत्त्वानभिव्यक्तेर्नाभिव्यक्तं तदुच्यते ॥१११४॥

अविद्या से अविवेकपूर्वक कामना होगी जिससे कर्म होगा और कर्म का फल भोगने पर अधिक कामनादि होगी; इस तरह यह चक्र चलता रहेगा। उपदेशसाहस्री के प्रारंभ में इस बात का ख़ुलासा किया है ॥१११०-११११॥

आगे भाष्य है 'साम्ये च ··· कर्माश्रया' अर्थात् धर्म-अधर्म प्रायः समान मात्रा में हों तो मनुष्यजन्म मिलता है। इस प्रकार स्वाभाविक अविद्यादि दोष वाले व्यक्ति को पुण्य-पापरूप साधनों से ब्रह्मा के पद से तिनके पर्यंत तक संसारगति प्राप्त होती है जो नाम-रूप-कर्म के बीजरूप अज्ञान पर टिकी है। इस भाष्य का वर्णन करते हैं –

पुण्यांश व पापांश समान होने पर मनुष्यजन्म प्राप्त होता है। ब्रह्मा से तिनके पर्यन्त की इस तरह की यह गति नाम, रूप और कर्म से विचित्र बनी हुई है। प्रत्यगात्मा के अज्ञान से इस गति का जन्म है जैसे नाना प्रकार के स्वप्न, माया या इंद्रजाल अज्ञान से संभव हो जाते हैं। यह गति उत्पन्न होती रहती है अतः इसके कारणभूत अज्ञान की निवृत्तिके बिना यह समाप्त नहीं होती ॥१११२॥

यहाँ यह अनुमान है : नामादि से विविधता वाली होने के कारण सारी संसारगति आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न होती है जैसे स्वप्नादि। माया और इन्द्रजाल जादू के ही भेदविशेष हैं। यद्यपि उच्च, मध्यम और अधम तीनों तरह के कर्मफलों के अवान्तरभेद वहुत हैं तथापि यहाँ भाष्य और वार्तिक में इनका संक्षेप इसलिये किया कि इनसे वैराग्य अभिप्रेत है। इनकी संक्षिप्तता से ध्वनित होता है कि ये अल्प हैं, तुच्छ हैं। इनके वैविध्य में निमित्त हैं धर्मादि और उपादान है अविद्या ॥१११२॥

संसारगति की अनर्थता बताते हैं –

धर्माधर्मादि का अनुष्ठान इस गति का निमित्त है और यह स्वभाव से नाशवान् है ॥१११३॥

केवल अविद्याकृत होने से ही नहीं, कृतक होने से भी अनित्य है यह तात्पर्य है। धर्माधर्मादि में आदि से इन्हीं के विशेष समझ लेने चाहिये क्योंकि भाष्य में 'धर्माधर्मसाधनकृता' ही कहा है। अथवा वार्तिक का तात्पर्य है कि जो पुण्य-पाप नहीं उत्पन्न करते ऐसे कर्म भी संसारगति के ही हेतु बनते हैं। अतः योगादि से भी मोक्ष संभव नहीं यह भाव है। यह गति नाशवान् है अर्थात् इसमें हर क़दम नष्ट होता है; लेकिन रेहट की तरह चलती यह ज़रूर रहती है ॥१११३॥

प्रत्यक्षादि से सिद्ध होने के कारण और क्योंकि वेदने इसे नाम-रूप के आकार में व्यक्त होने वाला कहा है इसलिये संसारगति अविद्याहेतुक नहीं होनी चाहिये। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध को अविद्यात्मक कहना संगत नहीं। इस शंका पर 'तदेवेदं ···अनर्थः' भाष्य प्रवृत्त हुआ। भाष्य में कहा है कि हेतु-फलात्मक यह व्यक्त जगत् उत्पन्न होने से पहले अव्याकृत (अव्यक्त) था। अविद्याकार्य यह संसार बीजांकुर-प्रवाह की तरह अनादि-अनंत है और आत्मा में क्रिया, कारक और फल के अध्यास के रूप में स्पष्ट अभिलक्षित होता है। प्रयत्न कर इसे समाप्त करना चाहिये क्योंकि यह अनर्थ है। इस भाष्यका तात्पर्य समझाते हैं –

यद्यपि श्रुति में बताया कि यह जगत् नामात्मना व रूपात्मना व्यक्त है तथापि क्योंकि आत्मतत्त्व अभिव्यक्त नहीं है इसलिये जगत् को भी अनभिव्यक्त कहा जा रहा है ॥११४॥

आत्मा में अध्यस्त होने से जगत् का स्वरूप आत्मा ही है। जब तक आत्मा अभिव्यक्त नहीं तब तक जगत् को भी अभिव्यक्त कैसे कहा जाये? प्रत्यक्षादि से यह लगता है मानो व्यक्त हो, श्रुति भी कह देती है कि 'व्यक्त हुआ', किन्तु है

अविद्यातिमिरोच्छित्तौ नानाविष्कृतमण्वपि। कार्यकारणवद्वस्तु नानपास्तं तमोऽप्यतः ॥१११५॥
यत एवमतः प्रत्यग्याथात्म्यप्रतिपत्तये। प्रारब्धेयं प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत्परा ॥१११६॥

अव्यक्त ही इसलिये अविद्यात्मक ही होने से उक्त शंका प्राप्त नहीं होती। जैसे रज्जुसर्प लगता व्यक्त है लेकिन विचार करें तो उसे व्यक्त कहना बनता नहीं अतः अव्यक्त ही कहना चाहिये, वैसे संसार में भी समझ लेना चाहिये। यद्यपि भाष्य में 'प्रागासीत्' – पहले अव्याकृत था – इस ढंग से कहा है, श्रुति ने भी ऐसे ही कहा है 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १.४.७), तथापि उस श्रुति का विचार कर जो अर्थ निकलता है (१.४. श्लो० २०८-९) उसे यहाँ वार्तिककार न्यस्त बता रहे हैं। किं च जैसे उत्पत्ति से पूर्व मृद्रूप घट था तो व्यक्त होने पर भी मृद्रूप ही रहता है वैसे यहाँ भी व्यक्तकी अव्याकृतरूपता संगत है। अव्याकृतरूप रहते हुए व्यक्त कहने में विरोध है जो इष्ट है, जैसे रज्जुरूप रहते हुए सर्प कहने में विरोध रहता ही है। जो तो श्रुतिका कथन है कि 'व्यक्त हुआ' वह भी इसी अर्थ के अनुकूल है यह श्रुतिव्याख्या में वार्तिककार स्पष्ट कर देंगे। प्रत्यक्षादि तो रज्जुसर्पादि में अपना कौशल दिखा चुके हैं कि जो नहीं है उसे दिखा देते हैं, अतः उनसे वास्तविकता पर असर नहीं पड़ता ॥१११४॥

आत्मा अव्यक्त है तो कुछ भी व्यक्त नहीं यह बताया, अब कहते हैं कि आत्मा व्यक्त होने पर सभी कुछ व्यक्त हो जाता है –

अविद्यारूप अँधेरा मिट जाने पर कार्यकारणभाव वाली अणुमात्र वस्तु भी अप्रकाशित हुई रह नहीं जाती क्योंकि इस आत्मज्ञान से न हटा हुआ अज्ञान भी होता नहीं ॥१११५॥

आत्मा का अज्ञान – बस यही आवरण है और आत्मज्ञान से यही हट जाता है तो ढाँकने वाला न बच जाने से कुछ भी ढका नहीं रह सकता। जैसे रस्सी दीख जाने के बाद साँप, जलधारा, भूछिद्र, माला आदि कुछ भी आवृत नहीं रह जाता, वैसे यहाँ समझना चाहिये। यही एकविज्ञान से सर्वविज्ञान है। अतः 'तत्त्वसाक्षात्कारे विद्वान् सर्वज्ञः स्यादित्यर्थः' यह कल्पलता है ॥१११५॥

आगे भाष्य में कहा 'इत्येतस्माद् ⋯ आरभ्यते' अर्थात् उक्त तरह के संसार की अनर्थता पहचान कर जो उससे विरक्त हो गया उसकी अविद्या हटाने के लिये अविद्याविरोधी ब्रह्मज्ञान समझाने के उद्देश्य से उपनिषत् आरंभ की जा रही है। इस भाष्यका अर्थ बताते हैं –

क्योंकि अनर्थभूत संसार अविद्यात्मक है इसलिये अधिकारी आदि सिद्ध कर अब आगे आने वाली यह वेदान्तोपनिषत् आरंभ की जा रही है ताकि प्रत्यगात्मा की यथार्थता समझ आये ॥१११६॥

'यहाँ जान लिया तो सत्य है, नहीं जाना तो महान् विनाश है' (केन० १३) आदि वेदवचन कहता है कि आत्मा के ज्ञान से सारा पुरुषार्थ सिद्ध होता है और उसका अज्ञान रहते सारा अनर्थ मिलता रहता है। इसलिये विवेक, वैराग्य, शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा और मोक्षेच्छा – इन गुणों की पुष्कलता वाले अधिकारी को आत्मज्ञान हो जाये इस प्रयोजन से वेदान्तों का आरंभ है। अधिकारी, सम्बंध आदि अनुबंधों का वर्णन ही ग्रंथारंभ का प्रयत्न होता है। संबंध भाष्य और वार्तिक मुख्यतः वही प्रयत्न है। यद्यपि 'उपनिषत्' और 'वेदान्त' पर्याय होने से 'वेदान्तोपनिषत्' कहना व्यर्थ है तथापि पहले बता चुके हैं कि उपनिषत्पद का वाच्य है अखण्डवृत्ति, ग्रंथ उसका लाक्षणिक अर्थ है (श्लो० ८) अतः यहाँ केवल उपनिषत् कहने से शंका होती कि वृत्ति विवक्षित है या ग्रंथ? वह दूर करने के लिये 'वेदान्त' यह विशेषण जोड़ दिया अर्थात् ग्रंथ ही विवक्षित है ॥१११६॥

आत्माविद्या की निवृत्ति के लिये प्रारंभ करना था तो 'ब्रह्म वा इदमग्रे' (१.४.१०) इत्यादि से करना चाहिये 'उषा वा' आदि से क्यों शुरु किया? इसका उत्तर भाष्य में दिया 'अस्य तु ⋯ श्रुतिभ्यः' अर्थात् अश्वमेध यज्ञ से सम्बंधित इस

यथोक्तफलसिद्ध्यर्थमारब्धोपनिषद्यदि। ब्रह्म वा इदमित्यादि कस्मान्नाऽऽरभ्यतेऽधुना ॥१११७॥
येषामनधिकारोऽत्र ह्यश्वमेधक्रतौ भवेत्। इत एव तु विज्ञानात्तेषां तत्फलकीर्तनम् ॥१११८॥
कर्मगोचरतैवात्र विज्ञानस्यापि चेन्मतम्। विकल्पश्रवणान्नैवं कर्मणा विद्ययाऽथवा ॥१११९॥
यजते योऽश्वमेधेन यश्चैवं वेद तं क्रतुम्। फलं तुल्यं तयोर्युक्तं कर्मिणो विदुषस्तथा ॥११२०॥

उपासना का प्रयोजन तो यह है कि जिनका अश्वमेध में अधिकार नहीं वे इसी उपासना से उस यज्ञ का फल पा लें। श्रुति बताती है कि चाहे विद्यासे (= उपासना से), चाहे कर्म से फल पाया जा सकता है। अतः प्राणोपासना को लोकप्राप्ति का साधन श्रुति ने ही कहा है। इस भाष्य का उपन्यास करते हैं –

पूर्ववर्णित अविद्याध्वस्तिरूप फल की प्राप्ति के लिये अगर उपनिषत् प्रारंभ की है तो पहले ही 'ब्रह्म वा इदम्' इत्यादि से क्यों प्रारंभ नहीं करते? ॥१११७॥ इसलिये नहीं करते कि अश्वमेध क्रतु में जिनका अधिकार न हो वे इस उपासना से ही क्रतु का फल पा सकते हैं यह कह दिया जाये ॥१११८॥

'उषा वा' आदि में सीधे-सीधे ब्रह्मविद्या नहीं कही है अतः प्रश्न उठा कि उपनिषत् का प्रारंभ उस उपासना से क्यों? उत्तर दिया कि यह बताने के लिये यह प्रसंग रखा कि जो व्यक्ति अश्वमेध क्रतु में अधिकारी न हो, जैसे ब्राह्मण, धनादिरहित क्षत्रियादि, वह क्रतुका फल उपासंना से पा सकता है। यद्यपि इतना ही कथन यही बताता है कि 'उषा वा' आदि क्यों कहे गये हैं, यह नहीं बताता कि उपनिषत् इस उपासना से क्यों आरंभ हुई है, तथापि श्लोक ११२२ आदि से वह भी स्पष्ट कर देंगे। कुछ आचार्य तो कहते हैं कि न केवल निरुपाधिक ब्रह्मका ज्ञान बताना उपनिषत् का कार्य है वरन् सोपाधिक ब्रह्म की उपासनायें बताना भी, अतएव ब्रह्मसूत्रों का काफी भाग उपासना-प्रकरणों के निर्णय में व्यापृत है। इसलिये केवल प्रारंभ में ही नहीं, बीच-बीच में कई जगह उपासना प्रकरण आते रहेंगे; अतः यह प्रश्न ही उठाना उनकी दृष्टि से व्यर्थ है। किन्तु भाष्यकारादि का मानना है कि अथशब्दित संपत्ति वाले संन्यासी मुख्याधिकारी के लिये आरंभ हुई उपनिषत् निर्विशेष के ज्ञान प्रयोजन वाली ही है अतः ज्ञान के प्रसंग में आयी उपासनाओं की संगति अवश्य वक्तव्य है। जो तो साक्षात् इश्वरोपासनाये हैं उनका निरुपाधिक से ताल-मेल समझना सरल है किन्तु अश्वमेधोपासना आदि जो ईश्वर से विप्रकृष्ट लगती हैं उनका सम्बंध न बताया जाये तो ज्ञानप्रकरण में आने से समुच्चयादि की संभावना दुर्वार हो जायेगी। अतः भाष्यादि में सर्वत्र यह व्यक्त कर देते हैं कि कितना प्रकरण तत्त्वज्ञान का है और किस संगति से अन्य बात उठ रही है। ऐसे ही यहाँ 'उषा वा' आदि से आरंभ के बारे में समझा रहे हैं ॥१११८॥

आगे भाष्य है 'कर्मविषयत्वम् –विकल्पश्रुतेः।' प्रश्न उठाया कि 'उषा वा' आदि से कही उपासना क्या कर्मांगावबद्ध है? अर्थात् कर्मकाल में की जाने वाली उपासना है या स्वतंत्र की जाने वाली? उत्तर दिया कि नहीं, कर्मावबद्ध नहीं है क्योंकि श्रुति यह विकल्प कह रही है कि जो अश्वमेध यज्ञ करे या जो उसकी इस प्रकार उपासना करे, वह ब्रह्महत्यादि सब पापों से तर जाता है (तै०सं० ५.३.१५)। इस भाष्य का वर्णन करते हैं –

अश्वमेधयज्ञविषयक इस उपासना को भी अश्वादि की तरह कर्मशेष होकर फलवान् इसलिये मत मानना कि अंगों का स्वतंत्र फल नहीं होता; कारण कि यह कर्मांग नहीं है। विकल्पबोधक श्रुति है कि कर्म से या उसकी उपासना से फल होता है। अतः कर्म और उपासना दोनों सफल हैं, यह उपासना क्रत्वर्थ (कर्मसांगता के लिये) नहीं है बल्कि पुरुषार्थ (स्वतंत्ररूप से ही पुरुष को इष्ट फल देने वाली) है ॥१११९॥ जो अश्वमेध यज्ञ करता है और जो उसकी यथोक्त ढंग से उपासना करता है, उस कर्मी एवं उस उपासक को एक जैसा फल मिलता है – यह श्रुति का कथन है ॥११२०॥

पूर्वत्र भाष्य में कहा था कि अश्वमेध में अनधिकारी को अश्वमेध का फल मिल सके इसलिये यह उपासना है, उसी बात को यहाँ श्रुतिप्रोक्त विकल्प के आधार पर उपपन्न कर दिया। श्रुति में 'उ च' से विकल्प बोधित होने के कारण इस

उपास्तेरपि कर्मत्वादश्वमेधक्रतोरिव। नातो धियोऽर्थवादत्वं तद्विधेर्नितरां न च ॥११२१॥

उपासना को कर्मांग नहीं मान सकते जैसे 'मनश्चित्' आदि को; यह ब्रह्मसूत्रों में (३.३. अधि० २९) निर्णीत है ॥१११९-११२०॥

न केवल विकल्पश्रुति से इस उपासना का स्वातंत्र्य है वरन् प्रकरण से भी – यह भाष्य में 'विद्याप्रकरणे चाम्नानात्' से कहा अर्थात् कर्मप्रकरण से हटे हुए उपनिषत्प्रकरण में विहित होने से भी इसे कर्मावबद्ध नहीं मान सकते। आगे भाष्य में 'कर्मान्तरे च सम्पादनदर्शनाद् विज्ञानात् तत्फलप्राप्तिरस्तीत्यवगम्यते' यह भी कहा है कि अश्वमेध से भिन्न कर्मों की भी उपासनायें शास्त्र में विहित हैं जिनके स्वतंत्र फल अविवादित हैं अतः यहाँ भी वैसा मानने में कोई विरोध नहीं। इस भाष्यका अभिप्राय बताते हुए वार्तिककार कर्मकाण्डी के अभिमान को ध्वस्त करते हैं –

उपासना भी कर्म है और विकल्पश्रुति से पता चलता है कि वह अश्वमेधक्रतु के तुल्य है अतः उपासना का फल अर्थवाद नहीं है। जब उपासना का विधान श्रुत है तब उसका फल अर्थवाद नहीं यह और भी स्पष्ट है ॥११२१॥

कर्मकाण्डी स्थूल शरीर से किये बाह्यद्रव्याश्रित कर्मों का – पुण्य व पाप का – फल मानने में संतुष्ट रहता है और सूक्ष्म शरीर से हुए शुभ-अशुभ कर्मों के फल स्वीकारने से कतराता रहता है। यदि स्पष्ट वचन मिले तो कह देता है 'यह अर्थवाद है, प्रशंसा के लिये कह दिया!' इसलिये वार्तिककार बता रहे हैं कि जैसे बाह्य कर्म है वैसे ही मानस कर्म है; इनमें तुल्यबल है अतः शास्त्रवचन से एकका फल मानना दूसरे का नहीं, यह अर्धजरतीय ग़लत है। कर्मों में विकल्प से या स्पष्ट विधि से जब कर्मांतरता और साफल्य मानते हो तो उपासनामें भी मानना पड़ेगा। प्रयाजादि के फलको अर्थवाद इसलिये कह सकते हो क्योंकि यह निश्चित होता है कि वे अंग हैं लेकिन उपासना का विकल्पतः विधान होने से यह अंग नहीं कि इसके फल को अर्थवाद कह सको। एवं च यहाँ दो प्रयोग हैं : विकल्पश्रवणवश क्रतुतुल्य होने से क्रतुकी तरह उपासना सफल है; एवम् – विहित होने से क्रतु के समान उपासना सफल है।

अतः कर्मकाण्डी की मान्यता निराधार है कि केवल उपासना से वही फल नहीं होता जो केवल कर्म से हो जाता है। 'विद्यां चाविद्यां चे'त्यादि का इतना ही कहना है कि नित्यादि छोड़कर उपासना करना अनुचित है, उस श्रुति का यह मतलब नहीं कि स्वतंत्र उपासनायें हीनफलक हैं। अतः विहित-निषिद्ध विचारों का, भावनाओं का भी वैसा ही साफल्य है जैसा शारीरिक चेष्टाओं का। भगवान् ने अतएव 'शरीर-वाङ्-मनोभिः' (१८.१५) कहा तथा तपआदि का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया। वसिष्ठादि ऋषि तो शरीरकृत की अपेक्षा मन से किये को ही प्रधान भी कह देते हैं। इसलिये मानस पापों से बचने का पूरा प्रयास करना ज़रूरी है तथा कर्म करने में असमर्थ हों तो यथाविहित उपासनाओं से यथेष्ट लाभ कर लेना चाहिये, धनादि की कमी से यह नहीं मानना चाहिये कि हम सत्कर्म नहीं कर सकते या बड़े यज्ञों के पुण्यसे वंचित ही रहेंगे। किं च उपासना करने पर यह हीनभावना भी नहीं रखनी चाहिये कि बाह्यकर्मियों से हम निकृष्ट हैं। जो बाह्याभ्यंतर दोनों करता है उससे अवश्य वे दोनों निकृष्ट हैं जो केवल बाह्य या केवल आंतर कर्म करते हैं। चित्तशुद्धि के लिये भी उपासना वैसे ही विनियुक्त है जैसे बाह्य यागादि। इस प्रकार 'उपास्तेरपि कर्मत्वात्' यह सुरेश्वरवचन उपासनाकाण्ड और भक्तिकाण्ड की यथोचित प्रतिष्ठा कर देता है तथा यह भी ध्वनित कर देता है कि कर्म होने से उपासना मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं ॥११२१॥

आगे भाष्य है 'सर्वेषां ⋯ मृत्युभावम्' : अश्वमेध सबसे महान् कर्म है क्योंकि इससे उस हिरण्यगर्भ की प्राप्ति होती है जो समष्टि-व्यष्टि उभयरूप है। ब्रह्मज्ञान के उपदेश से पूर्व उस कर्म की उपासना व उसके फल का वर्णन यह बताने के लिये है कि सभी कर्म केवल सांसारिक फल दे पाते हैं। उपासनाफल यही बतायेंगे कि फलावस्था में भूख लगी जिससे वह मृत्युभाव अर्थात् हिंसकता वाला हो गया! (बृ० १.२.१)। यह भाष्य समझाते हैं –

एतावदेव चेदत्र भवतैवं विवक्षितम् ॥११२२॥
प्रयोजनं तत्सुकरं विध्युद्देशेऽपि भाषितुम्। विद्याप्रकरणे तस्य त्वाम्नायः किमितीर्यताम् ॥११२३॥
उच्यतेऽशेषयज्ञानां क्रतुराडेष उच्यते ॥
सोऽपि ज्ञानेन संयुक्तो हयमेधो महाक्रतुः। संसारफल एवेति प्रवृत्त्यङ्गतयोच्यते ॥११२४॥
प्रत्यग्बोधातिरेकेण साधनान्तरनिःस्पृहाः। निर्ज्ञाताशेषकर्मोत्थफलफल्गुत्वबुद्धयः ॥११२५॥
मुमुक्षवः प्रवर्तेरन्कथं नामाऽऽत्मवेदने ॥११२६॥

आपके अनुसार इस ढंग से इतना ही यदि यहाँ बताना इष्ट है (कि क्रतु में अनधिकारी भी उपासना से तुल्यफल पा सकता है) तो इतना प्रयोजन तब भी सिद्ध हो जाता अगर यह उपासना कर्मप्रकरण में कही होती। अतः यह बताइये कि इसका वर्णन विद्याके प्रकरण में किस लिये है? ॥११२२-११२३॥ बताते हैं : सभी यज्ञों में क्रतुराट् - क्रतुओं का राजा - अश्वमेध ही कहा जाता है। वह हयमेध नामक महान् यज्ञ उपासना से जुड़कर भी संसाररूप फल ही देता है यह इसलिये कहा जा रहा है कि ब्रह्मज्ञान की ओर प्रवृत्ति हो ॥११२४॥ मुमुक्षु लोग निश्चयपूर्वक समझे सभी कर्मों से प्राप्य फलों की तुच्छता समझकर प्रत्यगात्माके ज्ञान से अन्य साधनों से विरक्त होकर आत्मज्ञान में कैसे प्रवृत्त हों? - इस आशय से श्रुति ने विद्याप्रकरण में इस उपासना का कथन किया है ॥११२५-११२६॥

['उच्यतेऽशेषयज्ञानां क्रतुराडेष उच्यते' - यह पंक्ति म.अ.सं. वार्तिक में छपना रह गयी है, टीका में ही छपी है, अतः मूल में भी जोड़ लेनी चाहिये।] अश्वमेध की बहुत प्रशंसा है, इसे सब पापों का प्रायश्चित्त कहा है, सब की दवा इसे बताया है तथा स्मृति में कह दिया है कि इससे परे कोई पुण्य नहीं। अतः क्रतुओं में यह मुख्य है। किसी को शंका हो सकती है कि इतना महान् है तो इससे या उपासना समेत इससे मोक्ष भी हो जाता होगा? उस शंका को श्रुति ने हटाया यह बताकर कि इसका फल मिलने पर भी भूख, मन न लगना, डर आदि बने रहते हैं अतः सूत्रात्मभाव भी बंधनावस्था ही है। इसलिये अन्य यज्ञों से बड़ा भले ही हो, मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं है। क्रतुका और उपासना का फल एक ही कहा अतः दोनों साथ-साथ करने पर भी वह फल संभव है, साथ करने पर फलांतर नहीं कहा है, यह भाव समझना चाहिये। ब्रह्मज्ञान से पूर्व इसका कथन करने में श्रुतिका यह अभिप्राय है : जिन्होंने अन्य कर्मों के स्वर्गादि फलों की क्षयिष्णुतादि समझ ली और मोक्ष के इच्छुक हैं वे कर्म-उपासना से सर्वथा छूटकर ज्ञानोपाय में लगें इसके लिये उन्हे यह निश्चय हो जाना चाहिये कि कर्म-उपासना मोक्षोपयोगी नहीं। सबसे प्रधान क्रतु का फल भी जब सांसारांतर्गत है तो छोटे-मोटे कर्मों के फलों की सांसारिकता का क्या कहना! - यह विचार उन मुमुक्षुओं में आये इसलिये मुमुक्षुओं द्वारा अवश्य विचारणीय उपनिषत् के आरंभ में इसे रखा है। उन्हे सोपासन कर्म की बंधकता पता चलेगी तो इसके प्रति निरीह होकर वे साधनचतुष्टय एकत्र करेंगे, गीतोक्त ज्ञानसाधनों का अनुष्ठान करेंगे। तब वे सर्वकर्मसंन्यास कर श्रवणादि में ही तत्पर होंगे और मोक्ष पा लेंगे। इस तरह वैराग्यवान् अधिकारी का उपलम्भक होने से यह प्रारंभ सुसंगत है। एवं च यह प्रयोग है : 'उषा' आदि प्रसंग उपनिषत् का ही प्रारंभ है क्योंकि उपनिषत्के अधिकारी का उपस्थापक है जैसे अनुबंधबोधक वाक्य।

विद्यासागर ने शंकानुमान किया - ज्ञान अल्पफल वाला है क्योंकि साधन है जैसे कर्म, और समाधान दिया कि 'आत्मा का जानकार शोकसागर तर जाता है' इत्यादि श्रुति से उक्त प्रयोग बाधित है। वहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि हेतूकृत साधनता यदि कर्म में हो तो ज्ञान में न रहने से स्वरूपासिद्धि है और ज्ञान में हो तो कर्म में न रहने से दृष्टान्तासिद्धि है क्योंकि कारक और ज्ञापक में अनुगत कोई साधनता नहीं मिलेगी। तात्पर्य है कि ज्ञान वैसा साधन नहीं जैसा कर्म। इसी तरह ज्ञानका फल वैसा 'फल' भी नहीं जैसा कर्म का फल ॥११२५-११२६॥

फिर भाष्य में प्रश्न उठाया 'न नित्यानां संसारविषयफलत्वमिति चेत्?' कि जिनका कोई फल नहीं सुना जाता उन

संसारफलता काममस्तु काम्यस्य कर्मणः। नित्यानामफलत्वात्तु मुक्तिरेवास्तु तत्फलम् ॥११२७॥
न ह्युत्सर्गेण सर्वेषां फलवत्त्वस्य संश्रवात्। कर्मणा पितृलोकादि नित्यानामेव तत्फलम् ॥११२८॥
फलवत्त्वे हि नित्यानां काम्यत्वमिति चेन्मतम्। नैवं शुद्धिप्रमाणत्वाद्भोगनिष्ठस्य काम्यता ॥११२९॥

नित्य-नैमित्तिकों को संसारफलक कहना संभव न होने से मोक्षफलक क्यों न मान लें? उत्तर दिया 'न॥-- अवभासते।' वैसा नहीं मान सकते क्योंकि श्रुति ने सभी कर्मों के फल को एकत्र कर बता दिया है। सभी कर्म पत्नीसम्बद्ध - गृहस्थकृत्य - होते हैं। श्रुति ने 'मुझे पत्नी मिले' से प्रारंभ कर 'कामना इतनी ही है' यह बताया (बृ० १.४.१७)। जब पत्नीलाभ काम्य हुआ तो सभी क्रर्म स्वभावतः ही काम्य हो गये और 'कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामः' से कर्मों की काम्यता सुव्यक्त है। फिर श्रुति ने पुत्रका फल यह लोक, कर्मका फल पितृलोक और अपरविद्याका (= उपासना का) फल देवलोक यह बताकर (१.५.१६) यह भी बताया कि तीनों लोक वाक्-मन-प्राण इन तीन अन्नों से अभिन्न हैं (१.५.४)। अन्त में (१.६.१) समापन किया कि यह सब नाम-रूप-कर्म से अतिरिक्त नहीं अर्थात् व्यक्त संसार ही सब कर्मों का फल है। नामादि ये तीनों ही उत्पत्ति से पूर्व अव्याकृत थे। बीज जैसे वृक्षरूप से व्यक्त होता है ऐसे सभी प्राणियों के कर्मों के कारण वह अव्याकृत ही व्यक्त हुआ। कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त रहने वाला यह संसार भ्रांति से ही दीखता है, क्रियारूप से कारक रूप से और फलरूप से प्रतीत होता है। मूर्त, अमूर्त और उनकी वासनायें - यही संसार है जो अविद्या के कारण ही आत्मा से अभेदेन अध्यारोपित है। इसीलिये आत्मा जो है संसार से विलक्षण वह भी क्रिया, कारक और फल इन विपरीत रूपों में ही भासता है। आत्मा नामस्वरूप, रूपस्वरूप और कर्मस्वरूप नहीं है, द्वय - द्वैत, भेद - से वर्जित है, सनातन है, धर्मादि के संपर्क से रहित और स्वभावतः पवित्र है, चिन्मात्र है तथा अविद्यात्मक प्रतिबन्ध से अपरामृष्ट रहना उसका स्वभाव है। फिर भी 'जान रहा हूँ, कर रहा हूँ, भोग रहा हूँ' यों प्रतीत होता है! इस भाष्य का संग्रह करते हैं -

काम्य कर्म संसाररूप फल देने वाले भले ही हों, नित्य कर्मों का फल न बताया होने से उनका फल मुक्ति क्यों न हो? ॥११२७॥ ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि यह सामान्य नियम श्रुति ने बताया है कि सभी कर्म फलप्रद होते हैं। किं च 'कर्म से पितृलोक' इत्यादि से निश्चित है कि नित्यकर्मों का ही पितृलोक फल है ॥११२८॥

सामान्य नियम भाष्यदर्शित श्रुति बता रही है जो कहती है कि कामना इतनी ही है (बृ० १.४.१७)। नित्यकर्मों का फल श्रुत नहीं यह भी ग़लत बात है क्योंकि 'कर्मणा पितृलोकः' (बृ० १.५.१६) में पितृलोक नित्यकर्मों का फल कहा ही है। सूत्रभाष्य में (४.३.१४) 'यत्तु कैश्चित्' से शंका उठाकर विस्तार से यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है। एवं च नित्यकर्म भी मोक्षफलक नहीं हो सकते। आपस्तंब महर्षि कहते हैं कि फल के लिये आम बोते हैं पर छाया और सुगंध मिल ही जाते हैं, ऐसे ही धर्माचरण करने से अर्थप्राप्ति भी आनुषंगिक फल हो जाता है। 'धर्मादर्थश्च कामश्च' आदि स्मृत्यन्तर भी प्रसिद्ध है। अतः नित्यकर्म का कोई फल नहीं यह कहना ठीक नहीं ॥११२८॥

सफल होने पर भी नित्य-काम्य विभाग संभव है -

नित्यकर्म भी सफल हैं तो वे भी काम्य ही हो जायेंगे? नहीं होंगे क्योंकि नित्यकर्म के फल में पापक्षय की प्रधानता है जबकि काम्यकर्म का फल भोगप्रधान है ॥११२९॥

'नैवं शुद्धिप्रधानत्वाद्' ऐसा अन्यत्र पाठ छपा है जो टीका के भी अनुकूल है। 'शुद्धिप्रमाणत्वात्' पाठ में अर्थ है - शुद्धि नित्यकर्मका फल है यह बात प्रामाणिक होने से। तात्पर्य वही है। फल में भेद होने से नित्य-काम्य विभाग उपपन्न है, अन्यथा दुरितक्षय को नित्य का फल मानने पर भी काम्यतापत्ति दुर्वार है इत्यादि गीताभाष्य में कहे दोष से मीमांसक नहीं बच सकेगा। नित्यादि न करने से पूर्वोपात्त पाप लक्षित हो जाता है इत्यादि तैत्तिरीयभाष्य में बताया है अतः उन्हे न करना मात्र पापका उत्पादक नहीं। इस प्रकार नित्य सफल होने से मोक्षफलक नहीं है ॥११२९॥

नित्यकर्म को 'शुद्धिप्रधान' कहा तो काम्य में भी गौण शुद्धि मान ली। यही स्पष्ट करते हैं -

काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सा । विड्वराहादिदेहेन न ह्यैन्द्रं भुज्यते फलम् ॥११३०॥
नित्येषु शुद्धेः प्राधान्याद्भोगोऽप्यप्रतिबन्धकः । भोगं भङ्गुरमीक्षन्ते बुद्धिशुद्ध्यनुरोधतः ॥११३१॥
तमेतमित्यतश्चोच्चैर्वेदानुवचनादिना । विरक्ताः सर्वसंसाराज्जिज्ञासन्ते परं पदम् ॥११३२॥
आरादेवोपकुर्वन्ति नित्यान्यात्मविशुद्धितः । आत्माज्ञानाविरोधित्वात्साक्षान्न त्वात्मबोधवत् ॥११३३॥

काम्यकर्म में भी कुछ शोधकता है ही किन्तु उससे लभ्य शुद्धि भोगप्राप्ति के प्रयोजन वाली ही है। मलभक्षी सुअर आदि शरीर से इन्द्र-संबंधी फल नहीं भोगा जाता अतः वैसा फल देने वाला कर्म तदनुकूल शुद्धि भी देता ही है ॥११३०॥

यद्यपि पुराणादि में बताया है कि शची से इंद्र को जितना सुख है उतना ही सुअरी से सुअर को भी है, अतः काम्य में शुद्धिहेतुता के लिये उक्त युक्ति पर्याप्त नहीं तथापि आनन्द मीमांसा में सुखतारतम्य कहा होने से देवादि के सुख में वैशिष्ट्य मानकर यह युक्ति संगत हो जाती है। श्लोक ३२२ में कही व्यवस्था तो याद रखनी ही चाहिये। किं च वार्तिक से ध्वनित है कि लौकिकमात्र की अपेक्षा शास्त्रीय काम्य कर्म करना भी बेहतर है। आगे आचार्य को कहना है (१.४.४०८) कि वात्स्यायनादि के शास्त्र भी अद्वैतात्मज्ञान के उपकारक हैं। वह न्याय यहाँ भी समझ सकते हैं ॥११३०॥

नित्यकर्मों का फल पापनिवृत्ति से अन्य पितृलोकादि यदि हो तो उस फल का भोग शुद्धि को प्रतिबद्ध कर देगा और वह शुद्धि ज्ञानोत्पत्ति में हेतु नहीं बन पायेगी – इस शंका को समाप्त करते हैं –

क्योंकि नित्यकर्म के फलमें शुद्धि प्रधान है इसलिये पितृलोकादि का भोग शुद्धि को प्रतिबद्ध नहीं करता बल्कि बुद्धि की शुद्धि के कारण वे अधिकारी भोगों की भंगुरता देखकर विवेक-वैराग्य प्राप्त करते हैं ॥११३१॥

प्रधान होने से शुद्धि भोग को अपने अनुकूल बना लेती है अतः भोगकाल में भी उसकी अनित्यता के प्रति जागरूकता बनी रहने से विवेकादि उत्पन्न हो जाते हैं। विद्यासागर ने इसमें 'स्वे स्वे-कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (गी० १८.४५) इस शास्त्र को प्रमाण माना है ॥११३१॥

वैराग्य होगा तो शरीर-धारण के प्रति भी स्पृहा रहेगी नहीं, ऐसे में श्रवणादि में प्रवृत्ति न होने से ज्ञानलाभ संभव नहीं, अतः कल्याण चाहने वाले को वैराग्य से दूर रहना चाहिये! बुद्धि में शुद्धि न हो तो तथाकथित वैराग्य से उक्त गति भी संभव है किन्तु शुद्धि हो तो ऐसा नहीं होता यह बताते हैं –

क्योंकि नित्यादि कर्म बुद्धिशुद्धि के हेतु हैं इसलिये 'तमेतम्' आदि स्पष्ट शास्त्र का अनुसरण कर जिन्होंने वेदानुवचनादि किया है वे सारे संसार से विरक्त होकर परम पद को जानने की कोशिश करते हैं ॥११३२॥

जिसने ज्ञान पाने के उद्देश्य से नित्यादि किये हैं वह विरक्त होकर वेदान्त-विचार में अवश्य लगेगा यह तात्पर्य है। वैराग्य बाह्य विषयों के प्रति होता है न कि परमात्मा के प्रति! अतः वैराग्यवान् तो शमादि इतिकर्तव्यों सहित श्रवणादि का अनुष्ठान करेगा ही। इसलिये कल्याणेच्छुक को ज्ञानोद्देश्य से नित्यादि कर वैराग्य ज़रूर पाना चाहिये ॥११३२॥

वैराग्यप्रद होकर ब्रह्मविचार में कर्म कारण हैं यह मानते हो तो उन्हे मोक्ष के प्रति ही कारण क्यों नहीं स्वीकार लेते? इसका जवाब देते हैं –

मनःशुद्धि करने वाले होने से नित्य कर्म दूरतः ही उपकारक हैं। जैसे आत्मबोध साक्षात् उपकारक है ऐसे कर्म नहीं क्योंकि आत्मा के अज्ञान से कर्मों का विरोध नहीं है ॥११३३॥

अज्ञानका साक्षात् विरोध ज्ञान से है अतः कर्म आराद् उपकारक है। सर्वापेक्षान्याय इसमें प्रमाण प्रसिद्ध है ॥११३३॥

दूरतः उपकारक होने से लब्धाधिकार को कर्म छोड़ने ज़रूरी हैं। संक्षेपशारीरक में (३.३२७) कहा है 'अन्तरङ्गमपवर्गकाङ्क्षिभिः कार्यमेव यतिभिः प्रयत्नतः। त्याज्यमेव बहिरङ्गसाधनं यत्नतः पतनभीरुभिर्भवेत्॥' अतः कर्म से

त्यक्त्वा कर्माण्यतोऽसङ्गाः प्रत्यक्प्रवणबुद्धयः । अपास्तरागादिमला ईक्षन्ते ज्ञं स्वमात्मनि ॥११३४॥

अतोऽशेषमहानर्थहेत्वात्माज्ञानहानिकृत् । प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानभास्करोदयहेतवे ।
आरब्धेयं प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत्परा ॥११३५॥

शतानि दश चैकं च चत्वारिंशत्तथाऽष्ट च । श्लोकाः संबन्धभाष्येऽस्मिन्संख्याताः संख्ययाऽखिलाः ॥११३६॥

वैराग्यलक्षण शुद्धि पाकर उन्हे छोड़ना ज़रूरी है, तदनंतर श्रवणादि में तत्पर होना चाहिये –

प्रत्यगात्ममात्र के लाभ के लिये अतिशय उत्कण्ठा वाले तथा रागादि मलों से रहित असंग (विरक्त) अधिकारी इसीलिये कर्म छोड़कर अपने आत्मा में ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का दर्शन करते हैं ॥११३४॥

बिना वैराग्य के जो कर्म छोड़ दें और ज्ञानलाभ के प्रति यत्नशील न हों वे शास्त्रीय पुरुषार्थ से वंचित रहते हैं और टीकाकार कहते हैं कि वे इस योग्य भी नहीं कि शिष्ट लोग उनका स्पर्श कर सकें। रागादि न होने से श्रुत-मत में निष्ठा बनी रह सकती है अर्थात् निदिध्यासन चलता रह सकता है अन्यथा राजवार्तादि ही चलती रहती है। श्रवणादि में संन्यासी यत्नतः लगे यह अभिप्राय टीका में बताया है। असंग कर्म छोड़ते हैं कहने से सूचित हो गया कि यावज्जीवादि वचन संगवान् के लिये हैं यह लतिकाका आशय है। यहाँ कहे विशेषणों वाले अधिकारी को ही अपनी महिमा में प्रतिष्ठित कूटस्थ प्रत्यग्रूप तत्त्व का साक्षात् ज्ञान होता है, अन्य को नहीं। 'दर्शन करते हैं' का दोनों तरह अर्थ है – देखने की कोशिश में लगे रहते हैं तथा शिवकृपा हो जाये तो देख भी लेते हैं ऐसा गीतादि के अनुसार समझ लेना चाहिये ॥११३४॥

सम्बन्धभाष्य का अंतिम वाक्य है 'अतः ·· आरभ्यते'। इस संसार से जो विरक्त है उसके लिये ब्रह्मविद्या प्रारंभ की जा रही है। क्या समझकर वैराग्य हुआ? क्रिया-कारक-फल के आकारों में बँटा हुआ साध्य-साधनरूप (कार्य-कारणरूप) यह संसार अनर्थात्मक ही है – यह समझकर इससे जिसे वैराग्य हो गया उसकी अविद्या हटे इसलिये वेदांतारंभ है। अकेली अविद्या भले ही कष्ट न दे पर वह कामनादि दोषों की और कर्मों की बीजभूत है अतः अपने कार्यों के रूप में व्यक्त होकर कष्ट देती रहती है इसलिये हटाने योग्य ही है। क्योंकि अविद्या वैसी ही है जैसे रस्सी में साँप अतः रस्सीज्ञान से साँप की तरह ब्रह्मज्ञान से यह भी बाधित हो जाती है। इस भाष्य का संक्षेप करते हुए भगवान् वार्तिककार सम्बन्धग्रन्थ का समापन करते हैं –

क्योंकि अकेला तत्त्वसाक्षात्कार ही कैवल्यकारण है इसलिये सारे महान् अनर्थ के हेतुभूत आत्माज्ञान की समाप्ति करने वाला जो प्रत्यगात्मा की यथार्थता का साक्षात्काररूप सूर्योदय, उसे संपन्न करने के लिये अतिगंभीर अर्थ वाली यह वेदान्तोपनिषत् प्रयत्नपूर्वक आरंभ की गयी है ॥११३५॥

उपदेश के बिना वेदान्तों का तात्पर्य समझना असंभव है यह बताने के लिये ब्रह्मज्ञानवाचक उपनिषत्पद का प्रयोग वेदान्तों के लिये किया जाता है। रहस्यविद्यामात्र भी वेद में अनेकत्र उपनिषत् कही गयी है अतः अब जिसका आरंभ है यह मुख्य रूप से कर्म या उपासना से सम्बद्ध उपनिषत् नहीं है, जीवब्रह्मैक्य के तात्पर्य वाली है यह बताने के लिये भी वेदान्तोपनिषत् कहना संगत है। अथवा श्रीभाष्यकार की व्याख्या का अर्थाविष्करण करने के लिये वार्तिक लिखने की प्रतिज्ञा की थी (श्लो० २) अतः यहाँ उपनिषत्पद का अर्थ भाष्य समझना चाहिये। भगवान् शंकराचार्य ने बड़े यत्न से जो यह 'वृत्ति' लिखी है वह उस परम सूर्योदय के लिये है जो भूत-वर्तमान-भावी बड़े से बड़े अनर्थों का निरास कर परमानन्दरूप प्रत्यक्तत्त्व का नित्य विकास करता है ॥११३५॥

सम्बन्धभाष्य के व्याख्यान में ११४८ श्लोक हैं ॥११३६॥

तत्र तत्र छह पादों के श्लोक आये हैं: श्लोक संख्या १७, ३२, ५९, २०५, २४६, २५०, २६१, २६७, २७०, २७६, ३०७, ३१३, ३३३, ३९९, ४००, ४१६, ४४१, ६१९, ७३४, ७५१, ९५६, ९७८, १११२ और ११३५ – इन चौबीस

श्लोकार्धों के बारह श्लोक होते हैं जिन्हे जोड़ लें तो उक्त संख्या प्राप्त हो जाती है। अथवा कुछ श्लोक लुप्त हो गये यह मान सकते हैं। न्यायकल्पलतिका वाले संस्करण में गिनती बताने वाला श्लोक छपा नहीं है।

सार में प्रत्येक 'परीक्षा' के समापन श्लोक दिये हैं जिनसे इस ग्रंथका विषय कथित हो जाता है:

'तस्मात् सिद्धोऽधिकारोऽत्र ब्रह्मरूपं विविक्षत:। जिज्ञासोरेव कर्तुस्तु न सिषाधयिषोरिति॥' (पृ० १७३)

काण्डद्वय के अधिकारी विभिन्न हैं। जो ब्रह्मस्वरूपमें प्रवेश चाहे, जिज्ञासु हो, वही ज्ञानकाण्ड में अधिकारी है। जो कर्ता है, कर्मत्यागी नहीं है, और जानना नहीं बल्कि उत्पत्त्यादि क्रियाफल चाहता है उसका यहाँ अधिकार नहीं। यह अधिकारिपरीक्षा हुई।

'तस्मात्कामलये भेदलये सोपानवर्त्मनि। समुच्चये च सम्बन्धो न युक्त: काण्डयोर्द्वयो: ॥
परिशेषात्पुरा प्रोक्त: साध्यसाधनलक्षण:। सम्बन्धोऽत्रावगन्तव्यो ज्ञानकर्माख्यकाण्डयो: ॥' (पृ० २१९)

कामनाप्रविलय द्वारा, प्रपंचप्रविलय द्वारा या सीढी चढ़ने के न्याय से कर्मकाण्ड व ज्ञानकाण्ड का सम्बन्ध बनता नहीं अत: इनमें यही संबंध है कि कर्म साधन हैं और ब्रह्मात्मज्ञान साध्य है। यह सम्बन्धपरीक्षा हुई।

'कार्यं निरोध: प्रतिपत्प्रसङ्ख्यानमखण्डनम्। अबाधानुवादौ च प्रामाण्याय विचारिता:॥' (पृ० ४८०)

वेदान्त प्रमाण हैं यह स्थापित करने के लिये इतने पदार्थों का विचार किया – कार्य, चित्तवृत्तिनिरोध, साक्षात्कारार्थ वैध चेष्टा, प्रसंख्यानवाद, अखण्डार्थवाद, वेदान्तार्थ का प्रत्यक्षादि से अबाध और वेदान्त अनुवादक नहीं हैं। यह प्रामाण्यपरीक्षा हुई।

चौथी परीक्षा प्रमेय की है। उसके समापन में चारों विषयों का उल्लेख कर दिया है –

'अधिकारश्च सम्बन्ध: प्रामाण्यं मेयनिर्णय:। चातुर्विध्यं विचार्येदं वेदान्तोऽत्रावतारित:॥' (पृ० ५८७)।

इस प्रकार इस रचना में उपनिषदों के सिद्धान्त का सम्यक् निबन्धन होने के कारण ही 'सम्बन्धवार्तिक' इसका अन्वर्थ नाम है। बृहदारण्यकवार्तिक की भूमिका होने पर भी इसे स्वतन्त्र प्रबंध जैसा समझा जाये तो कोई हानि नहीं। शास्त्रप्रकाशिकाकार सम्बंधवार्तिक को 'महाम्बुधि' कहते हैं। सद्गुरुओं ने परंपरानुसार जो इसका अर्थवर्णन किया है उसी सेतुबन्ध पर चलकर पुण्यवश इसे पार किया जा सकता है।

आनन्दभूधरानन्दपूर्णाद्युक्तिसुजीवना। सुरेशपादयो: पाद्यं वार्तिकार्थसुधाप्रपा ॥

ध्यायं ध्यायं यदङ्घ्र्यब्जे तितीर्षुर्भवसागरम्। महेशाय नमस्तस्मै तत्त्वज्ञानैकहेतवे ॥

॥ इति सम्बन्धभाष्यवार्तिक ॥

श्लोकानुक्रमणिका

फ

ब

